ज्ञानपीठ
पुरस्कार से
सम्मानित
लेखिका

अमृता प्रीतम

चुने हुए
उपन्यास

अमृता प्रीतम

जन्म हुआ 31 अगस्त, 1919 को गुजरांवाला (पंजाब) में ।
बचपन बीता लाहौर में, शिक्षा भी वहीं हुई ।
लिखना शुरू किया किशोरावस्था से
जिस का क्रम बना रहा है निरन्तर:
कविता भी, कहानी भी, उपन्यास भी, निबन्ध भी ।
पुस्तकें 50 से भी अधिक ।
महत्त्वपूर्ण रचनाएँ अनेक देशी-विदेशी भाषाओं में अनूदित ।
पत्रकारिता में रुचि का प्रमाण है 'नागमणि' मासिक
1966 से निरन्तर छप रहा है जो निजी देख-रेख में ।
1957 में कविता-संकलन 'सुनहरे' पर अकादमी पुरस्कार से
1958 में पंजाब सरकार के भाषा-विभाग द्वारा
1973 में दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा डी. लिट्. की मानद उपाधि से
1980 में बुलगारिया के वैप्त्सरोव पुरस्कार (अन्तर्राष्ट्रीय) से
और अब
1982 में भारत के सर्वोच्च साहित्यिक पुरस्कार
ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित ।

अमृता प्रीतम

चुने हुए उपन्यास

अपने बेटे नवराज के नाम

पिंजर

1935

मटमैला दिन था। बोरी के टुकड़े पर बैठी पूरो मटर छील रही थी। उँगलियों में पकड़ी हुई फली के मुँह को खोलकर जब उस ने दानों को मुट्ठी में सरकाना चाहा, तो एक सफ़ेद कीड़ा उस के अँगूठे पर लग गया।

जैसे एकाएक कीचड़ भरे गड्ढे में पाँव जा पड़ने पर एक सिहरन-सी हो उठती है, वैसी ही सिहरन पूरो के सारे शरीर में दौड़ गयी। हाथ झटकाकर उस ने कीड़े को परे फेंक दिया और अपने हाथों को अपने घुटनों में भींच लिया।

पूरो के सामने मटर की फलियाँ, निकाले हुए दाने और ख़ाली छिलके बिखरे पड़े रहे। उस ने जोड़े हुए घुटनों के बीच में से दोनों हाथ निकालकर अपने कलेजे को थाम लिया। उसे लगा, मानो सिर से पाँव तक उस का शरीर मटर की उस फली की भाँति हो जिस के भीतर मटर के स्वच्छ दानों के स्थान पर कोई गन्दा कीड़ा पल रहा है।

पूरो को अपने शरीर के अंग-अंग से घिन आने लगी। उस का मन चाहा कि वह अपने पेट में पल रहे कीड़े को झटकार दे, उसे अपने शरीर से दूर झाड़ दे, ऐसे जैसे कोई चुभे हुए काँटे को नाख़ूनों में फँसाकर निकाल देता है, जैसे कोई धँसे हुए गोखरू को उखाड़कर फेंक देता है, जैसे कोई चिपटी हुई किलनी को नोचकर

अलग कर देता है, जैसे कोई चिपटी हुई जोंक को तोड़ फेंकता है।

पूरो सामने दीवार की ओर देखने लगी। बीते हुए दिन एक-एक कर के वहाँ से गुजर रहे थे।

पूरो गुजरात ज़िले के एक गाँव छत्तोआनी के शाहों की बेटी थी—शाह, जिन का साहूकारे का काम कब का बन्द हो चुका था, किन्तु फिर भी वह कहलाते शाह ही थे। समय के कुचक्र से शाहों के उस घर का यह हाल हो गया कि देग और कण्डाल जैसे उन के बड़े-बड़े बरतन भी बिक गये—वे बरतन जिन पर उन के पूर्वजों के नाम खुदे हुए थे। प्रति दिन की इस जीती-जागती ग्लानि से बचने के लिए पूरो के पिता और चाचा अपना गाँव छोड़कर सियाम चले गये। वहाँ उन के दिन पलक मारते ही पलट गये।

उन दिनों पूरो दौड़ती फिरती थी और उस की माँ की गोद में एक लड़का था। उजड़े हुए शाहों का यह परिवार फिर अपने गाँव छत्तोआनी आया। पूरो के पिता ने अपना गिरवी पड़ा हुआ मकान छुड़वाकर अपने बाप-दादों के नाम की लाज रख ली। यद्यपि उस के पिता को नया मकान बनवाने में इस से भी कम पैसे खरचने पड़ते, पर उस ने अन्धाधुन्ध लगाये हुए ब्याज की भी परवा न की और एक बार दाँत भींचकर अपने पूर्वजों के नाम की रक्षा कर ली।

अनाज, चारा और अन्य वस्तुओं की ठीक-ठीक व्यवस्था कर के वह सियाम चले गये, किन्तु उन का मकान, उन का नाम, उन के पीछे गाँव में रहता रहा। अगली बार जब वह अपने गाँव लौटे, उस समय पूरो पूरे चौदह वर्ष की थी। उस से छोटा उस का एक भाई था, उस से छोटी पूरो की ऊपर तले की तीन बहनें थीं, और अब के पूरो की माँ को छठी बार फिर किसी बच्चे की उम्मीद थी।

शाहों के उस परिवार ने गाँव आकर पहला काम किया कि पास के गाँव रत्तोवाल के एक अच्छे खाते-पीते घर में पूरो के लिए लड़का देखा। पूरो की माँ सोचती थी कि जब वह नहा-धोकर उठेगी तो बड़े चाव से पूरो का काज आरम्भ करेगी। इस बार वह पक्की तरह सोचकर आये थे कि इस भार को उतारकर ही लौटेंगे।

पूरो की होनेवाली ससुराल में उन दिनों तीन दुधार पशु थे, और गाँव में उन का मकान पहला था जिस के ऊपर पक्की ईंटों की बरसाती बनी हुई थी। मकान के माथे पर उन्होंने 'ओम्' लिखवाया हुआ था। लड़का सूरत का अच्छा और बुद्धिमान् दीख पड़ता था।

पूरो के पिता ने पाँच रुपये और गुड़ की भेली देकर लड़का रोक लिया था। उन दिनों गुजरात जिले में अदला-बदली के सम्बन्ध होते थे। जिस लड़के से पूरो की सगाई हुई, उस लड़के की बहन की सगाई पूरो के भाई के साथ की गयी,

यद्यपि पूरो का भाई उस समय मुश्किल से बारह बरस का था और उस की मँगेतर बहुत ही छोटी थी।

दो-दो बरस के अन्तर से ऊपर तले तीन लड़कियों को जन्म देने के कारण पूरो की माँ का मन क्षुब्ध-सा हो गया था। अब जब कि उन के दिन फिर गये थे, घर में मन भर खाने को था, जी भर पहनने को था, उस का मन करता था कि उस के फिर एक लड़का हो।

इस बार आकर पूरो की माँ ने दूसरा काम यह किया कि विधि-माता की पूजा की। गाँव की कुछ स्त्रियों ने पूरो के घर के आँगन में गोबर की एक गुड़िया बनायी, लाल चुनरी की किनारी लगाकर उसे उस गुड़िया के सिर पर चढ़ा दिया, दो माशे सोने की छोटी-सी नथ बनवाकर उस की नाक में डाली, और सब ने मिलकर गाया :

बिधमाता रुस्सी आवीं ते मन्नी जावीं,
बिधमाता रुस्सी आवीं ते मन्नी जावीं।

उन के अपने गाँव में और आसपास के गाँवों में स्त्रियों का यह विश्वास था कि प्रत्येक बालक के जन्म के समय विधिमाता स्वयं आती है। यदि विधिमाता अपने पति से हँसती-खेलती आती है तो आकर झटपट लड़की बनाकर चली जाती है, क्योंकि उसे अपने पति के पास लौटने की जल्दी होती है। किन्तु यदि विधि-माता अपने पति से रूठकर आती है तो उसे लौटने की कोई विशेष जल्दी तो होती नहीं, वह आकर बहुत समय तक बैठती है और आराम से लड़का बनाती है। सो सब स्त्रियों ने मिलकर फिर गाना आरम्भ किया :

बिधमाता रुस्सी आवीं ते मन्नी जावीं,
बिधमाता रुस्सी आवीं ते मन्नी जावीं।

विधिमाता शायद कहीं पास ही सुन रही थी, उस ने उन का कहा मान लिया। पन्द्रह-सोलह दिन बाद पूरो की माँ के लड़का हो गया। शाहों के दूर-पार के सम्बन्धियों को भी बधाइयाँ मिलने लगीं। चिन्ताजनक केवल एक बात थी, और वह यह कि लड़का तेलड़ था। तीन बहनों पर भाई हुआ था। पूरो की माँ को बड़ी चिन्ता थी, राम करे किसी प्रकार लड़का बच जाये, और बच जाये तो माता-पिता को भारी न हो। विधिमाता को मनानेवाली स्त्रियाँ फिर एक बार इकट्ठी हुईं और काँसी के एक बड़े-से थाल के बीच में बड़ा-सा छेद करके लड़के को उस में से आर-पार निकाला, साथ में गाती रहीं :

त्रिखलाँ दी धाड़ आयी,
त्रिखलाँ दी धाड़ आयी।

तीन लड़कियों के दल के बाद ईश्वर की कृपा से उत्पन्न हुए लड़के के सारे शगुन मनाकर अब सब को विश्वास हो गया कि लड़का बच जायेगा।

पन्द्रहवाँ वर्ष आरम्भ होते-होते पूरो के अंग-प्रत्यंग में एक हुलार-सा आ गया। पिछले बरस की सारी क़मीज़ें उस के शरीर पर तंग हो गयीं। पूरो ने पास की मण्डी से फूलोंवाली छींट लाकर नये कुरते सिलवाये। कितना सारा अबरक लगाकर चुनरियाँ तैयार कीं।

पूरो की सहेलियों ने उसे दूर से उस का मँगेतर रामचन्द दिखा दिया था। पूरो की आँखों में उस की छवि पूरी की पूरी उतर गयी थी। उस का ध्यान आते ही पूरो का मुँह लाल हो जाता था।

पूरो निःशंक होकर बहुत कम ही बाहर निकल सकती थी, क्योंकि पास के गाँववालों का इस गाँव में आना-जाना बहुत रहता था। उस की ससुराल के गाँव-वाले कहीं पूरो को देख न लें, इस बात से पूरो बहुत डरती थी। और फिर वह गाँव बहुत करके मुसलमानों का हो गया था।

वैसे ज़रा दिन-ढले पूरो और उस की सहेलियाँ खेतों में घूम-फिर आती थीं। कई बार पूरो अपने खेतों के पास से गुज़रती हुई कच्ची सड़क के आसपास अटक रहती, कभी कोई साग चुनने बैठ जाती, कभी किसी बेरी के पेड़ से लगकर खड़ी हो जाती, बेर गिराती, उन्हें चुनती और सहेलियों को बातों में लगाये रखती। वह सड़क उस की होनेवाली ससुराल को जाती थी।

मन ही मन वह सोचती, यदि उस का मँगेतर आज इधर से गुज़र जाये! वह उसे गुज़रते हुए एक बार देख ले! पूरो का दिल उस सड़क के किनारे खड़े होते ही धक-धक करने लगता। फिर सारी रात पूरो अपने युवा मँगेतर के स्वप्नों में मग्न रहती।

एक दिन पूरो की नयी जूती उस की एड़ी में बहुत लग रही थी। सहेलियों के साथ चलते वह पीछे रह-रह जाती थी। पूरो और उस की सहेलियाँ खेतों में से होकर घर लौट रही थीं। साँझ का अन्धकार पिघले हुए सिक्के की भाँति चारों ओर बिखर गया था। लड़कियाँ खेतों की डौल-डौल चलती अब गाँव की पगडण्डी पर आ गयी थीं। यह पगडण्डी कहीं चौड़ी और खुली हुई ख़ाली भूमि पर होकर जाती थी और कहीं कुछ पेड़ों, पीपलों और झाड़ियों के साथ-साथ मानो उन की बाँह पकड़-पकड़कर आगे बढ़ती थी। सब लड़कियाँ आगे-पीछे इसी पगडण्डी पर चली जा रही थीं। पूरो ज़रा पीछे रह गयी थी। दायें पाँव की एड़ी के पास एक बड़ा-सा छाला उभर आया था। पूरो ने तंग जूती दोनों पैरों से उतारकर हाथों में ले ली और पाँव तेज़ी से बढ़ाने लगी।

लड़कियाँ पूरो से कहा करती थीं कि उस का दायाँ पैर बायें पैर से भारी था, इसलिए उस के दाहिने पैर में जूती लगती थी। इसी तरह पूरो का दायाँ हाथ भी बायें हाथ से भारी था। 'हाँ जी, चूड़ी पहनते हुए पता चलेगा' कहकर लड़-कियाँ पूरो को छेड़ा करती थीं। पूरो की आँखों के सामने आ गया, मानो सच्चे

हाथीदाँत की लाल चूड़ियाँ उस के हाथों में पहनायी जा रही हैं। पिछली बड़ी-बड़ी खुली चूड़ियाँ पहनाने के बाद आगे की छोटी चूड़ियाँ उस के दायें हाथ में फँस गयी हैं। नाई ने तेल से उस के अँगूठे की हड्डी को मला और हाथीदाँत की लाल चूड़ी को उस के हाथ में ज़ोर से धकेलने लगा। पूरो को ख़याल आया, कहीं उस की हाथीदाँत की लाल चूड़ी उस के दाहिने हाथ में टूट जाये तो ! पूरो के कलेजे को एक धक्का-सा लगा। हाय ! यह शगुन कितना बुरा है। उस की शगुन की चूड़ी, उस के सुहाग की चूड़ी उस के हाथों में क्यों टूटे ! पूरो ने अपने दाहिने हाथ को तिरस्कार से देखा। भगवान् ! उस का मँगेतर युग-युग जिये ! हज़ार-लाख वर्ष जिये ! पूरो के हृदय ने कामना की। फिर पूरो को याद आया, उस के गाँव में चूड़ा चढ़ाते समय एक लड़की की चूड़ी सचमुच टूट गयी थी। पास खड़ी हुई स्त्रियाँ 'राम, राम' कहकर भगवान् से उस के पति की कुशल-याचना करने लगी थीं। फिर सुनार से सोने का एक पतला-सा तार टूटी हुई चूड़ी में पुरवाकर उस लड़की को फिर वही चूड़ी पहनायी थी, मानो उन्होंने उस के पति की टूटी हुई जीवन-डोरी को जोड़ लिया हो।

पूरो इन्हीं शगुन-अपशगुन के विचारों में फँसी हुई थी कि बायें हाथ की ओर के पीपल के पीछे से एक व्यक्ति निकलकर पूरो के सामने खड़ा हो गया। पूरो के कलेजे पर मानो हथौड़ा-सा पड़ा। पूरो ने जल्दी से देखा, उस के गाँव का जवान लड़का रशीद उस के सामने खड़ा था। रशीद की आयु बाईस-चौबीस वर्ष की होगी। उस की भरी हुई जवानी उस के मुँह पर प्रत्यक्ष बोल रही थी।

पूरो ने देखा, रशीद की दोनों बड़ी-बड़ी आँखें पूरो के मुँह पर गड़ी हुई हैं। वह काँप उठी। उस के मुँह से एक हल्की-सी चीख निकली और वह रशीद के पास से बचती हुई भाग खड़ी हुई।

पूरो भागती-भागती लड़कियों के साथ जा मिली। अब वह अपने घरों के पास पहुँच गयी थी। पूरो का साँस ठिकाने न था। इतना ही भला हुआ कि रशीद ने उस के हाथ न लगाया, रशीद ने उस से मुँह से कुछ न कहा।

"अरी, लड़का था या कोई शेर था !" सहेलियों ने उस से ठिठोली की, किन्तु अभी तक पूरो की जान में जान नहीं आयी थी।

"शेर तो सिर्फ़ फाड़कर खा जाता है, कहते हैं कि अगर रीछ को कोई औरत अकेली मिल जाये तो वह उसे मारता नहीं, उठाकर ले जाता है। अपनी गुफा में ले जाकर उस को अपनी स्त्री बना लेता है।" सहेलियों में से एक ने यह बात सुनायी।

पूरो की जान फिर सूखने लगी। हाय, उस करमों जली का क्या हाल होगा जिसे रीछ अपनी स्त्री बना ले ! यह सोच-सोचकर पूरो का रंग उड़ने लगा। पूरो को फिर रशीद की फैली-फैली आँखें याद आ गयीं।

अब पूरो अपने घर पहुँच गयी थी। सहेलियाँ हँसती-बोलती आगे बढ़ गयीं।

दूसरे दिन जब पूरो और उस की सहेलियाँ खेतों में सींगरे तोड़ रही थीं, जल्दी से पूरो दो मुट्ठी सींगरे पास ही चलते हुए रहँट पर धोने ले गयी। छोटे-छोटे सींगरों की डण्डियाँ तोड़कर दो-चार सींगरे पूरो ने अपने मुँह में डाल लिये। तभी उस ने देखा कि पास के पेड़ के साथ रशीद खड़ा हुआ है। उस की टाँगों में से मानो किसी ने जान ही खींच ली। भय उस के मुँह पर छा गया।

"अजी डरती क्यों हो? हम तो तुम्हारे चाकर हैं।" आज रशीद बोल उठा। उस के मुँह से शरारत टपक रही थी।

पूरो को ऐसे लगा जैसे अभी रशीद रीछ के चौडे पंजे की भाँति उस के मुख पर झपट पड़ेगा, उस की लम्बी-लम्बी उँगलियाँ रीछ के नाख़ूनों की भाँति उस की गरदन के चारों ओर फैल जायेंगी। फिर वह उसे खींचता हुआ ले जायेगा और फिर...फिर...?

सौभाग्यवश पूरो ने देखा, सामने से दो किसान चले आ रहे हैं। रशीद वैसे का वैसा ही खड़ा था। पूरो लाल टमाटरों से भरी हुई क्यारी के ऊपर से छलांग मारकर जल्दी-जल्दी पाँव फेंकती सहेलियों से जा मिली।

उस दिन पूरो बहुत निढाल-सी रही। सारे रास्ते लड़कियों का हाथ पकड़-पकड़कर चलती रही। परछाइयों से भी काँप-काँप उठती, ज़रा-ज़रा-सी खड़-खड़ाहट से भी चौंक-चौंक उठती।

पूरो ने न तो कुछ अपनी माँ को बताया, न अपने पिता को। उस की सहेलियाँ कहती थीं, भला यह भी माँ-बाप से कहने की कोई बात है! जवान लड़कियों को रास्ता चलते शोहदे सदा से ही ताकते-झाँकते आये हैं। मुँहज़बानी कभी उन के ग़ुलाम बनते हैं, कभी अपने आप को उन का चाकर कहते हैं, ऐसे ऊल-जलूल बकते ही आये हैं। वह बका करें, भूँका करें, भला कोई कुत्तों के भूँकने से डरकर सड़कों पर चलना छोड़ देता है!

उस दिन उन के गाँव में एक छह-सात बरस के लड़के को एक पागल कुत्ते ने काट खाया। गली-मुहल्ले की स्त्रियों ने मिलकर लड़के के घाव पर लाल मिरचें बाँध दीं। मिरचों की तेज़ी से कुत्ते के दाँतों का ज़हर कट जाता है। पूरो ने जब यह ख़बर सुनी तो तुरत ही उस के मन में विचार आया कि वह लाल मिरचें कूटकर रशीद की आँखों में झोंक दे। जितना वह रशीद की आँखों के सम्बन्ध में सोचती थी, उतना ही उसे ज़हर चढ़ता था।

सहेलियाँ पूरो की बाँहें पकड़कर खींचती थीं, पर पूरो को साहस न होता था कि वह खेतों की ओर जाये।

और फिर अब पूरो का विवाह भी दिन-दिन पास आ रहा था। पूरो के पिता

ने घी और मैदा इकट्ठा करके घर में धर लिया था। पूरो की माँ ने पीले रेशम से कढ़ी हुई लाल फुलकारियों से लकड़ी का सन्दूक भर लिया था। सियाम से लाये हुए रेशमी जोड़ों से उस ने दहेजवाला सफ़ेद ट्रंक मुँह तक भर दिया था। चुनरियों की छोटी बाँकड़ी चुन-चुनकर उस के पोरवे दुखने लगे थे। पिछली ओर का भीतरवाला कमरा, जहाँ उस ने पूरो के दहेज के लिए पीतल के इक्यावन बर-तन जोड़े थे, झमाझम कर रहा था। उन दिनों देहातों में क्रोशिये के काम का बड़ा चलन था। पूरो ने क्रोशिये से बनाये हुए फूल जोड़-जोड़कर पलंग की पूरी चादर बनायी थी। दुसूती के तार गिन-गिनकर उस ने फूल काढ़ने सीखे थे। अपने हाथ से अपने दहेज के लिए डलिया और मूढ़े बनाये थे।

एक दिन पालक के नरम-नरम पत्तों को तोड़कर पूरो ने साग काटा। पूरो की माँ सुतली की बुनी हुई पीढ़ी पर बैठी अपने लड़के को दूध पिला रही थी। पूरो ने मिट्टी की हँडिया को बान के छोटे-से गुच्छे से अच्छी तरह माँजा, फिर साग को पानी से दो बार धोकर और उस में चने की दाल मिलाकर हँडिया को मुँह तक भर दिया। हारे की मीठी-मीठी आग पर दूध पड़ा कढ़ रहा था। पूरो ने चूल्हे में दो-चार छिपटियाँ लगाकर साग चढ़ा दिया।

पूरो का विवाह अब बस बिलकुल पास आ गया था। पूरो की माँ को प्रतीक्षा थी कि कौन जाने आज या कल पूरो को ससुराल से कोई नाप लेने ही आ जावे। पूरो कितनी सुन्दर सुघड़ लड़की है! रोटी टुकड़ा तो वह आँगन में इधर से उधर चलते-फिरते ही कर लेती है। पूरो की सहेलियाँ कहती थीं कि पूरो को जवानी भी तो भरपूर चढ़ी है। पूरो के गोरे निर्मल मुख पर आँख ठहरती न थी। पूरो की माँ ने एक चाहत भरी दृष्टि से पूरो की ओर देखा, शायद वह सोचती थी कि पूरो अब ससुराल चली जायेगी, पूरो के मायके का घर भाँय-भाँय करेगा। पूरो अपनी माँ का दाहिना हाथ थी। माँ की आँखों में आँसू भर आये। हर बेटी की माँ को रोना पड़ता है। बैठी-बैठी पूरो की माँ गाने लगी :

लावीं ते लावीं नी कलेजे दे नाल माए
दस्सीं ते दस्सीं इक बात नीं।
बाताँ ते लम्मीयाँ नी धीयाँ क्यों जम्मियाँ नी,
अज्ज विछोड़े वाली रात नीं।

पूरो की माँ का कलेजा भर आया। पूरो चौके के छोटे-छोटे काम निबटाती हुई अपनी माँ की आवाज़ सुन रही थी। पूरो के दिल में विछोड़ की एक हौल-सी उठी। पूरो की माँ आगे गाने लगी :

चरखा जु डाहनीयाँ मैं छोपे जु पानीयाँ मैं,
पिड़ियाँ ते वाले मेरे खेस नीं।

पुत्राँ नू दित्ते उच्चे महल ते माड़ियाँ
धीयाँ नू दित्ता परदेस नीं ।

पूरो दौड़ी-दौड़ी आकर माँ के गले से लिपट गयी। माँ-बेटी दोनों रो पड़ीं। हर लड़की का यौवन उसे अपनी माँ से अलग कर देता है।

पूरो की माँ ने जी कड़ा किया। बेटी के कन्धे पर प्यार किया। सन्ध्या समय का अन्धकार उन के आँगन में भी उतर आया था। पूरो की माँ को याद आया कि दूसरी चीज़ चढ़ाने को इस समय घर में कुछ भी नहीं थी, कौन जाने पूरो की ससुराल से कोई आदमी आता ही हो।

पूरो से उस ने कहा कि छोटी बहन की उँगली पकड़कर पास के खेतों में से चार भिण्डियाँ ही तोड़ ला। और चावलों की एक मुट्ठी और गुड़ की भेली डालकर मीठे चावल भी चढ़ा दे।

पूरो का दिल भी आज भर-भर आता था। उस ने अपनी छोटी बहन को साथ लिया और बाहर चली गयी।

पूरो ने भिण्डियाँ तोड़ीं, दो-चार सींगरे तोड़े और उलटे पाँव छोटी बहन को साथ लेकर घर की ओर चली। लौटते समय पूरो को केवल यह विचार आ रहा था कि अब वह अपनी माँ से अलग हो जायेगी, अपनी बहनों से बिछुड़ जायेगी, अपने नन्हे-से भाई से दूर चली जायेगी। वज्र के प्रहार के समान पूरो को एकाएक ख़याल आया, यदि यहाँ रशीद मिल जाये तो ?

और वह पाँव उठाकर चलने लगी। "पूरो, दौड़ क्यों रही है ?" पूरो की छोटी बहन का साँस चढ़ गया था।

पूरो के पीछे की ओर से एक घोड़ी दौड़ती हुई आयी। पूरो अभी पगडण्डी से हट भी न पायी थी कि न जाने घोड़ी या घुड़सवार कौन पूरो के दाहिने कन्धे से टकरा गया। पूरो गिरने ही लगी थी कि किसी ने उसे कन्धे से पकड़कर घोड़ी के ऊपर डाल लिया। पूरो की चीख़ें उड़ती हुई घोड़ी के साथ पल-पल दूर होती चली गयीं। उस की बहन खड़ी काँपती रह गयी।

न जाने वह घोड़ी कहाँ से आयी थी, उस का सवार कौन था, घोड़ी कितनी देर तक दौड़ती रही, पूरो अचेत थी।

पूरो को जब होश आया, वह एक कमरे में चारपाई पर पड़ी थी। चारों ओर दीवारें थीं, सामने एक बन्द दरवाज़ा।

पूरो को सब कुछ याद आ गया। उस ने दीवारों से अपना सिर दे-दे मारा, उस ने दरवाज़े से अपना सिर दे-दे मारा।

हार-थक के पूरो चारपाई पर आ पड़ी। वह फिर अचेत हो गयी।

पूरो को जब होश आया, कोई उस के सिर से गरम घी मल रहा था। पूरो ने एक बार सोचा, शायद उस की माँ उस के सिरहाने बैठी हुई थी और पूरो को

बहुत तेज़ बुख़ार चढ़ा था ।

"ओ, माँ !" पूरो के मुख से निकला ।

"मेरी ग़लती माफ़ कर और एक बार होश में आ, पूरो !" किसी ने सिर-हाने की ओर से कहा ।

ज्वर से जलती हुई पूरो ने सिर उठाकर देखा, रशीद उस के सिरहाने बैठा था । पूरो की एक चीख़ निकली और वह मूर्च्छित हो गयी ।

पूरो ने देखा, काली खालवाला एक रीछ उस के बालों में अपने पंजे फेर रहा है, पूरो एक गुफा में पड़ी है, वह सिकुड़ती जाती है, रीछ फैलता जाता है, रीछ ने अपनी बालोंवाली बाँहों में पूरो को लपेट लिया है ।

पूरो ने आँखें फाड़-फाड़कर देखा, कोई उस के पैरों के तलवे मल रहा था। फिर किसी ने उस के कन्धों को दबाया । फिर किसी ने उस के मुँह में चुल्लू भर-भर पानी डाला ।

रीछ की गुफा या रशीद का घर ? पूरो के सिर में चक्कर आ रहे थे । फिर शायद पूरो सो गयी ।

पूरो को अपनी माँ, अपना गाँव सभी कुछ याद था । वैसे उसे लगता था कि उस गुफा में पड़े-पड़े उसे कई वर्ष हो गये हैं । रशीद की सूरत देखने की उसे आदत हो गयी थी। न रशीद ने उस से कभी कुछ कहा, न उस ने रशीद को बुलाया । सोती हुई पूरो के मुँह में रशीद गरम किया हुआ गुड़ और घी चमचे से डाल देता था । कभी कुछ पूरो के गले के नीचे उतर जाता था, कभी पूरो थूक डालती थी ।

फिर पूरो ने साहस करके दीवार के साथ पीठ लगायी और चारपाई पर बैठ गयी ।

"मैं कहाँ हूँ ?" पूरो ने पूछा ।

"मेरे पास ।" रशीद चारपाई के सामने स्टूल पर बैठा था । रशीद का मुख झुका हुआ था । आज उस की आँखें फट-फटकर पूरो के मुख पर नहीं पड़ रही थीं ।

"तू मुझे यहाँ क्यों लाया है ?" पूरो को पूछने का साहस हुआ ।

"फिर कभी बताऊँगा ।" रशीद ने इतना ही कहा और उठकर बाहर चला गया । पूरो गुमसुम चारपाई पर पड़ी रही ।

इस समय कमरे का दरवाज़ा खुला हुआ था । पूरो ने देखा, बाहर एक छोटा-सा दालान है, दालान के साथ ही एक छोटी-सी ड्योढ़ी है, और फिर बाहर का दरवाज़ा ।

पूरो काँपते-काँपते उठी । उसने चारों ओर दीवारों को देखा । वह डर रही थी, अभी इन दीवारों में से कोई निकल आयेगा, उस की बाँहें पकड़कर उसे चार-

पाई पर डाल देगा। किन्तु दीवारों में से कोई न निकला। पूरो बाहर के दालान में आ गयी।

आँगन के एक कोने में चूल्हे में आग बुझी हुई थी। पास ही एक हाँडी और तवा-परात बिखरे पड़े थे। पानी का एक घड़ा भरा हुआ कोने में पड़ा था। पर कोई आदमी कहीं नज़र नहीं आता था।

पूरो काँपते पैरों से ड्योढ़ी में आयी, बाहर के दरवाज़े के पास आयी, फिर पीछे मुड़कर कोठरी की ओर देखा, फिर दरवाज़े के पास को हो गयी।

पर मकान का दरवाज़ा पूरो के भाग्य की भाँति बन्द पड़ा था। पूरो ने बन्द दरवाज़े के साथ अपना सिर लगा दिया, पर दरवाज़े को न पूरो के झुके हुए सिर पर तरस आया, न मुरझाये हुए चेहरे पर, न भीगी हुई आँखों पर।

पल्ले से मुँह पोंछकर पूरो दरवाज़े से लौट आयी। घड़े में से पानी का एक चुल्लू भर कर पूरो ने अपनी आँखों पर डाला। फिर पूरो को विचार आया कि वह दरवाज़ा पीटकर देखे, शायद कोई अड़ोसी-पड़ोसी या रास्ता चलता उस की आवाज़ सुन ले।

पूरो ने आँगन की कच्ची ऊँची दीवारों की ओर देखा, फिर एक बार साहस जुटाकर दरवाज़े को पीटना अरम्भ कर दिया। पूरो ने दरवाज़े की दराज़ों के बीच से देखा, बाहर खुला मैदान ही मैदान था, कोई मकान, कोठरी दिखाई नहीं देती। पूरो सोच-सोचकर थक गयी, न जाने वह किस जंगल में थी।

पूरो दरवाज़े के पास ही खड़ी हुई थी कि बाहर से दरवाज़ा खुला। रशीद ने भीतर आकर दरवाज़ा बन्द कर लिया और ताला लगा दिया। पूरो वहीं की वहीं बैठ गयी।

"पूरो! क्यों व्यर्थ में हवा से टक्करें मारती है! भीतर चल, कुछ अपने मुँह में डाल, तू ने दो दिन से कुछ नहीं खाया है।" रशीद ने खड़े-खड़े कहा। वैसे न उस ने पूरो का हाथ पकड़कर उसे उठाया, न उस की ओर आँखें फाड़-फाड़कर देखा।

"मुझ पर दया कर, रशीद! मुझे घर छोड़ आ।" पूरो उस के पैरों पर गिर पड़ी।

इस बार रशीद ने पूरो को अपनी लाठी जैसी जवान बाँहों में उठा लिया और गठरी बनी हुई पूरो को कसकर अपने सीने से लगा लिया।

"मेरे दिल की आग कौन बुझायेगा?" रशीद ने हाथ-पाँव मारती हुई पूरो को अपनी बाँहों में कसे रखा।

वह दिन भी बीत गया, वह रात भी बीत गयी। रशीद ने उस से फिर कुछ नहीं कहा। दरवाज़ा वैसे का वैसा बन्द था, रशीद वैसे का वैसा ही पहरे पर था।

रशीद उस घर से बाहर भी जाता। घण्टे-दो-घण्टे बाहर भी लगा आता। पूरो क़ैद रहती। फिर तारों की छाँह में पूरो का हाथ पकड़कर रशीद उसे घर से बाहर ले जाने लगा। पूरो ने देखा, उस घर के सिवा उस लम्बे-चौड़े मैदान में और कोई घर नहीं था। रशीद के इस मकान के पास एक बहुत दूर तक फैला हुआ बाग़ था। शायद यह घर बाग़ के मालियों का घर हो। बाग़ में माली अवश्य होंगे, पर पूरो ने उन्हें कभी देखा न था, न उनकी आवाज़ ही सुनी थी न तो पूरो के दिन ही बीतते थे, न उस की रातें ही काटे कटती थीं। पूरो को केवल यही सन्तोष था कि रशीद ने उसे कोई बुरी-भली बात नहीं कही थी। पूरो की मर्यादा अभी तक बची हुई थी। यह और बात थी कि रशीद पर न पूरो की प्रार्थनाओं का असर होता था, न पूरो की गालियों का।

पूरो के अपने अनुमान के अनुसार उसे क़ैद हुए पूरे पन्द्रह दिन हो गये थे।

एक दिन रशीद ने लाल रेशम का एक जोड़ा पूरो के सामने लाकर रखा। इससे पहले भी रशीद ने पूरो को बदलने के लिए दो जोड़े सूती कपड़ों के लाकर दिये थे। पर इस बार रशीद ने लाल रेशम का जोड़ा पूरो के आगे रखते हुए कहा, "कल सवेरे नहा-धोकर तैयार हो जाना, मौलवी आकर हमारा निकाह पढ़ा देगा।"

पूरो का दिल धक् से हो गया। जो अब तक नहीं हुआ है, क्या अब होकर ही रहेगा!

उस दिन पूरो फिर रशीद के पैरों पर गिर पड़ी।

"पूरो! होना-हवाना कुछ नहीं। व्यर्थ मेरे सिर पर गुनाहों का बोझ न लाद। क़सम है अल्लाह पाक की, मुझ से तेरा यह रोना नहीं देखा जाता।" रशीद ने मुँह परे करके कहा।

पूरो की समझ में न आता था कि रशीद यदि ऐसा दयावान् ही था, तो उस ने उसके सिर पर विपत्ति का यह पहाड़ क्यों डाल दिया?

"तुझे अपने अल्लाह की क़सम है, रशीद। सच-सच बता, तू ने मेरे साथ ऐसी क्यों की है?"

"पूरो! तेरा-मेरा सम्बन्ध कोई पिछला लेना-देना ही है। अब तुझे इन बातों से क्या मिलेगा? जो हो गया सो हो गया। मैं तुझे सारी उम्र तकलीफ़ न होने दूँगा।"

पूरो हैरान थी, परेशान थी, यह कैसा आदमी है! "पूरो! हमारे शेख़ों के घराने में और तुम्हारे शाहों के घराने में दादा-पड़दादा के समय से एक वैर चला आ रहा है। तेरे दादा ने पाँच सौ रुपये में गिरवी रखे हुए हमारे मकान पर ब्याज-दर-ब्याज लगाया था और कुर्की कराकर शेख़ों के घराने को घर से बेघर किया था। सिर्फ़ इतना ही नहीं, उस के मुंशियों-कारिन्दों ने हमारे घर की

औरतों को बोल-कुबोल कहे और मेरे दादा की बड़ी लड़की को ज़बरदस्ती तेरे दादा के बड़े लड़के ने तीन रात घर में रखा। मेरे दादा के देखते-देखते यह सब हुआ। पर उस समय शेख़ों का घराना पेरे हुए गन्ने की भाँति था। सब ख़ून के आँसू पीकर रह गये। पर मेरे दादा ने मेरे चाचा-ताउओं को और मेरे पिता को क़ुरान उठवाकर क़समें दिलवायी थीं कि वे इस का बदला लेकर ही रहेंगे। उस की अगली पीढ़ी के समय बात सो गयी। अब जब तेरा काज इसी गाँव में रचा जाने लगा, मेरे चाचा-ताउओं के लहू में पुराना बदला खौलने लगा। उन्होंने मुझे क़समें दिलायीं, मेरे लहू को ललकारा और मुझ से क़ौल कराये कि मैं शाहों की लड़की को ब्याह से पहले किसी भी दिन उठा ले जाऊँ।" रशीद चुप हो गया।

पूरो धैर्यपूर्वक अपनी क़िस्मत की कहानी सुनती रही।

"पूरो ! पहले ही दिन जब मैं ने तुझे देखा, ख़ुदा गवाह है, मुझे तुझ से इश्क़ हो गया। एक तो मेरी मुहब्बत का ज़ोर, दूसरे मेरी पीठ पर सारा शेख़ घराना। मैं तुझे ले आया हूँ, पर मुझ से क़सम ले ले, मुझ से तेरा दुख नहीं देखा जाता।" रशीद ने कहा।

पूरो ने दोनों हाथों में अपना सिर थाम लिया।

"तेरी बूआ को मेरे ताऊ ने उठा लिया; पर रशीद ! इस में मेरा क्या दोष ? हाय ! मैं कहीं की न रही !" पूरो का मुँह आँसुओं से भीग गया।

"यही तो मैं कहता था, पर मेरे चाचा मुझ पर फिटकार करते थे।"

"तो रशीद ! उन के उकसाने के कारण तू ने मुझे मार डाला ?" पूरो ने रोते-रोते कहा।

"पूरो ! मैं सारी उम्र तेरे आगे जग की नेमतें ला-लाकर रखूँगा," रशीद ने भरे हुए गले से कहा, "मैं तेरे ताऊ की तरह नहीं करूँगा कि तीन रातों के बाद बेचारी औरत को धक्का दे दूँ।"

"रशीद ! एक बार मुझे मेरी माँ से मिला दे।" पूरो को कहने के लिए यही मिला।

"ओ नेकबख़्त ! अब उस घर में तेरे लिए कोई जगह नहीं। उन की बिरादरी का कौन हिन्दू फिर शाहों के घर का पानी पियेगा ? तू मेरे घर में पूरे पन्द्रह दिन रह चुकी है।"

"पर मैं ने तो सिर्फ़ तेरे घर के अन्न-पानी से मुँह लगाया है, मैं···" पूरो आगे कुछ न कह सकी, पर जो कुछ पूरो कहना चाहती थी उसे रशीद समझ गया।

'इस बात को कौन मानेगा, पूरो ! यह तो मेरी शराफ़त है कि पहले मैं तेरे साथ निकाह पढ़वाऊँगा···" रशीद ने नरम आँखों से पूरो की ओर देखा।

पूरो की आँखों के सामने उस का मँगेतर फिर गया। अभी पूरो के तेल

चढ़ना था, पूरो ने 'माइएँ पड़ना' था, पूरो के हल्दी का उबटन मला जाना था, पूरो को सच्चे हाथीदाँत का लाल चूड़ा चढ़ना था, पूरो को कौड़ियों वाले कलीरे छनकाने थे, पूरो को रेशमी जोड़े पहनने थे, पूरो के रूप चढ़ना था, पूरो को डोली में बैठना था, पूरो···पूरो···पूरो···

पूरो निर्दोष थी। वह कैसे समझ लेती कि उस की माँ का दिल पत्थर हो जायेगा, उस के पिता का दिल लोहे का बन जायेगा, वे अपनी बेटी को घर से निकाल देंगे, उन के घर की दीवारें उसे अन्दर रखने से इनकार कर देंगी!

"मैं जब लौटकर घर नहीं पहुँची तो उस समय मेरे माता-पिता का क्या हाल हुआ होगा! मेरी बहन···!" पूरो को वह समय याद आ गया जब होनी उस के सिर पर टूट पड़ी थी।

"वे रोते-कलपते रहे हैं, उसी तरह जैसे मेरा दादा, मेरा पिता, मेरे चाचा मेरी बूआ के चले जाने पर रोये थे। पुलिस भी बहुत खोज-ख़बर लगाकर हार गयी है, पर उन्हें भी कोई अता-पता नहीं लग सका है। और उन्हें पता लग भी कैसे सकता है! पुलिस ने पूरा पाँच सौ रुपया खाया है।" रशीद अपनी हँसी न रोक सका। "तू तो जानती ही है कि इस समय हमारा पलड़ा भारी है। सारा गाँव मुसलमानों का है। कोई हिन्दू का बच्चा आँख उठाकर हमारी ओर देख नहीं सकता। यही ग़नीमत है कि उन की जान-माल सलामत है। उन्हें अपनी जान प्यारी है, वे कुछ बोल नहीं सकते। अगर वे हमारे घर की ओर उँगली भी उठाते, तो हमारे आदमी उन्हें नहर भी पार करने न देते।" रशीद ने कुछ हँसकर कहा। शायद उस के दिल में पुराने बदले की आग धधक उठी थी।

पूरो को रशीद का मुख देखकर बड़ी घृणा हुई। उस का जन्म नष्ट हो गया। यह लोक गया, परलोक गया। शायद उस के माता-पिता छत्तोआनी को अपनी पुत्री की बलि चढ़ाकर वापस सियाम लौट भी गये हों।

"क्या मेरे माता-पिता सियाम चले गये हैं?" पूरो ने तड़पकर पूछा।

"नहीं, अभी नहीं!" रशीद ने उत्तर दिया।

"मैं कहाँ रह रही हूँ? अपने गाँव से कितनी दूर?" पूरो ने उसी प्रकार पूछा।

"तू अपने गाँव के पिछली ओर माघोकियाँ के कुएँ के पार मेरे अपने बाग़ में है। पर शायद तू अपने गाँव जाने का सपना देख रही है। अभी नहीं। ज़रा बात ठण्डी हो ले, छह महीने बीत जायें, वहाँ भी ले चलूँगा।" रशीद मुसकराने लगा।

पूरो चुप हो गयी। रशीद ने चावल के पुलाव की एक तश्तरी भरकर पूरो के आगे रखी। रशीद जब बाहर जाता था तब शायद किसी के हाथ अपने गाँव से पकवान मँगवा लेता था। पूरो को कुछ पता न था।

उस दिन पूरो के मन में कुछ उधेड़बुन लगी रही। उसे डर था कहीं उस का साहस उसे जवाब न दे जाये इसलिए पूरो ने चावल के दो-चार कौर अपने मुँह में डाल लिये। पानी भी घूँट-घूँट करके एक कटोरा पी लिया।

उस रात पूरो ने सारा साहस इकट्ठा करके अपने मन को पक्का किया। रशीद के सिरहाने दरवाज़े की चाबी रखी हुई थी। पूरो ने चुपके से उसे उठा लिया, दरवाज़ा खोला। उस का दिल धक-धक कर रहा था कि रशीद अब जागा, अब जागा, पर दुर्भाग्य से या सौभाग्य से कहो रशीद की आँख न खुली।

बाहर रात के सन्नाटे को देखकर पूरो काँप उठी। एक बार उस का जी किया कि वह लौटकर रशीद के पास चली जाये। न जाने रात के अँधेरे में वह छत्तोआनी का रास्ता पा सकेगी या नहीं। कहीं रात के अँधेरे में वह रशीद से भी गये-बीते किसी आदमी के हाथ तो न पड़ जायेगी, न जाने उस की क्या दशा होगी। पर पूरो को अपनी माँ का चेहरा याद आ गया, पूरो को अपने पिता का मुखड़ा याद आ गया, बहन-भाई याद आ गये। पूरो ने वैसे ही एक पगडण्डी पर चलना आरम्भ कर दिया, शायद यही माघोकियाँ के कुएं का रास्ता हो। डरती-डरती काँपती वह चलती रही।

रात का गहरा अँधेरा फट चला था। माघोकियाँ के कुएँ का रास्ता ठीक निकला। पूरो ने झुटपुटे अँधेरे में ही छत्तोआनी गाँव का पिछवाड़ा पहचान लिया।

अब पूरो न इधर में थी न उधर में। उस ने अपनी बची हुई शक्ति को अपने पाँवों में डाला। वह दौड़ने लगी।

पूरो ने छत्तोआनी गाँव को पहचाना, अपने घर की ओर मुड़ती हुई गली को पहचाना, अँधेरे में अपने घर की दीवारों को पहचाना।

पूरो ने दरवाज़ा खटखटाया। जैसे ही किसी ने भीतर से दरवाज़ा खोला, पूरो ड्योढ़ी में फ़र्श पर गिर पड़ी। वह अपनी शक्ति का अन्तिम अंश भी ख़र्च कर चुकी थी। अब वह दौड़-दौड़कर हाँफ़-हाँफकर दाई को छू चुकी थी। अब मानो पूरो की सम्पूर्ण शक्ति निःशेष हो चुकी थी।

पूरो की आँखों में अँधेरा छा रहा था। उस ने देखा, उस की माँ, उस का पिता, हाथ में दिया लेकर उस के पास खड़े हुए हैं। वह एक घायल पक्षी की भाँति ड्योढ़ी के कच्चे फ़र्श पर सिसकने लगी। उस ने देखा, माँ की आँखों से पानी की धाराएँ बह रही हैं। माँ ने पूरो को उठाकर अपनी बाँहों में ले लिया : पूरो ने माँ की छाती से अपने सिर को ऐसे लगा लिया मानो उन के टूटे हुए सम्बन्ध फिर से जुड़ जायेंगे। पूरो की माँ की चीखें निकल गयीं।

"लोग इकट्ठे हो जायेंगे !" पूरो के पिता ने अपनी स्त्री का कन्धा हिलाकर कहा। पूरो की माँ ने अपने पल्ले के कोने को इकट्ठा कर के अपने मुँह में ठूँस

लिया।

"बेटा, तेरी क़िस्मत ! अब हमारे बस का कुछ नहीं !" पूरो को अपने पिता का स्वर सुनाई दिया। वह अपनी माँ से चिपटी रही।

"अभी शेख़ों के यहाँ से लोग आ जायेंगे और हमारे बच्चे-बच्चे को पेर डालेंगे।"

"मुझे लेकर सियाम चले चलो।" पूरो ने माँ की छाती से मुँह ज़रा हटाकर बड़े आग्रह के साथ कहा।

"हम तुम्हें कहाँ रखेंगे ? तुझे कौन ब्याह कर ले जायेगा ? तेरा धर्म गया, तेरा जन्म गया। हम जो इस समय कुछ भी बोले तो यहाँ हमारे लहू की एक बूँद भी नहीं बचेगी।"

"हाय, मुझे अपने हाथ से ही मार डालो !" पूरो ने तड़पकर कहा।

"बेटा ! जनमते ही मर गयी होती ! अब यहां से चली जा। शेख़ आते ही होंगे। तेरे पिता, तेरे भाई का कहीं पता भी नहीं मिलेगा। वे सब को मार डालेंगे।" माँ ने न जाने कैसे अपने दिल पर पत्थर रखकर यह बात कही।

पुरो को ध्यान आया, रशीद ने कहा था, 'ओ नेकबख़्त, अब उस घर में तेरे लिए कोई जगह नहीं।' क्या रशीद ने सच ही कहा था ?

पूरो को एक बार मँगेतर रामचन्द का ध्यान आया। क्या सगाई, और क्या ब्याह ? क्या पूरो उस की कुछ न लगती थी ? उस ने पूरो की बात भी न पूछी ?

फिर पूरो का जीने का मन न किया। उस ने सोचा, और सब रास्ते तो बन्द हैं, शायद मौत का रास्ता खुला हो। वह उठकर बाहर की ओर चल दी।

न माँ ने रोका, न पिता ने। पूरो चलती गयी। आते समय पूरो जीवन से भेंट करने आ रही थी, उस के हृदय में लालसा थी, जीने की, माता-पिता से मिलने की। बहुत डरती-काँपती आयी थी। लौटते समय वह मृत्यु से भेंट करने चली थी। अब उस के मन में कोई डर नहीं था, कोई भय नहीं था। मृत्यु से बढ़कर कोई उस का क्या कर सकता था !

पूरो निःशंक माघोकियाँ के कुएँ की ओर जा रही थी। प्रभात का नवप्रकाश सब पगडण्डियों पर बिखरा हुआ था।

सामने से रशीद डग भरता चला आ रहा था। पूरो के पाँव वहीं जम गये। मृत्यु ने भी पूरो पर अपना दरवाज़ा बन्द कर लिया था।

पूरो को लगा कि इन पन्द्रह दिनों ने उस के शरीर पर से सारा मांस उतार लिया है, अब वह निरा पिंजर है। उस की न कोई आकृति है, न सूरत, न कोई मन, न मरज़ी। रशीद ने आकर पूरो की बाँह पकड़ ली। वह उस के साथ चल दी।

तीसरे दिन एक मौलवी आया। दो-तीन आदमी और आये। उन्होंने रशीद

के साथ पूरो का निकाह् पढ़वा दिया। फिर अपने आप ही रशीद ने पूरो को बताया कि उस के माता-पिता कुशलपूर्वक सियाम चले गये।

छत्तोआनी का नाम लेते हुए भी पूरो को चक्कर आने लगता। रशीद इस बात को समझता था। और फिर पूरो को छत्तोआनी ले जाना भी ख़तरे से ख़ाली नहीं था। शायद रशीद सोचता था कि कहीं वहाँ के या आस-पास के गाँवों के हिन्दू भड़क न जायें, यद्यपि अब पूरा महीना होनेवाला था और किसी का साहस न पड़ा था कि एक शब्द भी बोल सका हो। और फिर दूसरे की आग में कौन कूदता है? यह तो पीढ़ियों के वैर थे, किसी ने अपने मन में दबा लिये, किसी ने निकाल लिये।

रशीद की माँ या कोई बहन उस समय जीवित न थी। भाई थे, चाचा थे। रशीद ने पूरो से कहा कि वह उसे वहाँ से कोसों दूर अपने एक गाँव सक्कड़आली ले जायेगा जहाँ दादा-पोतों के रिश्ते के एक भाई रहीम की ज़मीन थी। शायद उस की कुछ ज़मीन को भी अपनी इधर की ज़मीन से बदल ले।

अब पूरो होनी के हर धक्के के लिए तैयार थी। जब सगे माता-पिता ने ही धक्का दे दिया, तो अब गाँवों में ही क्या पड़ा था! यहाँ न सही, वहाँ सही।

रशीद स्वयं ही घर के बड़े की भाँति दो-तीन ट्रंक लाया, फिर कुछ और सामान लाया, और फिर पूरो को साथ लेकर सक्कड़आली चल दिया। रास्ते में जैसे कोई आँखें मींचकर चलता हो, ठीक उसी तरह रशीद के साथ-साथ चलकर पूरो नये गाँव में आ गयी। नये गाँव में पहुँचते ही उन्हें एक अलग मकान मिल गया। शायद रशीद ने पहले ही रहीम से कह-सुनकर यह व्यवस्था कर ली थी। रहीम का घर उन के घर से काफ़ी दूर था। फिर भी रहीम के घर की स्त्रियाँ उस से मिलने आयीं। यह पहली बार थी, जब पूरो को रशीद के सम्बन्धियों में स्त्रियों से मिलने का अवसर पड़ा।

पूरो एक खोयी हुई बछिया की भाँति उन के पास बैठी रही। उन्होंने पूरो से बहुत पूछताछ न की। छोटी-मोटी घर की आवश्यकताओं के सम्बन्ध में ही पूछती रहीं।

रशीद पूरो को पूरो ही कहकर बुलाता। निकाह् के समय पूरो का नाम हमीदा रखा गया था, वह अभी उस की ज़बान पर नहीं चढ़ा था।

एक दिन अचानक ही रशीद एक आदमी को घर ले आया। वह बाँहों पर स्त्रियों-पुरुषों के नाम गोदता था। उस दिन फिर पूरो का हृदय टीस उठा, परन्तु जैसे ही रशीद ने कहा, उस ने बाँह आगे कर दी और उस की बायीं बाँह पर 'हमीदा' गहरे हरे रंग के अक्षरों में गोदा गया। रशीद भी उस दिन से उसे हमीदा पुकारने लगा। शायद यह सलाह रहीम के घरवालों ने दी थी।

पूरो अब हमीदा बन गयी। किन्तु अभी तक जब रात को वह सो जाती थी,

उस के सपनों में उस की सहेलियाँ मिलती थीं, सपनों में वह अपने माता-पिता के घर खेलती-कूदती फिरती थी, सब उसे पूरो ही पुकारते थे। दिन के प्रकाश में पूरो हमीदा बन जाती थी, रात के अन्धकार में वह पूरो रहती। किन्तु पूरो सोचती थी वह वास्तव में हमीदा थी न पूरो, वह केवल एक पिंजर थी, केवल पिंजर—जिसका कोई रूप न था, कोई नाम न था।

पाँच-छह महीने बीते होंगे कि पूरो के पिंजर में एक नन्ही-सी जान फड़कने लगी।

बैसाखी का मेला

मटमैला दिन था। बीते हुए दिन एक-एक करके पूरो की आँखों के आगे से गुज़र गये। बोरी के एक टुकड़े को अपने पैरों के नीचे लेकर पूरो पत्थर का बुत बनी हुई उन्हें देखती रही।

बाहर के दरवाज़े को खोलकर रशीद भीतर के आँगन में आकर खड़ा हो गया। पूरो को जैसे खड़का सुनाई ही नहीं दिया, पूरो को जैसे कोई आता दिखाई ही नहीं दिया। वह बैठी की बैठी रही। रशीद को शायद सचमुच ही पूरो से प्रेम था, वह चुपके से आकर पूरो के पास बैठ गया।

"क्या सोच रही है ?" रशीद ने अपनी एक बाँह पूरो के शरीर से सटा दी। पूरो आज अत्यन्त उदास थी; वह न हिल सकी, न बोल सकी।

रशीद उसे दुलार करता रहा। फिर बहुत देर बाद पूरो ने कहा, "आज मुझे ऐसा लगता है जैसे कोई मेरे भीतर मेरी अँतड़ियों को नोच रहा हो।"

रशीद हँसता रहा और पूरो के मन को ढाढ़स बँधाता रहा। फिर रशीद ने चूल्हे में बुझी हुई आग को सुलगाया और पूरो को पास बिठाकर वह ख़ुद एक पतीले में बटेर भूनने लगा।

"न तू कहीं आती-जाती है, न किसी से मिलती-जुलती है। ऐसे तो अच्छे-

भले आदमी का जी घबरा उठता है।" रशीद ने थोड़ी देर ठहरकर कहा।

"कहाँ जाऊँ? मेरे लिए और जगह ही कौन-सी है?" पूरो ने बूझे हुए मन से कहा।

"अब तू घर की मालकिन है; और चार दिन में तेरे आँगन में एक जीव खेलने लगेगा। मेरे लिए न सही, उसके लिए ही सही, तुझे अपने मन को छोटा नहीं करना चाहिए। उस बेचारे ने तेरा क्या बिगाड़ा है?" रशीद को अपने होने वाले बच्चे का ध्यान आ गया, उस ने उसी की दुहाई देकर पूरो से यह आग्रह किया।

पूरो को फिर मटर की फली में से निकले कीड़े का ध्यान आ गया जिसे देखकर जी मिचला उठे, जिस के पासवाले मटर के दानों को फेंक दिया जाये।

"ला, बटेरों के मसाले में थोड़े-से मटर डालने हैं।" रशीद ने पूरो के आगे बिखरे हुए मटर के दानों की ओर देखकर कहा।

"मटर तो सब पकी हुई है। अब मटरों की कौन-सी बहार है, अब तो बैसाख चढ़नेवाला है।" पूरो जानती थी आज वह मटर नहीं खा सकेगी।

"हाँ, सच! कल तो बैसाखी का बड़ा भारी मेला लगेगा।" रशीद ने सहज भाव से कहा।

"बैसाखी···बैसाखी···" पूरो के कानों में गूँजने लगा। वह परात में दो-तीन मुट्ठी आटा डालकर गूँथने लगी जिस से उस का मन बँट जाये।

"आज तो मेरा जी कर रहा है कि गुड़ डालकर सेवइयाँ बनायी जायें।" रशीद ने कहा। पूरो चुपके से भीतर से सेवइयाँ और गुड़ ले आयी।

उसी समय पूरो को एक बहुत पुरानी बात याद आ गयी। एक दिन पूरो की माँ बैठकर सूजी की सेवइयाँ तोड़ रही थी कि पूरो ने कहा, 'माँ, री माँ, मेरा तो मशीन की तोड़ी हुई सेवइयाँ खाने को जी करता है।' इस पर माँ ने तुरन्त कहा था, 'हट, वह तो मुसलमान खाते हैं।'

यह बात याद आते ही पहले तो पूरो की आँखों में आँसू भर आये, फिर वह हँस पड़ी।

रशीद ने उस की हँसी का कारण पूछा, पूरो ने वह बात सुना दी। सुनाते-सुनाते वह फिर रो पड़ी। रशीद लज्जित-सा बैठा हँसता रहा।

दूसरे दिन सवेरे जब पूरो सोकर उठी, गाँव में बैसाखी के ढोल बज रहे थे। पहले तो पूरो घर के काम-काज में लगी रही, फिर वह छत पर चढ़कर दूर गाँव में लगा हुआ बैसाखी मेला देखने लगी।

दूर खड़ी पूरो को लोगों का एक विशाल समूह दीख पड़ रहा था। लम्बे-तड़ंगे जाट कमर में कोरे तहमद बाँधे हुए, हाथों में तेल से चमकायी हुई लाठियाँ लिये, और हृदय में उत्साह और उल्लास भरे इधर से उधर आ-जा रहे थे। बहुत-

से घोड़ियों पर चढ़े हुए थे, पीछे अपनी स्त्रियों को बिठाये आगे एक-दो बाल-बच्चों को भी लिये घूम रहे थे। कई बलिष्ठ नवयुवक अपने यौवन और बल के मद में चूर सीना ताने चल रहे थे, कुछ गाते जाते थे, कुछ बातें करते जाते थे। दूर परे मैदान में कुश्तियाँ हो रही होंगी, जलेबियों के थाल लगे हुए होंगे, गरम पकौड़ियों की महक दूर तक हवा में फैली हुई होगी। गुड़ के शक्करपारे, मैदे की मठरियाँ और मिठाइयों के ढेर के ढेर लोहे के चौड़े थालों में सजे हुए होंगे।

पूरो के मस्तिष्क में एक विचार उत्पन्न हुआ, मानो किसी ने उस के सिर में हथौड़ा दे मारा। उस की माँ ने तीन लड़कियों के बाद इस बार पुत्र को जन्म दिया था और वह...यह उस की पहली बैसाखी थी।

पूरो खड़ी थी, छत पर बैठ गयी। कौन जाने इस समय उस की माँ ने उस के छोटे भाई को पानी चखाया होगा। पास बहती हुई किसी नदी का पानी लेकर गुलाब के फूल को उस पानी में भिगोकर, उस के भाई के नन्हे गुलाबी होंठों से लगाया होगा। फिर उस की माँ को बधाइयाँ मिली होंगी। और कौन जाने... कौन जाने इस समय उस की माँ को अपनी पेट की जायी पूरो की याद आ गयी होगी···

पूरो की आँखों में आँसू भी आ-आकर थक चुके थे। वह दोनों हाथों में सिर को पकड़े बैठी रही।

युवा जाट लड़कों की एक टोली कानों में फूल अड़ाये हँसती-गाती परे से गुज़र रही थी। उन में से कोई 'बोली' गा रहा था :

> खूह ते बैठी दातन करदी
> चिट्टियाँ दन्दा दी मारी
> नीं आपे तैनूँ लै जाणगे
> जिन्हाँ नूँ लगें पियारी
> नी आपे तैनूँ लै जाणगे···

"काश ! कोई प्यारी लगनेवालियों के हाल तो देखे।" पूरो के मुँह से धीरे से निकल गयी।

फिर पूरो के मन में एक विचार आया, वह रशीद को ही प्यारी लगी, रशीद उसे ले आया। वह अपने मँगेतर रामचन्द को क्यों प्यारी न लगी? उस ने तो उस की बात भी नहीं पूछी। वह तो रामचन्द को प्यारी लगना चाहती थी। रशीद को न तो उस ने स्वयं ढूँढ़ा था, न ही उस के माता-पिता ने उसे चुना था।

जाट हँसते जा रहे थे, कूदते जा रहे थे, भंगड़ा नाचते जा रहे थे, 'बोलियाँ' गाते जा रहे थे :

> तेरे लौंग दा वज्जा लिशकारा
> हालियाँ नूँ हल भुल्ल गये...

तेरा भिज्जया परी दा लहँगा
पच्छौं दियाँ पैण कणियाँ···
सानूँ कण्ड ना देईं मुटियारे
नी राहे राहे जाण वालीए···

पूरो सोचती रही, सब गीत सुन्दर लड़कियों के ही गुण गाते हैं, सारे भजन सच्चे प्रेम का ही वर्णन करते हैं। क्या कभी ऐसे गीत भी बनेंगे जिन में मुझ जैसी लड़कियों के रुदन की कथा लिखी जायेगी ? क्या कभी ऐसे भजन भी होंगे जिन का कोई भगवान् ही न होगा ?

चढ़ती जवानीवाली कुछ नवयुवतियाँ अपने यौवन की उच्छृंखलता में अपनी एक अलग टोली बनाकर मेले में चली जा रही थीं। कुछ दूर पर जा रहे जाट लड़के अपनी टोलियों में से मुड़-मुड़कर उनकी ओर ताक-झाँक रहे थे, और हँस रहे थे। शायद उनसे हँसी-मज़ाक़ कर रहे हों। पूरो सोचने लगी, यदि सब जवान लड़कियों को यह लड़के अपनी-अपनी घोड़ियों पर उठाकर भाग जायें, फिर क्या हो ? यदि ये इन लड़कियों को उठाकर ले जायें...

पूरो का बच्चा

भरी गरमी आ गयी थी। 'छिपटियाँ' डालकर जलाये गये तन्दूर की भाँति धरती जल रही थी।

पूरो कभी बैठती, कभी उठती, कभी लेट रहती थी। आज उस का जी ठीक नहीं था। पल-पल पर वह पानी पी रही थी। उसकी पड़ोसिन ने उस से कहा था, "जैसे भी हो आज नहा ले और अपना सिर भी धो ले, फिर क्या पता रात को या सवेरे ही तेरे घर कुछ हो जाये, फिर तू कितने ही दिन उठने योग्य न रहेगी।"

रशीद ने देखा, पूरो का रंग शरीर में उठती पीड़ा के साथ-साथ पूनी जैसा सफ़ेद होता जा रहा था। रशीद को वह समय याद आ गया जब वह छत्तोआनी

की कच्ची सड़क से पूरो को अपने आगे घोड़ी पर बिठाकर भगा लाया था। उस समय भी पूरो का रंग सफ़ेद फिटकरी जैसा हो गया था। उस समय पूरो की आत्मा में से चीसें उठ रही थीं, आज उस के रक्त-मांस में से।

रशीद ने रहीम के घर अपने खेतों पर काम करनेवाला एक नौकर भेजा। पूरो को अकेली छोड़कर जाने का उसे साहस न होता था। अब रहीम की माँ पहुँची, उस समय बढ़ती हुई पीड़ा पूरो के मुख पर बल खा रही थी। आते समय रहीम की माँ अपनी गलीवाली उस रेशमा दाई को भी लेती आयी थी जिस ने रहीम की दोनों स्त्रियों के दो-दो, तीन-तीन लड़के-लड़कियाँ पैदा होने के समय मदद दी थी।

दाई ने आते ही एक पुरानी दरी फ़र्श पर डालकर उस पर पूरो को लिटा दिया। पूरो चारपाई की नरमाई को छोड़कर कड़ी ज़मीन पर लेटी कराहने लगी।

रशीद बाहर देहली के पास खड़ा था। बन्द किये हुए भीतरी किवाड़ के अन्दर से पूरो की दाँतों में भिची हुई लम्बी-लम्बी हुंकार रशीद को सुनाई देती रही। उस का मन कर रहा था, पूरो के शरीर में से बहुत नहीं तो कम से कम आधी पीड़ा निकालकर अपने में डाल ले। पूरो अकेली ही पड़ी कराह रही थी।

दाई नयी गोटवाले पंखे से पूरो के मुख पर धीरे-धीरे हवा करती रही। कितनी ही बार रहीम की माँ ने घूँट-घूँट करके पूरो के मुँह में पानी डाला।

बाहर खड़े हुए रशीद ने तीन ज़ोर की चीख़ों के बाद बच्चे के टिटियाने की आवाज़ सुनी। उस के बाद पूरो के मुख से कोई आवाज़ न निकली। उस का कष्ट समाप्त हो चुका था। रशीद ने चैन का साँस लिया। उसका जी कर रहा था कि वह भीतर चला जाये। दाई तो शायद बच्चे की देखभाल में लगी होगी, वह जाकर पूरो को सँभाले। पूरो अभी तक उस के हाथों रोती ही रही थी, पूरो अभी तक उस के कारण कराहती ही रही थी। पर भीतर उस की चाची बैठी हुई थी, भीतर दाई बैठी हुई थी। जब तक वे उसे भीतर न बुलावें, भीतर जाना उसे बड़ी अभद्रता प्रतीत होती थी।

मिनट पर मिनट बीतते गये, पूरो की फिर आवाज़ नहीं आयी। रशीद के दिल में घबराहट उत्पन्न हुई—पूरो जीवित तो है? उस की आवाज़ इतनी-सी भी क्यों नहीं आती?

इसी प्रकार आधा घण्टा बीत गया। दाई ने बाहर आकर रशीद से कहा, "बेटा, बधाई हो, लड़का हुआ है।"

"उस का क्या हाल है?" रशीद ने पूछा।

"ठीक-ठाक है, बेटा! ऐसे ही कुनवे बढ़ते हैं, लड़के छत से तो गिर नहीं पड़ते।" दाई ने हौसले के साथ मुसकराकर कहा, उस हौसले के साथ जिस से

उस ने सैकड़ों स्त्रियों की पीड़ा को अपने हाथों पर झेला था।

जब रशीद अन्दर गया तो पूरो लेटी हुई थी। उस की आँखें निढाल थीं। उस के पास ही एक सफ़ेद कपड़े में लपेटा हुआ उस का और रशीद का पुत्र पड़ा अँगूठा चूस रहा था।

रशीद का हृदय गर्व से भर उठा। उस ने पूरो पर विजय प्राप्त कर ली थी, इस जुए में उसने सारी की सारी पूरो को जीत लिया था। पूरो अब केवल उस की भगायी हुई रखैल ही नहीं थी, वह अब केवल उस की घर में डाली हुई स्त्री ही नहीं थी, अब वह उस के पुत्र की माँ भी थी।

रहीम की माँ के कहे अनुसार रशीद ने एक रुपया और गुड़ की भेली अपने पुत्र के ऊपर वारी। पूरो की उनींदी आँखें खुलीं, उस ने रशीद को देखा।

'अब तू मुझ से क्या कहता है? मैं ने तुझे अपना आपा दिया, मैं ने तुझे एक पुत्र दिया है, अब मेरे पास बाक़ी क्या रह गया है?'' मानो पूरो ने मूक जिह्वा से रशीद से कहा। फिर पूरो ने आँखें मींच लीं।

गरम गुड़ और पिसे हुए बादाम कुछ चम्मच पीकर जब पूरो के शरीर में कुछ जान आयी तो उस ने देखा कि उस के बच्चे का नरम-नरम मुँह उस की बाँह से लग रहा है। पूरो के शरीर में एक कँपकँपी-सी आ गयी। उसे लगा कि एक नरम सफ़ेद कीड़ा उस के शरीर पर चढ़ रहा है। पूरो को घृणा-सी हुई। उस का मन किया, अपनी बाँहों से लगे हुए कीड़े को वह तोड़ डाले, अपने पास से उसे दूर फेंक दे, ऐसे जैसे कोई चुभे हुए कांटे को नाख़ूनों में फँसाकर निकाल देता है, जैसे कोई धँसे हुए गोखरू को उखाड़कर फेंक देता है, जैसे कोई चिपटी हुई किलनी को नोचकर अलग कर देता है, जैसे कोई चिपटी हुई जोंक को तोड़ फेंकता है।

रहीम की माँ को इन के घर पूरे तेरह दिन रहना था। अभी पूरो के लड़का हुए केवल चार दिन हुए थे।

पाँचवें दिन पूरो के दूध उतरा। अब तक दाई रुई की बत्तियाँ बनाकर लड़के के मुँह में दूध देती रही थी। आज उस ने लड़के को पूरो के स्तन से लगा दिया।

लड़का पूरो की गोदी में पड़ा रहा। उस के शरीर से चिपटा रहा। पूरो ने अपनी अँतड़ियों में एक खिचन-सी अनुभव की। उस का मन किया कि वह लड़के को गले लगाकर फूट-फूटकर रोये। लड़का उस के अपने रक्त का बना हुआ खिलौना था, उस के ही मांस का बना हुआ पुतला था। इस भरे-पूरे संसार में यह एक लड़का ही उस का अपना था। वह अब कभी भी अपनी माँ का मुख न देख सकेगी, वह अब कभी भी अपने पिता का मुख न देख सकेगी, वह अपने भाई-बहनों को भी कभी न देख सकेगी...वह...वह केवल अपने लड़के का मुँह देखा करेगी, जिस के रक्त में उस के अपने माता-पिता का रक्त भी मिला हुआ था। उस के माता-पिता उसे तो तोड़कर अलग फेंक गये, किन्तु अपने रक्त को कैसे अलग कर

सकेंगे जो कि पूरो के अंग-अंग में रचा हुआ था, जो कि पूरो के घर उत्पन्न हुए लड़के के रक्त में मिला हुआ था !

बच्चा पूरो का दूध पीता रहा। फिर पूरो को लगा, यह लड़का ज़बरदस्ती ही उस की नसों में से दूध खींच रहा है, ज़बरदस्ती...ज़बरदस्ती...इस के पिता ने भी तो उस के साथ ज़बरदस्ती की थी। लड़का भी तो अपने पिता का ही पुत्र था, अपने पिता का रक्त था, अपने पिता का मांस था, अपने पिता का रूप था। ज़बरदस्ती यह उस के शरीर में धरा गया था, ज़बरदस्ती ही उस के पेट में पल गया था, और अब ज़बरदस्ती ही उस की नसों से दूध खींच रहा था...

पूरो ने अपने माथे को छुआ। आग में पड़ी हुई ईंट की भाँति उस का माथा गरम था। शायद उसे ज्वर चढ़ा हुआ था...पूरो के मस्तिष्क में एक विचार घूमने लगा, यह लड़का...इस लड़के का पिता...सब पुरुष जाति...पुरुष... पुरुष...जो स्त्री के शरीर को कुत्ते की हड्डी की भाँति चूसते हैं, कुत्ते की हड्डी की भाँति चबाते हैं।

लड़का पूरो का दूध पीता रहा। पूरो का मन रहँट के डोंगों की भाँति भरता और ख़ाली होता रहा।

अनाथ

पूरो के गोलमटोल लड़के को सब जावेद कहकर पुकारते थे। पूरो उसे सुतली की पलँगिया पर डालकर देखती रहती थी। टाँगें चला-चलाकर वह अपने ऊपर की चादर उतार देता और उसे पैरों में रौंद देता। पूरो ने उस के पाँव में चाँदी की पतली-सी पाज़ेब डाल रखी थी। जब वह टाँगें मारता, पाज़ेब की हलकी-सी छन-छन पलँगिया पर सुनाई देती। लातें चलाते समय ज़ोर लगाने के कारण उस का मुँह लाल हो जाता और उसे हिचकियाँ आने लगतीं।

फिर पूरो उस के हाथों की ओर देखती। उस की हथेली वास्तव में बहुत ही

गोरी थी, और हथेली के पीछे की ओर मांस इस तरह उभरा हुआ था कि पूरो को उस के हाथ बिलकुल मोम के उस बबुए जैसे लगते थे जिसे छुटपन में उस ने सियाम से आते हुए कलकत्ते के एक बाज़ार में ख़रीदा था। पूरो ने उस बबुए को क्रोशिये से बुनकर एक कुरता पहनाया था, छोटे मोतियों को एक धागे में पिरोकर उस बबुए को माला पहनायी थी। जावेद के हाथ बिलकुल उस बबुए के हाथों की भाँति थल-थल करते थे। मोम का वह बबुआ शायद अभी तक नहीं टूटा होगा। पूरो सोचने लगती, कभी-कभी काँच और मिट्टी की वस्तुओं का जीवन भी कितना लम्बा हो जाता है, शायद आज भी उस बबुए से पूरो की कोई बहन खेल रही होगी।

मुँह-अँधेरे ही पूरो खेतों में जाती। रशीद लड़के के पास बैठता। एक दिन अभी अँधेरा ही था, पूरो खेतों से लौट रही थी। गाँव के बाहर मुसलमानों के कुएँ पर उस ने हाथ-पैर धोये और जब वह अपने घर को लौट रही थी, उसे अपनी गली की एक लड़की कम्मो दिखाई दी।

शरद् ऋतु की हलकी-हलकी ठण्ड थी। कम्मो पानी की बटलोई को पत्थर के एक छोटे-से घड़े पर रखकर खड़ी हो गयी थी। पूरो जब उस के पास से गुज़री कम्मो ने काँपते हुए हाथ से पानी की उस बटलोई को उठा लिया। शायद उस के कन्धे बटलोई का भार सहार न सके, बटलोई कम्मो के कन्धे से गिरने लगी। बटलोई के नीचे टिकी हुई कम्मो की हथेली भार के कारण बीच से ही दोहरी होती हुई प्रतीत होती थी। दायें हाथ से बटलोई को सहारा देते हुए कम्मो के मुँह से निकला—"ओ, माँ !"

पूरो के पाँव रुक गये। पूरो कम्मो के पास हो गयी। उस का मन किया, दस-बारह बरस की इस लड़की कम्मो के कन्धे से बटलोई उतार ले। कम्मो उस के साथ-साथ चलती जाये, कम्मो जो पाँवों से नंगी थी, जो सदा खद्दर के सुथने के पायँचे ऊपर को मोड़े रखती थी, जिस की धारियोंवाली क़मीज़ के मोढों पर लगा हुआ पेबन्द कभी उधड़ जाता था, कभी फिर लग जाता था, जिस की चुनरी के पल्ले सदा तार-तार होकर लटके रहते थे, जिस के बाल सदा बान जैसे ख़ुश्क और बिखरे रहते थे, और जिसे पूरो ने सदा दूर से ही देखा था। आज वह उस के पास जाकर उस के उन कन्धों पर से बटलोई उतार ले जिन कन्धों की हड्डियाँ पीतल की बटलोई से टक्कर खा रही थीं।

"बड़ी देर हो गयी है ?" बरतन के भार के नीचे दबी कम्मो ने मानो पूरो से आज देर न होने का एक सहारा माँगा।

"अभी तो दिन भी नहीं निकला।" पूरो ने स्थिर स्वर में कहा।

न जाने लड़की में कुछ साहस आ गया, उस ने अपने कन्धों का भार फिर धरती पर रख दिया। बटलोई के मुँह में से कोई एक चुल्लू भर पानी छलक-

कर कम्मो के कन्धों पर गिर पड़ा। घिसी हुई धारियों वाली कमीज़ को पार कर के पानी की ठण्ड कम्मो के शरीर में फैल गयी। जाड़ों की ठिठुरन कम्मो के बदन में दौड़ गयी।

पूरो रुक गयी। कम्मो पूरो की ओर देखकर हँस पड़ी। एक घड़ी पहले वह देर हो जाने के डर से और बरतन के बोझ से सहमी हुई थी। पूरो ने कम्मो के मुख पर सदा वही भय का भाव देखा था। उस समय उस के चौड़े होंठों पर फैली हुई हँसी पूरो को ऐसी लगती जैसे कि उस लड़की को हँसना आता ही न हो, वह यों ही अपने होंठ मरोड़ रही हो मानो किसी को मुँह चिढ़ा रही हो।

"कम्मो! तू रोज़ इसी वक़्त आती है?" कम्मो को जो आवाज़ें पड़ती थीं उन से पूरो को कम्मो का नाम मालूम हो गया था।

"लगता है, आज कुछ देर हो गयी है, मुझे मार पड़ेगी।" कम्मो ने फिर बटलोई पर हाथ धर लिया। मानो समय का ज़िक्र ही उस के लिए डरावना हो गया हो। उस के मुख पर से उस की हँसी कच्चे रंग की भाँति उतर आयी और फिर वही पुराना भय का भाव उस के मुख पर आ गया।

"कम्मो! वह तेरी कौन लगती है?"

"चाची।" कम्मो ने कहा और उस की बाँह बटलोई के भार के नीचे मुड़ गयी, कौन जाने उस बोझ के कारण या चाची के नाम से!

"तू कहे तो मैं तेरी बटलोई ले चलूँ।" पूरो ने कहा, पर अपना हाथ आगे न बढ़ाया। पूरो को इस बात का पूरी तरह ध्यान था कि लोग जानते थे कि उस का नाम हमीदा है—हमीदा—रशीद की पत्नी...और कम्मो एक हिन्दू लड़की थी।

"बटलोई भ्रष्ट हो जायेगी।" कम्मो ने नि:शंक कहा।

"पानी तो भ्रष्ट नहीं होगा। मैं पानी को हाथ नहीं लगाऊँगी, तू जाकर बाहर से बटलोई माँज लीजो।" कहते-कहते पूरो हँस पड़ी। कम्मो भी हँस पड़ी, पर वह बटलोई उठाये रही।

दोनों अभी थोड़ी ही दूर गयी होंगी कि कम्मो का पैर मुड़ गया। गिरती हुई बटलोई को पूरो ने रोक लिया, पर कम्मो कंकड़-पत्थरों पर गिर पड़ी। कम्मो के पैर में मोच आ गयी।

पूरो ने बटलोई धरकर कम्मो का पैर थामा, हथेली से कम्मो के पैर को टखने के पास मला। देखते-देखते कम्मो उठने योग्य हो गयी। पूरो बटलोई उठा-कर उस के साथ-साथ चलने लगी।

"ओ, माँ!" कहकर कम्मो रोने लगी। पूरो को लगा जैसे कम्मो अपने तमाम दुखों के लिए अपनी परलोक वासी माँ को उलाहना दे रही है।

'पैदा करके हमारे लिए छोड़ गये,' पूरो ने कई बार कम्मो की चाची को

कहते सुना था। कम्मो के माता-पिता कोई न था। कम्मो का पिता तो शायद जीवित था, पर कहते थे उस ने शहर में कोई औरत रखी हुई थी। वह कम्मो की बात न पूछती थी, और इसी कारण कम्मो का पिता भी उस से कोई वास्ता न रखता था। पूरो सोच रही थी, जब माँएँ मर जाती हैं तब बाप भी पराये हो जाते हैं...सोचते-सोचते उस का ध्यान अपने जीवन की ओर चला गया, माँएँ जीवित हों फिर भी पिता पराये हो जाते हैं, माएँ भी परायी हो जाती हैं...

गाँव अब स्पष्ट दीख पड़ने लगा था। प्रकाश भी बढ़ गया था और उन की गली का मोड़ भी अब आ गया था। फिर दोनों को यह डर था कि कोई पूरो को बटलोई उठाये न देख ले। कम्मो ने जब बटलोई सँभाली, उस के पाँव काँप रहे थे। पूरो ने जल्दी-जल्दी क़दम बढ़ाये और कम्मो से अलग हो अपनी गली में मुड़ गयी।

उसी दिन दोपहर के समय पूरो का लड़का कुछ ज़िद करके रो रहा था और पूरो उसे बहलाने में लगी हुई थी, जब दरवाज़ा खोलकर कम्मो उस के घर में आ गयी।

पूरो ने आगे बढ़कर कम्मो को अपने से चिपटा लिया। पूरो को लगा, उस के पुत्र की अपेक्षा कम्मो को बहलाये जाने की अधिक आवश्यकता है। कम्मो, जिस के आँसू पोंछने वाला कोई न था।

कम्मो के आँसू पूरो की बाँह पर गिर रहे थे। पूरो के जी में वही विचार रह-रहकर आ रहा था कि जैसे वह जावेद की माँ है वैसे ही कम्मो की माँ भी बन जाये,—कम्मो ऐंठकर रोने लगे, वह उसे उठा-उठाकर बिठाये, उसे गोद में ले-लेकर फिरे, उसे चूमते न थके...। वह जावेद की माँ है, वह कम्मो की माँ भी बन जाये, वह सब अनाथों की माँ बन जाये...। वह एक अच्छी पुत्री नहीं बन सकी थी, वह एक अच्छी माँ बन जाये...

कम्मो हिन्दू थी और पूरो...पूरो एक मुसलमाननी थी, यद्यपि अभी तक अपने आप को वह पूरो ही समझती थी। कम्मो पूरो के घर का कुछ खा नहीं सकती थी, पर पूरो का जी करता था कि कम्मो को अपने हाथ से कौर खिलावे, उसे अपने हाथ से दूध का कटोरा पिलावे...

पूरो ने फिर कम्मो का पैर मला...हथेलियों से गरम-गरम घी रगड़ा...रुई से सेंक किया।

कम्मो घर जाने की जल्दी करने लगी। उस की चाची की लम्बी झाड़ उस की आँखों में सलाखों की भाँति फिर रही थी। कम्मो दुलाई निराँदने वाली सुई लाने के बहाने चली आयी थी।

पूरो ने कम्मो को बादाम वाला गुड़ खिलाया, और फिर दुलाई निराँदने-वाली सुई भीतर से निकालकर दी।

जाड़ा दिन-दिन बढ़ रहा था। लोगों ने मोटे कपड़े पहन लिये थे। लोगों ने रुई भरवाकर काली छींट की फतूहियाँ सिलवायी थीं। लोगों ने मोटे खेसों में अपने कन्धों को लपेट लिया था।

कम्मो अपनी आयु के वर्ष खाये जा रही थी। न उस के शरीर पर यौवन चढ़ता था, न ही उस के शरीर पर कभी नये वस्त्र दिखाई दिये थे। उन के नंगे पैर अब ठण्ड से ठिठुरने लगे थे।

पूरो ने कम्मो के लिए एक नयी जूती बनवायी, पर कम्मो के लिए अपने पैरों में उस जूती को पहनना आसान काम नहीं था।

बहुत सोच-विचार के बाद कम्मो को वह जूती पहना दी गयी, और कम्मो ने अपनी चाची से कह दिया कि सामने ईख के खेत में पड़ी मिली है। चाची ने यह बात मानी तो नहीं—भला गाँव में ऐसी कौन होगी जो अपनी नयी जूती ऐसे फेंक आयी—पर वह कुछ बोली नहीं। कम्मो जूती पहनती रही।

किन्तु हर रोज़ तो नयी चीज़ें पड़ी नहीं मिल सकतीं। पूरो कम्मो की ठिठुरती हुई हड्डियों को देखकर रह जाती।

केवल रात्रि के अन्तिम प्रहर का अन्धकार यह बात जानता था कि पूरो कम्मो की एक-दो बटलोइयाँ उठाकर उसे साँस ले लेने देती थी।

कम्मो दिन में एकाध फेरा पूरो के घर का लगा लेती थी—कभी बेलन में रुई साफ़ कर लेती, कभी चक्की में चने दल लेती, कभी हाअनदस्ते में मसाला कूट लेती। पूरो उस का हाथ बँटाती। चाची का काफ़ी काम हो जाता। नन्हा बच्चा जावेद कम्मो से हिल गया था। कभी कम्मो न आती तो पूरो उसे छोटे लड़के का उलाहना देती। जहाँ तक कम्मो से बन पड़ता वह कभी नाग़ा न करती।

अब पूरो और कम्मो माँ-बेटियों की भाँति एक-दूसरे से लड़ लेती थीं, दो सहेलियों की भाँति एक-दूसरे से चिपट-चिपटकर बैठ जाती थीं।

कई बार पूरो का मन करता था कि वह कम्मो के लिए कुछ बनाये। कम्मो के सूखे हुए शरीर पर अब एक हलका-सा उभार आने लगा था—कम्मो के पिचके हुए गालों पर गोलाई आ गयी थी। पूरो के घर आकर कम्मो अपने बाल सँवारती, पूरो चिकनाई का हाथ लगाकर कम्मो की मेढ़ियाँ करती।

एक दिन सवेरे मुँह-अँधेरे कम्मो पूरो को पकड़कर बेतरह रोने लगी। पूरो ने ध्यानपूर्वक उस की ओर देखा, कम्मो गन्ने की भाँति पेरी हुई जान पड़ती थी।

पूरो ने उसे अपने कलेजे से लगाया, उस का माथा चूमा—किन्तु कम्मो का रोना किसी प्रकार थमने में न आता था। आँसुओं से उस की चुनरी भीग गयी थी, आँसुओं से उस के हाथ भीग गये थे।

"मेरी चाची कहती है, जो तू अब उस के घर गयी तो मैं तेरा ख़ून पी

डालूँगी।" कम्मो ने कहा और पूरो की छाती से लगकर सिसक-सिसककर रोने लगी। वह जी भरकर रोयी, मानो पूरो उस का एक सहारा हो और उस से अलग करने के लिए कम्मो को कोई हाथ पकड़कर खींच रहा हो।

"पर क्यों ? मैं ने क्या किया है ?" पूरो ने ठहरकर पूछा।

"चाची कहती है, सुना है वह घर से भागकर आयी है, तू भी किसी दिन उस की तरह भाग जायेगी।" कम्मो ने रोना बन्द करके कहा। प्रभात का प्रकाश उजला होने लगा था। पूरो टूटी हुई पूनी की भाँति हो गयी थी।

कटु सत्य

पूरो के हृदय पर एक के बाद एक चोटें पड़ती रही थीं। उस का मन और मस्तिष्क इतने अल्प समय में ही कम से कम दस बरस बड़े हो गये थे। पूरो की आयु बीस वर्ष से अधिक नहीं थी, किन्तु आयु उसे जो कुछ नहीं सिखा सकती थी, वह उसे जीवन के कुठाराघातों ने सिखा दिया था। एक बुद्धिमान् विचारक की भाँति पूरो गम्भीर हो गयी थी। पूरो का मन बड़ी विलक्षण बातें सोचता था, बहुत कुछ सोचता था। किन्तु पूरो को अपने विचारों को व्यक्त करना न आता था। पानी के टकराने से जैसे झाग उठते हैं और फिर पानी में समा जाते हैं, उसी प्रकार पूरो के हृदय में उमंगें उठतीं और विलीन हो जाती थीं।

कभी-कभार पूरो रहीम के घर उस के घर की स्त्रियों के पास चली जाती थी। उन के पड़ोस की एक लड़की के पीले मुख से वह बहुत आकर्षित हुई थी। कई बार पूरो का मन करता कि उसे बुला ले। दुखी को दुखी ही पहचानता है। उस लड़की के म्लान मुख पर बड़ी-बड़ी थकी हुई-सी आँखें थीं जो पूरो की ओर कुछ ऐसे झुक पड़ती थीं मानो उन्हें भी पूरो की आवश्यकता हो। होते-होते पूरो को पता लगा कि पिछले से पिछले साल इस लड़की का विवाह हुआ था। कोई कहता था कि उस पर भूत-प्रेत था; कोई कहता था, उसे कोई भीतरी रोग था।

न जाने उसे क्या हो गया था, उस का शरीर बहुत दुर्बल हो गया था, उस का मुख पीला पड़ गया था।

पूरो ने इसी तरह आते-जाते उस लड़की से परिचय कर लिया, और उस परिचय को उस की माँ के ज़रिये से अपने खेस बुनवाकर बढ़ा लिया। उस लड़की को सब तारो पुकारते थे।

कुछ दिनों बाद पूरो ने सुना, तारो को कई बार दौरे भी पड़ जाते हैं। उन दिनों तारो अपने मायके आयी हुई थी। अब उसे अपनी ससुराल जाना था। पूरो ने सुना, हर बार अपनी ससुराल जाते समय तारो को इसी प्रकार होता था, और जितनी बार वह अपनी ससुराल से लौटकर आती थी, उस के शरीर का मांस पहले से भी कम होता था, हर बार उस के शरीर की हड्डियाँ पहले से भी अधिक निकली हुई होती थीं।

देखने वाले अपने मन में समझते थे कि बस दो-तीन फेरों की बात और है, फिर और सूखने के लिए उस के शरीर पर मांस रह ही नहीं जायेगा, फिर और दुखने के लिए उस की हड्डियों में जान ही न रह जायेगी। किन्तु मुँह से कोई कुछ न कहता था, न ले जाने वाले ससुराली कुछ कहते थे, न भेजने वाले मायके के कुछ बोलते थे।

एक दिन तारो बिलकुल अकेली बैठी हुई थी। पूरो उस के पास जाकर बैठ गयी। पहले भी कई बार उस से थोड़ी-बहुत बातचीत कर चुकी थी, आज उस से बातें करने के लिए बैठ ही गयी।

"तारो ! कोई सयाना तो बताता होगा, तुझे क्या हुआ है ?"

"कुछ भी नहीं।"

"किसी ने नब्ज़ तो देखी होगी ?"

"वर्क़वाले मुरब्बे और अर्क़ की बोतलें पीते-पीते मैं थक गयी हूँ।"

"तारो, कुछ तो बता, क्यों अपनी जान की गाहक बनी है ?"

"अच्छा है, धरती का कुछ भार हलका हो जायेगा, बहन ! तू क्यों चिन्ता करती है ?"

"धरती पर तो न जाने कितना भार पड़ा हुआ है, तेरे न रहने से कितना कम हो जायेगा। अपनी माँ से पूछकर देख जिस ने तुझे अनेक कष्ट झेलकर पाला है।"

"पाला होगा," तारो ने बेपरवाही से कहा, "दो-चार दिन रो-धोकर अपने आप चुप हो जायेगी। वह कौन-सी सुखी है !"

"पर ऐसी क्या बात है, माँ से कह तुझे कुछ दिन और न भेजे।"

"फिर क्या फ़र्क़ पड़ जायेगा ! जैसी यहाँ हूँ, वैसी वहाँ।"

"हाँ, लड़कियों को कोई कितने दिन रख सकता है।"

"लड़कियाँ,...हूँह..." और तारो बड़बड़ा कर चुप हो गयी। तारो के मन में न जाने क्या उलझन पड़ी हुई थी, न जाने वह क्या कहना चाहती थी, पर कह न पाती थी।

"लड़कियों का क्या है, माँ-बाप चाहे जिस के हाथ में उस के गले की रस्सी पकड़ा दें।" तारो ने थोड़ी देर ठहरकर कहा।

"वहाँ का पानी अच्छा है ?" पूरो ने पूछा।

"अच्छा न भी हो तो भी अच्छा ही है।" तारो ने उत्तर दिया।

"हो सकता है तुझे वहाँ का पानी माफ़िक न आया हो।" पूरो ने बात को चलाये रखने के लिए कहा।

"लड़कियों को सदा पानी माफ़िक आता है।" तारो ने कुछ ऐसा कहा कि पूरो उस के मुख की ओर देखती रह गयी।

"तारो, मैं तेरी अपनी ही हूँ, तू कुछ बताती क्यों नहीं ?" पूरो ने ऐसे अपनेपन से कहा कि तारो का हृदय खुल गया।

"बहन, मैं क्या बताऊँ ! लड़कियों को भगवान् ने कुछ कहने योग्य ज़बान ही नहीं दी।"

"ठीक है, तारो !"

"माँ-बाप के पास मेरे लिए कोई जगह नहीं है, क्योंकि किसी भी लड़की के लिए माँ-बाप के पास जगह होती ही नहीं, और मेरे पति के पास भी मेरे लिए जगह नहीं है, क्योंकि उन के दिल और घर में एक और औरत बसी हुई है।"

"हैं ! तारो, क्या तेरे आदमी का पहले ब्याह हो चुका था ? तो फिर तेरे माँ-बाप ने तुझे वहाँ क्यों दे दिया ?"

"उन्हें पहले ख़बर नहीं थी और न ही उस का पहले ब्याह हुआ था। उस ने तो बस एक औरत को घर में रखा हुआ है।"

"पर उस के माँ-बाप को तो ख़बर होगी ?"

"जानते सभी थे। वह औरत उन की ज़ात की नहीं है नीच ज़ात की है। उस के माँ-बाप कहते थे कि बहू घर में अपनी ही ज़ात की आनी चाहिए।"

"पर उन्होंने यह न सोचा कि परायी बेटी का क्या हाल होगा ?"

"दूसरे के दुख की कौन परवा करता है, बहन ! फिर वे लोग कहते हैं कि रोटी देते हैं, कपड़ा देते हैं, खुला हाथ है; फिर किस बात का दुख है ?"

"जैसे औरत को केवल रोटी और कपड़ा ही चाहिए ?" पूरो ने कहा।

"मेरे हृदय में आग-सी धधक उठती है। तू नहीं देखती सब देखते हैं। पूरो, दो बरस हो गये हैं, रोटी और कपड़े के लिए मैं अपना शरीर बेचती हूँ... देख, मैं वेश्या हूँ...देख, मैं वेश्या हूँ..." कहते-कहते तारो गिर पड़ी, उस की मुट्ठियाँ भिंच गयीं, उस की आँखें ऊपर चढ़ गयीं, उस का शरीर लकड़ी के फट्टे

की भाँति अकड़ गया।

पूरो डर गयी। तारो के घर में उस समय और कोई नहीं था। पूरो यह न जानती थी कि उसे क्या करना चाहिए। वह डर रही थी, घबरा रही थी। वह तारो की टाँगें दबाने लगी, उस के कन्धे दबाने लगी, उस के तलवे सहलाने लगी।

तारो को होश आ गया।

"तू मुझे हाथ मत लगा, मैं वेश्या हूँ, तू देखती नहीं...तू देखती नहीं..." तारो ऐसी ही बातें कर रही थी।

पूरो सोच रही थी कि अभी इसे होश नहीं आया है कि इतने में तारो की माँ आ गयी।

"हाय रे, मैं क्या करूँ, एक तो हमें हमारी क़िस्मत ने मार डाला, अब इस की बातें मार डालेंगी।" तारो की माँ निढाल-सी होकर बैठ गयी। पूरो चुप रही।

"इस ने और इस के भाई ने तो हमारी जान हलकान कर रखी है। लाहौर कालिज में पढ़ने क्या गया है, बहन को भी पढ़ा-पढ़ाकर बिगाड़ दिया है। देख, कैसी ऊलजलूल बातें करती है।" तारो की माँ ने फिर दुःखपूर्वक कहा।

"अम्मा, ज़ुल्म भी तो बेचारी पर बहुत ही हुआ है।" पूरो ने कहा।

"बेटा! हम ने लड़की दे दी, हमारा मुँह बन्द हो गया। हम अब क्या बोल सकते हैं! वह अच्छी तरह रखे या दुख दे, मर्द की ज़ात है।" तारो की माँ ने कहा।

"मेरे मुँह पर ताला डाल दिया गया, मेरे पैरों में बेड़ी डाल दी गयी, उस का क्या बिगड़ा! भगवान् ने उसे बन्धन में न डाला। उसे बाँधने के लिए भगवान् जनमा ही नहीं। सारी रस्सियाँ भगवान् ने मेरे पैरों में ही डाल दीं।" तारो की मुट्ठियाँ भिंच गयीं, उस की टाँगें फिर अकड़ गयीं। उस की माँ ने उस के मुँह पर पानी के छींटे मारे, चुल्लू भर-भरकर उस के मुँह में पानी डाला।

पूरो ठक-सी हो गयी थी। आज उस ने पहली बार अनुभव किया था कि लड़कियाँ इस तरह भी सोच सकती हैं, लड़कियाँ इस तरह भी बोल सकती हैं। वैसे तो पूरो के मन में भी ग़ुबार उठा करते थे, पर उन्हें व्यक्त करना उसे न आता था।

"यह धोखा है, निरा धोखा है। मेरा ब्याह नहीं हुआ, तुम सब झूठ बोलते हो। तुम ने मुझे क्यों पकड़ रखा है? परे हटो... .." और बेसुध तारो अपने पैरों को धरती पर पटकने लगी।

"तारो, होश में आ। कैसी बातें मुँह से निकालती है! कोई सुनेगा तो क्या कहेगा! वह तेरा पति है, ज़रा मुँह में लगाम दे, ऐसे न बोल।" तारो की माँ

"लड़कियाँ,...हूँह..." और तारो बड़बड़ा कर चुप हो गयी। तारो के मन में न जाने क्या उलझन पड़ी हुई थी, न जाने वह क्या कहना चाहती थी, पर कह न पाती थी।

"लड़कियों का क्या है, माँ-बाप चाहे जिस के हाथ में उस के गले की रस्सी पकड़ा दें।" तारो ने थोड़ी देर ठहरकर कहा।

"वहाँ का पानी अच्छा है?" पूरो ने पूछा।

"अच्छा न भी हो तो भी अच्छा ही है।" तारो ने उत्तर दिया।

"हो सकता है तुझे वहाँ का पानी माफ़िक न आया हो।" पूरो ने बात को चलाये रखने के लिए कहा।

"लड़कियों को सदा पानी माफ़िक आता है।" तारो ने कुछ ऐसा कहा कि पूरो उस के मुख की ओर देखती रह गयी।

"तारो, मैं तेरी अपनी ही हूँ, तू कुछ बताती क्यों नहीं?" पूरो ने ऐसे अपनेपन से कहा कि तारो का हृदय खुल गया।

"बहन, मैं क्या बताऊँ! लड़कियों को भगवान् ने कुछ कहने योग्य ज़बान ही नहीं दी।"

"ठीक है, तारो!"

"माँ-बाप के पास मेरे लिए कोई जगह नहीं है, क्योंकि किसी भी लड़की के लिए माँ-बाप के पास जगह होती ही नहीं, और मेरे पति के पास भी मेरे लिए जगह नहीं है, क्योंकि उन के दिल और घर में एक और औरत बसी हुई है।"

"हैं! तारो, क्या तेरे आदमी का पहले ब्याह हो चुका था? तो फिर तेरे माँ-बाप ने तुझे वहाँ क्यों दे दिया?"

"उन्हें पहले ख़बर नहीं थी और न ही उस का पहले ब्याह हुआ था। उस ने तो बस एक औरत को घर में रखा हुआ है।"

"पर उस के माँ-बाप को तो ख़बर होगी?"

"जानते सभी थे। वह औरत उन की ज़ात की नहीं है नीच ज़ात की है। उस के माँ-बाप कहते थे कि बहू घर में अपनी ही ज़ात की आनी चाहिए।"

"पर उन्होंने यह न सोचा कि परायी बेटी का क्या हाल होगा?"

"दूसरे के दुख की कौन परवा करता है, बहन! फिर वे लोग कहते हैं कि रोटी देते हैं, कपड़ा देते हैं, खुला हाथ है; फिर किस बात का दुख है?"

"जैसे औरत को केवल रोटी और कपड़ा ही चाहिए?" पूरो ने कहा।

"मेरे हृदय में आग-सी धधक उठती है। तू नहीं देखती सब देखते हैं। पूरो, दो बरस हो गये हैं, रोटी और कपड़े के लिए मैं अपना शरीर बेचती हूँ... देख, मैं वेश्या हूँ...देख, मैं वेश्या हूँ..." कहते-कहते तारो गिर पड़ी, उस की मुट्ठियाँ भिंच गयीं, उस की आँखें ऊपर चढ़ गयीं, उस का शरीर लकड़ी के फट्टे

की भाँति अकड़ गया ।

पूरो डर गयी । तारो के घर में उस समय और कोई नहीं था । पूरो यह न जानती थी कि उसे क्या करना चाहिए । वह डर रही थी, घबरा रही थी । वह तारो की टाँगें दबाने लगी, उस के कन्धे दबाने लगी, उस के तलवे सहलाने लगी ।

तारो को होश आ गया ।

"तू मुझे हाथ मत लगा, मैं वेश्या हूँ, तू देखती नहीं...तू देखती नहीं..." तारो ऐसी ही बातें कर रही थी ।

पूरो सोच रही थी कि अभी इसे होश नहीं आया है कि इतने में तारो की माँ आ गयी ।

"हाय रे, मैं क्या करूँ, एक तो हमें हमारी क़िस्मत ने मार डाला, अब इस की बातें मार डालेंगी ।" तारो की माँ निढाल-सी होकर बैठ गयी । पूरो चुप रही ।

"इस ने और इस के भाई ने तो हमारी जान हलकान कर रखी है । लाहौर कालिज में पढ़ने क्या गया है, बहन को भी पढ़ा-पढ़ाकर बिगाड़ दिया है । देख, कैसी ऊलजलूल बातें करती है ।" तारो की माँ ने फिर दुःखपूर्वक कहा ।

"अम्मा, ज़ुल्म भी तो बेचारी पर बहुत ही हुआ है ।" पूरो ने कहा ।

"बेटा ! हम ने लड़की दे दी, हमारा मुँह बन्द हो गया । हम अब क्या बोल सकते हैं ! वह अच्छी तरह रखे या दुख दे, मर्द की ज़ात है ।" तारो की माँ ने कहा ।

"मेरे मुँह पर ताला डाल दिया गया, मेरे पैरों में बेड़ी डाल दी गयी, उस का क्या बिगड़ा ! भगवान् ने उसे बन्धन में न डाला । उसे बाँधने के लिए भगवान् जनमा ही नहीं । सारी रस्सियाँ भगवान् ने मेरे पैरों में ही डाल दीं ।" तारो की मुट्ठियाँ भिंच गयीं, उस की टाँगें फिर अकड़ गयीं । उस की माँ ने उस के मुँह पर पानी के छींटे मारे, चुल्लू भर-भरकर उस के मुँह में पानी डाला ।

पूरो ठक-सी हो गयी थी । आज उस ने पहली बार अनुभव किया था कि लड़कियाँ इस तरह भी सोच सकती हैं, लड़कियाँ इस तरह भी बोल सकती हैं । वैसे तो पूरो के मन में भी ग़ुबार उठा करते थे, पर उन्हें व्यक्त करना उसे न आता था ।

"यह धोखा है, निरा धोखा है । मेरा ब्याह नहीं हुआ, तुम सब झूठ बोलते हो । तुम ने मुझे क्यों पकड़ रखा है ? परे हटो... .." और बेसुध तारो अपने पैरों को धरती पर पटकने लगी ।

"तारो, होश में आ । कैसी बातें मुँह से निकालती है ! कोई सुनेगा तो क्या कहेगा ! वह तेरा पति है, ज़रा मुँह में लगाम दे, ऐसे न बोल ।" तारो की माँ

ऐसे कह रही थी मानो बेसुध पड़ी तारो को झिड़क रही हो, वैसे उस की आँखें भर आयी थीं।

तारो की चेतना कभी लौट आती थी, कभी वह फिर अचेत हो जाती थी।

"वहाँ जाकर ऐसा पागलपन मत बखेरना। अपनी जीभ को ठिकाने रख। वह समझे या न समझे, ईश्वर तो गवाह है कि वह तुझे ब्याह कर ले गया है।" तारो की माँ कह रही थी।

"माँ, ईश्वर ने अगर मेरे ब्याह की गवाही दी है तो झूठी गवाही दी है। माँ, मेरा ब्याह नहीं......" तारो पागलों की भाँति छत की लम्बी-लम्बी कड़ियों को ओर देखने लगी। पूरो तारो के चेहरे की ओर देख रही थी; तारो जो कि सब कुछ कहने के बाद भी विवाह के इस महान् असत्य से मुक्त न हो सकती थी, वरन् उस की आयु के दिवस बड़ी द्रुत गति से जीवन के सत्य-असत्य को पीछे छोड़ते आगे बढ़ते जा रहे थे।

गोधूलि की वेला थी। पूरो हृदय पर बोझ लिये हुए उठ खड़ी हुई। पूरो का मन मानो इस भरे-पूरे संसार से एकाएक उचाट हो गया।

पिछले कुछ दिनों से पूरो अपने घर की दीवारों से परच गयी थी। रशीद की छोटी-छोटी ठिठोलियों ने, घर के छोटे-बड़े कामकाज ने, और सब से अधिक जावेद की तोतली बोली ने मानो पूरो के उचाट मन को पतले-पतले धागों से लपेट लिया था। उस का मन कुछ टिक गया था। आज तारो की बावली बातों ने जैसे पूरो के मन पर लिपटे कई धागों को तोड़ दिया। उस का मन विकल हो गया। रात को रोटी-टुकड़ा करते समय उसे नमक-मसाले का अन्दाज़ भी भूल गया, दाल गुलभत्ता हो गयी, रोटियाँ कच्ची-पक्की रह गयीं।

आगे के दिनों में भी उस की उदासीनता में कुछ अन्तर न पड़ा। फिर न जाने उस ने क्या-क्या संकल्प धारण कर लिये। वह दिन में एक बार भोजन करने लगी। पहर रात रहते जाग उठती, ध्यान करती और घण्टों अपनी आँखें और कान बन्द किये रहती मानो उस ने संसार से अपना चित्त हट लिया हो।

पूरो को नींद कम हो गयी। उस का खाना कम हो गया। धीरे-धीरे उस ने अपने लिए सूखे छानस में नमक डालकर केवल एक रोटी पकानी आरम्भ कर दी। उस रोटी में न वह घी चुपड़ती, न ही उसे दूध या दही के साथ खाती। उसी एक रोटी के सहारे वह पूरा दिन काट लेती। कुछ ही दिनों में पूरो की आँखों के नीचे नीले-नीले हलके पड़ गये, उस का सारा शरीर कान्तिहीन हो गया।

इधर कुछ दिनों से रशीद भी बातचीत में पूरो का मन बहलाने में अधिक व्यस्त हो गया था। रोज़ों और नियम-व्रत आदि को लेकर वह हँसी-ठठोली करता, पूरो के मन को पलटने की चेष्टा करता, और प्यार भी पहले से अधिक करने लगा था। किन्तु रशीद के सारे जतन विफल रहे। पूरो के मन और मस्तिष्क

पर रशीद के प्रयत्नों का कोई प्रभाव न पड़ा । पूरो के आचार-व्यवहार में कोई अन्तर न आया ।

प्रतिदिन के इस बरताव के बाद मानो अब रशीद का हृदय बुझने लगा था। दिन-दिन उतरता हुआ पूरो का मुँह रशीद से देखा न जाता था। उस के घर में मानो वीरानी ने अपने पैर जमा लिये थे। रशीद के चेहरे पर भी एक वेदनापूर्ण मौन दीख पड़ने लगा था। दोनों प्राणी घर की, समाज की, शरीर की दीवारों में घिरे हुए थे, पर दोनों के बीच जैसे अब एक भीत खड़ी हो गयी थी।

पूरो के यहाँ एक भैंस थी। वह नियम से दूध जमाती, दही रिड़कती। रशीद के खेतों में काम करने वाले जब पशुओं के लिए चारा लेकर आते, तो पूरो उन को और उन के बच्चों को गिलास भर-भर कर लस्सी देती, ऊपर से मक्खन के पेड़े भी डाल देती थी। पूरो के मुँह में कुछ न पड़ता। रशीद का मन भी खाने-पीने से हट-सा गया था। घर के चूल्हे में आग जलती अवश्य थी, पर घर की बोलचाल पर और जीवन की हरियाली पर जैसे कोहरा जम गया था।

जावेद के भोले मुख पर भी जैसे अपने माता-पिता के उदास मुख की परछाईं पड़ गयी थी। जावेद के लिए भी कोई विशेष लाड़ न था, यद्यपि पूरो उस के सारे काम नियम से करती थी और रशीद उसे दिल से प्यार करता था।

एक रात सोते-सोते रशीद को ज्वर हो गया। उसका शरीर जलने लगा। सवेरे जब पूरो ने रसीद के माथे पर हाथ रखकर देखा तो रशीद को बहुत तेज़ बुख़ार चढ़ा हुआ था।

गाँव के हकीम की दवा-दारू हुई। रशीद को ज्वर आये तीन दिन हो गये थे; जब हकीम ने शंका प्रकट की कि रशीद को शायद मियादी बुख़ार हो गया है।

रशीद की बीमारी ने पूरो के नेम-धरम और वैराग्य को अपनी ओर खींच लिया। पूरो दवा-दारू देती, रशीद के शरीर को दबाती, चौके-चूल्हे को देखती थी। जावेद का मुँह उतरा हुआ दीख पड़ने लगा। दुपहरी चढ़ जाती, जावेद के मुँह पर फिटकार बरसने लगती, किन्तु पूरो को उस की सुधि लेने का अवकाश न मिलता था। और कई रातें बीत गयीं। कई दिन बीत गये पर रशीद का बुख़ार न हटा।

"पूरो ! मेरा गुनाह बख़्श दे। मेरा क़ुसूर माफ़ कर। पूरो...पूरो..." रशीद ने बुख़ार की तेज़ी में कहा। रात्रि का तीसरा पहर था। पूरो घबरा उठी। इतने दिनों की लगातार चिन्ता और रातों के जागरण ने उसे पहले ही थका डाला था। वह उठकर घबरायी हुई-सी रशीद की खाट के पास बैठ गयी। रशीद के माथे पर हाथ फेरती रही, रशीद के पैर दबाती रही, पर रशीद को अपना होश न था।

"अच्छा, पूरो, मैं चलता हूँ पूरो, मेरी रूह" और रशीद टूटे-फूटे शब्द बोलता रहा। पूरो का दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा।

"बस कर, रशीद, मेरे घावों पर नमक मत छिड़क।" पूरो ने आर्त स्वर में कहा। पर रशीद को बिलकुल होश न था, वह उसी प्रकार अस्पष्ट शब्द बोलता रहा। कोई-कोई बात पूरो की समझ में आ जाती, और कई बातें रशीद के कण्ठ से उठकर उस के होंठों पर ही शेष हो जातीं।

प्रलय-सी काली अन्धकारमय रात थी। पूरो घर में अकेली थी, पर उसे ऐसा लग रहा था मानो वह इस विशाल संसार में अकेली हो। रशीद के सिवा उस के घावों पर फाहा रखने वाला और कौन था!

पूरो ने रशीद के माथे पर घड़े के ठण्डे पानी में भिगो-भिगोकर पट्टियाँ रखीं। उस का माथा चूल्हे की ईंट की भाँति गरम था। वह पट्टियाँ भिगोती रही। कटोरे का पानी मिनटों में ही एक काढ़ा-सा बन गया। पूरो ने पानी बदला। उस की आँखों से आँसू ढुलक-ढुलककर रशीद के माथे पर गिरते रहे।

सवेरे पौ फटते तक, न जाने पानी की ठण्डक के कारण या आँसुओं के गीलेपन से, रशीद का ज्वर उतर गया। उस का शरीर धुल गया था। उस की बेहोशी आराम की नींद में बदल गयी।

जब रशीद की आँख खुली उसे अपना शरीर हलका-सा प्रतीत हुआ। आज उस के माथे में पीड़ा की चीसें नहीं थीं। रशीद ने आराम का एक लम्बा साँस लेकर करवट बदली। पूरो रशीद के सिरहाने की ओर ज़मीन पर बैठी-बैठी चारपाई का सहारा लिये सो गयी थी। उस के एक हाथ में अभी तक कपड़े की पट्टी थी और पाँव के पास पानी का कटोरा पड़ा हुआ था।

पूरो को देखकर रशीद का जी भर आया। उस ने उस के चेहरे की ओर देखा। उस का उतरा हुआ मुख नींद में डूबा हुआ था।

अपनी बीमारी और पूरो की टहल रशीद के मन में एक उथल-पुथल-सी मचा रही थी। पूरो के मुख से और कपड़े की पट्टियों से रशीद ने भली भाँति जान लिया कि बीती रात कितनी कठिन रही होगी। रशीद ने अपना कमज़ोर-सा दाहिना हाथ उठाकर पूरो के सिर पर धर दिया। पूरो के बिखरे हुए बालों में रशीद की उँगलियाँ घूमती रहीं। उस की उँगलियाँ पूरो के कानों को, उस के माथे को धीरे-धीरे छूती रहीं। पूरो का सारा शरीर निद्रा की गोद में मग्न था। रशीद की आँखों के कोनों से ढुलक-ढुलककर आँसू बिस्तर पर पड़ते रहे। रशीद एक विचित्र-से आनन्द का अनुभव करता हुआ जागता रहा।

रशीद ने पूरो के शरीर पर तो पूरा अधिकार कर ही लिया था, पर उस की यह वासना थी कि वह पूरो की आत्मा पर भी पूर्ण अधिकार प्राप्त कर ले। पूरो का उदास रहना उसे खाये जाता था। इस समय पूरो तोड़ी हुई सरसों की

डण्डी की भाँति रशीद की चारपाई से लगी सो रही थी।

रशीद में शक्ति नहीं थी, पर उस के हृदय में यह भाव आ रहा था कि वह पूरो को अपने कलेजे से लगा ले। पिछले कुछ दिनों की घोर उदासी के कारण रशीद का हृदय अत्यन्त पीड़ित था। इस समय रशीद को पूरो के मुख पर स्पष्ट दिखाई दे रहा था कि पूरो के तन-मन में रशीद के सिवा और कुछ नहीं था। रशीद ने अपनी बाँह और आगे बढ़ाकर पूरो के गले से लगा दी। शायद बाँह कुछ ज़ोर से लिपटी, पूरो जाग गयी। वह काँप उठी। पर रशीद ठीक था, उस का ज्वर उतर चुका था, वह बड़ी निढाल आँखों से पूरो को देख रहा था।

रशीद को खाट पर पड़े पूरे दस दिन हो गये थे। उस का ज्वर उतर गया था। वह बहुत ही दुर्बल हो गया था, पर उस का मन बहुत उल्लसित था। पूरो ने अपना सम्पूर्ण प्रेम रशीद की ओर मोड़ लिया था। रशीद के पास बैठ-बैठकर पूरो ने दिन-रात एक कर दिये थे। पूरो जावेद को बना-सँवारकर रशीद के पास बैठा देती थी। उस ने जावेद को कितने ही छोटे-छोटे शब्द बोलने सिखा दिये थे। जावेद रशीद के पास-पास घुटनों चलता, उस की नक़ल करता था, माँ के सिखाये हुए शब्दों को तोड़-तोड़कर बोलता था। रशीद का मन उत्फुल्ल था, शरीर फूल की भाँति हलका था। वह मन ही मन अपनी बीमारी को दुआएँ देता था। उस के आँगन में ख़ुशी दुगुनी-तिगुनी होकर लौट आयी थी।

पूरो का मन करने लगा कि वह सचमुच भूल जाये कि रशीद ने उस के साथ बुरा किया था। वह रशीद को बहुत प्यार करने लगे। रशीद उस का पति था, रशीद उस के पुत्र का पिता था। बस यही एक सत्य था और सब कुछ झूठ...

एक और पिंजर

अगले कुछ दिनों में रशीद ने एक-दो फेरे अपने गाँव छत्तोआनी के लगा लिये थे। उस के भाई के साथ जो साझे में उस की ज़मीन थी, उस का अनाज-दाना लेकर

रशीद ने बेच लिया था। पर पूरो जिस दिन से सक्कड़आले आयी थी, उस दिन से उस ने गाँव के बाहर पाँव नहीं धरा था। कभी रशीद कुछ कहता तो पूरो हँसकर कह देती, 'मैं न अपनी मरज़ी से इस गाँव में आयी थी, न अपनी मरज़ी से इस गाँव से जाउँगी।'

जावेद अब दौड़ता-फिरता था। रशीद वैसे ही शुरू से स्वभाव का नरम था, पूरो को वैसे ही वह बहुत प्यार करता था, पर जावेद पर उस का अपार स्नेह था। जावेद को चूमते, प्यार करते वह अघाता नहीं था। जावेद अब कुछ-कुछ तुतलाकर बोलने लगा था। अब्बा-अब्बा कहता रशीद की टाँगों से चिपट जाता था।

पूरो चूल्हे को चिकनी मिट्टी से पोतती तो जावेद दौड़ा-दौड़ा आकर गीली मिट्टी को थपकने लगता, पूरो के बने हुए चूल्हे को बिगाड़ जाता। पूरो लस्सी में नमक मिलाकर पीने लगती तो जावेद हल्दी और मिरचें उस के लस्सी के कटोरे में डाल देता। जावेद किवाड़ों के पीछे छिप जाता, रशीद उसे ढूँढ़ता रहता। जावेद की इन छोटी-छोटी क्रीड़ाओं से, उस की हँसी से रशीद मकई के दाने की भाँति खिलता रहता।

एक दिन एक स्त्री 'घुग्गू-घोड़े' लेकर गलियों में बेचती फिर रही थी। जावेद ने मिट्टी के छोटे-छोटे खिलौनों को और सरकण्डे के झुनझुनों को देख लिया। लगा पूरो का पल्ला खींचने। पूरो ने मुट्ठी भर अनाज और पुराने कपड़े देकर घुग्गू-घोड़े ले लिये। वह अभी गली में ही बैठी थी कि दूर से दौड़ती हुई एक पागल औरत गुज़री।

स्त्रियों ने दौड़कर अपने बच्चे छिपा लिये, दरवाज़े बन्द कर लिये, छोटे अनजान बालक चीख़ने-चिल्लाने लगे। पगली के शरीर पर पिण्डलियों जितनी ऊँची एक सलवार थी, गले में कोई कपड़ा न था। उसका रंग शायद धूप से झुलस गया था, या फिर था ही काला। उस के सिर पर बालों की उलझी हुई धूल-सनी लटें थीं। जान पड़ता था मानो जब से वह जनमी थी, कभी नहायी नहीं थी। अपनी टाँगों को वह अजीब तरह मरोड़ती थी, बाँहों को वह अजीब तरह फैलाती थी, चलते हुए भी दौड़ती हुई लगती थी। उस के मुख की ओर देखते ही उस की डरावनी हँसी में बिखरे हुए दाँतों की ओर दृष्टि जाती थी। उस के सूखे हुए, जले हुए शरीर से उस की आयु का कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता था। बस एक पिंजर था जो दौड़ता-फिरता था।

पूरो देखती खड़ी रही। पगली दौड़ती हुई आयी और खिलौने बेचनेवाली कुँजड़िन के छाज में से अपनी दोनों मुट्ठियाँ 'घुग्गू-घोड़ों' से भरकर भाग गयी। उस की डरावनी चीख़ती हुई-सी हँसी की आवाज़ देर तक गली में गूँजती रही।

पगली सारा-सारा दिन घूमती रहती, खेतों में फिरती रहती, क्यारियों में से भी कुछ तोड़कर खा लेती। कभी-कभी स्त्रियाँ एक-दो रोटियाँ बैठी हुई पगली के आगे डाल देतीं, वह उन्हें चबा जाती। कभी-कभी स्त्रियाँ कोई फटा-पुराना कुरता उसे पहना देतीं, पगली खिलखिलाकर हँसती। कुरता पहने रहती फिर उस के बटन तोड़ डालती, फिर किसी दिन कुरते को दाँतों से फाड़ देती। फटी धज्जियाँ उस के गले में लटकी रहतीं। फिर पगली उन धज्जियों को भी खींच-खींचकर अपने शरीर से दूर कर देती। कभी-कभी अपने शरीर पर से सब कुछ उतार फेंकती। स्त्रियाँ फिर कोई फटी-पुरानी सलवार, कोई फटा-पुराना कुरता उसे पहना देतीं।

पगली अब गाँव सक्कड़आली में जैसे रच-बस गयी थी। उसे प्रति दिन देखने की सब को आदत-सी पड़ गयी थी। कभी-कभी गाँव के छोटे-छोटे लड़के उस के पीछे लग जाते, तालियाँ बजाते, पगली को दौड़ाते और खुद उस के पीछे-पीछे दौड़ते। फिर रास्ता चलता कोई सयाना आदमी उन्हें झिड़क देता। लड़के उस का पीछा छोड़ देते।

नन्हे बालकों ने हठ करना छोड़ दिया। माताएँ उन्हें पगली का डरावा देती थीं, 'पगली पकड़कर ले जायेगी।' रोते हुए बच्चे सहमकर चुप हो जाते थे।

पगली किसी पुआल के नीचे पड़ रहती। कभी कोई पानी का प्याला उस के पास धर जाता, कभी कोई रोटी के टुकड़े उस के सिराहने रख देता। किसी दयालु ने एक फटी हुई रजाई एक पुआल के नीचे धर दी थी। पगली रात को नियम से वहाँ जाकर पड़ रहती थी।

पगली बस दौड़ती थी और हँसती थी। किसी के बच्चे को कभी कुछ भला-बुरा नहीं कहती थी, किसी की चीज़-वस्तु को कभी हाथ नहीं लगाती थी। ज़मीन पर गिरे हुए रोटी के टुकड़ों को उठा लेती, ज़मीन पर पड़ी हुई वहीं किसी खाने की चीज़ को चाट लेती थी।

कुछ ही दिनों में सब ने देखा, और पूरो ने आश्चर्यचकित होकर देखा कि पगली का नंगा पेट उभरता आ रहा है। सारे गाँव की स्त्रियाँ जैसे लाज के मारे गड़ रही हों। पगली न कुछ बोलती न कुछ बताती थी।

पगली का शरीर दिन-दिन भरता जा रहा था।

गाँव की स्त्रियों का जी करता था कि वह पगली के शरीर को ढककर रखें। वह उसे किसी तहख़ाने में डाल दें। पगली की समझ में कुछ न आता था। वह पहले की ही भाँति हँसती रहती थी, वह वैसे ही दौड़ती रहती थी।

एक दिन कुछ आदमियों ने मिलकर पगली को गाँव के बाहर ले जाकर छोड़ दिया। अँधेरा गहरा हो गया था। उस रात किसी ने पगली को नहीं देखा। सब सोचने लगे कि पगली अब इस गाँव से गयी। आँख से दूर, दिल से दूर, अब वह

किसी दूसरे गाँव चली जायेगी।

दूसरा दिन अभी आधा भी न बीता था कि पगली ठीक पहले की भाँति गाँव की गलियों में दौड़ रही थी। वह ठीक पहले की ही भाँति खेतों में हँस रही थी।

"वह कैसा पुरुष था! वह अवश्य ही कोई पशु होगा जिस ने इस जैसी पागल स्त्री की यह दुर्दशा बना दी!" सब स्त्रियाँ त्राहि-त्राहि करती थीं। उन का जी पगली के ध्यान से मिचला उठता था।

'जिस के पास न सुन्दरता थी, न जवानी थी, मांस का एक शरीर, जिसे अपनी सुध न थी, जो केवल हड्डियों का एक जीवित पिंजर...। एक पागल पिंजर था...चीलों ने उसे भी नोच-नोचकर खा लिया...' सोच-सोचकर पूरो थक जाती थी।

पगली का पेट दिन-दिन बढ़ता जा रहा था।

पिंजर में पिंजर

वही रात के पिछले पहर का अँधेरा था, जिस में पूरो नियमपूर्वक खेतों में जाया करती थी। पूरो अभी बाहर वाली पगडण्डी पर आयी ही थी कि एक पेड़ के तने के पास उसे एक मनुष्य की आकृति-सी गिरी दीख पड़ी। पूरो काँप उठी पर वह ऐसे कच्चे जिगरे की औरत नहीं थी। धीरे से वह गिरे हुए शरीर की ओर बढ़ी। पूरो के लिए उसे पहचानना कठिन नहीं था। पगली एक पत्थर की मूर्ति की भाँति निश्चल उस पेड़ के नीचे पड़ी हुई थी। उस के पैरों के पास एक नव-जात बच्चे का शरीर था जिस की नाल अभी उसी की आँचल के साथ जुड़ी हुई थी।

पूरो एक लम्बा साँस खींचकर रह गयी। उस की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। फिर जैसे उसे कुछ सुध न रही।

पूरो की रीढ़ की हड्डी में एकाएक कम्पन दौड़ गया। वह उलटे पाँव दौड़कर रशीद को बुना लायी।

पूरो ने एक फटी हुई चद्दर का टुकड़ा पगली के शरीर पर डाल दिया। फिर रशीद ने पगली की नाड़ी टोही। नाड़ी भी टोहने की आवश्यकता नहीं थी, पगली के मुख पर मौत की मुहर स्पष्ट लगी दिख पड़ती थी। बालों की एक लट उस के माथे पर जम गयी थी।

प्रकृति अपनी पूरी धड़कन के साथ पगली के बालक में धड़क रही थी। बालक के मुंह में उस का अपना दाहिना अँगूठा पड़ा हुआ था।

"या अल्लाह !" रशीद के मुख से निकला और चाकू से उस ने बालक की नाल को काट दिया।

पूरो ने बालक को अपने सिरवाले पल्ले में लपेट लिया, और फिर दोनों जीव घर को लौट गये।

प्रातःकाल की धुन्ध की भाँति यह ख़बर सारे गाँव में फैल गयी। जो स्त्रियाँ आटा गूँध रही थीं, उन के हाथों से परात छिटक गयी। जो रोटी बनाने जा रही थीं, वे उबलते तन्दूर छोड़-छोड़कर पूरो के घर आतीं और बालक को देख-देख जाती थीं।

रुई के गाले जैसे चिट्टे और निर्मल बालक को पूरो ने नहलाकर एक खटोली में लिटा रखा था। कुनकुने दूध में एक कपड़े का छोटा-सा टुकड़ा भिगो-भिगोकर पूरो ने उस के होंठों से लगाया। बालक पूरी चेतनता से दूध की बंदें चूसने लगा। जावेद अपने घर आये छोटे-से पाहुने को झुक-झुककर देखता था।

"रब तेरा भला करे ?" "तेरे बच्चे जिएँ !" बड़ा पुण्य किया है।"—गाँव की स्त्रियाँ आ-आकर कहतीं, अनाथ बालक पर दया करने के लिए शाबाशी देतीं और लौट जातीं।

दो-चार आदमियों ने मिलकर पगली के शव को ठिकाने लगा दिया।

अँधेरा हो चला था। पूरो बच्चे के काम-काज में लगी हुई थी। रशीद ने लालटेन की बत्ती साफ़ करके उसे जलाया। बालक ने अपनी मोटी-मोटी चेतन आँखों से लालटेन की ओर देखा। अभी उस की कच्ची दृष्टि टिकती नहीं थी। फिर उस का ध्यान किसी दूसरी ओर हो गया।

पूरो विचारों में डूब गयी।

सोचने लगी, कैसा था वह मर्द जिस ने पगली के काले-कलूटे कंकाल को हाथ लगाया। क्या ऐसा पगली की मरज़ी से हुआ, या उस के साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती की गयी ! उस मर्द को कभी भूले से भी ध्यान न आया कि उस ने पगली पर कितना भारी अत्याचार किया है। उस मर्द को कभी अपने बालक का भी ध्यान न आया जिसे उस ने पगली के पास धरोहर के रूप में रखा था !

शायद पगली यह जानती ही न होगी कि उस के घर एक बालक का जन्म होगा। प्रसव की पीड़ा उस ने कैसे सही होगी ! उस पर किसी दाई को दया न आयी। रात के अँधेरे में वह चीख़ती रही होगी ! खुली हवा के झोंके उस के शरीर में शूल मारते रहे होंगे ! ठण्डी भूमि पर पड़ी वह बिलखती रही होगी ! परन्तु प्रकृति के कठोर नियम में बँधा उस का बालक दर्द पूरा होने पर अपने आप दुनिया में आया होगा, भूमि पर गिर पड़ा होगा, और पीड़ा से निचुड़ी हुई पगली की जीवन-डोर टूट गयी होगी !

फिर पूरो सोचने लगी—पगली को जीकर भी क्या लेना था ! वह अपने बालक की क्या देख-रेख कर सकती थी ! अच्छा हुआ उस की जान छूट गयी। उस का बालक कितना सुन्दर है। टेढ़ी-मेढ़ी हड्डियों के झुलसे हुए पिंजर में कैसे इतना सुन्दर बालक पल गया ! कैसी मोटी-मोटी आँखें हैं इस की ! सारे नक़्शे सुन्दर हैं। पूरे मर्द का एक छोटा-सा रूप ! न जाने इस का पिता अभागा कौन है !

सोचते-सोचते पूरो ऊँघ गयी। पूरो ने देखा, एक दौड़ती घोड़ी पर डाल कर रशीद उसे भगाये ले जा रहा है। किसी बाग़ की एक छोटी-सी कोठरी में पूरे तीन दिन रखकर रशीद ने पूरो को घर से निकाल दिया है। पूरो पागल हो गयी है। वह गलियों में घूमने लगी है। उस के पेट में बच्चा सरसराने लगा है, और फिर...फिर एक दिन एक पेड़ की छाया में उस ने एक बालक को जन्म दिया है, जिस की शक़्ल-सूरत बिलकुल जावेद की-सी है। उस का बालक उस की छाती से लग कर दूध के लिए रो रहा है, पर पूरो के दूध उतर नहीं रहा है...

काँपकर पूरो जाग उठी। सामने खटोली में उस का नया बालक टिटिया-कर रो रहा था। उस ने उसे उठाकर छाती से लगा लिया, फिर डरकर अपने जावेद के मुख की ओर देखा, वह अभी कुछ ही देर हुई पास वाली चारपाई पर सो गया था। फिर उस ने डरते-डरते बाहर चूल्हे के पास बैठे हुए रशीद की ओर देखा। रशीद अभी तक उसे छोड़कर नहीं गया था और न ही उस ने पूरो को अपने घर से निकाला था। वह अपने घर सही-सलामत थी। रशीद उस का दयालु पति था, जावेद उस का घुँघराले बालों वाला सुन्दर पुत्र था। उस की गली वाली कम्मो भी चोरी-छिपे उस से घुट-घुटकर बातें किया करती थी, पूरो के प्यार में हिस्सा बँटाती थी। और पूरो का परिवार और बढ़ गया था। उस के घर में भगवान् ने अपने आप एक पुत्र और भेज दिया था। उस ने झुक-कर नये बालक का माथा चूम लिया।

फिर उस ने उठकर हथेली भरकर सफ़ेद जीरा खाया। जावेद ने पूरे दो बरस पूरो का दूध पिया था, और उस का दूध छुड़ाये उसे अभी बहुत दिन नहीं

हुए थे। उस ने यह सुना हुआ था कि सफ़ेद जीरा खाने से औरत के दूध उतर आता है। पूरो ने छोटे बच्चे को अपने स्तन से लगा लिया।

तीन दिन के बाद सचमुच पूरो के दूध उतर आया। गाँव की स्त्रियाँ देख-देख कर अचरज करती थीं। लड़का पूरो का छोटा पुत्र बनकर पलने लगा।

दावेदार

जुड़े हुए उपलों में जैसे धीरे-धीरे आग सिकती है, उसी प्रकार गाँव में खुसुर-फुसुर चल रही थी : 'पगली हिन्दू थी, उस के बच्चे को मुसलमानों ने ले लिया है, सारे गाँव में देखते-देखते उन्होंने हिन्दू बच्चे को मुसलमान बना लिया है...'

जैसे बिल्ली अपने बच्चे को दुनिया की निगाहों से छिपाकर रखती है वैसे ही पूरो भी छोटे लड़के को कलेजे से लगाये मकान की भीतरी कोठरी में बैठी रहती थी। फिर भी बातें दीवारों को भेदकर उस के कानों में पड़ जाती थीं।

पहले तो एक-दो हिन्दू घरों में बैठकें होती रहीं।

"यह बात पक्की है कि पगली हिन्दू थी ?" कोई कहता।

"हम ने अपने कानों से सुना है, वह लालमूसे के एक अच्छे घराने की लड़की थी, अच्छी-भली थी। जब उस की सौतन ने उसे मुरदे की राख खिला दी, बस तभी से वह पागल हो गयी।" कोई कहता।

"सुना है, उस के घरवालों ने उसे दरवाज़ों में बन्द करके रखा, पर उस के भाग्य में तो ख़्वारी लिखी थी।" कोई कहता।

"अजी, यह तो कोरी बातें हैं। मैं ने ख़ुद उस की बाँह पर 'ओम्' खुदा हुआ देखा है।" कोई धरती पर हाथ मारकर कहता।

"अन्धेर है, यारो, हमारे देखते-देखते मुसलमान हमारी आँख में धूल झोंक

गये ।"

"धिक्कार है हम पर, हिन्दू बालक को उन्हों ने मिनटों में मुसलमान बना लिया..."

"छोड़ो भी, यारो, न जाने वह लड़का किस की बला है, किस की नहीं, हम उस पिल्ले को कहाँ बाँधते फिरेंगे।" कोई जना बीच में यह भी कह देता।

"नालायक़ ! सवाल इस समय धरम का है। इस तरह तो कल वह सारा गाँव मुसलमान बना लेंगे और तू उन का मुँह देखता रह जायेगा।" एक-दो व्यक्ति एक साथ ऊँचे स्वर में बोल उठते।

कमरे की हवा ऐसी हो जाती मानो बन्द दरवाज़ों में वह घुट गयी हो।

"लड़के को हम वापस लायेंगे; देखते हैं, कौन हमारा हाथ पकड़ता है।"

"असल में यही चार पैसों की बात है ? महरी को चन्दा इकट्ठा करके दे देंगे, वह लड़के को अपने आप पाल लेगी।" कोई जोश के साथ अपनी जगह से ज़रा आगे सरककर कहता।

"ऐसे गये-बीते तो नहीं, सारा गाँव मिलकर क्या एक लड़के को न पाल सकेगा ?"

"कौन कह सकता है कि लड़का भी पगली की तरह गूँगा-बहरा निकलता है या..." बीच में फिर कोई कह उठता।

"फिर क्या हुआ, बड़ा होकर धर्मशाला में झाड़ू लगा दिया करेगा। दो रोटियाँ ही खायेगा न !"

फिर वह एक-दूसरे के साहस पर साधुवाद करते प्रसन्न होते।

"पहले महरी से तो पूछ लो।" कोई कहता।

"लो, देखो। क्या वह न रखेंगी ? पहले चाँदी की जूती उस के सिर पर रखेंगे, फिर उस से बात करेंगे।"

"अरे भई, लड़के का क्या है। धर्मशाला में तो ढोर-डंगर का ही इतना काम है, मुफ़्त में काम करने वाला मिल जायेगा।"

"अजी, अभी इस की बिसात ही क्या है, लड़का पल तो जाये। पहले उस का..."

"अरे, तुम लोग मरे क्यों जाते हो ! धरम के नाम पर इतना भी नहीं कर सकते तो अन्धे कुएँ में कूद मरो।"

"तुम्हारे खेत का पानी कोई अपने खेत में लगा ले तो तुम उस का सिर फाड़ देते हो, आज तुम्हारा हिन्दुओं का लड़का वह उठाकर ले गये हैं तो तुम्हारे मुँह पर ताला पड़ गया है !"

कमरे की हवा ऐसी हो जाती, मानो उस में पत्थर के कोयले का धुआँ मिल गया हो।

अब जब रशीद अपने खेतों को जाता तो पास से गुज़रते हुए हिन्दू उस की ओर कड़वी आँखों से देखते। रशीद अपने ध्यान में मग्न चला जाता।

एक-दो बार उस ने बातों-बातों में पूरो से कहा कि भई, गाँव की हवा अच्छी नहीं है, हमें इस झगड़े में पड़कर क्या लेना है! बात लम्बी हो जायेगी। वे लड़का ले जायें अगर उन की यही मरज़ी है। जो लड़के के भाग्य में होगा, हो जायेगा।

पूरो कहती तो कुछ न थी, पर उस का मन व्याकुल हो उठता था। हड्डियों के एक छोटे-से पिंजर को दिन-रात कलेजे से लगाकर उस ने छह महीने का किया था। अब वह भी जावेद की भाँति गोलमटोल निकलता आता था। उस की आँखें अब पूरो को पहचानने लगी थीं, जिधर-जिधर पूरो जाती उधर-उधर उस की आँखें घूमती थीं। वह रशीद को देखकर बाँहें फैलाने लगा था...

फिर पूरो सोचती, पहले दिन ही हिन्दुओं को उस की सुधि क्यों न आयी ? वह उसे ले जाते, पाल लेते, उसे माँ की-सी गोद देते, उसे पिता का-सा स्नेह देते। पूरे छह महीने पूरो ने रातें जागकर काटी थीं, जीरा फाँक-फाँककर अपनी नसों में से दूध उत्पन्न किया था, उस का मल धो-धोकर अपने नाख़ून घिसा लिये थे।

फिर पूरो को ध्यान आता था कि उस ने लड़के को शहद चटाया था और अपने पड़ोस के मुसलमानों के घरों में पंजीरी बाँटी थी कि लड़के को बड़ा होकर यह विचार न आये कि उस के जन्म पर किसी ने उस का कुछ न किया।

एक दिन गाँव के प्रमुख हिन्दुओं ने रशीद को बुला भेजा। पूरो के होंठों पर पपड़ी जम गयी। पूरो सोच में पड़ गयी। बच्चे को पालने का बीड़ा तो उस ने उठाया था पर वे लोग रशीद को बुरा-भला कहेंगे, रशीद का अपमान करेंगे...

पूरो कह रही थी कि वह भी रशीद के साथ जायेगी। वही उन के सवालों की जवाबदार थी। वह स्वयं जाकर उन से लड़के की भीख माँग लेगी...पर रशीद न माना, वह अकेले ही वहाँ चला गया जहाँ उन लोगों ने उसे बुलाया था।

गाँव के एक सम्मानित हिन्दू के मकान के आँगन में तीन चारपाइयाँ पड़ी थीं, जिन पर गाँव के कुछ प्रमुख हिन्दू बैठे हुए थे। उन का विचार था कि रशीद दो-चार साथियों को लेकर आयेगा या शायद न भी आवे, तब वे उस से दूसरे ही ढंग से निबटेंगे। पर रशीद बिलकुल अकेला ही चला आया। सलाम-दुआ करके उन के सामने बैठ गया।

"क्यों भई, क्या सलाह है तेरी ? लड़का वापस देगा या नहीं ?" हुक़्क़े की

नली मुँह से निकाल कर उन में से एक ने अपनी भारी-भरकम आवाज़ में कहा।

"मेरी क्या मजाल है। अल्लाह की देन है, मैं कौन हूँ देने वाला, लेने वाला !" रशीद ने एक हाथ से अपने माथे को छूकर आकाश की ओर देखा।

"यह तो टालबाज़ी की बातें है ! इन्हें छोड़, सीधी तरह बात कर !" एक व्यक्ति ने क्रोधावेश में आकर कहा।

"मैं ने तो अल्लाह के रहम पर उसे उठा लिया था। दो घड़ी, दो घड़ी और वहाँ न पहुँचता तो क्या पता कोई कुत्ता-बिल्ली ही उसे मुँह में धर लेता। अल्लाह के यहाँ से उस की ज़िन्दगी थी..."

"ठीक है, अगर भगवान् के यहाँ से उसका धागा लम्बा है, तो उसे कोई तोड़ नहीं सकता। पर एक बात तुझे मालूम होना चाहिए कि उस की माँ एक हिन्दू औरत थी, और तेरा एक हिन्दू बच्चे को उठाकर ले जाना हम सह नहीं सकते।"

"नहीं, मुझे नहीं मालूम कि वह हिन्दू थी कि कौन। वह हिन्दू घरों से भी खाना लेकर खाती थी, मुसलमान घरों से भी..." रशीद कह रहा था।

"पर वह तो बावली थी, तू तो बावला नहीं।" बीच में बात काटकर कोई बोल उठा।

"ठीक है, पर आप पहले दिन ही उस लड़के को ले लेते, पाल लेते, मैं ने कब इनकार किया था ! मुट्ठी भर वह पिंजर था। मेरी घर वाली ने जी-जान एक करके छह महीने काटे हैं। अब जब लड़का बच गया है तब आप को भी उस की याद आती है। अल्लाह का ख़ौफ़ खाइये। रब के नाम पर ही आप उसे पालेंगे, रब के नाम पर ही मैं उसे पाल रहा हूँ, नहीं तो मुझे इस से और क्या हासिल है..." रशीद ने कुछ इस तरह कहा कि दो-तीन व्यक्तियों के मुख पर यही भाव झलकने लगा कि भई, छोड़ो, जाने दो क़िस्से को। पालता है तो पाले, मुफ़्त की बला गले में क्यों डाल रखें।

"देख, हम बात को बढ़ाना नहीं चाहते। वह न हमारा कोई लगता है, न तेरा कोई लगता है। यह तो धर्म का सवाल है, सो तुझे धरम की राह में नहीं आना चाहिए। नाहक़ तू अपनी जान को संकट में डाल लेगा। किसी ने तेरे साथ कुछ बुरा-भला कर दिया तो हम ज़िम्मेदार नहीं होंगे। सो अपने आप सीधे रास्ते पर आ जा और लड़का वापस कर दे। और जो इतने दिन खिलाने-पिलाने के दो-चार रुपये लेना चाहता हो, वह भी ले ले।" एक ने कहा।

"बेशक ! बेशक !" सब बोल उठे।

"अल्लाह...अल्लाह..." रशीद ने दोनों हाथ अपने कानों पर रख लिये।

"महरी खड़ी हुई है, हमारे साथ दो-तीन आदमी और चलते हैं और तेरे घर

से लड़के को ले आते हैं। उसे शुद्ध हम अपने आप कर लेंगे।"

"मैं एक बार आप सब से विनती करता हूँ कि उस लड़के पर रहम करें और वह जहाँ है उसे वहीं रहने दें। मेरी घरवाली उसे अपने पेट के जाये की तरह पाल रही है।" रशीद ने दोनों हाथ जोड़कर कहा।

"हम ने तुझे सीधा रास्ता बता दिया है। जो तू ख़ैर चाहता है तो भला आदमी बनकर उठ चल। नहीं तो हम भी जानते हैं कि सीधी उँगली घी नहीं निकला करता।"—दो-तीन आदमी चारपाइयों से उठकर खड़े हो गये।

मकान के भीतर से महरी चादर ओढ़े हुए आ गयी। रशीद को खड़ा होना पड़ा। फिर सब रशीद के घर की ओर चल पड़े।

पूरो अपने मकान के दरवाज़े पर खड़ी गली की आहट ले रही थी। जैसे ही उस ने रशीद को सिर नीचा किये तीन-चार आदमियों के साथ आते हुए देखा, उस का कलेजा धक से हो गया।

पूरो की आँखों के आगे वह दिन फिर गया जिस दिन उस की माँ उस से अलग हो गयी थी, जिस दिन उस का पिता उस से बिछुड़ गया था, जिस दिन उस के भाई-बहन उस से छुट गये थे। यह लड़का उस का आत्मीय बन चुका था, इस से बिछुड़ने में भी उतनी ही पीड़ा थी।

पूरो ने दौड़कर उस लड़के को अपनी छाती से चिपटा लिया। रशीद अपने मकान के आँगन में आकर ऐसे खड़ा हो गया मानो उसे अपनी कोई सुध-बुध न हो।

न रशीद को कुछ कहने की आवश्यकता थी, न पूरो को कुछ पूछने की।

महरी भी एक पल को ठिठक गयी। पूरो की छाती से बालक को हटा लेना उसे बहुत कठिन लगा।

"जल्दी कर, देर हो रही है, फिर हमें भी तो काम पर लगना है।" रशीद के साथ आये हुए आदमियों ने तीखे होकर कहा।

महरी ने दोनों हाथ बढ़ाकर पूरो के हाथों में से बालक को ले लिया। लड़के की मुट्ठी में पूरो का पल्ला आ गया। पूरो को लगा मानो वह लड़का अपनी मुट्ठी में भरकर उस का दिल भी लिये जा रहा हो। पूरो का पल्ला साथ खिंचता गया।

महरी ने लड़के की मुट्ठी खोलकर पल्ला छुड़ा दिया। लड़का चिल्लाकर रोने लगा, शायद अनजाने हाथों के स्पर्श के कारण।

पूरो टूटी हुई टहनी की भाँति दीवार का सहारा लेकर बैठ गयी। गली के मोड़ से बच्चे के रोने की आवाज़ आ रही थी।

अँधेरा पड़ने तक पूरो के स्तनों से दूध की धारें निकलने से उस की क़मीज़ गीली हो गयी थी। पूरो कहती थी, लड़का ज़रूर भूख से बिलख रहा होगा, तभी

तो उस की छातियों से दूध की धारें बह रही थीं।

रात को पूरो के यहाँ न किसी ने कुछ पकाया न किसी ने कुछ खाया।

जब जावेद सहज स्वभाव से पूछता, "अब्बा ! हमारे काके को कहाँ ले गये हैं ?" या "अब्बा ! हमारा काका कब आयेगा ?" तब पूरो और रशीद निरुत्तर-से जावेद की ओर देखकर रह जाते, लज्जित-से सिर झुकाकर चुप हो जाते।

पूरो की आँखों के आगे कम्मो का मुख फिर जाता, उस की आँखों के आगे रह-रहकर लड़के का मुख आता। पूरो सोचने लगी, वह टूटे हुए फूलों को क्यों अपने गले से लगाकर रखती है ? टूटी हुई कलियों पर पानी छिड़क-छिड़ककर उन्हें क्यों हरा करती है ? सभी पराये थे। उस का अपना कोई न बन सकता था। रशीद का मुख उसे अच्छा लगने लगा, एक रशीद ने ही उस का साथ निबाहा था। यद्यपि सब से सम्बन्ध छुड़वानेवाला भी वही था, फिर भी वह उस का अपना था, उस के जावेद का पिता था।

तीन दिन बीत गये। चौथे दिन सारे गाँव में एक ही चर्चा चल रही थी, "लड़का नहीं बचेगा, लड़का तो मरने को पड़ा है, लड़के का बुरा हाल है, बस दो घड़ी का मेहमान है, जो दूध की घूँट उस के अन्दर जाती है, वैसी की वैसी ही बाहर निकल जाती है।"

पूरो दीवारों से लग-लगकर रोती थी। उस के स्तन दूध इकट्ठा हो जाने के कारण अकड़ने लगे थे और उधर वह बच्चा था कि दूध न मिलने के कारण उस का मुँह सूख गया था। लड़के के मुँह और स्तन के दूध के बीच बड़ी दूरी पड़ गयी थी।

"लड़के का दूध छुड़ा दिया है, लड़के की आह पड़ जायेगी।"

"अगर लड़का मर गया तो गाँव भर पर 'साड़सती' आ जायेगी।"

"मैं तो अपने आदमी से कहती हूँ कि भले आदमी बनो और जहाँ से लड़का लाये हो वहीं छोड़ आओ।"

"हम तो आप बाल-बच्चेदार हैं, किसी की आह अच्छी नहीं होती !"

"मेरा मरद ही आप मनमानी करता है, मैं तो पहले ही मना कर रही थी कि परायी आग में कूदकर तुम क्या लोगे !"

"कहते हैं, कल रात महरी ने लड़के को ठण्डा दूध पिला दिया। बस तब से ही लड़का कुछ का कुछ हो गया।"

"भला भैंस का दूध इतने छोटे बालक को पच सकता है ! लड़के को उल-टियाँ आने लगीं।"

"नहीं, जी, नहीं, लड़का हुड़क उठा है। जब से हुआ, उसी का मुँह देखता रहा, अब और किसी से परचे तो कैसे परचे !"

"बेचारा बेज़बान है !"

गाँव की हिन्दू स्त्रियों के मुँह पर यही बातें थीं। पूरो आहट लेती थी, चौंक-चौंक पड़ती थी। उस का जी करता था कि वह दौड़ी-दौड़ी धर्मशाला चली जाये, उन लोगों से विनती करे कि इस तरह किसी जीव को न मारो। लड़के को मेरी झोली में डाल दो, वह ठीक हो जायेगा।

पर पूरो को साहस न होता था, उस के पैर न उठते थे। पूरो को आशा नहीं थी कि मज़हब के पत्थर जैसे कान उस की विनती सुन लेंगे।

उस के अगले दिन भी कोई बात न हुई।

फिर अचानक ही रशीद के मकान के आँगन में दो-तीन आदमी आकर खड़े हो गये।

"यह लो, इस की जान तुम्हारे हवाले करते हैं, बच सके तो बचा लो।" और उन्होंने एक सफ़ेद कपड़े में लिपटे हुए पीले, प्रायः निर्जीव बालक को रशीद के हाथों में थमा दिया।

एक बार तो रशीद के मन में आया कि वह कसकर एक थप्पड़ उन के मुँह पर मारे, 'मेरी छह महीने की सेवा के लिए तुम मुझे चार ठीकरे देते थे, अब उस के पैर क़ब्र में लटकाकर मेरे हवाले करने आये हो! जाओ, जहाँ मरज़ी आये ले जाओ।"

पूरो का उल्लसित मुख देखकर रशीद सब कुछ पी गया।

एक सप्ताह के भीतर ही सारे गाँव ने देखा कि लड़का पूरो के आँगन में अच्छा-भला खेल रहा था।

रत्तोवाल

रहीमे की बुढ़िया माँ की आँखें दिन-दिन ख़राब होती जा रही थीं। रहीमे की एक पत्नी सात महीने की अबोध बालिका को छोड़कर मर गयी थी, दूसरी पत्नी की अपनी सास से कम बनती थी। रहीमे की माँ अपनी आँखों को और भी रोती थी।

अभी तक वह चौके के दस काम करके चलती थी, रुई कात-कातकर उस ने दरियों से ट्रंक भर लिये थे, महीन सूत कात-कातकर उस ने दुतहियों और चौतहियों से घर भर दिया था। अभी तक वह अपने बुड्ढे हाथों से अनाज फटक लेती थी, आटा पीस लेती थी, कपास बेल लेती थी, सुबह के समय मथानी लेकर दही बिलोने बैठ जाती थी। फिर भी उस की बहू बुराइयाँ निकालती रहती थी। बुढ़िया सोचती थी कि जो वह आँखों से मोहताज हो गयी तो उसे कोई मिट्टी के ठीकरे में भी पानी न देगा।

रहीमे की माँ को यही चिन्ता दिन-रात सताती थी। एक दिन उस ने पूरो से बिनती करते हुए कहा कि जो वह कोई पन्द्रह दिन के लिए उस के साथ चली चले तो वह अपनी आँखों का इलाज कराकर देख ले, कौन जाने उस की सुनवाई हो जाये।

"अम्मा ! वह सयाना कहाँ रहता है ?" पूरो ने पूछा।

"सयाना नहीं है, बेटा ! एक बावली है, उसे पीरों का वरदान है। कहते हैं कि उस के पानी से रोज़ सवेरे नमाज़ पढ़कर आँखें धोने से कुछ ही दिनों में आँखें भली-चंगी हो जाती हैं। सुना है कि कइयों की बन्द आँखें भी वहाँ जाकर खुल गयीं। बावली की मिट्टी भी आँखों को लगाते हैं।"

"अम्मा ! वह बावली है कहाँ ?"

"रत्तोवाल गाँव में है। एक साईं वहाँ रहता है, आये-गये मरीज़ों के लिए उस ने वहाँ बावली के पास तम्बू लगवाये हुए हैं।"

पूरो के कानों में मानो किसी ने सलाख़ भोंक दी। रत्तोवाल... रत्तोवाल... छत्तोआनी के खेतों में खड़े होकर जिस रत्तोवाल को जाती हुई कच्ची सड़क को पूरो चाव से देखा करती थी, जिस सड़क पर से कोई पूरो को लेने के लिए घोड़ी पर चढ़कर आनेवाला था, जिस सड़क पर से गाँव के चार कहार पूरो की डोली ले जानेवाले थे !... रत्तोवाल... रत्तोवाल...

पूरो के पाँवों से वह पथ मैला न हुआ था, पूरो की आँखों ने वह गाँव देखा न था। पूरो को एक भूला हुआ नाम स्मरण हो आया... रामचन्द... रामचन्द...

पूरो के भीतर से एक धुआँ-सा उठा, उस के मन में उलाहने उठने लगे, 'एक बार उस का मुख तो देख लूँ कैसा है, एक बार उस का गाँव तो देख लूँ कैसा है...'

"अच्छा, अम्मा ! मैं तुम्हारे साथ चलूँगी।" पूरो के मुख से अनायास ही निकल गया। फिर लज्जित-सी होकर पूरो उस के मुख की ओर देखने लगी। पूरो को लगा मानो रहीमे की माँ ने उस के हृदय की बात जान ली हो।

"साईं, तेरे बच्चे जियें, तू दूधों नहाये पूतों फले।" रहीमे की माँ के हृदय से आशीर्वाद निकलने लगे। कौन जाने उस के मन में यह कामना उत्पन्न हुई, क्या

ही अच्छा होता जो मेरी बहू भी ऐसे ही मीठा बोल सकती !

"अम्मा ! जावेद के अब्बा को तुम मना लेना, मैं नहीं कहूँगी ।" पूरो ने लजाते हुए कहा।

"ले देख ! वह तो मेरा बेटा है, कभी इनकार कर सकता है ! मेरी ख़ातिर चार दिन दुख-सुख से काट लेगा।" रहीमे की माँ ने अपनापा दर्शाते हुए कहा ।

पूरो भली भाँति जानती थी कि रशीद उस की बात को कभी नहीं टालता, पर रशीद के सामने रत्तोवाल का नाम लेना ही बस कठिन था।

उस रात पूरो के मन में परस्पर-विरोधी विचार उत्पन्न होते रहे, 'वह मेरा कौन लगता है ? मैं तो उस की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखूँगी। पराया मर्द, मुझे उस के गाँव से क्या लेना...वह गाँव में रहता है तो रहा करे, अम्मा अपना इलाज करायेगी, फिर हम लौट आयेंगे।...तेरा ही मन उस के लिए उमग रहा है, उस को तो बुरे सपने की भाँति कभी तेरा ध्यान भी न आया होगा...'

पूरो सोचती, उस गाँव में जाकर रात पड़ते ही उस के भीतर जैसे कोई सोयी हुई क़ब्रों को खोदेगा ! उस के भीतर जैसे कोई गड़े मुरदों को उठायेगा ! इन क़फ़नों को उतारने से क्या लाभ ? वह रत्तोवाल नहीं जायेगी। वह रत्तोवाल के रास्ते से ही न गुज़रेगी ।

पूरो हाँ या ना कुछ न कहती थी।

जावेद अपने पिता को न छोड़ता था। रशीद ने उसे साथ न भेजा। दोनों स्त्रियों को पहुँचाने के लिए रहीम के यहाँ का एक पुराना काम करनेवाला अशरफ़ साथ गया। पूरो छोटे लड़के को साथ ले गयी।

अशरफ़ अगले फट्टे पर इक्केवाले के साथ बैठ गया। सारा सामान पीछे रखकर पूरो और अम्मा आमने-आसने फट्टों पर बैठ गयीं। इक्के के पहले हिचकोलों से ही पूरो का लड़का उस की गोदी में सो गया। आगे बैठे हुए अशरफ़ ने पूरो के लड़के को उठा लिया। इक्का रत्तोवाल की सड़क पर चला जा रहा था।

घोड़े की टापों की आवाज जैसे पूरो के सिर पर हथौड़ा चला रही थी। पूरो ने अपना माथा इक्के की बाँह से लगा लिया। वह ऊँघ गयी थी।...सजी हुई डोली में चाँदी के झब्बेवाला एक गाव-तकिया सिर के नीचे रखे हुए पूरो लेटी हुई थी। चूड़े के बोझ से उस की बाँहें कठिनाई से उठती थीं। हवा के एक झोंके से डोली का परदा ज़रा सरक गया। उस मद्धिम-से प्रकाश में उस ने देखा, पूरो के हाथों पर मेहँदी ख़ूब खिली हुई थी। कितनी खारी मेहँदी थी, पूरो की सहेलियों ने कितनी सारी थोप दी थी ! यह कहार कितने बुरे हैं, न जाने कैसे चलते हैं ! डोली में बैठे-बैठे पूरो की कमर दुखने लगी थी, डोली में हिचकोले भी कैसे आते हैं ! पूरो के गुँदे हुए सिर से उस का पल्ला सरक गया। पूरो ने हाथ

उठाकर पल्ला ठीक किया। हाथ में पहने हुए आभूषणों की छन-छन सारी डोली में गूँज उठी। पूरो का जी बैठा जा रहा था। कल से उस से कुछ खाया नहीं गया था। पूरो की माँ ने मठरियों की एक डलिया उस की झोली में डाल दी थी, पूरो का मन किया कि मठरी का एक टुकड़ा मुह में डाल ले, उस का जी ठिकाने नहीं आ रहा था...

अम्मा पूरो का कन्धा पकड़कर हिला रही थी, "ठीक दुपहरी सिर पर आ गयी, एक-दो कौर तो मुँह में डाल ले।"

इक्केवाले ने इक्का खड़ा किया हुआ था। रास्ते में एक छोटे-से गाँव के पास खाने-पीने के लिए वे लोग रुके थे, पूरो काँपकर जाग उठी। न कोई डोली थी, न आभूषण थे, न मेहँदी थी, न चूड़ा था। पूरो इक्के के पिछले फट्टे पर अम्मा के सामने बैठी हुई थी :

पूरो ने रास्ते के लिए घी का हाथ लगाकर परांठे बनाकर रख लिये थे। अम्मा ने वही गठरी खोली। अशरफ़ को चार परांठे दिये, इक्केवाले को दिये, ख़ुद लिये, पूरो के आगे धर दिये।

पूरो के गले से कौर नहीं उतरता था। परांठे के घी से पूरो को मिचलाहट-सी आती थी।

"थोड़ा ही रास्ता रह गया है, जल्दी से निबटा लें। रात को घोड़ी को साँस दिलाकर मुझे सवेरे ही लौटना है।" इक्केवाला कह रहा था। फिर सब सवारियाँ वैसे ही इक्के में बैठ गयीं। पूरो ने अपना माथा इक्के की बाँह से लगा लिया। पूरो ने रात भर जागकर आने का सब सामान-असबाब बाँधा था, उसे रात भर का उनींदा था।

...डोली फिर हिचकोले खाने लगी। रत्तोवाल का रास्ता ख़त्म होने में न आता था। एकाएक तेज़ बाजों और शहनाइयों की आवाज़ बहुत ऊँची हो गयी। डोली के इधर-उधर बाजे बज रहे थे। पूरो ने समझा रत्तोवाल आ गया है।... बाजे और ज़ोर से बजने लगे...लड़कियाँ गीत गा रही थीं...एक स्त्री ने उस का घूंघट उठाया...फिर किसी ने एक छोटा-सा बालक उस की गोदी में डाल दिया। बालक अपरिचित गोदी में आकर रोने लगा, स्त्रियाँ खिलखिलाकर हँस रही थीं, वह बालक का शगुन कर रही थीं...

अम्मा उस के कन्धे को हिला रही थीं, "आज तुझे बड़ी नींद आ रही है, देख लड़का रो रहा है।"

पूरो फिर कँपकँपी लेकर जागी। इक्के के पिछले फट्टे पर बैठी हुई अम्मा उस से बात कर रही थी।

"हमारे पास से इतनी भारी बरात गुज़री है, मार बाजे ही बाजे बज रहे थे, आप की आँख नहीं खुली ?" अशरफ़ कह रहा था।

"तुझ सोती को उस ने लड़का पकड़वाया, वह भी तू ने पकड़ लिया, फिर भी तेरी नींद नहीं टूटी..." कहते-कहते अम्मा हँसने लगी।

इक्का रत्तोवाल के निकट पहुँच गया था। जब बावली के पास जाकर सब लोग इक्के से उतरे तो सामने ही साईं का घर दिखाई दिया। तम्बुओं की जगह अब साईं ने दो-तीन कच्ची कोठरियाँ बनवा दी थीं जिन में दूर-पार के आये हुए मुसाफ़िर रहते थे। बावली की मिट्टी, बावली का पानी आँखों को लगाते थे, मनोकामना पाते थे।

साईं ने इन नये मुसाफ़िरों को एक कोठरी दिलवा दी। अशरफ़ ने सब सामान-गठरी-पोटली कोठरी में रखा और अम्मा को लेकर साईं के पास चला गया। पूरो ने कोठरी में पड़ी हुई चारपाई पर खेस बिछाकर लड़के को लिटा दिया। फिर वह दरवाज़े पर खड़ी होकर सामने खेतों के पार गाँव के घरों की ओर देखने लगी।

...मैं रत्तोवाल आ गयी, मुझे किसी ने बुलाया नहीं, मुझे एक भी आदमी लेने न आया, किसी ने भी शहनाई न बजायी, किसी ने भी गाना न गाया, किसी ने भी मेरे हाथों में चूड़ी न पहनायी, एक भी कौड़ी मेरे हाथों में न छनकी, मेहँदी की एक पत्ती भी मेरे हाथों पर न लगी...

गाँव के बाहर इस बावली पर बड़ा सन्नाटा था। पूरो का जी उड़ा जाता था। उस का मन करता था कि वह दौड़कर उस गाँव में चली जाये, यहाँ से भाग जाये। रह-रहकर पूरो के मन में विचार उठता, कैसे लोग हैं इस गाँव के! कोई उस से नहीं कहता, 'बैठ जाओ', कोई उस से नहीं कहता, 'जीती रहो!' कोई उस से नहीं कहता...

फिर पूरो कुछ सँभली। पूरो को लगा, वह कुछ पागल होती जा रही है। कहीं वह पागलों की भाँति गाँव की गलियों में न दौड़ने लगे, कहीं वह अपने कपड़े न फाड़ डाले, कहीं वह चिल्ला-चिल्लाकर बोलने न लगे...

साईं ने अम्मा को बताया कि उन्हें वहाँ पूरे तेरह दिन रहना पड़ेगा। उन का नौकर अगले दिन वापस अपने गाँव सक्कड़आली चला गया। आटा-दाल वे अपने साथ ले आयी थीं। पूरो और अम्मा अपनी रोटी ख़ुद पकाती थीं। वैसे यदि कोई चाहे तो साईं की दरगाह से भी भोजन पा सकता था।

पूरो ने गाँव की ओर मुख न किया। फिर गाँव के बारे में पूरो किस से पूछती और क्या पूछती? दिन पर दिन बीतते जा रहे थे। गाँव में वह जाती भी तो किस बहाने? यदि किसी चीज़ की आवश्यकता होती थी तो साईं के नौकर-चाकर वहीं ला देते थे। यह सोचकर पूरो का दिल व्याकुल हो उठता था कि वह गाँव की दहलीज़ तक आकर लौट जायेगी पर गाँव न देख सकेगी। पूरो के मन में आता था कि किसी न किसी तरह से वह जाकर सारा गाँव देख आवे, उस का

घर भी देख आवे, उसे भी देख आवे, पर उसे कोई न जान सके...फिर पूरो सोचती, पूरो को कैसे मालूम होगा कि उस का घर कौन-सा है, वह किसी से पूछे भी तो कैसे, फिर घर को भीतर से कैसे देखेगी...फिर पूरो सोचती, उस के घर को देखकर भी क्या लेना है, उस का उस घर से सम्बन्ध ही क्या है, क्यों उस के मन में ऐसी बातें उठती हैं...

पूरो का जी ठिकाने न आता था। एक के बाद एक कर के दिन बीतते जाते थे। बैठे-बैठे पूरो को एक भूला हुआ गाना याद आ गया :

जये आये तये टुर चल्ले
साडे आयाँ दा कदर नयीं
हाय रब्बा, साडे आयाँ दा सबर पवी।

कितनी ही बार पूरो की आंखों में आँसू भर-भर आते, वह उन्हें पी जाती।

लड़के को अम्मा के पास लिटाकर वह खेतों में घूम आती।

पूरो सोचती, एक बार देखूँ तो पहचान तो लूँ।

फिर पूरो सोचती, इतने बरस हो गये हैं, कौन जाने कैसी सूरत हो गयी हो! अगर मेरे पास से भी गुज़र जाये, तो मैं क्या पहचान सकूँगी!

खेतों में किसानों से कभी-कभी पूरो पूछ लेती, "भाई! ये खेत किस के हैं, दो गाजरें लेनी थीं, हम तो मुसाफ़िर है।" किसान कभी किसी का नाम लेते, कभी किसी का, रामचन्द का नाम कोई न लेता।

अगले दिन किसी ने सचमुच रामचन्द का नाम ले दिया। पूरो के पाँव ऐसे हो गये मानो धरती में गड़ गये हों!...

पूरो का सिर चकराने लगा। उसे लगा, वह उसी मिट्टी पर गिर पड़ेगी, वह उसी मिट्टी पर मिट्टी हो जायेगी...

पूरो उसी कीकर के नीचे खड़ी की खड़ी रह गयी। उस के पैरों में से जैसे किसी ने शक्ति खींच ली हो। उस के पैर जैसे जमकर बर्फ़ के ढेले बन गये हों। उस मिट्टी ने जैसे पूरो को कसकर अपनी लपेट में ले लिया हो...

पूरो को जान पड़ा, वह खड़ी की खड़ी अनार का पेड़ बनकर उग आयी थी, जिस के लाल अनारों को जब भी कोई तोड़ने लगता, वह अंगारे बनकर धरती पर गिर पड़ते, उस के लाल अनारों को जब भी रामचन्द तोड़ता, अनार के लाल दाने लहू की बूँदें बनकर उस के कुरते पर गिर पड़ते और उसे अनार के पेड़ में से एक आवाज़ सुनाई देती :

मैं बूटा उग्गी होई आँ
मैं बे मुरादी मोयी हाँ।

किसान ने काटे हुए चनों का गट्ठर बनाकर सिर पर धर लिया। पूरो का ध्यान टूटा। उसे याद आया कि जो राजकुमारी अनार का पौधा बनकर उगी थी

उस की कहानी उस ने जब छोटी थी, सुनी थी। पूरो अभी तक न राजकुमारी बनी थी, न अनार का पौधा।

"मालिक आ रहा है..." कहते हुए किसान चने का गट्ठर लेकर कुएँ की ओर चल दिया।

पूरो की आँखों से आँसू बहने लगे। रामचन्द जब पूरो के पास से गुज़रा, उस की आँखें पूरो की ओर उठीं। पूरो का मुँह आँसुओं से भीगा हुआ था।

पूरो को न कीकर की ओट होना याद रहा, न अपने पल्ले से आँसू पोंछ लेना। शायद आँसुओं के बहने के कारण उसे रामचन्द का मुँह भी दिखाई नहीं दे रहा था।

"तुम कौन हो, बीबी ? तुम्हें क्या हुआ है ?" रामचन्द के पैर रुक गये।

पूरो कुछ न बोल सकी।

"तुम्हें कोई तकलीफ़ है, बीबी ?" पूरो के कानों में फिर रामचन्द की आवाज़ आयी। पूरो की जीभ जैसे किसी ने पीछे खींच ली थी, वह मूर्ति की भाँति खड़ी रही। पूरो के मन में बाढ़-सी उठी पर उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला।

रामचन्द ठिठक गया। उस ने इधर-उधर देखा। शायद वह किसी किसान को सहायता के लिए बुलाता। उसी समय पूरो के पैरों में शक्ति लौट आयी और वह चुप की चुप, गुम-सुम, खेतों से बाहर चली गयी।

पूरो चुपचाप आकर अपनी कोठरी में पड़ रही। उसी शाम सक्कड़आली से अशरफ़ आ गया था। अगले दिन तड़के ही उन सब को अपने गाँव लौटना था।

उस रात पूरो की आँख न लगी। 'एक शब्द भी मैं ने उस से न कहा... पूछता था, तुम कौन हो, बीबी।...मैं उसे क्या बताती मैं कौन हूँ !...मेरी व्यथा को बोलकर कौन बता सकता है !...कभी सोते, उठते, बैठते उसे मेरे रोते हुए मुख का ध्यान आयेगा तो वह सोचेगा कि वह कौन थी...फिर कौन जाने उसे कोई बिसरी हुई कहानी याद आ जाये...उस की मरी हुई पूरो उसे याद आ जाये...फिर शायद उसकी आँखों से दो-एक आँसू गिर पड़ें...!' फिर पूरो सोचती, 'यदि मैं भी उस राजकुमारी की भाँति अनार का पौधा बन सकती, उस के खेतों में उग आती, वह मेरे अनारों को तोड़ता, फिर मैं अनारों से बोलती...न जाने यह सब किस युग की बातें हैं...आजकल तो कोई मनुष्य पौधा नहीं बनता...'

रात का पिछला पहर अभी भोर नहीं बना था कि जैसे किसी ने पूरो का हाथ पकड़कर उसे चारपाई से उठा दिया। पूरो बाहर खेतों को चली गयी। रात के अँधेरे में भी पूरो ने उस जगह को पहचान लिया, उस कीकर को पहचान लिया, जहाँ कल साँझ को रामचन्द उस के सामने खड़ा था। झुककर पूरो ने उसी स्थान पर से उस के चरणों की धूल उठा ली और अपनी आँख बन्द करके एक चुटकी अपनी आँखों से लगा ली।

आँखों से लगे हुए पूरो के दोनों हाथ किसी ने अपने हाथों में ले लिये। पूरो ने चौंककर देखा, रामचन्द उस के सामने खड़ा हुआ था।

"क्या तू पूरो है ?" रामचन्द पूछ रहा था, "सारी रात यही एक नाम मेरे दिमाग़ में चक्कर लगाता रहा, सच-सच बता तेरा नाम पूरो है ?"

पूरो का हृदय कहता था वह रामचन्द के पैरों पर गिर पड़े, वह जी भरकर रोवे और कहे कि वह पूरो है, चीख़-चीख़कर बताये कि वह पूरो है, वह उसी की पूरो है जिसे लेने उसे घोड़ी पर चढ़कर जाना था, जिस के साथ उसकी भाँवरें पड़नी थीं! वह वही पूरो है जिसे उस के घर डोली चढ़कर आना था...वही पूरो है, पूरो...

पूरो की जीभ को आज भी किसी ने खींच लिया। पूरो एक भी शब्द न बोल सकी। रामचन्द के हाथों से उस ने अपने हाथ छुड़ा लिये। पूरो वैसे की वैसी, गुमसुम, वहाँ से लौट चली।

"जो तू पूरो है तो मुझे एक बार बता जा।" रामचन्द ने पूरो के पीछे तेज़ क़दम बढ़ाते हुए कहा, "मैं सारी रात इन खेतों में घूमता रहा हूँ। पता नहीं क्यों, मेरा दिल गवाही देता था तू फिर आयेगी, मेरा दिल गवाही देता है तू पूरो है।"

"पूरो तो कब की मर चुकी है।" न जाने कैसे पूरो के मुँह से निकल गया। उस ने पीछे मुड़कर भी न देखा, वह आगे बढ़ती गयी।

अम्मा ने बावली के साईं को मिठाई का चढ़ावा चढ़ाया। अम्मा और उस के बाक़ी साथियों से लदा हुआ इक्का धूप चढ़ने से पहले सक्कड़आली की सड़क पर पड़ गया।

एक आग

एक-एक करके कई दिन बीत गये, दिन-दिन करके महीने, और महीना-महीना करके कई बरस बीत गये।

दूध की भरी हुई काढ़नी को जब पूरो चूल्हे पर कढ़ने के लिए रखते समय सूखे कण्डे जोड़ती, और सारा दिन जलने के लिए कण्डों में धीमी-धीमी आग सुलग जाती, तब पूरो को लगता कि उस की छाती की भीतर वाली तह में कोयले की एक चिनगारी पड़ी हुई है जिस से न जाने कितने दिनों से उस के अन्तस्तल में कुछ आग-सी सुलग रही है।

कभी पूरो सोचती कि आजकल उस का खाया-पिया उस की छाती पर ही धरा रहता है। उसे अपने गले में कुछ अड़ा हुआ मालूम होता। दो-तीन बार बासी पानी के साथ उस ने चुटकी भर-भरकर अजवायन भी फाँकी थी। कभी पूरो सोचती, मेरे अन्दर गरमी हो गयी है, उस ने तीन-चार दिन कच्ची लस्सी के कटोरे भर-भरकर पिये। कभी पूरो सोचती थी, कौन जाने माँ का जी कैसा हो। पता नहीं क्यों उस के मन में ऐसे विचार उठते थे।

इन्हीं दिनों एक दिन जब रशीद घर आया, उस का मुँह इतना उतरा हुआ था मानो वह महीनों का रोगी हो।

रशीद ने घर में कुछ न कहा। पूरो से बातें करता रहा, जावेद से मदरसे की बातें करता रहा, छोटे लड़के के साथ हँसता-खेलता रहा। खाना खाते समय पूरो रशीद के मुख को देखती रही। उसे लगा मानो कौर रशीद के गले से नीचे नहीं उतर रहा है। पानी के घूँट के साथ रशीद ने कुछ कौर नीचे उतार लिये। रशीद के मन की दशा पूरो से छिपी न रह सकी।

पास-पास पड़ी हुई चारपाइयों पर लेटने के बाद पूरो ने रशीद के जी का हाल पूछा।

"आज मेरे गाँव से एक आदमी आया था, हमारे अपने खेतों पर काम करता है।" रशीद ने एक पल चुप रहकर कहा।

"छत्तोआनी से?"

"हाँ।"

"फिर?"

"वह कह रहा था कि हमारी कटी हुई फ़सल के ढेर लगे हुए थे, मनों अनाज ढेरों का ढेर पड़ा था..."

"फिर?"

"किसी ने रातोंरात आग लगा दी।"

"हैं!"

"सारी फ़सल में से एक दाना भी नहीं बचा।"

"किसी ने जान-बूझकर लगायी?"

"शक तो ऐसा ही है।"

"ऐसा कौन था?"

"वह आदमी कह रहा था, आग की लपटों से सारा आसमान लाल हो गया था।"

"फिर अब ! हमारा जो हिस्सा था सो तो था ही, वे बेचारे क्या करेंगे ?" उन बेचारों से पूरो का अभिप्राय रशीद के भाई, उस के चाचा-ताउओं से था जिन का फ़सल में साझा था।

रशीद चुप हो गया। पूरो भी जैसे सोच में पड़ गयी। बच्चे तो सो गये थे, पर रशीद और पूरो की आँखों में नींद नहीं थी।

'पर दूसरे का घर फूँककर किसी को क्या मिला ?' पूरो ने कई बार रह-रहकर अपने मन में सोचा। रशीद चुप रहा। पूरो देखती रही, कभी रशीद दायीं करवट लेता है, कभी बायीं करवट लेता है, फिर सीधा लेट जाता है। कभी-कभी वह अपनी आँखें मींचकर भी लेटा रहा, पर नींद उस के पास न फटकती थी। कई बार उठकर रशीद ने पानी भी पिया।

"लड़के को अलग चारपाई पर लिटा दे, मुझे आज इस के पास नींद नहीं आती।" रशीद ने कहा।

जावेद सदा अब्बा के पास सोता था और छोटे लड़के को पूरो अपने पास सुलाती थी। पहले कभी रशीद ने यह बात न कही थी। पूरो को आश्चर्य तो हुआ पर उस ने चुपचाप जावेद को उठाकर अलग चारपाई पर लिटा दिया।

फिर भी कितना ही समय बीत गया। रशीद करवटें ही बदलता रहा, पर नींद उस की आँखों के पास न आयी।

"एक उड़ती-उड़ती बात सुनी है; पता नहीं, सच है या झूठ !" रशीद ने लेटे-लेटे कहा।

"क्या ?" पूरो ने चौंककर पूछा।

रशीद फिर चुप हो गया, मानो वह अपने मन में निर्णय कर रहा हो कि वह बात पूरो को बतानी चाहिए या नहीं।

रशीद बड़ी देर तक चुप रहा। पूरो अपनी चारपाई से उठकर रशीद की चारपाई पर जा बैठी।

"सुना है कि गाँव में एक अपरिचित जवान आया था। वह किसी से बहुत मिला-जुला नहीं। गाँव के लोगों को शायद शक है कि शायद वह...वह तेरा भाई था।"

"मेरा भाई ?" पूरो मानो अनायास बोल उठी।

"कुछ कहा नहीं जा सकता। मुझे तो गाँव गये भी कितने दिन हो गये हैं। वह जो आदमी आया था, वह यह सब बातें कह रहा था।" कहकर रशीद फिर चुप हो गया।

पूरो के सिर में जैसे चक्कर आने लगे।

'मेरा भाई ?...मेरा भाई अब जवान हो गया होगा। मुझे उस की सूरत देखे दस-बारह बरस तो हो ही गये हैं। कौन जाने अब देखने में कैसा लगता हो। उसे अचानक देख लूँ तो शायद पहचानूँ भी नहीं। मसें भीगने लगी होंगी। नौ-दस बरस का तो यह जावेद ही होने आया।' पूरो के मन में अनेक विचार उठने लगे।

रशीद ने उसे केवल इतना और बताया कि पूरो के पुराने मकान के सम्बन्ध में उस ने किसी आदमी से पूछा था कि यह घर किस का है, पर अपने सम्बन्ध में अपने मुँह से उस ने किसी को कुछ नहीं बताया। लोगों को केवल शक ही है। किसी ने अपने कानों से कुछ नहीं सुना।

'क्या सचमुच वह गाँव आया होगा ? उसे मेरा ध्यान आया होगा, उस की बहन, उस की अपनी बहन, उस की सगी, माँ-जायी बहन...!' पूरो के मन में उथल-पुथल होने लगी, उस की आँखों में आँसू आ गये।

फिर उसे आग लगने का दुख भूल गया, जले हुए गेहूँ की राख में से माँ-जाये भाई-बहनों का स्नेह उभरने लगा। प्रेम की एक उज्ज्वल चिनगारी उस के हृदय में चमकने लगी।

'कौन जाने उस ने आग लगायी हो' शायद अपने भरे हुए दिल का गुबार निकालने के लिए इस प्रकार बदला लिया हो ! उस की जवान काया में नया लहू चलता होगा। कौन जाने उसे बहन के दुख का ध्यान व्याकुल करता हो...मैं एक बार उस का मुँह देख लेती ! कौन जाने मेरे भाग्य में क्या लिखा हुआ है !' ऐसे ही पूरो सोचती रही।

फिर उस के मन में चिन्ताएँ आने लगीं। एक घड़ी पहले पूरो का सम्बन्ध उन के साथ था जिन का मनों अन्न जलकर राख हो गया था, और एक घड़ी बाद पूरो का अपनत्व उस के साथ हो गया था जिस ने शायद उस अन्न को जलाकर राख कर दिया था।

'आग लगानेवाला कहीं वह ही न हो !...कहीं आग किसी और ने लगायी हो और शक-शुबहे में वह पकड़ा जाये !...' पूरो की चिन्ता बढ़ने लगी। कुछ भी हो वह अपने भाई की कुशल चाहती थी। वह सोचती थी, कौन जाने उस के भाई के हृदय में दुख और प्रेम की कोई आग जल रही हो, उसी जलती आग में से उस ने एक चिनगारी खेतों को लगा दी हो। शायद उस के भाई को यह भी पता न होगा कि रशीद छत्तोआनी में नहीं रहता।

पूरो निढाल होकर अपनी चारपाई पर लेट गयी। विचार उस के मन में डूबते-उतराते रहे।

जब पूरो की आँख लगी—उस के सामने आग ही आग लगी हुई थी, नीचे धरती पर घास के तिनकों से लेकर पीपल की-सी ऊँचाई तक सब कुछ जल रहा था। फिर पूरो ने सपने में देखा, एक सुन्दर नवयुवक आग की ऊँची उठती हुई

लपटों के पास बैठा अपने हाथ ताप रहा है।

पूरो चौंककर जाग उठी। पूरो का जोड़-जोड़ दुख रहा था।

पूरो को लगा, इतने दिनों से उस की छाती में जो धुकधुकी-सी लगी हुई थी, जिस के लिए वह कभी अजवायन फाँकती थी, कभी कच्ची लस्सी पीती थी, आज उस में से लपटें निकल-निकलकर उसके शरीर को जला रही थीं। पर पूरो की समझ में नहीं आता था कि इस आग से उस के शरीर को सेंक लग रहा था या कि उस के भाई के स्नेह की ज्योति उद्दीप्त हो रही थी।

1947

जिस तरह ख़रबूज़ा फाँक-फाँक हो जाता है, उसी प्रकार शहरों में, गाँवों में मनुष्यों से मनुष्य फटते जाते थे।

जैसे हवा के साथ उड़-उड़कर धूल आती है, वैसे ही आसपास के क़सबों से ख़बरें आती थीं। आदमी पर आदमी मारे जा रहे हैं, घर के घर जल रहे हैं। पड़ौसी को पड़ौसी मार रहा है। राह चलते को राह चलता तलवार के घाट उतार जाता है। लोगों की जान सुरक्षित नहीं थी, उन का माल सुरक्षित नहीं था।

पूरो सब कुछ आँखों से देखती थी, कानों से सुनती थी। उस के अपने गाँव में और आसपास के गाँवों में लोग लोहा इकट्ठा कर रहे थे, लोहे पर शान धर रहे थे, अपने घरों की छतों पर ईंटें इकट्ठी कर रहे थे, भाले और बरछियाँ सँभाल-सँभालकर अपनी कोठरियों में रख रहे थे।

"यहाँ हमारा अपना राज होगा, यहाँ हमारी हुकूमत होगी," हरेक यही कहता था। "यहाँ हम हिन्दू का बीज भी रहने नहीं देंगे," लोग चौराहों पर खड़े हो-होकर कहते थे।

'कभी ऐसा होते भी सुना है!' पूरो बार-बार सोचती। 'भला इतनी सृष्टि जायेगी कहाँ?' पूरो रह-रहकर सोचती।

'लोगों को झूठमूठ एक जनून आता है," पूरो कहती, "चार दिनों की आँधी है, आयेगी और चली जायेगी।"

पर लोग थे कि मानो पागल हो गये थे; बस बुरी-बुरी बातें ही करते थे। कहीं से भी भली ख़बर न आती थी। फिर पूरो ने सुना, शहरों में गलियाँ लहू से भर गयी हैं, बाज़ार के बाजार मुरदों से पट गये हैं, सड़ती हुई लाशों से बदबू उठने लगी है, उन्हें कोई जलाता-फूँकता नहीं, कोई उन्हें दबाता-गाड़ता नहीं। लोग कह रहे थे, इतने मुरदों की सड़ाँध से सारे देश में बीमारी फैल जायेगी।

फिर उस वर्ष की पन्द्रह अगस्त बीत गयी। गाँव में ढोल बजे, चाँद और तारों वाले हरे रंग के झण्डे लगे। प्रतिदिन मसजिद में लोग इकट्ठे होते थे। गाँव के हिन्दुओं के मुख पर मानो किसी ने हलदी फेर दी थी।

फिर पूरो ने सुना, कुछ शहरों में सीमाएँ बना दी गयी थीं। इन के एक ओर मुसममान रह गये थे, दूसरी ओर सारे हिन्दू चले गये थे। फिर पूरो ने सुना, उधर दूसरी ओर से मुसलमान मरते-कटते चले आ रहे थे, बहुत-से वहीं मर गये थे, बहुत-से रास्ते में ख़तम हो गये थे, बहुत-से इधर पहुँचकर मर रहे थे।

पूरो के कान सुन-सुनकर जैसे फट चले हों!—पूरो ने सुना, मुसलमान हिन्दुओं की लड़कियों को और हिन्दू मुसलमानों की लड़कियों को उठाकर ले गये हैं। कइयों ने उन्हें अपने घरों में डाल लिया है, कइयों ने उन्हें जान से मार डाला है, और कइयों को वह नंगा कर के गलियों और बाज़ारों में घुमा रहे हैं।

गुजरात ज़िले के उन गाँवों में, जो पूरो के गाँव के आस-पास लगे हुए थे, सब से पीछे उपद्रव हुए। पूरो के अपने गाँव वाले, उस की अपनी बिरादरीवाले पूरो के अपने रशीद को छोड़कर, रशीद के सारे सम्बन्धी-कुटुम्वी भी, वहशी बने फिरते थे। पूरो को साहस न होता था, और न रशीद के बस की बात थी कि किसी को कुछ समझावें-बुझावें।

उन के आस-पास के गाँवों के हिन्दू भागने लगे। उन की गायें अपने खूँटों से बँधी रह गयीं, उन की भैंसें भाँ-भाँ डकराने लगीं—उन के भरे-भराये घर पीछे छूट गये, उन के खेत मालिकों के मुँह ताकते रहे। वे रातों-रात भागते, वे गाँवों की सीमा पर मारे जाते, वह बीसियों कोस चलते रहने के बाद मरे हुए मिलते।

पूरो के गाँव के सारे हिन्दू अपनी एक बड़ी हवेली में चले गये थे। यदि कोई खिड़की या दरवाज़ा खोलकर बाहर आ जाता तो तुरत मृत्यु उसे अपने झपेटे में ले लेती थी। कहते थे कि हवेली में उन्होंने अनाज इकट्ठा किया हुआ

था। कोई हिन्दू बाहर देखता नहीं था। कोई हिन्दू स्त्री बाहर झाँकती नहीं थी।

पूरो के गाँव में केवल मुसलमान रह गये थे। गाँव में हिन्दू पशुओं की भाँति हवेली में फँसे हुए थे। एक दिन उस के गाँववालों ने मिलकर हवेली पर हमला किया। उन्होंने निश्चय किया था कि वह हवेलीवालों का नाम मिटा देंगे। उन्होंने बन्द घरों के ताले तोड़ डाले, अलग-अलग घरों के मालिक बन बैठे। यदि कभी रात-बिरात कोई हवेली से नीचे उतरता, अगले दिन पूरो गाँव में उस की लाश पड़ी देख लेती थी।

एक दिन उन्हों ने न जाने किस तरह हवेली के दरवाज़ों और खिड़कियों पर तेल डाला, और तेल से भीगे हुए दरवाज़ों और खिड़कियों में आग भी लगा ली थी, जब हिन्दू मिलिटरी के ट्रक उन के गाँव में पहुँच गये।

हवेली के भीतर से आग की लपटों जितनी ऊँची चीखें भी निकल रही थीं जब कि मिलिटरी ने आग बुझायी और भीतर से आदमी निकाले। उन घबराये हुए लोगों को उन्होंने लारियों में बैठा दिया। आधे जले हुए तीन आदमी भी निकाले गये जिन के शरीर से चरबी बह रही थी, जिन का मांस जलकर हड्डियों से अलग-अलग लटक गया था। कुहनियों और घुटनों पर से जिन का पिंजर बाहर को निकल आया था। लोगों के लारियों में बैठते-बैठते उन तीनों ने जान तोड़ दी। उन तीनों की लाशों को वहीं भूमि पर फेंककर लारियाँ चल दीं। उन के घरवाले चीख़ते-चिल्लाते रह गये, पर मिलिटरी के पास उन्हें जलाने-फूँकने का समय नहीं था।

पूरो का गाँव ख़ाली हो गया था। पराई क़ौम का कोई आदमी भी बाक़ी नहीं रह गया था। केवल तीन लाशें हवेली के बाहर पड़ी हुई थीं, जिन के पिंजर पर बचे हुए मांस को दिन में ही गाँव के कुत्तों और कौवों ने नोच लिया था।

पूरो की आँखों में जैसे किसी ने सीसे के कंकड़ डाल दिये हों! एक दिन पूरो ने दस-बारह मनचले नवयुवकों को एक नंगी जवान लड़की को अपने आगे करके, दोनों हाथों से ढोल-ढमके बजाते अपने गाँव के पास से गुज़रते देखा। न जाने वे किस गाँव से आये थे और किस गाँव को चले गये।

पूरो को लगता मानो इस संसार में जीना दूभर हो गया हो, मानो इस युग में लड़की का जन्म लेना ही पाप हो।

उसी दिन सन्ध्या के समय पूरो को गन्ने के खेत में छिपी हुई एक लड़की दीख पड़ी जिसे रात के घोर अन्धकार में वह अपने घर ले आयी।

उस लड़की ने पूरो को बताया कि पास के गाँव में एक कैम्प खुला हुआ था जहाँ गाँव के हिन्दू इकट्ठे हो गये थे और प्रतीक्षा कर रहे थे कि मिलिटरी उन्हें

यहाँ से निकालकर कब दूसरी ओर हिन्दुस्तान ले जायेगी। इस ओर की फ़ौज कैम्प की रखवाली करती थी। पर प्रतिदिन रात को कुछ मुसलमान चोरी-छिपे आकर कैम्प की जवान लड़कियों को उठाकर ले जाते थे और अगले दिन तड़के ही उन्हें वापस छोड़ जाते थे।

उस लड़की ने पूरो को बताया कि पूरी नौ रातें हो गयी थीं; उसे रोज़ रात को नये-नये लोगों के घरों में जाना पड़ा था। पिछली रात वह किसी प्रकार अपने ले जाने वाले को धोखा देकर भाग गयी थी। दौड़ते-दौड़ते वह इस गाँव में पहुँची थी। जब सुबह के समय उजाला होने लगा तब वह निश्चय न कर सकी कि किधर जाये। उस ने दिन का सारा समय ईख के खेत में लुके-छिपे पड़े रहकर बिताया...

पूरो यह सब सुन-सुनकर विक्षिप्त-सी हो गयी थी। उस से और न सुना जाता था। पूरो को जैसे इन बातों का विश्वास न होता था। पूरो ने उस लड़की को अपने घर की पिछली कोठरी में रख लिया। वहाँ पूरो के घर का गेहूँ पड़ा था, भैंस का खली-भूसा पड़ा हुआ था।

दूसरे दिन दो आदमी दौड़े-दौड़े आये। उन्होंने सारे गाँववालों से पूछा कि किसी ने एक लड़की देखी है? वे गाँववालों के आँगनों में भी झाँक-झाँककर देख गये, पर लड़की का कुछ पता न चला।

पूरो के मन में कई प्रकार के प्रश्न उठते, पर वह उन का कोई उत्तर न सोच सकती। उसे पता न चलता था कि अब इस धरती पर, जो कि मनुष्य के लहू से लथपथ हो गयी थी, पहले की भाँति गेहूँ की सुनहरी बालियाँ उत्पन्न होंगी या नहीं...इस धरती पर जिस के खेतों में मुरदे पड़े सड़ रहे हैं, अब भी पहले की भाँति मकई के भुट्टों में से सुगन्ध निकलेगी या नहीं...क्या ये स्त्रियाँ इन पुरुषों के लिए अब भी सन्तान उत्पन्न करेंगी जिन पुरुषों ने इन स्त्रियों की अपनी बहनों के साथ ऐसा अत्याचार किया था?...

हिन्दुस्तान जाता हुआ एक क़ाफ़िला पूरो के गाँव के पास आकर रुका। पुरुष और स्त्रियाँ, झुण्ड के झुण्ड, पैदल चलते थे। बैलगाड़ियों में उन्होंने बच्चों को भर दिया था। कुछ सिपाही क़ाफ़िले के आगे थे और कुछ पीछे। यात्रियों की आँखें भारी हो गयी थीं। रास्ते की धूल दुर्दैव की भाँति उन के मुँह-सिर पर मँडराकर अब वहीं जम गयी थी।

पूरो के गाँव पहुँचते-पहुँचते क़ाफ़िले को रात पड़ गयी। उसे वहीं रुकना पड़ा।

पूरो का चित्त व्याकुल था। उसे रह-रहकर एक ही विचार आता कि वह सड़क रत्तोवाल से आती है, इस क़ाफ़िले में अवश्य उस का रामचन्द होगा... एक अन्तिम भेंट...बस एक बार...अन्तिम बार...उस के बाद वह इस देश में

ही नहीं रहेगा...उस के बाद फिर कभी भी वह उस का कुशल न सुन सकेगी... उस के बाद फिर कभी भी उस के गाँव की हवा भी इस ओर न आयेगी...

क़ाफ़िले वाले अपने बचे-खुचे गहने और रुपये देकर रास्ते के गाँवों के लोगों से अनाज मोल लेते थे। गाँव के कुछ स्त्री-पुरुष जाकर उन से सौदा कर लेते थे और पहरे वाले सिपाहियों की देख-रेख में अपना मकई-बाजरा सोने के भाव बेच देते थे। इसी बहाने जाकर पूरो ने क़ाफ़िले पर एक नज़र मारी...

पूरो ने काफ़िले में बैठे हुए रामचन्द को देखा। रामचन्द ने रत्तोवाल के खेतों में खड़ी हुई आँसुओं से भीगे मुँहवाली पूरो को पहचाना।

रत्तोवाल के खेतों में पूरो का मुँह उस के डूबते हुए साहस ने बन्द कर दिया था, आज उस का मुँह पास खड़े हुए पहरे के सिपाहियों ने बन्द किया हुआ था। पूरो कुछ कह न सकी।

"तुम्हें अनाज-दाना कुछ चाहिए ?" उस ने रामचन्द की ओर मुँह करके कहा।

"हाँ", रामचन्द की आँखें पूरो के मुख पर से न हटती थीं, शायद अब भी वह उसे पहचानने की चेष्टा कर रहा था।

"अच्छा, रुपये तैयार रखना, मैं रात को पहुँचा जाऊँगी।" पास खड़े हुए सिपाही की ओर देखकर पूरो ने फिर रामचन्द की ओर देखा और फिर लौट आयी।

पूरो ने रशीद से कहा कि उसे घर में छिपी हुई लड़की को क़ाफ़िले में पहुँचाना है और वह आटे और मिट्टी के पुरवे में रखे हुए घी को कपड़े में बाँधकर और लड़की को साथ लेकर रात के अँधेरे में सोये हुए क़ाफ़िले की ओर चल दी।

दिन-दिन भर चलने से लोग थके हुए पड़े थे। हर समय का भय चाहे चमगादड़ों की तरह उन के सिर पर मँडरा रहा था, पर फिर भी घोड़े बेचकर सोये हुए थे !

'मैं रात को पहुँचा जाऊँगी।' रामचन्द के कानों में पूरो की आवाज़ शाम से गूंज रही थी। रामचन्द रात की निस्तब्धता में किसी के पैरों की आहट ले रहा था।

सिपाही घूमकर पहरा दे रहे थे। पूरो पंजों पर चलकर काफ़िले में जा पहुँची।

सिर से गठरी उतारकर उस ने रामचन्द के आगे रख दी, और लड़की से बैठ जाने को कहा।

"तू पूरो ही है न ?" आज भी रामचन्द ने वही रत्तोवाल के खेतों वाला

प्रश्न किया।

"अब भी पूछना बाकी है ?" पूरो ने उलाहने से कहा। अपने जीवन में रामचन्द को उस का यह पहला और अन्तिम उलाहना था। रामचन्द ने सिर झुका लिया।

"मेरे माता-पिता की कोई ख़बर ?" पूरो ने एक गहरा श्वास लेकर पूछा।

"वे तो जब के ब्याह करके गये हैं, लौटे ही नहीं, पर..." रामचन्द कहते-कहते रुक गया।

"ब्याह ? किसका ब्याह ?" पूरो ने पूछा।

"तेरे खो जाने के बाद उन्होंने एक रात चुपचाप तेरी छोटी बहन के फेरे मुझ से कर दिये और तेरे भाई के साथ मेरी बहन के फेरे हो गये। तब से वे गाँव नहीं लौटे हैं। आजकल सियाम ही हैं। पर..." रामचन्द कहता-कहता रुक गया।

"मेरी बहन...फिर तो वह काफ़िले में होगी ?" पूरो के लिए रामचन्द के साथ उस की बहन के ब्याह की बात बिलकुल नयी थी।

"नहीं, पिछले दिनों तेरा भाई आया था, वह अपनी औरत को मायके छोड़ गया था और बहन को अपने साथ ले गया था। जो वह यहाँ होती तो वह भी...।" रामचन्द की आँखों में आँसू छलछला आये।

"वह भी...क्या हुआ किसे..." पूरो की समझ में न आया था।

"पता नहीं लगा, किस समय मेरी बहन को उठाकर ले गये। जब हम घर से निकले वह साथ थी। मैं बुढ़िया माँ को पीठ पर उठाये काफ़िले में आया हूँ तब तक वह मेरे पीछे-पीछे चली आ रही थी। पर अब काफ़िले में नहीं है..." रामचन्द ने गले से ज़ोर से निकलने की चेष्टा करते हुए स्वर को रोक-रोककर कहा। उस को रुलाई आ रही थी, पर उस ने अपनी पगड़ी को अपने मुँह में डाल लिया। "मेरी माँ ने पीट-पीटकर अपने शरीर को नीला कर लिया है !" राम-चन्द ने कहा।

पूरो की अँतड़ियों में एक ऐंठन-सी पड़ने लगी।

"कोशिश करना, कुछ पता लग जावे। न जाने जीती है या मर गयी।" रामचन्द ने फिर से कहा।

अँतड़ियों में उठती हुई पीड़ा के कारण पूरो कुछ बोल न सकी।

"उस का नाम शायद लाजो है ?" पूरो को याद आया। अपनी सगाई के समय उस ने अपने भाई की मँगेतर का नाम सुना था।

"हाँ, उस की बाँह पर भी उसका नाम गुदा हुआ है।" रामचन्द ने बताया। सिपाही घूम-घूमकर पहरा दे रहे थे। सोये हुए लोगों के बीच में बैठे हुए राम-चन्द और पूरो धीरे-धीरे बातें कर रहे थे।

"इस बेचारी को मैं तुम्हें सौंपने आयी हूँ। इसे क़ाफ़िले में ले जाओ। हिन्दुस्तान जाकर पता कर लेना, जो इसके माँ-बाप मिल गये तो..." पूरो ने लड़की की बाँह रामचन्द के हाथ में पकड़ा दी।

"मेरा भाई यहाँ आया था, चाहती थी उसे एक बार देख लेती..." पूरो ने अपनी कामना प्रकट करते हुए कहा।

"पिछले दिनों...जब तुम्हारे छत्तोआनी वाले खेतों में आग लगी थी, याद है..." रामचन्द कह रहा था।

"आग ?...हाँ, आग लगी थी। क्या यह सच है कि मेरे भाई ने ही आग लगायी थी ?" पूरो को उस दिन ध्यान आ गया जब रशीद ने एक अफ़वाह सुनायी थी।

"हाँ, उसी ने आग लगायी थी। तेरा तो उसे पता मालूम नहीं था कि तू कहाँ रहती है। गुस्से में आकर उस ने रशीद के खेत जला डाले।"

पूरो को रोमांच हो आया। उस का भाई अब जवान हो गया था, उस के हृदय में बदले की ज्वाला धधक रही थी, उस के दिल में बहन की याद थी। साथ ही उसे उस दुर्घटना की याद आयी, उस के भाई की स्त्री गुम हो गयी थी, किसी ने उसे ज़बरदस्ती उठा लिया था, न जाने वह किस हाल में थी, वह...उस के रामचन्द की बहन..."

"मुझे यहाँ सक्कड़आली के पते से चिट्ठी लिखना, अपना पता भी लिखना, जो लाजो का कुछ पता लगा तो मैं लिख भेजूँगी..." पूरो ने कहा।

रात का अँधेरा हलका होता जा रहा था। सिपाही क़ाफ़िलेवालों को जगा रहे थे। क़ाफ़िले को आगे बढ़ना था। पूरो उठ खड़ी हुई।

पूरो ने रामचन्द को हाथ जोड़े। वह कुछ बोल न सकी।

पूरो ने क़ाफ़िले से बाहर पाँव धरा ही था कि एक सिपाही ने उस पर लाठी तान ली, "तू कौन है ? कहाँ चली है ?"

"मैं अनाज बेचने आयी थी।"

"कितने का बेचा है ? पैसे दिखा।" सिपाही ने चिल्लाकर कहा।

पूरो ने चादर में हाथ डालकर अपनी चाँदी की बाँक उतार ली और सिपाही को दिखाकर तेज़ क़दमों से गाँव को लौट गयी।

सिपाही ने शायद यह न सोचा कि हिन्दू चाँदी के आभूषण प्रायः कम ही पहनते हैं, इस औरत को अनाज के बदले चाँदी की बाँक कहाँ से मिल गयी !

पूरो की भाभी

रात को चारपाई पर पड़े-पड़े पूरो छत के काले शहतीरों को देखती रहती। पूरो का मन उन लोगों की बन्द कोठरियों के चक्कर लगाता रहता जिन के भीतर लोगों ने औरों की लड़कियों, बहनों और स्त्रियों को ज़बरदस्ती डाल रखा था। उन्हीं में एक लाजो होगी। लाजो, रामचन्द की बहन, उस की अपनी भाभी। लाजो का अनदेखा मुख पूरो की आँखों के आगे आ जाता था, टूटे हुए पत्ते जैसा मुँह, झड़े हुए पंख जैसा चेहरा !

पूरो सोचती थी, लाजो ब्याही हुई है, शायद उसे कोई बाल-बच्चा भी हो। उस के दिल पर न जाने क्या-क्या बीता होगा, उस के शरीर पर क्या गुज़री होगी। न जाने वह इस समय कहाँ है ! मैं उसे कैसे खोजूँ ? मैं उसे कैसे पहचान सकती हूँ ? उस दिन ईख में छिपी हुई वह लड़की लाजो ही निकल आती, मैं उसे क़ाफ़िले में मिला आती...मैं उसे रामचन्द के हवाले कर आती...

पूरो ने सब बात रशीद को बतायी और उस के पाँव पर गिर पड़ी।

"जैसे भी हो मुझ पर दया करो। मैं ने सारी उमर तुम से कुछ नहीं माँगा। मुझे लाजो का पता ला दो, जैसे भी हो..." पूरो की आँखों के आँसू नहीं रुकते थे। रशीद ने पूरो से प्रतिज्ञा की कि वह अपनी ओर से कोई क़सर न रहने देगा।

रशीद बहुत सोचने के बाद इसी निश्चय पर पहुँचा कि हो न हो लाजो है रत्तोवाल में ही। वह घर से अपने भाई के साथ निकली, पर क़ाफ़िले में मिली नहीं। क़ाफ़िले में इकट्ठे होनेवाले लोगों की आपाधापी में ही वह किसी के हाथ पड़ गयी होगी।

रशीद ने रत्तोवाल के दो चक्कर लगाये, पर वह लोगों के मकानों में कैसे झाँक सकता था ! उस ने गाँव की कितनी ही दुकानों से सौदा-सुलुफ़ ख़रीदा, पर उसे लाजो का कोई सुराग़ न लगा। इतना उस ने अवश्य सुन लिया था कि गाँव के कुछ लड़कों ने जाते हुए क़ाफ़िले में से दो-चार लड़कियों को उठा लिया था।

रशीद को पूरा विश्वास था कि लाजो भी उन्हीं में है।

उस गाँववाले रशीद से परिचित नहीं थे, न ही उस गाँव में रशीद का कोई सम्बन्धी रहता था। वह किस के पास चार दिन रहता, किस से वह गाँव के हाल-चाल लेता।

पूरो ने रशीद के साथ एक चाल निकाली। बावलीवाले साईं को वह जानते थे। वे दोनों बच्चों को लेकर साईं की एक कोठरी में जा टिके। वैसे भी दिन-रात की चिन्ता के कारण पूरो की आँखें घुटी-सी रहने लगी थीं। पूरो रोज़ सवेरे नमाज़ पढ़कर बावली के जल से अपनी आँखें धोती, साईं को मिठाई चढ़ाती और दिन में कोरे खेसों की गठरी बाँधकर गाँव में बेचने चली जाती।

उस समय गाँव के मर्द खेतों पर होते, गाँव की स्त्रियाँ घरों में अपने गृहस्थी के काम-काज में लगी होतीं। पूरो हर घर में जाकर पूछती। पूरो खेसों के दाम इतने अधिक बताती थी कि उस का सौदा कठिनाई से पटता था। वैसे भी गाँवों में लोगों के पास अपनी ही बनायी हुई दरियाँ और खेस बहुतेरे होते हैं, फिर उन्हें लूट-मार से भी बहुत कुछ मिल गया था। पूरो से ख़रीदने की किसी को आवश्यकता न थी, पर पूरो ढीठों की भाँति उन के आँगनों में जा बैठती, भीतर-बाहर झाँकती, स्त्रियों को बातों में लगा लेती, गाँव की लूट-मार की बातें छेड़ देती, उन से हँस-हँसकर पूछती कि किस के हिस्से क्या-क्या आया था। फिर हिन्दुओं के छोड़े हुए मकानों की बात छेड़ देती। पूरो रामचन्द का घर पहचानती न थी, पर गाँववालों से बातचीत करके उस ने रामचन्द के मकान का पता लगा लिया था। रशीद और पूरो को शक था कि हो न हो जिस ने लाजो को उठाया है उस ने शायद लाजो के मकान को भी सँभाल लिया है। पूरो ने उस मकान का भी एकाध फेरा लगाया, पर हर बार एक बुढ़िया उसे बाहर की ड्योढ़ी से ही लौटा देती थी, कह देती थी कि हमें कुछ नहीं लेना है।

जैसे कोई किसी के घर में जबरदस्ती घुसता है, वैसे ही एक दिन पूरो भी उस मकान के आँगन में चली गयी।

"अम्मा, तुम लेना कुछ नहीं, पर देख तो लो। मैं तुम से देखने के दाम तो नहीं माँगती।" और पूरो ने खेसों की गठरी धरती पर धरकर खेस इधर-उधर बखेर दिये। आँगन में उस बुढ़िया के अतिरिक्त और कोई नहीं था।

"अल्ला ख़ैर करे! मुझे एक घूँट पानी पिला दो, सवेरे से प्यासी हूँ।" पूरो ने साहस करके बुढ़िया से कहा।

"अरे, पानी छोड़ तू लस्सी पी ले, पर जो तू चादरें और खेस बेचना चाहती है तो किसी शहर जा। वहाँ न लोग सूत कातते हैं, न कपड़ा बुनते हैं। गाँवों में किस के पास खेसों का घाटा है!" बुढ़िया ने पूरो को सलाह दी, और भीतर कोठरी की ओर मुख कर के उस ने आवाज़ दी, "ओ नेकबख़्त, एक कटोरा लस्सी

तो भर के ले आ।"

पूरो का जी धड़कने लगा। भीतर से आनेवाली लड़की का चेहरा सचमुच टूटे हुए पत्ते की भाँति था, झड़े हुए पंख की तरह था। पूरो का माथा ठनका, हो न हो यही लाजो है।

जब तक पूरो को लाजो के किसी जगह होने का शक नहीं पड़ा था, तब तक उस के मन में एक लगन थी कि कहीं लाजो दीख जाये। अब उसे शक पड़ गया था कि लाजो उसी घर में है, पर अब उस की समझ में न आता था कि अपनी शंका का समाधान कैसे करे।

"यह तुम्हारी लड़की ठीक तो है?" पूरो ने बुढ़िया से बड़ी सहानुभूति से कहा, और लड़की के हाथ से लस्सी का कटोरा ले लिया।

"ठीक ही है......ऐसे ही कुछ......" बुढ़िया ने बात आयी-गयी कर दी।

"थोड़ा नमक देना, लस्सी में मिला लूँ।" पूरो ने लस्सी का एक घूँट भर-कर कटोरा हाथ में लिये रखा।

लड़की ने चुपचाप नमक लाकर पूरो के आगे कर दिया। उस के हाथ से नमक लेते समय पूरो ने उस की एक उँगली को दबाया। नवयुवती ने ज़रा चौंककर पूरो की ओर देखा, पर न तो उस के होंठों पर हँसी की रेखा आयी न उस के मुँह से कोई शब्द ही निकला। लड़की ईख के छिलके की भाँति पेरी हुई दीख पड़ती थी।

पूरो को और भी विश्वास हो गया कि यह लड़की लाजो हो या न हो, पर कोई ज़बरदस्ती भगायी हुई लड़की अवश्य है। घर के सम्बन्ध में पूरो को पता लग गया था कि यह रामचन्द का घर था। और पूरो को यह भी पक्का विश्वास होता जाता था कि हो न हो यही लड़की लाजो है।

लस्सी पीकर कटोरा धरती पर रखते हुए पूरो ने उस युवती की बाँह पकड़ ली।

"इधर आ, मैं तेरी नाड़ी देखूँ। रंग तो तेरा हल्दी जैसा हो रहा है।" कहते-कहते पूरो ने एक हाथ से उस की बाँह पर से कुरता ज़रा पीछे को हटा दिया। नवयुवती की बाँह पर हिन्दी में उस का नाम गुदा हुआ था, 'लाजो'। फिर भी वह कुछ न बोली-चाली। उस के होंठों पर पूस-माघ के कोहरे की भाँति चुप्पी जमी हुई थी।

"कोई गण्डा बाँध दे न! लड़की घर से परच जाये। लड़के से भी कुछ नहीं बोलती-चालती।" बुढ़िया ने उदास मुख से कहा।

पूरो को स्वयं को सँभालना कठिन हो रहा था, फिर भी उस ने जल्दी से उत्तर दिया, "मेरे पास जैसा जन्तर है, उस से यह कुछ ही दिनों में मकई के दाने की भाँति खिल उठेगी।"

"तू जो माँगेगी तुझे दूँगी, मुझे वह जन्तर ला दे।" बुढ़िया ने पूरो की चादर पकड़ ली।

"यह कौन बड़ी बात है, मैं कल ही ले आऊँगी। अल्ला ने चाहा तो......" कहते-कहते पूरो ने खेसों की गठरी बाँध ली। नवयुवती गूँगे-बहरे बुत की भाँति उस की ओर देख रही थी।

खेसों की गठरी के भार से आज पूरो की कमर टूटती जा रही थी। बड़ी कठिनाई से पूरो अपनी बावलीवाली कोठरी में पहुँची।

"अब आगे, तू जाने तेरा काम जाने।"पूरो ने रशीद को सारी बात बताकर कहा।

"कोई ऐसा ब्योंत बने..." रशीद सोचने लगा।

"जैसे मुझे घोड़ी पर उठा लाया था, वैसे ही अब भी हिम्मत कर..." पूरो ने रशीद के एक चुटकी ली और हँस पड़ी।

फिर पूरो और रशीद ने कई युक्तियाँ सोचीं, पर कोई भी उन्हें जँचती नहीं थी। रशीद कहता था कि यहाँ से उसे भगाकर ले जाना तो कठिन नहीं है, पर उसे आगे कैसे पहुँचायेंगे?

पूरो के मन में एक विचार आया जो अब तक कभी न आया था—मेरे माता-पिता ने मुझे अपनी बेटी को तो वापस क़बूल नहीं किया, क्या अब अपनी बहू को स्वीकार कर लेंगे? उन्होंने यदि वापस लेने से इनकार कर दिया तब क्या होगा?...

रशीद ने पूरो को बताया कि उन की सरकार की ओर से सूचनाएँ निकली हैं कि ज़बर्दस्ती ले जायी गयी लड़कियों को खोज-खोजकर लौटा दो, क्योंकि उन के बदले में दूसरी ओर से इसी प्रकार खोजी हुई लड़कियाँ मिलेंगी। लड़कियों के माता-पिता उन्हें वापस ले लेंगे।

पूरो के हृदय में कसक-सी उठी, उस की बार दुनिया के सब धर्म उस के रास्ते में काँटे बन कर बिछ गये थे, उस के माता-पिता ने उसे स्वीकार नहीं किया, उस के ससुरालवालों ने उसे स्वीकार नहीं किया। आज सब मज़हबों के मान टूट चुके थे, आज...

अपने विषय में सोचना पूरो ने छोड़ दिया। वह लाजो के सम्बन्ध में सोचने लगी।

वह रात पूरो ने तारे गिन-गिनकर काटी। सवेरा होते ही वह इस टोह में लग गयी कि लाजो के घरवाली बुढ़िया अपने बेटे के लिए रोटी लेकर खेतों को कब जाती है। उस ने फिर दो-एक कोरे खेस सिर पर रखे और कपड़े के एक टुकड़े में थोड़ी-सी राख बाँधकर चल दी।

लाजो के घर के भिड़े हुए दरवाज़े को अपने हाथों से खोलते समय पूरो ने

सारे पीर-फ़क़ीरों का ध्यान किया। एक समय से भूले हुए देवी-देवता उसे स्मरण हो आये। पहले प्राय: रब और ख़ुदा का नाम लेते समय पूरो कहा करती थी कि रब उस का सौतेला पिता था और ख़ुदा की वह सौतेली बेटी थी, कोई भी रब या ख़ुदा उस के दुख-दर्द की परवा न करता था। पर आज पूरो के हृदय पर एक प्रकार का भय छा गया, पूरो ने झिझकते हुए किसी भी रब-रहीम से प्रार्थना की कि किसी प्रकार लाजो से आज उस की भेंट अकेले में हो जाये !...

पूरो को लाजो के घर पहुँचते-पहुँचते भी दोपहरी का समय हो गया। बुढ़िया अपने बेटे को रोटी देने गयी हुई थी। लाजो अकेली ही आँगन में बिना बिछावन की खाट पर पड़ी थी।

"अम्मा कहाँ है ?" पूरो ने आँगन में पैर धरते ही पूछा।

"खेत गयी है।" लाजो ने कल की खेस बेचनेवाली की ओर देखकर कहा। लाजो के हृदय में खेसवाली की ओर नया जागा हुआ आकर्षण उस के मुख पर स्पष्ट दीख पड़ रहा था। लाजो उठकर खाट पर बैठ गयी।

एक क्षण में ही पूरो को लाजो की मुखाकृति में अपनी माँ, अपनी बहन और अपनी भाभी के मुख दीख पड़े। वह उस के गले से चिपट गयी।

पूरो को लगा कि वह रो उठेगी, इतने ज़ोर से कि उस का रोना दीवारों को फाड़ देगा, उस का रोना खेतों को पार कर जायेगा, उस का रोना गाँवों को लाँघ जायेगा, उस का रोना शहर से भी आगे निकल जायेगा, उस का रोना...

पूरो ने अपने रोने को गले के बाहर न निकलने दिया।

"तू लाजो है...मेरी भाभी.." पूरो ने अपने हृदय में उठते हुए तूफ़ान को दबाकर कहा।

"तू पूरो है ?" लाजो ने ज़रा उस की छाती से हटकर उस का मुख देखा। पर लाजो ने पूरो को पहले कभी न देखा था जो अब पहचानती, फिर भी लाजो को पूरो का मुख बिलकुल उस के भाई जैसा ही लगा, अपने पति जैसा... लाजो के हृदय में एक लाज-सी उत्पन्न हुई, मानो वह अपने पति के मुख की ओर आँख उठाकर न देख सकती हो...लाजो पूरो की गोद में गिर पड़ी।

लाजो के अन्तस्तल में उस समय जो कुछ बीत रहा था, शायद वह पूरो की नसों में प्रवेश करता जा रहा था। पूरो को कुछ भी पूछने की आवश्यकता न थी। पूरो ने लाजो को कलेजे से लगाये रखा।

"कोई आ जायेगा, लाजो ! मेरी बात सुन।" पूरो को बीतते समय का ध्यान आया। लाजो की सिसकियाँ न रुकती थीं, उस की साँस ठिकाने न आती थी।

"वह कब तक लौट आती है ?" पूरो ने पूछा।

"मुझे कुछ पता नहीं। मुझे अपने पास ले चल।" लाजो सीधी न होती थी, पूरो की गोद को न छोड़ती थी।

"तुझे लेने तो आये ही हैं, और क्या करने आये हैं ! मेरी बात सुन।" पूरो ने लाजो को कन्धे से पकड़कर उठाया।

"हाय, मुझे ले चल !"

"पर तू सँभलकर बैठ, कोई आ जायेगा..."

"मुझे लेकर भाग चल। मैं सारी उमर तेरी बाँदी बनकर रहूँगी।"

"पागल न बन ! ऐसे भागकर मैं कहाँ ले जाऊँ? मेरी बात तो सुन।"

"हाय ! मैं कहाँ जाऊँगी, मैं यहीं तड़प-तड़पकर मर जाऊँगी।" लाजो रोये जा रही थी। पूरो को डर था कि बात भी न हो सकेगी और बुढ़िया आ जायेगी। पूरो ने अपने पल्ले से लाजो का मुँह पोंछा और समझा-बुझाकर उसे चुप कराया।

"कभी तो घर से बाहर निकलती है ?"

"नहीं।"

"पर सवेरे तो खेतों को जाती होगी !"

"वह साथ होती है।"

"आज संयोग से अमावस है, आज रात को जो तू बाहरवाले कुएँ के पास आ सके तो वहाँ तुझे रशीद घोड़ी लिये तैयार मिलेगा।"

लाजो जैसे झेंप गयी। रात को अकेले कुएँ के पास पहुँचना उसे अत्यन्त कठिन लग रहा था। फिर वह रशीद को भी नहीं जानती थी। और यदि किसी ने देख लिया तो फिर किसी की जान भी सलामत न थी।

"मैं घर से बाहर कैसे निकलूँगी ?"

"रात को जब सब सो जायें तब दावँ लगाकर निकल आना।"

"वह तो दारू भी पीता है। रात को जैसे-तैसे करके दो-चार घूँट ज़्यादा दे दूँगी, पर बाहर के आँगन में बुढ़िया..."

"बुढ़िया कुछ अफ़ीम-उफ़ीम नहीं खाती ?"

"मैं ने तो खाते नहीं देखा।"

"एक बार जो तू वहाँ पहुँच जाये..."

"पर वहाँ...मैं उसे जानती भी तो नहीं। जो वहाँ पर तू मिल जाये..."

"वह तो रातोंरात पैंडा मार लेगा और जो मैं भी साथ हुई तो फिर तो हम दोनों ही रह जायेंगी।"

"मैं ने तो उसे कभी देखा ही नहीं।"

"तू मुझ पर भरोसा कर। तेरी तसल्ली के लिए यह कर दूँगी। यह देख मेरे हाथ की यह अँगूठी उस के हाथ में पड़ी होगी, देख लीजो।"

"आज रात दावँ न लगा तब..."

"फिर कल रात, वह पूरी तीन रातें तेरी राह देखेगा।"

"गली में से आहट आ रही है, शायद कोई आ रहा है।"

पूरो खाट से उठकर नीचे बैठ गयी। खाट के पैताने खेसों को रखकर पूरो ने पल्ले में बँधी हुई राख की पुड़िया को देखा कि यदि बुढ़िया आ जाये तो उसे वह जन्तर और भस्म दे सके।

पर बुढ़िया अभी नहीं आयी थी।

"जो तू मुझे इस जन्तर के बहाने रोज़ किसी बावली या कुएँ पर ले जाये और फिर एक दिन...।" लाजो ने अपना स्वर पहले से भी धीमा कर लिया।

"इस तरह मेरे ऊपर पूरा शक हो जायेगा। मैं चाहती हूँ कि वह तुझे लेकर गाँव से निकल जाये और मैं बाद में भी दो-तीन दिन गाँव में फेरी लगाती रहूँ। मेरे ऊपर कोई उँगली न उठा सके।'"

"मुझे डर लगता है कहीं कोई रास्ते में ही न पकड़ ले।"

"फिर जो क़िस्मत में लिखा है वह तो होगा ही। आगे कौन-से करम सीधे हैं ?"

"पर मैं सारी उमर तेरे ऊपर भार बन जाऊँगी !"

"यह बातें फिर करेंगे, इन के लिए यह समय नहीं है। मेरी सलाह है कि मैं अब चलूँ, यही अच्छा है। आज बुढ़िया मुझे न देखे तो...

"हाय ! मुझे भी ले चल।" पूरो उठने लगी तो लाजो बच्चों की भाँति उस से चिपट गयी। पूरो ने दरवाज़े की ओर देखते हुए लाजो को कसकर अपनी छाती से लगा लिया और बोली, "आज रात...आधी रात को...कल पर मत डालना।" और फिर वह खेसों को सँभालकर घर से बाहर निकल गयी।

बान की खाट पर लाजो दोनों पैर पसारकर लेट गयी। आज उसे अपने शरीर के अंग-अंग में एक प्रकार की प्रफुल्लता का अनुभव हो रहा था। फिर जैसे लाजो को मकान की दीवारों में से आवाज़ आती सुनाई दी, 'आज रात...आधी रात को...।' लाजो ने दालान की एक-एक ईंट को देखा। 'यही मेरा घर था। यहीं मैं पैदा हुई, यहीं पली। यहीं मैं बड़ी हुई। इस घर से मेरी डोली निकली। यहीं लौटकर मैं मायके आयी। सब इस घर से चले गये, पर मेरा मुरदा यहीं पड़ा रहा। मैं अपने ही घर में परदेशी बन गयी। इसी घर ने मुझे पैदा किया, इसी घर ने मुझे खा लिया।' लाजो घर की चहारदीवारी को देखने लगी। 'इन दीवारों को भी लाज न आयी, इन्होंने मेरा सत्यानाश होते देखा, इन्होंने मेरी मर्यादा लुटती देखी, पर आज,...आज रात...आधी रात को...सभी दीवारें टूट जायेंगी, सभी चौखटें गिर पड़ेंगी...मैं...।'

बुढ़िया बाहर का भिड़ा हुआ दरवाज़ा खोलकर आँगन में आ गयी थी।

'बड़े अच्छे समय आयी है।' लाजो ने मन ही मन कहा।

"आज वह खेसोंवाली आनेवाली थी, अभी आयी तो नहीं ?" बुढ़िया ने आते

ही यह पहली बात पूछी और हाथ का साग-भाजी का बरतन धरती पर रखकर लाजोवाली खाट की पट्टी पर बैठ गयी।

खेसोंवाली का नाम सुनकर लाजो के मुख पर एक चमक-सी आ गयी। लाजो ने सिर हिलाकर कहा, "नहीं।" और फिर सोचने लगी, 'पूरो को यह कैसे पता लगा कि मैं यहाँ रह रही हूँ? वह मुझे क्यों ढूँढ़ने आयी? वह किस गाँव में रहती है? मैं ने उस से कुछ भी न पूछा। पूछने का समय भी कहाँ था।'—'आज रात...आधी रात को...' फिर यह ध्वनि लाजो के कानों से उठकर उस के कानों में ही समाने लगी।

"मैं ने कहा, एक मुट्ठी मोठ डालकर बटलोई में चावल चढ़ा दे। मैं तो थक गयी।" कहते-कहते बुढ़िया चारपाई पर निश्चल लेट गयी।

जिस प्रकार अन्तिम बार के काम को कोई जल्दी-जल्दी निबटाता है, उसी प्रकार लाजो ने उठकर मोठ बीने, चावल बीने और चूल्हे में दो-चार लकड़ियाँ लगाकर खिचड़ी पकने धर दी। पहले प्रायः बुढ़िया आटा गूँधती थी, पर आज स्वयं ही लाजो ने आटा छाना और गूँध लिया।

आज का दिन टूटे हुए जूते की भाँति बढ़ता ही जाता था। मुश्किल से करके रात आयी। आज जब बुढ़िया का लड़का घर आया तो लाजो को बहुत कड़वाहट न चढ़ी। पहले रोज़ जब लाजो उसे देखती थी, उसे लगता था मानो सैकड़ों ठीकरे उस के माथे पर टूटने लगे हों।

बटलोई में कड़छी घूमाते हुए आज तीन बार लाजो के हाथ से कड़छी छिटकी। दो बार उस के हाथों से बेलन छूट-छूट गया। एक-दो बार तो उस के हाथ से काँसे का कटोरा भी छूट गया।

"ढंग से काम कर।" एक-दो बार बुढ़िया ने खिजलाकर कहा।

"आँखें हैं कि बटन!" बुढ़िया के बेटे ने भी उसे टोका।

पर आज लाजो को बुढ़िया का एक बोल भी कुबोल न लग रहा था। बुढ़िया के बेटे की बात आज जैसे वह सुन ही नहीं रही थी। उसे लग रहा था, मानो घर का सब माल-असबाब भी आज बुढ़िया और उस के बेटे का मुँह चिढ़ा रहा हो।

लाजो में आज अपूर्व साहस आ गया था। न उस का जी डरता था, न उस के मन में कोई चिन्ता आती थी। बस, एक निश्चित समय, जैसे निकट, और निकट आता जा रहा था। अभी रात पड़ जायेगी, अभी सब सो जायेंगे, और जैसे साबुन लगे हाथ में से चूड़ी निकल जाती है, वह इस घर से निकल जायेगी।

पहले लाजो जलती-कुढ़ती उठकर शराब की बोतल बुढ़िया के बेटे के आगे लाकर धर देती थी, पर आज लाजो स्वयं ही भीतर से वह शराब की बोतल निकाल लायी जो बुढ़िया के बेटे ने इलायचियाँ डलवाकर दुगुनी आँच की खिच-

वायी थी और पुरानी और तेज़ होने के कारण अलग रखी हुई थी।

बुढ़िया का बेटा सोच रहा था, आज लाजो ने मोठ की खिचड़ी भी मलाई जैसी बनायी है, आज लाजो दारू की बोतल भी स्वयं निकाल लायी है, आज लाजो ख़ुश है, आज...।

बुढ़िया झपकियाँ ले रही थी।

"आँगन में ठण्ड हो गयी है, मैं ने तेरी खाट भीतर डाल दी है, जा भीतर जाकर लेट।" लाजो ने घर की मालकिन की भाँति बुढ़िया से कहा। एक बार बुढ़िया ने आँखें फाड़कर लाजो की ओर देखा।

'आज तो जैसे दिन ही पलट गये हैं। आज तो मैं इसे जन्तर पहनानेवाली थी, यह तो पहले ही असर हो गया दीखता है।' बुढ़िया ने अपने मन ही मन सोचा और भीतर जाकर लेट गयी।

रात का अन्धकार पल-पल गहरा होता जा रहा था। बुढ़िया का बेटा शराब में धुत होकर लाजो की बाँहें खींच रहा था।...

रात का पहला पहर कब का बीत गया था। बुढ़िया का बेटा शराब में धुत होकर खाट पर सो रहा था।

उस घर की दीवारों ने, उस घर की कड़ियों ने जहाँ पहले इतने परिवर्तन देखे थे, उस आधी रात को यह भी देखा कि लाजो दबे पाँव ड्योढ़ी का दरवाज़ा खोलकर उस घर की देहली से बाहर निकल गयी।

लाजो थोड़ी दूर चलती, उसे डर लगता, शायद कोई उस के पीछे-पीछे आ रहा है, किसी ने उसे कन्धे से पकड़ लिया है, किसी ने उसे गरदन से नाप लिया है। जाड़े की आधी रात की ठण्ड में भी लाजो के माथे पर पसीने की बूँदें आ गयी थीं।

यद्यपि अमावस की रात थी, फिर भी आकाश पर छिटके हुए तारों का प्रकाश भी लाजो को तीखा लग रहा था। अपने घर की दीवार लाँघने के बाद अगले घरों के रास्ते पर बढ़ते हुए लाजो एकाएक ठिठक गयी। लाजो ने गरदन घुमाकर अपने घर की लम्बी दीवार की ओर देखा। कोहरे की भाँति सारी गली में चुप्पी जमी हुई थी। फिर भी लाजो ने गली का सीधा रास्ता छोड़कर घरों के पिछली ओर वाला लम्बा रास्ता पकड़ लिया।

घरों की पंक्ति समाप्त हो गयी। बाहर के कुएँ तक पहुँचने के लिए एक लम्बा-चौड़ा मैदान पड़ता था। यहाँ लाजो के नंगे पैरों से एक कम्पन उठकर उस के माथे की नसों में फैल गया। लाजो ने पीछे मुड़कर क़ब्रों की भाँति सोते हुए घरों को देखा। अभी तक प्रलय नहीं हुई थी, अभी तक कब्रों में से कोई मुरदा नहीं उठा था। लाजो को अपनी साँस की आवाज़ भी सुनार की धौंकनी की भाँति सुनाई दे रही थी। पर लाजो के पास विचारों में डूबने के लिए समय भी कहाँ

था ! लाजो ने एक बार तारों के धुँधले प्रकाश को देखा, और मैदान में आगे बढ़ गयी।

लाजो के दिल को एक यह धड़का था कि मैदान में से जाते समय उसे दूर से कोई भी देख सकता था। लाजो के शरीर पर कपड़े भी कुछ सफ़ेद ही थे, उसे मैले अन्धकार में अपने कपड़ों की सफ़ेदी से भी डर लग रहा था। पर अब तो लाजो ने पूरा मैदान पार कर लिया था। उस ने घूमकर पीछे देखा। सारा मैदान ख़ाली था। कुएँ की ओर देखते ही लाजो का जी घबरा उठा। कुएँ पर कोई नहीं था। रशीद नहीं आया, अब वह कहीं की न रही। गाँव लौटने का विचार लाजो के लिए असह्य था। उस ने कुएँ का एक चक्कर लगाया, मानो अपने मन में धार लिया हो कि यदि अब इस संसार में उसे कोई जगह न मिली तो वह इसी कुएँ में डूब जायेगी।

चादर में स्वय को लपेटे हुए एक व्यक्ति पास की झाड़ियों में से निकला—"बहन, क्या तू लाजो है ?" उस व्यक्ति ने लाजो के पास आकर चादर में से अपना मुँह निकाला।

"भाई, मेरी निशानी दिखा दे।" लाजो ने रशीद की ओर एक दृष्टि देखा। रशीद के चेहरे पर मानो करुणा की मोहर लगी हुई थी। लाजो का चित्त स्थिर हुआ। रशीद ने अपने हाथ की अँगूठी लाजो के आगे कर दी।

"तुझे पहुँचाकर कल या परसों पूरो को ले जाऊँगा, बच्चे उसी के पास हैं।" रशीद कुएँ के घेरे से उतरकर झाड़ियों के पीछे बँधी हुई घोड़ी खोल लाया।

"या अल्ला !" रशीद ने एक बार कहा और लाजो को बाँह का सहारा देकर घोड़ी पर बैठा लिया।

घोड़ी को पहली एड़ लगाते ही रशीद को वह समय याद आ गया जब उस ने पूरो को छत्तोआनी के कच्चे रास्ते से उठाकर अपनी घोड़ी पर डाल लिया था। रशीद आज हैरान था, उसे फिर एक बार अपनी घोड़ी दौड़ानी पड़ी। गाँव की एक और नवयुवती फिर एक बार भगानी पड़ी। जवानी का वह उत्साह आज रशीद की बाँहों में नहीं था। पर रशीद सोच रहा था, पूरो को उठाने के बाद ज्यों-ज्यों वह अपनी घोड़ी दौड़ाता जाता था, मनों भार का एक पत्थर जैसे उस की आत्मा पर बैठता जाता था। कई वर्षों से वह बोझ उस की आत्मा पर पड़ा रहा था। आज ज्यों-ज्यों रशीद की घोड़ी रत्तोवाल की सीमाओं को दूर छोड़ती जाती थी, रशीद को लगता था कि उस की आत्मा पर पड़ा वह भारी बोझ सर-कता जा रहा है। घोड़ी को मानो पंख लग गये थे।

हमीदा

भोर के फैलते हुए प्रकाश के साथ ही लाजो के गुम हो जाने की ख़बर गाँव भर में फैल गयी। अभी दही में मथनियाँ पड़ी ही हुई थीं कि हर घर में लाजो की चर्चा होने लगी।

आसपास के गाँवों में किसी हिन्दू का नाम-निशान तक नहीं था, और कोई मुसलमान यह काम क्यों करता ! लोग हैरान-परेशान थे।

प्रकाश जल्दी-जल्दी बढ़कर चढ़ी हुई धूप बन गया था। उपलों के चूल्हों में दाल पक चुकी थी, स्त्रियाँ अभी तन्दूर गरम कर रही थीं जिन में से जलती हुई छिपटियों की सुगन्ध और धुएँ की लपटें निकलकर सारे गाँव पर छा रही थीं। तभी पूरो ने गाँव में प्रवेश किया।

आज लाजो के घर का दरवाज़ा किसी मृत पशु के मुँह की भाँति खुला हुआ था। पूरो ने जब उस घर के दरवाज़े के भीतर पैर धरा, आँगन में बिखरे हुए रात के जूठे बरतनों पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। पूरो ने देख लिया कि आज सवेरे से किसी ने कुछ खाया-पिया नहीं है।

"अरी, तू ने कहीं उस कलमुँही को देखा ?" बुढ़िया के माथे पर इतनी तेव-रियाँ चढ़ी हुई थीं कि जान पड़ता था जैसे किसी ने मिट्टी की हाँडी उस के माथे पर फोड़ डाली हो।

"कौन अम्मा ?" पूरो ने अपने सिर पर से खेस उतारकर आँगन में धरते हुए पूछा।

"अरी, वही चाण्डाल, अल्ला उस से समझे।" बुढ़िया ने फिर अपनी सारी घृणा अपने माथे के बलों में भरकर कहा :

"हाय, हाय, कौन ? बहू कहाँ है ?"

"वही जलजानी तो भाग गयी है।"

"हाय-हाय, किस के साथ ? मैं तो उस के लिए जन्तर और भसम लेकर

आयी हूँ ।"

"चूल्हे में जायें जन्तर और भसम ! उसे तो न जाने जिन ले गये या भूत ।"

"क्या कहती हो, अम्मा ! गाँव में कौन है जो ले जायेगा ! बाहर खेतों में गयी होगी, आ जायेगी अभी ।"

"लो सुनो ! खेतों में गयी है । धूप सिर पर आ गयी और..."

"पर अम्मा ! वह कोई रोटी का टुकड़ा तो नहीं जिसे कौए उठाकर ले गये ।"

"यही तो मैं कहती हूँ । क्या जाने किसी कुएँ में डूब मरी है, क्या जाने किसी जोहड़ में गिर पड़ी है ।...मैं तो पहले दिन से ही उस पर भरोसा नहीं करती थी । पर यह लड़का ही उस के चोचले किया करता था : कहता था, "अम्मा ! अब यह कहाँ जायेगी, इस का कोई सगा न पराया...।"

"क्यों, अम्मा ! उस के माँ-बाप किस गाँव के हैं ?"

"भाड़ में जायें माँ-बाप । मैं ने तो पहले दिन ही कहा था, ऐसे परायी ईंटों से घर नहीं बसते । पर उस का तो दिल जो आ गया था, बुढ़िया की कौन सुनता था !...ले, अब तुझ से क्या छिपा है, सारा गाँव जानता है, यह हिन्दुओं की बेटी थी । जब गाँव से हिन्दू भागने लगे, यह लड़का इसे कहीं से ले आया । अल्ला जानता है, मैं तो पहले दिन से ही कह रही हूँ, बेटियाँ-बहुएँ सब के होती हैं । अल्लादित्ता नाहक इस पाप की गठरी को उठा लाया है । न जाने कौन-से दिन यह पाप सिर से उतार सकेंगे..."

"अच्छा, यह बात थी ! तभी, अम्मा, वह पेरी हुई लगती थी । पर भागकर जायेगी कहाँ ? यहाँ उस का कोई आसपास का तो है नहीं । कौओं से बचेगी, चीलों में फँसेगी । मैं समझती हूँ वह किसी कुएँ-खाई में गिर-गिरा पड़ी है, चाहे वह जानकर मरी है, या फिर उस की ऐसे ही आयी हुई थी ।"

"हम पर से कलंक तो हटा । पर लड़के ने मेरी जान खा रखी है । कहता है : तू अन्धी थी जो तुझे पता न लगा, वह कोई चिड़िया का बच्चा तो नहीं है जो किसी ने उसे अपनी जेब में डाल लिया ।"

"पर, अम्मा, वह पहले भी कभी घर के बाहर अकेली जाती थी ?"

"कहाँ ! उसे क्या मरों के पास जाना था ! पहले-पहले तो जब मैं लड़के को रोटी देने जाती थी तो बाहर से ताला लगा जाती थी । फिर लड़के ने भी कहा और मैं ने भी सोचा कि यह बेचारी जायेगी कहाँ ! जो किसी के सिर पर आठों पहर सवार रहो तो उस का जी घर में भी नहीं लगेगा । वह दोपहर को ही घड़ी-दो घड़ी बस घर में अकेली रहती थी । कल भी मैं रोटी देकर आयी हूँ, अच्छी-भली यहाँ बैठी हुई थी । मोठ डालकर रात को खिचड़ी बनायी, बथुए का साग पतीले में पकाया, रोटियाँ सेंकीं, हम माँ-बेटों को खिलायीं, खुद खायीं; फिर मेरी

चारपाई भीतर डाल गयी; कहे, अम्मा आँगन में अब ठण्ड हो गयी है; लड़के ने ज़रा दारू पी, फिर मैं तो सो गयी। फिर पता नहीं कैसी होनी किस समय हो गयी। सवेरे उठी हूँ तो मैं ने आवाज़ें दीं, पर कोई हो तो बोले..."

"मैं ने कहा, कुएँ-जोहड़ दिखवाये हैं या नहीं ? वह किसी के साथ निकल जानेवाली तो दिखाई नहीं देती थी।"

"जाना भी किस के साथ था !..." बुढ़िया ने अपने सिर को अपने घुटनों पर रख लिया।

"बड़े अचरज की बात है। मांस की बोटी तो थी नहीं कि कुत्ते-बिल्ली ने उसे मुँह में डाल लिया। गाँव तो तुम ने ढुँढ़वा लिया होगा ?"

"हाँ, सवेरे से गाँव का एक-एक आदमी यहाँ आ चुका है। लोगों ने चप्पा-चप्पा भूमि छान मारी है। इस समय तो मेरा अल्लादित्ता और गाँव के कुछ लड़के कुएँ पर गये हुए हैं। जो कहीं मरी हुई की लाश भी मिल जाये तो लड़के के मन में यह तो न रह जायेगा कि न जाने कहाँ गयी। लड़के की जान सलामत रहे, औरतें और बहुतेरी..."

अब तक पूरो के मुख पर हर्ष और शोक के भाव उतरते-चढ़ते रहे थे, अब दो-तीन आदमी बाहर से आ गये।

"हम तो सारे कुएँ-खाई देख आये हैं, उस की तो कहीं हड्डी-पसली भी नहीं मिलती।" कहकर तीनों आँगन में पड़ी खाटों पर बैठ गये।

"खाये अपने माँ-बाप को ! तू ने क्यों अपनी जान को रोग लगा लिया है ! उठा लिया होगा भूत-प्रेतों ने।" बुढ़िया ने अल्लादित्ता की ओर मुख करके बड़े प्यार से कहा। पूरो ने समझ लिया, यही अल्लादित्ता है।

पूरो को लाजो का उतरा हुआ चेहरा याद आ गया, और उसे लगा कि मानो लाजो का मुँह उस चिड़िया के पिंजर की भाँति हो जो इस ग़लीज़ चील के पंजों में कई दिन तक फँसी रही हो।

"मेरी समझ में तो वह रात-बिरात उठकर बाहर गयी है, और उसे कोई जानवर उठा ले गया है।" उन में से एक ने अल्लादित्ता की ओर मुँह करके कहा।

"यहाँ तो कोई गीदड़-लोमड़ी भले ही फिरती हो, और इस गाँव के पास कौन-सा जानवर आया होगा !" दूसरे ने पास बैठे हुए कहा।

"हमारी तरफ़ से चोर ले गये, ले जाये। तू उठकर दो कौर तो मुँह में डाल।" बुढ़िया ने अपने पुत्र को दिलासा देने के लिए कहा और उठकर रोटी-टुकड़े का प्रबन्ध करने लगी।

"अच्छा, अम्मा ! अल्ला तेरे जी को शान्ति दे, मैं चलती हूँ।" पूरो ने खेसों की बँधी-बँधाई गठरी सिर पर उठा ली।

"मैं ने कहा, तू कौन है ?" अल्लादित्ता ने पूरो की ओर घूरकर देखते हुए कहा। अब तक पूरो को गाँव की ही कोई स्त्री समझते हुए अल्लादित्ता ने ध्यान नहीं दिया था, पर खेसों की गठरी उठाते हुए उसे देखकर अल्लादित्ता ने उस से घुड़ककर पूछा।

"यह कौन है! खेस बेचती है, और कौन है!" पास से ही बुढ़िया ने उतर दिया।

"मैं ने पहले तो तुझे कभी नहीं देखा गाँव में ?" अल्लादित्ता ने सन्देहपूर्वक पूछा।

"कितने दिनों से तो बेचारी यहाँ बेचती फिरती है!" बुढ़िया ने फिर लड़के को डाँटते हुए कहा।

"पर तू किस गाँव से आयी है ?" अल्लादित्ता ने पूरो की ओर मुख करके कहा।

"दो बालक मेरी गोदी में हैं, गाँव में घूम-घूमकर दो-चार पैसे कमा लेती हूँ।" पूरो का मन कर रहा था कि किसी प्रकार पंख लगाकर वहाँ से उड़ जाये। क्यों वह गाँव में रह गयी ? रात को वह भी साथ चली जाती तो कौन उस का पता लगा सकता था !

"पर तू हिन्दू है कि मुसलमान ?" अल्लादित्ता का शक अभी तक दूर नहीं हुआ था। उस के दोनों साथी मुसकराने लगे।

"क्यों भाई, क्या सलाह है ? क्या अब इसे घर में डालोगे ?" अल्लादित्ता के एक साथी ने उसे चुटकी काटते हुए कहा।

"क्या कहते हो, भाई ! मैं यहाँ हिन्दू कहाँ से आयी ?" और पूरो ने परे पड़ी हुई जूती को अपने पाँव में अड़ाया और गठरी सँभालकर बाहर जाने लगी।

"हिन्दू का नाम उस के माथे पर तो लिखा हुआ नहीं होता।" अल्लादित्ता ने फिर ज़ोर से कहा।

"तेरा तो, भाई, शक दूर ही नहीं होता, यह देख मेरा नाम हमीदा है।" और पूरो ने दलहीज़ में खड़े-खड़े अपनी बायीं बाँह पर गुदा हुआ नाम दिखा दिया।

"जा, भई, जा, इस का तो सिर फिरा हुआ है।" बुढ़िया ने कहा।

"मुझे अगर कुछ पता चला तो मैं ख़ुद आकर बताऊँगी, अम्मा !" कहते-कहते पूरो तेज़ क़दमों से गली में हो ली। बावली वाली कोठरी में पूरो ने अपने दोनों बालक छोड़े हुए थे। जावेद अब सयाना हो चला था, वह छोटे लड़के को बहलाये रखता था।

पूरो ने वह रात घड़ियाँ गिन-गिनकर काटी। दूसरे दिन सवेरे रशीद लाजो को सक्कड़आली अपने घर छोड़कर पूरो के पास लौटकर आनेवाला था। वही

रात रत्तोवाल में पूरो की अन्तिम रात थी। पूरो तारे गिनती दोनों बालकों को लेकर चारपाई पर पड़ रही।

आज रत्तोवाल में पूरो की सारी मनोकामनाएँ पूरी हो गयी थीं। पूरो को पिछली बार रत्तोवाल आने का ध्यान आया, खेतों में, क्यारियों में अपना घूमना याद आया। फिर अन्तिम दिन रामचन्द का खेत में मिलना याद आया...पिछली बार पूरो ने रामचन्द के खेत देखे थे...इस बार पूरो ने रामचन्द का वह घर, वह आँगन भी देख लिया जिसे देखने की लालसा उसे वर्षों से थी। पूरो सोचने लगी, इस घर में उस को घर की बहू बनकर आना था, इस घर में उस की बहन ब्याह कर आयी। इस घर में उस का भाई बरात लेकर आया, पर उस ने इस घर का मुँह कब देखा जब कि इस घर में घर वालों की छाया भी शेष न रही। इस घर के जबड़ों में उस ने केवल लाजो का पिंजर देखा...शुक्र है लाजो की क़ैद अब ख़त्म हो गयी थी। पूरो फिर सोचने लगी, आज तो वह स्वयं ही उस घर के पिंजर में फँसी हुई थी, 'हमीदा' नाम ने उसे बचा लिया।

पता नहीं, किस समय पूरो की आँख लगी और रात का अन्धकार धीरे-धीरे सवेरा बन गया।

सक्कड़आली में

आने-जाने का पूरा इक्का करके रशीद रत्तोवाल आया और पूरो को लेकर सक्कड़आली लौट गया।

लाजो की दोनों बड़ी-बड़ी आँखें मानो बन्द दरवाज़े पर ही लगी हुई थीं, उस ने पूरो के पहुँचने के पहले ही खड़ाक से बन्द दरवाज़े का कुण्डा खोल दिया। रशीद ने एक ताला बाहर से लगा दिया था जिस से गाँव के लोगों को शक न पड़े। ड्योढ़ी का दरवाज़ा अन्दर से बन्द करके पूरो, लाजो और रशीद अपने मकान की सब से पिछली कोठरी में एक बार तो ऐसे बैठे गये मानो शेर से डरे

हुए हिरनों की डार को कोई नयी खोह मिल गयी हो।

लाजो और पूरो—दोनों को लगा मानो वे साथ खेली हों, साथ पली हों, दोनों एक-दूसरे की आत्मा हों, पर समय के फेर के कारण वर्षों के लिए बिछुड़ गयी हों और आज किसी तूफ़ान के बाद, किसी आँधी के बाद दोनों फिर अपने आप मिल गयी हों, वर्षों के विरह और जीवन की कहानियाँ दोनों के होंठों पर जमकर रह गयी हों। दोनों ही अपनी-अपनी कहनेको व्याकुल थीं, दोनों ही एक-दूसरे की सुनने को व्याकुल थीं।

खाने-पीने से निबटते-निबटते दिन अच्छी तरह चढ़ गया था। रशीद यह बात समझता था कि दोनों को अकेले में बैठकर एक-दूसरे से अपने दिल की कह-सुन लेनी चाहिए। वास्तव में आरम्भ से ही रशीद दिल का खोटा नहीं था। वह सोचता था, पूरो के साथ उस के कुछ लेन-देन के हिसाब थे, नहीं तो वह इतना बुरा आदमी नहीं था कि रास्ता चलती किसी की शरीफ़ बहन-बेटी को ज़बरदस्ती अपने घर में डाल लेता। पूरो को अपनी स्त्री बना लेने के बाद रशीद ने कभी आँख उठाकर किसी की बहन-बेटी को नहीं देखा था।

दोनों बालकों को लिटाकर दोनों जनी भीतर वाली कोठरी में खाट डालकर लेट रहीं। रशीद उस दिन साथ के बरामदे में सोया।

"रत्तोवाल का क़ाफ़िला इसी गाँव से गुज़रा था।" पूरो ने ही बात चलायी।

"तू ने देखा था ?" लाजो और पूरो अभी तक मिलकर नहीं बैठ सकी थीं। लाजो को कुछ पता न था कि पूरो ने उसे क्यों और कैसे ढूँढ़ निकाला।

"मैं तेरे भाई से मिली थी, तभी तो मुझे तेरा पता लगा।"

"हैं ?..."

"हाँ।" और क़ाफ़िले के दिन वाला रामचन्द का मुख पूरो की आँखों के सामने आ गया।

"तू ने उसे कैसे पहचाना ? तू ने तो उसे कभी देखा भी न था !" लाजो के मन में अनेक बातें उठ रही थीं, कैसे पूरो की उस के भाई के साथ सगाई हुई थी, कैसे उस के भाई का विवाह रचा जाने वाला था, कैसे फिर पूरो एकाएक गुम हो गयी थी, फिर पूरो की छोटी बहन उस के भाई को ब्याही गयी थी।

"मैं ने उसे एक बार पहले भी देखा था।" पूरो ने रत्तोवाल के खेतों वाली बात लाजो को सुनायी। पूरो ने यह भी बताया कि उस समय तक उसे यह पता न था कि रामचन्द उस का बहनोई बन चुका है।

"मुझे कभी भी कोई ख़ैर-ख़बर नहीं मिली। केवल जिस दिन क़ाफ़िला इधर से गुज़रा...मरे हुओं को भी लोग याद करते हैं, उन के नाम से श्राद्ध खिलाते हैं, कभी-कभी घर में कोई मेरा नाम भी ले लेता होगा ?" पूरो का गला भर आया।

लाजो ने उसे बताया कि उस का पिता दो साल हुए मर चुका था, उस की माँ कई बार उस का नाम ले-लेकर रो लेती थी।

"मेरी माँ के करम, बेटी भी उस की जीते-जी मर गयी और बहू भी।" पूरो ने कहा, और पूरो और लाजो दोनों रोने लगीं।

बूचड़ख़ाने की गायों की भाँति दोनों अपनी चारपाइयों की पट्टियों से लगी पड़ी रहीं।

"तू जब वहाँ जायेगी, मेरी माँ से मिलेगी तो उस से कहना कि एक बार मुझ जीती का मुँह तो देख ले..." पूरो ने और भी रोकर कहा।

"मैं...मैं वहाँ जाऊँगी..."

"तू अपने घर जायेगी, अपने पति के पास, अपने भाई के पास।"

"मैं तो जीती मर चुकी हूँ, मुझे अब कौन क़बूल करेगा ?"

"नहीं, लाजो, मैं अपने जीते यह अन्याय न होने दूँगी। तू अपने घर जायेगी। तेरा इस में क्या दोष है ?"

"पर तेरा ही क्या दोष था ? तुझे आज तक घर वालों ने न बुलाया !"

"मेरी बात और थी, लाजो !"

"तेरी बात और कैसे थी ? तू क्या अपनी मरज़ी से आयी थी ? तू भी तो..."

"हाँ, लाजो ! पर तब मैं अकेली थी। मेरे माँ-बाप को साहस न हुआ कि वे लोगों की बातें सुन सकें, और उन्होंने अपनी ममता को अपने से अलग तोड़कर फेंक दिया। अब किसी एक को नहीं, सब के कलेजे पर लगी है।"

"नहीं, पूरो ! मेरी क़िस्मत अच्छी होती तो पहले ही मेरे साथ यह अत्याचार न होता। मैं जानती हूँ मुझे कोई लेने नहीं आयेगा।"

"मैं कहती हूँ, तेरे भाई का पत्र ज़रूर आयेगा। हम तेरा पता देंगे और वे तुझे लेने ज़रूर आयेंगे।...अच्छा यह तो बता, मेरा भाई देखने में कैसा लगता है ?" पूरो ने लगाव से पूछा।

लाजो को अपने पति का ध्यान आ गया। वह कैसे उस का मुख देख सकेगी, वह कैसे घर वालों के सामने पड़ सकेगी—लाजो सोचने लगी। पर उस के दिल में मानो विश्वास था कि उसे लेने कोई नहीं आयेगा, वैसे मन के लड्डू वह चाहे जितने मन में फोड़ ले।

"नहीं, लाजो ! कोई न कोई तुझे लेने ज़रूर आयेगा। आज किसी को किसी से शिकायत नहीं, सब अपनी बेटियों, बहनों को ले जा रहे हैं। रशीद कहता है, उधर से भी ढूँढ़-ढूँढ़कर लोग अपनी स्त्रियों को वापस ला रहे हैं, कइयों के तो बच्चे भी हो गये हैं।" और फिर दोनों की दोनों गुमसुम होकर स्त्रियों की इस विवशता पर विचार करने लगीं।

लाजो सोचने लगी, आज तक उस के घर कोई बाल-बच्चा नहीं हुआ था, पता नहीं उस में क्या दोष था। आज यही दोष उसे फला, नहीं तो न जाने उस की क्या दुर्दशा होती।

"जहाँ वे एक के लिए रोते हैं, अब दो के लिए रो लेंगे। मैं कहीं नहीं जाऊँगी, पूरो! मैं क्या मुँह लेकर जाऊँगी! मैं तेरे बालकों की टहल करके रोटी खा लूँगी।"

"ऐसे क्यों कहती है, लाजो! मेरे घावों पर नमक मत छिड़क। यह तेरा अपना घर है। पर लाजो! वे तुझे ज़रूर ले जायेंगे। मैं सारी दुनिया का वास्ता देकर उन्हें मना लूँगी।"

पूरो ने लाजो को अपनी बाँहों में कस लिया:

"तू अपने घर मज़े में है, पूरो?"

"रशीद का पीठ-पीछा है। पहला गुनाह जो इस ने किया सो तो किया, पर उस के बाद इस ने मुझे कभी बुरा-भला नहीं कहा। वह मेरे साथ न होता तो मैं तुझे खोजकर कैसे ले आती?"

"मुझे ले आने में उस ने अपनी जान बड़ी जोखिम में डाली। जो कहीं उस राक्षस को पता चल जाता तो वह मेरी हड्डियों को फूँककर ही पानी पीता..."

"वे कहाँ फूँकते हैं, बावली! वे लोग तो गाड़ देते हैं।"

"कुछ सही, पर, पूरो, कहीं वह इस गाँव का पता तो नहीं लगा लेगा? मेरा तो जी डरता है, कहीं तुम्हारा बसा हुआ घर न उजाड़ दे।"

"अभी तक तो उन्हें तेरी परछाईं का भी पता नहीं लगा है!" और पूरो ने लाजो को खो जाने के बाद बुढ़िया और बुढ़िया के बेटे से अपने मिलने की सारी बात कह सुनायी।

"पहले भी इसी पिछली कोठरी में कई दिन तक मैं ने एक हिन्दू लड़की छिपाकर रखी थी। किसी को उस की हवा तक न लगने दी। फिर उस दिन मैं उसे क़ाफ़िले में छोड़ आयी। तुझे भी यहाँ भीतर चोरी-चोरी रखूँगी, ताकि गाँव में कहीं कुछ बात न उड़ जाये। जिस दिन ख़त-पत्र आ गया, तुझे चुपके से ले जाकर लाहौर छोड़ आयेंगे। किसी को कानोकान ख़बर भी न होगी।"

"और जो उन का पत्र न आया..."

"मेरा दिल गवाही देता है, लाजो! तेरा भाई अवश्य पत्र डालेगा।"

हिचकोले

दिन पर दिन बीतते गये, भोर होती, साँझ होती। न लाजो की ख़बर घर के बाहर निकली, न लाजो के घरवालों की कोई ख़ैर-ख़बर आयी। वैसे पूरो और लाजो हर घड़ी साथ रहती थीं। रात को जब उन की आँखों में नींद घुल जाती, दोनों की आँखों में सपने ही सपने बिखर जाते थे। मुँह-अँधेरे उठकर वे बातें करने लगतीं, सपनों के शकुन-अपशकुन विचारतीं। कभी उन का मन चक्कर में पड़ जाता, कभी उन का मन स्थिर हो जाता। कितनी ही बार लाजो बालकों की भाँति चूल्हे में से कोयला निकालकर धरती पर लकीरें खींचने बैठ जाती, कभी शकुन शुभ निकलता, कभी अशुभ। कभी बातें करते लाजो की आँखों से आँसुओं की धाराएँ बह निकलतीं, कभी वह पूरो के बच्चों के साथ खेलकर अपना जी बहला लेती। वैसे लाजो के मन में प्राय: निराशाजनक बातें ही उठा करती थीं। उसे आशा नहीं थी कि कभी कोई उसकी ख़बर लेगा। पर पूरो के मन को अन्दर से न जाने कौन बढ़ावा देता था कि किसी दिन चुपके से कोई आ पहुँचेगा, किसी दिन अचानक ही कोई ख़त-पत्र आ जायेगा, लाजो के दिन फिर जायेंगे। पूरो ने अपनी ओर से लाजो का आतिथ्य-सत्कार करने में कोई क़सर न उठा रखी थी। वह सोचती थी कि लाजो थोड़े दिनों के लिए धरोहर के रूप में उस के पास है, फिर शायद वह उस से कभी न मिल सकेगी, उसे कभी न देख सकेगी, सबों के मुख भी उस समय केवल लाजो की मुखाकृति में ही दीख पड़ते थे। कौन उस के घर रहने के लिए आयेगा, कौन उसे मिलने के लिए आयेगा! उस के अपने सम्बन्धियों में से लाजो ही उस के घर की प्रथम तथा अन्तिम अतिथि थी।

दिन के प्रकाश में लाजो ने कभी डयोढ़ी न लाँघी थी। रात के अन्धकार ने लाजो का भेद बड़े ही ध्यान से सुरक्षित रखा था। पर गाँव के डाकिये ने तीन पैसे वाला कार्ड भी उस के आँगन में न फेंका।

लाजो और पूरो के मुख पर चिन्ता की रेखाएँ दीखने लगीं। लाजो के मन को केवल एक यह सन्तोष अवश्य था कि पूरो और रशीद ने कभी उसे जी छोटा

करने न दिया। पर सारा-सारा दिन छिपे हुए, दुबके हुए लाजो सोचती कि पहाड़ जैसी उमर उस के सिर पर लटक रही है, कब इस प्रतीक्षा के दिन पूरे होंगे !

पूरो का किसी के यहाँ बहुत आना-जाना नहीं था। लाजो पिछली कोठरी में ही उठती-बैठती थी। दोपहर को कभी-कभी दोनों जनी बाहर का कुण्डा लगाकर चरखा कातने बैठ जाती थीं। दिन बीत जाता था, पर सोचें ख़त्म होने में नहीं आती थीं।

जाड़ा बीत चुका था। फागुन भी बीतने को था। पानी में ठण्ड न रही थी। एक दिन ढलती दोपहरी के समय जब रशीद ड्योढ़ी लाँघकर घर आया तो लाजो और पूरो को देखते ही उस की आंखें डबडबा गयीं।

सहमी हुई दोनों उस के पास आयीं। कई मिनट तक वह कुछ न बोल सका। लाजो को लग रहा था, कोई उस के कलेजे को बाहर खींच रहा है। उसे एक यही डर था कि कहीं रत्तोवाल की बुढ़िया और उस के बेटे को लाजो का पता लग गया है, वे उसे ज़बरदस्ती घसीटकर ले जायेंगे; पता नहीं, पूरो पर क्या बीते !

रशीद चारपाई की पट्टी पर बैठ गया, कुरते की बाँह से दोनों आँखें पोंछकर उस ने लाजो की पीठ पर प्यार से थपकी दी। उस के हाथों में वही प्रेम था जो एक बुज़ुर्ग पिता को लड़की को ससुराल भेजते समय होता है। रशीद का दिल भर आया था। उस ने अपने मन को स्थिर करके कहा, "आज रामचन्द आया है।"

"यहाँ ?" लाजो और पूरो एक साथ बोल उठीं।

"हाँ, साथ में हिन्दुस्तान पुलिस के कुछ सिपाही हैं, कुछ पाकिस्तान के। लोग इसी तरह गाँवों और शहरों में खोयी हुई लड़कियों को ढूँढ़ रहे हैं। रामचन्द मुझे अकेले में भी मिला था।" रशीद कह रहा था।

"सचमुच मुझे लेने आये हैं ?" लाजो के मुख से अकस्मात् ही निकल गया, पर फिर वह स्वयं ही लज्जित-सी हो गयी।

"पगली कहीं की, और वह यहाँ क्या करने आये हैं ?" रशीद ने कहा।

पूरो अभी तक चुप बैठी थी। उसे अपने अन्तस्तल में एक अपूर्व प्रसन्नता का अनुभव हो रहा था, क्योंकि उस का विश्वास सत्य सिद्ध हुआ था। वह जानती थी रामचन्द आयेगा, वह जानती थी उस की भाभी अपने ठिकाने पहुँच जायेगी। लाजो तो व्यर्थ ही दिल हार बैठती थी। जिन दिनों रशीद भी निराश-सा हो जाता था, पूरो के मन में मानो कोई गवाही देता था कि रामचन्द अवश्य आयेगा। सो आज वह दिन आ गया था। रामचन्द सचमुच ही आ गया था।

"क्या अकेला आया है ?" लाजो ने पूछा।

रशीद समझ गया कि लाजो के इस प्रश्न का क्या अर्थ है। बोला, "हाँ, अभी तो अकेला ही आया है। पर तू चिन्ता न कर ! तेरे घर के सब के सब तुझे सिर-आँखों पर बिठलाकर ले जायेंगे।"

लाजो के मन को कुछ सन्तोष हुआ।

"तेरा नाम सुनकर, तेरी ख़बर सुनकर रामचन्द रोता ही रहा, उस के आँसू किसी तरह थमते न थे। उसे देखता था तो मेरा जी भी भर-भर आता था।" रशीद की आँखें फिर भर आयीं। लाजो और पूरो रोने लगीं।

"मैं ने उन्हें अच्छी तरह समझा-बुझा दिया है। आज तुझे यहाँ पर इसी तरह दे देने से सारे गाँव को ख़बर हो जाती। कौन जाने बात रत्तोवाल तक भी पहुँच जाती। मैं ने उन से कहा है, तुम वापस लाहौर चलो, मैं लड़की को लेकर लाहौर पहुँचता हूं, वहाँ तुम्हारे हवाले कर दूँगा।"

"यह अच्छा किया।" पूरो ने कहा।

"हम वहाँ आज से पाँचवें दिन पहुँचेंगे। तब तक वह अमृतसर से पूरो के भाई को भी बुला लेंगे। मैं ने सोचा, एक बार पूरो भी अपने भाई से मिल लेगी।" रशीद लाजो की पीठ पर प्यार से हाथ फेरता हुआ कह रहा था।

पूरो की रुँधी हुई रुलाई निकल गयी। लाजो ने पूरो की गोदी में सिर रख-कर उसे अपने से चिपटा लिया। दोनों एक-दूसरे में खोयी हुई थीं, दोनों एक-दूसरे के दुख की साझीदार हो गयी थीं, दोनों के आँसू आपस में मिल गये थे।

लाहौर का रास्ता मुश्किल से कोई डेढ़ दिन का था। यहाँ से चलने में अभी पूरे तीन दिन रहते थे।

अगले दिन पूरो ने बेसन मँगवाया, इकट्ठा किया हुआ भैंस के दूध का मक्खन निकाला, बादाम और मेवा डालकर पूरो दिन भर लड्डू बनाती रही। जैसे लड़कियों को ससुराल विदा करते समय किया जाता है, पूरो ने एक रेशमी जोड़ा निकाला। लाजो को वह बार-बार अपने गले से लगाती, बार-बार उस से मिल-कर रोती।

तीसरे दिन दोनों बालकों को साथ लेकर पूरो, लाजो और रशीद मुँह-अँधेरे ही गाँव से निकलकर रेलगाड़ी पर सवार हो गये।

पिछले चार दिनों से पूरो के हृदय में अनेक प्रकार के विचार उठते रहे थे, उस की रातें सोचते-सोचते बीती थीं। पूरो अपने मन में निश्चय करती, 'मैं लाजो से कहूँगी, मेरी माँ से जाकर यह कहना, मेरी माँ को जाकर यह बताना, उस से कहना, एक बार मुझ जीती का मुँह तो देख ले...' सोचते-सोचते पूरो का गला भर आता, सोचते-सोचते पूरो को कहने के लिए बहुत कुछ सूझता, सोचते-सोचते फिर पूरो के मुँह से एक बात भी न निकलती थी।

लाजो को अपने भाई और अपने पति का मुख देखना बड़े ही अचरज की बात जान पड़ती थी, ऐसी ही जैसे कोई मरकर अगली दुनिया में बिछुड़े हुए लोगों से मिलने की आशा रखता हो। यद्यपि लाजो को अपने घरवालों से बिछुड़े हुए पाँच-छह महीने ही हुए थे, उस को लगता था कि वह एक बार मरकर इस धरती

पर जीवित हो गयी है।

सारे रास्ते दोनों का मन हिचकोले खाता रहा।

एक घड़ी

पुलिस के पहरे में जब वे मिले, लाजो से अपनी पलकें उठाये न उठती थीं। पूरो ने अपने भाई के मुख की ओर देखा। मिलन की इस एक घड़ी के एक ओर चिरकाल का विछोह था, मिलन की इस घड़ी के दूसरी ओर असीम विछोह दृष्टिगोचर हो रहा था। किसी के भी आँसू थमने में न आते थे।

मरद-मानसों का जिगरा भी टूट गया था। होनी का जो यह पहाड़ उन पर टूट पड़ा था उस के आगे किसी को किसी से कुछ पूछना न रह गया था। रो-रोकर उन्होंने अपने हाथ भिगो लिये, रो-रोकर उन्होंने अपने कपड़े भिगो लिये।

"सुनना जी! कभी भूल से भी लाजो का निरादर न करना।" सब से पहले पूरो बोली।

लाजो के पति का मुँह नीचा था, लाजो के भाई का मुँह नीचा था।

"पूरो, हमें लज्जित न कर।" लाजो के भाई ने कहा।

लाजो का पति कुछ न बोल सका। शायद वह कुछ सुन भी न सका था। आज उस ने केवल अपनी खोयी हुई पत्नी ही नहीं देखी थी, बल्कि अपने होश सँभालने से पहले की खोयी हुई अपनी बहन को देखा था। वर्षों से उस के हृदय में एक आग सुलगती रही थी, जिस की एक चिनगारी उस ने रशीद के खेत में लगा दी थी जिस से सब कुछ जलकर राख हो गया था। अनेक वर्षों से वह उस राजकुमारी की कहानी के सम्बन्ध में सोचता रहा था, जिसे एक दैत्य चुराकर ले गया था और फिर पूर्व देश का एक राजकुमार उसे अपने जादू के तीरों के बल से छुड़ाकर लाया था। छटपन में उस ने कई बार साधू-सन्तों से जादू के वह तीर माँगे थे। बड़े होने पर पूरो के ध्यान से वह व्याकुल हो उठता था। आज वर्षों की खोयी हुई पूरो उस की आँखों के सम्मुख बैठी थी। इस घड़ी वह भूल गया था

कि रशीद ने उस की पत्नी को बचाया है, इस घड़ी उसे केवल यही याद था कि रशीद उस की बहन को उठाकर भाग गया था ।

पुलिस की लारी तैयार हो गयी । हिन्दुस्तानी पुलिस के सिपाहियों ने आवाज़ दी, "उधर जाने वाले हिन्दू एक ओर हो जायें । लारी तैयार है ।"

रामचन्द ने रशीद को बार-बार अपने गले से लगाया और बार-बार कहा, "भाई, तेरी बड़ी कृपा है, मैं तेरा उपकार कभी नहीं भूलूँगा ।" रशीद के मुख पर यह उपकार करने की प्रसन्नता तो थी, पर उस की आँखें लाजो को बचाने के बाद भी लज्जित थीं । उसे पूरो को उठाकर भगा लाना याद आ रहा था । फिर भी उसे लग रहा था कि उस के सिर पर चढ़ा हुआ ऋण कुछ न कुछ कम हो रहा था ।

आवाज़ फिर आयी, " उधर जाने वाले हिन्दू एक ओर को हो जायें ।"

पूरो ने वह रेशमी जोड़ा और बेसन के लड्डुओं की गठरी लाजो के हाथ में थमा दी, लाजो को कसकर अपने गले से लगाया और फिर अपने भाई से अन्तिम बार मिलते हुए उस के गले से लिपट गयी ।

"पूरो...!" पूरो का भाई केवल इतना ही कह सका और उस ने पूरो की बाँह को कसकर पकड़ लिया ।

"मेरी बात सुन, इस समय..." पूरो के भाई ने साहस करके कहा । पूरो अपने भाई की बात समझ गयी । पूरो के मन में भी एक बार रीझ उत्पन्न हुई, 'जो मैं इस समय कह दूँ मैं एक हिन्दू स्त्री हूँ तो मुझे अवश्य ही वह इन सब के साथ लारी में बिठाकर ले जायेंगे । मैं भी लौट सकती हूँ, लाजो की भाँति...देश की हज़ारों लड़कियों की भाँति..."

पूरो की आँखों में रोके हुए आँसू उभर आये । उस ने धीरे से अपने भाई के हाथ से अपनी बाँह छुड़ा ली और परे खड़े हुए रशीद के पास जाकर अपने लड़के को उठा कर अपने गले से लगा लिया ।

"लाजो अपने घर लौट रही है, समझ लेना कि इसी में पूरो भी गयी । मेरे लिए तो अब यही जगह रह गयी है ।" पूरो ने धीरे से अपने भाई से कहा जो लारी पर चढ़ रहा था ।

रामचन्द ने नतमस्तक हो पूरो के आगे हाथ जोड़े, शायद अन्तस्तल की कोई पीड़ा उस के होंठों पर आकर जम गयी थी, वह कुछ बोल न सका ।

'चाहे कोई लड़की हिन्दू हो या मुसलमान, जो भी लड़की लौटकर अपने ठिकाने पहुँचती है, समझो कि उसी के साथ पूरो की आत्मा भी ठिकाने पहुँच गयी ।' पूरो ने अपने मन में कहा, और अपनी आँखों को धरती की ओर झुकाकर रामचन्द को अन्तिम प्रणाम किया ।

लारी चल पड़ी थी । ख़ाली सड़क पर धूल उड़ने लगी ।

नागमणि

बत्ती के चारों तरफ़ पीतल की छलनी जैसा खोल चढ़ा हुआ था। कुमार जब भी इस बत्ती को जलाता, बत्ती की रोशनी पीतल के सूराख़ों में से दूध की धाराओं की तरह बहने लगती जिस से कमरे की दीवारें और कमरे का फ़र्श रोशनी से छिटका हुआ दिखता। यह बत्ती कमरे की छत में लगी हुई थी। दूसरी बत्ती कुमार की मेज़ पर लगी हुई थी। बत्ती के माथे पर पीतल का एक ढक्कन लगा हुआ था जिस से छितराकर इस बत्ती की रोशनी मेज़ पर रखे हुए शीशे के प्याले में भर जाती थी, और प्याला हर समय छलकता हुआ दिखाई देता। कुमार जब कुछ सोच रहा होता तो उस की मेज़ की बत्ती बुझी हुई होती, और छत की बत्ती जल रही होती थी। पीतल के सैकड़ों सूराख़ों में से छितराती हुई बत्ती की रोशनी जिस तरह सैकड़ों अलग-अलग धाराओं में बँटी हुई होती थी, कुमार के ख़याल भी सैकड़ों अलग-अलग लकीरों में चलते थे। पर जब कभी उस के मन में ये लकीरें जुड़ जातीं तो वह छत की बत्ती बुझा कर मेज़ की बत्ती जला लेता था। रोशनी एक ही जगह जमा होकर शीशे के प्याले को भरने लगती और कुमार के मन में जुड़ी हुई तसवीर उस के सामने पड़े हुए काग़ज़ों पर उतरने लगती।

नागमणि

बत्ती के चारों तरफ़ पीतल की छलनी जैसा खोल चढ़ा हुआ था। कुमार जब भी इस बत्ती को जलाता, बत्ती की रोशनी पीतल के सूराख़ों में से दूध की धाराओं की तरह बहने लगती जिस से कमरे की दीवारें और कमरे का फ़र्श रोशनी से छिटका हुआ दिखता। यह बत्ती कमरे की छत में लगी हुई थी। दूसरी बत्ती कुमार की मेज़ पर लगी हुई थी। बत्ती के माथे पर पीतल का एक ढक्कन लगा हुआ था जिस से छितराकर इस बत्ती की रोशनी मेज़ पर रखे हुए शीशे के प्याले में भर जाती थी, और प्याला हर समय छलकता हुआ दिखाई देता। कुमार जब कुछ सोच रहा होता तो उस की मेज़ की बत्ती बुझी हुई होती, और छत की बत्ती जल रही होती थी। पीतल के सैकड़ों सूराख़ों में से छितराती हुई बत्ती की रोशनी जिस तरह सैकड़ों अलग-अलग धाराओं में बँटी हुई होती थी, कुमार के ख़याल भी सैकड़ों अलग-अलग लकीरों में चलते थे। पर जब कभी उस के मन में ये लकीरें जुड़ जातीं तो वह छत की बत्ती बुझा कर मेज़ की बत्ती जला लेता था। रोशनी एक ही जगह जमा होकर शीशे के प्याले को भरने लगती और कुमार के मन में जुड़ी हुई तसवीर उस के सामने पड़े हुए काग़ज़ों पर उतरने लगती।

आज कुमार पिछले तीन घण्टों से अपनी मेज़ पर सिर झुकाये काम में जुटा हुआ था। अलका ने मेज़ के पास रखे हुए स्टूल पर कॉफ़ी का प्याला रखते हुए धीरे से चम्मच को खनखनाया ताकि कुमार को मालूम हो जाये कि उस ने कॉफ़ी का प्याला रख दिया था। पर कुछ मिनटों बाद अलका ने देखा कि कॉफ़ी का प्याला उसी तरह रखा हुआ था, और कुमार उसी तरह मेज़ पर सिर झुका-कर काम में जुटा हुआ था।

अलका ने मुँह से कुछ कहे बग़ैर प्याले को थोड़ा-सा सरका दिया। कुमार ने प्याले की ओर इस तरह देखा जैसे कि खिड़की में आती हुई हवा से खिड़की की साँकल हिलने की आवाज़ आयी हो। साँकल फिर जैसे स्थिर हो गयी हो, और कुमार का ध्यान जैसे अपनी मेज़ पर केन्द्रित हो गया हो।

अलका को कुमार के स्टूडियो में आकर काम सीखते हुए छह महीने होने आये थे; और अलका को छह महीने में नहीं, पहले महीने में ही मालूम हो गया था कि जिस समय कुमार काम करता हो, अलका की कही हुई किसी बात में, या प्याले के चम्मच में, अथवा खिड़की की साँकल में कोई अन्तर नहीं रहता। इसलिए अलका मुँह से कुछ न बोली।

क़रीब आधे घण्टे के बाद कुमार ने मेज़ से सिर उठाया। जब वह बहुत थक जाता तो उस के माथे पर एक नाड़ी उभर आती। इस नाड़ी का कसाव उस की आँखें भी महसूस करतीं। उस ने एक मिनट आँखें बन्द कीं, और फिर माथे की नाड़ी को अपनी पोरों से सहलाते हुए उस ने अलका की ओर देखा, "कॉफ़ी का एक प्याला मिलेगा?"

अलका ने स्टूल पर रखे हुए प्याले को उठाया, और कमरे से सटे हुए छोटे बरामदे में चली गयी। रसोई कुछ दूर पड़ती थी, इसलिए कुमार ने चाय बनाने का सामान बरामदे में रख छोड़ा था। चूल्हे पर पानी रखकर अलका ने प्याले की ठण्डी कॉफ़ी को गिरा दिया और प्याला धोने लगी।

गरम कॉफ़ी का प्याला लेकर अलका जब लौटकर कमरे में आयी तो कुमार मेज़ पर के काग़ज़ को ध्यान से देख रहा था।

"आज इतनी ख़ुशबू कहाँ से आ रही है?" कुमार ने इस तरह पूछा जैसे वह ख़ुशबू को नज़र गड़ाकर ढूँढ़ रहा हो।

अलका ने भी तसवीर की ओर गरदन घुमायी, और फिर तसवीर की लड़की के बालों में टँगे हुए फूलों की ओर देखती हुई कहने लगी, "इन फूलों से आ रही होगी!"

अलका के हाथ से काफ़ी का प्याला पकड़ते हुए कुमार खिलखिलाकर हँस पड़ा, "अभी मैं ने अपना होश इतना नहीं खोया कि काग़ज़ पर बनाये हुए फूलों में से मुझे ख़ुशबू आने लगे!"

अलका चुप साधे रही। उस ने दीवान के पाये के पास पड़ी हुई चौकी की ओर देखा, जैसे कह रही हो कि इतना होश ज़रूर जाता रहा है कि कमरे में पड़े हुए ताज़े फूल अभी तक दिखाई नहीं दिये थे। ये फूल अलका ने सुबह आते ही कमरे में लगा दिये थे।

"ओह..." कुमार ने होश में होने का दावा वापस ले लिया, और कॉफ़ी का गरम घूँट भरते हुए कहने लगा, "पर यह आदत नहीं डालनी चाहिए थी !"

"कैसी आदत ?"

"कॉफी की आदत...फूलों की आदत..."

"और ?"

"पैसे की आदत...शोहरत की आदत...औरत की आदत..."

"और अपने आप की आदत ?"

"क्या मतलब ?"

"अपने आप की आदत भी नहीं डालनी चाहिए। कभी किसी माइकेल ऐंजेलो को माइकेल ऐंजेलो रहना चाहिए, और कभी उसे बाज़ार के एक कोने में बैठा हुआ हलवाई भी बन जाना चाहिए। कभी नमक-तेल बेचने वाला बनिया, और कभी पान-बीड़ी बेचने वाला..."

कुमार हँस दिया, "तुम समझ नहीं पायी हो अलका ! एक अपने आप की आदत भर के लिए बाक़ी कोई आदत नहीं डालनी चाहिए। मैं सोचता हूँ कि अपने आप की पूरी आदत केवल तभी पड़ सकती है जब आदमी बाक़ी आदतों से मुक्त हो जाये।"

"यह मैं मानती हूँ। पर मेरे विचार में शोहरत और औरत में बहुत फ़र्क़ होता है।"

"किसी आदत और आदत में कोई अन्तर नहीं होता...मैं एक बार..."

"चुप क्यों हो रहे ?"

"तुम्हारी जगह अगर कोई दूसरी लड़की होती तो मैं शायद चुप रहता। किसी को भी कुछ बताने की मुझे कभी ज़रूरत नहीं पड़ी। ज़रूरत अब भी कोई नहीं पर शायद बताने में कुछ हरज नहीं। तुम मुझे ग़लत नहीं समझोगी।"

"मुझे भी ख़ुद पर भरोसा है।"

"मैं यह बताने चला था कि एक बार मुझ में ऐसी भूख जगी कि मैं कई दिन सो न सका। वह सिर्फ़ जिस्म की भूख थी, एक औरत के जिस्म की भूख। पर मैं किसी भी औरत के साथ अपनी ज़िन्दगी के साल बाँधने के लिए तैयार न था, कभी तैयार नहीं हो सकता। इसलिए कुछ दिन मैं ऐसी औरत के पास जाता रहा जो रोज़ के बीस रुपये लेती थी, और मेरी स्वतन्त्रता को कभी नहीं माँगती थी।"

अलका ने कुछ नहीं कहा। सिर्फ़ नज़र गड़ाकर उस ने कुमार के चेहरे की

और देखा ।

"तुम मेरे मन की बात समझी हो क्या ?"

"हाँ ।"

"या तुम सोचती हो कि मैं एक अच्छा आदमी नहीं हूँ ?"

"नहीं, मैं यह नहीं सोचती ।"

"पर तुम कुछ सोच रही हो..."

"हाँ ।"

"क्या ?"

"...कि मैं वह औरत होती जिस के पास आप रोज़ बीस रुपये देकर जाया करते थे !"

"अलका !"

कुमार के हाथ में पकड़ा हुआ कॉफ़ी का प्याला काँप गया । पर अलका उसी तरह निष्कम्प खड़ी रही, जिस तरह वह पहले खड़ी थी । कुमार घबराकर दीवान पर बैठ गया ।

"मैं कह रही थी कि शोहरत और औरत में बड़ा फ़र्क़ होता है ।"

"मैं समझा नहीं ।"

"शोहरत किसी को अपने आप को समझने में मदद नहीं करती, और न ही पैसा करता है । पर औरत किसी को अपने आप को समझने में उसी तरह मदद करती है, जिस तरह किसी की कला उस की मदद करती है ।"

"कला व्यक्ति का ही एक अंग होती है—जैसे...बाज़ू या हाथ-पाँव ।"

"मुहब्बत भी अपना ही एक अंग होती है । अपनी आँखों की तरह या अपनी ज़बान की तरह । शायद इस से भी अधिक । ये आँखें नहीं, आँखों की नज़र होती है । नज़र भो नहीं—एक नुक़्ता-नज़र होती है..."

"मेरा नुक़्ता-नज़र बिलकुल अलग है, अलका !"

"वह मैं जानती हूँ ।"

"यह तुम्हारे नुक़्ता-नज़र से कभी मेल नहीं खा सकता ।"

"शायद !"

"शायद नहीं, यह सच है ।"

"मैं ने यह नहीं कहा कि यह कभी मेल खा जाये..."

"फिर..."

"मैं ने कुछ नहीं कहा ।"

"पर तुम ने यह क्यों कहा कि तुम..."

"...कि मैं वह औरत होती जिस के पास आप बीस रुपये रोज़ देकर जाया करते थे ?"

"तुम ने यह क्यों कहा ?"

"रुपये कमाने के लिए..."

इस बार अलका हँस पड़ी, पर कुमार की हँसी उस के गले में ही सकपका गयी।

"क्यों, यह ठीक नहीं ? बीस रुपये रोज़ के कम हैं क्या ?"

"तुम-सी गम्भीर लड़की..."

"मैं सचमुच ही बड़ी गम्भीर हूँ ?"

"हाँ, अपने काम में तो सच ही..."

"मैं ज़िन्दगी में भी वैसी ही हूँ।"

"फिर तुम ने यह बात कैसे कही !"

"इसलिए कि मैं बहुत गम्भीर हूँ।"

"वह गम्भीर बात है ?"

"इतनी कि इस से अधिक गम्भीर बात कोई और नहीं हो सकती।"

"मैं इसे यों नहीं समझ पाऊँगा, अलका ! नहीं तो मैं दिल में दुखी होता रहूँगा।"

"फिर भूल जाइये कि मैं ने यह बात कही थी।"

"तुम भूल सकोगी इस बात को ?"

"मैं कभी याद नहीं दिलाऊँगी।"

"हम रोज़ वैसे ही काम करेंगे जैसे पहले करते रहे हैं ?"

"हम रोज़ वैसे ही काम करते रहेंगे जैसे पहले करते रहे हैं।"

"हम कभी व्यक्तिगत बातें नहीं करेंगे ?"

"हम कभी व्यक्तिगत बातें नहीं करेंगे।"

"हम सिर्फ़ अपने काम से वास्ता रखेंगे।"

"हम सिर्फ़ अपने काम से वास्ता रखेंगे ?"

"तुम मेरी ज़िन्दगी में कोई दख़ल न दोगी ?"

"मैं आप की ज़िन्दगी में दख़ल नहीं दूँगी।"

"विशेषकर मुहब्बत की बात नहीं करोगी ?"

"विशेषकर मुहब्बत की बात नहीं करूँगी।"

"अलका !"

"जी।"

"तुम यों बोलती जा रही हो, जैसे कोई बच्ची मास्टर के सामने 'दो दूनी चार' का पहाड़ा पढ़ रही हो ! तुम सीरियस क्यों नहीं हो ?"

"मैं बिलकुल सीरियम हूँ। मैं सारे वचनों को इस तरह दोहरा रही हूँ जैसे गुरु से मन्त्र लेते समय कोई गुरु के शब्दों को दोहराता है।"

कुमार ने अपने माथे की उभरी हुई नाड़ी को उँगलियों से मला और कहने लगा, "मैं तुम्हें बिलकुल नहीं समझ सकता, अलका !"

"पर मैं अपने आप को समझ सकती हूँ ।"

कुमार ने अभी तक मेज़ की बत्ती नहीं बुझायी थी। उस ने एक बार मेज़ पर पड़े हुए काग़ज़ की ओर देखा, और फिर मेज़ की बत्ती बुझा कर छत की बत्ती को जला दिया ।

छत की बत्ती की रोशनी पीतल के सूराख़ों में से पतली-पतली धाराओं में बँटकर बहने लगी । कमरे की दीवारों और फ़र्श पर रोशनी छितराने लगी। पर कुमार को रोशनी से भीगे हुए फ़र्श पर पाँव रखते हुए लगा, जैसे इस गीले फ़र्श से उस का पाँव फिसल जायेगा ।

आज से पहले कुमार को जब किसी औरत का सपना आया था, वह औरत हमेशा ऐसी होनी थी जिस का याद रहने योग्य कोई चेहरा नहीं होता था । जिस औरत का कोई चेहरा न हो, उस औरत की कोई पहचान नहीं होती। जिस औरत की कोई पहचान न हो, उस औरत की कभी तलाश नहीं होती । और जिस औरत की तलाश न हो, उस के लिए दिल में कोई दर्द नहीं होता । कुमार को इस तरह का कोई बेसिरपैर का सपना हमेशा तभी आता था, जब उस के जिस्म में औरत के जिस्म के लिए भूख जगती थी । और यह भूख कुमार के जिस्म में कभी-कभार ही जगती थी । इस लिए जब कभी भी कुमार को यह सपना आता था, बाद में इस की याद कुमार को विस्मृत हो जाती थी ।

पर आज रात कुमार को जो सपना आया, उस की याद कुमार को साल रही थी । इस सपने में उस ने औरत का चेहरा देखा था, चेहरे को पहचाना था, और उसे डर था कि कहीं यह पहचान उसी की तलाश न बन जाये । तलाश हमेशा रिश्ते बाँधती है । और वह अपनी कला के सिवा किसी चीज़ से कोई रिश्ता

नहीं बाँधना चाहता था।

रात अपने आख़िरी पहर तक कजरा आयी थी। कुमार ने पहले छत की बत्ती जलायी। पर फिर रोशनी की सैकड़ों धाराओं से घबराकर उस ने बत्ती बुझा दी। वह एकाग्र होना चाहता था—एक मन होना चाहता था। उस ने अपनी मेज़ की बत्ती जलायी। चाहे उस ने मेज़ पर अभी कोई काम नहीं करना था, पर मेज़ की बत्ती की रोशनी उसे अच्छी लगी। पीतल के एक छोटे-से ढक्कन की आड़ रोशनी को बिखरने से बचाकर एक स्थान पर केन्द्रित कर रही थी।

'कितनी साधारण-सी बात है—मैं यों ही घबरा रहा था। मन के विचारों को भी एक जगह केन्द्रित करने के लिए एक छोटे-से ढक्कन की ज़रूरत होती है—एक छोटी-सी आड़ की ज़रूरत होती है।' और कुमार के मन में एकदम यह ख़याल आया कि कला ही रोशनी होती है, और कला ही उस की आड़ !

कुमार ने अपने लिए एक चाय का प्याला बनाया, और अपनी कुरसी पर बैठकर वक़्त से पहले ही काम करना शुरू कर दिया।

सूरज की पहली किरण निकलते ही कुमार को अलका का ख़याल आया। शायद इसलिए कि ज्यों-ज्यों दिन चढ़ रहा था, अलका के आने का सयय हो रहा था।

'मेरा ख़याल है कि मेरे जिस्म में फिर से कोई भूख जग रही है— मुझे औरत का सपना इस भूख के बिना नहीं आ सकता...' और कुमार ने सोचा कि वह कुछ दिनों के लिए अपना स्टूडियो बन्द करके किसी शहर में चला जाये। दस दिन शहर में रहकर वह अपनी इस भूख को मिटा आये। फिर लौटकर अपने काम में उसी तरह डूब सकेगा जिस तरह वह पिछले कई महीनों से डूबा हुआ था। कुमार की यह ज़मीन और उस का स्टूडियो काँगड़ा वादी में पपरौला स्टेशन से क़रीब डेढ़ मील के फ़ासले पर था।

कुमार अपने काग़ज़ और कपड़े-लत्ते सँभाल रहा था कि अलका ने दरवाज़ा खटखटाया।

"मैं कुछ दिनों के लिए शहर जा रहा हूँ।"

"पठानकोट या अमृतसर ?"

"शायद पठानकोट तक। तुम इतने दिन यहीं अकेली रहना चाहोगी या अमृतसर जाना चाहोगी—अपने पिताजी के पास ?"

"मैं यहीं रहूँगी।"

"मुझे शायद ज़्यादा दिन लग जायें।"

"सो ठीक है।"

"शहर से कुछ लाना हो तो मुझे बता दो।"

"अपने रंग और काग़ज़ देख लीजिये। कम हों तो लेते आइयेगा।"

"अभी पीछे मँगवाये थे—कम से कम छह महीने ज़रूरत नहीं पड़ेगी।"

"मुझे काफ़ी काम समझा जाइये। पीछे करती रहूँगी।"

"जितनी भी मेहनत करोगी कम है।"

कुमार अलका से बातें भी कर रहा था और सूटकेस में कपड़े भी सँभाल रहा था।

"मैं रख दूँ कपड़े ठीक से ? नहीं तो सारे सूटकेस में नहीं आयेंगे।"

"अच्छा, तुम ये कपड़े रखो। तब तक मैं अपनी पैंट ले आऊँ। कल प्रेस करने के लिए दी थी।"

"इस में कुछ मैले कपड़े भी पड़े हुए हैं। इन्हें धो डालूँ ? दो घण्टे में सूख जायेंगे।"

"रहने दो ! मैं शहर से धुलवा लूँगा।"

"पर गाड़ी तो दोपहर को छूटेगी न ? अभी काफ़ी देर है।"

"अच्छा धो डालो...। पर तुम ख़ुद क्यों धो रही हो ! अभी हरिया आयेगा। उस से धुलवा लेना।"

अलका ने कोई जवाब न दिया। कुमार पैंट लेने के लिए चल दिया।

धोबी पेशे का आसपास कोई आदमी नहीं था। कुमार ने बैजनाथ को जाती सड़क पर चाय की दुकान वाले पहाड़िये को शहर से लोहे की प्रेस ला दी थी। वही समय-असमय कुमार के कपड़े धोकर उन पर प्रेस कर दिया करता था। कल जब कुमार वहाँ अपनी पैंट दी थी तो उसे शहर जाने का ख़याल तक न था। अब जब वह पैंट लेने के लिए गया तो पैंट धुल चुकी थी, पर उसी तरह सिलवटों सहित पड़ी हुई थी। कोयले दहकते और प्रेस गरम करते हुए कुछ देर हो गयी। इसलिए कुमार जब पैंट लेकर वापस आया तो अलका ने उस के मैले कपड़े धोकर सूखने फैला दिये थे।

"हरिया नहीं आया ?"

"आया था। घड़ा ले गया है भरने को।"

कुमार को रात के अँधेरे में शहर की आकस्मिक तैयारी जितनी स्वाभाविक लगी थी, दिन के उजाले में वह उतनी स्वाभाविक नहीं लग रही थी। हाथ की पैंट अलका को देते हुए उसे ख़याल आया कि अलका उस की इस तैयारी के बारे में कोई सवाल क्यों नहीं पूछ रही थी। और उसने चाहा कि अलका कुछ पूछे। चाहे कुछ ही पूछे ! सिर्फ़ इतना ही कह दे कि पीछे गाँव में इतने दिन अकेले रहते उसे डर लगता है। चाहे वह कुमार के स्टूडियो में पहले भी नहीं रहती थी। उस ने आधा मील के फ़ासले पर एक घर में ऊपर का चौबारा किराये पर ले रखा था। फिर भी उसे कुमार की उपस्थिति का सहारा था। और कुमार के मन में आया कि अगर अलका अकेली रहने की बात चला दे, तो वह एक-दो बार

उसे समझाकर अपना शहर जाना स्थगित कर देगा। शहर जाने के लिए उस के दिल में कोई उमंग नहीं थी। किसी तरह की भी जिस्मानी भूख उस में नहीं जगी हुई थी, और अलका जैसे-जैसे सूटकेस तैयार करती जा रही थी, उसे लग रहा था जैसे उसे ज़बरदस्ती शहर भेजा जा रहा हो।

"तुम पीछे डरोगी नहीं ?" कुमार ने ख़ुद ही कुछ देर बाद पूछा।

"डर ? मुझे !...मुझे काहे का डर है ?" अलका ने जवाब दिया और सूट-केस को बन्द करके चाबी कुमार को दे दी। चाबी पकड़ाते हुए अलका ने सौ-सौ रुपये के दो नोट भी कुमार को दिये।

"यह क्या ?"

"दो महीनों के रुपये आप एक साथ लीजिए। शहर में ज़रूरत होगी।"

"मुझे क्या ज़रूरत पड़ेगी ? ख़र्च भर के लिए मेरे पास होंगे।"

"सूटकेस में बैंक की पासबुक रखते हुए मैंने पासबुक देखी थी। सिर्फ़ सौ रुपये हैं बैंक में।"

"इतने ही काफ़ी हैं। जाने का किराया तो है ही। वापसी में बैंक से सौ रुपये निकलवा लूँगा।"

"पर वहाँ ज़रूरत पड़ेगी। दस दिन भी रहे तो बीस रुपये रोज़ के हिसाब..."

"अलका !"

कुमार के माथे पर पसीने की बूँदें उभर आयीं। उसे लगा कि अलका की मोटी-मोटी और चुपचाप आँखें पारदर्शिनी हैं। उस ने कुमार के मन में रेंगते सारे ख़यालों को देख लिया था। उसे अलका की आँखों पर भी गुस्सा आया, पर ज्यादा गुस्सा अपने ख़यालों पर आया जो केंचुए की तरह उस के मन में रेंग रहे थे। केंचुए की तरह, जो किसी का कुछ नहीं बिगाड़ते, पर उनकी सुस्तायी चाल से चिढ़ आ जाती है। कुमार को ख़ुद ही अपने ख़यालों से चिढ़ आने लगी।

किसी भी केंचुए को अगर तिनका छुआ दें तो वह कुछ देर के लिए इस तरह निर्जीव हो जाता है, जैसे कभी उस में कम्पन न आया हो, और वह शुरू से ही एक रस्सी का टुकड़ा हो। कुमार को भी लगा कि उसके मन में डर का जो केंचुआ रेंग रहा था, अलका के छूने से रस्सी का टुकड़ा बन गया था।

"अगर तुम ने यही सोचा है कि मैं शहर इसी लिए जा रहा हूँ, तो नहीं जाता..."

कुमार ने मन में छिपे हुए डर को रस्सी के टुकड़े की तरह हाथ में लेकर कहा।

"हम ने इक़रार किया था कि हम कभी व्यक्तिगत बातें नहीं करेंगे। मैं उस इक़रार पर क़ायम हूँ।" अलका ने कहा। उस ने शहर जाने या न जाने की

बात का कोई जवाब न दिया।

कुमार मिनट भर को चुप रहा। पर वह चुप्पी बोलने से भी अधिक पैनी थी। बोलने से चाहे व्यक्तिगत बातें न करने का इक़रार टूटता था, पर कुमार को लगा कि इस चुप्पी से तो बोलना आसान था।

"पर तुम ने ख़ुद ही बात छेड़ी थी।"

"मैं ने सिर्फ़ रुपये दिये थे, बात नहीं छेड़ी थी।"

"पर वह बात तुम्हारे मन में थी। वह तुम भूली नहीं थीं।"

"मैं ने कोई बात भुलाने का इक़रार नहीं किया था। सिर्फ़ चुप रहने का इक़रार किया था।"

"पर वह बात याद रखने का तुम्हें कोई हक़ नहीं।"

"अपनी याद पर सब का अपना हक़ होता है।"

"पर अलका—आख़िर तुम उस बात को याद क्यों रखना चाहती हो?"

"इस 'क्यों' के सवाल में मत पड़िये! इस का अन्त कहीं न होगा। अच्छा हो, अगर हम अपने उसी पहले इक़रार पर क़ायम रहें, कि हम कभी व्यक्तिगत बातें नहीं करेंगे।"

कुमार ने चुप रहने का जो इक़रार अलका से चाह कर लिया था, वही इक़रार कुमार को लगा, एक ऐसा अँधेरा था, जिस में हर चीज़ डरावनी लगती है। कुमार किसी चीज़ से डरना नहीं चाहता था। इसलिए उसे लगा कि इस इक़रार ने एक अनचाहा अँधेरा भरकर बड़ी मासूम बातों को भी भयानक बना दिया था। सारी बातों को उन की मासूमियत में देखने के लिए कुमार ने सोचा कि वह अलका के साथ चुप न रहकर बातें करेगा। आख़िर अलका एक सुलझी हुई लड़की थी।

"यहाँ मेरे पास बैठ जाओ, अलका!"

"जी।"

"सच बताओ, मुझ से डर लगता है?"

"बात उलझाकर मत पूछिये।"

"उलझाकर?"

"आप जानते हैं कि मुझे आपसे डर नहीं लगता। डर वास्तव में किसी को भी किसी से नहीं लगता। डर हमेशा इनसान को अपने से लगता है।"

"तुम्हारा मतलब है, मुझे ख़ुद से डर लगता है?"

"जी।"

"अलका!"

"जी।"

"तुम मुझ पर यह इलज़ाम किस तरह लगा सकती हो?"

"मैं ने इलज़ाम नहीं लगाया। सिर्फ़ एक बात कही है।"

"पर यह ग़लत है।"

"अगर ग़लत है, तो आप अचानक शहर किस लिए जा रहे हैं?"

"शहर जाने के लिए मुझे कई काम हो सकते हैं।"

"आप जानते हैं, कि आप को कोई काम नहीं।"

"चलो मान लिया, कोई काम नहीं। शायद यही काम हो कि मैं अपनी जिस्मानी भूख बुझाने के लिए शहर जा रहा हूँ, पर यह भी तो एक काम है।"

"इस काम के लिए शहर जाने की क्या ज़रूरत है?"

"पर यहाँ..." कुमार के गले में उस की साँस अटक गयी। पर अपने अटके हुए साँस को खींचकर उसने कहा, "यहाँ शहरों जैसा कोई इन्तज़ाम नहीं।"

"मैं हर तरह से उस लड़की से अच्छी हूँ जो बीस रुपये रोज़ लेकर..."

"अलका!"

"जी।"

"तुम्हें क्या हो गया है, अलका! तुम एक शरीफ़ लड़की हो, शरीफ़ मां-बाप की बेटी!"

"इसमें शराफ़त का ख़याल कहाँ से आ गया?"

"रुपया लेकर जिस्म देना शराफ़त नहीं है।"

"क्यों?"

"क्योंकि यह शराफ़त नहीं।"

"फिर इस हिसाब से रुपये देकर जिस्म को लेना भी शराफ़त नहीं।"

कुमार चुप हो गया। अलका फिर बोली, "अगर आप अपने लिए शराफ़त को ज़रूरी चीज़ नहीं समझते, तो मेरे लिए क्यों ज़रूरी समझते हैं?"

"मेरी बात और है, अलका!"

"सिर्फ़ यही, कि मर्दों के लिए एक वह चीज़ भी शराफ़त होती है, जो औरत के लिए नहीं होती!"

"यह बात नहीं अलका!"

"फिर?"

"मैं कभी किसी एक चीज़ के साथ अपने आप को नहीं जोड़ता, इसलिए मेरी क़ीमतों का असर सिर्फ़ मुझ पर पड़ेगा। पर कल तुम्हारा विवाह होना है। तुम्हारा वास्ता सिर्फ़ तुम से नहीं होगा, किसी दूसरे से भी होगा। उसकी क़ीमतें वे नहीं होंगी, जो मेरी और तुम्हारी क़ीमतें हो सकती हैं।"

"इस का जवाब मैं इस समय सिर्फ़ इतना ही दूँगी, कि मेरी जैसी लड़की सिर्फ़ अपनी क़ीमतों को ही स्वीकार कर सकती है, किसी और की क़ीमतों को नहीं।"

बात का कोई जवाब न दिया।

कुमार मिनट भर को चुप रहा। पर वह चुप्पी बोलने से भी अधिक पैनी थी। बोलने से चाहे व्यक्तिगत बातें न करने का इक़रार टूटता था, पर कुमार को लगा कि इस चुप्पी से तो बोलना आसान था।

"पर तुम ने ख़ुद ही बात छेड़ी थी।"

"मैं ने सिर्फ़ रुपये दिये थे, बात नहीं छेड़ी थी।"

"पर वह बात तुम्हारे मन में थी। वह तुम भूली नहीं थीं।"

"मैं ने कोई बात भुलाने का इक़रार नहीं किया था। सिर्फ़ चुप रहने का इक़रार किया था।"

"पर वह बात याद रखने का तुम्हें कोई हक़ नहीं।"

"अपनी याद पर सब का अपना हक़ होता है।"

"पर अलका—आख़िर तुम उस बात को याद क्यों रखना चाहती हो?"

"इस 'क्यों' के सवाल में मत पड़िये! इस का अन्त कहीं न होगा। अच्छा हो, अगर हम अपने उसी पहले इक़रार पर क़ायम रहें, कि हम कभी व्यक्तिगत बातें नहीं करेंगे।"

कुमार ने चुप रहने का जो इक़रार अलका से चाह कर लिया था, वही इक़रार कुमार को लगा, एक ऐसा अँधेरा था, जिस में हर चीज़ डरावनी लगती है। कुमार किसी चीज़ से डरना नहीं चाहता था। इसलिए उसे लगा कि इस इक़रार ने एक अनचाहा अँधेरा भरकर बड़ी मासूम बातों को भी भयानक बना दिया था। सारी बातों को उन की मासूमियत में देखने के लिए कुमार ने सोचा कि वह अलका के साथ चुप न रहकर बातें करेगा। आख़िर अलका एक सुलझी हुई लड़की थी।

"यहाँ मेरे पास बैठ जाओ, अलका!"

"जी।"

"सच बताओ, मुझ से डर लगता है?"

"बात उलझाकर मत पूछिये।"

"उलझाकर?"

"आप जानते हैं कि मुझे आपसे डर नहीं लगता। डर वास्तव में किसी को भी किसी से नहीं लगता। डर हमेशा इनसान को अपने से लगता है।"

"तुम्हारा मतलब है, मुझे ख़ुद से डर लगता है?"

"जी।"

"अलका!"

"जी।"

"तुम मुझ पर यह इलज़ाम किस तरह लगा सकती हो?"

"मैं ने इलज़ाम नहीं लगाया । सिर्फ़ एक बात कही है ।"

"पर यह ग़लत है।"

"अगर ग़लत है, तो आप अचानक शहर किस लिए जा रहे हैं?"

"शहर जाने के लिए मुझे कई काम हो सकते हैं।"

"आप जानते हैं, कि आप को कोई काम नहीं ।"

"चलो मान लिया, कोई काम नहीं । शायद यही काम हो कि मैं अपनी जिस्मानी भूख बुझाने के लिए शहर जा रहा हूँ, पर यह भी तो एक काम है।"

"इस काम के लिए शहर जाने की क्या ज़रूरत है ?"

"पर यहाँ..." कुमार के गले में उस की साँस अटक गयी। पर अपने अटके हुए साँस को खींचकर उसने कहा, "यहाँ शहरों जैसा कोई इन्तज़ाम नहीं ।"

"मैं हर तरह से उस लड़की से अच्छी हूँ जो बीस रुपये रोज़ लेकर..."

"अलका !"

"जी।"

"तुम्हें क्या हो गया है, अलका ! तुम एक शरीफ़ लड़की हो, शरीफ़ मां-बाप की बेटी !"

"इसमें शराफ़त का ख़याल कहाँ से आ गया ?"

"रुपया लेकर जिस्म देना शराफ़त नहीं है।"

"क्यों ?"

"क्योंकि यह शराफ़त नहीं।"

"फिर इस हिसाब से रुपये देकर जिस्म को लेना भी शराफ़त नहीं।"

कुमार चुप हो गया। अलका फिर बोली, "अगर आप अपने लिए शराफ़त को ज़रूरी चीज़ नहीं समझते, तो मेरे लिए क्यों ज़रूरी समझते हैं ?"

"मेरी बात और है, अलका !"

"सिर्फ़ यही, कि मर्दों के लिए एक वह चीज़ भी शराफ़त होती है, जो औरत के लिए नहीं होती !"

"यह बात नहीं अलका !"

"फिर ?"

"मैं कभी किसी एक चीज़ के साथ अपने आप को नहीं जोड़ता, इसलिए मेरी क़ीमतों का असर सिर्फ़ मुझ पर पड़ेगा। पर कल तुम्हारा विवाह होना है। तुम्हारा वास्ता सिर्फ़ तुम से नहीं होगा, किसी दूसरे से भी होगा। उसकी क़ीमतें वे नहीं होंगी, जो मेरी और तुम्हारी क़ीमतें हो सकती हैं।"

"इस का जवाब मैं इस समय सिर्फ़ इतना ही दूँगी, कि मेरी जैसी लड़की सिर्फ़ अपनी क़ीमतों को ही स्वीकार कर सकती है, किसी और की क़ीमतों को नहीं।"

"यह भी मान लेता हूँ। चाहे मैं जानता हूँ कि यह बात तुम्हारे बस की नहीं। तुम क्या, किसी के बस की नहीं ! पर मेरी मुश्किल दूसरी है।"

"मैं आप की मुश्किल को जानती हूँ।"

"नहीं, तुम नहीं जानतीं !"

"ज़रूरत पड़ने पर आप सिर्फ़ उस औरत के पास जाना चाहते हैं, जिस औरत का कोई चेहरा न हो और जिस औरत का कोई नाम न हो। क्योंकि चेहरे और नाम से पहचान तक बात आ जाती है, और यह पहचान कभी मन में कोई सम्बन्ध जोड़ देती है।"

"हाँ, अलका !"

"ए फ़ेसलेस वूमैन, ए नेमलेस वूमैन !"

"हाँ, अलका !"

"मैं अपने-आप को फ़ेसलेस भी बना सकती हूँ, और नेमलेस भी !"

"पर, अलका ! क्यों ?...क्यों ?"

"इस 'क्यों' का जवाब मैं नहीं दूँगी।"

"क्योकि इस का कोई जवाब नहीं !"

"इस के कई जवाब हो सकते हैं।"

"मसलन ?"

"मसलन यह कि शायद मुझे रुपयों की ज़रूरत हो।"

"यह जवाब ग़लत है। तुम मुझे काम सीखने के सौ रुपये देती हो। सौ रुपये महीने कम नहीं। फिर तुम अपने रहने का, पहनने का, खाने का ख़र्च भी खुले हाथों करती हो। तुम्हारे पिता अमीर हैं..."

"फिर हो सकता है कि यह मेरी जिस्मानी ज़रूरत हो।"

"यह जवाब भी ग़लत है।"

"क्यों ?"

"मेरे पास इस का कोई सबूत नहीं। पर मेरा दिल कहता है कि यह जवाब ग़लत है। तुम ख़ुद ही बताओ कि क्या यह ग़लत नहीं ?"

"हाँ, यह जवाब ग़लत है।"

"फिर ?"

"मैं ने कहा था कि मैं इस का जवाब नहीं दूँगी। इसलिए चुप हूँ।"

"पर मैं इस का जवाब जानना चाहता हूँ।"

"आप नहीं समझेंगे। मैं बता भी दूँ, तो भी आप नहीं समझेंगे।"

"क्यों ?"

"क्योंकि बहुत-सी बातों पर हमारे नुक़्ते-नज़र अलग हैं। आप ने ख़ुद ही कहा था कि हमारे नुक़्ते-नज़र आपस में कभी नहीं मिल सकते।"

"मैं ने कहा था...पर मैं कोशिश करूँगा, कि तुम्हारा नुक़्ता-नज़र समझ सकूँ। समझकर भी शायद मान न सकूँ, पर समझने की कोशिश ज़रूर करूँगा।"

"समझाने और मनाने में मेरा कोई विश्वास नहीं।"

"फिर?"

"समय ख़ुद समझा लेगा। मना भी लेगा।"

"किसे? मुझे, या तुम्हें?"

"इसे भी समय के फ़ैसले पर रहने दीजिये।"

अलका के कहने पर जब कुमार ने सब कुछ समय के फ़ैसले पर छोड़ दिया, तो अलका को दो सौ रुपये लौटाता हुआ कुमार बोला, "ये रुपये ले लो। अभी मुझे नहीं चाहिए।"

"और चाबी?"

कुमार हँस पड़ा—"चाबी भी ले लो। सूटकेस खोल दो। मैं शहर नहीं जा रहा।"

"और शहर जाकर जो काम करने थे?"

"मुझे कोई काम नहीं।"

"वह बीस रुपये रोज़ का काम?"

"कोई ज़रूरी नहीं।"

डर की बात को बोलकर निडर होने का जो तजरबा कुमार ने किया था, उसी तजरबे के ज़ोर को आज़माने के लिए कुमार ने कुछ देर बाद अलका से कहा, "अगर कभी मुझे ज़रूरत पड़ी तो तुम से कह दूँगा।"

"अच्छा।"

"तुम मेरे लिए उस औरत की तरह होगी, जिस का कोई नाम नहीं होता, या उस का कोई भी नाम हो सकता है।"

"यह तो बहुत बड़ा दर्जा है!"

"क्या मतलब?"

"ख़ुदा का भी कोई नाम नहीं होता, और उस का कोई भी नाम हो सकता है!"

"छोटी बातों को ख़ुदा से मिला दें, तो वे बड़ी नहीं हो जातीं।"

"कई बातें ऐसी भी होती हैं जो छोटी होने या बड़ी होने से बेनियाज़ होती हैं!"

"जिस चीज़ की क़ीमत बीस रुपये से चुकायी जा सकती हो, वह बात हमेशा छोटी ही रहेगी, बड़ी नहीं हो सकती!"

कुमार की पसलियों में आग की एक लपट-सी दौड़ गयी। उस ने अलका

को अपनी दोनों बाँहों में कसकर उस के होंठ से एक लम्बा घूँट इस तरह भरा, जैसे वह दो होंठों से उस की सारी जान पी जाना चाहता हो। आग की लपट की तरह कुमार के जिस्म में कुछ सुलगा, और जिस समय कुमार ने अलका के अंग-प्रत्यंग को अपने से लगा लिया, तो उसे लगा कि उस ने अलका को अपने जिस्म से नहीं,—आग की लपट में लपेट लिया था। यह अलका को तोड़ देने की ज़िद थी।

कुमार जब अलका से अलग हो कर एक तरफ़ खड़ा हो गया तो अलका ने अपने जिस्म से ढलके हुए कपड़ों को खींच कर एक सलवटी चादर की तरह अपने पर ओढ़ लिया, और कुमार से कहा, "मेरे रुपये ?"

कुमार ने पैंट की जेब से बीस रुपये निकाले, और अलका ने हाथ बढ़ाकर रुपये ले लिये।

"सिर्फ़ बीस रुपये !" कुमार हँस पड़ा। पर उस की हँसी जाने कैसी थी, वह ख़ुद ही अपनी हँसी से डर कर दीवार की ओर देखने लगा।

"सोने का कलश चढ़ाकर भी कोई ईश्वर को नहीं ख़रीद सकता। पर कोई पूजा का एक फूल चढ़ाकर भी ईश्वर को ख़रीद लेता है।" अलका ने कहा और वह एक-एक करके कपड़े पहनने लगी।

"क्या मतलब ?"

"कुछ नहीं।"

"इस तरह बीस रुपये कमाने वाली औरत को क्या कहा जा सकता है ?"

"औरत।"

"अलका !"

"मैं एक वेश्या बनने का दावा भी आसानी से कर सकती हूँ, जिस आसानी से बीवी बनने का।"

"मैं तुम्हें बिलकुल नहीं समझ सकता, अलका ?"

"पर मैं अपने आप को समझ सकती हूँ।"

कमरे की दोनों बत्तियाँ बुझी हुई थीं। खिड़कियों पर नीली और काली धारियों वाले मोटे परदे लटक रहे थे। पर बाहर से सूरज की रोशनी परदों की झिलमिली से छनकर कमरे की दीवारों पर और फ़र्श पर बिखर रही थी, और रोशनी से भीगे हुए फ़र्श पर पैर रखते हुए कुमार को लगा जैसे इस गीले फ़र्श से उस का पाँव फिसल जायेगा।

पाँच दिन गुज़र गये । अलका रोज़ नियमपूर्वक आती और काम करती । उस घटना की छाया भी उस के साथ कमरे में न आती । छठे दिन सुबह ही अलका आयी तो कुमार अपना तौलिया तह करके चमड़े के एक बैग में रख रहा था ।

"आज फिर शायद जाने की तैयारी है ?"

"वह तैयारी छोटी थी, यह तैयारी बड़ी है । [तुम भी मेरे साथ चलोगी । हरिया नाश्ता तैयार कर रहा है, उसे कह दो कि कुछ ज़्यादा बना ले ।"

"कितने दिन के लिए ?"

"एक ही दिन के लिए ।"

कुमार और अलका जब पगडण्डी पर चलते हुए सामने पहाड़ के बग़ल में पहुँच गये तो एक पहाड़ी नदी के किनारे खड़े होकर कुमार ने हाथ का बैग एक पत्थर पर रख दिया ।

"नहाओगी तुम ?"

"मैं अपने साथ कोई कपड़ा नहीं लायी ।"

"इस बैग में एक नीली चद्दर रखी है ।"

नदी का पानी, जो सारी रात डरे हुए पत्थरों से बातें करता रहा था, अब सूरज की किरणों से खेल रहा था । अलका ने बैग से चद्दर निकाल ली और पत्थर की आड़ में आकर कपड़े उतारने लगी । नीली चद्दर को बदन से लपेट-कर जब उस ने पानी में पैर रखा, जंगली फूलों की एक टहनी पानी में तैरती हुई अलका के पास आ गयी । अलका ने टहनी के आगे का हिस्सा तोड़कर अपने बालों में लगा लिया ।

कुमार अलका की बायीं ओर के पानी में नहा रहा था । अलका ने एक नज़र कुमार को देखा और फिर पानी में आहिस्ता-आहिस्ता चलती हुई कुमार के पास से गुज़री, और काफ़ी दूर जाकर उस की सीध में ठहर गयी । पानी बहुत गहरा था । खड़े रहते पानी कमर से छूता था । अलका घुटनों के बल पानी में बैठ गयी ।

अलका ने हाथों में हरे काँच की पाँच-पाँच चूड़ियाँ पहनी हुई थीं। पानी में डूबी हुई कलाइयों पर चूड़ियाँ ऐसे लग रही थीं जैसे उस ने बाँहों पर हरे पत्ते लपेटे हुए हों। अलका बाँहें फैलाकर पानी काटती तो चूड़ियाँ खनक उठतीं।

अलका ने कई बार अपनी ठुड्डी और आधे मुख को पानी में डुबोकर पानी को अपनी आँखों से छुआया। अलका पानी की उतराई की ओर थी, और जो पानी अलका के बदन को छूकर निकलता था वह दूर से कुमार के बदन को छूकर आ रहा था। अलका की आँखें बड़े अदब से इस पानी को छूती रहीं।

अलका की चूड़ियों की खनक चाहे ऊँची नहीं थी, पर इस गहरी ख़ामोशी में वह कुमार के कानों को सुनाई दे रही थी। कुमार इस खनक से बचने के लिए कई बार सीध से हटा। एक बार वह बिलकुल ही पानी के बायें किनारे तक चला गया। अलका ने वही सीध ले ली। कुमार किनारा बदलकर पानी के दायें किनारे पर आ गया। अलका ने फिर सीध बदल ली। जितनी देर, और जो भी पानी कुमार के बदन को छूकर आ रहा था, अलका उसे अपने अंग-अंग में भर लेना चाहती थी।

कुमार ने शायद अलका के इस खिलवाड़ को भाँप लिया, और इस खिलवाड़ को तोड़ने के लिए वह पानी से बाहर आ गया। अलका भी पानी से बाहर होने लगी, तो कुमार फिर पानी में उतर गया और तेज़ी से तैरता हुआ अलका तक आ गया।

झपटकर कुमार ने अलका का हाथ पकड़ा और झल्लाकर अलका के बदन से लिपटी हुई चद्दर खींच ली। चद्दर की तरह ही उस ने अलका को अपनी बाँहों में कस लिया और फिर खौलते हुए होंठों से उस ने अलका के होंठों को इस तरह पिया जैसे वह अलका की सारी जान के साथ इस पहाड़ी नदी का पानी पी जायेगा।

कुमार ने टूटकर जब अलका को छोड़ा तो अलका के होंठ उसी तरह साबुत थे, अलका की छाती उसी तरह साँस ले रही थी, और नदी का पानी उसी तरह बह रहा था। कुमार को लगा कि न वह अलका की साँस पी सकता था, और न नदी का पानी। वह किनारे के पत्थरों पर इस तरह जा बैठा जैसे सैकड़ों पत्थरों में एक पत्थर और बढ़ गया हो।

अलका ने किनारे पर आकर कपड़े पहन लिये और नीली चद्दर को निचोड़-कर सूखने के लिए एक बड़े पत्थर पर फैला दिया।

"नाश्ता डाल दूँ ?" अलका कुमार के पास जाकर खड़ी हो गयी, और नाश्ते का डब्बा खोलकर प्लेट पोंछने लगी।

कुमार काफ़ी देर तक अलका के पैरों की ओर देखता रहा, और फिर लपक-कर उस ने अलका के पैरों को मरोड़ा।

"ये पैर इस तरह नहीं इस तरह होने चाहिए थे।"

"किस तरह ?"

"एड़ी आगे होनी चाहिए थी, और उँगलियाँ पीछे।"

"क्यों ?"

"क्योंकि जिन्नी के पाँव उलटे होते हैं।"

"जिन्नी क्या होती है ?"

"भूत-प्रेतों की जाति की जिन्नी।"

"हर जिन्नी के पैर उलटे होते हैं ?"

"मैं छोटा-सा था, हमारे पड़ोस में एक बूढ़ा रहता था। वह मुझे जिन्नियों के क़िस्से सुनाया करता था।"

"उस ने जिन्नी देख रखी थी ?"

"वह कहता था कि उस ने अपनी जवानी में एक जिन्नी पकड़ी भी थी।"

"फिर ?"

"वह बताया करता था कि जिन्नी का पकड़ना बड़ा मुश्किल होता है। कई-कई रातों श्मशान में जाकर बैठना पड़ता है। वह पहले बहुत डरती है, अगर आदमी डर जाये तो वह ख़ुद पकड़ी न जाकर उस आदमी को पकड़ लेती है।"

"फिर उस ने जिन्नी कैसे पकड़ी ?"

"उस ने उसे पाँवों से पहचान लिया था। वह कहता था कि हर जिन्नी का नाक-मुँह वैसा ही होता है जैसे किसी साधारण औरत का। जिन्नी के मुख की ओर कभी नहीं देखना चाहिए, क्योंकि उस के पैर उलटे होते हैं, और उसे पैरों से पहचानकर पकड़ लेना चाहिए !"

"पर पकड़ने का फ़ायदा ?"

"वह बूढ़ा कहा करता था कि अगर एक बार जिन्नी पकड़ में आ जाये तो सारी उमर कोई फ़िक्र नहीं रहती। जब आप का दिल हलवा खाने का हो वह हलवा ला देती है, जब आप का दिल नये कपड़े पहनने का हो तो वह कपड़े ला देती है। वह तरह-तरह का खाना ला सकती है। वह हैरान कर देने वाली चीज़ें आप के क़दमों में लाकर रख सकती है।"

"फिर उस बूढ़े ने जिन्नी छोड़ क्यों दी ?"

"वह कहता था कि रोज़ रात को उसे जिन्नी से मेनका का नाच देखने की आदत पड़ गयी थी। रात को जिन्नी मेनका के कपड़े पहनकर और पैरों में घुँघरू बाँधकर मेनका का वह नाच दिखाती जो सिर्फ़ इन्द्र के दरबार में होता है।"

"फिर ?"

"आस-पड़ोस में शोर मच गया कि रात को यहाँ घुँघरुओं की आवाज़ आती

है। इस लिए लोगों से तंग आकर उस ने जिन्नी को छोड़ दिया।"

"आप ने उस बूढ़े से जिन्नी पकड़ने का तरीक़ा पूछा था ?"

"जब मैं छोटा था तब मैं उस बूढ़े से जिन्नी पकड़ने का सारा ढंग पूछकर एक बार जिन्नी पकड़ने के लिए गया था।"

"फिर ?"

"अमावस की रात थी। उस ने बताया था कि जिन्नी सिर्फ़ अँधेरी रात में ही पकड़ी जा सकती है।"

"फिर ?"

"मुझे बड़ा दिलेर समझा जाता था। कुछ अपनी दिलेरी से, और कुछ मशहूरी की झेंप में मैं आधी रात को चल निकला। अभी श्मशान तक पहुँचा था। बाहर के पेड़ों के पास ही मुझे डर लगने लगा। एक घने पेड़ में से कोई जानवर बोला, और मैं उलटे पाँव भागा..."

"शायद वह जिन्नी हो जो पेड़ पर चढ़कर बोली हो..."

"उस बूढ़े ने मुझे बताया था कि सब से पहले जिन्नी के पैरों में बँधे हुए घुँघरुओं की आवाज़ सुनाई देती है।"

"इस का मतलब है कि हर जिन्नी को नाचने की कला आती है।"

"शायद।"

"पर मुझे तो यह कला नहीं आती।"

"सो तुम ने यह मान लिया कि तुम जिन्नी हो ?"

"पर सीधे पैरों वाली जिन्नी, और सीधे रास्तों वाली !"

"यह सीधा रास्ता है ?"

"आप इसे उलटा भी कह सकते हैं, क्योंकि अगर कोई तसवीर को उलटी ओर से देखे तो उसे वह उलटी ही दिखाई देती है।"

"मैं उलटी ओर खड़ा हूँ ?"

"हम ने कल सोचा था कि हम किसी बात का फ़ैसला नहीं करेंगे, हमारी हर बात का फ़ैसला समय करेगा।"

कल की तरह आज भी कुमार ने अलका की बात मान ली, और सारी बात समय के फ़ैसले पर छोड़ दी। उस ने चुपचाप अलका के हाथ से प्लेट पकड़ ली, और नमकीन पराँठे का एक कौर तोड़कर शहद की कटोरी में डुबोया और दायें पैर के अँगूठे से ज़मीन को खरोचने लगा।

अलका ने थर्मस की कॉफ़ी प्याले में डाली और प्याला कुमार की तरफ़ बढ़ा दिया।

"मैं सोच ही रहा था कि अगर हम चाय या कॉफ़ी भी ले आते...एक बात उस बूढ़े ने ठीक कही थी।"

"क्या ?"

"कि जिन्नियाँ कई तरह के खाने सजाकर जब भी चाहें आप के लिए परोस सकती हैं।"

"पर आप उस बूढ़े से एक बात पूछनी भूल गये !"

"क्या ?"

"आप ने जिन्नी पकड़ने का तरीक़ा पूछ लिया, पर जिन्नी से अपने आप को छुड़ाने का तरीक़ा नहीं पूछा।"

"वही तरीक़ा मैं खोज रहा हूँ। खोज लूँगा।"

"आज इस नदी पर यही तरीक़ा ढूँढ़ने आये थे ?"

"अगर सच पूछो तो, यही तरीक़ा ढूँढ़ने आया था...कल रात..."

"कल रात कोई तरीक़ा सूझा था ?"

"कल रात सपने में मैं ने यह नदी देखी थी ?"

"मैं भी नदी के किनारे बैठी थी, या नहीं ?"

"इसी तरह नीली चद्दर लपेटकर तू इस नदी में नहा रही थी।"

"और मेरे बालों में फूल भी लगे हुए थे ?"

"मैं ने फूलों की यह टहनी तोड़कर पानी में यों ही नहीं फेंकी थी। तुम्हारे बालों में लगाने के लिए ही मैं ने पानी में रखी थी।"

"फिर ?"

"सपने जब तक सच नहीं बनते, ये इनसान के पीछे ही रहते हैं..."

"और आप ने पीछा छुड़ाने के लिए इस सपने को सच कर के देख लिया ?"

"हाँ।"

"एक रात को मुझे भी सपना आया था।"

"इस नदी का !"

"नहीं ?"

"फिर ?"

"मैं ने देखा कि आप के काम करने की मेज़ पर काग़ज़ रखकर उस पर इंचों के निशान लगा रही हूँ।"

"फिर ?"

"निशान लगा-लगाकर मैं थक रही, पर वह काग़ज़ जादू के ज़ोर से जैसे बढ़ता ही गया।"

"फिर ?"

"फिर मैं ने उस काग़ज़ से पूछा कि वह मेरे साथ इस तरह क्यों कर रहा था।"

"फिर ?"

"अजीब बात है ! जब मैं काग़ज़ से बातें करने लगी तो वह काग़ज़ भी मेरे साथ बातें करने लगा ।"

"यू डैम !"

"उस काग़ज़ ने मुझे बताया कि वह मेरे सपनों का काग़ज़ था, और मैं चाहे सारी उमर उस पर इंचों के निशान लगाती रहूँ, वह कभी ख़त्म नहीं हो सकता था।"

"यू डैम..."

"जिन्नी उर्फ़ डैविल !"

"चलो अब नाश्ता करके लौट चलें। आज सवेरे से कोई काम नहीं किया।"

"चलो, कुछ घण्टे काम कर लें; क्या पता, कल सवेरे फिर आना पड़े।"

"यहाँ?"

"यहाँ नहीं। शायद उस पहाड़ की चोटी पर जाना पड़ेगा।"

"क्यों?"

"क्योंकि सपने हमेशा बढ़ते रहते हैं। चेतन प्रयास के पैर चाहे उलटे हों पर सपनों के पैर सीधे होते हैं। आज वे इस नदी तक आये थे, कल पहाड़ की चोटी पर चढ़ेंगे..."

कुमार भौचक्का होकर अलका की ओर देखने लगा। उसे लगा कि वह स्वतन्त्रता के जिस शिखर पर खड़ा था, किसी दिन यह अलका उसे वहाँ से इस तरह खींचेगी कि वह शिखर से फिसलकर मुहब्बत की गहरी खाई में जा पड़ेगा।

'प्रयास के पैर चाहें उलटे हों, पर सपने के पैर सीधे होते हैं,' अलका की यह बात कुमार के कानों में एक काँटे की तरह कई दिन चुभती रही।...और फिर एक रात कुमार को सपना आया कि वह एक गद्दी मर्द की तरह अपनी कमर से एक लम्बा और काला रस्सा बाँधकर जंगल में भेड़ें चरा रहा था। भेड़ों को चराते-

चराते उसे बड़ी भूख लगी। पर आसपास के चश्मे के पानी के सिवा कुछ न था। पानी की उस ने दो अंजुलियाँ पी थीं कि उसे लगा पानी उस के ख़ाली पेट में चुभने लगा था। वह कलेजे पर हाथ रखकर कँटीले झाड़ों को मुँह मारती हुई भेड़ों की तरफ़ देखने लगा।...फिर उस ने आँखें मलीं और देखा कि सुनसान जंगल में एक परी उतर आयी थी। खाल की मोटी जूती उस ने पैरों में पहनी थी जिस से वह बिना आहट के ठुमक-ठुमक चल रही थी। सिर पर उस ने लाल रंग का अँगरखा बाँध रखा था, और उस की हरी क़मीज़ की कमर से काले रेशम की एक रस्सी बँधी हुई थी। दोनों बाँहें ऊपर उठाकर अपने सिर पर एक हँड़िया उठायी हुई थी। जिस से उस के चेहरे का काफ़ी हिस्सा उस की बाँहों में छिपा हुआ था। कुमार एक पेड़ की ओट में हो गया, ताकि वह परी जब पेड़ के पास से गुज़रे, वह उस तरफ़ से उस का मुख देख सके। जिस पतली-सी पगडण्डी पर वह परी चल कर आ रही थी, वह पगडण्डी इस पेड़ के पास से गुज़रती थी। वहाँ कुमार पेड़ की एक टहनी पर हाथ रखकर खड़ा था। वह परी जब पेड़ के पास आयी तो उस ने सिर से हँड़िया उतारकर पेड़ के तने से टिका दी और सिर का लाल अँगरखा उतार कर तने के पास बिछा दिया। हँड़िया में रखे हुए पक-वान की ख़ुशबू कुमार के कलेजे में इस तरह मँडराने लगी कि वह पेड़ की ओट से हट कर हँड़िया के पास आ गया। उसे इतनी भूख लगी हुई थी कि अगर वह हाँड़ी पेड़ के तने की बजाय परी के सिर पर भी रखी होती तो वह एक झटके से हँड़िया छीन लेता।

"न...न...न..." परी ने कहा, और कुमार का हाथ पकड़कर उस ने उसे ज़मीन पर बिछे हुए अँगरखे पर बिठा दिया। हँड़िया का ढक्कन भी परी ने अपने हाथों से उतारा, और फिर भरी हुई हँड़िया कुमार के सामने रख दी। कुमार अपनी भूख पर लजा गया, इस से आँख उठाकर वह परी के चेहरे की ओर देखने का साहस न कर सका। वह दोनों हाथों से हँड़िया में से पकवान निकालकर खाने लगा। कुमार ने जब भरपेट खा लिया तो उस ने लजायी-सी आँखों से परी की ओर देखा। देखा, और देखता रह गया। अलका उस के सामने खड़ी थी।

कुमार जब सोकर उठा तो उस ने हाथ से अपने बदन को छुआ। उस की कमर से कोई रस्सी नहीं बँधी थी। पर उसे लगा कि अलका सारी की सारी एक रस्सी बन गयी थी जो रात को सपनों में भी उसके साथ बँधी रहती थी।

आज कुमार ने सोचा कि सपनों को मानने की जगह, और उन की ज़िद पूरी करने की जगह वह एकदम बेलिहाज़ होकर इन सपनों को पूरा करने से इनकार कर देगा। नदी का सपना उस ने पूरा करके देख लिया था; कुछ न बना था। सपने अब भी उस के पीछे पड़े हुए थे।...

सुबह अलका आयी। उस के आने तक कुमार ने अलमारी में से एक गद्दिन पोशाक निकालकर बाहर रख ली थी। यह पोशाक बहुत पहले कुमार ने एक मेले में ख़रीदी थी, और उस ने सोचा था कि किसी दिन वह अलका को यह पोशाक पहनाकर एक तसवीर पेंट करेगा। कुमार ने मेज़ पर नया कैनवस लगा लिया।

"ग़ुसलख़ाने में जाकर कपड़े बदल लो।"

"अच्छा।"

"यह जूती कुछ बड़ी लगती है, पर ठीक है।"

"यह क़मीज़ भी खुली है।"

"यह खुली ही होती है। कमर में जब यह काली रस्सी बाँध लोगी तो यह खुली नहीं लगेगी।"

अलका जब कपड़े बदल आयी तो खुले बाल लिये कुमार की कुरसी के सामने घुटने टेककर बैठ गयी, और बोली, "चोटियाँ बना दो, जैसी गद्दिनों की लम्बी, पतली चोटियाँ होती हैं।"

कुमार ने नहीं, पर कुमार के हाथों ने एक मिनट के लिए कहना मानने से इनकार कर दिया। पर फिर कुमार ने चुपचाप अलका की चोटियाँ बना दीं।

"अँगरखा मैं ख़ुद बाँध लेती हूँ, पर यह रस्सी मुझ से ठीक नहीं बँधी।" अलका ने कहा और काले रेशम की रस्सी कुमार के हाथ में दे दी।

कुमार ने जब अलका के गिर्द बाँहें डालकर रस्सी को लपेटा तो उस ने चौंक-कर अलका के मुँह की ओर देखा। सारी की सारी अलका से वह ख़ुशबू आ रही थी जो कुमार को रात में सपने की हँड़िया से आयी थी।

कुमार ने एक कशिश लेकर अलका की कमर से रस्सी बाँध दी, पर उसे लगा कि उसे बड़ी भूख लगी हुई थी। सुबह का नाश्ता लिये अभी आधा घण्टा भी नहीं हुआ था पर भरपेट किया हुआ नाश्ता न जाने कहाँ चुक गया था।

"काम करने से पहले कुछ खा लें। तुम्हें भूख नहीं लगी?"

"मैं अभी नाश्ता करके आयी हूँ।"

"नाश्ता मैं ने भी किया था।"

"कॉफ़ी बना दूँ?"

"नहीं, कुछ नहीं चाहिए।"

कुमार ने ज़िद में आकर कुछ खाने-पीने से इनकार कर दिया, और अपने ब्रशों को रंगों में भिगोने लगा।

रंगों ने, और रंगों में से उभरती तसवीर ने कुमार की ज़िद रख ली। ढाई घण्टे बीत गये। भूख कुमार को भुलाये रही। फिर एक अजीब बात हुई। कुमार को ज्यों ही तसवीर में एक हाँड़ी बनाने का ख़याल आया कि भूख कलेजे में मँड-

लाने लगी।

"मुझे कॉफ़ी बना दो, अलका ! अगर हरिया कहीं बाहर दिखता है तो उसे कह दो, नहीं तो ख़ुद बना दो।"

हरिया कुमार का पहाड़ी नौकर था। कॉफ़ी-चाय बनाता-बनाता आहिस्ता-आहिस्ता सब कुछ सीख गया था। पर उस का ज़्यादा समय पानी भरने में कटता था। पीने का पानी कुमार जिस चश्मे से मँगवाया करता था, वह चश्मा कुछ दूर था। इसलिए अलका ही वक़्त-बेवक़्त चाय बनाती।

अलका जब कॉफ़ी बनाकर लायी तो कुमार ने कॉफ़ी के प्याले को सूँघकर देखा। प्याले में कॉफ़ी की गन्ध आनी थी कि कुमार ने एक लम्बा साँस खींचकर अलका के हाथों को तीन-चार बार सूँघा। अलका के हाथों से वही गन्ध आ रही थी जो रात में कुमार को सपने की हाँड़ी से आयी थी। और कुमार को डर लगने लगा कि जिस तरह उस ने सपने में उस हँड़िया के पकवान को बेसब्री से खाया था, उसी तरह वह अलका के जिस्म को भी बेसब्री से खाने लगेगा।

पर आज कुमार ने सपनों से बेलिहाज़ होने की ज़िद ले रखी थी। कॉफ़ी का एक लम्बा घूँट लेकर कुमार ने कहा, "अगर तुम्हें सारी उमर यही कपड़े पहनने पड़े अलका !"

"तो अलका उर्फ़ गद्दिन बन जाऊँगी, जिस तरह अलका उर्फ़ जिन्नी बनी थी, या अलका उर्फ़ डैविल बनी थी !"

"अलका उर्फ़ परी ! मैं ने रात सपने में तुम्हें एक परी समझा था।"

"परी का मतलब होता है, परों वाली। फिर आप ने झुंझलाकर परी के पंख नहीं तोड़ दिये ?"

कुमार एक मिनट सोच में पड़ गया। फिर हारी हुई हँसी से कहने लगा, "तुम मुझे क्या समझती हो, अलका ? बहुत बेरहम दिल हूँ मैं !"

"रहम की मुझे कभी ज़रूरत नहीं पड़ी, इसलिए किसी के रहमदिल होने या बेरहम होने से मुझे कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता।"

"पर तुम यह तो सोचती हो कि मैं परी के पंख तोड़ देने वाला आदमी हूँ ?"

"ज़रूरत पड़े तो उस के पैर भी तोड़ देने वाला आदमी !"

कुमार चुप हो गया। फिर धीरे से बोला, "यह तुम ने ठीक कहा है, अलका। जिस रास्ते पर मैं जाना न चाहूँ, अगर मेरे पैर मेरे कहने में न हों, तो मैं ऐसा आदमी हूँ जो अपने पैर भी तोड़ ले।"

"मैं जानती हूँ।"

"रात को सपने में मैं ने देखा था कि मैं जंगल में भेड़ें चरा रहा हूँ...सवेरे उठकर मुझे लगा, मेरी जैसे सारी तसवीरें भेड़ें बन गयी हों...मैं तसवीरों को

सुबह अलका आयी । उस के आने तक कुमार ने अलमारी में से एक गद्दिन पोशाक निकालकर बाहर रख ली थी। यह पोशाक बहुत पहले कुमार ने एक मेले में ख़रीदी थी, और उस ने सोचा था कि किसी दिन वह अलका को यह पोशाक पहनाकर एक तसवीर पेंट करेगा। कुमार ने मेज़ पर नया कैनवस लगा लिया।

"ग़ुसलख़ाने में जाकर कपड़े बदल लो।"

"अच्छा।"

"यह जूती कुछ बड़ी लगती है, पर ठीक है।"

"यह क़मीज़ भी खुली है।"

"यह खुली ही होती है। कमर में जब यह काली रस्सी बाँध लोगी तो यह खुली नहीं लगेगी।"

अलका जब कपड़े बदल आयी तो खुले बाल लिये कुमार की कुरसी के सामने घुटने टेककर बैठ गयी, और बोली, "चोटियाँ बना दो, जैसी गद्दिनों की लम्बी, पतली चोटियाँ होती हैं।"

कुमार ने नहीं, पर कुमार के हाथों ने एक मिनट के लिए कहना मानने से इनकार कर दिया। पर फिर कुमार ने चुपचाप अलका की चोटियाँ बना दीं।

"अँगरखा मैं ख़ुद बाँध लेती हूँ, पर यह रस्सी मुझ से ठीक नहीं बँधी।" अलका ने कहा और काले रेशम की रस्सी कुमार के हाथ में दे दी।

कुमार ने जब अलका के गिर्द बाँहें डालकर रस्सी को लपेटा तो उस ने चौंककर अलका के मुँह की ओर देखा। सारी की सारी अलका से वह ख़ुशबू आ रही थी जो कुमार को रात में सपने की हँड़िया से आयी थी।

कुमार ने एक कशिश लेकर अलका की कमर से रस्सी बाँध दी, पर उसे लगा कि उसे बड़ी भूख लगी हुई थी। सुबह का नाश्ता लिये अभी आधा घण्टा भी नहीं हुआ था पर भरपेट किया हुआ नाश्ता न जाने कहाँ चुक गया था।

"काम करने से पहले कुछ खा लें। तुम्हें भूख नहीं लगी?"

"मैं अभी नाश्ता करके आयी हूँ।"

"नाश्ता मैं ने भी किया था।"

"कॉफ़ी बना दूँ?"

"नहीं, कुछ नहीं चाहिए।"

कुमार ने ज़िद में आकर कुछ खाने-पीने से इनकार कर दिया, और अपने ब्रशों को रंगों में भिगोने लगा।

रंगों ने, और रंगों में से उभरती तसवीर ने कुमार की ज़िद रख ली। ढाई घण्टे बीत गये। भूख कुमार को भुलाये रही। फिर एक अजीब बात हुई। कुमार को ज्यों ही तसवीर में एक हाँड़ी बनाने का ख़याल आया कि भूख कलेजे में मँड-

लाने लगी।

"मुझे कॉफ़ी बना दो, अलका ! अगर हरिया कहीं बाहर दिखता है तो उसे कह दो, नहीं तो ख़ुद बना दो।"

हरिया कुमार का पहाड़ी नौकर था। कॉफ़ी-चाय बनाता-बनाता आहिस्ता-आहिस्ता सब कुछ सीख गया था। पर उस का ज़्यादा समय पानी भरने में कटता था। पीने का पानी कुमार जिस चश्मे से मँगवाया करता था, वह चश्मा कुछ दूर था। इसलिए अलका ही वक़्त-बेवक़्त चाय बनाती।

अलका जब कॉफ़ी बनाकर लायी तो कुमार ने कॉफ़ी के प्याले को सूँघकर देखा। प्याले में कॉफ़ी की गन्ध आनी थी कि कुमार ने एक लम्बा साँस खींचकर अलका के हाथों को तीन-चार बार सूँघा। अलका के हाथों से वही गन्ध आ रही थी जो रात में कुमार को सपने की हाँड़ी से आयी थी। और कुमार को डर लगने लगा कि जिस तरह उस ने सपने में उस हँड़िया के पकवान को बेसब्री से खाया था, उसी तरह वह अलका के जिस्म को भी बेसब्री से खाने लगेगा।

पर आज कुमार ने सपनों से बेलिहाज़ होने की ज़िद ले रखी थी। कॉफ़ी का एक लम्बा घूँट लेकर कुमार ने कहा, "अगर तुम्हें सारी उमर यही कपड़े पहनने पड़े अलका !"

"तो अलका उर्फ़ गद्दिन बन जाऊँगी, जिस तरह अलका उर्फ़ जिन्नी बनी थी, या अलका उर्फ़ डैविल बनी थी !"

"अलका उर्फ़ परी ! मैं ने रात सपने में तुम्हें एक परी समझा था।"

"परी का मतलब होता है, परों वाली। फिर आप ने झुँझलाकर परी के पंख नहीं तोड़ दिये ?"

कुमार एक मिनट सोच में पड़ गया। फिर हारी हुई हँसी से कहने लगा, "तुम मुझे क्या समझती हो, अलका ? बहुत बेरहम दिल हूँ मैं !"

"रहम की मुझे कभी ज़रूरत नहीं पड़ी, इसलिए किसी के रहमदिल होने या बेरहम होने से मुझे कुछ फ़र्क़ नहीं पड़ता।"

"पर तुम यह तो सोचती हो कि मैं परी के पंख तोड़ देने वाला आदमी हूँ ?"

"ज़रूरत पड़े तो उस के पैर भी तोड़ देने वाला आदमी !"

कुमार चुप हो गया। फिर धीरे से बोला, "यह तुम ने ठीक कहा है, अलका। जिस रास्ते पर मैं जाना न चाहूँ, अगर मेरे पैर मेरे कहने में न हों, तो मैं ऐसा आदमी हूँ जो अपने पैर भी तोड़ ले।"

"मैं जानती हूँ।"

"रात को सपने में मैं ने देखा था कि मैं जंगल में भेड़ें चरा रहा हूँ...सवेरे उठकर मुझे लगा, मेरी जैसे सारी तसवीरें भेड़ें बन गयी हों...मैं तसवीरों को

भेड़ें नहीं बनने दूँगा...तुम ने एक दिन कहा था कि सपनों के पैर सीधें होते हैं और प्रयास के पैर उलटे। आज मैं तुम से शर्त लगा सकता हूँ, कि प्रयास के पैर सीधें होते हैं, और सपनों के उलटे।"

"शर्त भले ही रख लीजिये। पर मुझे डर है कि कहीं यह शर्त उलटी न आ पड़े।"

"कैसे ?"

"यही कि शायद इस का उलटा-सीधा देखने में ही सारी उमर गुज़र जाये।"

"मेरे पास उमर इतनी फ़ालतू नहीं कि इस का उलटा-सीधा देखने में बिता दूँ। मैं काम करना चाहता हूँ।"

"और काम सपनों के सीधे पैरों से नहीं हो सकता ?—सीधे पैरों से, सीधे हाथों से।"

"जो हाथ जिस्म के खिलवाड़ में उलझ जायें, वे काम नहीं कर सकते। मैं जिस्म के अँधेरे में खो जाना नहीं चाहता !"

"मेरे ख़याल में जिन्दगी का रास्ता जिस्म की रोशनी में मिलता है।"

"रोशनी मन की होती है, अलका तन की नहीं !"

"जिस के तन में मन रोशन हो, वह जिस्म अँधेरा नहीं हो सकता।"

देखने को अलका की बात भारी पड़ रही थी, इसलिए कुमार खीझ उठा। अलका से उस ने यह बात इसलिए नहीं चलायी थी कि वह अपना नुक़्ता-नज़र अलका को समझा सके, या अलका का समझ सके। पर बात ख़ुद ही यह मोड़ ले गयी थी। इसलिए कुमार ने बात का रुख़ बदल दिया। उस के मन में खीझ थी, और वह चाहता था कि अलका भी खीझ उठे। कहने लगा :

"जिस्म अँधेरा हो या रोशन, पर तुम आज बीस रुपये नहीं कमा सकोगी।"

"न सही।"

"ये रहे उस दिन के नदी वाले पैसे।"

"अच्छा !"

"शायद कभी न कमा सको।"

"न सही !"

"फिर क्या करोगी ?"

"बेरोज़गार लोग क्या करते हैं ? कुछ नहीं करते।"

कुमार का ख़याल था कि उस ने अलका को बड़ी कटीली बात कही थी, इसलिए अलका ज़रूर झुँझला उठेगी। अगर उस की आँखों में आँसू नहीं भी उतरेंगे, तो उस की आवाज़ में आँसू ज़रूर उतर आयेंगे। पर कुमार ने देखा कि अलका बड़े आराम से अपने बाजू के खुले कफ़ों को मिला रही थी, और बाहर

बरामदे में पानी का घड़ा लेकर लौटे हुए हरिया को आवाज़ देकर कह रही थी कि कॉफ़ी के ख़ाली प्यालों को उठाकर ले जाये।

कमार को अपनी कही हुई बात पर पछतावा हुआ, और दिल की कड़वाहट को हटाने के लिए बोला, "इधर देखो, रोशनी की ओर!"

"क्यों ?"

"तुम्हारी आँखें भर आयी हैं।"

"वह किस लिए ?"

"मेरी बात रुलाने वाली नहीं थी क्या ?"

"होगी, पर मैं रो नहीं सकती।"

"क्यों ?"

"क्योंकि जिस दिन मैं इस राह पर चली थी, आँखों के सारे आँसू पीकर चली थी।"

"अलका !"

अलका ने कोई जवाब न दिया, और पहाड़ी कपड़े उतारकर उस ने अपने कपड़े पहन लिये। अलका जब चली गयी तो कुमार को लगा कि बेगानगी का यह रास्ता, जो अलका के सूखे आँसुओं से भीगा हुआ था, बहुत फिसलन भरा रास्ता था! और किसी दिन...किसी दिन इस रास्ते से कुमार का पैर ज़रूर फिसल जायेगा, और वह अपनत्व की गहरी खाइयों में जा पड़ेगा।

अगले दिन सुबह अलका आयी तो कुमार रोज़ की तरह मेज़ पर काम नहीं कर रहा था। चारपाई पर लेटे हुए कुमार अपना सिर चारपाई के पाये पर रखा हुआ था। एक हाथ से वह पाये को सहला रहा था जैसे वह काफ़ी देर से पाये के साथ अपने दुख-सुख की बातें करता हो।

"तबीयत ठीक नहीं है क्या ?"

"ठीक है।"

"रात को देर तक काम करते रहे होंगे ?"

"नहीं।"

"कुछ पढ़ते रहे क्या ?"

"नहीं, यों ही नींद उचट गयी थी।"

रातें चाहे अँधेरी हों चाहे उजली, कुमार रात को पहाड़ी पगडण्डियों पर घूमता था। वह अकसर अकेला घूमता। कभी-कभार वह अलका के चौबारे के सामने से गुज़रते हुए अलका को बुला लेता। पर पिछले कई दिनों से उस ने अलका को नहीं बुलाया था।

"तुम कल शाम को क्या करती रही हो ?"

"कल ? जो रोज़ करती हूँ।"

"रोज़ शाम को क्या करती हो ?"

"कुछ भी...कभी औरतों के साथ चश्मे से पानी भरने भी चली जाती हूँ।"

"तुम ख़ुद पानी भरने जाती हो ? वह बनिये का लड़का पानी भरा करता था ?"

"अब भी भरता है। यों भी कभी न कभी औरतों का साथ मुझे अच्छा लगता है। वे पानी भरते हुए ढेरों गीत गाती हैं।"

"तुम भी उन के साथ गाती हो ?"

"कई बार।"

"और क्या करती हो शाम को ?"

"कई बार मैं उन के साथ मटर तोड़ने चली जाती हूँ।"

"और जब मटरों का मौसम न हो ?"

"मोंगरे तोड़ने चली जाती हूँ, मिर्चें तोड़ने चली जाती हूँ, पालक की पत्तियाँ तोड़ने चली जाती हूँ। और कुछ नहीं तो उन के साथ धान फटकने बैठ जाती हूँ..."

"और ?"

"और कई बार उन से मैं ग़लीचे की बुनाई सीखती हूँ।"

"वह किस लिए ?"

"ग़लीचे में जब फूल बनते हैं तो मुझे अच्छे लगते हैं।"

"और ?"

"कई बार नाथी और रामो मुझ से पढ़ने के लिए आ जाती हैं।"

"वे क्या पढ़ती हैं ?"

"उन के ख़ाविन्द फ़ौज में गये हुए हैं। उन का दिल चाहता है कि वे अपने ख़ाविन्दों को ख़ुद ख़त लिखें।"

"तुम कल शाम को क्या करती रही हो ?"

"कल ? कल सालिया के बूढ़े बाप के घुटनों पर तेल मलती रही हूँ। उस के घुटनों पर बड़ी सूजन थी। उन की गाय बीमार थी, सालिया और उस की घर वाली उस की दवा-दारू में लगे हुए थे।"

"तुम ने इन सब के साथ सम्बन्ध जोड़ लिये हैं...कितनी आसानी से तुम रिश्ते जोड़ लेती हो...तुम झट किसी को बहन कह लेती हो, किसी को अम्माँ, किसी को बापू !...परसों मैं चश्मे के पास से गुज़र रहा था। मेरे पैरों की आवाज़ सुनकर करमे की अन्धी माँ मुझ से तुम्हारी बात पूछने लगी। उसे रोष था कि तुम तीन दिन से उस के पास नहीं गयी हो। उस की बेटी उस से ठिठोली कर रही थी कि तीन दिन से अम्माँ की लाठी खोयी हुई थी...पर अलका ?"

"जी।"

"तुम्हारा और मेरा क्या रिश्ता है !"

"बीस रुपयों का रिश्ता ?"

कुमार ने एक उच्छ्वास लिया, और सिरहाने के नीचे हाथ डालकर बीस रुपये निकाले।

"ये लो अपने बीस रुपये।"

"पर आप ने कहा था कि अब मैं ये रुपये कभी न कमा सकूँगी।"

"कहा था, पर..."

"मुझे रोज़गार छूटने का कोई शिकवा नहीं।"

"आगे का मुझे पता नहीं, पर ये तुम्हारे पिछले हिसाब के देने हैं।"

"पिछले ?"

"हाँ।"

"कब के ?"

"रात के।"

"आज रात के ? इस गुज़र चुकी रात के ?"

"हाँ।"

"वह कैसे ?"

"मेरा इक़रार था कि मुझे जब भी तुम्हारे जिस्म की ज़रूरत पड़ेगी, मैं बीस रुपयों से उस ज़रूरत की क़ीमत दूँगा।"

"हाँ, पर रात को मैं यहाँ आप के पास नहीं थी।"

"तुम रात को यहाँ थीं, अलका, सारी रात यहाँ थीं।"

"सपने में ?"

"हाँ, सपने में।"

अलका हँस पड़ी।

"ठीक है।"

"रात को देर तक काम करते रहे होंगे ?"

"नहीं।"

"कुछ पढ़ते रहे क्या ?"

"नहीं, यों ही नींद उचट गयी थी।"

रातें चाहे अँधेरी हों चाहे उजली, कुमार रात को पहाड़ी पगडण्डियों पर घूमता था। वह अकसर अकेला घूमता। कभी-कभार वह अलका के चौबारे के सामने से गुज़रते हुए अलका को बुला लेता। पर पिछले कई दिनों से उस ने अलका को नहीं बुलाया था।

"तुम कल शाम को क्या करती रही हो ?"

"कल ? जो रोज़ करती हूँ।"

"रोज़ शाम को क्या करती हो ?"

"कुछ भी...कभी औरतों के साथ चश्मे से पानी भरने भी चली जाती हूँ।"

"तुम ख़ुद पानी भरने जाती हो ? वह बनिये का लड़का पानी भरा करता था ?"

"अब भी भरता है। यों भी कभी न कभी औरतों का साथ मुझे अच्छा लगता है। वे पानी भरते हुए ढेरों गीत गाती हैं।"

"तुम भी उन के साथ गाती हो ?"

"कई बार।"

"और क्या करती हो शाम को ?"

"कई बार मैं उन के साथ मटर तोड़ने चली जाती हूँ।"

"और जब मटरों का मौसम न हो ?"

"मोंगरे तोड़ने चली जाती हूँ, मिर्चें तोड़ने चली जाती हूँ, पालक की पत्तियाँ तोड़ने चली जाती हूँ। और कुछ नहीं तो उन के साथ धान फटकने बैठ जाती हूँ..."

"और ?"

"और कई बार उन से मैं ग़लीचे की बुनाई सीखती हूँ।"

"वह किस लिए ?"

"ग़लीचे में जब फूल बनते हैं तो मुझे अच्छे लगते हैं।"

"और ?"

"कई बार नाथी और रामो मुझ से पढ़ने के लिए आ जाती हैं।"

"वे क्या पढ़ती हैं ?"

"उन के ख़ाविन्द फ़ौज में गये हुए हैं। उन का दिल चाहता है कि वे अपने ख़ाविन्दों को ख़ुद ख़त लिखें।"

"तुम कल शाम को क्या करती रही हो ?"

"कल ? कल सालिया के बूढ़े बाप के घुटनों पर तेल मलती रही हूँ। उस के घुटनों पर बड़ी सूजन थी। उन की गाय बीमार थी, सालिया और उस की घर वाली उस की दवा-दारू में लगे हुए थे।"

"तुम ने इन सब के साथ सम्बन्ध जोड़ लिये हैं...कितनी आसानी से तुम रिश्ते जोड़ लेती हो...तुम झट किसी को बहन कह लेती हो, किसी को अम्माँ, किसी को बापू !...परसों मैं चश्मे के पास से गुज़र रहा था। मेरे पैरों की आवाज़ सुनकर करमे की अन्धी माँ मुझ से तुम्हारी बात पूछने लगी। उसे रोष था कि तुम तीन दिन से उस के पास नहीं गयी हो। उस की बेटी उस से ठिठोली कर रही थी कि तीन दिन से अम्माँ की लाठी खोयी हुई थी...पर अलका ?"

"जी।"

"तुम्हारा और मेरा क्या रिश्ता है !"

"बीस रुपयों का रिश्ता ?"

कुमार ने एक उच्छ्वास लिया, और सिरहाने के नीचे हाथ डालकर बीस रुपये निकाले।

"ये लो अपने बीस रुपये।"

"पर आप ने कहा था कि अब मैं ये रुपये कभी न कमा सकूँगी।"

"कहा था, पर..."

"मुझे रोज़गार छूटने का कोई शिकवा नहीं।"

"आगे का मुझे पता नहीं, पर ये तुम्हारे पिछले हिसाब के देने हैं।"

"पिछले ?"

"हाँ।"

"कब के ?"

"रात के।"

"आज रात के ? इस गुज़र चुकी रात के ?"

"हाँ।"

"वह कैसे ?"

"मेरा इक़रार था कि मुझे जब भी तुम्हारे जिस्म की ज़रूरत पड़ेगी, मैं बीस रुपयों से उस ज़रूरत की क़ीमत दूँगा।"

"हाँ, पर रात को मैं यहाँ आप के पास नहीं थी।"

"तुम रात को यहाँ थीं, अलका, सारी रात यहाँ थीं।"

"सपने में ?"

"हाँ, सपने में।"

अलका हँस पड़ी।

"यह हँसने की बात नहीं, अलका ! जिस इक़रार को कोई दिन में पूरा कर ले, रात को ख़ुद ही उस इक़रार के सामने झूठा पड़ जाये, उसे क्या कहा जाये !"

"उसे यह कहा जाये कि वह अपने आप से ग़लत इक़रार न किया करे।"

"मुझे ग़लत या ठीक की बहस में नहीं पड़ना। पर जो इक़रार मैं ने अपने आप से किया हुआ है, वह मैं ज़रूर पूरा करूँगा। अगर मेरे सपने मेरा इक़रार तोड़ेंगे तो मैं उस की क़ीमत दूँगा।"

"फिर तो मेरा इन्तज़ार पक्का हो जायेगा।"

"तुम्हारा मतलब है कि मुझे ऐसे सपने रोज़ आया करेंगे ? यू डैविल..."

"मेरा यह नाम पुराना पड़ गया है, आज कोई नया नाम रखना चाहिए था !"

ग़ुस्से में कुमार के हाथ काँपने लगे। चारपाई के पाये को उस ने दोनों हाथों में इस तरह कसा कि अगर पाये की जगह उस के हाथों में अलका का गला होता, तो वह सचमुच घुट गया होता।

"किसी चीज़ का कोई बदल नहीं होता..." अलका ने हँसकर कहा, और पाये के पास बैठती हुई बोली, "अगर मेरा गला दबाने का दिल है तो दबा दीजिये। लकड़ी के पाये से अपने हाथ क्यों छीलते हो ?"

कुमार ने सचमुच ही चारपाई से उठकर दोनों हाथ अलका के गले पर कस दिये। हाथों के छूने की देर थी कि कुमार को लगा कि जैसे उस के हाथ ग़ुस्से में नहीं, अलका के अंग-अंग को छूने की तड़प से काँप रहे थे।

कुमार ने हाथ इस तरह झटककर अलका की गरदन से दूर हटा लिये जैसे वे भूले-भटके आग की लपट से छू गये हों।

"माई गाड..." कुमार ने अपने माथे से घबराहट की बूँदें पोंछीं।

"आख़िर ईश्वर को याद करने का भी तो कोई समय चाहिए !" अलका हँसी।

"तुम्हारा बस चले तो मुझे वॉन गॉग बनाकर छोड़ो !"

"वॉन गॉग ?"

"एक बार वह किसी लड़की से मिलने गया था..."

"फिर ?"

"उसे देखकर लड़की के बाप ने लड़की को दूसरे में कमरे भेज दिया।"

"फिर ?"

"रात का वक़्त था। मेज़ पर मोमबत्ती जल रही थी। वॉन गॉग ने मोमबत्ती की लौ पर अपना हाथ रख दिया।"

"क्या ?"

"उस ने लड़की के बाप को कहा कि वह उतनी देर तक मोमबत्ती की लौ पर हाथ रखे रहेगा जितनी देर तक वह लड़की उस के सामने खड़ी रहेगी।... तुम इस दीवानगी को समझ सकती हो ?"

"हाँ।"

"मैं नहीं समझता।"

"उस लड़की का बाप भी नहीं समझ सका होगा।"

"नहीं, वह भी नहीं समझ सका था। कमरे में जब जलते हुए मांस की बू फैल गयी तो लड़की के बाप ने हाथ मारकर मोमबत्ती बुझा दी और उस दीवाने को कमरे से निकाल दिया।"

"अपनी दीवानगी की क़ीमत ख़ुद ही चुकानी पड़ती है।"

"पर मैं यह क़ीमत चुकाने के लिए तैयार नहीं हूँ। यह दीवानगी मुझे क़तई मंज़ूर नहीं।"

"यह दीवानगी हर किसी के हिस्से नहीं आती। वॉन गॉग और अलका जैसे लोग कभी-कभी ही पैदा होते हैं।"

अलका ने जब वॉन गॉग से अपनी तुलना दी तो कुमार को हँसी आ गयी।

"अगर तुम वॉन गॉग के काल में पैदा हुई होतीं तो बेचारे को इतने दुखों में से न गुज़रना पड़ता !"

"शायद मैं इस जन्म में उस लड़की का हिसाब ही चुकता कर रही होऊँ, जिस ने जलते हुए मांस की बू तो सूँघ ली थी, पर साथ के कमरे से बाहर निकलकर नहीं आयी थी।"

"यू आर क्रेज़ी !"

"सिर्फ़ इतना ख़याल रखना कि 'क्रेज़' छूत की बीमारी होती है।"

"यह छूत की बीमारी तुम्हें और वॉन गॉग को ही हो सकती है ! मुझे नहीं हो सकती..."

कुमार ने लापरवाही से अलका का हाथ पकड़ा। हाथ को पहले अपने माथे से छुआया, फिर अपनी आँखों से, फिर अपने होंठों से और फिर अपनी गरदन से। और फिर कहने लगा, "मैं तुम्हारे हाथों को चाहे एक बार छुऊँ, और चाहे हज़ार बार, यह छूत की बीमारी नहीं हो सकती !"

"यह बीमारी होनी हो तो बिना छुए भी हो जाती है..." अलका ने भी लापरवाही से जवाब दिया।

हवा बहुत तेज़ चल रही थी। अलका की पीठ खिड़की की तरफ़ थी। अलका ने अपने बालों को चाहे कई बार अपने कानों के पीछे किया था, पर माथे की छोटी-छोटी लटें नहीं टिकती थीं। कुमार ने आगे झुककर अलका के माथे पर बिखरे हुए बालों को मुट्ठी में भरा, और फिर उस के होंठों की साँस में से एक

गहरी साँस भरकर बोला, "कोई जर्म मुझ पर असर नहीं कर सकता !"

"जर्म इतने साँसों में नहीं होते जितने ख़यालों में होते हैं।" अलका ने कहा, और साथ के कमरे में जाती हुई बोली, "आओ काम करें।"

कुमार के पैर आदत की तरह साथ के कमरे में चले गये। उस के हाथों ने एक आदत की तरह मेज़ की बत्ती जलायी, पर उसे लगा कि वह अभी इस कमरे में नहीं आया था, वह अभी अपने सोने के कमरे में ही खड़ा था।

"मेरा ख़याल है कि मुझे बीस रुपये और ख़र्चने पड़ेंगे..." कुमार ने कहा, और अलका का हाथ पकड़कर उसे फिर पहले कमरे में ले आया।

कुमार ने कमरे का दरवाज़ा भिड़का दिया, और खिड़की के परदे को ठीक करते हुए बोला, "यह सिर्फ़ जिस्म की मुहताजी है, अलका ! और कुछ नहीं। अगर तुम्हारी जगह इस समय मेरे पास कोई और औरत होती, तो भी इसी तरह होता।"

कुमार की बात बड़ी अस्वाभाविक थी। अत्यन्त अमानवीय। अलका की जगह अगर कोई और औरत होती तो वह इस बात को सह न पाती। अलका ने सिर्फ़ सहन ही नहीं किया, उस ने इस बात को समझा भी, और चुपचाप अपने कपड़े उतारने लगी।

"समझीं ?" कुमार ने पूछा।

"समझ गयी हूँ मैं, आप नहीं समझे।"

"मैं नहीं समझा ? मैं क्या नहीं समझा ?"

"अपनी बात को।"

"मैं अपनी बात को नहीं समझा ?"

"आप यह भी नहीं समझे कि आप ने यह बात क्यों कही है, आप को यह कहने की ज़रूरत क्यों पड़ी ! अगर मेरी जगह कोई और औरत होती तो आप को यह कहने का ख़याल न आता।"

"क्योंकि कोई भी ऐसे समय ऐसी बात न कहता।"

"इसलिए कि लोगों के मन का रिश्ता कोई नहीं होता। सिर्फ़ घड़ी-दो घड़ी के लिए वे रिश्ते का भ्रम डालना चाहते हैं। यह भ्रम चुप रहने से भी पड़ सकता है। इसलिए लोग चुप रहते हैं...पर जब किसी को रिश्ते से डर लगता हो, तो ख़ामोशी इस डर को बढ़ा देती है, इसलिए उसे बोलना पड़ता है, डर को तोड़ना पड़ता है।"

"पर बीस रुपये का रिश्ता कोई ऐसा रिश्ता नहीं हो सकता जिस से किसी को डर लगे...बीस रुपये दिये, रिश्ता बन गया, न दिये टूट गया।"

"जैसी आप की मरज़ी हो, सोच लीजिये। पर कई रिश्ते ऐसे भी होते हैं जो न लफ़्ज़ों की पकड़ में आते हैं और न रुपयों की पकड़ में।"

कुमार ने एक हाथ से अलका को अपनी तरफ़ खींचा, पर अलका की बात सुनकर उस ने दूसरे हाथ से अलका को परे हटा दिया। उस के मन में आया कि जो रिश्ता लफ़्ज़ों की पकड़ में नहीं आ सकता, और जो रिश्ता रुपयों की पकड़ में नहीं आ सकता उस रिश्ते को बाँहों की पकड़ में भी नहीं लाना चाहिए।...

रिश्ता दिखाई नहीं देता था, पर जिस्म दिखता था। रिश्ता जाने कितनी दूर था, पर जिस्म बहुत नज़दीक था :

"रिश्ते को तुम खोजती रहो, मुझे सिर्फ़ तुम्हारा जिस्म चाहिए।" कुमार ने कहा, और अलका के हाथ को इस तरह कसकर पकड़ा जैसे अब अलका ने उस को अस्वीकार कर देना हो।

कुमार की कोहनी अलका की पसलियों में चुभ रही थी। अलका ने कहा कुछ न था, पर कुमार को लग रहा था कि उसे साँस लेना मुश्किल हो रहा है। मुश्किल से साँस लेते हुए अलका के होंठों को कुमार ने अपने होंठों में इस तरह कसा, जैसे वह अलका की साँस तोड़ देना चाहता हो। अलका का जो अस्तित्व कुमार की आवश्यकता बना हुआ था, उसी अस्तित्व से वह दुखा हुआ था। कुमार को अपनी नाड़ियों में उबलता हुआ ख़ून आग की तरह गरम लग रहा था, और आज वह जैसे-जैसे अलका के कोमल बदन को अपने लोहे की तरह जलते हुए शरीर से लगा रहा था, वह सोच रहा था कि यह कोमल-सी लड़की इस लोहे से टूटती क्यों नहीं।

कुमार जल-जलकर हार गया, और फिर रोशनदान से आती हुई सूरज की एक किरण में उस ने देखा कि अलका वैसी की वैसी रेशम के गुच्छे की तरह उस की बाँहों में इकट्ठी हुई पड़ी थी।

कुमार ने जब कपड़े पहनकर कमरे की अलमारी खोली तो अलमारी में से बीस रुपये निकालकर अलका को देते हुए उस ने कोई ऐसी बात कहनी चाही, जो अलका को दुखा सके। पर उसे कोई बात न सूझी। कुमार के होंठों पर बात कोई न आयी, पर एक ऐसी मुसकराहट उभर आयी जो देखनेवाले का अपमान कर रही थी।

कुमार के हाथों से रुपये लेते हुए अलका के होंठों पर भी एक मुसकराहट आयी...पर ऐसी मुसकराहट, जो सारे अपमान को पीकर एक मान से भर गयी हो।

"चालीस रुपये रोज़! बीस रात के सपने के, और बीस दिन के सपने की पूर्ति के!" अलका ने कहा।

"तुम्हारा ख़याल है कि तुम रोज़ रात को मेरे पास एक सपना बेच सकोगी? मुझे आज के बाद तुम्हारा कोई सपना नहीं आयेगा।"

"तो फिर रोज़ रात को जागते रहना..." अलका ने कहा, और चारपाई

से उठकर कपड़े पहनने लगी।

दोपहर तक अलका जिस तरह चुपचाप काम करती रही, दोपहर के बाद उसी तरह चुपचाप उठकर घर चली गयी।

कुमार ने रोटी खायी, कुछ घण्टे और काम किया, और दिन ढलते ही वह सामने के पहाड़ पर घूमने चला गया।

रात गहरी हो गयी थी जब कुमार लौटा। हरिया ने रोज़ की तरह रोटी बनाकर चूल्हे की धीमी आग में गरम रखी हुई थी। कुमार ने रोटी खायी, और जब वह अपनी चारपाई पर सोने लगा तो उसे आनेवाली नींद से डर-सा लगने लगा। वह चारपाई से लपककर उठ बैठा, और उसे लगा कि अगर वह सो गया तो वह नींद से भीगी हुई पगडण्डी से फिसलकर सपने के गहरे कुएँ में जा पड़ेगा।

अपनी जवानी के भरपूर साल कुमार ने आसानी से काट लिये थे। दौलत उसे इस तरह लगती थी जैसे अपने हुनर के एवज़ में अपनी रोटी-कपड़े का ज़िम्मा उस ने एक बार उसे सौंप दिया हो, और फिर बार-बार उसे कुछ कहने से सुर्ख़रू हो गया हो। दौलत ने ख़ुद ही जैसे कुमार के लिए पहाड़ की इस वादी में एक घर बना दिया था, नहीं तो उस ने इतना भी उसे नहीं कहना था। शोहरत उसे हमेशा इस तरह लगती थी जैसे एक बूढ़ी माँ अधिक देर अपने बिगड़े हुए बेटों के पास रहती है—क्योंकि उन्हें दुनियादारी की बड़ी ज़रूरत होती है, पर कभी-कभी वह अपने अच्छे बेटों के पास आकर अपना दुख-सुख रो जाती है। इसलिए वह जब भी आती थी, कुमार उस के पास बैठकर उस की बातें सुन लेता था। और उसे जब भी जाना होता कुमार उस की गठरी उठाकर मोड़ तक छोड़ आता था। ये बातें अब भी वैसी थीं, जैसी कुमार की जवानी के समय। पर कुमार की जवानी को उस के जिस्म की जिस भूख ने कभी नहीं सताया था, वह कुमार को अब सताने लगी थी। इस भूख का भी कुमार को इतना दुख नहीं था, अगर उसे

मालूम होता कि यह सिर्फ़ जिस्म की भूख थी। वह हँसकर इस भूख को दुलरा लेता। जल्दी नहीं तो देर से दुलरा जाती, दुलरा तो जाती ही। पर कुमार अपने मन की गहराइयों से डर रहा था कि कहीं यह भूख सिर्फ़ अलका के जिस्म की भूख न हो। जिस का मतलब था कि वह अलका से प्यार करने लगा था। प्यार करने का मतलब था कि उस के ख़याल और उस के सपने सारी उमर के लिए अलका के रहम पर हो जायेंगे। कुमार ने हमेशा उन लोगों को कोसा था जिन्होंने अपने सपने चाँदी से तौल दिये थे, या शोहरत को बेच दिये थे, या किसी को मुहब्बत करके हमेशा के लिए उस की नज़र के मुहताज हो गये थे।

अलका ने दौलत में, शोहरत में, औरत में जो अन्तर कुमार को बताया था, उसे कुमार भी जानता था। दौलत और शोहरत की ग़ुलामी को मुहब्बत की ग़ुलामी से नहीं मिलाया जा सकता था। जब कोई मुहब्बत के सामने अपने सपने बेचता है तो आँसुओं के भाव बेचता है—पर कुमार को किसी के रहम पर जीना पसन्द नहीं था। न पैसे के रहम पर, न शोहरत के रहम पर और न ही औरत के रहम पर।

इन्हीं दिनों कुमार को दिल्ली से उस के एक दोस्त का ख़त आया कि दिल्ली में उस ने एक बहुत बड़ा होटल बनवाने का ठेका लिया था। कुछ साल हुए एक नुमाइश के लिए कुमार को उस के इस दोस्त ने बुलाकर तीन महीने अपने पास रखा था। कुमार की सहायता से उस ने पूरे सत्तर हज़ार रुपये कमाये थे। कुमार ने उस के लिए कई पैवीलियन बनाये थे। उसी ने कुमार के हिस्से में से इस पहाड़ी वादी में बहुत-सी ज़मीन लेकर कुमार के लिए स्टूडियो बनवा दिया था। अब फिर उसी दोस्त का ख़त आया था। वह कुमार को दो महीने के लिए दिल्ली बुला रहा था। कुमार को चाहे पैसे की ज़रूरत नहीं थी, पर वह कुछ देर के लिए अलका से दूर जाकर अपने मन की हालत को ज़रूर समझना चाहता था। इसलिए उस ने दिल्ली जाने का फ़ैसला कर लिया।

पूरे तीन दिन कुमार ने अलका को कुछ नहीं बताया। पर आख़िर बताये ही चलना था।

"आप जाइए, मैं यहीं रहूँगी। मुझे अमृतसर नहीं जाना।" अलका ने कहा।

"पर तुम दो महीने वहाँ क्यों नहीं चली जाती हो? तुम्हारे पिताजी ने तुम्हें कई बार बुलाया है।"

"चली जाऊँगी। दो-तीन दिन के लिए मिल आऊँगी।"

"पर यहाँ अकेली क्या करोगी?"

"आप ने एक बार कहा था कि अगर कुछ पैसे आ गये तो बाग़ के पार के कोने में आप कुछ स्लेटों की छतें डालकर कुछ झुग्गियाँ बनायेंगे।"

"वह तो मैं उन लोगों के लिए सोचता हूँ, जो कभी इस वादी में रहकर कुछ

काम करना चाहें।"

"मैं भी उन लोगों में से हूँ। मैं यहाँ रहना चाहती हूँ। किसी के घर में किराये का कमरा लेकर रहना अब मुझे अच्छा नहीं लगता।"

"पर तुम्हें यहाँ रहना ही कब तक है, अलका! और छह महीने या एक साल। तुम्हारे पिताजी अब तुम्हारा विवाह करना चाहते हैं।"

"मैं न रहूँगी तो मेरे जैसा कोई और रहेगा। पर अब आप के पास कुछ पैसे आ जायेंगे, अब झुग्गियाँ ज़रूर डलवा दीजिये।"

"लौटकर आऊँगा तो सोचेंगे।"

"मुझे आप उन का डिज़ाइन बना दीजिये...।"

"और तुम मेरे आने तक उन्हें बनवा लोगी ?"

"हाँ।"

"अकेली कैसे बनवाओगी ?"

"चेतू चाचा सारा काम करेगा। सामान ख़रीदेगा, और मज़दूर भी। उस के भी कुछ पैसे बन जायेंगे। आजकल उसे पैसे की बड़ी ज़रूरत है। उसे इस साल अपनी छोटी बेटी का विवाह करना है। इसलिए वह काम करने के लिए ख़ुशी से तैयार हो जायेगा।"

"पर पैसे तो तब आयेंगे, जब मैं वहाँ जाकर जमा लूँगा।"

"मैं अभी अपने पास से ख़र्च देती हूँ। आप वहाँ से भेज दीजियेगा, या वापस आकर लौटा देना।"

कुमार जानता था कि अलका अमीर लड़की थी, और उस से बढ़कर मन-आयी करनेवाली। वैसे भी इस बात में उस की किसी दलील को काटा नहीं जा सकता था। उस ने अलका के कहने पर दो दिनों में ही झुग्गियों के डिज़ाइन बना दिये। चेतू चाचा को बुलाकर अलका को सारा काम सौंप दिया, और ख़ुद दिल्ली जाने की तैयारी कर ली।

अच्छी-भली सुबह गुज़री, अच्छी-भली दोपहरी बीती, पर इस गाँव में बीतने-वाली आख़िरी शाम ने जाने क्या किया कि कुमार को लगा जैसे वह उदास है। उदासी शायद कई दिनों से उस की तरफ़ सरकती आ रही थी, पर वह इस तरह पंजों के बल दुबककर आयी थी कि कुमार को उस के आने की आहट तक न मिली। उस ने तब जाना, जब वह प्रत्यक्ष उस के सामने आ खड़ी हुई।

"सो तुम आ गयी हो!" कुमार ने उदासी के चेहरे की ओर देखा। उस का गेहुँआ रंग शाम की लालिमा में दिप रहा था। उस ने कोई जवाब न दिया, सिर्फ़ थोड़ा-सा मुसकरायी, और धीमे से कुमार का हाथ पकड़कर उसे बाहर बग़ीचे में अमरूदों के एक पेड़ के पास ले गयी।

"बग़ीचे के इस कोने में अलका की झिलमिलाती झुग्गी बनेगी ..."

"हाँ। पर वह इस झुग्गी में कितने दिन रहेगी?"

"जितने भी रहे..."

"और इन दिनों की क़ीमत मैं सारी उमर के दर्द उसे दूँगा!"

"कभी तुम ने उस क़ीमत को भी देखा है जो उस ने तुम्हें पाने के लिए दी है, अब भी दे रही है, और आगे भी न मालूम कब तक देगी?"

"ओह..."

"तुम ने उस के जिस्म का मोल बीस रुपये आँका, उस ने वह भी स्वीकार कर लिया।"

"मैं ने वास्तव में उस का मोल नहीं आँका था। मैं ने अपने और उस में अन्तर बनाये रखने के लिए ये रुपये बिछा दिये थे।"

"मैं जानती हूँ। पर तुम उस के इस साहस की ओर नहीं देखते, जिस ने इस अपमान को भी अपना मान बना लिया?"

"यह तुम ने ठीक कहा।"

"तुम ने एक तरह से उसे वेश्या तक कहा।"

"मुझे यह नहीं कहना चाहिए था।"

"उस ने इस लफ़्ज़ को भी ज़मीन से उठाकर उस ऊँची जगह पर रख दिया, जिस जगह पर सिर्फ़ बीवी का लफ़्ज़ ही रखा जाता है।"

"मुझे याद है, उस ने कहा था—जिस आसानी से मैं वेश्या बन सकती हूँ, उसी आसानी से बीवी भी!"

"तुम्हें यह खयाल नहीं आया कि उस जैसी औरत अगर वेश्या भी होती, तो सिर्फ़ एक ही मर्द की?"

"मुझे उस का अपमान करने का कोई हक़ नहीं था। पर तुम्हें मालूम है, मैं किस बात से डरता था?..."

"तुम मुझ से डरते थे।"

"क्योंकि मैं यह जानता था कि तुम हरेक ख़ुशी को बड़ी जल्दी सूँघ लेती हो।"

"ख़ुशी वस्तुओं में नहीं होती, ख़ुशी मन की अवस्था में होती है। मैं वस्तुओं को सूँघ सकती हूँ, उन के पीछे पड़ सकती हूँ, पर मैं किसी के मन की अवस्था को कुछ नहीं कह सकती।"

"मैं अलका को पाना नहीं चाहता, क्योंकि मैं उस के खो जाने से डरता हूँ।"

"इसी लिए मैं तुम्हारे पास आ गयी हूँ, पर अलका के पास जाने की हिम्मत मुझ में नहीं।"

"यह भी मैं जानता हूँ, कि तुम एक बार जिस के पास आ जाती हो उस के अंग-संग रहती हो। मैं उमर-भर तुम्हें लिये-लिये फिरूँगा।"

काम करना चाहें।"

"मैं भी उन लोगों में से हूँ। मैं यहाँ रहना चाहती हूँ। किसी के घर में किराये का कमरा लेकर रहना अब मुझे अच्छा नहीं लगता।"

"पर तुम्हें यहाँ रहना ही कब तक है, अलका! और छह महीने या एक साल। तुम्हारे पिताजी अब तुम्हारा विवाह करना चाहते हैं।"

"मैं न रहूँगी तो मेरे जैसा कोई और रहेगा। पर अब आप के पास कुछ पैसे आ जायेंगे, अब झुग्गियाँ ज़रूर डलवा दीजिये।"

"लौटकर आऊँगा तो सोचेंगे।"

"मुझे आप उन का डिज़ाइन बना दीजिये...।"

"और तुम मेरे आने तक उन्हें बनवा लोगी?"

"हाँ।"

"अकेली कैसे बनवाओगी?"

"चेतू चाचा सारा काम करेगा। सामान ख़रीदेगा, और मज़दूर भी। उस के भी कुछ पैसे बन जायेंगे। आजकल उसे पैसे की बड़ी ज़रूरत है। उसे इस साल अपनी छोटी बेटी का विवाह करना है। इसलिए वह काम करने के लिए ख़ुशी से तैयार हो जायेगा।"

"पर पैसे तो तब आयेंगे, जब मैं वहाँ जाकर जमा लूँगा।"

"मैं अभी अपने पास से ख़र्च देती हूँ। आप वहाँ से भेज दीजियेगा, या वापस आकर लौटा देना।"

कुमार जानता था कि अलका अमीर लड़की थी, और उस से बढ़कर मन-आयी करनेवाली। वैसे भी इस बात में उस की किसी दलील को काटा नहीं जा सकता था। उस ने अलका के कहने पर दो दिनों में ही झुग्गियों के डिज़ाइन बना दिये। चेतू चाचा को बुलाकर अलका को सारा काम सौंप दिया, और ख़ुद दिल्ली जाने की तैयारी कर ली।

अच्छी-भली सुबह गुज़री, अच्छी-भली दोपहरी बीती, पर इस गाँव में बीतने-वाली आख़िरी शाम ने जाने क्या किया कि कुमार को लगा जैसे वह उदास है। उदासी शायद कई दिनों से उस की तरफ़ सरकती आ रही थी, पर वह इस तरह पंजों के बल दुबककर आयी थी कि कुमार को उस के आने की आहट तक न मिली। उस ने तब जाना, जब वह प्रत्यक्ष उस के सामने आ खड़ी हुई।

"सो तुम आ गयी हो!" कुमार ने उदासी के चेहरे की ओर देखा। उस का गेहुँआ रंग शाम की लालिमा में दिप रहा था। उस ने कोई जवाब न दिया, सिर्फ़ थोड़ा-सा मुसकरायी, और धीमे से कुमार का हाथ पकड़कर उसे बाहर बग़ीचे में अमरूदों के एक पेड़ के पास ले गयी।

"बग़ीचे के इस कोने में अलका की झिलमिलाती झुग्गी बनेगी ..."

"हाँ। पर वह इस झुग्गी में कितने दिन रहेगी ?"

"जितने भी रहे..."

"और इन दिनों की क़ीमत मैं सारी उमर के दर्द उसे दूँगा !"

"कभी तुम ने उस क़ीमत को भी देखा है जो उस ने तुम्हें पाने के लिए दी है, अब भी दे रही है, और आगे भी न मालूम कब तक देगी ?"

"ओह..."

"तुम ने उस के जिस्म का मोल बीस रुपये आँका, उस ने वह भी स्वीकार कर लिया।"

"मैं ने वास्तव में उस का मोल नहीं आँका था। मैं ने अपने और उस में अन्तर बनाये रखने के लिए ये रुपये बिछा दिये थे।"

"मैं जानती हूँ। पर तुम उस के इस साहस की ओर नहीं देखते, जिस ने इस अपमान को भी अपना मान बना लिया ?"

"यह तुम ने ठीक कहा।"

"तुम ने एक तरह से उसे वेश्या तक कहा।"

"मुझे यह नहीं कहना चाहिए था।"

"उस ने इस लफ़्ज़ को भी ज़मीन से उठाकर उस ऊँची जगह पर रख दिया, जिस जगह पर सिर्फ़ बीवी का लफ़्ज़ ही रखा जाता है।"

"मुझे याद है, उस ने कहा था—जिस आसानी से मैं वेश्या बन सकती हूँ, उसी आसानी से बीवी भी !"

"तुम्हें यह खयाल नहीं आया कि उस जैसी औरत अगर वेश्या भी होती, तो सिर्फ़ एक ही मर्द की ?"

"मुझे उस का अपमान करने का कोई हक़ नहीं था। पर तुम्हें मालूम है, मैं किस बात से डरता था ?..."

"तुम मुझ से डरते थे।"

"क्योंकि मैं यह जानता था कि तुम हरेक ख़ुशी को बड़ी जल्दी सूँघ लेती हो।"

"ख़ुशी वस्तुओं में नहीं होती, ख़ुशी मन की अवस्था में होती है। मैं वस्तुओं को सूँघ सकती हूँ, उन के पीछे पड़ सकती हूँ, पर मैं किसी के मन की अवस्था को कुछ नहीं कह सकती।"

"मैं अलका को पाना नहीं चाहता, क्योंकि मैं उस के खो जाने से डरता हूँ।"

"इसी लिए मैं तुम्हारे पास आ गयी हूँ, पर अलका के पास जाने की हिम्मत मुझ में नहीं।"

"यह भी मैं जानता हूँ, कि तुम एक बार जिस के पास आ जाती हो उस के अंग-संग रहती हो। मैं उमर-भर तुम्हें लिये-लिये फिरूँगा।"

"मैं तुम्हारे कई काम सँवारूँगी।"

"कौन-से काम ?"

"तुम जब तसवीरें बनाओगे, मैं उन की आँखों में काजल लगा दिया करूँगी···"

"पर···"

"मैं जिन लोगों की दवात में सियाही भरती हूँ; जानते हो, उन की क़लम में से कैसे गीत निकलते हैं ?"

"पर जिन हाथों में क़लम पकड़ी हुई हो या ब्रश पकड़ा हुआ हो, तुम ने अभी उन हाथों की क़िस्मत देखी है ?"

"क़िस्मत को वस्तुओं के गज़ से नहीं मापना चाहिए।"

"न सही। अवस्था के गज़ से सही। पर यह अवस्था कैसी है। हर साँस के साथ ही मेरे वक्ष में एक दर्द जाग उठता है..."

कुमार ने अपना नीचे का होंठ अपने दाँतों में काटा, और आँखें बन्द कर के बायें हाथ से अपनी छाती को दबाया।

"आप की तबीयत ठीक नहीं..." अलका ने धीरे से अपना एक हाथ कुमार के कन्धे पर रखा। कुमार ने गरदन घुमाकर देखा, अलका उस के पीछे खड़ी थी। कुमार चुपचाप अलका के चेहरे की ओर देखता रहा। फिर उस ने कन्धे पर रखा हुआ अलका का हाथ धीरे से अपने हाथ में लिया और होंठों पर रख लिया।

कुमार चुपचाप अलका का हाथ पकड़कर धीरे-धीरे बग़ीचे से बाहर आ गया और बाहर की कच्ची सड़क से होता हुआ सामने के पहाड़ की पगडण्डी पर चढ़ने लगा। कहीं-कहीं कोई कँटीली झाड़ी अलका के कपड़ों में उलझ जाती थी। कुमार आगे-आगे चलता, टहनियों को हाथ से हटाता, अलका के लिए रास्ता बनाते हुए पहाड़ की पगडण्डी पर चढ़ता गया।

एक जगह एक चौड़ा पत्थर आसन की तरह बिछा हुआ था। कुमार ने अलका को उस पत्थर पर बिठा दिया। ख़ुद भी उस के पास बैठ गया। फिर धीरे से उस ने अलका का सिर अपने सीने में उस जगह से सटा लिया जहाँ उसे साँस लेने में दर्द हो रहा था।

एक ठण्डा मरहम-सा कुमार के सीने पर लग गया। वह दायें हाथ से अलका के बालों को सहलाने लगा। अलका के लिए यह इतना नया अनुभव था कि वह उस से इस अनुभव का ताप न सह सकी। उस की आँखों में आँसू उमड़ आये।

कुमार ने अपने पोरों से अलका के आँसू पोंछे, और फिर धीरे से उस के होंठों को चूमता हुआ बोला, "पगली ! तुम तो कहती थीं कि मैं जब इस रास्ते पर चली थी तो आँखों के सारे आँसू पीकर चली थी ?"

अलका का गला भर आया। वह कुछ बोल न सकी। कुमार ने एक छतराये

पेड़ की तरह अलका को अपने गले से लगा लिया—एक कोमल-सी बेल को अपने गले से लगा लिया।

अलका की हिचकियाँ बँध गयीं। कुमार ने एक-एक हिचक को चूमा, और फिर अलका का माथा चूमकर बोला, "तुम मुझे माफ़ नहीं कर सकतीं ? मैं ने तुम पर बहुत सख़्तियाँ की हैं !"

अलका ने अपनी काँपती उँगलियों से कुमार के होंठ चुपा दिये। फिर एक गहरी साँस लेकर वह बोली, "मैं ने सख़्तियों की आदत बना ली थी, इसी लिए मैं कभी नहीं रोयी थी। पर मैं ने इस नरमी की आदत नहीं बनायी थी..."

कुमार की ज़िन्दगी में यह शायद पहला अवसर था कि कुमार की आँखें सजला गयीं। उस ने भीगी आवाज़ से कहा, "अगर तुम कहो तो दिल्ली न जाऊँ। मैं काम करने के लिए नहीं जा रहा, मैं तुम से भागकर जा रहा हूँ।"

अलका कुमार के चेहरे की तरफ़ देखने लगी। चन्द्रमा ने बादल का एक टुकड़ा हाथ से दूर हटाया, और कुमार के चेहरे की तरफ़ देखने लगा। वह भी शायद अलका की तरह चकित था।

"जिस ने घने जंगल में चाँदनी का जादू न देखा हो, उसे मेरी हालत का पता नहीं चल सकता। तुम्हारा जादू इस चाँदनी से भी गहरा है, जादूगरनी !" कुमार ने अलका की गरदन को अपने होंठों से छुआ।

अलका की गरदन को कुमार के होंठों ने भी छुआ, और होंठों से निकलकर गहरी साँस ने भी।

"आप बड़े उदास हैं।"

"इतना मैं ज़िन्दगी में कभी उदास नहीं हुआ।"

"चाँदनी का यह जादू कैसा है ! जादू उदासियाँ देते हैं ?"

"उन की दी हुई हर चीज़ के पीछे एक गहरी उदासी होती है। क्योंकि जादू उतर जानेवाली चीज़ है।"

"मेरा जादू भी उतर जायेगा ?"

"अब मेरे अपने बस में कुछ नहीं रहा, अलका ! सब कुछ तुम्हारे बस में हो गया। यह जादू तुम्हारे रहम पर रहेगा।"

"आप इसी लिए उदास हैं ?"

"मैं ने इस जादू को तोड़ने की पूरी कोशिश की थी। मैं ने इसी लिए तुम्हारे जिस्म की बीस रुपये क़ीमत रखी थी। सोचता था, सारा हिसाब साथ के साथ निपट जायेगा...पर जिन औरतों के साथ हिसाब निबटाये जाते हैं, उन के जादू नहीं होते ! .."

"अगर हिसाब निबट जाता, आप ख़ुश होते ?"

"मैं बड़ा स्वतन्त्र होता, इसी लिए ख़ुश होता। ख़ुश अब भी हूँ, शायद इतना

ख़ुश पहले कभी नहीं हुआ। पर इस खुशी में एकअजीब तरह का दर्द मिला हुआ है। तुम्हें एक बात बताऊँ?"

"क्या?"

"जैसे-जैसे यहाँ से जाने का समय निकट आता गया, वैसे-वैसे मेरे सीने में दर्द होने लगा। सचमुच का दर्द, जैसा निमोनिया में साँस लेते समय होता है। पर मैं ने जब तुम्हारा सिर अपने सीने से लगाया, मेरा दर्द जाता रहा। यह एक बहुत बड़ी मुहताजी हो गयी है..."

कुमार ने अलका के सिर पर रखा हुआ हाथ उठा लिया और उस से अपनी दोनों आँखें ढँक लीं। एक टूटती-सी आवाज़ कुमार के मुँह से निकली, "मैं ने आज तक हर स्वाद से अपने आप को मुक्त रखा हुआ था। छुटपन में माँ जब गरम पराँठे बनाती थी तो मैं जान-बूझकर रात की बासी रोटी खाया करता था कि कहीं मेरी जीभ को किसी स्वाद की आदत न पड़ जाये...अलका, अलका...देख, मैं किस तरह तुम्हारे अधीन हो गया हूँ!"

चुप की चुप बैठी हुई अलका को कुमार ने दोनों बाँहों से झकझोरा, "अलका, मुझे बताओ कि कभी मुझे छोड़ तो नहीं जाओगी?...इस चाँदनी का जादू कभी न उतरेगा?...इस मेरे सीने में जब दर्द होगा, तुम अपना सिर मेरे सिर पर रख दिया करोगी?...अलका...अलका, अगर तुम कभी मुझे छोड़कर चली गयीं..."

अलका ने अपनी दोनों आँखें इस तरह भींच लीं, जैसे वह अपने सारे के सारे आँसू पी रही हो।—सिर्फ़ अपने ही नहीं, कुमार के आँसू भी।

"तुम बोलतीं क्यों नहीं?"

"इसलिए कि मेरा जादू चल गया है।"

"तुम बहुत ख़ुश हो, अलका?"

"मैं बड़ी उदास हूँ।"

"क्यों उदास हो?"

"मुझे नहीं मालूम था कि मेरे जादू का यह असर होगा।"

"तुम जो कुछ चाहती थीं, तुम ने पा लिया। अगर कुछ गँवाया है, तो मैं ने गँवाया है। तुम ने कुछ नहीं गँवाया।"

'मैं इसी लिए उदास हूँ कि आप को वह गँवाना पड़ा, जिसे आप गँवाना नहीं चाहते थे।"

"पर मैं अपनी स्वतन्त्रता को गँवाये बिना तुम्हें नहीं पा सकता, अलका! मैं तुम्हें पाना चाहता हूँ।"

"मुझे पाने का ख़याल छोड़ दीजिये।"

"यह तुम कह रही हो, अलका!"

"हाँ।"

"पर मैं तुम्हारे बिना रह नहीं सकता...मेरे जिस्म में एक आग जैसी भूख जग उठी है।"

"मैं आप की क़ीमतों पर ही आप को अपना जिस्म दे दिया करूँगी।"

"पर बीस रुपये देकर तुम्हारे जिस्म को लेना तुम्हारे जिस्म का अपमान है, अलका !"

"मुझे यह कभी अपमान नहीं लगा, फिर भी कभी नहीं लगेगा।"

"पर मुझे यह हमेशा लगता रहा है कि मैं तुम्हारा अपमान करता हूँ।"

"पर यह अपमान करके आप ख़ुश होते थे।"

"क्योंकि इस तरह मेरी स्वतन्त्रता पास रहती थी।"

"वह अब भी आप के पास रहनी चाहिए।"

"पर मैं दो चीज़ें नहीं पा सकता, अलका ! मुझे एक चीज़ खोनी पड़ेगी। तुम्हीं बताओ, तुम दोनों चीज़ें पा सकती हो ?"

"हाँ।"

"मुझे भी, और स्वतन्त्रता को भी ?"

"मैं ने दोनों पायी हैं।"

"यह तुम कैसे कह सकती हो—अगर कल मैं दिल्ली चला जाऊँ, तो वहाँ मैं दो महीने रहूँगा। क्या तुम सोचती हो कि वहाँ मैं किसी और औरत के पास नहीं जा सकता ?"

"जा सकते हो, पर जाओगे नहीं। जाओगे भी तो मैं आप के साथ होऊँगी। आप अकेले नहीं जाओगे।"

"यह कैसे हो सकता है ?..."

"जाकर देख लीजियेगा।"

"पर मैं यह देखकर क्या करूँगा...मैं तुम्हें पाना चाहता हूँ।"

"मुझे आप कभी नहीं पा सकते।"

"कब तक नहीं पा सकता ?"

"जब तक आप की मुहब्बत और आप की स्वतन्त्रता मिलकर एक नहीं हो जातीं।"

"पर ये दोनों अलग-अलग चीज़ें हैं, अलका ! ये कैसे मिल सकती हैं ? कभी नहीं मिल सकतीं !"

"जिस दिन ये दोनों मिल जायेंगी, उसी दिन के बाद आप उदास नहीं होंगे।"

"पर अलका..."

"आओ चलें...आप को सुबह बहुत जल्दी उठना है।"

"मुझे सुबह उठने की कोई जल्दी नहीं।"

"आप को सुबह की गाड़ी से दिल्ली जाना है।"

"मैं दिल्ली जाकर क्या करूँगा !"

"काम करोगे ।"

"तुम मेरे साथ चलोगी ?"

"मैं यहीं रहकर काम करूँगी ।"

"झुग्गियाँ डलवाओगी ?"

"हाँ ।"

"लौटकर बनवा लेंगे ।"

"मैं ने लकड़ी मँगवा ली है। छत के लिए स्लेटें भी कल आ जायेंगी। मिस्त्री और मज़दूर कल सुबह आठ बजे आ रहे हैं।"

"उस की कोई बात नहीं। पर क्या तुम चाहती हो कि मैं अकेला जाऊँ ?"

"हाँ, मैं चाहती हूँ कि आप अकेले जायें ।"

"तुम मुझे पाना चाहती थीं, अलका ! अब जब मैं अपना सब कुछ तुम्हारे हवाले कर रहा हूँ, तुम कुछ भी नहीं पाना चाहतीं ?"

"इस बात का जवाब मैं फिर दूँगी ।"

"कब ?"

"जब आप लौट आयेंगे ।"

उस रात कुमार को सोते समय एक अजीब ख़याल आया कि कल सबेरे जब वह दिल्ली जायेगा, तो यह मीलों की दूरी उसे उदासी की अँधेरी कन्दरा में ले जायेगी।

कुमार दिल्ली चला गया। उस का दोस्त उसे स्टेशन पर लेने आया था। कुमार उसे पाँच साल बाद मिल रहा था। पर कुमार को भी, और उस के दोस्त को भी लगा जैसे वे पाँच साल के बाद नहीं, पच्चीस साल के बाद मिल रहे हों, और इन पच्चीस सालों में उन दोनों की जून बदल गयी हो।

"लोग कहते हैं कि उमर के साथ चेहरे का तेज ढल जाता है। जब मैं गाड़ी के डब्बों को देख रहा था तो सोच रहा था कि अब तुम्हारे बाल सफ़ेद हो गये होंगे। चहरे पर उमर की झुर्रियाँ पड़ गयी होंगी। अगर ज्यादा नहीं तो कुछ मोटे हो ही गये होगे। और साथ ही पहाड़ों में रहते-रहते तुम्हें ढंग से कपड़े पहनने की आदत भी नहीं रही होगी..." केवलकृष्ण चकित होकर बार-बार कुमार के चेहरे की ओर देखते हुए बोलता गया, "पर कमाल है! तुम पहले भी ख़ूबसूरत थे। पर इतने नहीं। सुबक-से, बुत की तरह तराशे हुए हो! जाने तुम वहाँ किस चश्मे का पानी पीते हो! तुम्हारे चेहरे पर...शायद इसी को चेहरे पर नूर की आमद कहते हैं..."

कुमार चुप रहा। उस ने ज़रा हँसकर केवलकृष्ण की ओर देख भर लिया। केवलकृष्ण कुमार के साथ पढ़ा करता था। कुमार के साथ ही उस ने आर्ट का अध्ययन किया था। पर धीरे-धीरे उस का सम्बन्ध सरकारी दफ़्तरों से इतना जुड़ गया कि उस के लिए उस ने कई छोटे-छोटे आर्टिस्ट नौकर रख लिये थे। एक फ़र्म के मालिक से बढ़ते-बढ़ते वह एक अच्छा ठेकेदार बन गया था। दिल्ली में उस की अपनी कोठी थी, अपनी गाड़ी थी, और जैसे-जैसे रुपया बैंक में बढ़ता गया वैसे-वैसे उस के शरीर का मांस भी बढ़ता गया और जितना उस के शरीर का मांस बढ़ता गया उतना ही उस का रंग फीका पड़ता गया। बड़े-बड़े महँगे कपड़ों को भी उस के बदन पर देखकर ऐसा लगता था जैसे दिल्ली के दर्जियों को कपड़े सीने की जाँच न रह गयी हो...पर यह सारी बात कहने की नहीं थी, इसलिए कुमार ने कुछ न कहा।

केवलकृष्ण ने अपनी कोठी में एक एकान्त कमरा कुमार के लिए सजा रखा था। कुमार ने कुछ दिन आराम किया, फिर उस ने केवलकृष्ण के साथ बैठकर काम का पूरा ब्योरा समझा। केवलकृष्ण ने उसे बताया कि होटल बनानेवालों की मुख्य शर्त यह है कि होटल किसी तरह भी विदेशी होटलों की नक़ल न हो। वे ऐसा भारतीय माहौल उभारना चाहते थे जो आज तक भारत के किसी और होटल में न था। वे साज़-संगीत आदि भी एकदम भारतीय रखना चाहते थे। पिछले अनुभव से केवलकृष्ण को विश्वास हो गया था कि कुमार की कल्पना में एक ऐसा नयापन था जो विदेशों का अनुकरण करनेवाले आर्टिस्टों में कभी नहीं आ सकता था।

वास्तविक शब्दों में जिसे पन्द्रह दिन और पन्द्रह रातों का व्यतीत कहते हैं—कुमार ने उसे इस काम में लगा दिया। काम का नक़्शा उभर आया। इस दिमाग़ी मेहनत के बाद अब ज़्यादा काम काग़ज़ी मेहनत का था। केवलकृष्ण ने कुमार की सहायता के लिए दो नये मेहनती आर्टिस्ट दे दिये।

होटल के सब से बड़े कमरे के वातावरण में दूसरे कमरों से वैशिष्ट्य आव-

श्यक था। मालिकों ने सब से पहले उसी कमरे का भीतरी ब्योरा तैयार करने को कहा था। उसे तैयार कर लेने के बाद जैसे काम का काफ़ी हिस्सा पूरा हो गया।

कुमार ने कमरे के चारों कोनों में चार बुत दिखाये। एक बुत में सारंगी बज रही थी, एक में सितार, एक में शहनाई, और एक में बाँसुरी। कुमार ने बताया कि जिस समय सारंगी का रिकार्ड लगाना होगा, सारंगीवाले बुत में रोशनी जल उठेगी। बाक़ी तीन कोनों के बुत अँधेरे में रहेंगे। जिस समय सितार का रिकार्ड लगाना होगा, सितार के बुत की रोशनी जल उठेगी, और बाक़ी के तीन बुत अँधेरे में रहेंगे। इसी तरह सारे बुत क्रम से अपने संगीत के अनुसार रोशन होंगे।

कुमार जब से दिल्ली आया था उस ने अलका को कोई ख़त नहीं लिखा था, अलका को सोचा तक नहीं। इस में उस के काम ने उसे बहुत सहायता दी थी। बीस-इक्कीस दिन के बाद अलका का ही एक छोटा-सा ख़त आया, जिस में उस ने बग़ीचे की झुग्गियों के विषय में लिखा था, और उसी के बारे में कुछ पूछा था। जैसे साधारण सवाल थे, कुमार ने एक ख़त से वैसा ही जवाब दे दिया। साथ ही केवलकृष्ण से लेकर दो हज़ार रुपये भी भेज दिये।

एक महीना गुज़र गया। कुमार को न अलका की सुधि ने सताया, और न किसी गहरी उदासी ने। तीन-चार बार कुमार ने अलका को सपने में ज़रूर देखा, पर सपने में किसी क़िस्म की तल्ख़ी नहीं होती थी। अलका चुपचाप कोई तस्वीर बना रही होती, या वह बाग़ को पानी दे रही होती, और या मुँह दूसरी ओर घुमाकर कोई किताब पढ़ रही होती। इन साधारण-से सपनों ने न तो कुमार के मन में कोई लहर उठायी, और न जिस्म में। वैसे कुमार थोड़ा हैरान था कि अलका को देखते ही उस के जिस्म में जो आग सुलग उठती थी, किसी सपने में भी उस आग का सेंक क्यों नहीं था। यह बात कुमार को अच्छी लग रही थी। उसे लग रहा था कि उस के स्वभाव की स्वतन्त्रता दिनोंदिन उस के पास लौट रही थी।

क़रीब डेढ़ महीना हो चला। कुमार को विश्वास हो गया कि अब जब वह अलका के पास लौटेगा तो यह उस के लिए, और अलका के लिए एक नया अनुभव होगा। उसे लगता था जैसे उस ने अपने जिस्म की भूख को जीत लिया हो। अन्तर के किसी कोने में वह अलका का आभारी था कि उस ने ज़ोर देकर उसे दिल्ली भेज दिया था; और कुमार सोच रहा था कि अगर कहीं उस रात अलका भी उस चाँदनी के जादू में आ जाती, तो कुमार शायद सारी उमर के लिए एक मानसिक ग़ुलामी सहेज लेता। उसे विश्वास होता जा रहा था कि उस रात उस ने जो कुछ अलका को कहा था वह जंगल में छिटकी हुई चाँदनी के असर में कहा था। वह सिर्फ़ दिमाग़ी उलझाव था, जो चाँदनी में समन्दर की लहरों की तरह उमड़

आया था।

अपनी इस स्वतन्त्रता को परखने के लिए कुमार को एक ख़याल आया। केवलकृष्ण चाहे उस का पुराना दोस्त था, पर कुमार ने जो अपनी जवानी में ही बुज़ुर्गी का वेश ओढ़ लिया था, उस कारण केवलकृष्ण ने कभी कुमार के साथ उस की व्यक्तिगत ज़िन्दगी की कोई बात नहीं पूछी थी, फिर भी कुमार को यह बात कठिन न लगी। एक दिन उस ने केवलकृष्ण से कहा कि वह इतने दिन लगातार काम करके बहुत थक गया है, एक दिन वह ख़ाली रहकर शराब पीना चाहता है और उस रात उसे एक औरत भी चाहिए।

"अच्छा," केवलकृष्ण ने छोटा-सा उत्तर दिया : कुमार ने किसी ख़ास रात की बात नहीं की थी, इस लिए इस बात को वह भी भूल गया।

चार-पाँच दिन बीते होंगे। कुमार जब एक रात अपने कमरे में लौटा तो उस के कमरे में एक बीस-बाईस साल की लड़की बैठी हुई थी। कुमार को केवलकृष्ण से कही हुई बात फिर भी याद न आयी। उस ने समझा कि उस लड़की ने ग़लती से यह कमरा केवलकृष्ण की बीवी का समझ लिया होगा, तभी वह वहाँ आ बैठी।

वह लड़की कुरसी से उठ खड़ी हुई। वह हँसी—जैसे पहले से जानती हो। कुमार को उस की हँसी परायी-सी लगी। कुमार के आधे उतारे हुए कोट को उस ने आगे बढ़कर थाम लिया, और कोट की दूसरी बाज़ू उतरवाकर कोट को खूँटी पर टाँग दिया। कुमार हैरान था।

कुमार अभी चकित खड़ा हुआ था कि उस लड़की ने मेज़ पर रखी हुई शराब की बोतल को सधे हुए हाथों से खोला, और गिलास में बर्फ़ डालकर उस ने एक भरा हुआ गिलास कुमार के सामने कर दिया।

कुमार को बात याद आ गयी, पर वह हैरान था कि केवलकृष्ण की पिछली शामें सारी-की-सारी उस के साथ बीती थीं, उस ने खाना भी उसी के साथ खाया था पर इस लड़की के बारे में उसे कुछ नहीं बताया।

शराब का गिलास उस ने पकड़ लिया। पर कमरे में खड़े हुए उसे यह नहीं महसूस हो रहा था कि कमरा उस का है, और आज उस के कमरे में कोई मेहमान आया हुआ है। उसे लग रहा था जैसे वह अपने कमरे में जाते हुए भूल से किसी दूसरे के कमरे में आ गया हो।

"बैठिए..." उस लड़की ने जब हाथ से कुरसी की तरफ़ इशारा किया तो कुमार को ख़याल आया कि अभी तक वह खड़ा हुआ है।

कुमार चुपचाप कुरसी पर बैठ गया, और उस ने अपने हाथ में पकड़े गिलास में से एक घूँट लेकर उस लड़की के चेहरे की तरफ़ इस तरह देखा जैसे उसी से पूछ रहा हो : बताओ, अब तुम से क्या बात करूँ!

लड़की ने शराब का एक और गिलास भरा, और कुमार की तरफ़ देखती हुई हाथ ऊँचा उठाकर कहने लगी, "आप की सेहत के लिए !"

कुमार ने मुसकराकर उस लड़की की तरफ़ देखा। वह खूबसूरत थी। उस के होंठ कुछ मोटे थे, पर उस के मुख पर फब रहे थे। उस का जिस्म गठा हुआ था। उस की पीठ का काफ़ी हिस्सा नंगा था, और कुमार को ख़याल आया कि अगर पीठ का इतना हिस्सा नंगा रखना हो तो जिस्म की गठन इस से कुछ कम होनी चाहिए, और साथ ही माथा कुछ और चौड़ा। और कुमार को ख़ुद ही ख़याल आया कि वह लड़की को देखते हुए इस तरह जाँच रहा है जैसे उसे सामने बिठाकर उसे पेंट करना हो।

जाने कुमार से यह कैसे पूछा गया, "एक रात के कितने रुपये केवल ने देने तय किये हैं ?" लड़की चुप-सी रह गयी। कुमार ने सोचा नहीं था कि वह यह बात पूछेगा। पूछने की ज़रूरत भी नहीं थी। कुमार को ख़ुद ही अपनी बात अच्छी न लगी।

"आप रुपयों की फ़िक्र न करें। केवल साहब ने मुझे दे दिये हैं। साथ ही ऐसे वक़्त ऐसी बात नहीं करते..." लड़की ने कहा, और मेज़ पर पड़ी हुई शराब की बोतल लाकर कुमार के गिलास में डालने लगी।

'जब मन का रिश्ता कोई न हो, तो लोग रिश्ते का भरम डालना चाहते हैं। यह भरम चुप रहने से ही पड़ सकता है। इसलिए ऐसे मौक़ों पर लोग चुप रहते हैं...' कुमार को अचानक अलका की कही हुई बात याद हो आयी, और साथ ही अलका भी याद हो आयी।

"यू डैविल !" कुमार के मुँह से निकला।

लड़की घबराकर कुरसी से उठ खड़ी हुई और कुमार ने चौंककर उस की ओर देखा, "मैं ने तुम्हें नहीं कहा !"

कुमार हाथ में पकड़े हुए गिलास को एक साँस में पी गया, और ग़ुसलख़ाने में जाकर कपड़े बदलने लगा।

कुमार जब कमरे में वापस आया तो वह लड़की कुमार के बिस्तर पर लेटी हुई थी। बिस्तर की चादर उस ने ओढ़ी हुई थी। अपने उतारे हुए कपड़े तह करके उस ने मेज़ पर रख दिये थे।

बिस्तर की ओर न जाकर कुमार ने मेज़ की दराज़ खोली और सिगरेट निकालकर पीने लगा। कुमार को सिगरेट पीने की आदत नहीं थी। गाँव में वह कई-कई महीने सिगरेट नहीं पीता था। शहर में जब कभी वह रंग लेने के लिए जाता था तो साथ में सिगरेट की दो डिब्बियाँ भी ले आता। यहाँ दिल्ली आकर उस ने दो डिब्बियाँ ख़रीदी थीं जो पिछला सारा महीना ख़त्म नहीं हुई थीं। पर आज कुमार ने एक सिगरेट पी, दूसरी पी, और फिर दूसरी सिगरेट की आग से

तीसरी सुलगा ली।

"आप बहुत सिगरेट पीते हैं ? सभी आर्टिस्ट बहुत पीते हैं..." उस लड़की ने कहा। कमरे की ख़ामोशी टूट गयी। कुमार ने हाथ के सिगरेट को राखदानी में रख दिया।

कुमार बिस्तर के पास खड़ा होकर काफ़ी देर लड़की के चेहरे की ओर देखता रहा। फिर उस ने हाथ से उस पर ओढ़ी हुई चादर की नुक्कर एक ओर हटायी। चादर कन्धे से हटायी, छाती से हटायी, कमर तक हटा दी। कुमार जाने क्या सोच रहा था। अगर इस वक़्त उसे कोई देखता, तो उसे लगता जैसे कुमार एक डॉक्टर था, और मरीज़ को बड़े ग़ौर से देखते हुए उस के मर्ज़ के बारे में सोच रहा था।

उस लड़की ने कुमार के ख़यालों को तोड़ते हुए पूछा, "आप दिल्ली नहीं रहते ?"

"मैं ?"

"केवल साहब कहते थे कि आप कहीं पहाड़ पर रहते हैं। वहाँ आप अकेले रहते हैं ? अगर मैं वहाँ अकेली रहती होऊँ तो मुझे बड़ा डर लगे।"

'डर ?...मुझे क्या डर है यहाँ !' कुमार को अलका के शब्द याद हो आये।

"यू डैम..." कुमार के मुँह से निकला।

लड़की घबराकर चारपाई पर उठ बैठी।

"सॉरी, तुम्हें नहीं कहा !" कुमार ने नरमी से कहा, और फिर उस से पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है ?"

"कान्ता।"

"तुम रात को वापस कैसे जाओगी ?"

"अगर जल्दी ख़ाली हो गयी, तो टैक्सी लेकर चली जाऊँगी, नहीं तो सुबह चली जाऊँगी।"

कुमार को ख़याल आया कि इस लड़की को जल्दी फ़ारिग़ हो जाना चाहिए। लड़की के साथ बिस्तर पर बैठते हुए उस ने बत्ती बुझा दी।

कुमार पल-भर बैठा रहा। और दूसरे ही पल चौंककर उठ खड़ा हुआ, और खिड़की की तरफ़ देखते हुए बोला, "बाहर खिड़की के पास कोई खड़ा हुआ है।"

"उस तरफ़ बग़ीचा है। इस वक़्त बग़ीचे में कोई नहीं हो सकता।"

"अभी कोई उधर से गुज़रा है। उस की छाया खिड़की पर पड़ी थी।"

कान्ता बिस्तर से उठ बैठी। अपने ऊपर चादर लपेटकर उस ने एक हाथ से खिड़की का परदा हटाया और बाहर बग़ीचा देखकर बोली, "आप ख़ुद देख लीजिये। सड़क की रोशनी बग़ीचे में पड़ रही है। बग़ीचे में किसी की छाया तक नहीं..."

कुमार ने भी कान्ता के पास जाकर खिड़की से बाहर देखा। बाहर कोई नहीं था।

कान्ता बिस्तर पर लौट आयी। कुमार ने खिड़की का परदा ठीक किया और कान्ता के पास जाकर बिस्तर पर बैठ गया।

"आप अब भी खिड़की की तरफ़ देख रहे हैं। मान लीजिये, आप को ऐसे ही शक हो गया। वहाँ कोई नहीं आ सकता।" कान्ता ने कुमार की बाँहों पर अपना हाथ रखा। कुमार ने खिड़की से ध्यान हटा लिया, और दोनों आँखें भींचकर कान्ता पर ओढ़ी हुई चादर को एक तरफ़ हटाने लगा।

कुमार के हाथ ठिठक गये—"बाहर किसी के चलने की आवाज़ आ रही है।"

"बग़ीचे से चलने की आवाज़ आ ही नहीं सकती।" कान्ता ने कहा।

"खिड़की की तरफ़ नहीं, दरवाज़े की तरफ़। बाहर लकड़ी के फ़र्श पर कोई चल रहा है।"

कान्ता आहट लेने लगी। कहीं कोई आवाज़ नहीं थी। वह कुमार के हाथ को झकझोरकर बोली, "अगर आप ने शराब ज़्यादा पी होती तो मैं समझती नशे में हैं। पर आप ने तो जमकर पी भी नहीं।"

"मैं नशे में नहीं, कान्ता! बाहर सचमुच कोई चल रहा है। पैरों की आवाज़ साफ़ सुनाई दे रही थी।"

"अगर कोई बाहर आया भी हो, तो क्या है! मैं ने दरवाज़े की साँकल चढ़ा दी है।"

कुमार ने चुपचाप अपना सिर सिरहाने पर रख दिया। कान्ता ने कुमार का हाथ पकड़ा और उस की बाँह को अपनी पीठ के गिर्द लिपटा लिया।

"तुम ने काँच की इतनी चूड़ियाँ क्यों पहन रखी हैं?"

"काँच की चूड़ियाँ?"

"इन के खनकने की इतनी आवाज़ हो रही है!"

"पर मैं ने तो काँच की चूड़ी नहीं पहनी हुई!"

कुमार चौंककर पलंग पर उठ बैठा। उस ने कमरे की बत्ती जलायी, और कान्ता की दोनों ख़ाली कलाइयों की तरफ़ देखा।

—"फिर वह चूड़ियों की आवाज़ कहाँ से आयी थी?"

कान्ता ने कोई जवाब न दिया। कुमार का सारा बदन काँप रहा था। काँपते होंठों से उस ने कान्ता को टैक्सी के पैसे लेकर चले जाने के लिए कहा। उस की तबीयत ठीक नहीं थी। सोकर शायद ठीक हो जाये।

कान्ता कुछ न बोली। चादर को अपने बदन से लपेटकर बिस्तर से उठ खड़ी हुई। उस ने मेज़ पर पड़े हुए अपने कपड़े हाथ में लिये और ग़ुसलख़ाने का दरवाज़ा भिड़काकर कपड़े पहनने लगी।

कान्ता चली गयी। कमरे का दरवाज़ा भिड़काकर कुमार अपने पलंग पर लेटा तो उसे ख़याल आया—खिड़की पर पड़ती अलका की छाया...दरवाज़े पर उस के चलने की आवाज़ और उस की बाँहों में पहनी हुई काँच की चूड़ियों की खनक...उस ने जो कुछ देखा था, और जो कुछ सुना था, वह और कुछ नहीं था, यह वह रास्ता था जो पागल दिल की एक अँधेरी गुफा की ओर जा रहा था।

सवेरा होते ही कुमार के लिए जब नौकर चाय लेकर आया तो केवलकृष्ण भी उस के साथ था। आते ही उस ने कुमार के माथे को छुआ।

"बुख़ार देख रहे हो?"

"मुझे डर था, कहीं बुख़ार न हो गया हो।"

"क्यों?"

"शायद तुम ने रात में बहुत पी ली थी। तुम्हें आदत नहीं ज़्यादा पीने की। सिर को चक्कर आ रहे होंगे?"

कुमार ने पलंग से उठकर चाय का प्याला बनाया, और वह प्याला केवलकृष्ण को देकर अपने लिए एक गिलास में चाय बनाकर उस ने पूछा, "तुम्हें किस ने कहा है कि मैं ने बहुत पी ली थी?"

"मैं रात सो नहीं पाया। एक बार उठकर भी आया था तुम्हें देखने के लिए, पर दरवाज़ा बन्द था, कमरे की बत्ती बुझी हुई थी। सोचा कि सो गये होंगे, इसलिए मैं ने दरवाज़ा नहीं खटखटाया।"

"पर यह तुम्हें किस ने कहा कि मैं ने बहुत पी ली थी?"

"आधी रात के क़रीब कान्ता का टेलीफ़ोन आया था। वह काफ़ी डरी हुई थी..."

"और वह कहती थी, कि मैं ने बहुत पी ली थी?"

"नही, उस ने यह नहीं कहा था। मैं ने ही सोचा कि शायद तुम ज़्यादा पी बैठे थे। इसलिए तुम कान्ता से वैसी बातें करते रहे।"

"कैसी बातें ?"

"चलो छोड़ो उस की बातों को, पर तुम्हें हुआ क्या था ?"

"वह क्या कहती थी ?"

"कहती थी..."

"कहते क्यों नहीं ?"

"वह मुझ से नाराज़ थी कि मैं ने उसे एक पागल आदमी के पास क्यों भेजा था।"

कुमार हँस पड़ा। केवलकृष्ण ने मेज़ पर पड़ी हुई बोतल को देखा, और बोला, "पर बोतल तो उसी तरह पड़ी हुई है। मुश्किल से दो गिलास लिये होंगे तुम ने।"

"एक मैं ने पिया था, एक कान्ता ने।"

"फिर तुम्हें हुआ क्या था ?"

"जाने क्या हुआ था !"

"तुम्हें खिड़की में से जिन्न-भूत दिखाई देते रहे हैं ?"

"जिन्न-भूत तो नहीं, एक जिन्नी दिखती रही है।"

"कान्ता कहती थी कि तुम्हें काँच की चूड़ियों की आवाज़ आ रही थी।"

"जिन्नी ने हरे रंग की चूड़ियाँ पहनी हुई थीं।"

'सच बताओ, तुम ऐसी बातें कर-करके कान्ता को डरा क्यों रहे थे ?"

"उसे नहीं डरा रहा था, मैं तो ख़ुद डर रहा था।"

"कान्ता से ?"

"उस बेचारी से क्यों डरता..."

"शायद तुम्हें कान्ता पसन्द नहीं आयी। पर तुम्हें उस को कुछ नहीं कहना चाहिए था। मुझे सवेरे कह देते, मैं किसी और को बुला देता।"

"इस में कान्ता का कोई क़ुसूर नहीं।"

कुमार ने केवलकृष्ण को विश्वास दिलाया कि रात में जो कुछ हुआ था शराब का एक गिलास पी लेने की वजह से हुआ था, क्योंकि उसे शराब पीने की आदत नहीं थी। उसे चक्कर आ गया था। इसी लिए उसे खिड़की में किसी की परछाईं दिख रही थी। इस में कान्ता का कोई क़ुसूर नहीं था। पर केवल-कृष्ण को इस पर विश्वास न हुआ। उस ने यही सोचा कि कुमार को कान्ता पसन्द नहीं आयी थी। वह कान्ता को अपने कमरे में से वापस भेजना चाहता था, इसी लिए बहकी-बहकी बातें करता रहा।

"अच्छा, मैं तुम्हारे लिए एक बहुत ख़ूबसूरत लड़की का इन्तज़ाम करे देता

हूँ। पैसे ज़रा ज़्यादा लेती है, पर कोई बात नहीं।" केवलकृष्ण बोला, "आज कहो तो आज, कल कहो तो कल। जब कहो।"

कुमार कुछ देर अपने दोस्त के चेहरे की तरफ़ देखता रहा। फिर उस ने चाय का एक घूँट लेकर पूछा, कितने रुपये लेती है?"

"जितने रुपयों में तुम्हारी एक पेंटिंग बिकती है।" केवलकृष्ण ने हँसकर कहा।

"क्या मतलब?"

"मेरा मतलब है कि एक साधारण पेंटिंग। यों तो तुम्हारी पेंटिंग का हज़ार रुपया भी मिल सकता है, इस से भी ज़्यादा मिल सकता है। पर आम पेंटिंग का जैसे दो-अढ़ाई सौ रुपया मिलता है..."

"वह दो-अढ़ाई सौ एक रात का लेती है?"

"शहर में दो-अढ़ाई सौ। अगर शहर से बाहर ले जाना हो तो दो के चार देने पड़ते हैं। पर तुम रुपये की फ़िकर में क्यों पड़ गये?"

नौकर चाय रखकर चला गया था। वह चाय के बरतन उठाने आया तो कुमार ने उसे और गरम चाय लाने के लिए कहा। नौकर चला गया तो केवल-ने कहा :

"तुम रुपयों की चिन्ता न करो, सिर्फ़ यह बता दो कि कब बुलाऊँ। तुम कभी-कभार शहर में आते हो...वहाँ पहाड़ों में तुम्हें क्या मिलता होगा...वैसे पहाड़िनें होती तो ख़ूबसूरत हैं..."

कुमार कुछ न बोला। वह मेज़ के ख़ाने में से सिगरेट निकालकर पीने लगा।

"किस सोच में पड़े हो?"

"किसी में नहीं।"

"तो आज रात उस को बुला दूँ?"

"इतनी क्या जल्दी है, अभी मैं पन्द्रह दिन यहीं हूँ।"

"दरअसल बात यह है कि मैं अपनी बीवी को कल उस की माँ के घर छोड़ आया हूँ। उस की माँ कुछ बीमार थी। पर वह दो रातें उस के पास रहकर कल लौट आयेगी, फिर मुश्किल पड़ेगी..."

"फिर रहने दो इस बात को। कभी फिर सही।"

"फिर किसी को यहाँ बुलाना मुश्किल हो जायेगा। किसी होटल में तो फिर भी हो सकेगा..."

"देख लेंगे..."

कुमार ने बात टाल दी। छह दिन बीत गये। सातवें दिन दोपहर को खाना खाते हुए कुमार से केवलकृष्ण ने कहा, "बात बन गयी है। मेरी बीवी अभी

अपनी माँ की तरफ़ चली है। उस के चाचा की लड़की बम्बई से आयी हुई है। रात को वह वहीं रहेगी। मैं आज रात उसे बुला दूँगा।"

कुमार कुछ न बोला। चुपचाप रोटी खाता रहा। केवलकृष्ण ने ही फिर कहा, "बहुत ख़ूबसूरत है। कान्ता कुछ भी नहीं उस के सामने!"

पानी पीते हुए कुमार के सीने में हलका-सा दर्द हुआ। पर गिलास को मेज़ पर रखकर जब कुरसी से उठा तो उस के सीने में तेज़ दर्द हुआ।

"पानी शायद बहुत ठण्डा था..." केवलकृष्ण बोला और उस ने देखा कि कुमार को साँस लेने में कठिनाई पड़ रही थी। उस ने कुमार को उस के कमरे में ले जाकर पलँग पर लिटा दिया।

"फ्रिज के पानी से कभी-कभी ऐसा हो जाता है। अभी ठीक हो जायेगा।" केवलकृष्ण ने कहा, और गरम पानी में कुछ चम्मच ब्राण्डी डालकर कुमार को पिला दी।

कुछ देर कुमार उसी तरह उखड़ी हुई साँसें लेता रहा। फिर शायद ब्राण्डी का असर हुआ, कुमार को हलकी-सी नींद आ गयी।

केवलकृष्ण को किसी ज़रूरी काम पर जाना था। वह चला गया। वैसे उसे यक़ीन था कि अब तक कुमार की तबीयत ठीक हो गयी होगी, पर वह दो घण्टों में लौट आया। कुमार की साँस उसी तरह उखड़ी हुई थी। उस का रंग दर्द से पीला पड़ गया था।

"जब हम खाना खा रहे थे, उस वक़्त तुम्हें कोई तकलीफ़ नहीं थी।"

"पानी पीते-पीते हुई थी।"

"कभी पहले भी हुई है इस तरह?"

"एक बार हुई थी।"

"इसी तरह? या ज़्यादा?"

"इस से कम थी।"

"तब तुम ने कौन-सी दवा ली थी?"

कुमार ने बातें करते-करते आँखें बन्द कर लीं। शायद दर्द बढ़ गया था। केवलकृष्ण ने गरम पानी की बोतल तौलिये में लपेटकर कुमार के सीने पर रख दी। कुमार ने एक बार आँखें खोलीं, बोतल को देखा और एक अजीब-सी मुसकराहट उस के होंठों पर खिल आयी। शायद उसे वह दिन याद आ गया था जब उस ने अलका का सिर अपने सीने से लगाकर कहा था, 'मेरे इस सीने में जब दर्द होगा, तुम अपना सिर मेरे सीने पर रख दिया करोगी?'

केवलकृष्ण ने कुमार के माथे को छुआ। माथा गरम था। दर्द के ज़ोर से शायद हलका-सा बुख़ार हो आया था। उस ने डॉक्टर को बुलाने के लिए नौकर भेज दिया।

डॉक्टर आया। उस ने कुमार के सीने और पीठ को देखा और एक इंजेक्शन लगाकर बोला, "रात तक फ़र्क़ पड़ जायेगा। खाने के लिए कुछ मत देना। गरम पानी का सेंक दीजियेगा बस। अगर रात तक फ़र्क़ नज़र न आया तो एक इंजेक्शन और देना होगा। अगर बुख़ार बढ़ जाये तो मुझे फ़ौरन इत्तिला कर दीजियेगा।"

डॉक्टर चला गया। केवलकृष्ण हैरान था कि मिनटों में क्या हो गया था। कुमार भी हैरान था। इस दर्द का अहसास उसे पहली बार तब हुआ था, जब अपने गाँव में अलका के साथ उस की आख़िरी शाम रह गयी थी। पर तब उसे आज जितनी हैरानी नहीं हुई थी। शायद इसलिए कि उस दिन दर्द आज जितना नहीं था। कुमार सोच रहा था कि ख़यालों की गाँठें जिस्म की नाड़ियों में कैसे इस तरह उतर सकती है, कि नाड़ियों में सूजन आ जाये...

"अजीब बात है..." केवलकृष्ण ने कुमार पर ओढ़ायी हुई चादर के साथ एक कम्बल भी जोड़ दिया और बोला, "तुम्हें यह नहीं लगता कि कोई चीज़ तुम्हें किसी बात से रोक रही है?"

"लगता है।"

"क़िस्मत को इस तरह ज़िद ठानते मैं ने कभी नहीं देखा।"

"मैं ने भी पहले कभी नहीं देखा।"

"उस दिन भी अजीब बात हुई थी?"

"हाँ, अजीब बात हुई थी।"

"तुम कान्ता को 'डैविल' कहकर बुला रहे थे। मैं ने कभी तुम्हारी ज़बान से ऐसे लफ्ज़ नहीं सुने थे..."

"मैं ने उसे कुछ नहीं कहा था।"

"तुम्हें शायद मालूम नहीं, तुम शराब के नशे में थे..."

"मैं शराब के नशे में नहीं था।"

"बट इट इज़ समथिंग मेण्टल...!"

"शायद।"

"पर आज तुम बिलकुल ठीक थे—मेण्टली अब भी ठीक हो। पर आज फिज़ीकली कुछ हो गया है—तुम जानते हो कि मैं ने टेलीफ़ोन से बात पक्की कर ली थी; अब फिर टेलीफ़ोन करके आया हूँ, उसे मना करके आया हूँ..."

"वह तुम से नाराज़ नहीं हुई?"

"बड़ी नाराज़ थी, क्योंकि मैं ने सवेरे उसे बड़ी मुश्किल से मनाया था, उसे आज कहीं दूसरी जगह जाना था। ख़ैर, कोई बात नहीं, मैं उस की कसर फिर कभी निकाल दूँगा, वह मुझ से नाराज़ नहीं हो सकती—पर मैं उस की बात नहीं सोच रहा था; उस का क्या है, तुम नहीं तो दूसरा सही—पर मैं तुम्हारी

बात सोच रहा हूँ ।"

"मेरी बात है ?"

कुमार ने करवट बदली। दर्द कुछ थम गया था। पर करवट बदलने से सीने में दर्द की एक लहर-सी दौड़ गयी। उस ने एक घुटी हुई साँस खींची, और गरम पानी की एक तरफ़ खिसकी हुई बोतल को हाथ से ठीक किया।

"थोड़ी चाय पिओगे ? चाय का कुछ हरज नहीं।"

"अच्छा।"

केवलकृष्ण ने चाय मँगवायी। कुमार को एक बड़े तकिये का सहारा दिया, और उस के लिए चाय का प्याला बनाने लगा। चाय के घूँट लेते हुए कुमार ने दो-तीन बार आँखें बन्द कीं।

"दर्द ज़्यादा है ?"

"नहीं।"

"तुम कुछ सोच रहे हो ?"

"मैं सोच रहा हूँ कि दुनिया में कोई ऐसी वेश्या भी होती है या नहीं, जो सिर्फ़ एक ही आदमी की वेश्या हो।"

"एक ही आदमी की वेश्या ?"

"जो सिर्फ़ एक ही आदमी को अपना जिस्म दे और एक ही आदमी से उस के पैसे ले।"

"पर वह वेश्या कैसे हुई ?"

"यही तो मैं सोच रहा हूँ कि वह वेश्या कैसे हुई !"

केवलकृष्ण ने कुमार के माथे को छुआ। उसे लगा कि बुख़ार बढ़ गया है।

डॉक्टर रात को एक बार फिर आया। वह जब इंजेक्शन की सुई को और सिरिंज को गरम पानी में साफ़ कर रहा था तो कुमार ने एक गहरी साँस ली। उसे लग रहा था कि वह अपने ही ख़यालों की पगडण्डी से फिसलता जा रहा है, और दिनों-दिन बेबसी के गहरे पाताल में उतरता जा रहा है।

कुमार ने अलका को अपने वापस आने की ख़बर नहीं दी थी। बुख़ार टूटने के बाद उस ने दिल्ली में सिर्फ़ दो दिन आराम किया था, और तीसरी शाम उस ने वापस लौटने की तैयारी कर ली थी। इस लिए जब गाड़ी स्टेशन पर पहुँची तो चेतू चाचा को स्टेशन पर देखकर वह हैरान रह गया। चेतू चाचा ने आगे बढ़-कर कुमार के हाथ से सूटकेस ले लिया। उस ने बताया कि वह पिछले तीन दिनों से रोज़ स्टेशन पर आकर गाड़ी देख जाया करता था। अलका पिछले तीन दिनों से इसे रोज़ स्टेशन पर भेजती थी।

कुमार की ज़मीन पपरोला से डेढ़ मील दूर थी। वह डेढ़ मील चढ़ाई का रास्ता था। चेतू चाचा के आने से कुमार को आसानी ज़रूर हो गयी, क्योंकि नहीं तो सूटकेस को उठाने के लिए उसे पपरोला से कोई आदमी खोजना पड़ता। पर वह हैरान था कि अलका पिछले तीन दिनों से उसे स्टेशन पर क्यों भेज रही थी।

बैजनाथ को जाती चौड़ी सड़क के दायें हाथ पहाड़ की सपाट छाती पर कुमार की ज़मीन थी। बायें हाथ की पगडण्डी उतरने से पहले ही सड़क पर से ज़मीन का बहुत-सा हिस्सा नज़र आने लगता था। सीढ़ियों की तरह बिछे हुए धान के खेत, अनारों और अमरूदों के पेड़, और जिस हिस्से में कुमार का स्टूडियो था वह भी। कुमार ने पगडण्डी के सिरे पर खड़े होकर देखा: फूलों की लम्बी क्यारियों के पार के हिस्से में नयी बनी हुई झुग्गियों के स्लेटों से ढके हुए माथे सन्ध्या की लाली में अपने मुँह उठाकर उस की राह देख रहे थे। चेतू चाचा के हाथ में बोझ था, वह थोड़ा पीछे रह गया था। कुमार ने कुछ देर उस की प्रतीक्षा की, पर फिर उस के पाँव बरबस पगडण्डी उतरने लगे। कुमार जब झुग्गियों के पास पहुँचा तो उसे एक झुग्गी के दरवाज़े में से आग जलती नज़र आयी। दरवाज़े की चौखट पर पहुँचकर उस का दिल इतना धड़कने लगा कि वह एक मिनट के लिए वहीं रुक गया।

झुग्गी में बैठी अलका ने शायद उस के पैरों की आवाज़ सुन ली थी। वह चौखट पर आ गयी। इस समय अगर कोई ऊँची पगडण्डी से इस झुग्गी की तरफ़

देखता तो उसे लगता कि झुग्गी की चौखट में किसी ने दो बुत गढ़ कर रखे हुए हैं।

झुग्गी के अन्दर बायीं दीवार के साथ एक कच्ची उचान थी। उचान पर ऊन का एक पहाड़ी ग़लीचा बिछा हुआ था। उचान के सामने एक पेड़ का एक चौड़ा छीलदार कटाव पड़ा हुआ था, जिस पर एक सरसों के तेल का दिया जल रहा था। दीवार के कोने में मिट्टी की अंगीठी में तीन मोटी-मोटी लकड़ियाँ जल रही थीं। जलती हुई लकड़ियों की रोशनी अलका की पीठ की तरफ़ थी, इसलिए अलका के मुँह पर से यह नहीं दिख रहा था कि उस के चेहरे पर कितने रंग आये थे और कितने रंग गये थे।

सड़क से उतरकर पगडण्डी पर खड़े हुए जैसे कुमार के पैर बरबस चल पड़े थे, कुमार की बाँहें भी बरबस आगे बढ़ गयीं, और आगे बढ़कर अलका को अपने साथ लगा लिया।

अलका ने कुमार को जब मिट्टी की उचान पर बैठाया तो कुमार का मुँह आग की रोशनी की तरफ़ था। अलका ने नज़र भरकर देखा, और कुमार के कंधे पर हाथ रखकर पूछा, "बीमार रहे क्या ?"

"तुम्हें किस ने बताया ?" कुमार ने अलका की ओर देखा। पर अलका की पीठ की तरफ़ रोशनी होने से उसे चेहरे पर पड़ते अँधेरे में आँखें दिख सकती थीं, पर आँखों में आया हुआ पानी नहीं दिख सकता था।

"कितने दुबले हो गये हो !" अलका ने धीरे से कहा, और आग के पास ढक-कर रखी हुई चाय पत्थर के प्यालों में डालने लगी।

"सिर्फ़ दो दिन बीमार रहा था, ज्यादा दिन नहीं।" कुमार ने कहा और अलका के हाथों से चाय का प्याला लेकर पूछा, "पर तुम कैसे जानती थीं कि मैं वापस आ रहा हूँ। तुम चेतू चाचा को रोज़ स्टेशन पर क्यों भेजती रही हो ? तुम ने कल भी उसे भेजा था, परसों भी।"

"मेरा कोई क़ुसूर नहीं, इस चाय का क़ुसूर है !" अलका ने अपने प्याले से चाय का घूँट भरा और हँसकर बोली, "परसों मैं ने अपने लिए चाय बनायी। केतली से चाय डालकर जब मैं प्याला उठाने लगी तो मैं ने देखा कि मैं ने एक की जगह दो प्यालों में चाय भर दी थी। मुझे लगा कि आप आ रहे हैं, मैं ने चेतू चाचा को स्टेशन पर भेज दिया।"

कुमार को लगा कि उस की आँखों में उतरा हुआ पानी उस के चेहरे पर दिखने लगेगा। जैसे भी बना वह हँसकर बोला, "तुम में और गाँव की उस अल्हड़ छोकरी में कोई फ़र्क़ नहीं, जिस की परात में आटा गूँधते समय अगर आटा उछल जाये, तो समझ लेती है कि आज कोई पाहुना आयेगा !"

"असल में मैं चार दिनों से डरी हुई थी।"

"क्यों ?"

"मुझे एक सपना आया था। सपने में आप ने मुझे बड़ी आवाज़ दी। आप आवाज़ें देते गये, और मैं सुनती गयी। मैं जहाँ से भी गुज़रकर आप की तरफ़ आने लगूँ, सामने लोहे का एक जंगला आ जाता। शायद मुझे स्टेशन का ख़याल रहा हो। स्टेशन पर जैसे जंगले लगे रहते हैं, वैसा ही एक जंगला हर मोड़ पर आ जाता था। आप इस तरह आवाज़ें देते जा रहे थे जैसे आप को मेरी बड़ी ज़रूरत हो। आवाज़ें सुनते-सुनते मेरी नींद खुल गयी।"

"अलका !"

"सवेरे उठकर मेरे दिल में आया कि दिल्ली चल दूँ, पर मैं जानती थी कि आप नाराज़ होंगे।"

"मुझे सचमुच तुम्हारी बड़ी ज़रूरत थी।" कुमार ने हाथ में पकड़ा हुआ प्याला दिये के पास पेड़ के कटाव पर रख दिया, और अलका को कसकर अपने गले से लगा लिया।

"क्या ज़रूरत पड़ गयी थी मेरी ?"

"बड़ी जरूरत थी...दर्द होने लगा था, बुख़ार हो गया था, इसलिए..."

"बाहर कोई आया है..."

"चेतू चाचा होगा..."

कुमार उठकर झुग्गी से बाहर आ गया। चेतू चाचा सूटकेस ज़मीन पर रख रहा था। कुमार ने उसे सूटकेस दूसरी तरफ़ उस के कमरे में ले चलने के लिए कहा, और साथ ही कहा कि वह हरिया को खाना बनाने के लिए कह दे।

कुमार ने झुग्गी में लौटते हुए देखा कि झुग्गी की दीवार पर अलका ने एक बहुत बड़ी तसवीर बनायी हुई थी। काली लकीरों में एक मर्द का चेहरा था, और लाल रंग की लकीरों में एक औरत का। मर्द की पीठ की तरफ़ एक सूरज था, पर सूरज का ज़्यादा हिस्सा अँधेरे से ढका हुआ था। औरत की पीठ की तरफ़ एक सूरज था, पर सारे का सारा सूरज रोशनी से भरा हुआ था। मर्द की आँखें खुली थीं, और सतर्क होकर दुनिया की ओर देख रही थीं। औरत की दोनों आँखों पर मर्द की छाया लिपटी हुई थी। कुमार काफ़ी देर दीवार की तरफ़ देखता रहा, और आग की रोशनी में अलका के चेहरे की तरफ़ देखने लगा।

"अभी मेरे पास इतना हुनर नहीं कि बहुत अच्छी बना सकूँ।"

हुनर की तरफ़ कुमार का इतना ध्यान नहीं था। वह ख़याल को देख रहा था। दीवार के जिस हिस्से में मर्द का बुत था, उस के पीछे बहुत कम जगह थी, जैसे वह बहुत थोड़ा रास्ता चलकर आया हो। पर अलका ने जिस राह पर से औरत को आते दिखाया था, वह रास्ता बहुत लम्बा था। उस रास्ते पर गहरे लाल रंग बिछे हुए थे, जैसे उस का रास्ता जिज्ञासा और तलाश से सराबोर हो। पर

मर्द का रास्ता दलीलों से भरा हुआ था। उस के रास्ते पर अलका ने मानसिक उलझाव की गहरी छायाएँ डाली हुई थीं।

कुमार ने अलका को बाँहों में लेकर उस का माथा चूम लिया और बोला, "तुम्हारी इस औरत को प्रणाम करने को जी चाहता है!" अलका ने कुमार के कन्धे पर सिर रखकर आँखें बन्द कर लीं, और शायद कान भी बन्द कर लिये, क्योंकि कुमार के मुँह से यह बात सुनने के बाद उसे और कुछ सुनने की ज़रूरत नहीं रही थी।

"जानती हो, मैं ने इस जगह का नाम चक्क[1] नम्बर छत्तीस क्यों रखा था?"

"यह नाम आप ने रखा था?"

"पहाड़ों में गाँवों के नाम नम्बरों पर नहीं होते। शायद और भी कहीं नहीं होते, परन्तु हमारे गाँव का नाम था—चक्क नम्बर छत्तीस। साल भर के अरसे में जब मेरे माँ-बाप मर गये, तो हमारी सारी ज़मीन चाचों ने हथिया ली। मैं तब बम्बई आर्ट स्कूल में पढ़ता था।"

"आप ने लौटकर ज़मीन का कुछ न लिया?"

"एक बार गया था, पर ज़मीन का झगड़ा निबटाना मेरे बस की बात नहीं थी। वैसे भी हमेशा के लिए गाँव में नहीं रह सकता था। मुझे शहरों में रहना था।...कई सालों के बाद मेरे पास कुछ रुपये जमा हो गये, तो मैं ने यहाँ आकर यह ज़मीन ख़रीद ली।"

"जैसे चक्क नम्बर छत्तीस की ज़मीन लौटा ली।"

"तब मुझे ऐसा ही महसूस हुआ था। इसलिए इस का नाम चक्क नम्बर छत्तीस रखा था। पर फिर कभी इस बात का ख़याल नहीं आया। आज तुम्हारी झुग्गी में खड़े-खड़े मुझे इस तरह महसूस हुआ है, जैसे मैं उस गाँव में, उसी घर में खड़ा हो गया हूँ—इस के साथ कोई तुलना नहीं उस की—पर मेरी माँ ने कमरे में इसी तरह एक चारपाई पर एक फूलकारी बिछायी हुई थी। कमरे की दीवार पर उस ने लक्ष्मी की तसवीर बनायी हुई थी—आज इस दीवार की ओर देखते हुए मुझे लगा कि जैसे माँ की बनायी हुई लक्ष्मी वहाँ से चलती-चलती आज यहाँ आ गयी हो..."

इस तरह की पिघली-सी बातें करना कुमार की आदत नहीं थी। अलका इन बातों से भीगी हुई चौंकती जा रही थी कि अभी अगर कुमार को इस बात का ध्यान आ गया तो वह जल्दी से अपनी पुरानी आदत को लौटाकर अपने मन पर लोहे की परत चढ़ा लेगा। इसलिए अलका ने उस का हाथ पकड़ा और बोली,

---

1. पंजाब में छोटे से छोटे गांव को 'चक्क' कहते हैं।

"चलिए, खाना खा लें..."

"तुम अब यहाँ रहती हो, या गाँव में जाया करती हो?"

"यहीं। वह कमरा मैं ने छोड़ दिया।"

"मुझे दूसरी झुग्गियाँ नहीं दिखाओगी?"

"खाना खा लीजिये, फिर लौटकर दिखा दूँगी।"

"तुम ने यहाँ बिजली नहीं लगवायी?"

"झुग्गियों का माहौल न बनता तब।"

"मैं ने स्टूडियो के लिए बड़ी मुश्किल से बिजली ली थी। पूरा एक साल लग गया था...!"

"वहाँ ज़रूर चाहिए थी।"

"पर यहाँ तुम्हें रात को डर नहीं लगता? चारों ओर उजाड़ है..."

"इन दिनों सिर्फ़ दो बार डर लगा था। पर वह इस उजाड़ की वजह से नहीं लगता था। मुझे दो बार ऐसे सपने आये थे कि मैं बहुत डर गयी थी।"

"क्या?"

"एक मैं ने आप को अभी सुनाया है, जब आप सपने में मुझे आवाज़ें दे रहे थे—एक इस से सात-आठ दिन पहले आया था।"

"सात-आठ दिन पहले।"

"मैं ने सपने में देखा कि जल्दी-जल्दी कहीं जा रही हूँ। न जाने कहाँ! गहरी रात थी। मैं रात के अँधेरे में चलती जा रही थी। इतना मालूम था कि सड़कें किसी शहर की हैं। फिर अँधेरे में मैं ने एक खिड़की को खटखटाया। एक दरवाज़े को भी ठकोरा। नींद खुलने पर मुझे यह सपना समझ में न आया। जाने मैं कहाँ जा रही थी। मैं ने किसी दरवाज़े को क्यों ठकोरा था...वह दरवाज़ा बन्द क्यों था...मैं समझ न सकी। पर मुझे काफ़ी देर डर लगता रहा।"

अलका से लिपटा हुआ कुमार का हाथ काँपने लगा, और उस के मुँह से निकला, "यू डैविल!"

अलका ने कुमार के चेहरे की ओर देखा, और बोली, "मेरा ख़याल था कि अब तक मुझे डैविल कहना भूल चुके होंगे!"

कुमार ने शायद अलका की बात नहीं सुनी। उस ने अलका का हाथ पकड़कर उसे ग़लीचे पर बैठाया। उस के दिल में आया कि वह अलका को दिल्ली की उस रात की बात सुना दे, जिस रात वह कान्ता के साथ वहाँ कमरे में बैठा हुआ था कि खिड़की पर अलका की परछाईं पड़ी थी, और उस के दरवाज़े पर अलका के पैरों की आवाज़ आयी थी। पर कुमार ने अपने होंठ इस तरह भींच लिये, जैसे कहीं उस के मुँह से बात निकल न जाये। उस ने बात बताने की जगह अलका से एक बात पूछी, "तुम ने उस दिन अपने हाथों में चूड़ियाँ भी पहन रखी

थीं ?"

अलका समझ न पायी, और अपनी दोनों बाँहें बढ़ाकर बोली, "मैं ने उसी दिन चूड़ियाँ चढ़ायी थीं, शायद एक दिन पहले चढ़ायी थीं।"

बात को मन ही मन झेल पाना कठिन था, पर कुमार उसे झेलना चाहता था। उस के अपने होंठों में समा नहीं रही थी। उस ने अपने होंठों को अलका के होंठों से इस तरह लगाया जैसे वह होंठों को नहीं, उस बात को चुपिया रहा हो।

कुमार ने दिल्ली में रहते सोचा था कि अब उस के जिस्म की भूख उसे कभी नहीं सतायेगी। उस ने तजरबा करके भी देखा था। कान्ता उस के बिस्तर पर लेटी रही थी, पर कुमार को उस की भूख ने कुछ नहीं कहा था। अलका की साँस ने कुमार के जिस्म में सोयी हुई आग को मालूम नहीं किन फूँकों से जगा दिया। कुमार को लगा कि उस का अंग-अंग जल रहा था। कुमार ने झुग्गी का दरवाज़ा भिड़का दिया। कोने में जलती लकड़ियों में एक और सूखी लकड़ी रखी, और जिस समय उस ने अलका के जिस्म से कपड़े उतारकर अपने आप से लगाया उसे लगा कि यह झुग्गी एक आग का तालाब है और वह इस में नहा रहा है।

कुमार दिल्ली वाली जो बात अलका से नहीं कहना चाहता था, अलका के पास से उठकर, कपड़े पहनते हुए उसे लगा कि उस ने वह बात अलका को अपने रोम-रोम की ज़बान से कह दी थी।

कुमार और अलका ने जब कुमार के कमरे में जाकर खाना खा लिया तो कुमार ने हरिया को एक लालटेन जलाने के लिए कहा, और अलका से बोला, "चलो दूसरी दोनों झुग्गियाँ भी देख आयें।"

तीनों झुग्गियाँ एक सीध में नहीं थीं। एक का मुँह फूलों की क्यारियों की तरफ़ था, एक का पहाड़ की खाई की तरफ़, और एक का मकई के खेत की तरफ़। तीनों की पीठ से लगा हुआ एक साझा आँगन था। हरेक के दरवाज़े के सामने एक चौड़ा बरामदा था, जो स्लेटों की छत से ढका हुआ था। जो एक झुग्गी के सामने से घूमकर, दूसरी झुग्गी के सामने होकर, तीसरी झुग्गी के सामने आता था। इसी बरामदे में से गुज़रकर कुमार ने दूसरी झुग्गी का दरवाज़ा खोला, और हाथ में पकड़ी हुई लालटेन की रोशनी में झुग्गी को देखने लगा।

पहली झुग्गी की तरह इस झुग्गी की खिड़की भी ताड़ के पत्तों से ढकी हुई थी। लकड़ी की एक चिटकनी से खिड़की बन्द की हुई थी। इसे खोलने के लिए साँकल की जगह कौड़ियों की एक डोरी बाँधी हुई थी। बैठने के लिए मिट्टी की एक उचान इस झुग्गी में भी उसी तरह थी, जैसी पहली झुग्गी में कुमार ने देखी थी। पर दीवार में ऊँचे-नीचे कितने ही आले थे, और हरेक आले में एक-एक

दिया रखा हुआ था।

"अगर ये सारे दिये जला दें...!" कुमार ने इतना उमड़कर कहा कि आवाज़ उस की अपनी नहीं लगती थी। शायद इसी लिए अलका ने कोई जवाब न दिया।

कुमार ने लालटेन की रोशनी दूसरी दीवार पर डाली। सारी दीवार पानी की लहरों से ढँकी हुई थी। चूने में नीला थोथा मिलाकर अलका ने पानी की ये लहरें बनायी थीं। कुमार ने ध्यान से देखा, पानी की भरी हुई छाती में अलका ने एक लकीर खींची हुई थी।

"लोग कहते हैं, पानी में रेखा नहीं खिंचती।"

"आप यह कहते हैं?"

"नहीं, मैं नहीं कह सकता, क्योंकि मैं इस लकीर पर पाँव रखकर खड़ा हुआ हूँ।"

अलका हँस पड़ी।

"मुझे नहीं मालूम, तुम ने यह लकीर क्यों खींची है। पर मैं ने इस का अपना ही अर्थ निकाला है।"

"क्या?"

"मेरे अपने मन में एक लकीर लगी हुई है। लकीर की एक तरफ़ बड़ा ठण्डा पानी बह रहा है, और एक तरफ़ बड़ा गरम!"

"एक ओर मुहब्बत, एक ओर नफ़रत!"

"अलका...!"

"जी।"

"मैं यही कहना चाहता था, पर कहा नहीं। तुम ने ख़ुद ही कह दिया... जाने मेरे अन्दर यह क्या है! मैं तुम्हें प्यार भी करता हूँ, और नफ़रत भी..."

"मैं जानती हूँ।"

"मैं एक पतली-सी लकीर पर खड़ा हुआ हूँ। मालूम नहीं, किस समय और किस तरफ़ मेरा पाँव फिसल जाये..."

अलका ने कुछ न कहा।

कुमार ने लालटेनवाला हाथ नीचे किया, और झुग्गी से बाहर आकर दूसरी झुग्गी की तरफ़ बढ़ा।

"उस में अभी कुछ काम रहता है।" अलका ने कहा।

कुमार पीछे लौटने लगा तो उस ने अलका से कहा कि अगर उसे यहाँ झुग्गी में अकेले डर लगता था तो वह कुमार के कमरे में चली आये।

"मैं यहाँ अपनी झुग्गी में सोऊँगी।" अलका ने पहली झुग्गी का दरवाज़ा खोला, और दिये में तेल डालकर उस की वत्ती को उकसा दिया।

अपने कमरे में जाते हुए कुमार सोच रहा था कि इस दुनिया में और कोई औरत नहीं थी, जो उसे इस तरह बाँध सकती थी। यह सिर्फ़ अलका थी, जिस ने उस की बाँहों को, और उस के ख़यालों को अपने हाथों में कसकर पकड़ा हुआ था।

इस पकड़ पर कुमार को प्यार भी आता था, और गुस्सा भी आता था। और वह सोच रहा था कि अलका ने कितनी सच्ची तसवीर बनायी थी! उस के मन के पानियों में एक रेखा खिंची हुई थी, और इस रेखा पर वह दोनों पैर रख-कर खड़ा हुआ था...और कुमार को लगा, कि खड़े-खड़े अब उस के पैर थक गये थे। उसे इस लकीर पर से ज़रूर गिर पड़ना था। पर उसे यह नहीं पता लग रहा था कि वह हमेशा के लिए मुहब्बत की तरफ़ गिर पड़ेगा, या नफ़रत की तरफ़!

कुमार अलका के लिए बारीक रंगदार सूत से बुनी एक लाल धोती दिल्ली से लाया था। अलका आज जब नहाकर वही धोती बाँध रही थी, तो उसे लगा जैसे एक गीत पहाड़ की पगडण्डी उतरकर उस की झुग्गी की ओर आ रहा हो। उस ने कान लगाया। गीत पास आ रहा था :

"दुक्खां वाला डलडू तूँ मेरे कन्ने देइ दे
ता होई जा अगाड़ी मेरे माहणुयाँ!
ओ पखलिया माहणुयाँ!"[1]

अलका समझ गयी कि नाथी आ रही थी। नाथी को इस गीत का ओर-छोर

1. 'दुखों की डलिया तू मुझे दे दे!
और तू आगे चल राही!
ओ मेरे अजनबी राही!'

पता नहीं था, बस एक ही पंक्ति आती थी; और नाथी जानती थी कि अलका जब बड़ी रौ में होती थी तो वह उस से मिन्नत करके इस गीत को सुना करती थी। गीत काहे का, एक ही पंक्ति को फिर-फिर गाती थी। इसलिए नाथी जब अलका से मिलने के लिए, या उस से पढ़ने के लिए आया करती थी, तो चौड़ी सड़क से पगडण्डी उतरते ही इस गीत को गाना शुरू कर देती थी।

यह गीत अलका ने जब से सुना था, वह इस गीत से बँध गयी थी। जाने इस घाटी में किस दिलवाली ने इस गीत को रचा होगा! अलका हमेशा सोचा करती थी कि वैसे तो सारे गीत ही अपने सिरों पर अपने दुखों की डलिया उठाकर चलते हैं, पर यह गीत कैसा था! यह दूसरे के दुखों की डलिया को सहारा देता था। और यह गीत सुनते ही हमेशा अलका को यह महसूस होता था कि पहले भी कहीं इस घाटी में कोई कुमार जैसा मर्द हुआ होगा जो कहीं बँध नहीं पाता होगा; और पहले भी इस वादी में कभी अलका जैसी औरत ज़रूर हुई होगी, जिस ने उस मर्द से कहा होगा कि 'तुम्हारे सिर पर उठायी हुई दुखों की डलिया अब मैं उठा लेती हूँ, तुम हलके होकर आगे बढ़ जाओ।'

नाथी ने कभी इस गीत को नहीं समझा था पर अलका की आँखें इस गीत को सुनकर भारी हो जाती थीं। नाथी की आवाज़ में जब लोच बढ़ जाता था और वह लहराकर कहती थी, 'वे पखलिया माहणुआँ, वे मेरिया माहणुआँ!' तो अलका की आँखें बौराकर उस रिश्ते को ढूँढ़ने लगतीं जिस रिश्ते से कोई एक गीत की एक ही पंक्ति में किसी को 'मेरा' भी कह सकता है, और 'पखला' भी! नाथी ने बताया था कि 'पखला' उसे कहते हैं जो हमारा वाक़िफ़ न हो।

नाथी ने झुग्गी में आकर शहद का भरा हुआ कसोरा पेड़ के कटाव पर रख दिया। अलका नाथी से कुमार के लिए शहद मोल लिया करती थी।

नाथी ने नज़र भरकर अलका की ओर देखा, और हँसकर अपनी छाती पर हाथ रखकर बोली, "हाय नी अम्माँ। एह खदरेना चोलू ए?"

अलका हँस पड़ी।

"नहोई-धोई के तिज्जो इतना रूप चढ़ना ऐ! मेरे मन बुरी ममता लग दी···" नाथी ने कहा, और उचान पर बैठ गयी।

"तुम ने यह गीत बीच ही में क्यों छोड़ दिया?" अलका ने हाथ में पकड़ी हुई कंघी आले में रख दी, और नाथी के पास ग़लीचे पर बैठ गयी।

"घडोलू चुक्कि करी सत्त बल पई जाँदे तेरे लक्के विच, दुखाँ दा डलडू कुत्थू गैल-गैल लई फिरना!" नाथी हँसने लगी।

अलका जब कभी यह गीत सुनने के लिए बेचैन होती, नाथी उसे इसी तरह खपाती थी। "अच्छा, अब जब तुम्हारे रसिया का ख़त आयेगा, मैं तुम्हें पढ़कर नहीं सुनाऊँगी!" अलका ने नाथी की एक चोटी खोल दी, और हँस पड़ी।

"भला, बीबी, मैं नरेलू दिंगी ! तूँ चिट्ठी पढ़ी दियाँ।"

"नरेलू तुम फिर देना। चल आ तुम्हें चाय पिलाऊँ !" अलका ने कहा, और बरामदे के चूल्हे में आग जलाकर चाय बनाने लगी।

चाय पीकर अलका नाथी को छोड़ने चली, तो उस ने देखा कि कुमार हाथ में कोई काग़ज़ पकड़े हुए उस की ओर आ रहा था। अलका ठहर गयी। कुमार ने पास आकर एक तार अलका को पकड़ा दिया। अलका ने लिफ़ाफ़ा खोला, तार पढ़ा और काग़ज़ को मोड़कर फिर लिफ़ाफ़े में रख दिया।

"पिताजी का तार है न?"

"हाँ।"

"कोई ख़ास बात है?"

"कोई ख़ास बात नहीं, मुझे बुलाया है।"

"कब जाओगी ?"

"मुझे जाना नहीं, ख़त लिख दूँगी।"

"नहीं, अलका, जब वह बुलाते हैं तो जाना ही चाहिए।"

"जिस काम के लिए वह बुलाते हैं, उस के लिए जाने की ज़रूरत नहीं।"

कुमार चुप रहा। वह जानता था कि जिस काम के लिए अलका को जाने की ज़रूरत नहीं थी, वह कौन-सा काम हो सकता है।

नाथी चली गयी थी। कुमार अलका को लेकर वापस उस की झुग्गी में आ गया, और उस ने अपने कोट की जेब से एक और तार निकालकर अलका को दे दिया। यह तार भी अलका के पिताजी का ही था, पर यह कुमार के नाम था। उस में लिखा हुआ था कि वह अलका को ज़रूर भेज दे।

"गाड़ी दोपहर को जाती है।"

"रोज़ ही दोपहर को जाती है। जिस तरह आज जायेगी, उसी तरह कल जायेगी, रोज़ जायेगी।"

"जब किसी के पैरों के आगे कोई 'मोड़' आ जाये, तो फिर उस का 'कल' कोई नहीं होता।"

"मेरे लिए कोई मोड़ नहीं, इसलिए सारे ही 'कल' मेरे अपने हैं।"

"मैं ने अपने आप छोड़ कभी किसी चीज़ पर विश्वास नहीं किया।"

"इसी लिए आप इस 'कल' पर विश्वास नहीं कर सकते? मैं जानती हूँ आप नहीं कर सकते। क्योंकि इस कल का वास्ता आप से भी उतना ही होगा जितना मुझ से, और मैं अब तक आपके लिए कोई दूसरी चीज़ हूँ।"

"अलका ! जब तुम यह जानती हो, तो मुझ से यह सब क्यों पूछती हो?"

"मैं ने पूछा कुछ नहीं, सिर्फ़ उस दिन की इन्तज़ार कर रही हूँ जब मैं आप के लिए एक बाहर की वस्तु नहीं रहूँगी।"

"बाहर की वस्तु बाहर की वस्तु होती है।"

"मैं कहती कुछ नहीं, पर जब वह अन्दर की चीज़ बन जायेगी, मुझे बता देना।"

"अच्छा।"

"आप न भी बतायेंगे तो मुझे मालूम हो जायेगा। अच्छा, अब बताइये आप मुझे क्या करने को कहते हैं!"

"अमृतसर जाकर विवाह कर लेने के लिए।"

"एक ही विवाह?"

"और कितने?" कुमार हँस पड़ा।

"अगर मेरे एक विवाह से आप को तसल्ली न हुई तो मैं दो विवाह कर लूँगी। अगर दो से भी न हुई तो चार कर लूँगी। जितने आप कहेंगे कर लूँगी!"

कुमार कितनी देर अलका के मुँह की ओर देखता रहा। फिर हँसकर बोला, "अच्छा जाओ, पहले एक तो करके दिखाओ!"

"देखने आओगे? देखकर आप को अच्छी तरह तसल्ली हो जायेगी।"

"काहे की तसल्ली?"

"कि आप ने मुझे उस हद से परे भेज दिया था, जिस हद को पार कर कोई वापस नहीं आ सकता।"

"हाँ।"

"अगर फिर भी यह लगा कि मैं उस हद से परे नहीं गयी, तो मुझे एक विवाह और कर लेने को कह आना।"

झुग्गी में बने हुए मिट्टी के उचान पर बैठे हुए कुमार को लगा कि उस के दिल पर, और उस के जिस्म पर अलका का टोना फिर असर कर रहा था। वह ग़लीचे से उठकर झुग्गी से बाहर आ गया। उसे लगा कि यह घड़ी उस की सब से कठिन घड़ी थी। अलका जब एक बार चली जायेगी, वह हमेशा के लिए उस के लिए बेगानी हो जायेगी।

'एक तो उस का मुख मुझ पर टोना करता है, और दूसरे उस की बातें!' डॉक्टर जैसे एक मरीज़ जो बताता है, कुमार ने अपने-आप को बताया, और फिर उस ने अपने-आप को एक नुसख़ा लिख दिया, 'क़ानून जब उसे किसी और के नाम से जोड़ देगा, यह टोना ख़ुद टूट जायेगा!'

कुमार ने चौखट के पास आकर अलका से कहा, "आज मुझे बैजनाथ जाकर एक फ़िल्म लानी है, लौटते देर हो जायेगी। इसलिए तुम चेतू चाचा को अपने साथ स्टेशन पर ले जाना, या उस से कहना कि तुम्हें अमृतसर छोड़ आये!"

अलका ने अपनी लाल धोती की कन्नी को अपनी मुट्ठी में कसा, और कहा, "अच्छा।"

कुमार फूलों की क्यारियों के पास गुज़रकर उस पगडण्डी पर चढ़ रहा था जो आगे जाकर बैजनाथ को जाती सड़क पर पहुँच जाती थी। अलका उस की पीठ की तरफ़ देखती रही। उसे लगा कि आज सवेरे का गीत एक गीत नहीं था, एक भविष्यवाणी थी। इस आगे चले जा रहे आदमी को सुखी करने के लिए दुखों की डलिया उठाने का समय आ गया था।

कुमार बैजनाथ से वापस आया तो दिन ढल चुका था। पक्की सड़क से अपने चक्क की कच्ची पगडण्डी उतरते हुए वह रुक गया। सामने धान के खेत थे, सब्ज़ियों और फूलों की क्यारियाँ थीं, अनारों के पेड़ थे, और इन पेड़ों से घिरी हुई झुग्गियाँ थीं। कुमार स्लेटों की छतों की ओर देखता रहा, जैसे दूर से ही उन से पूछ रहा हो, 'अलका चली गयी है? जाते समय कुछ कहती तो नहीं थी... यही कहती होगी कि मैं जान-बूझकर यहाँ से चला गया था...अगर न जाता तो क्या करता ...उस ने ज़रूर कोई टोना कर देना था...सवेरे लाल धोती बाँधकर इस तरह लग रही थी जैसे किसी ने लाल रंग की पोटली में एक टोना बाँधा हुआ हो!'

पगडण्डी पर धीरे-धीरे चलते हुए कुमार ने जंगली फूलों की एक टहनी को सहलाया और सोचता ही गया, 'आज मैं बहुत सँभला हुआ था...अगर मैं इस तरह उस के जादू को झाड़कर चला न गया होता तो जाने क्या हो जाता!...'

चलते-चलते कुमार ने मकई के एक भुट्टे को उस के सुनहरी गुच्छे से पकड़-कर सहलाया, और अपने होंठों में कहा, 'बस वही समय मुश्किल था!...मैं मुश्किल घड़ियाँ गुज़ार आया हूँ...अब कोई डर नहीं...'

सामने अनार का पेड़ था। कुमार ने अनार की एक कली तोड़ी, और उस के लाल रंग को दोनों आँखों से घूरते हुए बोला, 'सुबह वह बिलकुल तुम्हारे जैसी लगती थी...देखो तो मैं ने किस तरह तुम्हें इन पत्तों से अलगा दिया है। इसी तरह मैं ने उसे अपने दिल से तोड़ दिया है...'

स्लेटों की झुग्गियों के पास पहुँचकर कुमार को ख़याल आया कि वह इतनी देर से एक-एक पौधे से और एक-एक पत्ते से अलका की बातें कर रहा था; और उस ने अपने पैर रोककर अपने-आप को कहा, 'इधर काहे को आ निकला हूँ ! मुझे अपने कमरे में जाना चाहिए।'

कुमार ने झुग्गी की चौखट से अपने पाँव लौटा लिये। डूबते सूरज की लाली बड़े ध्यान से कुमार के चेहरे की ओर देखने लगी।

कुमार जब अपने कमरे में आया तो हरिया ने उसे बताया कि अलका बीबी सवेरे चली गयीं। चेतू चाचा भी उस के साथ गया है, और हरिया ने बताया कि स्टेशन पर जाकर चेतू चाचा को जाने क्या हुआ कि वह गाड़ी में बैठ गया। नाथी भी स्टेशन पर गयी थी, वह लौट आयी है।

जो कुछ हरिया ने बताया था कुमार ने सुन लिया पर अपनी ओर से कुछ न पूछा। हरिया खाना ले आया, कुमार ने खाना खा लिया, और बिस्तर पर लेटकर उस ने एक किताब पढ़नी शुरू कर दी : "यू गेव मी बैक समथिंग दैट बिलांग्ड टु मी, समथिंग दैट यू डिड नाट टेक अवे, माइ कॉन्फ़िडेंस इन माइसेल्फ़ !"

कुमार ने जब ये पंक्तियाँ पढ़ीं, तो उसे लगा कि वह एक साधारण किताब नहीं पढ़ रहा था, वह एक वेद में से वाक्य पढ़ रहा था। आज अलका ने सचमुच उस की खोयी हुई चीज़ उसे लौटा दी थी। यह चीज़ वह अपने साथ नहीं ले जा सकी थी; और कुमार ख़ुश था कि अपने आप में उस का विश्वास लौट आया था।

कुमार ने इस किताब को किसी ख़ास इरादे से पढ़ना शुरू नहीं किया था। उसे ख़याल आया था कि पुस्तक को पढ़ते-पढ़ते वह सो जायेगा। इसलिए उस ने किताबों की अलमारी के पास जाकर जो भी हाथ में आयी, वही किताब निकाल ली थी। उस ने किताब का नाम भी नहीं पढ़ा था।

ये पंक्तियाँ पढ़ने के बाद कुमार को लगा कि वह किताब अपने होंठों से उस के मन की बातें कर रही थी। इसलिए वह उसे उमंग से पढ़ने लगा। अगली पंक्तियाँ थीं : "दि एबिलिटी टु लव डीपली एण्ड स्टेड-फ़ास्टली इज़ रेयरर दैन ग्रेट टैलेण्ट। टैलेण्ट शुड दि सर्वेण्ट ऑफ़ लव ! फ़ॉर विदाउट लव, टैलेण्ट इज़ लाइक सेक्स विद ओनली वन बॉडी !"

'क्या बकवास है !...' कुमार के मुँह से गुस्से में निकला और किताब को उस ने मेज़ पर पटक दिया। उस ने मेज़ पर जलती बत्ती बुझा दी, और सोने के लिए दोनों आँखें बन्द कर लीं।

'अलका ने जाते हुए शायद मेरे लिए कोई ख़त लिखा हो !' कुमार को ख़याल आया, पर उस ने सोचा कि अलका ने अगर कोई ख़त उस के लिए लिखा होता तो हरिया ने उसे ख़ुद ही दे देना था। तब भी कुमार ने मेज़ की बत्ती जलायी,

और मेज़ को ध्यान से देखा। मेज़ पर कोई काग़ज़ नहीं था। कुमार ने बत्ती बुझा दी, और सोचने लगा, 'अलका ने अच्छा ही किया जो जाते वक़्त कोई सन्देश नहीं देकर गयी...नहीं तो जिस तरह वह अपनी बातों से दूसरों को बौरा देती है, उस ने ख़त लिखकर भी मुझे रुला देना था...'

कुमार ने एक हलकी साँस ली, और स्वतन्त्रता के इस क्षण को पूरी तरह महसूस करने के लिए चारपाई से उठकर बाहर अमरूदों के पेड़ों के तले आ बैठा। रात तारों की रोशनी में भीगी हुई थी। कुमार ने दोनों बाँहें खोलकर धरती की ओर और आसमान को इस तरह देखा जैसे उस की बाँहें एक लड़की के बदन से अलग होकर इतनी स्वतन्त्र हो गयी हों, और इतनी विशाल भी, कि अब वे सारी धरती को और सारे आसमान को अपने में समेट सकती हों।

एक हलकी साँस लेते हुए कुमार के सीने में हलकी-सी पीड़ा हुई, पर कुमार के जिस्म ने आज किसी भी पीड़ा को स्वीकार न करने की ठानी हुई थी।

'चल तारों की छाँव में आँख-मिचौली खेलें!'

कुमार को लगा कि किसी ने उसे पीठ के पीछे से कहा था। कुमार ने चौंक-कर पीछे की ओर देखा। वहाँ कोई नहीं था। बायीं ओर जंगली फूलों की एक सघन झाड़ी थी। उसे लगा कि उस झाड़ी की ओट में खड़ा कोई हँस रहा था। कुमार ने झाड़ी की ओर जाने की जगह माथा सिकोड़कर उस झाड़ी की तरफ़ देखा।

कुमार को लगा कि जिस तरह दिल्ली में एक रात उसे अलका की परछाईं दिखाई दी थी, और उस के कानों में अलका के पैरों की आवाज़ आयी थी, आज भी उस के साथ वैसा ही कुछ होने चला था। उस ने गुस्से में कहा, 'अलका!' इस तरह—जैसे अलका एक छोटी-सी बालिका हो, उसे बार-बार चिढ़ाती हो, और वह अलका को रोक रहा हो...

"पर यह अलका नहीं, मैं हूँ...अब तुम और मैं रोज़ तारों की छाँव में आँख-मिचौली खेला करेंगे!" झाड़ी के पीछे से आवाज़ आयी, और कुमार ने आवाज़ पहचान ली। यह उस उदासी की आवाज़ थी, जिस के साथ उस ने एक बार सामने खड़े होकर बातें की थीं।

"सो तुम आ गयी हो!..." कुमार ने धीरे से कहा, और सिर नीचे झुका लिया।

सिर नीचा किये कुमार बाग़ में घूमता रहा। चलते-चलते उस ने देखा कि वह झुग्गी के दरवाज़े पर खड़ा था। कुमार ने एक गहरी साँस ली और झुग्गी का दरवाज़ा खोलकर अन्दर चला गया।

अन्दर गहरा अँधेरा था। कुमार ने हाथों से लकड़ी के कटाव को सहलाया। उसे मालूम था कि इस के ऊपर एक दीया, और एक माचिस रखी रहती थी।

कुमार ने दीया जलाया। उसे समझ नहीं आ रहा था कि उस ने दीया क्यों जलाया था। दीये की रोशनी में उस ने झुग्गी की दीवारों की तरफ़ देखा। झुग्गी का चेहरा बड़ा उदास था।

कुमार ने एक गहरी साँस ली और बोला, "तुम मुझ से बेहतर हो। तुम उदास हो, पर तुम अपनी उदासी को छिपाती नहीं हो, पर मैं अपनी उदासी को स्वीकार नहीं करता।" कुमार ने कहा और ग़लीचे पर इस तरह बैठ गया, जैसे उस ने झुग्गी के साथ और भी बहुत-सी बातें करनी हों।

दीवार की तरफ़ देखते-देखते कुमार की नज़र एक आले में पड़ी। आले में एक काग़ज़ पड़ा हुआ था। कुमार का दिल एकाएक धड़कने लगा। कुमार ने उस काग़ज़ को उठाया। पर जब उसे खोलकर दीये की रोशनी में पढ़ने लगा तो उस की आँखें पथरा गयीं, और कुछ देर तक उस से कोई अक्षर पढ़ते न बना।

कुछ देर बाद कुमार ने पढ़ा, अलका ने लिखा था :

"इट इज़ सो सिम्पल दैट इट मे बी इम्पॉसिबल टु एक्सप्रेस ! इट इज़ सो पर्सनल दैट इट इज़ हार्ड टु कॉम्यूनिकेट ! इट इज़ सो लोनली दैट इट इज़ डिफ़ि-कल्ट टु शेयर ! इट इज़ सो सेक्रेड दैट इट मे बी टू फ्रेजाइल टु टाक एबाउट; वन्स इट हैज़ लेफ़्ट वन्ज़ हार्ट, इट मे इवेपोरेट !"

काँपते हाथों से काग़ज़ को लकड़ी के कटाव पर रखकर कुमार के मन में जो कुछ हुआ, उस का एक ही सीने में झेल पाना कठिन था। कुमार ने ग़लीचे पर लेटकर आँखें बन्द कर लीं।

जाने कब कुमार को नींद आ गयी। वह रात भर उस ग़लीचे पर लेटा रहा। सोते समय ही उस ने अपने नीचे बिछे हुए ग़लीचे का एक कोना उठाकर अपने पर ओढ़ लिया। जब उस की आँख खुली, खिड़की में से सुबह की हलकी रोशनी अन्दर आ रही थी। खिड़की की ओर देखते हुए उस की नज़र कौड़ियों की लड़ी पर गयी, जिसे अलका ने ताड़ के पत्तों से बाँधा हुआ था, और कुमार को लगा कि अलका विवाह करवाने के लिए अमृतसर चली गयी थी, पर अपना कलेरा[1] यहाँ छोड़ गयी थी।

1. शादी के अवसर पर कलाई की चूड़ियों के साथ बँधने वाली कौड़ियों की लड़ी।

अलका जिस लाल धोती को कल छत्तीस चक्क में पहने हुई थी, अमृतसर पहुँचकर जब वह अपनी कोठी में आयी तो वही लाल धोती उस ने बाँधी हुई थी। रास्ते में उस ने कपड़े नहीं बदले थे, बाल भी नहीं सँवारे थे, पर बौराये बालों ने और सूत की इस लाल धोती ने अलका को जाने कैसा रूप चढ़ा रखा था कि अलका का माथा चूमते हुए अलका के पिता को ख़याल आया कि अलका को किसी की नज़र न लग जाये। पिताजी ने अलका के लिए जिस आदमी को चुना था, वह आजकल उन्हीं के यहाँ ठहरा हुआ था। इस वक़्त भी वह बाहर टाँगे की आवाज़ सुनकर पिताजी के साथ ही बाहर चला आया था। वह अलका की तरफ़ देखता रह गया। पिताजी ने अलका से उस का परिचय कराया, "कैप्टन जगदीशचन्द्र, मर्चेण्ट नेवी में हैं।" और अलका को अपनी बाँहों में लेकर चाय पीने के लिए कमरे में ले गये। अलका ने चेतू को अपना कमरा दिखा दिया। वह अलका की चीज़ें कमरे में रखने चला गया।

पिताजी ने अलका से जगदीशचन्द्र को बड़े साधारण तरीक़े से परिचित कराया था। और कुछ न कहा था, सिर्फ़ चाय पीते समय जगदीशचन्द्र की सफ़री ज़िन्दगी के बारे में वे दिलचस्प बातें सुनाते रहे, जो शायद उन्होंने पिछले चार-पाँच रोज़ में जगदीशचन्द्र से सुनी थीं। और उन्हीं बातों से अलका ने अपने पिता जी की इच्छा का अन्दाज़ा लगा लिया था।

जगदीशचन्द्र बड़े शौक़ के साथ अलका से उस की पेण्टिग और पहाड़ी ज़िन्दगी के बारे में पूछता रहा। अलका सलीक़े से जवाब देती गयी। समुद्र के सफ़र के बारे में उस से पूछती रही। पर वह सारा समय उस आनेवाले वक़्त के बारे में सोचती रही जब उस का इस से ज्यादा बड़ी बातों से वास्ता पड़ना था।

सन्ध्या समय पिताजी किसी काम से बाहर चले गये। अलका ने समझ लिया कि वह जान-बूझकर उसे जगदीशचन्द्र के पास अकेली छोड़ गये थे। वह अपने कमरे की खिड़की में इस तरह खड़ी हो गयी जैसे ज़िन्दगी की इस नयी माँग को, और उस के बराबर तुलनेवाली अपनी हिम्मत को जाँचकर देख रही हो। उसे

ठहरे हुए कुछ ही समय हुआ था कि कमरे के दरवाज़े में से जगदीशचन्द्र ने आवाज देकर उस से पूछा कि क्या वह कमरे में आ सकता था।

"आइये!" अलका ने खिड़की से हटकर एक कुरसी की ओर हाथ से संकेत किया।

"अभी तक सफ़र की थकान होगी..." जगदीशचन्द्र ने कमरे में आकर कुरसी पर बैठते हुए बड़ी आत्मीयता से देखा।

"आप तो ख़ूब लम्बा सफ़र करनेवालों में हैं, सफ़र की थकान की बात इतना क्यों सोचते हैं!" अलका हँस पड़ी, और सामने कुरसी पर बैठ गयी।

"हम लोगों की वह आदत बन जाती है। वास्तव में मैं वहाँ आना चाहता था।"

"कहाँ?"

"वहीं तुम्हारे चक्क नम्बर छत्तीस में।"

"आ जाते।"

"पर पिताजी तुम्हें यहाँ बुलाना चाहते थे...वह ख़ूब सुन्दर जगह होगी?"

"हाँ।"

"इतने दिनों बाद शहर में आकर अजीब-सा लगता होगा।"

"बहुत अजीब!"

"मेरा ख़याल है कि तुम्हें समन्दर किनारे की ज़िन्दगी भी अच्छी लगेगी।"

अलका ने एक नज़र में जगदीशचन्द्र के चेहरे की ओर देखा और हँस पड़ी। अलका के हँसने से जगदीशचन्द्र को ख़याल आया कि अलका से पूछे बिना उस ने उस की ज़िन्दगी को ख़ुद ही समन्दर के किनारे से जोड़ दिया था। यह उस ने बड़ी जल्दी की थी।

"वास्तव में..." जगदीशचन्द्र ने कुरसी से उठकर अलका की पीठ की तरफ़ खड़े होकर उस की कुरसी पर हाथ रखा, और वह जैसे जो कुछ महसूस कर रहा था उसे वैसे ही कह दिया, "मैं ने यह बिलकुल नहीं सोचा था कि मेरा इतनी ख़ूबसूरत लड़की से वास्ता पड़ेगा!"

"आप ने क्या सोचा था?"

"मैं ने कुछ भी नहीं सोचा था। माँ काफ़ी अरसे से शादी के लिए ज़ोर दे रही है। इस बार छुट्टियों में उस ने मुझे मना लिया था कि मैं शादी कर लूँगा। उस ने कई जगहें देख रखी थीं।"

"फिर कई स्थानों में से आप ने इस जगह को क्यों चुना?"

"आप के पिताजी को शायद किसी ने मेरी ओर से बताया था। उन्होंने मुझ से मिलना चाहा, और मैं चला आया। वैसे मैं यहाँ भी माँ के ज़ोर देने पर आया था। वह कहती थी कि अगर यहाँ बात हो जाये तो किसी और जगह की बात

सोचने की ज़रूरत नहीं ।"

"वह मुझे जानती हैं ?"

"तुम्हें नहीं, पिताजी को जानती हैं ।"

"पर यह माँ का फ़ैसला है, आप का नहीं !"

जगदीशचन्द्र ने कुरसी पर रखा हुआ हाथ अलका के कन्धे पर रख दिया । उस के हाथ में उस के मन की बात धड़क रही थी, पर वह सोच रहा था कि वह इस बात को कैसे कहे !

"सो आप मुझ से विवाह करने के लिए तैयार हैं ।" अलका ने ख़ुद ही कहा ।

"अगर सिर्फ़ मेरी मरज़ी से हो सकता हो तो आज ही हो जाये, अभी..."

"पर अब सन्ध्या समय कैसे होगा !" अलका हँसने लगी । जगदीशचन्द्र को उस की हँसी बड़ी अच्छी लगी । उस के मज़ाक़िया स्वभाव के बराबर उतरने के लिए वह भी हँस दिया, और बोला, "विवाह करनेवाली अदालतें रात को भी खुली रहनी चाहिए !" और फिर जगदीशचन्द्र ने अलका के कन्धे पर रखे हुए हाथ को ज़रा दबाकर कहा, "पर यह मेरी मरज़ी की बात है । मुझे अब तक तुम ने अपनी मरज़ी नहीं बतायी ।"

"मेरी मरज़ी का तो आप ने पहले ही फ़ैसला कर दिया था कि मुझे समन्दर के किनारे की ज़िन्दगी अच्छी लगेगी !" अलका हँस दी ।

जगदीशचन्द्र ने झुककर अलका के होंठों को छूना चाहा, पर अलका ने मुँह हटा लिया और बोली, "अभी नहीं !"

जगदीशचन्द्र ने अलका के कन्धे पर रखा हुआ हाथ इस तरह उठा लिया, जैसे वह अपने सब्र का सबूत दे रहा हो ।

"अब जब पिताजी आयेंगे, उन्हें तुम ख़ुद बताओगी, या मैं बता दूँ ?" जगदीशचन्द्र ने अलका से पूछा ।

"जैसी आप की मरज़ी ।"

"मेरी छुट्टी बहुत कम रह गयी है । तुम जो कुछ ख़रीदना चाहो, मुझे जल्दी बता देना ।"

"मुझे कोई चीज़ नहीं ख़रीदनी । पर अदालतवाले एक महीने का अरसा माँगते हैं ।"

"मेरी माँ अदालती शादी से ख़ुश न होगी । अगर हम दूसरी तरह से शादी करते तो कोई हरज है ?"

"कई देशों में आप एकवर्षीय विवाह भी कर सकते हैं, और द्विवर्षीय भी... और ज़रूरत पड़े तो एक मासिक भी...पर हमारे देश में इस तरह का विवाह नहीं होता । इसलिए रस्मी विवाह से अदालती विवाह अच्छा है !"

"अलका !"

"जी।"

"तुम मुझ से उमर भर के लिए विवाह नहीं करना चाहती हो ?"

"कह नहीं सकती। गुज़र जाये तो सारी उमर बीत जाये, न गुज़रे तो एक महीना भी न गुज़रे, एक दिन भी न बीते।"

जगदीशचन्द्र पहले हैरान हुआ। फिर उस ने हँसकर अलका की ओर देखा और बोला, "देखने से यह बिलकुल पता नहीं चलता कि तुम इतनी 'एडवेंचरस' होगी !"

"मैं बिलकुल 'एडवेंचरस' नहीं हूँ।"

"मैं ने सोचा था कि अगर कभी किसी से इस तरह की शर्त करनी होगी, तो मुझे ही...हम नेवीवालों की ज़िन्दगी बड़ी अजीब होती है ! नित नये लोगों से वास्ता पड़ता है। इसलिए सारी उमर का बन्धन कई बार हमें अच्छा नहीं लगता...पर लगता है कि तुम मुझ से भी कहीं 'एडवेंचरस' हो।"

"मैं बिलकुल 'एडवेंचरस' नहीं हूँ। बात बस इतनी है कि ज़िन्दगी बड़ी अजीब होती है। सिर्फ़ नेवीवालों की ही नहीं, सभी की अजीब होती है।"

"तुम्हारा खयाल है कि शायद तुम कभी किसी और को प्यार करने लगोगी ?"

"शायद नहीं, अब भी करती हूँ।"

जगदीशचन्द्र अलका के चेहरे की ओर देखने लगा। वह अब तक खड़ा हुआ था। वह हैरान हुआ कुरसी पर बैठ गया। फिर कुछ देर बाद उस ने अलका से पूछा, "फिर तुम उस से विवाह क्यों नहीं कर लेती हो, अलका ?"

"वह मुझ से विवाह नहीं करना चाहते।"

जगदीशचन्द्र कुछ देर चुप रहा। फिर हँस पड़ा, "पर अब जब कि तुम कुँआरी हो, वह तुम से विवाह नहीं करना चाहता, और फिर जब तुम्हारा विवाह हो जायेगा तो क्या वह चाहेगा कि तुम तलाक़ लेकर उस से विवाह कर लो ?"

"शायद।"

जगदीशचन्द्र के मन में कसक-सी उठी और उस ने आगे बढ़कर अलका का हाथ पकड़ लिया और बोला, "मैं तुम्हें इतनी दूर ले जाऊँगा कि तुम्हें कभी उस की ख़ैर-ख़बर भी न मिले !"

"मैं जहाँ भी रहूँ, मुझे उस का पता रहेगा।"

जगदीशचन्द्र ने अलका का हाथ छोड़ दिया और बोला, "मेरा ख़याल है, तुम्हें विवाह नहीं करना चाहिए।"

"मेरा भी यही ख़याल है कि मुझे विवाह नहीं करना चाहिए।"

"पर मैं हैरान हूँ कि तुम विवाह करना मान कैसे गयीं।"

"मैं ने उसे वचन दिया है कि मैं विवाह कर लूँगी।"

"इस का मतलब है, उस ने ज़बरदस्ती तुम से वचन लिया है।"

"हाँ।"

"उस का ख़याल है कि एक बार तुम्हारा विवाह हो जायेगा, और वह हमेशा के लिए तुम से जुदा हो जायेगा।"

"हाँ।"

"मेरा ख़याल है कि उस ने ठीक सोचा है।"

जगदीशचन्द्र ने प्यार से अलका का हाथ पकड़ लिया और बोला, "उस से चाहे तुम्हारा कितना भी ताल्लुक़ रहा हो मुझे उस की परवा नहीं। ज्यादा से ज्यादा यह होगा कि उस का तुम से जिस्मानी ताल्लुक होगा। यह कोई ख़ास बात नहीं। इस तरह मेरी ज़िन्दगी में भी कई लड़कियाँ आयी हैं। सब की ज़िन्दगी में आती हैं। विवाह से पहले की बातों को नहीं कुरेदना चाहिए। मुझे सिर्फ़ यह बता दो कि मुझ से विवाह हो जाने पर मुझ से चोरी उसे मिलोगी?"

"बिलकुल नहीं।"

"उसे ख़त लिखोगी?"

"बिलकुल नहीं।"

जगदीशचन्द्र ने कुरसी से उठकर अलका की पीठ पर अपना हाथ रखा और बड़े प्यार से बोला, "दैन इट इज नथिंग!"

"पर एक बात है।"

"क्या?"

"अगर कभी मुझे यह मालूम हो गया कि उस ने अपना ख़याल बदल दिया है, और उसे मेरी ज़रूरत है तो मैं आप से तलाक़ लेकर उस के पास चली जाऊँगी।"

"चलो, यह शर्त मंज़ूर है!" जगदीशचन्द्र हँसा। उस ने अलका के घने बालों में से छोटी लट को अपनी उँगली पर लपेटा और बोला, "मैं ख़ुश हूँ कि तुम ने इतनी दिलेरी से बातें की हैं। तुम जैसी लड़की कभी झूठ नहीं बोल सकती।"

"मैं कभी झूठ नहीं बोल सकती।"

जगदीशचन्द्र ने झुककर अलका के होंठों को छूना चाहा, पर अलका ने इनकार में सिर हिला दिया, "अभी नहीं, विवाह के बाद।"

"सुबह अदालत में लिखकर दे दूँ?"

"दे दीजिये।"

"पूरा एक महीना इन्तज़ार करना होगा।"

"आप की छुट्टी का क्या होगा?"

"मैं और छुट्टी ले लूँगा।"

जगदीशचन्द्र जब अलका के कमरे से जाने लगा तो अलका ने जल्दी से दरवाज़े की देहरी पर जाकर उस से पूछा, "एक आख़िरी ख़त लिखने की इजाज़त है?

सिर्फ़ यह लिखना है कि आज से एक महीने के बाद मेरा विवाह हो जायेगा।"

"हाँ।" जगदीशचन्द्र ने हँसते हुए कहा, और अलका के कमरे से वह चला गया।

अलका रात को जब कुमार के नाम ख़त लिखने लगी, तो उसे यह समझ नहीं आ रहा था कि वह यह ख़त किसे लिखने लगी है। हाथ में क़लम पकड़कर जब उस ने काग़ज़ की तरफ़ देखा तो उसे लगा जैसे वह खाइयों के पत्थरों को ख़त लिखने लगी हो।

"चेतू चाचा शहरे जो ग्या तो शहरे दाई होई रया!" हरिया ने उठते-बैठते कई बार कहा। कुमार ने कई बार हरिया को झिड़की देकर कहना चाहा कि उस ने चेतू चाचा की रट क्यों लगा रखी है, आख़िर वह मुद्दत में शहर गया है, चार दिन वहाँ की रौनक़ देखेगा और ख़ुद लौट आयेगा। पर कुमार को लगा कि रोज़ जब गाड़ी का समय होता था तो वह ख़ुद घूमते-घूमते शहर की बड़ी सड़क पर चला जाता था। वह पिछले कई दिनों से बैजनाथ की ओर नहीं गया था। हमेशा पपरोला की उतराई उतर जाता था, जैसे वह आधी बाट चलकर स्टेशन से आते हुए चेतू चाचा को लेने जा रहा हो। इसलिए उस ने हरिया को कुछ न कहा।

"मैं चेतू चाचा की बाट इस तरह क्यों देख रहा हूँ, जैसे कोई क़ासिद का इन्तज़ार कर रहा हो?" कुमार ने हरिया को कुछ कहने की जगह अपने आप को कोसा। वह स्वयं रुआँसा-सा हो गया। फिर उस ने ख़ुद ही अपने आपको ढाढ़स बँधाया, 'मैं चेतू की बाट इस लिए देख रहा हूँ कि वह आकर मुझे अलका की पूरी ख़बर बताये कि उस ने वहाँ जाकर कोई ज़िद नहीं ठानी और अपने पिताजी का कहना मानकर अपने विवाह की बात पक्की कर ली।"

एक दिन नाथी हरिया को खोजती-खोजती कुमार के बरामदे से बाहर निकली। कुमार घास पर बैठा था। नाथी को उस ने पहले भी दो बार हरिया के

पास आकर शहर की ख़बर पूछते देखा था। पर वह हमेशा हरिया से पूछकर लौट जाया करती थी। आज वह कुमार के पास आकर खड़ी हो गयी—"बाबूजी।"

"हाँ, नाथी।"

"मेरी जान ताँ सूलाँ टँगोई गयी !"

"क्या हुआ, नाथी ?"

"चेतू चाचा घरे जो भुल्ली गया !"

"उस ने जाना कहाँ है, नाथी ! आज-कल में ही आ जायेगा। तुम्हारी माँ को उस पर भरोसा नहीं, जो इतनी उतावली हो गयी है ?"

"खड्डाँ दे पार तित्तरूँ बोलदे ताँ अम्मा डरी-डरी जाँदी !"

कुमार हँसने लगा। कुमार जानता था कि नाथी का ख़ाविन्द कई सालों से उसे छोड़कर परदेश गया हुआ है। नाथी जवान-जहान थी पर वह हँस-खेलकर दिन बिता रही थी। और अब जब चेतू चाचा दो-चार दिनों के लिए परदेश गया था तो उस की बूढ़ी औरत इस तरह विराग गयी थी कि वह पल-पल बाद नाथी को उस की ख़बर पूछने के लिए भेजती थी। कुमार ने हँसकर नाथी से कहा, "अगर अम्माँ की तरह तुम भी अपना दिल छोड़ बैठो तो क्या होगा !"

"मैं ताँ बाबूजी, अपना दिल खड्डाँ दिया पत्थराँ साही करी लिया !"

"फिर तुम अम्माँ को समझाती क्यों नहीं हो ?"

"उसा दियाँ हड्डियाँ दा चूरा होई जाँदा ! मिंजो क्या पता, उस जो वी कन्ने भेजि दिन्दी !"

"उसे किस बात का डर लगता है ?"

"रब दीयाँ रब जाने, उट्ठी-बई मिंजो गालियाँ दिन्दी ए !"

"पर इसमें तुम्हारा क्या क़ुसूर है ?"

"मैं चाचे जो टेशने उप्पर छड्डि आयी। अम्माँ उट्ठी-बई गलाँदी ए : ओ दगेबाज़ शहरे जो ग्या शहरे दा होई रया !"

नाथी लौटने को हुई तो कुमार ने एक गहरी साँस ली, 'एक ओर चेतू की औरत है, जो यह सोचती है कि चेतू शहर जाकर शहर का ही क्यों हो रहा है। दूसरी तरफ़ मैं हूँ जो यह सोच रहा हूँ कि अलका शहर गयी है, ईश्वर करे वह शहर की हो रहे !'

"जली आये शहराँ दा रहणाँ !" नाथी ने जाते-जाते कहा।

"तुम्हें शहरों पर बहुत गुस्सा आ रहा है।" कुमार फिर हँसने लगा।

"तिझो पता नी, बाबूजी, ए हासा कुत्थूँ ते आउन्दा ए ?" नाथी जाती-जाती ठिठक गयी, और कुमार की ओर देखने लगी।

"आज तुम्हें क्या हुआ है, नाथी! तुम्हें मेरी हँसी पर भी गुस्सा आ रहा है।"

"अलका बीबी जो बन्हीं करी शहर भेजि दित्ता ! मेरा मन बुरा हुन्दा ए, बाबूजी ! मेरियाँ अक्खाँ उस जो तोपदियाँ फिरदीयाँ !"

कुमार ने चौंककर नाथी के चेहरे की ओर देखा। उस ने सोचा कि अलका ने नाथी को कुछ न बताया होगा, पर यह अल्हड़-सी नाथी ख़ुद ही उस की हमराज़ बन गयी थी। उस के मन ने ख़ुद ही जान लिया था कि अलका कुमार के कहने पर शहर चली गयी है।

"एह घडोलू ताँ मेरे सिरे दा बैरीए, बाबूजी ! पानिएँ जो जान्दी आँ ताँ मैं सारे रस्ते बीबी ए जो तोपदीयाँ !" नाथी ने कहा, और उदास मुँह लिये चली गयी।

कुमार की आँखें झुक गयीं। नाथी की बात उस के मन को कचोटने लगी। उसे लगा कि वह भी नाथी की तरह अपने सिर पर अपना भार उठाकर चल रहा है। यह भार किसी दिन उस के सिर का वैरी हो जायेगा। वह इसे उठाये-उठाये फिरेगा।...और अलका को जगह-जगह ढूँढ़ता फिरेगा।...

"बाबूजी, बाबूजी...!" हरिया पगडण्डी के दूसरे सिरे से दौड़ता आ रहा था—"चेतू चाचा आयी गया ! हत्थे नी बड़ा भारा टरंक लयी आऊन्दा !" हरिया ने कुमार के पास आकर बताया। वह हाँफ रहा था।

कुमार को मालूम था कि चेतू ख़ाली हाथ गया था। टरंक की बात सुनकर उसे लगा, जैसे अलका भी चेतू के साथ आयी हो।

कुमार का दिल सिहर उठा और वह सिहरन उस के बदन में से होती हुई उस के पाँव में उतर गयी। पगडण्डी पर चढ़कर अलका को देखने के लिए उस के पैर आगे बढ़े। पर फिर वह अपने पाँव को जकड़कर ठिठक गया—जैसे उस ने ख़ुद ही एक ज़ंजीर अपने पाँवों से बाँध ली हो।

"मुझे यही डर था !" कुमार को लगा, जैसे उसे अलका पर ग़ुस्सा आ रहा था। पर ग़ुस्से से देखने की बजाय वह उत्सुकता से पगडण्डी की ओर देखने लगा। देखता भी जा रहा था और सोचता भी जा रहा था, "उस ने ज़रूर मन की की होगी...अगर मैं अब उसे आते ही यह कह दूँ कि वह उलटे पाँव लौट जाये तो फिर...यह मुझे चैन से जीने क्यों नहीं देती ?"

"पैरी पाऊन्दा बाबूजी !" चेतू चाचा ने दस गज़ दूर से ही कहा, और सिर-कन्धों पर रखी हुई चीज़ें वहीं उतारकर कुमार के पास आ गया।

कुमार ने एक बार चेतू की तरफ़ देखा, एक बार ख़ाली पगडण्डी की ओर और धीरे से बोला, "राजी तो है, चेतू ?"

"बड़ा राजी बाबूजी !" चेतू ने लपककर कुमार के पाँवों को छुआ।

"बड़े दिन लगा दिये ! शहर में बड़ा दिल लग गया था ?" कुमार को लगा कि चेतू से बातें करते-करते वह अब भी ख़ाली पगडण्डी की ओर देख रहा है।

"शहरे दीयाँ गल्लाँ, बाबूजी, बड़ा सुख पाया ओथू ! खाने जो बहुत कुछ, देखने जो बहुत कुछ, ओथू बड़े-बड़े मकान..." चेतू चाचा बोलता जा रहा था।

"अच्छा, अच्छा, अब जल्दी से घर जाओ। तुम्हारी औरत को तुम्हारा विराग हो रहा है।" कुमार ने चेतू को बीच में ही टोककर कहा। उस ने चेतू की बात को इस लिए नहीं टोका था कि वह जल्दी से घर चला जाये; वह सोच रहा था कि चेतू से शहर की बातें कितनी देर तक ख़त्म नहीं होंगी। बात को टोक देने से शायद वह रुक जायेगा, और अलका की बात करेगा।

"क्या गलाँदी थी ?" चेतू ने अपने पाँव से जूती निकालकर उस में से मिट्टी झाड़ते हुए पूछा।

"कौन ?"

"नाथी दी अम्माँ !"

"वह नाथी को गालियाँ देती है कि उस ने तुम्हें शहर क्यों भेजा ! वह तुम्हें स्टेशन से लौटा क्यों न लायी !"

"उस दा बस होए, बाबूजी, ताँ मिंजो गोडे कन्ने बन्नी छड्डु !" चेतू ने कहा और हँसने लगा। उस की हँसी में इतना रोष नहीं था, जितनी इस बात की ख़ुशी थी कि उस के पास ऐसी औरत थी जो उसे आँख की ओट नहीं रखती थी।

कुमार ने गठरियों और बक्से की तरफ़ देखा और चेतू से बोला, "तुम शहर से बड़ी चीज़ें ख़रीदकर लाये हो ?"

"क्या गलाऊँ, बाबूजी ! अलका बीबिए मिंजो बड़ीया बखसीसाँ दित्तियाँ !"

अलका का नाम सुनकर कुमार को लगा कि यह नाम सुनने के लिए उस के कान बड़े प्यासे थे।

"वह राज़ी थी ?" कुमार की ज़बान ने अपने वश से बाहर होकर यह बात पूछ ली।

"तुसाँ वास्ते इक कागद दित्ता !" चेतू ने कहा और वह बक्से को खोलने लगा।

'अगर इस तरह उस की ख़बर को तरसना था तो तुम ने उसे भेजा ही क्यों था ?' कुमार ने अपने आप को उलाहना दी।

"बाबूजी दिक्खा कितनियाँ बंगाँ !" चेतू ने बक्से को खोलकर काँच के बहुत-से गजरे दिखाये, और फिर एक रेशमी चादर दिखाते हुए बोला, "ऐ मिंजो बड़े बाबूजी ने दित्ती औ, पिताजी ने।"

बक्से में एक गर्म कोट पड़ा था। चेतू ने बड़े चाव से उस कोट को निकाला, और उस के रेशमी अस्तर को अपनी हथेली से बार-बार सहलाते हुए कहा, "इक ओथू साहब आया, मिंजो एक कोट..." चेतू की बात उस के मुँह में ही रह गयी। उसे लगा कि कुमार ने माथे पर तेवर डालकर उस की तरफ़ देखा था। उस ने

सोचा कि बाबूजी उससे नाराज़ हो गये, शायद यह सोचकर कि उस ने यह चीज़ ख़ुद माँगकर ली हो।

"मैं कुछ नहीं मँगिया था, बाबूजी, साहब ने मिंजो आपू ही दित्ता!" चेतू ने कुछ सहमकर कहा, और जल्दी से बक्स के ख़ाने में से एक लिफ़ाफ़ा निकालकर कुमार को दिया।

कुमार ने लिफ़ाफ़ा ले लिया और अपने कमरे में जाकर दरवाज़ा भिड़का लिया।

"आप ने मेरे कई नाम रखे थे। अपने नये-नये नाम रखने की मुझे आदत हो गयी है। आज इस महीने की आठ तारीख़ है। अगले महीने की इसी तारीख़ को मैं अपना एक और नाम रखूँगी—मिसेज़ जगदीशचन्द्र। यह ख़बर सब को बता देना। खाइयों के पत्थरों को भी बता देना!..." यह ख़त पढ़कर कुमार को पहली बार ज़िन्दगी में यह महसूस हुआ कि उस के सीने को चीरकर उस का रोना निकल जायेगा।

जगदीशचन्द्र अपने गाँव चाहल अपनी माँ के पास चला गया था। पूरे बीस दिन वहाँ रहकर, फिर कुछ चीज़ें ख़रीदने के लिए अमृतसर आ गया था। रात को उसे अलका के पिताजी अपने पास ले आये थे। अलका उसे पूरे सत्कार से मिली थी। उस के साथ कोठी के बग़ीचे में भी बैठी रही। जगदीशचन्द्र को सिर्फ़ यह महसूस हुआ था कि अलका पहले से कुछ दुबली हो गयी है।

आधी रात होगी। सोते-सोते जगदीशचन्द्र को लगा, जैसे वह किसी पहाड़ की पगडण्डी पर खड़ा होकर सामने के ऊँचे पहाड़ों पर पड़ी हुई बर्फ़ को देख रहा हो। पास के किसी मोड़ पर से उसे किसी पहाड़िन के गाने की आवाज़ सुनाई दी। पहाड़ी स्वर कितनी देर उस के कानों में गूँजते रहे। फिर स्वरों के साथ-साथ गीत भी सुनाई देने लगा :

'दुखाँवाला डलडू तूँ मेरे कन्ने देई दे !
ता होई जा अगाड़ी मेरे माहणुआँ !
ओ पखलिया माहणुआँ !'

आवाज़ दिल में उतरती जा रही थी। जगदीशचन्द्र अधजगी हालत में था। उस को कितनी ही देर मालूम न हुआ कि वह पहाड़ पर नहीं, शहर के एक कमरे में सोया हुआ है।

एक बार गीत के बोल थिरक गये, जैसे गानेवाले की आवाज़ आँसुओं से भर आयी हो। जगदीशचन्द्र चौंककर चारपाई से उठ बैठा। आवाज़ बाहर के बग़ीचे में से आ रही थी। बग़ीचे में रात का अँधेरा गहरा नहीं था। वह कितनी देर खिड़की में से देखता रहा। पर जिस तरफ़ आवाज़ की सीध थी, उस तरफ़ एक पेड़ का गहरा साया था। पेड़ के साये की तरफ़ देखते हुए जब उस की आँखें अँधेरे से कुछ हिल गयीं, तो उस ने अलका की पीठ पहचान ली।

"अलका !" जगदीशचन्द्र ने बाहर बग़ीचे में जाकर कहा, और पेड़ से पीठ टेककर खड़ी हुई अलका के पास जा खड़ा हुआ।

अलका चुप हो रही।

"तुम बहुत उदास हो !"

अलका ने सिर झुका लिया।

"मुझे लगता है जैसे इस सारी उदासी का कारण मैं हूँ।"

"नहीं, आप नहीं।"

"पर मेरे कारण तुम्हारी मजबूरी और बढ़ जायेगी !"

"इस से अधिक अब क्या बढ़ेगी..."

"पर अलका..."

"जी।"

"कैसा विवाह है यह ?"

"मैं ख़ुद नहीं जानती।"

"मैं कई बार बैठे-बैठे सोचने लगता हूँ...बाज़ार भी जाता हूँ, चीज़ें भी ख़रीदता हूँ...पर दिल में ख़ुशी नहीं दिखती..."

अलका को अपने आप पर कभी तरस नहीं आया था, जगदीशचन्द्र की हालत पर उसे तरस आ गया। उस ने आगे बढ़कर जगदीशचन्द्र का हाथ पकड़ लिया, "आप क्यों विचारों में पड़ते हैं, इनकार कर दीजिये इस विवाह से !"

"मैं ने एक दिन यह भी सोचा था, और उस रात तुम्हें ख़त भी लिखा था, पर दूसरे दिन मैं ख़ुद ही विचारों में डूब गया। लिफ़ाफ़े में डाला हुआ ख़त फाड़ डाला।"

"आज यही समझ लीजिये कि मुझे वह ख़त मिल गया है।"

"तुम्हारे पिताजी क्या कहेंगे ? सोचेंगे, यह कैसा आदमी है ! सिर्फ़ दस दिन बाक़ी हैं।"

"पिताजी से मैं ख़ुद सब कुछ कह लूँगी।"

"पर अलका...वह कैसा आदमी है जो तुम्हें प्यार नहीं कर सका !...तुम उसे भूल नहीं सकतीं...?...मैं सोचता हूँ कि उसे तुम कुछ समय में भूल जाओगी।"

अलका ने पहली बातों का कोई जवाब नहीं दिया। आख़िरी बात के जवाब में बोली, "शायद यह समय उमर जितना लम्बा हो जाये ! आप इस समय की क़ीमत चुकाते रहियेगा ?"

"मुझे उदास रहने की ज़रा भी आदत नहीं, पर मैं कई दिनों से उदास हूँ।"

"मैं इसी लिए कहती हूँ कि आप यह क़ीमत क्यों दें !"

"मैं भी यही सोचता हूँ कि मैं क्या कर रहा हूँ...तुम ने मुझे पहले दिन ही सब कुछ बता दिया था। पर उस दिन जाने मुझे क्या हुआ था !"

"मैं उस दिन सोच रही थी कि आप न जाने यह विवाह क्यों करना चाहते हैं...!"

"तुम मुझे बहुत ख़ूबसूरत लगी थीं...पर अब सोचता हूँ कि मैं तुम्हारी अकेली ख़ूबसूरती का क्या करूँगा...!" जगदीशचन्द्र की भटकती आँखों ने अँधेरे में अलका के चेहरे को टटोला।

"आप ठीक सोचते हैं।"

"मेरा ख़याल है कि मैं बाक़ी छुट्टियाँ कैंसिल करवाकर वापस नौकरी पर चला जाऊँ। पर मेरे जाने के बाद क्या सोचोगी ?"

"क्यों ! एक अच्छा आदमी, और क्या ! आप यों ही परेशान हो रहे हैं। आज आप की रात की नींद भी ख़राब हो गयी है।"

अलका जगदीश को साथ लेकर कोठी में लौट आयी, और जगदीश को उस के कमरे तक छोड़कर ख़ुद अपने कमरे में चली आयी।

अलका जिन दिनों यहाँ होती थी, सुबह की चाय ख़ुद बनाया करती थी। उस दिन भी जब सुबह हुई, अलका ने चाय बनायी। एक प्याला अपने पिताजी के कमरे में रख आयी, और एक प्याला जगदीश के कमरे में। जगदीश के कमरे से जब वह लौट रही थी तो आवाज़ देकर जगदीश ने उसे अपने पास बुलाया।

अलका पलंग के पास जाकर खड़ी हो गयी। जगदीश ने पलंग से उठकर एक सिगरेट सुलगायी, और पलंग के पाये पर बैठते हुए बोला, "मुझे रात को बिलकुल नींद नहीं आयी।"

"आप इतना क्यों सोचते हैं ? वापस जाकर एक-दो दिन में ठीक हो जायेगा।"

"तुम ने उस दिन तलाक़ की बात की थी।"

"अच्छा हुआ उस की ज़रूरत न पड़ी !"

"तलाक़ विवाह के बाद होता है। पर मुझे आज ऐसे लगता है, जैसे तलाक़ विवाह से पहले हो गया हो...!"

अलका ने मन की पीड़ा को जीकर देखा हुआ था। वह जगदीश के मुँह से इतनी भावुक बात सुनकर सहम गयी कि इस राह चलते आदमी को यह पीड़ा न छू जाये।

"मैं कभी ऐसी भावुक बातें नहीं करता...पर तुम ठीक कहती हो। वापस काम पर लौट जाऊँगा तो एक दिन में ठीक हो जाऊँगा।"

अलका जाने लगी तो जगदीश ने उसे फिर रोक लिया, कहा, "तुम मेरे मन की हालत समझती हो?"

"हाँ।"

"मैं जब तुम्हारी तरफ़ देखता हूँ, तुम्हारे चेहरे के पीछे मुझे एक और चेहरा भी दिखाई देता है, जिस से तुम प्यार करती हो—मुझे उस का चेहरा भी दीखता है... शायद मैं जब भी तुम्हारी तरफ़ देखूँगा...मुझे इसी तरह दिखाई देगा... इस लिए हमें विवाह नहीं करना चाहिए। क्यों, करना चाहिए?"

"नहीं करना चाहिए।"

"मेरा यहाँ दिल घबराता है। मैं अभी तैयार होकर चला जाऊँगा।"

"अच्छा।"

"मैं पिताजी से कुछ नहीं कहूँगा – तुम ख़ुद सब कुछ कह देना।"

"अच्छा।"

अलका अपने कमरे में लौटी, तो उस की चाय ठण्डी हो चुकी थी। उस ने गरम चाय का एक प्याला और बनाया। खिड़की में खड़ी जब वह चाय पी रही थी, उस ने जगदीशचन्द्र को कोठी के दरवाज़े से बाहर जाते हुए देखा। वह कितनी ही देर जगदीश की पीठ की तरफ़ देखती रही। वह ओझल हो गया, तो अलका उस की पीठ के ख़याल में ही डूबी रही। उसे लगा, जैसे वह इस पीठ से माफ़ी माँग रही हो।

कुमार के कमरे में लटका हुआ कैलेण्डर कई दिनों से कुमार की ओर देख रहा था, और कुमार उस की ओर। कैलेण्डर की ओर देखते-देखते कुमार कभी यह सोचता कि आनेवाली आठ तारीख़ इतनी जल्दी क्यों आ रही थी ! उस का दिल चाहता था कि वह तारीख़ कहीं रास्ते में ही अटक जाये और कभी वह सोचता कि आनेवाली आठ तारीख़ इतनी देर से क्यों आ रही, और उस का दिल चाहता कि तारीख़ जल्दी से आकर गुज़र जाये। कैलेण्डर उस की तरफ़ देखता रहता था, और देखते-देखते उस का दिल चाहता कि वह इस कमरे में से उठकर वहाँ चला जाये जहाँ से कुमार को कभी किसी तारीख़ का पता न चले।

आठ शब्द याद आते ही कुमार को जाने क्या हो जाता। एक दिन हरिया ने आकर जब आठ आने माँगे तो कुमार काफ़ी देर उस के चेहरे की तरफ़ देखता रहा।

"अट्ठ बजी गये बाबूजी ?" एक दिन सुबह लकड़ियों का गट्ठा ले जाते हुए पहाड़ियों ने कुमार से पूछा, तो कुमार का पाँव ठिठककर पत्थर से जा टकराया।

कुमार कई दिनों से एक तसवीर बना रहा था। तसवीर में एक चन्द्रमा अपने पूरे जलाल में था। नीचे एक पानी का तालाब था। उस में चाँद की परछाई भी चन्द्रमा की ही तरह भरपूर जलाल में थी। तालाब के किनारे पर कुछ लम्बे पेड़ थे, और पानी में उन के काले साये तैर रहे थे। यह तसवीर क़रीब आठ फ़ुट लम्बी थी। कुमार ने जब तसवीर ख़त्म की, तो कमरे की सब से बड़ी दीवार पर लटकाकर उसे दूर से देखने लगा। उसे महसूस हुआ कि तसवीर पर बड़े आकार में 'आठ' का अंक लिखा हुआ था। आसमान के चन्द्रमा का गोल दायरा, और पानी में उस की परछाई का गोल दायरा मिलकर 'आठ' का अंक बन गया था। कुमार ने कई बार अपनी चेतना पर दबाव डालकर देखना चाहा कि तसवीर में एक चन्द्रमा था, और एक उस की परछाई। पर उस की आँखें इस विचार के प्रतिकूल जब तसवीर की ओर देखती थीं, तो उन्हें आठ का अंक दिखाई देता था। तसवीर की ओर देखते-देखते कुमार ने देखा कि तसवीर के पेड़ भी आठ ही थे।

चार तालाब के किनारे पर उगे हुए पेड़ थे, और चार उन के पानी में तैरते साये। कुमार ने घबराकर वह तसवीर दीवार से उतार ली।

कुमार ने नया कैनवास लेकर एक और तसवीर बनानी शुरू कर दी। इस तसवीर में एक अँधेरे का आलम था। एक मुसाफ़िर इस अँधेरे में रास्ते पर चल रहा था। क्षितिज की केवल हलकी-सी रेखा उस मुसाफ़िर को दिखाई दे रही थी। मुसाफ़िर का सारा शरीर अँधेरे में लिपटा हुआ था। पर उस के पैर रोशनी में भीगे हुए थे। कुमार ने इस मुसाफ़िर के पैरों को उजले रंगों में बनाया। जितने क़दम वह मुसाफ़िर चल चुका था, कुमार ने उन पैरों के निशान भी उजले बनाये। तसवीर को खत्म करके कुमार ने जब उसे कमरे की दीवार पर लगाया तो उसकी तरफ़ देखते-देखते कुमार को लगा कि तसवीर का मुसाफ़िर चल नहीं रहा था। अपने पैरों पर खड़ा का खड़ा रह गया था। कुमार ने उन उजले क़दमों की ओर देखा, जो क़दम वह मुसाफ़िर चलकर आया था। क़दम पूरे सात थे। आठवें क़दम पर वह मुसाफ़िर चलने से रुक गया था। कुमार ने काँपते हाथों से उस तसवीर को दीवार से उतार लिया, और नया कैनवस लेकर एक और तसवीर बनाने लगा।

इस नयी तसवीर में कुमार ने ख़ास ध्यान रखा कि किसी तरह भी पेड़ों और क़दमों की तरह कोई ऐसी चीज़ नहीं बनायेगा जिसे गिना जा सके। इस तसवीर में उस ने एक लड़की इस तरह की बनायी, जिस का सम्बन्ध एक अलग दुनिया, और अलग क़िस्म की ज़िन्दगी से था। लड़की के इस तरफ़ उस ने संगमरमर की जाली की एक बहुत ऊँची आड़ बना दी। जाली की यह आड़ एक दुनिया को, और एक ज़िन्दगी को अलग-अलग कर रही थी।

कुमार ने ऐसी तसल्ली से इस तसवीर को बनाकर जब दीवार पर टाँगा, और ख़ुद दरवाज़े की चौखट पर खड़ा होकर दूर से इस तसवीर को देखने लगा, तो उस की आँखें चकित रह गयीं। संगमरमर की जाली के सारे सूराख़ एक-दूसरे से मिलकर इस तरह के आकार में ढल गये थे जैसे पूरे के पूरे कैनवस पर सैकड़ों 'आठ' लिखे हुए हों। 'आठों' की लम्बी क़तार थी, क़तार के नीचे एक और क़तार! उस के नीचे एक और क़तार, उस के नीचे एक और क़तार...! कुमार ने सिर झुकाकर दीवार की ओर से मुँह फेर लिया, जैसे उस ने अपने-आप से मुँह फेर लिया हो।

हरिया कई बार बैठे-बैठे अपने देश का एक गीत गाया करता था, 'बाराँ बजि गये हो, राजे दीयाँ घड़ीयाँ बाराँ बजि गये हो!' कुमार ने यह गीत कई बार सुना था। इसे सिर्फ़ हरिया ही नहीं गाया करता था, गड़रिये भी गाया करते थे। कोई-कोई तो इसे बाँसुरी पर बजाया करता था। कुमार ने कभी इस गीत की तरफ़ ध्यान नहीं दिया था। आज हरिया से यह गीत सुनकर उसे लगा

कि इस गीत की पृष्ठभूमि में कोई दर्द भरी कहानी थी। इस घाटी में कभी इस तरह के बारह बजे होंगे कि सारी घाटी काँप उठी होगी। इस घटना को जाने कितने वर्ष हो चुके होंगे। शायद एक सदी गुज़र चुकी हो। पर बारह बजे घटित हुई कहानी आज भी इस घाटी के लोगों को याद थी। जैसे वे आज भी जब घड़ी की तरफ़ देखते हैं, उन्हें बारह बजने से भय आने लगता है।...

"हरिया !"

"हाँ, बाबूजी।"

"यह तुम क्या गा रहे हो—बाराँ बजि गये...?"

"ए साड़े देसे दा गौन ए !"

"बारह बजे क्या हुआ था ?"

"बारह बजे मोहने ने फाँसिये चढ़ना सी !"

"यह मोहना कौन था ?"

"फुल्ला लद्दीयाँ बाड़ियाँ विच राजे दा माली सी।"

"राजे ने उसे फाँसी का हुक्म क्यों दे दिया ?"

"एक राजे दी रानी कीयाँ हार दिन्दा सी।"

"और क्या करता था ?"

"पंजरंगी मुरली बजान्दा सी।"

"फिर राजे ने उसे फाँसी लगा दिया ?"

"नहीं, बाबूजी ! इस दे धरमे दे भार नाल तक़ता टुटी गया !"

"ओ...!"

कुमार जब हरिया से यह कहानी सुनकर दूर के पेड़ों की तरफ़ देखते हुए नीचे गया तो वह सोच रहा था, 'मोहने ने किसी रानी के रूप की पूजा की होगी, रानी के शृंगार के लिए उस ने फूलों के हार पिरोये होंगे, राजा को उन फूलों में से मुहब्बत की ख़ुशबू आयी होगी, और राजा ने फाँसी का हुक्म सुना दिया ! मुहब्बत करना मोहने का क़ुसूर था; यही क़ुसूर उस का धर्म बन गया, और धर्म के भार से फाँसी का तख़्ता टूट गया...मैं इस से बिलकुल उलटा खेल खेल रहा हूँ...मैं ने मुहब्बत को धर्म नहीं बनाया, शायद इसी लिए मेरे भार से कुछ नहीं बनता। मेरे सारे दिन, सारी रातें इस तरह हो गयी हैं, जैसे मैं फाँसी के तख़्ते पर खड़ा होऊँ...!'

घड़ी की सुई ने जैसे धीरे-धीरे सरकते हुए वही बारह बजा दिये थे, जब मोहने ने फाँसी लगना था। उसी तरह समय की सुई धीरे-धीरे सारे दिन गुज़र गयी, और आख़िर आठ तारीख़ आ पहुँची।...

कुमार को याद आया कि कई वर्ष पहले जब वह बम्बई पढ़ता था तो वह एक बार समुद्र में नहाने के लिए गया था। उस दिन उस ने पहली दफ़ा

समुद्र में पाँव रखा था। वह कितनी ही हलकी-हलकी लहरों के थपेड़े अपनी पीठ पर महसूस करता रहा। कभी उसके पैर उखड़ जाते थे, कभी समन्दर का सलोना पानी उसकी नाक और मुँह में चला जाता था। वह कितनी ही देर छोटी-छोटी लहरों में खड़ा रहा था। नहाते-नहाते वह पानी में और आगे बढ़ गया था, और फिर अचानक एक बहुत बड़ी लहर उस पर चढ़ आयी थी। वह बौखला उठा था। उसे लगा था कि यह लहर उसे बहाकर ले जायेगी।...एक और आदमी उस से कुछ फ़ासले पर नहा रहा था। उस ने पास आकर कुमार का हाथ पकड़कर उसे ऊपर उछाल लिया था, और लहर पैरों के नीचे से गुज़र गयी थी। उस ने कुमार को बताया था कि इस तरह की ऊँची लहरों के आने पर या तो अपने पैर उठाकर लहर पर सवार हो जाना चाहिए, और या नाक-मुँह बन्द रखकर लहर को अपने सिर पर से गुज़र जाने देना चाहिए। और कुमार ने सोचा कि अगर वह आठ तारीख़ की इस ऊँची लहर पर सवार होकर पार नहीं हो सकता, तो उसे अपनी नाक-मुँह बन्द कर लेना चाहिए, और इस लहर को अपने सिर के ऊपर से गुज़र जाने देना चाहिए!

कुमार अपने चक्क की पगडण्डी पर चलता बड़ी सड़क पार आ गया। इस सड़क पर से अकसर सैलानियों की मोटरें गुज़रती थीं। कई बार कुछ सैलानी अपनी मोटरें सड़क पर छोड़कर कुमार का स्टूडियो देखने के लिए चक्क की पग-डण्डी उतर आते थे। मन्दिरों के झरनों की तरह इस घाटी में कुमार का स्टूडियो भी दर्शनीय समझा जाता था। कई बार कुछ लोग कुमार से शहर का कोई काम भी पूछ लेते थे।—आज कुमार को सड़क पर आकर किसी सैलानी की शहर की ओर जाती मोटर तो दिखाई न दी, पर फ़ौजियों की एक जीप ज़रूर मिल गयी। फ़ौजियों ने बताया कि उन्हें पठानकोट तक जाना है। कुमार उन की जीप में बैठकर पठानकोट की तरफ़ चल दिया। जीप पालमपुर पहुँची तो कुमार ने पठानकोट जाने का इरादा छोड़ दिया। वह पालमपुर ही उतर गया।

'जैसा पठानकोट वैसा पालमपुर!' कुमार ने मन में कहा, और उस गली की तरफ़ चल दिया। वहाँ पहुँचकर कुमार ने सोचा था कि वह नाक-मुँह बन्द कर किसी औरत के जिस्म में इस तरह खो जायेगा कि आठ तारीख़ की ऊँची लहर उस के सिर के ऊपर से गुज़र जायेगी। कुमार को विश्वास था कि वह पानियों में अडिग खड़ा रह जायेगा, और वह आसानी से किनारे की रेत पर लौट आयेगा।

पालमपुर के बाज़ार में बैठनेवाली औरतों को ज़्यादा आमदनी की उम्मीद नहीं हुआ करती थी। इस रास्ते से होकर गुज़रने वाले फ़ौजी उन का एक मात्र सहारा थे। बड़े अफ़सर उस तरफ़ कम ही आते थे, क्योंकि उन्हें पठानकोट में यहाँ से अधिक सहूलियतें मिल जाती थीं। इसलिए आम क़िस्म के ग्राहकों की

अभ्यस्त ये औरतें जब कभी ऐसे आदमी को देखतीं जिस से उन्हें ज्यादा आमदनी की उम्मीद होती तो वे ख़ास तौर से उस का स्वागत करतीं। कुमार का स्वागत भी इस तरह हुआ, जैसे एक मुद्दत के बाद किसी वाक़िफ़ के घर में आया हो।

चन्द्रावती की आयु को अल्हड़ कहा जा सकता था, पर उस की कोई भी अदा अल्हड़ नहीं थी। कुमार ने शराब पीने से इनकार कर दिया, तो चन्द्रा ने मुसकराकर कुमार के सामने से गिलास हटा लिया। काँच के एक प्याले में उस ने फलों का रस डालकर कुमार के पास रख दिया, और उस के पैरों से बूट उतारकर उस की जुर्राबें उतारने लगी।

चन्द्रा की ठण्डी-ठण्डी उँगलियाँ जब कुमार के कसे हुए बदन से छुईं, तो कुमार को लगा जैसे नींद आ रही हो।

चन्द्रा ने सेमल की रुई से भरा हुआ एक तकिया पलंग पर रख दिया। कुमार ने तकिये पर सिर रखकर चन्द्रा से पूछा : "अगर आज उस का विवाह होना हो तो वह कैसे कपड़े पहनेगी।" उसने चन्द्रा को वैसे ही कपड़े पहन लेने के लिए कहा, और चाँदी के वे सारे गहने भी पहनने को कहा, जिन्हें विवाह के दिन पहना जाता है।

चन्द्रा चुप रही। साथ ही कोठरी में जाकर उस ने अपना बक्सा खोला। चन्द्रा ने हरी छैल की चूड़ीदार सलवार पहनी। दरियाई किनारी वाला कुरता पहना, पाँव में पायलें और नाक में चाँदी की एक छोटी-सी नथ पहनकर जब वह कुमार के पास आयी तो कुमार सो चुका था।

पायल की खनक से कुमार ने अपनी अलसायी आँखें खोलीं और देखा कि चन्द्रा उस के पायताने इस तरह सिमटकर बैठ गयी थी जैसे वह अभी-अभी डोली में से निकलकर लायी गयी हो।

कुमार ने हाथ पकड़कर चन्द्रा को पायताने से उठाया। पर चन्द्रा को अपनी बाँहों में लेते हुए उसे महसूस हुआ जैसे वह कपड़ों की बनी एक गुड़िया से खेल रहा हो।

चन्द्रा ने नाक में पहनी हुई नथ को अपनी उँगलियों से थाम लिया। नथ का मोती शायद उसे भारी लग रहा था। कुमार ने चन्द्रा की ओर देखा। उसे लगा, चन्द्रा विवाह का यह स्वाँग भरते-भरते ऊब गयी थी।

'यह स्वाँग किस लिए ?' कुमार को ख़याल आया और उस ने अपने-आप को घूरकर देखा, 'मैं ने चन्दा को अलका का स्वाँग भरने के लिए क्यों कहा था ? मैं यह क्या कर रहा हूँ ?'

'आज ही नहीं, तुम हमेशा ही इस तरह करते हो !' कुमार को लगा, जैसे बाहर से किसी ने कुछ न कहा हो, पर उस के अन्दर बैठकर उस से कोई कह रहा

था, 'तुमने अपने-आप को कभी भी उस तरह स्वीकार नहीं किया, जैसे तुम्हें करना चाहिए था। तुमने अलका को भी कभी उस तरह क़बूल नहीं किया, जैसे तुम्हें करना चाहिए था। तुम अलका में हमेशा एक वेश्या का भ्रम खाते रहे, और आज एक वेश्या में अलका का भ्रम खाना चाहते हो...तुम यह क्यों नहीं समझते कि वह यहाँ भी बैठी हुई है, तुम उस के पास बैठे हुए हो, और तुम यहाँ भी खड़े हो, वह तुम्हारे पास खड़ी है...

'...पानी में कभी रेखा नहीं खिंचती। रेखा का भ्रम होता है, पर रेखा नहीं !...तुम अब तक पानी को तोड़कर देख रहे हो...'

पानी टूट नहीं सकता था, पानी का बाँध टूट गया। दिल के पानियों में जाने कैसा वेग आया। इसी पानी के ज़ोर में से एक बिजली पैदा हुई। मुहब्बत और नफ़रत की तारों ने मिलकर इस बिजली को जगा दिया, और इस की रोशनी में कुमार को लगा कि अलका उसके पास थी। अलका उस के अन्दर भी थी, और अलका उस के बाहर भी थी। कुमार ने चन्द्रा की मूँठ रुपयों से भर दी। ये रुपये चन्द्रा से आज के स्वाँग के लिए माफ़ी माँग रहे थे।

कुमार गली में से होता हुआ बड़े बाज़ार में आ पहुँचा, और पपरोला को जा रही बस में बैठ गया।

बस के पपरोला पहुँचते-पहुँचते अँधेरा गहरा हो गया था। डेढ़ मील अभी और बाक़ी था। पर कुमार ज़ल्दी-ज़ल्दी पाँव उठाता हुआ अपने चक्क की तरफ़ इस तरह बढ़ा जैसे वहाँ उस का कोई इन्तज़ार कर रहा हो।

चक्क की कच्ची पगडण्डी से उतरकर कुमार सीधा झुग्गियों की तरफ़ चला गया। जिस झुग्गी में अलका ने दीयों के बहुत-से आले बनाये हुए थे, कुमार ने उस झुग्गी में जाकर सब दीये जला दिये। झुग्गी की दीवार झिलमिला उठी। कच्ची उचान पर ऊन का ग़लीचा बिछा हुआ था। कुमार जब उस ग़लीचे पर बैठा तो उसे लगा जैसे आज के विवाह की पहली रात हो। अलका कहीं नहीं गयी थी, अलका उसके पास थी। अलका उसके अन्दर थी।...और फिर कुमार ने उस दीवार की ओर देखा, जिस दीवार पर अलका ने पानी की लहरें बनाकर पानी में एक रेखा खींची हुई थी। कुमार के दिल में आया कि वह अभी रंग और ब्रुश लेकर पानी में खिंची हुई रेखा को मिटा दे...!

अलका ने कोठी के बग़ीचे में एक ऊँची जगह पर पत्थर की एक शिला रखी थी। इस शिला पर वह शाम को चाय के प्याले रखकर अपने पिताजी को आवाज़ देकर बुला लेती थी। पिताजी रोज़ नियमपूर्वक शाम के छह बजे चाय पीते थे, और फिर सैर करने के लिए चले जाते थे। अलका उन के आने तक बग़ीचे में ही बैठी रहती थी।

आज पिताजी को गये कुछ ही देर हुई थी। जगदीशचन्द्र कोठी के बाहरी दरवाज़े में से अलका के पास आ गया। अलका चाय के ख़ाली प्याले उठा रही थी।

"आप!"

"मैं कितनी देर से उस तरफ़ मोड़ पर खड़ा हुआ था। पिताजी के चले जाने पर अन्दर आने की सोच रहा था।"

"पिताजी ने आपको आने से कभी नहीं रोका।"

"पर मैं तुम्हें अकेले में मिलना चाहता था।"

"बैठिए।"

"बैठने का अधिकार मैं ने खो दिया है, पर आज मैं वही अधिकार लेने आया हूँ..."

"आप अभी तक वापस नहीं गये ?...आज पन्द्रह तारीख़ हो गयी है..."

"वापस जाना चाहा था, जा नहीं सका...अलका !"

"जी !"

"मैं उस दिन जब रात के अँधेरे में यहाँ से चला गया था..."

"मैं ने आप को जाते हुए देखा था।"

"तुम ने उस दिन क्या सोचा होगा ?"

अलका ने हँसकर कहा, "जहाँ तक आप की पीठ दिखाई देती रही, मैं आप की पीठ की तरफ़ देखती रही, और उस से माफ़ी माँगती रही।"

"माफ़ी तो उसे माँगनी चाहिए, जो पीठ करके चला जाये !"

"आप किसी की तरफ़ पीठ करके जाने वाले नहीं थे ; जाने के लिए मैंने आप को मजबूर किया था, इस लिए मैं आप की पीठ से माफ़ी माँगती रही..."

जगदीश ने एक गहरी साँस ली, और अलका की तरफ़ देखते हुए बोला, "न कोई तुम्हारी तरह सोच सकता है; न कोई तुम्हारी तरह बोल सकता है ! अब तुम समझी हो कि मैं जाकर भी क्यों नहीं जा सका। लगता था, दुनिया में हुस्न भी बहुत मिल जायेगा, जवानी भी मिल जायेगी, पर यह जो मैं ने तुम में देखा है, वह मुझे कभी नहीं मिलेगा !"

अलका कुछ नहीं बोली। उस ने सिर झुका लिया।

"यह जो आठ तारीख़ गुज़र गयी है, अलका, वह मुझे लौटा दो !"

"तारीख़ तो लौट सकती है, पर..."

"अब मेरे मन में कोई 'पर' नहीं रहा, और न तुम्हारे मन में रहेगा।"

"क्यों ?"

"क्योंकि उस का कारण नहीं रहा।"

"कारण उसी तरह है, जैसे पहले था।"

"नहीं, अलका, अब वह कारण नहीं रहा। तुम्हें एक अपनी चोरी बताऊँ ?"

"क्या ?"

"मैं तुम से भी पूछ सकता था, पर पूछा नहीं था। ख़ुद ही सोचता रहा कि आख़िर वह कौन-सा आदमी था, जिसे तुम इतना प्यार करती थीं।"

"आप पूछते, मैं बता देती।"

"मैं ख़ुद ही सोचता रहा। जो सोचा था, ठीक निकला।"

"उन का नाम कुमार है।"

"मुझे पता है।"

"पर यह पता लगने मात्र से कारण कैसे मिल गया ?"

"मैं वहाँ गया था, चक्क नम्बर छत्तीस में, उसे देखने के लिए।"

"फिर ?"

"जब मैं ने उसे देखा वह होश में नहीं था, इस लिए मुझे यह मालूम नहीं कि वह कैसा आदमी था। अच्छा ही होगा। पर..."

"वह बीमार हैं ?"

"मेरा ख़याल है कि अब तक ज़िन्दा नहीं होगा। डॉक्टरों ने बताया था कि मुश्किल से दो रातें और गुज़रेंगी। यह कल सुबह की बात है।"

अलका पत्थर की तरह पत्थर की शिला पर बैठ गयी।

"अलका, तुम यह मत सोचना कि मैं उस की मौत से ख़ुश हो रहा हूँ..

बल्कि डॉक्टर ने जो दवा लिखकर दी थी वह वहाँ कहीं से न मिल सकी। मैं आते हुए पठानकोट से वह दवा भिजवाकर आया हूँ...मैं ने यह बिलकुल नहीं चाहा था कि वह ज़िन्दा न रहे..."

"उन्हें क्या तकलीफ़ थी ? सीने में दर्द था ?" अलका शिला से इस तरह उठ खड़ी हुई, जैसे अभी कुमार के पास चल देगी और उसे बचा लेगी।

"हाँ, सीने में दर्द था। चेतू ने बताया था कि बाबूजी को यह दर्द पहले भी हो जाया करता था...पर इस बार बुख़ार भी हो गया था, और यही बुख़ार दिन-ब-दिन बढ़ता गया था।...वह शायद एक रात सर्दी में बैठकर झुग्गी की दीवार पर कोई तसवीर बनाता रहा। झुग्गी की एक दीवार में दीयों के लिए बहुत-से आले बने हुए हैं। वह सारी रात दीये जलाकर एक तसवीर बनाता रहा, तभी उस के सीने को ठण्ड ने जकड़ लिया..."

"चेतू ने मुझे..."

"चेतू का इस में कोई क़ुसूर नहीं, अलका ! वह यहाँ आकर तुम्हें ख़बर देना चाहता था, पर कुमार ने आने नहीं दिया।"

"मुझे आप बता देते..."

"यह मेरे जाने से पहले की बात है, अलका ! मुझे सिर्फ़ चेतू ने, और उस की बेटी ने बतायी थी।"

"पर..."

"मेरा ख़याल है कि उस की दिमाग़ी हालत ठीक नहीं थी। मुझ से ज़्यादा तुम्हें पता होगा...वह शायद शुरू से ही कुछ इसी तरह था..."

"किस तरह ?"

"चेतू कहता था कि बाबूजी को यह मालूम नहीं कि तुम अमृतसर चली आयी हो।"

"क्या ?"

"वह समझता था कि तुम अभी तक अपनी झुग्गी में रहती हो...तुम वहाँ एक झुग्गी में रहती थीं न ? मैं ने वे झुग्गियाँ भी देखी थीं..."

अलका जगदीश की ओर देखने लगी।

"मैं ठीक कह रहा हूँ, अलका ! अगर वह ज़िन्दा भी रहता, या अब भी किसी तरह बच जाये तो मैं जो कुछ उस के बारे में सुन आया हूँ, उस से मुझे बिलकुल यह डर नहीं रहा कि वह कभी हमारी ज़िन्दगी में कोई दख़ल दे सकता है।"

"वह बच जायेंगे ?"

"बचने की बात मैं ने यों ही कही है, अलका ! मुझे डॉक्टर ने ख़ुद ही बताया था कि यह बच नहीं सकता...पर तुम यह मत सोचना कि मैं उस की मौत से

ख़ुश हूँ...मैं अब भी चाहता हूँ कि वह बच जाये...पर जिस आदमी की दिमाग़ी हालत ठीक न हो, वह बचकर क्या करेगा !...वैसे वह आर्टिस्ट बहुत अच्छा है, मैं ने उस की तसवीरें देखी हैं।"

"दिमाग़ी हालत ?"

"उसे शायद किसी जिन्न-प्रेत की कसर थी। यह मेरा ख़याल नहीं, अलका ! मैं किसी जिन्न-प्रेत को नहीं मानता। चेतू चाचा ऐसा सोचता था...उस ने बताया था कि बाबूजी बैठे-बैठे किसी से बातें करते रहते थे; और कई बार अपने पलंग की ओर हाथ करके चेतू को पूछते थे, कि उसे पलंग पर बैठी हुई जिन्नी दिखती थी या नहीं...क्या नाम है चेतू की बेटी का, नाथी ? वह भी यही कहती थी कि बाबूजी को पैरों का कोई वहम पड़ गया था। वे उस से पूछते थे कि जिन्नी के पैर उलटे होते या सीधे ?...और या नींद में कहते थे कि पानी में रेखा नहीं खिंचती, रेखा का भरम होता है...यह सब शायद बुख़ार की वजह से होगा।"

अलका ने मुँह घुमा लिया। एक हाथ से उस ने पत्थर की शिला को कसकर पकड़ा हुआ था। आँसुओं की जितनी भी बूँदें अलका की आँखों से टपककर पत्थर की शिला पर गिरीं, शिला को लगा कि वह इन बूंदों से पिघल जायेगी।

"अलका !" जगदीश ने पास होकर अलका के कन्धे पर हाथ रखा।

"जी !"

"मैं जानता था, तुम्हें दु:ख होगा। आख़िर तुम ने कभी उसे इतना प्यार किया था। पर यह तुम्हारे और मेरे बस की बात नहीं। जाने उस की क़िस्मत कैसी थी ! वह तुम जैसी लड़की से प्यार न कर सका। पता नहीं उस के मन में क्या था। पर अब शायद यह बात ही ख़त्म हो गयी।"

अलका से बोला न गया। उस ने इनकार में सिर हिला दिया, जैसे वह कह रही हो, 'यह बात अभी ख़त्म नहीं हुई, यह बात कभी ख़त्म नहीं होगी !"

"अलका !"

"जी !"

"मैं तुम्हारे दुख को समझता हूँ, अलका ! इसलिए मैं विवाह में धूमधाम नहीं करूँगा। कल या परसों हम पन्द्रह मिनटों में यह रस्म कर लेंगे, फिर मैं तुम्हें सीधा..."

"मेरा विवाह हो चुका है, जगदीश !"

"अलका !"

"काफ़ी देर हुई, मेरा कुमार से विवाह हुआ था। पर वह सोचते थे कि पानी में रेखा खिंच सकती है। अब उन्हें मालूम हो गया है कि पानी में रेखा नहीं

खिचती। इसलिए मैं रात की गाड़ी से उन के पास चली जाऊँगी—अपने घर चली जाऊँगी..."

"पर अलका, वह तो..."

"वह ज़रूर ज़िन्दा होंगे!"

"तुम यह भी देख लो, ख़ुद जाकर देख लो। पर अगर तुम्हारे जाने तक कुमार ज़िन्दा न हुआ..."

"फिर भी मैं वहाँ अपने घर रहूँगी, एक विधवा औरत की तरह रहूँगी!"

यात्री

औरत दुनिया की सब से बड़ी स्मगलर है। मर्द कुछ भी करे, सिर्फ़ गाँजे और अफ़ीम जैसी चीज़ें ही स्मगल कर सकता है। ज्यादा से ज्यादा सोना स्मगल कर सकता है, या सरकारी भेद जैसी कोई चीज़, बस इस से ज्यादा कुछ नहीं। पर औरत इनसान के समूचे अस्तित्व को स्मगल कर सकती है। जब तक स्मगलिंग का माल छिपा सकती है, कोख में छिपाये रखती है; जब नहीं छिपा सकती, बता देती है, दिखा देती है—और वह भी किसी शर्मिन्दगी के साथ नहीं, बड़े मान के साथ—स्मगलिंग के कसब का हक़ कहकर। हक़ कहकर भी नहीं एहसान कहकर। इनसान पर इनसान के वंश को चलाये रखने का एहसान कहकर।

मेरी माँ ने मेरे बाप पर यही एहसान करने के लिए भगवान् से एक बेटा माँगा था—पहले हकीमों की दवाओं से माँगती थी, फिर फ़क़ीरों की जड़ी-बूटियों से, फिर अड़ोसन-पड़ोसन के बताये हुए जादू-टोने से, फिर करामाती कहे जाते पीरों-फ़क़ीरों की क़ब्रों से, और फिर शिवजी के इस मन्दिर में आकर शिव-लिंग से—और आख़िर माँग-माँगकर उस ने भगवान् को इतना तंग कर दिया कि भगवान् को उसे बेटा देना ही पड़ा।

सोचता हूँ, भगवान् पूरा बनिया है। माँ ने भगवान् से भी एक सौदा कर

लिया था—तू मुझे एक बेटा दे दे...मैं उसे तेरे इसी मन्दिर में चढ़ा जाऊँगी, तेरी सेवा में अर्पित कर जाऊँगी...

अजीब सौदा है—माँ ने भगवान् पर भी एहसान कर दिया, देख तेरी सेवा के लिए मैं क्या दे रही हूँ। लोग मुट्ठी भर मक्की का आटा देते हैं, या गुड़, चावल और नारियल चढ़ा देते हैं या ज्यादा से ज्यादा किसी चबूतरे और बावली पर संगमरमर मढ़ जाते हैं या कलश पर सोने का पतरा, पर मैं ने जीता-जागता एक बच्चा तेरी मूर्ति के आगे रखा है...और उधर मेरी माँ ने मेरे बाप पर भी एहसान कर दिया—कितनी मुसीबतें झेलनी पड़ीं, पर आख़िर मैं ने तेरे कुल का नाम रख लिया, तेरा वंश ख़त्म होने नहीं दिया, और चाहे तेरे इस बेटे को तेरे खेतों में जाकर हल नहीं जोतना है, बुढ़ापे में तेरी लाठी भी नहीं पकड़नी है, पर तू कभी-कभी उसे आँखों से देखकर कलेजा ठण्डा कर सकता है—दुनियादार बेटों को सिर्फ़ देखा जाता है, पर साधु बेटे के तो दर्शन किये जाते हैं।

माँ अकसर यहाँ दर्शन करने आती है, बाप सिर्फ़ संक्रान्तिवाले दिन या किसी पर्व पर। शायद इसलिए कि बहुत मुसीबतें माँ ने झेली थीं और उसी का महत्त्व जानने के लिए उसे एक प्रत्यक्ष सबूत की ज़रूरत पड़ती है और मैं बीस बरसों का प्रत्यक्ष सबूत हूँ।

मुझे याद नहीं—चालीसा नहाने के बाद जब मेरी माँ मुझे एक गेरुए कपड़े में लपेटकर इस मन्दिर में चढ़ाने आयी थी, तो शिवमूर्ति के ठण्डे पैरों पर पड़ा मैं रोया था या नहीं। (सुना है, माँ ने अपनी मानता के मुताबिक़ मुझे पैदा होते ही गेरुए कपड़े में लपेट दिया था।)

मन्दिर के मुख्य सन्त किरपासागरजी ने मेरे माथे को मूर्ति के पैरों से छुआकर, मुझे फिर माँ की झोली में डाल दिया था—"वह बालक आज से शिव का पुत्र है, पार्वती इस की माँ, और तू इस की धाय। एक बरस के लिए तुझे दूध पिलाने की सेवा सौंपते हैं। इस की पहली वर्षगाँठ पर यह बालक हमें लौटा देना।"

सो एक बरस के लिए मैं उधार सौंपा गया था। पता नहीं, इस एक बरस में मैं ने माँ को माँ कहकर पुकारा था या नहीं, शायद नहीं—क्योंकि मेरे होंठ इस शब्द से परिचित नहीं लगते।

अनुमान लगाता हूँ कि अपनी पहली वर्षगाँठ को जब गेरुआ चोले में घुटनों-घुटनों चलते, मैं ने मन्दिर की मूर्ति के पैरों में पड़े हुए फूलों के पास पहुँचकर, किसी फूल को उठाकर खाने के लिए मुँह में डाला होगा, और मेरे गले ने फूल के स्वाद को क़बूल न किया होगा—तो मैं ज़रूर रोया होऊँगा। (मन्दिर का बूढ़ा सेवादार साईं भगतराम बताता है कि फूलों की पत्तियाँ मेरे तालू से चिपक गयी थीं, और मेरी साँस रुक गयी थी। उस ने मेरे मुँह में उँगली डालकर वे पत्तियाँ

निकाली थीं, और फिर मुझे बहलाने के लिए महन्तजी ने ख़ुद एक कटोरी में दूध और बताशा डालकर मुझे मूर्ति का प्रसाद चखाया था।)

शायद कुछ दिन टुकुर-टुकुर सब के मुँह की तरफ़ देखा होऊँगा—साईं भगत-राम के मुँह की तरफ़, गोविन्द साधु के मुँह की तरफ़, महन्त किरपासागर के मुँह की तरफ़, शिव की मूर्ति के मुँह की तरफ़, पार्वती की मूर्ति के मुँह की तरफ़ और मन्दिर में आकर माथा टेकनेवाले भक्तों के मुँह की तरफ़—कुछ याद नहीं। ये सारे मुँह चिरकाल से परिचित लगते हैं।

मन्दिर में एक गुफ़ा है। कहते हैं, यह गुफा यहाँ काँगड़ा घाटी में से निकल-कर कैलास पर्वत पर पहुँचती है। पर अब कोई इस गुफा में से गुज़रा नहीं। जानेवाले जब जाते थे, इस बात को सदियाँ गुज़र गयी हैं। यह गुफा कई सौ मील लम्बी है, यह सिर्फ़ एक कथा है। कथा का इधर का सिरा सामने दिखता है—गुफ़ा का मुँह। उधर का सिरा कोई नहीं जानता। पता है—मैं भी नहीं जान सकूँगा, पर लगता है, जैसे मैं इस सैकड़ों मील लम्बी गुफा में कुछ मील रोज़ चलता हूँ। पहुँचता कहीं नहीं, सिर्फ़ चलता हूँ। अँधेरा इस के गोल मुँह पर भी पुता हुआ है—और दूर अन्दर भी।

'माँ' शब्द को सिर्फ़ इस कहानी को चलाने के लिए बरत रहा हूँ, वैसे इस शब्द से मेरा कोई वास्ता नहीं। मन्दिर में बहुत-सी औरतें आती हैं, वह भी आती है। मन से उस को 'वह औरत' ही कह सकता हूँ, माँ नहीं। यह शब्द एक मज़ाक़ लगता है—मेरे साथ तो लगता ही है, उस के साथ भी। बिलकुल उसी तरह जैसे बेचारी पार्वती के साथ।

कई बार रात के अँधेरे में मैं अपनी कोठरी से निकलकर मन्दिर के उस हिस्से में चला जाता हूँ, जहाँ शिव और पार्वती की आदमक़द मूर्तियाँ हैं। वह दोनों मुझे बड़े स्थिर और आराधना में लीन एक बूढ़े किसान और एक अधेड़ औरत की तरह खड़े लगते हैं—भगवान् से एक बेटे की मुराद माँगते हुए। बिल-कुल उसी तरह जिस तरह मेरी माँ, और मेरा बाप किसी दिन इसी तरह ऐसे ही खड़े होकर भगवान् से प्रार्थना करते रहे होंगे।

मैं दोनों मूर्तियों के सामने खड़ा हो जाता हूँ, जैसे हँस रहा होता हूँ—तुम्हें एक बेटे की बहुत कामना है? अच्छा, मैं अपने आप का दान देता हूँ...

मूर्तियाँ दो भिखारियों की तरह लगती हैं, और अपना आप—भिक्षा की वस्तु।

नहीं, मैं भिक्षा की वस्तु भी नहीं, सिर्फ़ भिक्षा का एक पात्र हूँ। वस्तु में एक रंग, एक स्वाद, एक महक शामिल होती है और सबसे ज़्यादा एक सन्तुष्टि शामिल होती है, मुझ में वह कुछ भी नहीं। मैं सिर्फ़ एक पात्र हूँ—वस्तु को ढोनेवाला। वस्तु एक तसल्ली है—जो माँ नाम की एक औरत को मिली है, और बाप नाम

के एक मर्द को मिली है, या शिव-पार्वती को मिली है, जिन की मूर्तियोंवाले इस मन्दिर की शोभा बढ़ गयी है—कि इस मन्दिर से बेटों की मुराद मिलती है।

मेरा ख़याल है—महन्त किरपासागरजी सचमुच दूरंदेश हैं। उन्होंने मेरे जन्म के समय ही मेरे मन की उस अवस्था का अनुमान लगा लिया था, जो कुछ सोच और समझ आने पर मेरे अन्दर पैदा हो जानी थी। इसलिए उन्होंने एक संक्रान्ति वाले दिन मेरा नाम रखा था—किरपापात्र।

किरपापात्र या भिक्षापात्र एक ही बात है। एक तरह से हम सब भिक्षा पर ही पलते हैं—सिर्फ़ मैं नहीं, साईं भगतराम भी, गोविन्द साधु भी, महन्त किरपा-सागर भी। हाथ फैलाकर कोई भी किसी से कुछ नहीं माँगता, सब पैरों के ज़ोर से माँगते हैं—कभी अपने पैरों के ज़ोर से, और कभी उन से बहुत तगड़े शिव-पार्वती के पैरों के ज़ोर से—भक्तजन जो कुछ देते हैं, शिव-पार्वती के पैरों पर रख देते हैं, कई महन्तजी के पैरों पर भी रख देते हैं, कोई गोविन्द साधु के पैरों पर भी रख देते हैं, और कोई-कोई साईं भगतराम के पैरों पर भी—मेरे पैर भी इन पैरों में शामिल हो रहे हैं—हम सब जैसे हाथों का काम पैरों से ले रहे हैं...

पर भिक्षापात्र होने का ख़याल सिर्फ़ मुझे आता है। पता नहीं क्यों? शिव-पार्वती तो ख़ैर बोल नहीं सकते, महन्तजी के मुँह से भी ऐसी बात मैं ने कभी नहीं सुनी। गोविन्द साधु गूँगा है, उस के कुछ बोलने का सवाल ही नहीं उठता, पर उस के मुँह से भी नहीं लगता कि वह किसी चीज़ को भीख समझता हो—बल्कि बादामों की ठण्डाई अगर कभी उस के हिस्से नहीं आती तो वह घूरकर सब की तरफ़ देखता है। साईं भगतराम तो बिलकुल अलबेला है, वह बाजरे की सूखी रोटी भी उसी स्वाद से चबा जाता है, जिस तरह गिरी की पँजीरी। सिर्फ़ मेरे गले में कुछ अटका हुआ है—और हर ग्रास के साथ चुभ-सा जाता है।

डेरे के नाम पर सिर्फ़ चार कोठरियाँ हैं—एक महन्तजी की, एक मेरी, एक गोविन्द साधु और साईं भगतराम की, और एक आने-जानेवाले साधुओं के लिए। इन कोठरियों की झाड़-बुहार साईं भगतराम के ज़िम्मे है। मन्दिर इन कोठरियों से बिलकुल अलग है—एक पथरीली पगडण्डी को लाँघकर पहाड़ के एक वक्ष में बना हुआ। एक छोटी-सी पानी की नहर मन्दिर के पैरों में बहती है। इस नहर के साथ चौंतरे की और पथरीली पगडण्डी की सफ़ाई भी अकसर साईं भगतराम ही करता है। (वैसे यह गोविन्द साधु के ज़िम्मे है) मन्दिर के फ़र्श को धोना और पोंछना मेरे ज़िम्मे है—मुझ से पहले महन्तजी के अपने ज़िम्मे था—और लगता है, इस काम से हम सब भिक्षा के शब्द को अपने से झाड़ देते हैं। सब से मेरा मतलब है—सारे, सिवा मेरे।

मन्दिर पत्थरों या ईंटों से बनाया हुआ नहीं, एक बड़ी चट्टान को बीच में से खोदकर बनाया हुआ है। चट्टान का ऊपर का हिस्सा छत की तरह है, नीचे

का हिस्सा फ़र्श की तरह । इस के अन्दर मूर्तियाँ भी कहीं बाहर से लाकर रखी हुई नहीं, बीच के पथरीले हिस्से को ही तराशकर बनायी हुई हैं । और बाहर से जो नदी गुज़रती है, वह पहाड़ के पिछले हिस्से में से ऐसे आती है कि उस का कुछ पानी चट्टान के ऊपर के हिस्से से टपककर बूँद-बूँदकर मूर्तियों के शरीर पर गिरता रहता है । मूर्तियाँ रोज़ धुली हुई होती हैं—लगातार पड़ते पानी से सीलन की एक पतली-सी परत उन पर जम जाती है, जिसे रोज़ एक मोटे कपड़े से मलकर उतारना होता है । और लगता है—भिक्षा का शब्द भी बूँद-बूँद गिरते पानी की तरह दिन-रात मेरे जिस्म पर पड़ता रहता है । मैं किसी भी ख़याल के मोटे कपड़े से मलकर उसे उतारूँ, वह तब भी एक सीलन की पतली परत की तरह मेरे ऊपर जमा रहता है । रोज़ जम जाता है ।

महन्त किरपासागरजी से निजी तौर पर मुझे कोई शिकवा नहीं—उन्होंने अपने लिए आये चढ़ावे में से हिस्सा निकालकर मुझे पाला है, पढ़ाया है—सिर्फ़ शिकवा है तो उन के सागर होने से, और अपने पात्र होने से ।

शिकवा भी नहीं, नफ़रत है ।

और यही नफ़रत उस माँ नाम की औरत से है जिस ने इस पात्र को अस्तित्व दिया है । यह नफ़रत इस हद तक है कि वह जब भी मन्दिर के दर्शन के लिए आती है, मैं किसी बहाने मन्दिर से बाहर चला जाता हूँ । कभी वह मेरी कोठरी की दहलीज़ रोक ले, और अपने पल्लू में बँधी हुई अखरोट की गिरियाँ जबरन मेरे मुँह में डाल दे, तो उस की पीठ मुड़ते ही मैं मुँह में से वे गिरियाँ थूक देता हूँ ।

बाप नाम के मर्द को जब देखता हूँ—वह अपने वंश की रखवाली करता हुआ एक प्रेत-सा लगता है ।

किरपासागरजी के गाल मुझे दो लाल पके हुए फोड़ों की तरह लगते हैं, जिन पर एकदम पुल्टिस बाँधने का ख़याल आता है...

माँ—धीरे-धीरे चलती हुई जब एकदम सामने आ जाती है—वह मुझे पंजों के बल चलती हुई बिलकुल एक बिल्ली लगती है, जो अभी एक चूहे की गरदन दबोच लेगी...

बाप—दुबला-पतला-सा और सिर को कन्धों के ऊपर एक बोझ-सा डालकर चलता हुआ मुझे खेतों में गाड़े हुए 'डरने' की तरह लगता है...और मैं चिड़ियों-कौओं की तरह उस से डर जाता हूँ...

एक साधारण आँख से शायद यह सब कुछ नहीं दीख सकता, पर मुझे पता है, मेरी आँखों में नफ़रत की डोरियाँ पड़ी हैं...

गोविन्द साधु जब बूटी रगड़कर पीता है, उसकी आँखों में भी लाल डोरियाँ पड़ जाती हैं, और वह लाल डोरियोंवाली आँखों से जब मुझे देखता है—मैं उसे

बीस बरस का एक जवान आदमी नहीं, जवान औरत नज़र आता हूँ...

तीन-चार साल हो गये, गोविन्द ने एक दिन अपनी तोरी जैसी लटकती टाँगों पर बादाम रोग़न की मालिश करते हुए ज़बरदस्ती मेरी बाँह पकड़ ली थी, और वह मेरी पीठ पर और दो टाँगों पर बादाम रोग़न की मालिश करने लगा था। मुझे बिल्ली, कुत्ता या कोई भी जानवर अच्छा नहीं लगता, उस के लम्बे-लम्बे हाथ मुझे कुत्ते के पौधों की तरह लगे थे, मैं ने जब छूटने के लिए ज़ोर लगाया था तो उस ने अपनी पूरी ताक़त से मुझे एक चौड़े पत्थर पर गिराकर...। मैं बड़े ज़ोर से चिल्लाया था—इतने ज़ोर से कि अन्त में किरपासागरजी यह आवाज़ सुनकर वहाँ पहुँच गये थे। उन्होंने पास ही पड़े हुए बूटी रगड़नेवाले डण्डे से गोविन्द साधु को ऐसे पीट डाला था जैसे वह गोविन्द साधु को भी बूटी की तरह ही रगड़ देंगे। उस दिन के बाद गोविन्द साधु ने मुझ से कुछ नहीं कहा, बल्कि मैं दोपहर के समय जिस पेड़ के नीचे बैठकर पढ़ता हूँ, वह वहाँ से घूमकर दूर जा बैठता है। पर यह मैं अब भी देख पाता हूँ—वह जिस दिन बूटी रगड़कर पी ले, और उस की आँखों में लाल डोरियाँ पड़ जायें वह उन की कोरों में से मुझे आते-जाते ऐसे देखता है—जैसे मैं उस को बीस बरस की जवान औरत दिखता होऊँ...

पर उस से मुझे नफ़रत नहीं। वह खुजली के मारे हुए कुत्ते की तरह लगता है। कुत्ते से कोई रास्ता काटकर निकल सकता है तो उसे एक ग्लानि-सी हो सकती है, पर उस के ख़ून में नफ़रत नहीं खौलती।

इस तरह साईं भगतराम एक ख़स्सी (बधिया) जैसा लगता है, जिस से किसी गाय को कोई ख़तरा नहीं। इसलिए उस से भी कोई नफ़रत नहीं होती।

नफ़रत के पात्र सिर्फ़ वे हैं जिन्होंने अपनी झोलियों में दान-पुण्य भरा हुआ है—और या भिक्षापात्र—मैं स्वयं।

नफ़रत...नफ़रत...नफ़रत...चिड़ियों का एक झुण्ड अभी चहकता गुज़रा है। शायद उधर की दीवार के पास साईं भगतराम ने दाल-चावल सूखने के लिए डाल

रखे थे, चिड़ियों ने उसे चुग्गा समझ लिया था, और साईं ने या गोविन्द साधु ने अपना घुँघरूवाला डण्डा खड़का दिया था...कुछ आवाज़-सी आयी थी, और फिर चिड़ियों का झुण्ड मेरे ऊपर से चहकता हुआ गुज़र गया। सब चिड़ियाँ जैसे चहक रही थीं—नफ़रत...नफ़रत...नफ़रत...

यह शब्द बहुत बड़ा है—चिड़ियों की चोंच में पूरा नहीं आ रहा था, पर वे इसी शब्द को बार-बार दोहरा रही थीं—जितना भी उन की चोंच में पकड़ा जा रहा था...

डेरे में परसों से मूसलनाथ का डण्डा फिर खड़क रहा है। वह बरस में एक-आध फेरा ज़रूर लगाता है। फिर उन दिनों में रोज़ भाँग का दौर चलता है। बहुत छोटा था, जब वह मुझे झोली में बिठाकर—नहीं, बिठाकर नहीं, झोली में दबोचकर कहता था, "तुझे नाथ जोगियों के नाम आते हैं? जो तू बिना भूले सारे नाम सुना दे तो मैं तुझे इलायची और मिश्री दूँगा..." इलायची और मिश्री के लिए नहीं, पर उस की झोली में से छूटने के लिए मैं जल्दी से जोगियों के नाम दोहरा देता था—"आदिनाथ, महेन्द्रनाथ, उदयनाथ, सन्तोषनाथ, कन्थड़नाथ, सत्यनाथ, अचम्भनाथ, चौरंगीनाथ और गोरखनाथ।" वह झोले में से इलायची-मिश्री निकालने लगता, तो मैं उस की बाँहों से छिटककर परे जा खड़ा हो जाता था, और ज़ोर से कहता था—"और तेरा नाम मूसलनाथ।" मुझे पता था, उस का नाम शील बाबा है; पर उस के हर समय डण्डा पकड़े रहने के कारण मैं ने उस का नाम रख दिया था—मूसलनाथ। "धत् तेरे की," कहता हुआ वह इलायची और मिश्री को फिर मुट्ठी में भींच लेता था, और मुझे अपनी बाँहों में दबोचने के लिए आगे बढ़ता था। इतने में मैं दौड़ जाता था।...

आज पता नहीं क्यों, ऐसा लग रहा है कि अगर वह आज एक बार मुझे फिर झोली में दबोचकर जोगियों के नाम पूछे, तो सारे नाम बताने के बाद मैं सिर्फ़ यही कहूँगा—तेरा नाम मुझे मालूम नहीं, पर मेरा नाम है—भिक्षानाथ। अपने आप से इस से बड़ा मज़ाक़ मैं और क्या कर सकता हूँ...

सिद्ध मकरध्वज बनाने का नुसख़ा सिर्फ़ शील बाबा को आता है, पिछले बरस उस ने महन्तजी को बनाकर दिया था, सारा साल उन्हें जोड़ों का दर्द नहीं हुआ था। इस बरस वह फिर बना रहा है और इस बरस उस ने महन्तजी के कहने पर मुझे उस का नुसख़ा लिख दिया है—सोना आठ तोले, पारा एक सेर, औले-सार गन्धक दो सेर। इन तीनों चीज़ों को पहले लाल कपास के फूलों के रस में, फिर घीकुआर के रस में घोटकर, आतशी शीशे में डालकर, मुँह पर खड़िया मिट्टी लगाकर, और मुलतानी मिट्टी के पोचे कपड़े की सात तहें बोतल पर लपेटकर सुखा लेना। इस शीशी को एक हाँड़ी में सीधा रखना, और उस के चारों तरफ़ बालू रेत भर देना। बत्तीस पहर आग की एकसार आँच देना। फिर

बोतल के मुँह पर उड़कर जो लाल पदार्थ जम जायेगा—वही मकरध्वज होगा...

और शील बाबा ने यह नुसख़ा लिखाते हुए मेरे कान को मरोड़कर कहा था—"अनाड़ी हकीम की तरह कुछ कच्चा-पक्का किसी को न खिला देना। पारा कच्चा रह गया, तो खानेवाले की हड्डियाँ गल जायेंगी..."

ज़बान रोक ली थी, नहीं तो ज़बान से निकलने लगा था—मूसल बाबा ! भिक्षा भी कच्चे पारे की तरह होती है, खानेवालों की हड्डियाँ गल जाती हैं।

पारे को शिव-धातु कहते हैं, भिक्षा को पता नहीं क्या कहते हैं...भिक्षा को माँ-धातु कहना चाहता हूँ।

वह मेरी माँ आज भी आयी थी। दबे पाँव चलती हुई वह मेरी कोठरी तक आ गयी थी। वह जब दुबककर आती है, मुझे हमेशा एक बिल्ली का ख़याल आता है। कल सारा दिन यही ख़याल आता रहा था—सारा दिन हमारे डेरे में एक बिल्ली को पकड़ने की भागदौड़ होती रही थी। एक कोठरी में दूध की कटोरी ऐसे दहलीज़ के पास रख दी गयी थी, कि बिल्ली ने जब कटोरी को मुँह मारा था, बाहर ताक़ के पीछे खड़े साईं भगतराम ने तुरत दरवाज़ा भिड़का दिया था। बिल्ली कोठरी में बन्द हो गयी थी। पर जब दूसरी कोठरी में से बीच के दरवाज़े को खोलकर, बिल्ली को पकड़ने का यत्न किया गया तो वह उछलकर खिड़की के ताक़ से ऐसे जा लगी कि खिड़की की पतली-सी कुण्डी टूट गयी, और बिल्ली उस खिड़की में से बाहर कूद गयी। लेकिन आख़िर डेरे के तीन साधु उस के पीछे पड़े हुए थे, शाम तक उन्होंने बिल्ली को पकड़ ही लिया—और आज उस बिल्ली को मारकर उस की एक हड्डी को त्रिफले के पानी में पीसा जा रहा है। गोविन्द साधु को पिछले दिनों से एक फोड़ा हो गया है। शील बाबा कहते हैं कि यह भगन्दर है, और उस के ऊपर लगाने के लिए बिल्ली की हड्डी का लेप तैयार करना है।

कल सारी रात मैं सपने में एक बिल्ली पकड़ता रहा था—हालाँकि दिन में बिल्ली पकड़ने के लिए मैं ने किसी का साथ नहीं दिया था—पर सपने में मैं ऊँचे-ऊँचे पत्थरों पर से गुज़रता एक बिल्ली के पीछे-पीछे दौड़ता रहा—और अजीब बात थी कि मेरे आगे-आगे दौड़नेवाली चीज़ कभी एकदम बिल्ली बन जाती थी, कभी मेरी माँ...

मुझे पता नहीं भगन्दर फोड़ा क्या होता है, उस से कैसे पीप बहता है, और उस में कैसे टीसें उठती हैं—पर मेरी हड्डियों में एक दर्द है, एक-एक हड्डी में, एक-एक जोड़ में, एक-एक ख़याल में...

और बड़ा ही भयानक ख़याल आया है—मन के इस फोड़े पर लेप करने के लिए अगर माँ की पसली को पीसकर...

मनु ने इक्कीस नरक माने हैं, ब्रह्मवैवर्त में छियासी नरक-कुण्ड लिखे हुए हैं—

और मेरा यक़ीन है, उन में से एक नरक-कुण्ड ज़रूर मेरे मन की हालत जैसा होता होगा।

गोविन्द साधु को शील बाबा की दवा से शायद सचमुच आराम हो गया है—आज उस का घुँघरूवाला डण्डा फिर उस की पत्थर की कुंडी में छनक रहा है। वह भाँग घोट रहा है और उस का गूँगापन भी घुँघरूवाले डण्डे की तरह छनक रहा है। "दे रगड़ा...मस्त कलन्दर, दे रगड़ा..." यह बोल उसे साईं भगतराम ने सिखाये थे—जो उस के गले में से छनकर बन जाते हैं—'गे-गे-गे'...

पता नहीं, यह घुटती हुई भाँग की ठण्डी-सी गन्ध है या कुछ और—अचानक मुझे ठण्ड-सी लगने लगी है। पर ऐसा कई बार लगता है, बैठे-बैठे लगने लगता है—कई बार धूप में बैठे हुए भी, और कई बार रज़ाई में सोते हुए भी...

बहुत छोटा था, स्कूल पढ़ने के लिए जाता था, तो एक दिन मेरा सहपाठी रुलिया स्कूल से लौटते वक़्त मुझे अपने घर ले गया—आदर की चीज़ थी, इसलिए रुलिये की माँ ने मेरे बैठने के लिए मूढ़ा डालकर, मूढ़े पर खेस बिछा दी थी। और मैं सारे घर में एक अलग-सी चीज़ की तरह उस मूढ़े पर बैठ गया था।

रुलिया के लिए उस ने मूढ़ा नहीं बिछाया था, बल्कि उस ने उसे झिड़ककर उस की बाँह अपनी तरफ़ खींची थी—"यह मुँह पर तू ने सियाही कहाँ से लगा ली?" और अपने दुपट्टे के पल्लू से उस ने रुलिये का मुँह रगड़कर पोंछा था। सूखे पल्लू से सियाही नहीं छूटी थी, इसलिए उस ने कन्नी को थोड़ा-सा थूक लगाकर, उस कन्नी को रुलिये के मुँह पर रगड़ा था।

रुलिया उस से बाँह छुड़ाकर और हाथ में पकड़े हुए बस्ते को जल्दी से कहीं रखकर, मेरे साथ जाने के लिए आतुर था, पर उस की माँ ने फिर डाँट दिया, "जाता कहाँ है भूखा पेट लेकर, बैठ जा सीधा होकर, निकम्मी औलाद!" और फिर उसी पल बड़े दुलार से कहने लगी—"किसी को घर लाकर कोई भूखा थोड़े

ही भेजा जाता है ? बेअकल, अभी मैं गरम-गरम रोटी पका देती हूँ, तू भी खा और अपने दोस्त को भी खिला..." और उस ने रुलिये को समझाते हुए उस का माथा चूम लिया था।

एक औरत नहीं, जैसे एक फिरकी माथा चूम रही थी।

चूल्हे में अधजली लकड़ियों का धुआँ सारे घर में घूम रहा था। रुलिया ने जब अपना बस्ता फेंका था तो उस से एक किताब उधर गिर गयी थी। रुलिया का छोटा भाई खटोले पर सोता हुआ अचानक रोने लगा था, उस के मुँह पर बैठी मक्खियों ने शायद बहुत ज़ोर से भिन-भिन की थी। रुलिये की माँ ने जैसे एक हाथ से चूल्हे को हवा की और दूसरे हाथ से रुलिये के बस्ते से गिरी किताब को उठाकर पहले माथे से लगाया और फिर बस्ते में रखा, और एक हाथ से खटोले पर रो रहे बच्चे के मुँह पर से मक्खियों को उड़ाया...लग रहा था कि शिव के तीन नेत्रों की तरह रुलिया की माँ के तीन हाथ थे...

बड़ा मैला-घसमैला-सा घर था—पर लकड़ियों की तिड़-तिड़ में से, मक्खियों की भिन-भिन में से, रुलिया को पड़ती झिड़कियों में से, और रुलिया के मुँह को चूमती उस की माँ के थूक में घुल-मिलकर एक सेंक-सा उठकर मेरी तरफ़ आने लगा था—एक गरमाई-सा...

मैं फिर कभी रुलिया के घर नहीं गया, पर कभी-कभी अचानक बैठे-बैठे या सोते हुए मुझे ठण्ड-सी लगती है, और पता नहीं क्यों मुझे बचपन की वह बात याद आ जाती है...

कल शिवरात्रि को माँ ने व्रत रखा था, पूजा के लिए महन्त किरपासागरजी को बुलाया था। सुना है कि उस की यह ताकीद थी कि पूजा के समय मैं भी उन के साथ जाऊँ।

मुहूर्त टालने के लिए मैं मन्दिर के पिछवाड़े जंगल में इस तरह छिप गया था कि अगर वे मुझे ढूँढ़ते तो पूजा का मुहूर्त गुज़र जाता।

पता लगा कि वह पूजा के वक़्त रोये जा रही थी...

आज साईं भगतराम ने उस के कहे शब्दों में एक बात बतायी, "इस लड़के की रगों में ख़ून की जगह पानी भरा हुआ है।"

सुनकर हँसी-सी आ गयी है। मेरा ख़याल है, उस ने ठीक कहा है। पद्मपुराण में एक कथा आती है कि मार्कण्डेय ऋषि जब तप कर रहा था तो आस-पास खाने के लिए पत्तों के सिवा कुछ न था। सो वह बरसों तक पत्ते खाता रहा, और उसके शरीर में ख़ून की जगह पत्तों का रस भर गया। ऋषि ने जब अहंकार से भरकर यह बात महादेव को बतायी तो महादेव ने उस का अहंकार तोड़ने के लिए दिखाया कि उन के शरीर में ख़ून की जगह भस्म भरी हुई है। भला अगर उस ऋषि की नाड़ियों में ख़ून की जगह पत्तों का हरा रस हो सकता है, और महादेव की नाड़ियों में भस्म, तो मेरी नसों में ठण्डा पानी क्यों नहीं हो सकता? आख़िर मैं ने अपने जन्म से लेकर अब तक मन्दिरवाली नदी का पानी पिया है ...

आज फिर मुझे हँसी-सी आ रही है। हँसी पता नहीं क्या होती है, पर जो कुछ आयी थी शायद हँसी ही थी।

मैं शिवजी की मूर्ति के पास खड़ा था। यह प्रार्थना का समय था। मन्दिर की दहलीज़ों में से गुज़रते हर किसी का हाथ लोहे के घण्टे को एक बार ज़रूर छू लेता था, और घण्टे की आवाज़ प्रार्थना के बोलों से टकरा रही थी—आवाज़ बहुत भारी थी, इसलिए वह साबुत थी, सिर्फ़ बोल टूट रहे थे...

जै जै जै जै जै त्रिपुरारी
कर त्रिशूल सोहत छवि भारी
शारद नारद शीश नवाय
नमो नमो जै नमो शिवाय...

और मैंने देखा—सामने मेरी माँ मूर्तियों के आगे दोनों हाथ जोड़े खड़ी थी। पत्थर की छत से छनकर बूंद-बूंद पानी मूर्तियों पर भी गिरता रहता है और दर्शकों पर भी। उस के सिर के पल्ले पर भी पड़ रहा था—और वह बिलकुल भीगी हुई बिल्ली की तरह लग रही थी—पर हँसी इस बात पर नहीं आयी थी—इस बात पर आयी थी कि आज उस ने अपने बालों को मेहँदी से रंगा था। मेहँदी का ख़याल मुझे बड़ी देर बाद आया, यह याद करके कि कुछ दिन हुए उस ने मेरे सामने माथे की कनपटियों को दबाते हुए साईं भगतराम से सिर दर्द का इलाज पूछा था, और साईं ने उसे मेहँदी पीसकर सिर पर लगाने के लिए कहा था। पर अचानक जब उस के बाल लाल-से देखे—तो मुझे लगा वह आज काली और सफ़ेद बिल्ली की जगह अचानक भूरी बिल्ली बन गयी थी—और वह बिल्ली की तरह म्याऊँ-म्याऊँ करती लग रही थी :

कीन्ही दया तहाँ करी सहाई
नीलकण्ठ तव नाम कहाई
प्रगटे उदधि मथन में ज्वाला
जरे सुरासुर भये बेहाला

जिस्म में एक कँपकँपी-सी आ गयी—याद आया कि बहुत छोटा था, अभी अलग कोठरी में सोने लायक़ नहीं था। चार बरस का होऊँगा, महन्त किरपासागर-जी की कोठरी में बिछे उन के आसन के पास ही एक चटाई पर सोता था, और अचानक एक रात आँख खुल गयी थी—सामने जो कुछ दिखा था उसे देखकर घिघियाकर रो पड़ा था। वह तो आदमक़द कोई चीज़ थी, पर उस वक़्त वह सारी कोठरी में फैली हुई लगती थी—एक बहुत बड़ा और काला सियाह मुँह था, जिस पर दोनों आँखें सफ़ेद और लाल रंग में जलती दिख रही थीं। सिर पर कुछ हरे-हरे पंख झूल रहे थे।

महन्त किरपासागरजी ने मुझे उठाकर अपनी गोद में ले लिया था, पर मैं रोये जा रहा था, और काँपे जा रहा था।

"तू उसे हाथ लगाकर देख, यह तुझे कुछ नहीं कहेगा,"—महन्तजी ने एक बार मुझे अपनी गोद से हटाकर उस की तरफ़ करना चाहा था, मेरा डर उतारना चाहा था, पर उस की तरफ़ देखते ही मेरी फिर चीख़ निकल पड़ी थी।

सवेरे दिन के उजाले में, बाहर पेड़ों की खुली जगह पर, महन्तजी ने मुझे बिठाकर, और उसे भी सामने बिठाकर समझाया था, "यह बड़ा अच्छा आदमी है, दीवाना साधु, हरिया बाबा।"

बहुत देर बाद मुझे समझ आयी कि साधुओं का एक समुदाय दीवाना साधु कहलाता है, और इस समुदाय के सारे साधु मुँह पर काला रंग मलकर, सिर पर मोर के पंख खोंस लेते हैं।

पर उस रात की भयानकता बड़ी देर तक मेरी याद में अटकी रही थी—एक बहुत काला-सा, मेरी आँखों के आगे फैला हुआ और उस में मोर का एक रंग-बिरंगा पंख हिलाता हुआ...

आज की इस घटना से पता नहीं उस का क्या सम्बन्ध था—माँ के मेहँदी-रँगे बालों को देखकर मुझे मोर का पंख याद आ गया। लगा, मेरे सामने एक बहुत बड़ा ख़ालीपन है—और उसी काले ख़ालीपन में मेहँदी रंग का एक गुच्छा लटक रहा है—मोर के पंख की तरह।

उस के होंठ बराबर फड़क रहे थे :

स्वामी एक है आस तुम्हारी
आय हरो मम संकट भारी

शंकर ही संकट के नाशन
संकट नाशन विघ्न विनाशन

माँ की आँखों के आगे पतली-पतली झुर्रियों का एक जाल-सा फैला हुआ है। आँखें उस जाल में फँसी हुई लग रही हैं, नहीं तो कई बार ऐसा लगता है, अगर वे जाल में फँसी हुई न हों, तो उस के मुँह से उड़कर सीधी मेरे मुँह पर आकर बैठ जायें...

पर काले और फैले हुए ख़ालीपन में ये आँखें मुझे कभी-कभी ही दिखती हैं, नहीं तो काला और फैला हुआ यह ख़ालीपन बड़ा अडोल होता है। सिर्फ़ आज यह लग रहा है कि उस ख़ालीपन में मेहँदी रँगे बालों का गुच्छा लटक रहा है—मोर के पंख की तरह।

भुलावा एक बार हो सकता है, दो बार हो सकता; पर यह जो रोज़, आये दिन लगता है—यह शायद भुलावा नहीं होगा...

प्रभात का समय था। पूजा के समय मन्दिर में खड़ा था, मूर्तियों के बिलकुल पास था, इसलिए मूर्तियों के चरणों में चढ़ाये हुए फूल मेरे पैरों तक भी पहुँचे हुए थे और फिर सुन्दरा ने फूलों की एक झोली इस तरह पलटी कि मेरे पैर उन के नीचे ढक-से गये। और फिर जब सुन्दरा ने ज़मीन तक माथा झुकाकर मूर्तियों को प्रणाम किया तो लगा कि उस का एक हाथ मेरे पैर को छू रहा था।

ज़रा-सा चौंककर मैं ने आँखें नीची कर लीं—अपने पैरों की तरफ़; पर पैरों के ऊपर और पैरों के गिर्द फूलों का इतना ढेर था कि न अपना पैर दिखता था, न उस का हाथ।

यह भुलावा भी हो सकता था, इस लिए इस बात की तरफ़ फिर कभी ध्यान नहीं दिया। पर यह जिस दिन की बात है, उस के तीन-चार दिन बाद संक्रान्ति थी। रोज़ मन्दिर में न इतने भक्त आते हैं, न इतने फूल चढ़ते हैं; पर संक्रान्ति-

वाले दिन, पूर्णिमावाले दिन, अमावसवाले दिन, या और किसी ऐसे दिन, छोटे-से मन्दिर का सारा चबूतरा फूलों से भर जाता है। उस दिन, संक्रान्तिवाले दिन फिर ऐसा लगा था—सुन्दरा ने फूलों की एक झोली मूर्तियों के चरणों में पलटी थी, और फिर मूर्तियों के चरणों में सिर झुकाती हुई, फूलों के ढेर में से बाँह गुज़ार कर, लगा, मेरे एक पैर पर अपने हाथ की हथेली रख दी हो।

मन का ज़ोर-सा लगाकर, दूसरी बार की घटना को भी एक भुलावा कह लिया था। पर पूर्णिमावाले दिन फिर ऐसे ही हुआ था, अमावसवाले दिन फिर इसी तरह, और इस से अगली संक्रान्तिवाले दिन...कल...फिर...

उस ने और कभी कुछ नहीं कहा। पर बहुत दिनों की एक बात है—तब मैं ने इस बात को भी एक संयोग ही समझा था—पर यह शायद संयोग नहीं था...

वह अपने खेतों की मेंड़ पर चलती गाँव की तरफ़ लौट रही थी। शाम का अँधेरा इतना गहन हो गया था कि एक बार देखकर भी जो कोई अपने ध्यान में हो जाये, तो यह नहीं पता लगता था कि किसी ने देखा या पहचाना था या नहीं। मैं अपने ध्यान में नदी की तरफ़ जा रहा था। नदी बिलकुल उस के खेतों के सामने पड़ती है—और फिर लगा वह भी नदी की तरफ़ लौट पड़ी थी।

कुछ आगे जाकर मैं ने पीछे एक बार देखा था—वहाँ तक, जहाँ तक लगा कि वह नदी के किनारे जाकर खड़ी हो गयी। एक आवाज़-सी सुनाई दी, जैसे वह नदी की तरह एक लम्बी आवाज़ में गा रही थी...

पीछे मुड़कर ज़रूर देखा था, पर इस तरह नहीं कि उस को यह दिख जाये कि मैं उस की आवाज़ सुनकर खड़ा हो गया था। एक पेड़ के तने के पास होकर ज़रा थम-सा गया था। देख सकता था—वह गा रही थी, पर बिलकुल अपने ध्यान में। नदी के किनारे, पानी में हाथ लटकाकर कुछ धो रही थी—शायद खेतों से जो साग-सब्ज़ी तोड़कर लायी थी, उसे धो रही थी। अँधेरे में बहुत कुछ नहीं दिख रहा था। पर यह दिख रहा था कि वह बड़ी बेख़बर थी, न उस तरफ़ देख रही थी जिस तरफ़ मैं गया था, न किसी और तरफ़। सिर्फ़ जो कुछ गा रही थी, वह बड़ा अजीब था। उस की पंक्तियाँ पूरन भक्त के क़िस्से में से थीं, जिन में उस के नाम जैसा नाम आता है :

मैं भुल्ली हाँ, तुसी न होर कोई
लाइयो जोगियाँ नाल प्रीत लोको !
जंगल गये न बौहड़े सुन्दरा नूँ
जोगी नहीं जे किसे दे मीत लोको ![1]

---

1. मुझ से भूल हुई, तुम कोई यह भूल मत करना, तुम कोई जोगियों से प्रीत मत करना। मुझ सुन्दरा के पास वह फिर लौटकर न आया, वह ऐसा जंगलों में चला गया कि फिर वहीं खो गया। जोगी किसी के दोस्त नहीं होते।

पेड़ के तने के पास मैं कुछ देर खड़ा रहा था।

ये पंक्तियाँ, न जाने क्यों, ठण्डे पानी के छींटों की तरह लगी थीं। मैं ने अपने कन्धे पर रखी हुई खद्दर की गेरुई चादर ज़रा कसकर दोनों कन्धों पर लपेट ली थी...

पर देखा था, वह फिर बेध्यान नदी के किनारे से लौट पड़ी थी—सीधी गाँव को जाती हुई पगडण्डी पर। और लगा था—उस की आवाज़ संयोग से मेरे कानों में पड़ गयी थी, उस ने जान-बूझकर मेरे कानों में नहीं डाली थी।

वैसे एक बात उस दिन रह-रहकर मेरी याद में अड़ती रही थी—बहुत साल हुए, जब मैं छोटा था, गाँव की औरतें जब कन्या जिमाती थीं, मुझे मन्दिर में से जबरन पकड़कर ले जाती थीं, 'यह हमारा बीर लंगूरिया' कहती थीं, और मुझे छोटी-छोटी लड़कियों की पंगत में बिठा देती थीं।

और एक बार की बात है—इसी सुन्दरा की माँ ने कन्याएँ जिमायी थीं। उस दिन सुन्दरा ने सिर पर गोटेवाली लाल चुनरी ओढ़ रखी थी। उस के हाथ भी लाल थे। वह हम सब को अपनी हथेलियाँ दिखा रही थी—"देखो बल्लाजी, मैं ने मेहँदी लगायी है!" और सुन्दरा की मौसी ने सब लड़कियों के पैर धोकर उन को जब मौली बाँधी और एक पंगत में बिठाया, तो मुझे सुन्दरा के पास बिठाती हुई ज़ोर से सुन्दरा की माँ से कहने लगी, "ओ बहन! ज़रा एक बार इधर देख। ये दोनों जने सुन्दरा और पूरन की जोड़ी लगते हैं। यह छोटा-सा साधु सचमुच किसी राजा का बेटा लगता है..."

छोटी-छोटी थालियों में पूरी, हलवा और छोले देती हुई सारी औरतें हँस पड़ी थीं। उस वक़्त मुझे बिलकुल पता नहीं लगा था कि वे क्यों हँसी थीं। सुन्दरा को भी पता नहीं लगा था...पर फिर जब मैं ने कुछ बरसों बाद 'पूरन भक्त' का क़िस्सा पढ़ा...तो फिर एक बार दशहरे के मेले में जब सुन्दरा ससुराल से आयी हुई थी और अपनी मौसी की बेटी को मेला दिखाती, अचानक मेरे सामने आ गयी थी, तो हँसकर उस ने अपनी मौसी की बेटी को कहा था, "ले देख ले, मेरा पूरन ...मेरा जोगी..."

पर यह बहुत दिनों की बात थी। सिर्फ़ उस दिन रह-रहकर मेरी यादों में उलझ रही थी, जिस दिन नदी के किनारे मैं ने उसे बेख़बर गाते सुना था—नदी की तरह लम्बी आवाज़ में वह कह रही थी, "मैं भूली हूँ, तुम में से कोई और जोगियों से प्रीत न लगाना..."

लेकिन फिर इस बात को भी एक अजीब-सी संयोग समझ लिया था।

पर यह जो रोज़, आये दिन फूलों के ढेर में छिपा हाथ मेरे पैर को छू जाता है...

पैर कुछ देर के लिए सुन्न-सा हो गया लगता है। किसी कथा-कहानी में जैसे कोई राजकुमारी फूल तोड़ने जाती है, फूलों की किसी डाली को हाथ लगाती है, डाली से लिपटा हुआ साँप उस की उँगली को डस जाता है, वह वहीं मूर्च्छित हो-कर फूलों की झाड़ी में गिर पड़ती है—मेरा पैर भी फूलों के ढेर में मूर्च्छित-सा हो जाता है...

उस की बाँह एक साँपिन की तरह फूलों के ढेर में फुंकारती-सी लगती है।

आजकल महन्तजी का दायाँ गाल सूजा हुआ है। उन की दो दाढ़ें दुखती हैं। पर पूजा के नियम में उन्होंने कोई फ़र्क़ नहीं आने दिया। सिर्फ़ इतना फ़र्क़ पड़ा है कि श्लोकों के सारे शब्द उन के मुँह में दाढ़ों की तरह अटके लगते हैं—हिलते भी हैं, पर बाहर नहीं निकलते।

साईं भगतराम आजकल दो वक़्त उन के लिए लपसी बनाता है, सिर्फ़ पतली-पतली लपसी उन के अन्दर जा सकती है, और कुछ नहीं। पहले वह रोज़ सवेरे, रात की भीगी बादाम की गिरियाँ छीलकर और शहद में डालकर खाते थे, पर अब गिरियाँ चबायी नहीं जा सकतीं, इस लिए कुछ गिरियों को पीसकर लपसी में मिला लिया जाता है। वह नियम से जिस वक़्त लपसी पीते हैं, एक कटोरी लपसी मुझे भी ज़रूर पिलाते हैं अपने पास बिठाकर। जैसे शहद और गिरियाँ पहले रोज अपने पास बिठाकर खिलाते थे। सिर्फ़ यह पता नहीं लगता कि इस सब को मैं जिस एक शब्द 'उन की किरपा' से जोड़ना चाहता हूँ, वह जुड़ता क्यों नहीं...

रात जब वह सोने लगते हैं, साईं भगतराम नियम से उन के पाँव दबाता है। मैं ने कई बार चाहा कि साईं भगतराम का यह नियम मैं अपना नियम बना लूँ, पर उन्होंने हर बार अपने हाथ के इशारे से मुझे पैरों की तरफ़ से हटा दिया। पता नहीं, उन्हें मेरी सेवा क्यों स्वीकार नहीं? वैसे 'सेवा' शब्द को लोग जिन

गहरे अर्थों में लेते हैं, मैं इसे उस तरह कभी भी नहीं ले सका। यह सिर्फ़ एक नियम की तरह लेना चाहता था—सवेरे उठने के नियम की तरह, या कीकर की दातुन करने के नियम की तरह। पर मुझे इस नित्य-नियम में डालना, लगता है उन्हें मंज़ूर नहीं। या शायद उन्होंने इस के असली रूप में देख लिया है—यानी 'सेवा' से बहुत छोटे रूप में। और इस छोटे रूप में उन्हें यह मंज़ूर नहीं हो सकता।

अब कोई तीन दिनों से साईं भगतराम लपसी में पोस्त के डोडे भी पीसकर डाल देता है, ताकि उन्हें जल्दी नींद आ जाये, और दाढ़ों की पीड़ा से उन्हें कुछ देर के लिए चैन मिल जाये। इस लिए वह रात को जब बहुत जल्दी ऊँघने लगते हैं, मैं साईं भगतराम को उस की 'सेवा' से उठाकर ख़ुद उस की जगह ले लेता हूँ। ऊँघते हुए वह यह नहीं पहचान सकते कि उन के पाँव को मेरे हाथ दबाते हैं या साईं भगतराम के। पर हैरानी मुझे उन पर नहीं, अपने आप पर हो रही है—कि यह मेरा नियम 'सेवा' की हलकी-सी छुअन से भी इतनी दूर है कि उन के पैरों को दबाने के बाद, मैं जितनी देर अपने हाथों को अच्छी तरह मल-मलकर न धो लूँ, सो नहीं सकता।

समझ नहीं सकता, पर नफ़रत जैसी कोई चीज़ है जो मेरे मुँह में एक दाढ़ की तरह उगी हुई है।

लगता है, जो कुछ खाता हूँ इसी दाढ़ से चबाता हूँ। चाहे कई बार यह भी लगता है कि इस दाढ़ में बड़ी पीड़ा हो रही है। यह मेरे मुँह में हिल रही है पर निकलती नहीं।

और कभी यह सोचता हूँ कि कहीं किसी दिन कोई चिमटी-सी मिल जाये, तो उस के साथ खींचकर इस दाढ़ को हमेशा के लिए अपने मुँह से निकाल दूँ।

पर फिर कुछ नहीं होता। पीड़ा भी नहीं होती। बल्कि फिर हर चीज़ को दाढ़ से चबाने में स्वाद आता है।

हरेक चीज़ को...हरेक ख़याल को...जैसे आज सुबह जब महन्त किरपा-सागरजी पूजा के श्लोक पढ़ रहे थे, और श्लोकों के सारे शब्द उन के मुँह में दाढ़ों की तरह अटके हुए थे, तो अचानक मुझे ख़याल आया था वह था कि जो ये मुँह खोल दें तो मैं हाथ में एक चिमटी ले लूँ और श्लोकों के सारे शब्द खींचकर उन के मुँह से बाहर निकाल दूँ...

यह किसी के लिए भी एक भयानक ख़याल है। पर एक पुजारी के लिए, चाहे उस की उमर बीस बरस क्यों न हो, अति भयानक है...

पर मैं सारा दिन इस ख़याल का स्वाद लेता रहा हूँ—जैसे यह एक गिरी का टुकड़ा था जो अपनी दाढ़ से चबाता रहा हूँ...

गिरी में से एक सफ़ेद दूध-सा घूंट रह-रहकर मेरे अन्दर उतरता रहा था...

आज मेरी दाढ़ में बिलकुल कोई पीड़ा नहीं हो रही।

हे ईश्वर !

ईश्वर पता नहीं क्या चीज़ है, यह शब्द एक आदत की तरह मुँह से निकल गया है।

आदत की तरह नहीं, दुखी हुई साँस की तरह।

शील बाबा ने एक दिन मकरध्वज का नुसख़ा लिखवाते हुए कहा था, "अनाड़ी हकीम की तरह कुछ अधकचरा करके किसी को न खिला देना। पारा कच्चा रह गया तो खानेवाले की हड्डियाँ गल जायेंगी..." और आज मैं ने कच्चा पारा खा लिया है।

रोज़ नफ़रत की एक गिरी-सी खाता था। आज कच्चा पारा खा लिया है।

शायद हर ज़िन्दगी एक मकरध्वज होती है। ईश्वर जब भी किसी इनसान को पैदा करता है, ज़िन्दगी नाम की चीज़ मकरध्वज की तरह उसे खिला देता है। और इनसान हँसता है, खेलता है, जवान होता है, और उस की जवानी धरती पर ठुमक-ठुमककर चलती है...धमक के चलती है...

और लगता है—ईश्वर ने जब मुझे जन्म दिया था और जब ज़िन्दगी नाम की चीज़ उस ने मुझे मकरध्वज की तरह खिलायी थी, उस दिन एक अनाड़ी हकीम की तरह मकरध्वज बनाते हुए उस से पारा कच्चा रह गया था...

यह कच्चा पारा शायद मैं ने आज नहीं खाया, अपने जन्म के समय ही खा लिया था, सिर्फ़ आज उस के असर को देख रहा हूँ—क्योंकि आज लग रहा है कि मेरी हड्डियाँ गलनी शुरू हो गयी हैं...

आज प्रातःकाल—सुबह की पहली किरण के साथ—महन्त किरपासागरजी को लगा कि उन की उमर के दिन पूरे हो गये हैं। उन्होंने साईं भगतराम के कन्धे का सहारा लिया, चारपाई पर से उठे, और जैसे-तैसे मन्दिर में पहुँच गये।

मुझे बुलाया। एक नारियल मेरी झोली में डाला। और फिर ज़री की एक पगड़ी शिव-पार्वती के चरणों से छुआकर मेरे सिर पर बाँध दी। अपनी सारी पदवी मुझे सौंप दी।

फिर मेरे आगे—अपनी पदवी के पैरों के आगे—ख़ुद भी सिर झुकाया, साईं भगतराम और गोविन्द साधु को भी सिर झुकाने के लिए कहा, और फिर उस के बाद जो कोई भी माथा टेकने के लिए आया, उसे भी।

"सोचा था, बहुत बड़ा समागम करूँगा। पर अब वक़्त नहीं..." उन को सिर्फ़ एक छोटी-सी यह हसरत आयी थी, वैसे वह बड़े सुर्ख़रू लग रहे थे।

'योग्यता' नाम की कोई चीज़ न कभी मुझे अपने आप में लगी थी, न उस वक़्त लग रही थी। बल्कि अपने आप उस वक़्त...

याद आ रहा था कि मंगल नाम का एक साधु, कुछ बरस हुए, इस डेरे में आकर रहा था। वह जहाँ भी बैठता था, पास से गुज़रते हर कीड़े को हाथ से मारता रहता था। दिन में न जाने कितने कीड़े मारता था। उस का कहना था, मैं इस तरह कीड़ों को इन की जून से छुड़ा रहा हूँ...

उस वक़्त ज़री-तिल्लेवाली पगड़ी सिर पर बाँधकर—मुझे अपना आप बिलकुल उस कीड़े की तरह लग रहा था, जिसे उस की जून से छुड़ाने के लिए किसी मंगल साधु की ज़रूरत थी।

पर कहा कुछ नहीं, कहने का कुछ हक़ भी नहीं था।

शाम तक महन्त किरपासागरजी को और भी यक़ीन हो गया कि उन की आयु के दिन पूरे हो गये थे और वह शायद आख़िरी दिन था। सब को अपनी कोठरी से बाहर भेज दिया गया। आज उन की हालत को देखते हुए मन्दिर में आये कितने ही श्रद्धालु मन्दिर से वापस नहीं गये थे। उन्होंने सब को वापस जाने का हुक्म दिया, और फिर मुझे अकेले कोठरी में बुलाया। पैरों के पास ही बैठ गया। उन्होंने पैरों के पास से उठाकर अपनी बाँह के पास बिठाया, अपनी आँखों के सामने।

पिछले कई दिनों से मुँह की सूजन की वजह से उन्हें बोलने में मुश्किल होती थी, पर उन के आधे-से उच्चारण को समझने की आदत पड़ गयी थी। इस लिए उन्होंने जो कुछ कहा, समझने में कठिनाई नहीं हुई।

समझने के लिए तो शायद इतनी कठिनाई हुई है कि सारी उम्र भी कुछ समझ में नहीं आयेगा, पर सुनने में मुश्किल नहीं हुई।

"सिर की पदवी, सिर का भार, जिस तरह उतारकर तुझे दिया है, उसी तरह मन का एक भेद, मन का भार भी उतारकर तुझे देना है..."

सुबह जिस तरह तिल्ले की और ज़री की पगड़ी सिर पर रख ली थी मैं ने, और मुँह से कुछ नहीं कहा था, उसी तरह जो कुछ उन्होंने बताया, छाती पर रख लिया मैं ने, और मुँह से बिलकुल कुछ नहीं कहा।

सिर्फ़ यह लगता है—सिर शायद साबुत रहेगा, पर छाती साबुत नहीं रहेगी।

"आज जो भी पदवी तुझे मिली है, यह तेरा हक़ था, यह सिर्फ़ तुझे मिल

सकती थी...

"जिस तरह जो कुछ भी किसी बाप के पास होता है, बेटे को मिल जाता है। अमीर बाप से अमीरी, फ़क़ीर बाप से फ़क़ीरी...

"मुझे सब कुछ मिला, ज़बान नहीं मिली। इस ज़बान से तुझे बेटा नहीं कह सका...इस वक़्त सिर्फ़ भगवान् हाज़िर है, और कोई नहीं, और भगवान् की हाज़िरी में मैं तुझे एक बार बेटा कहकर...मेरा अपना बेटा..."

ये सारे शब्द ज्यों-ज्यों उन के मुँह से निकलते गये—मैं अपनी छाती पर रखता गया। देखने का, जानने का, और सोचने का वक़्त नहीं था, सिर्फ़ इन्हें पकड़-पकड़कर छाती पर रखता गया।

"तेरी माँ एक पुण्यात्मा है...उसे कभी दोष नहीं देना...भगवान् ने ख़ुद उसे सपने में दर्शन दिये...इस संयोग का हुक्म दिया...उस ने सिर्फ़ हुक्म माना... और मैं ने सिर्फ़ उसे अंगीकार किया...फिर कभी नज़र भरकर उस की तरफ नहीं देखा...उस की साध पूरी हो गयी...उस के मन में सिर्फ़ एक बेटे की साध थी...तेरी...मेरी भी जन्म-जन्म की तृष्णा मिट गयी...तेरा जन्म एक पुण्यात्मा का जन्म..."

कोठरी का दरवाज़ा खड़का। दूर-दूर के मन्दिरों के साधुओं तक महन्तजी की बीमारी की ख़बर कई दिनों से पहुँची हुई थी, पर आज सुबह मन्दिर के वारिस की नियुक्ति की बात भी शायद पहुँच गयी थी, और उन्होंने अन्त नज़दीक जानकर आज जल्दी से उन की ख़बर लेनी चाही थी। उन आये हुओं को कोठरी में बैठाकर, मैं कोठरी से बाहर आ गया।

रोज़ सोने से पहले, कितनी देर तक मैं आसपास की पहाड़ी पगडण्डियों पर घूमता हूँ। आज भी वही पगडण्डियाँ हैं, पैरों की जानी-पहचानी हुई, पर पैरों को कई बार पत्थरों की ठोकर लगी है।

पैर काँपते जा रहे हैं—टाँगों के बीच की हड्डियाँ जैसे गलकर खोखली हुई जा रही हैं...कोई कच्चा पारा खा ले तो शायद ऐसे ही होता होगा...

अगर जन्म बदलना एक चोला बदलना है, तो मैं रोज़ दो चोले बदलता हूँ।

चार पहर एक चोला पहनता हूँ—डेरे के स्वामी होने का। और चार पहर दूसरा चोला—एक बड़े बदशक्ल कीड़े का।

'कीड़ा' शब्द जितना हीन है, 'स्वामी' शब्द उतना ही महान्। यह मेरे अस्तित्व के दो सिरे हैं—हीनता और महानता।

जब सोता हूँ—देखता हूँ कि एक काले और बदशक्ल कीड़े की तरह मैं एक बिल में से निकल रहा हूँ और मुझे ज़मीन पर रेंगते हुए देखकर मंगल साधु अपने उपले सरीखे हाथ को मेरे ऊपर फैलाकर हँस रहा होता है, 'आ, मैं तुझे इस जून से छुड़ाऊँ...।'

जागता हूँ—पैरों के पास कई माथे झुके हुए होते हैं और मैं एक पदवी के आसन पर बैठकर ज़मीन से ऊपर उठ रहा होता हूँ।

दोनों सिरों के बीच एक गुफा है, बड़ी सँकरी और अँधेरी। मन्दिर की एक दीवार में से निकलती गुफा की तरह। और कई बार मैं उन दोनों सिरों से बचने के लिए उस गुफा में घुस जाता हूँ।

यह मेरे काले और अँधेरे ख़यालों की गुफा है। मसलन कभी यह कल्पना कर के देखता हूँ कि मेरी माँ ने महन्त किरपासागरजी से एक बेटे का दान कैसे माँगा होगा...महन्त किरपासागरजी ने उस के सिर पर आशीर्वाद का हाथ रख-कर, फिर वह हाथ धीरे-धीरे उस के अंगों पर किस तरह फेरा होगा...शायद अपनी कोठरी में जाकर, या शायद मन्दिर के पास लगे पेड़ों के घने झुण्ड में... फिर सफ़ेद और गेरुए कपड़े किस तरह कुछ देर के लिए एक-दूसरे में गुँथ गये होंगे...

'तेरी माँ एक पुण्यात्मा...' महन्तजी के कहे हुए ये शब्द गुफा के अँधेरे में बड़ी ज़ोर से हँसते हैं, और फिर यह हँसी एक जीते-जागते बच्चे की शक्ल में बिलखकर रो पड़ती है...

मैं गुफा से बाहर भी आ जाऊँ, तो यह बच्चा उसी गुफा में पड़ा घिघियाकर

रोता रहता है।

महन्तजी के स्वर्गवास की ख़बर सुनकर, गाँव की कोई औरत या मर्द ही होगा जो उन के आख़िरी दर्शन करने न आया हो। माँ भी आयी थी। गाँव की सभी औरतों ने बारी-बारी महन्तजी के चरणों पर माथा टेका था, और उन की तरह माँ ने भी टेका था, पर वह जब महन्तजी की लाश के पैरों के पास झुकी थी—मुझे उस के मुँह पर दिख रहा था कि उस एक क्षण में उस के मुँह की हड्डियाँ निकल आयी थीं। मेरा ख़याल है, उस वक़्त वह ज़रूर सोच रही होगी कि महन्तजी के स्वर्गवास से अगर वह पूरी नहीं तो आधी विधवा हो गयी थी...

उस के 'आधी विधवा' होने के ख़याल से एक हमदर्दी-सी हो आयी थी। असल में हुई नहीं थी, सिर्फ़ मैं ने सोचा था कि होनी चाहिए थी। और फिर मैं यह सोचने लगा था—आज यह हमदर्दी मुझे अपने प्रति भी होनी चाहिए, क्योंकि अपने बाप की मृत्यु से मैं सही अर्थों में अनाथ हुआ हूँ। पर यह हमदर्दी मुझे अपने प्रति भी न हुई।

चिता को आग दी थी—चेला होने के नाते भी देनी थी, बेटा होने के नाते भी।

एक बदन में दो नाते शामिल हैं, सिर्फ़ मैं शामिल नहीं। न उस वक़्त, चिता को आग देते वक़्त, शामिल था; न अब।

आज एक अजीब घटना घटी है, किसी शहर से कोई बड़ी अमीर-सी दीखती औरत आयी थी। उस के साथ दो दासियाँ थीं जिन्होंने मन्दिर में चढ़ाने के लिए फल और मिठाई उठा रखी थी। वह मन्दिर की इस ख्याति को सुनकर आयी थी कि इस मन्दिर में मानता करने से सूखी हुई कोख भी हरी हो जाती है...

उसके हाथ प्रार्थना में जुड़े हुए थे, "कृष्ण खावें लड्डू-पेड़ा, शिवजी पीवें भंग, बैल की सवारी करे पार्वतीजी के संग, मेरे भोलानाथजी, मेरे काज सम्पूर्ण कर..."

एक अजीब ख़याल आया था—कहते हैं, इतिहास अपने आप को दोहराता है। और आज शायद इतिहास ने अपने आप को दोहराना चाहा था...

लगा—अभी उस की प्रार्थना के जवाब में उस को कह दूँगा कि इस स्थान से हासिल किया हुआ बच्चा इसी स्थान पर चढ़ाना होता है। और फिर जब वह 'हाँ' कर देगी, उस का हाथ पकड़कर उस को अपनी कोठरी में...

एक ग्लानि-सी हुई। लगा—इस औरत का हाथ पकड़कर जब अपनी कोठरी में ले जा रहा होऊँगा, तब वह मैं नहीं होऊँगा, वह मेरे रूप में एक बार फिर महन्त किरपासागरजी मेरी माँ का हाथ पकड़कर उसे अपनी कोठरी में...

इस लिए उस औरत को कुछ नहीं कहा बल्कि घबराकर आँखें बन्द लीं। उस ने शायद यह समझा था कि मैं उस के लिए प्रार्थना कर रहा था, क्योंकि फिर

जब आँखें खोलीं, वह बड़ी सन्तुष्ट होकर और प्रणाम करके चली गयी थी...

मन की अजीब दशा है—माँ के साथ हमदर्दी करना चाहता हूँ—होती नहीं। फिर यह सोचकर कि इनसान की मौत के बाद तो उस के साथ कुछ हमदर्दी हो जानी चाहिए, महन्त किरपासागरजी के साथ हमदर्दी करना चाहता हूँ, पर कुछ नहीं होता, आख़िर में एक 'स्वयं' रह जाता है। सोचता हूँ, तीन पात्रों में एक ही सही, पर वह पात्र भी मेरी हमदर्दी का पात्र नहीं बनता...

और जैसे महन्तजी के आख़िरी दिनों में उन के मुँह की सूजन भी उतर गयी थी, पर उन की हालत बिगड़ती गयी थी, हकीम ने बताया था कि मसूड़ों में पड़ा हुआ मवाद उतरकर अन्दर मेदे में पड़ गया है—लगता है, मेरी नफ़रत भी माथे से उतरकर मेरे मेदे में पड़ गयी है—किसी को कुछ कहना नहीं चाहता, पर मेरे अन्दर से रेत की तरह कुछ गिरता-बिखरता जा रहा है...

आड़ुओं के पेड़ों पर जब भी फूल लगते हैं, मेरी आँखें अजीब तरह बेचैन हो जाती हैं। लगता है, यह सिर्फ़ मुझ पर हँसने के लिए खिलते हैं। यह सिर्फ़ अब ही नहीं लगता, जब बहुत छोटा था तब भी लगता था कि मैं किसी चटख़े हुए पत्थर में से उग आयी घास की तरह हूँ, और शायद किसी को पता नहीं, पर आड़ुओं के पेड़ को यह भेद पता लग गया है—और वह ज़ोर-ज़ोर से खिलखिलाकर हँस रहा है...

'मेरी जड़ धरती की छाती के भीतर है, तेरी कहाँ है ?' वह कई बार कहता था, और बड़े ज़ोर से हँसता था—इतने ज़ोर से, कि उस के कई फूल झड़कर मेरे जिस्म पर गिर पड़ते थे—जैसे हँसते-हँसते मुँह से थूक गिर पड़े।

मैं ने उस के नीचे खड़ा होना छोड़ दिया, पास खड़ा होना भी छोड़ दिया। पर वह दूर खड़ा भी हँस सकता है, इस लिए जब उस की हँसी की आवाज़ कान में पड़ती है, मेरी आँखें अजीब तरह बेचैन होकर उधर देखने लगती हैं।

पीपल की जड़ भी धरती में होती है, और पेड़ों की भी, पर ये अपने में मस्त

रहते हैं—अपने हरे-पीले बदन में लिपटे हुए। आड़ुओं के पेड़ की तरह कोई भी खिलखिलाकर नहीं हँसता।

पता नहीं, उसे इतनी बार हँसने की क्यों ज़रूरत पड़ती है—जब कि मुझे पता है कि मैं किसी पत्थर की दरार में से अपने आप उग आयी घास का एक तिनका हूँ, मेरी कोई शाखाएँ कभी नहीं निकलेंगी, कभी फूल नहीं लगेंगे, फूलों से कोई फल नहीं बनेंगे...

अगर बन सकते होते...महन्त किरपासागरजी ने जब अपनी आख़िरी साँसें लेते हुए इशारे से अपने पास बुलाया था, उस शाम जो भेद उन्होंने मेरे सामने खोला था, उन की आँखों में एक भेद की लौ थी, इस लौ को शायद वात्सल्य कहते हैं, पर मेरे बदन की नाड़ियों में कोई ख़ून नहीं पिघला था। एक हुक्म में बँधा मैं उन के पास हो गया था, पर उन के बोलते ख़ून के जवाब में मेरा ख़ून कुछ नहीं बोला था। उन की आँखों में एक धुन्ध-सी आ गयी थी, शायद कोई हसरत-सी थी और फिर उन्होंने आँखें बन्द कर ली थीं...मैं पत्थर की दरार में से उग आयी घास का एक तिनका-सा हूँ...अगर एक बीज की तरह धरती की छाती चीरकर उगा होता, ज़रूर मेरी किसी टहनी पर ख़ून का फूल खिल पड़ता...

सुन्दरा ने भी यह आज़माकर देख लिया है। आज़माइश का दिन था—उस की नहीं, मेरी आज़माइश का।

"मेरे लिए क्या हुक्म है?" मन्दिर के साथ के सुनसान जंगल में उस ने मुझे पता नहीं किस तरह ढूँढ़ लिया था, और मेरे पास आकर यह कहते हुए एक अनुनय से मेरी तरफ़ देखा था।

"मेरा हुक्म? किस लिए?" कुछ समझ नहीं पाया था। सिर्फ़ यह समझ सका था कि मन्दिर में फूलों की झोली को पलटती हुई वह जब ज़मीन को हाथ से छूती थी, तो उस की हथेली मेरे पैरों को छू रही-सी लगती थी। यह भुलावा नहीं थी।

"क्या पूरन इस जन्म में भी सुन्दरा को स्वीकार नहीं करेगा?" उस की आँखों में पानी भरा हुआ था, आँखों में भी और आवाज़ में भी, क्योंकि उस के शब्द भी गीले-से लग रहे थे।

"मैं पूरन भी नहीं हूँ और राजा का बेटा भी नहीं," सिर्फ़ इतना ही कहा था। हैरान था—पत्थर की दरार में से निकले घास के तिनकेवाली बात आड़ुओं के पेड़ को पता लग गयी थी पर सुन्दरा को क्यों पता नहीं लगी थी?

मन्दिर में पूजा के समय जब वह फूलों की झोली को पलटती थी, उस की बाँह फूलों के ढेर में साँपिन की तरह पड़ी हुई लगती थी, और वह मेरे पैर को जब उँगलियाँ या हथेली छुआती थी, पैर मूर्च्छित-सा हुआ लगता था—पर आज

मैं ने उस के डंक को अकारथ कर दिया है। भला घास के तृण को भी कभी किसी साँप का ज़हर चढ़ता है? मुझे उस की बात का ज़हर नहीं चढ़ सकता...

"मेरी आत्मा..." वह कुछ ऐसी बात कहने लगी थी, मैं परे उस से दूर-सा होकर खड़ा हो गया। आत्मा और पुण्यात्मावाली कहानी जो महन्त किरपासागर-जी ने सुनायी थी, वही बहुत थी, इस कहानी को फिर आज सुन्दरा से सुनना नहीं चाहता था।

"मेरे पत्थर के देवता..." उस ने वहीं दूर से कहा, और फिर जल्दी से चली गयी।

सुन्दरा बावली है, रो पड़ी थी; पता नहीं, उस ने आड़ुओं के पेड़ों की तरफ़ क्यों नहीं देखा—वह अगर देखती, तो उसे वह भेद मालूम हो जाता कि उस पेड़ के सारे फूल सिर्फ़ मुझ पर हँसने के लिए खिलते थे...

पिछले कई सालों में मैं कभी आड़ुओं के पेड़ के नीचे नहीं खड़ा हुआ था, आज बड़ी देर तक खड़ा रहा, लगा आज ज़रूर खड़ा होना था, और देखना था कि आख़िर उस के फूल मुझ पर कितना हँस सकते हैं...

आड़ुओं के गुलाबी फूलों की हँसी, और सुन्दरा की काली सियाह आँखों के आँसू अजीब तरह एक-दूसरे में मिल-जुल गये हैं। शायद यह हँसी बीज की तरह है, जिसे धरती में बोकर यह आँसू पानी दे रहे हैं...या आँसू गोल बीज की तरह हैं जिसे धरती में बीजकर यह हँसी पानी दे रही है...

एक अजीब-सी हमदर्दी मेरे मन में उग आयी है—माँ को तो भगवान ने सपने में दर्शन दिये, भगवान् की तरफ़ से उसे एक संयोग का हुक्म मिला, महन्त किरपासागरजी ने भगवान् का हुक्म मान लिया, और दोनों ने मिलकर कुछ प्राप्त कर लिया। पर वह तीसरा आदमी...जो मेरी माँ का पति है पर मेरा बाप नहीं...उस बेचारे ने क्या प्राप्त किया...सिर्फ़ एक भुलावा कि मैं उस का

बेटा हूँ, चाहे उस के आँगन में नहीं खेला, चाहे उस के खेतों में उस का हल नहीं चलाया, पर उस के वंश का चिराग़ हूँ...

क्या चिराग़ जैसा शब्द भी इतना काला और अँधियारा हो सकता है...

लगता है—माँ ने एक अँधेरा चुराया, जब तक अँधेरे को अपनी कोख में छिपा सकती थी, छिपाये रखा। फिर जब छिपाया न गया, उस की एक पोटली बाँधकर उस ग़रीब आदमी के सामने जा रखी—देख ! मैं तेरे घर का चिराग़ ढूँढ़कर लायी हूँ।

चिराग़ क्या होता है—मिट्टी की एक कटोरी-सी, थोड़ा-सा तेल, थोड़ी-सी रुई। वह तो था ही, सिर्फ़ आग नहीं थी। आग एक सच्चाई होती है...पर झूठ भी शायद सच्चाई की तरह बलवान् होता है, और वह भी अपने हाथों की रगड़ में से आग की चिनगारी पैदा कर सकता है...

चिराग़ जल गया। पर एक फ़र्क़ मैं देख सकता हूँ—इस चिराग़ की रोशनी में जो राह नज़र आती है, उस राह पर एक भयानक ख़ामोशी है, और एक भयानक एकाकीपन।

इस चिराग़ से जिस का भी सम्बन्ध है, सब उस राह पर चल रहे हैं, पर सब एक-दूसरे से अपनी आँखों को चुराते हुए और अपने अस्तित्व को भी चुराते हुए, सब एक-दूसरे से टूटे हुए, और अपने-अपने एकाकीपन को भोगते हुए...

हमदर्दी जैसे शब्द को माँ के साथ जोड़ना भी चाहूँ, तो भी नहीं जुड़ता। महन्त किरपासागरजी के साथ भी नहीं जुड़ता। सिर्फ़ कुछ जुड़ता है—तो उस बेचारे आदमी के साथ जो दुनिया की नज़र में मेरा बाप है।

बाप शब्द से ख़याल आया है कि अगर मैं इस शब्द को उस बेचारे आदमी पर से उतार दूँ—(मुझे लगता है, इस शब्द को उस ने एक गठरी की तरह उठाया हुआ है)—और इस शब्द का भार मैं महन्त किरपासागरजी के सिर पर रख दूँ, फिर ?

पर अब वह भी नहीं हो सकता। अगर महन्त किरपासागरजी जीवित होते, तो मैं शायद किसी दिन यह कर देता। पर अब यह भार मैं उन की लाश के सिर पर कैसे रख दूँ ?

आज सुबह मन्दिर के कार्यों से निबटकर, मेरे पैर ज़बरदस्ती उस खेत की तरफ़ चल पड़े थे, जहाँ वह 'बेचारा' आदमी हल चला रहा था। पता नहीं, उस ने क्या समझा होगा, पर मैं ने उस के हाथ से उस का काम पकड़ लिया था। सूरज जब तक शिखर पर नहीं आया था, मैं उस के खेतों में उस के एक मज़दूर की तरह लग रहा था...उस के काम का बोझ हलका नहीं कर रहा था, सोच रहा था, शायद ऐसे ही उस के सिर पर उठाये हुए शब्द का भार कुछ हलका हो जाये...

उस का मुझे पता नहीं, पर मेरा अपना मन कुछ हलका-सा हो गया है—खेत के पास बहते पानी में जब मैं ने अपने हाथ धोये थे, लग रहा था—बदन से कुछ धोया जा रहा था। कन्धे की चादर से जब माथे का पसीना पोंछा था, लग रहा था—लेस की तरह लगे हुए एक रिश्ते का कुछ हिस्सा मैं ने आज पोंछ दिया था...

अगर मैं रोज़ इसी तरह कुछ पोंछता रहूँ तो शायद किसी दिन सब कुछ पोंछ दिया जायेगा...

हे भगवान्...

मैं ने यह सोचा ही नहीं कि अगर मैं रोज़ उस के खेत में जाकर उस की गोड़ाई या जुताई करूँगा, तो गाँववाले रोज़ देखेंगे, और तब लेस की तरह लगा हुआ यह रिश्ता दिनों-दिन छूटेगा या और पक्का हो जायेगा ?

नहीं, मैं कुछ नहीं पोंछ सकता। कुछ भी पोंछा नहीं जा सकता, बल्कि रोज़ जो हाथों को पसीना आयेगा, उस पसीने से भी उस रिश्ते की बू आयेगी...

अजीब हालत है ! कोई रिश्ता नहीं, पर उस रिश्ते की बू सब ओर फैली हुई है...

रिश्ता होता, फिर मर गया होता, यह बू समझ में आ सकती थी। बिलकुल उस तरह, जिस तरह एक लाश में से बू उठती है। पर जा है ही नहीं, उस की बू किस तरह ?

ईश्वर भी कहीं दिखता नहीं पर उस की ख़ुशबू हर तरफ़ फैली हुई है...

क्या यह रिश्ता भी ईश्वर की तरह है ? लगता है, अगर बू और ख़ुशबू के फ़र्क़ को छोड़ दिया जाये तो यह रिश्ता भी ईश्वर की तरह है...

या यह कह सकता हूँ कि यह मरे हुए ईश्वर की तरह है।

मरे हुए ईश्वर ने, लगता है, उस के साथ एक मरा हुआ मज़ाक़ किया है। उस का नाम दीनानाथ है...यह मज़ाक़ नहीं तो और क्या है ? शायद उस से बढ़कर और कोई दीन नहीं, पर फिर भी वह दीनों का नाथ है...

शायद वह स्वयं ही दीन है, और स्वयं ही नाथ है...

बेटा हूँ, चाहे उस के आँगन में नहीं खेला, चाहे उस के खेतों में उस का हल नहीं चलाया, पर उस के वंश का चिराग़ हूँ...

क्या चिराग़ जैसा शब्द भी इतना काला और अँधियारा हो सकता है...

लगता है—माँ ने एक अँधेरा चुराया, जब तक अँधेरे को अपनी कोख में छिपा सकती थी, छिपाये रखा। फिर जब छिपाया न गया, उस की एक पोटली बाँधकर उस ग़रीब आदमी के सामने जा रखी—देख! मैं तेरे घर का चिराग़ ढूँढ़कर लायी हूँ।

चिराग़ क्या होता है—मिट्टी की एक कटोरी-सी, थोड़ा-सा तेल, थोड़ी-सी रुई। वह तो था ही, सिर्फ़ आग नहीं थी। आग एक सच्चाई होती है...पर झूठ भी शायद सच्चाई की तरह बलवान् होता है, और वह भी अपने हाथों की रगड़ में से आग की चिनगारी पैदा कर सकता है...

चिराग़ जल गया। पर एक फ़र्क़ मैं देख सकता हूँ—इस चिराग़ की रोशनी में जो राह नज़र आती है, उस राह पर एक भयानक ख़ामोशी है, और एक भयानक एकाकीपन।

इस चिराग़ से जिस का भी सम्बन्ध है, सब उस राह पर चल रहे हैं, पर सब एक-दूसरे से अपनी आँखों को चुराते हुए और अपने अस्तित्व को भी चुराते हुए, सब एक-दूसरे से टूटे हुए, और अपने-अपने एकाकीपन को भोगते हुए...

हमदर्दी जैसे शब्द को माँ के साथ जोड़ना भी चाहूँ, तो भी नहीं जुड़ता। महन्त किरपासागरजी के साथ भी नहीं जुड़ता। सिर्फ़ कुछ जुड़ता है—तो उस बेचारे आदमी के साथ जो दुनिया की नज़र में मेरा बाप है।

बाप शब्द से ख़याल आया है कि अगर मैं इस शब्द को उस बेचारे आदमी पर से उतार दूँ—(मुझे लगता है, इस शब्द को उस ने एक गठरी की तरह उठाया हुआ है)—और इस शब्द का भार मैं महन्त किरपासागरजी के सिर पर रख दूँ, फिर?

पर अब वह भी नहीं हो सकता। अगर महन्त किरपासागरजी जीवित होते, तो मैं शायद किसी दिन यह कर देता। पर अब यह भार मैं उन की लाश के सिर पर कैसे रख दूँ?

आज सुबह मन्दिर के कार्यों से निबटकर, मेरे पैर ज़बरदस्ती उस खेत की तरफ़ चल पड़े थे, जहाँ वह 'बेचारा' आदमी हल चला रहा था। पता नहीं, उस ने क्या समझा होगा, पर मैं ने उस के हाथ से उस का काम पकड़ लिया था। सूरज जब तक शिखर पर नहीं आया था, मैं उस के खेतों में उस के एक मज़दूर की तरह लग रहा था...उस के काम का बोझ हलका नहीं कर रहा था, सोच रहा था, शायद ऐसे ही उस के सिर पर उठाये हुए शब्द का भार कुछ हलका हो जाये...

उस का मुझे पता नहीं, पर मेरा अपना मन कुछ हलका-सा हो गया है—खेत के पास बहते पानी में जब मैं ने अपने हाथ धोये थे, लग रहा था—बदन से कुछ धोया जा रहा था। कन्धे की चादर से जब माथे का पसीना पोंछा था, लग रहा था—लेस की तरह लगे हुए एक रिश्ते का कुछ हिस्सा मैं ने आज पोंछ दिया था...

अगर मैं रोज़ इसी तरह कुछ पोंछता रहूँ तो शायद किसी दिन सब कुछ पोंछ दिया जायेगा...

हे भगवान्...

मैं ने यह सोचा ही नहीं कि अगर मैं रोज़ उस के खेत में जाकर उस की गोड़ाई या जुताई करूँगा, तो गाँववाले रोज़ देखेंगे, और तब लेस की तरह लगा हुआ यह रिश्ता दिनों-दिन छूटेगा या और पक्का हो जायेगा ?

नहीं, मैं कुछ नहीं पोंछ सकता। कुछ भी पोंछा नहीं जा सकता, बल्कि रोज़ जो हाथों को पसीना आयेगा, उस पसीने से भी उस रिश्ते की बू आयेगी...

अजीब हालत है ! कोई रिश्ता नहीं, पर उस रिश्ते की बू सब ओर फैली हुई है...

रिश्ता होता, फिर मर गया होता, यह बू समझ में आ सकती थी। बिलकुल उस तरह, जिस तरह एक लाश में से बू उठती है। पर जा है ही नहीं, उस की बू किस तरह ?

ईश्वर भी कहीं दिखता नहीं पर उस की ख़ुशबू हर तरफ़ फैली हुई है...

क्या यह रिश्ता भी ईश्वर की तरह है ? लगता है, अगर बू और ख़ुशबू के फ़र्क़ को छोड़ दिया जाये तो यह रिश्ता भी ईश्वर की तरह है...

या यह कह सकता हूँ कि यह मरे हुए ईश्वर की तरह है।

मरे हुए ईश्वर ने, लगता है, उस के साथ एक मरा हुआ मज़ाक़ किया है। उस का नाम दीनानाथ है...यह मज़ाक़ नहीं तो और क्या है ? शायद उस से बढ़कर और कोई दीन नहीं, पर फिर भी वह दीनों का नाथ है...

शायद वह स्वयं ही दीन है, और स्वयं ही नाथ है...

रिश्ता भी क्या चीज़ है ? जहाँ कुछ भी नहीं, वहाँ नजर आता है; जहाँ नज़र नहीं आता, वहाँ है।

शुरू से पता था—माँ से एक रिश्ता है, पर बीस बरस बड़े ग़ौर से देखता रहा हूँ, कभी नज़र नहीं आया।

महन्त किरपासागरजी ने अपने आख़िरी वक़्त जो कुछ बताया था, सुन लिया पर ग्रहण कुछ भी नहीं हुआ। वहाँ भी ग़ौर से देखता हूँ, पर कुछ दिखाई नहीं देता।

सवेरे सुन्दरा आयी थी—उस ने ब्याह का जोड़ा पहन रखा था। मुँह अच्छी तरह नहीं दीख रहा था। सिर्फ़ आँखें दिखती थीं, और एक बड़ी-सी नथ दिखती थी। उस वक़्त मन्दिर के चबूतरे पर बहुत-से फूल नहीं थे, पर उस ने फूलों की झोली जब पलटी थी, सारा चबूतरा फूलों से भर गया था। और उस ने उसी तरह फ़र्श पर झुककर, फूलों के ढेर में से बाँह गुज़ारकर...

आज सिर्फ़ मेरा पैर ही नहीं, मेरा सिर भी मूर्च्छित हो गया लगता था, फिर उठकर जब वह खड़ी हुई तो नज़र भरकर देखा—नथ की गोल तार पर पानी की बूँदें अटकी हुई हैं। जैसे नथ की आँखों में आँसू आ गये हों...

लगा—मेरी आँखों में से कुछ रिस पड़ा था। जैसे किसी टहनी से कुछ तोड़ो तो पानी रिस आता है...

पर टहनी कौन है ? क्या मैं टहनी हूँ ?

और क्या इस टहनी से जो कुछ टूट गया है, वह रिश्ता था ?

सुन्दरा के साथ मैं ने कभी यह शब्द नहीं जोड़ा, पर क्या जो दिखता नहीं था, वह था ?

"आख़िरी प्रण..." आवाज़ कानों तक पहुँची थी। होंठ हिलते नहीं दिखे थे, सिर्फ़ नथ हिलती-सी दिखी थी। जैसे यह बात उस नथ ने कही हो...

सुन्दरा नहीं जानती, पर यह भी एक रिश्ता है...

वही रिश्ता जो हवन-कुण्ड के साथ होता है...

मैं कुण्ड हूँ, पाराशर स्मृति के अनुसार पति के जीते-जी जो स्त्री किसी और से सन्तान लेती है, उस सन्तान का नाम कुण्ड होता है...

किसी कुण्ड में जो कुछ पड़े वह दग्ध हो जाता है...

मुझे प्यार करके सुन्दरा अपना हवन करना चाहती थी। वह नहीं जानती, पर मैं ने उसे हवन की सामग्री होने से बचाया है...

माँ औरत के रूप में होती है, पृथ्वी के रूप में भी। विष्णुपुराण में कथा आती है कि विष्णु ने जब वराह का रूप धारण किया, तो पृथ्वी ने उस के साथ भोग करके नरक नामक पुत्र पैदा किया।

सो यह कहानी सिर्फ़ मेरी नहीं, आदि-युगादि की है।

और आदि-युगादि से यह नरक पैदा होते रहे हैं।

भोग करनेवालों का क्या है, उन का खेल उन को नहीं भुगतना पडता, यह सिर्फ़ नरकों को भुगतना पड़ता है। यह सिर्फ़ मुझे भुगतना है...

आज सुबह माँ जब मन्दिर में आयी थी, सोच रहा था, उस को प्रणाम करूँ। बिलकुल इस तरह जिस तरह कोई पृथ्वी को प्रणाम करता है।

पृथ्वी ने जब नरक पैदा किया था, तो किसी ने भी पृथ्वी का निरादर नहीं किया था, सो मुझे भी उस का निरादर करने का क्या हक़ है?

मेरी माँ साक्षात् पृथ्वी है।

सुलफ़ा बहुत अच्छी चीज़ है। मैं ने आज तक नहीं पिया था। गोविन्द साधु के हाथों से चिलम पकड़कर आज मैं ने थोड़ा-सा ही पिया कि आनन्द आ गया। अजीब-अजीब बातें भी सूझ रही हैं...

अभी चरपट योगी की कथा याद आयी है कि चरपट योगी का जन्म योगी मछेन्द्रनाथ की दृष्टि से हुआ था—भोग से नहीं, सिर्फ़ दृष्टि से।

और क्या पता मेरा जन्म भी महन्त किरपासागरजी की सिर्फ़ दृष्टि से

हुआ हो...

लगता है, महन्त किरपासागरजी भी योगी मछेन्द्रनाथ की तरह सिद्ध पुरुष थे। सो सिद्ध पुरुषों को प्रणाम करना चाहिए...

मुझे अफ़सोस है कि मैं ने महन्त किरपासागरजी को कभी जीते-जी ऐसे प्रणाम नहीं किया था। चरपट योगी ने मछेन्द्रनाथ को ज़रूर प्रणाम किया होगा। मुझे चरपट योगी से यह शिक्षा लेनी चाहिए थी...

चरपट योगी मेरे बड़े भाई की जगह हैं...पता नहीं, यह ख़याल पहले क्यों नहीं आया...उस का जन्म भी ऐसे हुआ था, जैसे मेरा...सो हम भाई-भाई हैं...आज मैं बहुत ख़ुश हूँ...आज इतिहास के पन्नों में से मुझे मेरा भाई मिल गया है...

गोविन्द साधु पता नहीं कहाँ अलोप हो गया है। अभी नागफनी की झाड़ी के पास बैठा चिलम पी रहा था। कहीं साईं भगतराम ही दिख पड़े तो कहूँ कि चिलम मेरे लिए भी भर ला। चिलम के दो घूँट से ही आनन्द आ गया...

आनन्द की तृष्णा भी अजीब चीज़ है...यह मैं किस तरह बैठा हुआ हूँ, किस मुद्रा में? ओह, याद आया—यह भद्रा मुद्रा है। टख़नों को मोड़कर अपने नीचे रखकर बैठने की मुद्रा। योगियों का आसन...

पता नहीं, मेरे नीचे क्या बिछा हुआ है...मेरा ख़याल है भद्रासन होगा... बहुत सख़्त है...भद्रासन होता ही सख़्त है, बैल का चमड़ा...इस आसन पर बैठनेवाले लोगों की भलाई के लिए बैठते हैं, लोगों के कल्याण के लिए...मैं किस का कल्याण करूँगा?...क्या आसन पर बैठनेवाले अपना कल्याण नहीं कर सकते?...

एक अजीब बू आ रही है, शायद बैल के चमड़े की है...नहीं, यह मेरे जिस्म में से आ रही है...हाथों में से, बाँहों में से, सीने में से...मछली की बू की तरह...मत्स्यगन्धा...वह कौन थी मत्स्योदरी? वह जो वसु राजा के वीर्य से मछली के पेट में से जन्मी थी?...उसे भी ज़रूर अपने जिस्म में से मछली की बू आती होगी...मेरो माँ भी शायद मछली है...मैं मछली के उदर से पैदा हुआ हूँ...एक दिन महन्त किरपासागरजी समाधि में लीन थे...पता नहीं, महाभारत में किसी ने यह कथा क्यों नहीं लिखी...

व्यास ने महाभारत लिखते समय ज़रूर भाँग पो रखी होगी...नहीं, सुलफ़ा पी रखा होगा...कोई साईं भगतराम उस की चिलम भर रहा होगा, और वह लिखता गया होगा...आज साईं भगतराम ने कमाल की चिलम भरी है, मैं भी महाभारत लिख सकता हूँ...

महाभारत का क्या है, जो मरज़ी आये लिखते जाओ...जहाँ कुछ समझ न आये, वहाँ जो जी चाहे लिख दो...शुक्र ब्रह्मा का बेटा था, पर शुक्र की माँ नहीं

थी...वह ऐसे ही पैदा हो गया था। ब्रह्मा एक यज्ञ करवा रहा था, वहाँ देवताओं की बहुत सुन्दर पत्नियाँ आयी हुई थीं, तो उन को देखकर ब्रह्मा का वीर्य गिर गया। सूर्य ने उस वीर्य को इकट्ठा कर लिया और अग्नि में उस का हवन किया तो उसी वक़्त अग्नि में से तीन सुन्दर बालक निकल आये...देवताओं ने एक बालक शिव को दे दिया...ख़्वाहमख़्वाह...एक अग्नि को दे दिया...वह भी ख़्वाहमख़्वाह ...और एक उस के असली बाप को दे दिया, ब्रह्मा को, यही बालक शुक्र था...

तो बाप का क्या है, बाप पर कोई दोष नहीं लगता...इसलिए बाप का नाम याद रख लेना चाहिए...दोष सिर्फ़ माँ पर लगता है, सो माँ का नाम भूल जाना चाहिए...बच्चे का क्या है, वह कहीं भी पैदा हो सकता है—मछली से भी, पृथ्वी से भी, अग्नि से भी...मैं जब महाभारत लिखूंगा, तो लिखूंगा कि मैं सुलफ़े की चिलम में से जन्मा था...

ख़ूब वक़्त पर ख़याल आया है कि बच्चे की पैदाइश के लिए इनसान का वीर्य भी ज़रूरी नहीं...पद्मपुराण में लिखा है कि मंगल विष्णु के पसीने से पैदा हुआ था...वामनपुराण में लिखा है कि शिवजी के मुँह में से एक थूक गिरा और उस थूक में से एक बालक जन्मा था...

सो मैं अपने जन्म की कथा लिखूंगा कि एक दिन महन्त किरपासागरजी सुलफ़े की चिलम पी रहे थे...मुँह में से एक थूक गिरकर चिलम में पड़ गया और मैं सुलफ़े के धुएँ की तरह चिलम में से निकल पड़ा...

यह सब सम्भव है...अयोध्या के सूर्यवंशी राजा सगर की रानी सुमति को औरव ऋषि के वर के अनुसार साठ हज़ार पुत्र पैदा होने थे, ऋषि की वाणी थी, इस लिए सुमति के गर्भ से एक तुम्बा जन्मा, जिस में साठ हज़ार बीज थे। राजा ने साठ हज़ार घी के घड़े भरकर, उन में एक-एक बीज रख दिया—दस महीने बाद हर घड़े में से एक-एक बालक निकल आया...

यह हरिवंशपुराण की कथा है, इस लिए सच है। सच किसी काल में भी हो सकता हैं। इस काल में यह भी सच है कि एक दिन महन्त किरपासागरजी सुलफ़े की चिलम पी रहे थे, मुँह में से एक थूक गिरकर चिलम में पड़ गया, और एक बालक, सुलफ़े के धुएँ की तरह चिलम में से निकल पड़ा...

यह कैसा ज्ञान है जो मुझे प्राप्त हो रहा है...

भुशुण्डि नाम के एक ब्राह्मण को जब लोमश ऋषि ने श्राप दिया था, तो उस के श्राप से वह एक कौआ बन गया था, पर कौआ बनते ही उस को एक ज्ञान प्राप्त हो गया था, और फिर वह चिरजीवी होकर सब ऋषियों को कथा सुनाता रहा...

मैं भी शायद उस की तरह कागभुशुण्डि हूँ...मुझे भी एक ज्ञान प्राप्त हुआ है...मैं भी समय को एक कथा सुना रहा हूँ...

सुना—माँ बहुत बीमार है। कुछ दिनों से मन्दिर में देखी नहीं थी। कुछ ऐसा ही ख़याल आया था, पर जिस बात को 'ख़बर लेना' कहते हैं, उस बात का ख़याल नहीं आया।

आज उस ने अपनी किसी पड़ोसिन को भेजा था—"एक बार मुँह दिखा जा। यह मेरे बत्तीस दाँतों में से निकली मिन्नत है।"

उस वक़्त मैं मन्दिर में खड़ा था, शिव और पार्वती की मूर्ति के पास और लगा, यह शब्द सुनकर मैं भी पत्थर की तरह हो गया था—पैरों को उठाकर चलने की जगह वहीं पत्थर की तरह हो जाना आसान लगा था।

यह सुबह की बात है। दोपहर के समय वह पड़ोसिन फिर आयी थी, "मरने को पड़ी है, कहती है—'एक बार मुँह दिखा जा। तुझे मेरे दूध की बत्तीस धारों की सौगन्ध..., "

बत्तीस दाँत...बत्तीस धारें...लगा, उस के पास बत्तीस की गिनती बहुत सारी थी, और अचानक ख़याल आया कि स्कन्दपुराण के काशीखण्ड में औरत के बत्तीस शुभ लक्षण माने गये हैं...

इकत्तीस के बारे में कुछ नहीं कह सकता, पर एक के बारे में ज़रूर कह सकता हूँ। बत्तीस में से एक लक्षण निष्कपटता भी है।

सोचा, जाना है, इस लिए जाऊँगा। दूध की बत्तीस धारों का क़र्ज़ा लौटाने नहीं, और न ही बत्तीस दाँतों में से निकली मिन्नत को सुनकर, सिर्फ़ एक मन्दिर का साधु होने के नाते, जिसे गाँव में से आये किसी मर्द या औरत के बुलावे पर ज़रूर जाना होता है।

सिर्फ़ यह ख़याल ज़रूर आया कि उस ने अपने आख़िरी वक़्त या मुश्किल की घड़ी में, जो मेरे मुँह से कोई साधु-वचन सुनना चाहा, तो मैं यह कह सकूँगा, 'भली औरत ! तुझ में औरत के बत्तीस शुभ लक्षणों में से शायद इकतीस ही होंगे, पर मैं बत्तीसवें की बात करता हूँ—निष्कपटता की। जिस मर्द के नाम के नीचे तू ने सारी ज़िन्दगी गुज़ारी है, अगर आख़िरी वक़्त तू उस के साथ निष्कपटता

बरत ले...'

जाते वक़्त कोई और ख़याल नहीं आया था। सिर्फ़ एक ख़याल था, यही ख़याल जो मैं सुलफ़े की तरह पीता गया था। और एक क्रोध-सा था जो सुलफ़े के धुएँ की तरह निकल रहा था...

अब आती बार ख़याल आ रहे हैं, यह भी कि सुलफ़े का जो नशा मेरे सिर को चढ़ा हुआ था—एक दम्भ का नशा था। शायद दम्भ को भी सुलफ़े की तरह पिया जा सकता है...

और यह ख़याल भी आ रहा है—बत्तीस शुभ लक्षण सिर्फ़ औरत के ही नहीं होते, मर्द के भी होते हैं। और उन बत्तीस में से एक लक्षण उदारता भी होता है, क्षमा भी। मैं ने उस के शुभ लक्षणों की गिनती करके उस को सुना दी, पर यह गिनती मैं अपने लिए भी तो कर सकता था...

क्या उदारता और क्षमावाला लक्षण मुझ में नहीं होना चाहिए?

उम्र के बरसों की तोड़ी हुई एक औरत, बड़ी दीन-सी होकर, और हारकर, चारपाई के बान से लगी हुई थी, और मैं परे एक आसन पर चावल के माँड़ की तरह अकड़कर बैठ गया था।

चलो, बैठ भी गया था, तो चुप ही रहता...

उस ने मुझे हाथ से छूना चाहा था—बढ़कर, पता नहीं पैरों को कि सिर को, पर उस का हाथ बीच में ही लटका रह गया था...

कुछ झुर्रियाँ थीं, जो हवा में लटक रही थीं...

मांस के बलों में पता नहीं ज़िन्दगी का क्या कुछ लिपटा होता है...

परे आसन पर बैठे हुए, मुँह पर शायद निर्दयता जैसी कोई चीज़ थी, लगा—उस ने देख ली थी, और उस की आँखों में पानी भर आया था।

शायद वह सोचती थी कि आँखों के पानी से वह मेरे मुँह पर से इस निर्दयता को धो सकती थी...

पर यह मेरे मुँह पर जो कुछ भी उसे दिखा था, धूल की तरह उड़कर पड़ा हुआ नहीं, मांस के रोम की तरह उगा हुआ है।

वही बात हुई जो मैं ने सोची थी। मेरी ख़ामोशी तोड़ने के लिए उस ने कहा, "मेरे लिए कोई वचन।"

'वचन' मैं सोचकर गया था। इस लिए कह दिया, "निष्कपटता।"

लगा, उस के मुँह की सब झुर्रियाँ मेरी ओर देखने लगी थीं।

उस वक़्त कोठरी में वह अकेली थी। मैं था, पर मेरा मतलब है, उस का पति, उस का दीनानाथ—उस वक़्त बाहर ओसारे में था, अन्दर उस के पास कोठरी में नहीं था।

"मैं जानूँ या मेरा परमात्मा। मैं निष्कपट हूँ" उस की बहुत धीमी-सी आवाज़

आयी थी।

सुनकर हँसी-सी आ गयी थी।

उस की आँखों में कुछ फैल गया था। शायद ख़ौफ़ जैसी कोई चीज़ थी। वह एकटक मेरी तरफ़ देख रही थी, और उस की आँखों में वह ख़ौफ़ शीशे की तरह चमक पड़ा था। और फिर लगा था—वह शीशे की तरह चटख़ गया था...शायद पिघल गया था...

उस की आँखों से कुछ पानी पिघले हुए शीशे की तरह बह रहा था।

उस ने खाट की बाँही पर छाती का भार डालकर अपनी बाँह को लटकाया—मेरे आसन का एक कोना हथेली से छू लिया। आसन का कोना भी, उस के साथ लगा मेरा घुटना भी।

घुटना जल-सा उठा, एक क्रोध से। हथेली को घुटने से झटक सकता था, पर गुस्से की बड़ी गरम लकीर, घुटने से लेकर ज़बान तक फैल गयी थी, इस लिए ज़बान तिलमिला गयी। कह दिया, "महन्त किरपासागरजी ने आख़िरी वक़्त यह 'निष्कपटता' मुझे बता दी थी।"

बहुत साल हुए, एक बार गोविन्द साधु ने एक साँप मारा था। उस का डण्डा जब साँप की कमर में धँसा हुआ था, और साँप के सिरवाला हिस्सा व नीचे धड़-वाला हिस्सा दो अलग-अलग हिस्सों में तड़प रहे थे—मैं उस के पास खड़ा, उस को देखता, एक ग्लानि से भर गया था। उस दिन मुझे साँप पर नहीं, गोविन्द साधु पर बड़ा गुस्सा आया था। साँप तड़प रहा था, गोविन्द साधु तमाशा देख रहा था।

लगा, मेरी बात सुनकर, वह भी साँप की तरह तड़प उठी थी, मेरी बात लकड़ी के एक डण्डे की तरह उस की पीठ में धँस गयी थी, और जिस के बोझ के नीचे वह गुच्छा हुई अजीब तरह टूट रही थी। अपने आप से भी नफ़रत हुई। अपने आप से भी, उस बात से भी, और उस बात की चोट से तड़पती उस की जान से भी।

एक मरते हुए इनसान को मैं कैसी शान्ति दे रहा था? मुझे पता था, मैं एक बदला ले रहा था, पर यह कैसी घड़ी थी बदला लेने की?

और सब से अधिक नफ़रत अपने आप से हुई, अपने अस्तित्व से। जैसे मेरा अस्तित्व नफ़रत का एक टुकड़ा हो...

हिल-सा गया था।

फिर यह ख़याल भी आया—जो मैं नफ़रत का एक टुकड़ा था तो मांस के इस टुकड़े को जन्म देनेवाली माँ? वह एक बच्चे की माँ नहीं, एक नफ़रत की माँ थी।

और मैं फिर अडोल-सा हो गया।

कोठरी में एक ख़ामोशी छा गयी थी।

यह ख़ामोशी शायद बहुत भारी थी, पत्थर की शिला की तरह। इस को न मैं हटा सकता था, न वह।

पर मेरा ख़याल ग़लत निकला, उस ने ख़ामोशी की शिला तोड़ी और कहा, "मुझे पता था, एक दिन मुझे अग्निकुण्ड में नहाना होगा..."

मैं ने कुछ हैरान होकर उस के मुँह की तरफ़ देखा।

अचानक उस ने अपनी मिन्नत-सी करती हथेली मेरे घुटने पर से हटा ली। और बड़ी शान्त होकर अपनी खटिया पर आराम से लेट गयी।

अब उस की आवाज़ भी शान्त और अडोल थी। उस ने सहज भाव से कहा, "कई बार लगता था कि सीता की तरह मुझे भी अग्नि-परीक्षा देनी पड़ेगी..."

लगा—यह बोल महन्त किरपासागरजी के उन बोलों के साथ मिलते थे—'तेरी माँ एक पुण्यात्मा है...उसे कभी दोष न देना...स्वयं भगवान् ने सपने में उसे दर्शन दिये...'

पर यह बोल शायद जान-बूझकर मिलाये गये थे। मुझे कभी भी भगवान् के इन दर्शनोंवाली बात पर विश्वास नहीं हुआ था। और लगा अब माँ भी अगले वाक्य में इन दर्शनोंवाली बात को दोहरा देगी...

इनसान अपने किये को अपने हाथ में न पकड़ सके, तो बड़ी सीधी-सी बात है कि वह भगवान् के हाथ में पकड़ा दे...

पर उस ने कुछ नहीं कहा।

इस लिए मुझे, ख़ुद, कहना पड़ा, "भगवान् ने सपने में दर्शन दिये, सिर्फ़ यही कहने के लिए?"

वह सचमुच हँस दी—"नहीं, मेरे लाल! मेरे ऐसे करम कहाँ थे कि भगवान् मुझे सपने में दर्शन देते और कुछ कहते।"

लगा—दर्शनवाली बात महन्त किरपासागरजी ने मेरे मन को बहकाने के लिए बनायी थी।

और लगा—एक झूठ था, जो इस कोठरी में पड़ी हुई खटिया पर से रेंगता-रेंगता, एक मरे हुए इनसान की समाधि तक पहुँच गया था।

पर मैं झूठ और सच को नितारना क्यों चाहता था? अपने पर एक खीझ-सी आयी। और लगा अगर यह लोग किसी झूठ पर कुछ खाँड-सी लपेटकर मुझे खिलाना चाहते हैं, तो मैं इसे खा क्यों नहीं लेता? आख़िर भगवान् के नाम को खाँड की तरह पीसने के लिए इन बेचारों ने कितना कुछ किया है...

"अग्नि-परीक्षा, कभी किसी पति की आज्ञा थी, आज पुत्र की आज्ञा है..."

लगा—वह अपने आप से बातें कर रही थी।

फिर एक ग़ुस्सा-सा आ गया—झूठ को खिलाना भी ज़रूर है, पर दूसरे से

यह भी कहलवाना है कि यह बहुत मीठा है !

उस ने मेरे गुस्से को नहीं जाना, कहती गयी,"मेरे ऐसे कर्म नहीं थे जो भगवान् मुझे दर्शन देते। मैं ने सिर्फ़ उस की आज्ञा मानी थी, जिस को मैं ने सारी उम्र भगवान् समझा। दर्शन उसे हुए थे, मैं ने सिर्फ उस की आज्ञा मानी।"

दरवाज़े के पास खटका-सा हुआ। लगा, अब वह बिलकुल चुप हो जायेगी, क्योंकि अब उस का पति अन्दर कोठरी में आ गया था।

"हकीम से तेरे लिए एक और पुड़िया लाया हूँ..." उस ने कोठरी में आते हुए कहा। और कहा, "हकीम ने कहा है कि आज का दिन कष्ट का है, अगर आज का दिन कुशलता से गुज़र गया तो..."

"हाँ, आज का दिन ही कष्ट का था..." लगा, वह हँस दी थी, और फिर उस ने अपनी चारपाई पर से, हाथ में दवा की पुड़िया लेकर, खड़े हुए, अपने पति के पैरों की तरफ़ अपना हाथ बढ़ाकर कहा, "मैं तेरे, अपने भगवान् के, हाथों में इस दुनिया से चली जाऊँ, मुझे इस से ज़्यादा कुछ नहीं चाहिए...एक इस बेटे का मुँह देखने के लिए जान अटकी हुई थी, वह भी देख लिया...अब मुझे शान्ति मिल गयी है..." और हाथ के इशारे से उस ने पुड़िया खाने से इनकार कर दिया।

शाम का अँधेरा उतर आया था। और फिर लगा, जैसे वह सो गयी थी। मैं उठकर बाहर आ गया।

बाहर ओसारे में वह लालटेन की चिमनी पोंछ रहा था। उस ने एक बार मेरे कन्धे पर हाथ रखकर मुझे प्यार-सा किया। लगा, हाथ कुछ झिझक-सा रहा था।

झिझक को समझ सकता था, पर हाथ की मेहरबानी को समझ नहीं सकता था। कुछ हैरान होकर उस की तरफ़ देखा। लगा, वह कुछ कहना चाहता था, पर फिर वह कोठरी की तरफ देखकर, चुपचाप लालटेन की चिमनी पोंछने लगा।

एक सन्देह-सा हुआ—जैसे वह सब कुछ जानता था। और मुझ से कहना चाहता था—मैं ने क्षमा कर दिया है, मैं, एक आम दुनियादार इनसान होकर, और तू उसे क्षमा नहीं कर सकता ?

मैं ने एक बार अपने वेश की तरफ़ देखा—सिर से पाँव तक मैं ने गेरुआ, भगवान् के नामवाला, वेश पहना हुआ था। और लगा उस के सफ़ेद कपड़े मेरे वेश को एक उलाहना-सा दे रहे थे...

एक बार फिर पलटकर देखा—वह ओसारे में खड़ा एक सफेद कपड़े के टुकड़े से अब भी लालटेन की चिमनी पोंछ रहा था। चिमनी पता नहीं कब की धुआँयी हुई पड़ी थी, या कोई काला-सा धब्बा चिमनी पर से उतर नहीं रहा था...

यह कैसा अँधेरा है, कहीं ख़त्म ही नहीं होता...

कोख का अँधेरा हर कोई झेलता है। पर उस का एक गिना-चुना समय होता है। और वह जैसे-तैसे गुज़र जाता है। पर मेरा यह अँधेरा गुज़रता क्यों नहीं ? क्या समय मुझे अँधेरे की कोख में डालकर फिर निकालना भूल गया है ? और मुझे, अँधेरे की कोख में पड़े हुए ही बरस पर बरस गुज़रते जा रहे हैं ?

साईं भगतराम एक दिन एक मूर्ख पण्डित की कथा सुना रहा था कि एक गाँव की स्त्रियाँ जब एक पण्डित से तिथि-त्यौहार पूछने जातीं और मूर्ख पण्डित से जन्त्री न पढ़ी जाती, तो वह बहुत कच्चा पड़ जाता। आख़िर उस ने सोच-सोचकर एक उपाय ढूँढ़ा। मिट्टी की एक कुलिया रख ली, और पड़वा का दिन पूछ-पुछाकर, उस ने अपनी बकरी की एक मेंगनी उस कुलिया में डाल दी। दूसरे दिन एक और मेंगनी डाल दी, तीसरे दिन एक और। इस तरह रोज़ एक मेंगनी वह याद से उस कुलिया में डाल देता। जब कोई स्त्री तिथि पूछने आती, वह कुलिया की मेंगनी गिनता और उस के मुताबिक़ उस दिन की तिथि बता देता। कुलिया में एक मेंगनी होती तो पड़वा होती, दो होतीं तो दूज, तीन होतीं तो तीज...सो काम चलता गया। पर एक दिन पण्डितजी की कुलिया कहीं आँगन में पड़ी रह गयी, और आँगन में खड़ी बकरी ने जब मेंगनी की तो कुलिया मुँह तक भर गयी। अगले दिन एक स्त्री तिथि पूछने आयी, पण्डित ने कुलिया देखी तो मेंगनियों की गिनती ही न हो...स्त्री ने स्वयं ही कहा, 'होनी तो आज नौमी है।' पण्डितजी ने भी उस समय टालने के लिए कह दिया, 'है तो नौमी, पर अपार नौमी है।'

मन की हालत रुआँसी-सी है। पर यह हास्यास्पद बात याद आ गयी है। लगता है, समय भी एक मूर्ख पण्डित है। मेरी बारी अँधेरे दिनों की गिनती करता हुआ अपनी कुलिया को रात आँगन में ही रख गया था—और अब मेरी नौमी को अपार नौमी कहकर अपनी मूर्खता छिपा रहा है।

अपार अँधेरा।

और लगता है—कोख में से निकलकर मैं सीधा मन्दिर की गुफ़ा में आ गया हूँ और गुफा पता नहीं कितने सौ मील लम्बी है !

हर सवाल अँधेरे की उपज होता है—सिर्फ़ यह बात अलग है कि सवाल छोटा हो तो वह एक बालक की तरह घुटुएँ-घुटुएँ चलता है, और रोता है, पर अगर बड़ा हो तो वह काली दीवारों को हाथों से टटोलता और उन से सिर पटकता है...

कोख के अँधेरे में मैं ने सिर्फ़ हाथ-पैर ही मारे होंगे, मैं ने तो घुटुएँ चलना भी गुफा के अँधेरे में सीखा था, और अब मेरे माथे की जवानी गुफा की दीवारों से सिर मार रही है...

अँधेरा उसी तरह है—सिर्फ़ सवाल बड़े हो गये हैं—मेरे अंगों की तरह...

आज गले में पहना हुआ ढीला-सा चोला भी मेरे अंगों में फँसता-सा लग रहा था...

अंगों की गोलाइयों में जैसे कुछ नोकें निकल आयी हों...

कई बरस हुए, जब एक स्कूल में पढ़ता था, एक दिन मेरा एक सहपाठी लड़का हँसी-खेल में मुझे एक लारी में बिठाकर पठानकोट ले गया था।

पठानकोट के खुले बाज़ारों में नहीं, सँकरी गलियों में। और वहाँ उन गलियों में औरतें ही औरतें थीं—छोटी-छोटी चाँदी की मुरकियाँ पहने, स्कूल में पढ़ती लड़कियों जैसी भी, और होंठों पर दन्दासा मलकर बैठी हुई बड़ी-बड़ी स्त्रियाँ भी, और दहलीज़ों में बैठकर हुक़्क़ा पीती बड़ी-बूढ़ियाँ भी।

कहीं कोई मर्द नहीं था। जैसे छोटी स्त्रियों को बड़ी स्त्रियों ने आप ही जन्म दिया हो।

हम दोनों लड़के, स्कूल में पढ़ती उम्र के, वहाँ खोये-खोये-से लगते थे—या गुल्ली-डण्डा खेलते अपनी खोयी हुई गुल्ली को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते, वहाँ, उन गलियों में

पहुँच गये लगते थे।

बूढ़ी स्त्रियाँ हुक़्क़े की गुड़गुड़ की तरह मुझे हँसती लगी थीं। अभी यह ख़ैर थी कि मेरे साथी ने लारी में चढ़ने से पहले मेरे गेरुए चोले को गले में से उतरवा-कर अपनी एक क़मीज़ और एक सफ़ेद पायजामा मुझे पहना दिया था। उस का बन्दोबस्त वह पहले ही करके आया था। सुबह घर से आते समय दोनों कपड़े अपने बस्ते में डाल लाया था।

वह उन औरतों का कुछ वाक़िफ़ भी लगता था। एक-दो को उस ने "माँ, राम सत" भी कही थी।

वे औरतें और उन के हुक़्क़े जैसे मिलकर गुड़गुड़ करने लगे थे।

मैं क़मीज़ की बाँह से शायद घड़ी-घड़ी माथे का पसीना पोंछ रहा था, उस ने एक घर के मुहारों में से गुज़रते हुए, मेरी बाँह को झटककर पकड़ लिया था, "ऐसे घबरायेगा तो तेरी वह लड़की भी तेरा मज़ाक उड़ायेगी।"

"मेरी...कौन ?"

अजीब शब्द था, शायद कहीं लग गया था, मेरी टाँगें काँपने लगी थीं। और फिर एक कोठरी-सी में पहुँचकर मैं हैरान-परेशान एक लकड़ी के तख़्तपोश पर बैठ गया था।

थोड़ी देर में दो लड़कियाँ आयीं—एक ने सिर पर लाल चुनरी ओढ़ रखी थी, और एक ने गहरे काशनी रंग की। लाल चुनरीवाली लड़की को मेरे दोस्त ने बाँह से पकड़कर अपने पास बिठा लिया। और काशनी चुनरीवाली ने आप ही मेरी बाँह पकड़ी और फिर मेरे पास तख़्तपोश पर बैठ गयी।

फिर जैसे मैं ने गाँजे का एक लम्बा-सा घूँट पी लिया हो—और मेरी साँस मेरे गले में अड़ गयी हो...

वह काशनी चुनरीवाली लड़की मेरी बाँह पकड़कर मुझे पता नहीं कौन-सी और कोठरी में ले गयी थी। मैं वहाँ एक तख़्तपोश पर निढाल-सा पड़ गया था। शायद अँधेरा बहुत था—या उस ने अपनी चुनरी सारी कोठरी में तान दी थी—मेरी आँखों के आगे काशनी रंग फैल गया था...

रंग काशनी भी था और गीला भी था...

मेरा बदन उस रंग में पता नहीं डूब रहा था कि तैर रहा था, पर मेरे बदन की सारी हड्डियाँ कसी हुई थीं, और मुझे लग रहा था जैसे मेरी सारी हड्डियाँ उस रंग में घुस रही हों...

कुछ पलों के लिए मुझे ऐसा लगा, जैसे मैं अपनी हड्डियों के ज़ोर से उस रंग को तोड़ सकता था...

पर रंग गीला था। मेरी हड्डियाँ उस रंग में फिसल रही थी...

और फिर मुझे लगा कि मैं रंग की किसी गहरी खाई में गिर पड़ा था। ऐसे

और लगता है—कोख में से निकलकर मैं सीधा मन्दिर की गुफ़ा में आ गया हूँ और गुफा पता नहीं कितने सौ मील लम्बी है !

हर सवाल अँधेरे की उपज होता है—सिर्फ़ यह बात अलग है कि सवाल छोटा हो तो वह एक बालक की तरह घुटुएँ-घुटुएँ चलता है, और रोता है, पर अगर बड़ा हो तो वह काली दीवारों को हाथों से टटोलता और उन से सिर पटकता है...

कोख के अँधेरे में मैं ने सिर्फ़ हाथ-पैर ही मारे होंगे, मैं ने तो घुटुएँ चलना भी गुफा के अँधेरे में सीखा था, और अब मेरे माथे की जवानी गुफा की दीवारों से सिर मार रही है...

अँधेरा उसी तरह है—सिर्फ़ सवाल बड़े हो गये हैं—मेरे अंगों की तरह...

आज गले में पहना हुआ ढीला-सा चोला भी मेरे अंगों में फँसता-सा लग रहा था...

अंगों की गोलाइयों में जैसे कुछ नोकें निकल आयी हों...

कई बरस हुए, जब एक स्कूल में पढ़ता था, एक दिन मेरा एक सहपाठी लड़का हँसी-खेल में मुझे एक लारी में बिठाकर पठानकोट ले गया था।

पठानकोट के खुले बाजारों में नहीं, सँकरी गलियों में। और वहाँ उन गलियों में औरतें ही औरतें थीं—छोटी-छोटी चाँदी की मुरकियाँ पहने, स्कूल में पढ़ती लड़कियों जैसी भी, और होंठों पर दन्दासा मलकर बैठी हुई बड़ी-बड़ी स्त्रियाँ भी, और दहलीज़ों में बैठकर हुक़्क़ा पीती बड़ी-बूढ़ियाँ भी।

कहीं कोई मर्द नहीं था। जैसे छोटी स्त्रियों को बड़ी स्त्रियों ने आप ही जन्म दिया हो।

हम दोनों लड़के, स्कूल में पढ़ती उम्र के, वहाँ खोये-खोये-से लगते थे—या गुल्ली-डण्डा खेलते अपनी खोयी हुई गुल्ली को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते, वहाँ, उन गलियों में

पहुँच गये लगते थे।

बूढ़ी स्त्रियाँ हुक़्क़े की गुड़गुड़ की तरह मुझे हँसती लगी थीं। अभी यह ख़ैर थी कि मेरे साथी ने लारी में चढ़ने से पहले मेरे गेरुए चोले को गले में से उतरवाकर अपनी एक क़मीज़ और एक सफ़ेद पायजामा मुझे पहना दिया था। उस का बन्दोबस्त वह पहले ही करके आया था। सुबह घर से आते समय दोनों कपड़े अपने बस्ते में डाल लाया था।

वह उन औरतों का कुछ वाक़िफ़ भी लगता था। एक-दो को उस ने "माँ, राम सत" भी कही थी।

वे औरतें और उन के हुक़्क़े जैसे मिलकर गुड़गुड़ करने लगे थे।

मैं क़मीज़ की बाँह से शायद घड़ी-घड़ी माथे का पसीना पोंछ रहा था, उस ने एक घर के मुहारों में से गुज़रते हुए, मेरी बाँह को झटककर पकड़ लिया था, "ऐसे घबरायेगा तो तेरी वह लड़की भी तेरा मज़ाक उड़ायेगी।"

"मेरी...कौन ?"

अजीब शब्द था, शायद कहीं लग गया था, मेरी टाँगें काँपने लगी थीं। और फिर एक कोठरी-सी में पहुँचकर मैं हैरान-परेशान एक लकड़ी के तख़्तपोश पर बैठ गया था।

थोड़ी देर में दो लड़कियाँ आयीं—एक ने सिर पर लाल चुनरी ओढ़ रखी थी, और एक ने गहरे काशनी रंग की। लाल चुनरीवाली लड़की को मेरे दोस्त ने बाँह से पकड़कर अपने पास बिठा लिया। और काशनी चुनरीवाली ने आप ही मेरी बाँह पकड़ी और फिर मेरे पास तख़्तपोश पर बैठ गयी।

फिर जैसे मैं ने गाँजे का एक लम्बा-सा घूंट पी लिया हो—और मेरी साँस मेरे गले में अड़ गयी हो...

वह काशनी चुनरीवाली लड़की मेरी बाँह पकड़कर मुझे पता नहीं कौन-सी और कोठरी में ले गयी थी। मैं वहाँ एक तख़्तपोश पर निढाल-सा पड़ गया था। शायद अँधेरा बहुत था—या उस ने अपनी चुनरी सारी कोठरी में तान दी थी—मेरी आँखों के आगे काशनी रंग फैल गया था...

रंग काशनी भी था और गीला भी था...

मेरा बदन उस रंग में पता नहीं डूब रहा था कि तैर रहा था, पर मेरे बदन की सारी हड्डियाँ कसी हुई थीं, और मुझे लग रहा था जैसे मेरी सारी हड्डियाँ उस रंग में घुस रही हों...

कुछ पलों के लिए मुझे ऐसा लगा, जैसे मैं अपनी हड्डियों के ज़ोर से उस रंग को तोड़ सकता था...

पर रंग गीला था। मेरी हड्डियाँ उस रंग में फिसल रही थी...

और फिर मुझे लगा कि मैं रंग की किसी गहरी खाई में गिर पड़ा था। ऐसे

ज़ोर से गिरा था कि शायद मेरे सारे अंग टूट गये थे...

अपना आप मांस के एक ढेर की तरह लग रहा था।

फिर मांस के ढेर में से मुझे एक अजीब-सी बू आयी ।

बू से मेरे सिर को एक चक्कर-सा आया। एक चेतनता-सी भी हुई, कि मैं ने सारा ज़ोर लगाकर, जहाँ पै गिरा हुआ था, वहाँ से उठना चाहा...

उठने के लिए मैं ने हाथ मारे—मेरे हाथों को बड़ा कुछ छुआ—मांस के अजीब-अजीब टुकड़े बहुत छोटे होंठों जैसे भी, और बहुत पतले उँगलियों जैसे भी।

और बड़े गोल टुकड़े, जिन्हें हाथ लगाने पर मेरे हाथ काँप गये थे।

काशनी रंग अब पानी की तरह पतला नहीं था, गाढ़ा होकर जम रहा था।

और फिर वह रंग जब बहुत जम गया, हँसने लगा।

मैं ने जल्दी-जल्दी अपने कपड़े गले में पहन लिये—शायद उस की हँसी से घबरा गया था।

यह सिर्फ़ बाहर रोशनी में आकर देखा था कि मैं ने पायजामा उलटा पहन लिया था।

इस बात को बहुत साल हो गये हैं, जब भी सोचा, अच्छी नहीं लगी।

कई बार यह भी सोचना चाहा कि यह मैं नहीं था, मेरे दोस्त का सिर्फ़ क़मीज़-पायजामा था, जो लारी में बैठकर वहाँ गया था; पर वह क़मीज़-पायजामा गले से उतारकर भी सारे कुछ का दोष गले से नहीं उतार सका था।

फिर यह भी सोचना चाहा था कि इस में इतना दोष नहीं था। दोष सिर्फ़ संस्कारों में था। तो भी इस को दोहराने का कभी ख़याल नहीं आया था।

यह ख़याल सिर्फ़ आज आया था। आज गले में पहना हुआ ढीला चोला भी अंगों से अटकता लग रहा था। अंगों की गोलाइयों में जैसे कुछ नोकें निकल आयी हों।

और मुझे लगा—आज मेरी हड्डियाँ किसी बौराये हुए बैल के सींगों की तरह तनी हुई हैं, जो किसी के पहलू में धँसना चाहती थीं...

गाँव से बहुत दूर जाकर, गेरुए चोले को उतार दिया। कपड़े की एक पोटली-सी बाँधकर साथ ले गया था—धारीदार पायजामा, लकीरोंवाली क़मीज़ और सिर पर लपेटने के लिए एक लम्बा-सा अँगोछा...

भेष बदल गया। लारी में बैठकर सोचा कि वह मैं नहीं था, वह एक भेष लारी में बैठा हुआ था...

पर वहाँ पहुँचकर, किसी सँकरी गली की तंग कोठरी में बैठकर, जब किसी लाल या काशनी रंग में डूबना चाहा, उस के किनारे पर ही पैर अड़ गये।

अंगों का सारा तनाव जैसे अंगों से निकलकर पैरों में आ गया था। पैर जम-

कर खड़े हो गये।

पैरों को देखना चाहा, दिखे नहीं। वह काल्पनिक फूलों के ढेर में छिपे हुए थे।

"तू यह फूल क्यों लायी है ?" शायद मैं ने वहुत ग़ुस्से से कहा था।

कोठरी में से एक सहमी-सी आवाज़ आयी थी—"फूल कहाँ हैं ? यहाँ कोई फूल नहीं। मैं कोई फूल नहीं लायी हूँ।"

पर वहाँ फूलों का एक ढेर लगा हुआ था—इतना बड़ा कि मेरे दोनों पैर उस में ढके हुए थे। मैं न अपने पैरों को देख सकता था, न हिला सकता था।

किसी ने उस कोठरी में मेरी सहायता भी करनी चाही थी, मेरी बाँह पकड़-कर मुझे वहाँ से हिलाना चाहा था, शायद बैठाना चाहा था, शायद कहीं ले जाना चाहा था...

पर दोनों पैरों के ऊपर कोई हथेलियाँ भी छू रही थीं...

और पैर उन हथेलियों की छुअन से शायद मूच्छित हो गये थे...

मूच्छित पैरों को शायद आगे नहीं बढ़ा सकता था, पर पीछे घसीट सकता था।

घसीट-घसाटकर फिर अपने डेरे में लौट आया हूँ।

अंगों की गोलाइयों से सभी नोकें झड़ गयी हैं और मेरा गेरुआ चोला सहम-कर मेरे गले से लगा हुआ है।

सारा बदन सूखा है—किसी रंग में नहीं डूबा। और शायद इसी सूखेपन को पवित्रता कहते हैं...

पर पैर सीले हैं। शायद बहुत देर गीले फूलों के ढेर में पड़े रहे थे, इस-लिए।

या शायद पैरों की आँखों में आँसू आ गये हैं...

सुन्दरा...सुन्दरा...जादूगरनी ! आज तू ने यह मेरे साथ क्या किया है ?

यह 'क्या' मेरी देह से बाहर है, पर फिर भी मेरी देह के अन्दर है...

स्कन्दपुराण में क्या कथा आती है कि सूरज की एक पुत्री छाया के गर्भ से पैदा हुई। क्या सूरज के भोग के समय भी छाया का अस्तित्व क़ायम रहा था ? ज़रूर रहा होगा, नहीं तो उस का नाम छाया कैसे होता।

तो सूरज के सम्मुख होकर भी छाया का अस्तित्व सम्भव है ? मैं ने सुन्दरा को त्यागा था, पर उस का अस्तित्व इस त्याग के सामने भी खड़ा है...

कुछ रिश्ते कैसे होते हैं, जो हर हाल में रहते हैं। स्वीकृति में से जन्मते, क़ायम रहते, ठीक था। पर यह अस्वीकृति में से भी जन्म ले लेते हैं, और सिर्फ़ जन्म नहीं लेते, इनसान की उम्र के साथ भी जीते हैं, और उम्र के बाद भी जीते हैं...

ब्रह्मवैवर्त पुराण की एक कथा याद आयी है—विष्णु को शंखचूड़ की स्त्री तुलसी का सत भंग करना था, इसलिए एक दिन उस ने शंखचूड़ का रूप धारण किया और तुलसी के साथ भोग किया। तुलसी को जब इस छल का पता लगा, उस ने विष्णु को शाप दिया कि वह पत्थर हो जायेगा। विष्णु ने भी उसे शाप दिया कि उस के सिर के बाल तुलसी का पौधा बन जायेंगे। और उस का शरीर गण्डका नदी बन जायेगा। गण्डका नदी में से अब तक जो पत्थर मिलते हैं, वे विष्णु का रूप हैं—शालग्राम। वह रिश्ता अब तक क़ायम है। यहाँ तक कि लोग कार्तिक की अमावस को तुलसी की पूजा करते, तुलसी के पौधे का और शालग्राम का विवाह रचाते हैं...

यह कैसे शाप थे जिन्होंने वर का रूप धारण कर लिया ? सुन्दरा का त्याग पता नहीं वर था, कि शाप ! पर जो कुछ भी था, वह क़ायम है। मेरी देह से बाहर हैं, पर फिर भी मेरी देह के अन्दर है...

शायद वरदान और शाप भी सूरज और छाया की तरह एक ही समय, एक ही जगह, इकट्ठे रह सकते हैं...

पृथ्वी का नाम, जिस राजा पृथु के नाम से पड़ा, उस का जन्म उसके मरे हुए पिता वेणु की दायीं जाँघ में से हुआ था—वेणु धार्मिक राजा नहीं था, इस लिए ऋषियों ने कुश के तिनकों से मार-मारकर उसे मार दिया, पर राज-काज के लिए आख़िर किसी की ज़रूरत थी, इस लिए मरे हुए वेणु की एक जाँघ को मलना शुरू किया। पर उस जाँघ में से जिस बालक ने जन्म लिया वह बहुत भयानक शक्ल का था, उस को राज्य नहीं सौंपा जा सकता था। इस लिए ऋषियों ने फिर मरे हुए राजा की दायीं जाँघ को मलना शुरू किया। इस दायीं जाँघ में से एक प्रकाश से चमकते बालक ने जन्म लिया, वही बालक पृथु था...

इनसान की एक जाँघ में यदि भयानकता वास करती है तो दूसरी जाँघ में अनन्त सौन्दर्य। ख़ून के एक ही चक्कर में वर भी, शाप भी...

सुन्दरा कहीं नहीं, पर है...

मन्दिर के पासवाले जंगल के पिछवाड़ेवाली खड्ड आज धुन्ध से नाकों-नाक भरी हुई है। धुन्ध इतनी गाढ़ी और जमी हुई लगती है, लगता है—अगर मैं उस पर पैर रखकर चलूँ, तो अडोल खड्ड के परली तरफ़ पहुँच सकता हूँ।

पेड़ों की काली, नीली और हरी परछाइयाँ खड्ड की धुन्ध पर बड़ी स्थिरता से लेटी हुई हैं। सिर्फ़ किसी-किसी वक़्त हिलती और करवट लेती-सी लगती हैं।

पिछले दिनों एक यात्री यहाँ आया था। पता नहीं, कौन था? सिर्फ़ एक रात का बसेरा करके, आगे कुल्लू की पहाड़ियों की तरफ़ चला गया। कहता था फिर वापसी पर आऊँगा। अभी आया नहीं, पर आयेगा, क्योंकि भार हलका करने के लिए किताबों का एक गट्ठर अमानत छोड़ गया है।

सिर्फ़ यही नहीं, अपनी याद भी छोड़ गया है, आज बार-बार उस की याद आ रही है।

जिस दिन आया था, उस दिन दूर-पास कहीं धुन्ध नहीं थी; पर जब मैं ने उसे पूछा कि वह किस शहर से आया था, तो उस ने हँसकर कहा था, "धुन्ध-वाले शहर से।"

पूछा था कि वह शहर कहाँ है, तो हँस पड़ा था—"हर शहर धुन्धवाला शहर है," और उस ने ज़रा ठहरकर कहा था, "हमारी दुनिया में वह कौन-सा शहर है, जो धुन्धवाला शहर नहीं।"

मैं ने चारों तरफ़ देखा था, और दूर धौलाधार की पहाड़ियों की तरफ़ भी। वह मेरे प्रश्न को समझकर हँस पड़ा था, और उस ने कहा था, "पत्थर हर जगह दिखते हैं, पर इस धुन्ध में इनसान को इनसान का मुँह नहीं दिखता।"

मैं ने एक बार उस की तरफ़ देखा था, फिर अपनी तरफ़, जैसे पूछ रहा होऊँ, 'क्या तुझे मेरा मुँह नहीं दिखता?'

वह कुछ देर चुप रहा था, फिर धीरे से उस ने कहा था, "जो मैं यह कहूँ कि मुझे तेरा मुँह नहीं दिखता, सिर्फ़ तेरा जोगिया वेश दिखता है, फिर?"

मुझे यह लालच नहीं था कि मेरा मुँह उसे दिखे, और इस मुँह के पीछे 'मैं'

हूँ वह भी उस को नज़र आऊँ, इस लिए मैं ने भी हँसकर कह दिया, "चलो, मुँह की पहचान न सही, जोगिये वेश की ही सही, क्या यह पहचान के लिए काफ़ी नहीं है?"

"जिस हिसाब से दुनिया चल रही है, उस हिसाब से काफ़ी है," उस ने कहा था, और बरामदे के एक कोने में कम्बल बिछाकर चुपचाप लेट गया था।

शाम का हलका-सा अँधेरा था, देख सकता था कि अभी वह सोया नहीं था। उस के हाथ के पास एक दीया, और एक पानी का कटोरा रखकर, एक बार ग़ौर से उस के मुँह की तरफ़ देखा था। मुँह के बारे में कुछ और नहीं सोच रहा था, सिर्फ़ यह कि आज तक के देखे हुए चेहरों में वह कुछ अलग-सा लग रहा था, और उसे कुछ घड़ियों के लिए मैं अपने ध्यान में रखना चाहता था—जैसे कोई विलक्षण फूल तोड़कर कुछ घड़ियों के लिए उसे अपने सिरहाने के पास रख ले।

पीठ मोड़ने लगा था, जिस वक़्त उस ने कहा था, "जोगिये वेशवाली बात का ग़ुस्सा मत करना, दोस्त!"

हँसी आ गयी थी, इस लिए जवाब दिया था, "जोगिये वेश को तो ग़ुस्सा शोभा नहीं देता," पर साथ ही ध्यान आया था कि वह ऋषियों की ज़बान ही होती थी, जो बात-बात में क्रोधित हो उठती थी और शाप दे देती थी।

इस लिए एक गहरी साँस लेकर यह भी कह दिया, "क्रोध करेगा तो जोगिया वेश क्रोध करेगा, मैं क्यों करूँगा?"

वह कन्धों पर तानी हुई गरम चादर को, हाथ से परे करके, कम्बल पर बैठ गया, और कहने लगा, "यह बात तू ने बढ़िया कही है। ख़ुश होते हैं तो वेश ही ख़ुश होते हैं, क्रोध करते हैं तो वेश ही क्रोध करते हैं, इनसान हैं ही कहाँ? अगर कहीं हैं भी तो मुझे तो धुन्ध में दिखते नहीं..."

फिर वह खिलखिलाकर हँस पड़ा और कहने लगा, "सारी दुनिया कपड़ों में बँटी हुई है, वेशों में—फटे हुए चीथड़ोंवाले कामकाजी मज़दूर, अधमैले कपड़ोंवाले छोटे-छोटे दुकानदार, चमकते कपड़ोंवाले बड़े-बड़े दुनियादार..." और मेरा हाथ पकड़कर मुझे भी अपने कम्बल पर बिठाते हुए कहने लगा, "और कमख्वाब पहननेवाले राजा और मन्त्री, इस लोक के रक्षक और गेरुए वेशोंवाले परलोक के रक्षक।"

मेरे कन्धे पर उस ने ज़ोर से एक हाथ मारा और फिर कहा, "और तो और, धरती के टुकड़े भी वेशों से ही पहचाने जाते हैं—अपने-अपने झण्डों से। और उन धरती के टुकड़ों की रखवाली भी इनसान नहीं करते, वर्दियाँ करती हैं...अगर इनसान कहीं होते, तो लड़ाइयों की क्या ज़रूरत थी...भला कहीं सचमुच का इनसान सचमुच के इनसान को मार सकता है?...यह सब वर्दियों और वेशों की लड़ाई है, झण्डों की लड़ाई..." उसे एक साँस-सी चढ़ गयी थी। जैसे साँस बहुत

बड़ी थी और छाती बहुत छोटी थी। और लग रहा था—कपड़ों का वेश तो क्या, उस की रूह को उस के बदन का वेश भी तंग लग रहा था...

"तू कोई भगवान् को पहुँचा हुआ इनसान लगता है," मैं ने उस की पीठ पर थपकी-सी मारी थी, और उस के कन्धों से उतरी हुई चादर उस के कन्धों पर ओढ़ा दी थी।

वह हँसा नहीं, बल्कि कुछ उदासीन-सा हो गया और कहने लगा, "भगवान् के पास तो किसी फ़ुरसत के वक़्त पहुँच लेंगे। पहले अपने आप के पास पहुँच लें ...इस धुन्ध में भगवान् तो क्या दिखना है, अभी किसी को अपना मुँह भी नहीं दिखता..."

कुछ कहने के लिए मचल-सा गया था। मैं नहीं, शायद मेरा गेरुआ वेश मचल गया था। पर अपने वेश को मैं ने स्वयं ही चुप-सा करवाया, और वहाँ से उठ बैठा।

सुबह मक्की की रोटी और गुड़ की डली मैं ने जब उस को जाते हुए उस के पल्ले से बाँध दी, उस ने अपनी गठरी-पोटली को ज़रा हाथ से तोला, और फिर कुछ किताबों का भार उस से हलका करके, गठरी और पोटली उठा ली।

"यह मेरी अमानत। फिर जब इस राह से गुज़रूँगा, ले लूँगा," उस ने कहा था।

"पर जो सीने में डाला हुआ है और मस्तक में भी, वह भी तो बहुत भारी है," मुझे हँसी-सी आ गयी थी।

"उसे ढोने के लिए ही तो इस शरीर की जरूरत है, नहीं तो यह शरीर क्यों सँभाले फिरना था।" वह हँस पड़ा था।

बहुत-से यात्री आते हैं जाते हैं। पर जो भी आते हैं, मन्दिर की नदी में से पानी के चुल्लू भरते, जैसे नदी को कुछ रीता ही करते हैं। पर वह जब हँसा था, मुझे लगा—उस की झरने जैसी हँसी नदी के पानी में मिलकर, नदी को और भर गयी थी।

कहा कुछ नहीं, सिर्फ़ जाते समय यह पूछा, "इन पुस्तकों को बाँचने का हक़ वर्जित तो नहीं ?"

उस के, जाते हुए के, पाँव पल भर को ठहर गये थे। उस ने ग़ौर से मेरे मुँह की तरफ़ देखा था—जैसे किसी धुन्ध की तह में से मेरे मुँह को ढूँढ़ रहा हो।

"ज्ञान को धारण करना, शिवजी की तरह गंगा को धारण करने के बराबर है," उस ने कहा और मुसकरा दिया।

"पुराणों में गंगा के बारे में जो प्रसंग आते हैं, उन की जगह, जो तेरा यह कथन प्रसंग बनकर आता तो बहुत अच्छा था।" अनायास ही मेरे मुँह से निकला।

"पुराणों में क्या प्रसंग आते हैं ?" उस ने पूछा ।

"कई आते हैं," मैं ने जवाब दिया, "जिन में से एक यह है कि यह वामन अवतार के पैरों का जल है । जब वामन का पैर ब्रह्मलोक तक पहुँचा, तब ब्रह्मा ने उस का पैर धोकर उस को कमण्डल ने डाल लिया, और भगीरथ की प्रार्थना पर ब्रह्मलोक से छोड़ दिया । शिवजी ने उस जल को जटाओं में सँभाल लिया, और फिर जटा खोलकर उस जल को पृथ्वी पर छोड़ा तो वही जल 'गंगा' कहलाया ।"

"और ?" उस ने फिर पूछा ।

"और वाल्मीकीय रामायण में आता है कि हिमालय पर्वत के घर मेनका के उदर से गंगा और उमा दो बहनें पैदा हुईं । एक बार शिव ने अपना वीर्य गंगा में डाल दिया । गंगा उसे धारण न कर सकी, और गर्भ को फेंककर ब्रह्मा के कमण्डल में जा रही । फिर भगीरथ की प्रार्थना पर कमण्डल से निकलकर पृथ्वी पर आयी..."

"काफ़ी दिलचस्प कहानियाँ हैं ।" वह ज़ोर से हँसा, और कहने लगा, "शायद इन कहानियों में ही गंगा को ज्ञान का चिह्न कहा गया है..."

"गंगा को कि शिवजी के वीर्य को, जिसे गंगा धारण न कर सकी ? किसी ज्ञान को गर्भ में धारण कर सकना ही तो मुश्किल था..."

मैं ने जब कहा तो हम दोनों इस तरह हँसे, जैसे हम दोनों स्पष्टता और अस्पष्टता के बीच में खड़े बड़े खोये हुए लग रहे थे ।

यह बात अलग है कि दूसरे पल वह चला गया, और उस के जाने के बाद भी मैं कितनी ही देर तक वहाँ खड़ा रहा ।

उस दिन धुन्ध नहीं थी, पर आज मन्दिर के पासवाले जंगल के पिछबाड़े खड्ड में धुन्ध भरी हुई है...

वैसे जिस धुन्ध की बात उस ने की थी, वह उस दिन भी थी, आज भी है, और शायद हमेशा होगी...

सिर्फ यह कह सकता हूँ कि आज धुन्ध दोहरी है...

पर यह दोहरी धुन्ध पता नहीं कैसी है—गाढ़ी, सफ़ेद, और बर्फ़ की तरह जमी हुई—कि पेड़ों की काली, नीली और हरी परछाइयों की तरह । किसी के यहाँ होने की परछाईं भी इस पर अडोल पड़ी लगती है...

यह पता नहीं मेरे वजूद की परछाईं है, कि उस यात्री के रूप में किसी ज्ञान के वजूद की परछाईं...

आज लगता है—उस यात्री को मैं ने बहुत नज़दीक से देखा है। उसे भी और अपने आप को भी।

उस की अमानत किताबों में से एक किताब मैं ने पढ़ी, किताब का हर पन्ना जैसे शीशे का एक टुकड़ा था। प्रत्यक्ष अपनी सूरत भी नज़र आती रही, और अपनी कल्पना में पड़ी हुई उस यात्री की सूरत भी।

आम शीशे में और किसी रचना के शीशे में शायद यही अन्तर होता है...

किताबवाली कहानी का पात्र जापान का कोई स्कूल मास्टर है, एक दिन अगस्त के महीने में वह अलोप हो जाता है, सब को यही पता है कि वह समुद्र के किनारे छुट्टियाँ मनाने गया है। उस शहर से समुद्र का किनारा सिर्फ़ आधे दिन के सफ़र के फ़ासले पर है। और फिर उस की कोई ख़बर नहीं मिलती। अख़बार के द्वारा भी उस की पड़ताल होती है, और पुलिस द्वारा भी, पर कोई सुराग़ नहीं मिलता।

लोगों का सब से पहला ख़याल जिस बात पर जाता है, उस बात का सिरा सिर्फ़ औरत से जुड़ता है। पर उस की बीवी लोगों को यक़ीन दिलाती है कि लोगों की कल्पना की औरत कहीं कोई नहीं। इस लिए वह सिरा उस कल्पना से भी खुल जाता है, और सिर्फ़ हवा में लटकता रह जाता है।

इतना-सा सब को पता है कि वह जब समुद्र के सफ़र के लिए घर से निकला था, उस के हाथ में एक ख़ाली बोतल थी, और एक छोटा-सा जाल। कीड़ों की नयी क़िस्में ढूँढ़ने में उस आदमी की दिलचस्पी थी। इस लिए एक ख़ाली बोतल और एक छोटा-सा जाल ही उस के हथियार हो सकते थे।

और फिर जब गुमशुदा आदमी को खोये हुए सात बरस गुजर जाते हैं तो सिविल कोड के सेक्शन तीस के मुताबिक़ उसे मृत कह दिया जाता है।

पर मौत के जाने-पहचाने अर्थों से अलग भी मौत के अर्थ होते हैं...वह समुद्र के पास एक गाँव में पहुँचकर जब गाँव की ख़त्म होती सीमा से आगे बढ़ता है—धरती उसे सफ़ेद-सी और बिलकुल सूखी-सी नज़र आती है। वह वीरानगी फिर

"पुराणों में क्या प्रसंग आते हैं ?" उस ने पूछा ।

"कई आते हैं," मैं ने जवाब दिया, "जिन में से एक यह है कि यह वामन अवतार के पैरों का जल है । जब वामन का पैर ब्रह्मलोक तक पहुँचा, तब ब्रह्मा ने उस का पैर धोकर उस को कमण्डल ने डाल लिया, और भगीरथ की प्रार्थना पर ब्रह्मलोक से छोड़ दिया । शिवजी ने उस जल को जटाओं में सँभाल लिया, और फिर जटा खोलकर उस जल को पृथ्वी पर छोड़ा तो वही जल 'गंगा' कह-लाया ।"

"और ?" उस ने फिर पूछा ।

"और वाल्मीकीय रामायण में आता है कि हिमालय पर्वत के घर मेनका के उदर से गंगा और उमा दो बहनें पैदा हुईं । एक बार शिव ने अपना वीर्य गंगा में डाल दिया । गंगा उसे धारण न कर सकी, और गर्भ को फेंककर ब्रह्मा के कमण्डल में जा रही । फिर भगीरथ की प्रार्थना पर कमण्डल से निकलकर पृथ्वी पर आयी..."

"काफ़ी दिलचस्प कहानियाँ हैं ।" वह ज़ोर से हँसा, और कहने लगा, "शायद इन कहानियों में ही गंगा को ज्ञान का चिह्न कहा गया है..."

"गंगा को कि शिवजी के वीर्य को, जिसे गंगा धारण न कर सकी ? किसी ज्ञान को गर्भ में धारण कर सकना ही तो मुश्किल था..."

मैं ने जब कहा तो हम दोनों इस तरह हँसे, जैसे हम दोनों स्पष्टता और अस्पष्टता के बीच में खड़े बड़े खोये हुए लग रहे थे ।

यह बात अलग है कि दूसरे पल वह चला गया, और उस के जाने के बाद भी मैं कितनी ही देर तक वहाँ खड़ा रहा ।

उस दिन धुन्ध नहीं थी, पर आज मन्दिर के पासवाले जंगल के पिछबाड़े खड्ड में धुन्ध भरी हुई है...

वैसे जिस धुन्ध की बात उस ने की थी, वह उस दिन भी थी, आज भी है, और शायद हमेशा होगी...

सिर्फ यह कह सकता हूँ कि आज धुन्ध दोहरी है...

पर यह दोहरी धुन्ध पता नहीं कैसी है—गाढ़ी, सफ़ेद, और बर्फ़ की तरह जमी हुई—कि पेड़ों की काली, नीली और हरी परछाइयों की तरह । किसी के यहाँ होने की परछाईं भी इस पर अडोल पड़ी लगती है...

यह पता नहीं मेरे वजूद की परछाईं है, कि उस यात्री के रूप में किसी ज्ञान के वजूद की परछाईं...

आज लगता है—उस यात्री को मैं ने बहुत नज़दीक से देखा है। उसे भी और अपने आप को भी।

उस की अमानत किताबों में से एक किताब मैं ने पढ़ी, किताब का हर पन्ना जैसे शीशे का एक टुकड़ा था। प्रत्यक्ष अपनी सूरत भी नज़र आती रही, और अपनी कल्पना में पड़ी हुई उस यात्री की सूरत भी।

आम शीशे में और किसी रचना के शीशे में शायद यही अन्तर होता है...

किताबवाली कहानी का पात्र जापान का कोई स्कूल मास्टर है, एक दिन अगस्त के महीने में वह अलोप हो जाता है, सब को यही पता है कि वह समुद्र के किनारे छुट्टियाँ मनाने गया है। उस शहर से समुद्र का किनारा सिर्फ़ आधे दिन के सफ़र के फ़ासले पर है। और फिर उस की कोई ख़बर नहीं मिलती। अख़बार के द्वारा भी उस की पड़ताल होती है, और पुलिस द्वारा भी, पर कोई सुराग़ नहीं मिलता।

लोगों का सब से पहला ख़याल जिस बात पर जाता है, उस बात का सिरा सिर्फ़ औरत से जुड़ता है। पर उस की बीवी लोगों को यक़ीन दिलाती है कि लोगों की कल्पना की औरत कहीं कोई नहीं। इस लिए वह सिरा उस कल्पना से भी खुल जाता है, और सिर्फ़ हवा में लटकता रह जाता है।

इतना-सा सब को पता है कि वह जब समुद्र के सफ़र के लिए घर से निकला था, उस के हाथ में एक ख़ाली बोतल थी, और एक छोटा-सा जाल। कीड़ों की नयी क़िस्में ढूँढ़ने में उस आदमी की दिलचस्पी थी। इस लिए एक ख़ाली बोतल और एक छोटा-सा जाल ही उस के हथियार हो सकते थे।

और फिर जब गुमशुदा आदमी को खोये हुए सात बरस गुजर जाते हैं तो सिविल कोड के सेक्शन तीस के मुताबिक़ उसे मृत कह दिया जाता है।

पर मौत के जाने-पहचाने अर्थों से अलग भी मौत के अर्थ होते हैं...वह समुद्र के पास एक गाँव में पहुँचकर जब गाँव की ख़त्म होती सीमा से आगे बढ़ता है—धरती उसे सफ़ेद-सी और बिलकुल सूखी-सी नज़र आती है। वह वीरानगी फिर

रेतीली ज़मीन बन जाती है। पर रेत में समुद्र की गन्ध मिली होती है, इस लिए वह माथे का पसीना पोंछकर चलता जाता है। फिर एक बहुत ही अकेला-सा गाँव उसे दिखता है—आलुओं की कुछ खेती हुई भी दिखती है, पर सफ़ेद रेत का प्रसार फिर भी ख़त्म नहीं होता लगता। और एक अजीब बात यह कि रेत की सड़क क़दम-बक़दम ऊँची होती जाती है—हालाँकि समुद्र की तरफ जाती सड़क क़दम-बक़दम नीची होती जानी चाहिए थी। वह एक बार जेब में डाला हुआ नक़्शा खोलकर देखता है, राह जाती हुई एक लड़की को कुछ पूछता है, पर जवाब नहीं मिलता। किसी-किसी जगह सीपियों के ढेर और मछलियाँ पकड़ने के जाल दिखते हैं, वह उन से भी एक तसल्ली-सी ढूँढ़ता है, और चलता जाता है। और फिर एक और अजीब बात कि सड़क के आसपास बने घर सड़क से ऊँचे होने चाहिए थे, पर वह दोनों तरफ़ सड़क से नीचे हैं—रेत के अम्बारों में डूबे हुए। और फिर अचानक आती एक उतराई के बाद उसे झागों-झाग समुद्र दिखाई देने लगता है। यहाँ रेतों के डब्बों पर ही उसे ग़ैरमामूली कीड़े ढूँढ़ने थे।

रेत का हिलता प्रसार उसे बड़ा दिलचस्प लगता है—सरकता, रेंगता, जैसे कोई जीती-जागती और बेचैन रूह हो।

रेत उस के पैरों के नीचे भी हिलती है, और उस के पैर चौंककर रेत के क़ानून की ओर देखते हैं :

कुछ बूढ़े आदमी कुछ घबराये हुए-से उसे सरकारी आदमी समझते हैं, पर वह विश्वास दिलाता है, कि वह एक साधारण स्कूल मास्टर है। रात बिताने के लिए वह कोई जगह पूछता है तो एक जना उसे मदद का विश्वास दिलाता है। शाम ढल जाती है। उसे कीड़ों की कोई ख़ास क़िस्म नहीं मिलती, और वह थक-कर अपनी तलाश कल पर छोड़ देता है।

रात बिताने के नाम पर उसे सड़क पर उतरती एक गहरी खाई में बना हुआ एक घर मिलता है। रस्सी की मदद से वह घर की छत पर उतरता है। घर का रास्ता दिखाने आया हुआ बूढ़ा लौट जाता है। वह घर की छत पर ढेर सारी गिरती रेत को देखकर परेशान होता है, पर यह तजरबा सिर्फ़ एक रात का सोचकर वह धीरज बाँध लेता है।

रस्सी को घर की छत तक लटकाते समय बूढ़े ने आवाज़ दी थी—"नानी, किवाड़ खोलो!" पर यह यात्री घर की दहलीज़ पर जिस औरत को देखता है, उसकी जवानी अभी ढली नहीं होती। हाथ में लालटेन पकड़े वह उस का स्वागत करती है।

"इस कोठरी में एक ही लालटेन है, अगर तू अँधेरे में बैठ सके, तो मैं पिछ-वाड़े बैठकर तेरे लिए कुछ राँध लूँ," औरत कहती है।

"मैं कुछ खाने से पहले नहाना चाहता हूँ," वह जवाब देता है।

औरत हैरान-सी होती है, फिर कहती है, "जो तू परसों तक इन्तज़ार कर सके, नहाने का इन्तज़ाम हो जायेगा।"

"पर मैं ने यहाँ सिर्फ़ एक रात रहना है..." वह जवाब देता है, और हैरान होता है कि औरत ने उस की बात सुनी-अनसुनी कर दी है।

खाने के लिए उसे मछली का सूप मिलता है, पर औरत जब उस की थाली पर कागज़ की छतरी तानती है, वह हैरान होता है, तो वह बताती है कि यहाँ रेत इस तरह उड़ती है कि अभी सूप का प्याला छतरी के बिना रेत के कणों से भर जायेगा। और वह बताती है कि हवा का रुख़ जो इस ओर हो तो सारी रात उसे छत पर से रेत उकेरनी पड़ती है, नहीं तो दूसरे दिन तक सारी कोठरी रेत में दब ही सकती है।

उस का बदन थोड़ी देर में चिपचिपा हो जाता है, और उड़ती रेत, उस के गले में, नाक में और आँखों में, एक तह की तरह जमने लगती है।

दूसरे दिन सवेरे-सवेरे बाहर दूर से बहुत ऊँचाई से आवाज़ आती है, और रस्सी से एक आदमी के लिए नहीं, दो आदमियों के लिए कुछ खाने का सामान नीचे उतार दिया जाता है। अजीब-से शक उस की आँखों के आगे रेत के कणों की तरह घूमते हैं, पर उस की समझ में कुछ नहीं पड़ता। औरत लगातार एक फावड़े से दरवाज़े के सामने से रेत को हटाने में लगी हुई है।

"मैं तेरा हाथ बटाऊँ ?" वह औरत से पूछता है।

पर औरत जवाब देती है, "पहले दिन ही तुझे इतनी तकलीफ़ दूँ ? नहीं, पहले दिन नहीं—" वह परेशान होता है, फिर भी उस के हाथ से फावड़ा पकड़-कर उस की मदद करना चाहता है। औरत कहती है, "अच्छा, जो तुझे आज ही काम पर लगना है तो तेरे हिस्से का फावड़ा उन्होंने भेज दिया है, वह ले ले।"

"वह कौन ?" अजीब परेशानी है। वह वहाँ से उलटे पाँव ही चला जाना चाहता है: पर बाहर की सड़क तक पहुँचने के लिए रेत की चढ़ाई किसी तरह भी पार नहीं की जा सकती...

वह रेत का क़ैदी होकर रह जाता है...

गाँव के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए सारी रात रेत को बुहारने का काम ज़रूरी है, और इस काम के मज़दूर सिर्फ़ रेत बुहारते हैं। और उस के बदले गाँव के मुखिया उन्हें सूखी मछली, कुछ आटा और कुछ पानी रस्सियों से उतारकर, उन तक पहुँचा देते हैं...

"इस का मतलब है कि तुम कुछ लोग सिर्फ़ रेत बुहारने के लिए जीते हो ?" वह परेशान होकर पूछता है।

"हाँ, सिर्फ़ रेत बुहारने के लिए। यह गाँव तभी बना रह सकता है। जो हम यह काम छोड़ दें तो दस दिनों में सारा गाँव रेत के नीचे दब जायेगा—" औरत

बताती है, और उस का दार्शनिक मन सोचता है कि रेत के इस क़ानून के आगे शायद कुछ भी नहीं हो सकता। बड़ी-बड़ी बादशाहतें भी वक़्त की रेत में दब जाती हैं—पर अस्तित्व क्या है ? शायद पानी के अथाह सागर में पानी को बुहार-बुहारकर एक निश्चल स्थान बनाने का यत्न...

उस की निराशा उस के गले में अटक जाती है, वह रेत की दीवार पर चढ़कर रेत की इस क़ब्र में से निकल जाना चाहता है पर...

इस 'पर' का जवाब कहीं नहीं...

"उन्होंने मुझे, यहाँ, तेरे पास, रेत का क़ैदी क्यों बनाया?" वह हारकर कुछ दिनों बाद उस औरत से पूछता है।

"इस लिए कि मैं अकेली थी, यहाँ मुझे रेत भी खा जाती, और अकेलापन भी," औरत बताती है।

"पर उन्होंने मुझे कोई कुत्ता या बिल्ली समझ लिया था कि जो भी औरत मेरे सामने आ जायेगी..." वह ग़ुस्से में खौल जाता है।

पर ग़ुस्सा भी आख़िर रेत की तरह नाड़ियों में जम जाता है। जब समय ग़ुज़रने लगता है तो उस के जिस्म की निराश भूख़ उसी औरत के जिस्म में से हड़बड़ाकर कुछ माँगती है...

कोई चीज़ मजबूर करती नहीं लगती, सिर्फ़ रेत...औरत पर आया हुआ उस का ग़ुस्सा आख़िर रेत के कणों की तरह रेत में मिल जाता है...

वह रेत की क़ब्र में हैं, पर फिर भी रेत बुहारता है...

फिर और कुछ नहीं, सिर्फ़ साँसों का चलते रहना ही ज़रूरी लगने लगता है...

और ज़िन्दगी के अर्थ बन जाते हैं, साबुन की, पसीने की, और रेत की गन्ध में भीगे हुए बदन, और उन में साँसों को चलाये रखने का निरन्तर यत्न...

ज़िन्दगी की हक़ीक़त को मैं ने इतने नग्न रूप में कभी नहीं देखा था। किताब ख़त्म हो जाती है, कहानी फिर भी चलती जाती है...

इस दुनिया में कौन है जो इस कहानी का पात्र नहीं ?

हम सब रेत बुहार रहे हैं। यह बात अलग है कि कोई हल-फावड़ा लेकर इस रेत को उठाता है, कोई तराज़ू लेकर, और कोई क़लम-दवात लेकर...मेरे जैसे कुछ लोग पूजा-पाठ के फावड़े से रेत बुहारते हैं...पर साधन बदलने से कुछ नहीं बदलता, रेत रेत है...

सपनों के नाम पर हम—सारे जो कुछ सोचते हैं, हर आज के बाद, उस की बात, हर कल पर डालकर, चलते चले जाते हैं...

और यत्न के नाम पर जो कुछ करते हैं...

(इस कहानी का पात्र फिर याद आ गया है—गले के कपड़े उतारकर और उन की रस्सी बट-बटकर, उन के सहारे कहीं से निकलने और छूटने का उस का यत्न) उन यत्नों के पदचिह्न भी उड़ती रेत से बहुत जल्दी मिट जाते हैं...

और बग़ावत के नाम पर हम जो कुछ चीखते हैं...खुले गले में उड़-उड़कर पड़ती रेत आख़िर उन चीख़ों को भी हमारे गले में बन्द कर देती है...

कुछ नहीं बनता। कभी भी नहीं बनता। सूखती घास जैसे कुछ बीज धारण कर लेती है, इनसान भी अपनी हड्डियों की मूठ, किसी और मांस में लपेटी हड्डियों की मूठ के साथ जोड़-तोड़कर अपने अस्तित्व के बीज इस धरती पर छोड़ जाता है ...

मैं महन्त किरपासागरजी के अस्तित्व का बीज हूँ, चाहे घूरे पर पड़ा हुआ—पर हर बीज को मिट्टी की मेहरबानी ज़रूर स्वीकारनी होती है, फलना भी ज़रूर होता है, फूलना भी...

अपने बदन में से उगती सोचों का मैं कुछ नहीं कर सकता...

इन्हें जो नफ़रत के कड़वे फल लग जायें, तो भी मैं कुछ नहीं कर सकता...

यह बाज़ की बेबसी है।

अपनी सूरत के बारे में चर्चा होती मैं ने सुनी है (मेरी सूरत को किसी भी तरह महन्त किरपासागरजी की सूरत से मिलाकर नहीं)। शिवजी के वर्ण के साथ मिलाकर, दूध और केसर के रंग से मिलाकर, या दूध और मधु के रंग से मिलाकर...

रंगों को भी शायद शौक़ होता है भुलावा डालने का। जो सिर्फ़ किसी रंग की उपमा में किसी को विरह लिखना हो, तो मेरा ख़याल है वह सब से पहले सर्प-फली की उपमा में कोई विरह लिखेगा। उस के जितना सुन्दर रंग किसी फल का नहीं होता। उस के रंग में जैसे आग जलती होती है। पर इसी सर्प-फली

का दूसरा नाम मौत-फली है। इस को बस होंठों से छुआने की देर होती है...

आम मिट्टी में से उगने वाली जड़ी-बूटियों का ज़हर होंठों को चढ़ती है, पर इनसान के मन में से उगनेवाली जड़ी-बूटियों का ज़हर आँखों को भी चढ़ता है, माथे को भी चढ़ता है, साँसों को भी चढ़ता है, ख़यालों को भी चढ़ता है, और सपनों को भी चढ़ता है...

कभी-कभी नदी की आवाज़ में से अचानक महन्त किरपासागरजी की आवाज़ उभर आती है—क़सूर मेरे कानों का है, आवाज़ का नहीं—पर फिर भी ऐसे लगता है जैसे वह आवाज़ मेरे कानों से मज़ाक़-सा करती हो...

वैसे सोचना चाहता हूँ कि मेरे कान उस आवाज़ से मज़ाक़ करते हैं। पर पता है, यह सच नहीं। शायद कभी हो जाये पर अभी नहीं। अभी तक यही सच है कि यह आवाज़...

यह सब कुछ शायद इसलिए कि उन की आवाज़ में कुछ ख़ास तरह का 'कुछ' था—नदी के पानी की तरह, हलका-सा होते भी बड़ा भारी, और अपने ज़ोर से बहता। कोई पत्थर, कंकड़, पत्ता या हाथों का मैल उस में फेंक भी दे, तो उस से बेपरवाह उसे तहाकर ले जाता, या पैरों में फेंककर उस के ऊपर गुज़र जाता।

पानी के बहाव की शायद सिर्फ़ आँखें होती हैं, कान नहीं होते। उन की आवाज़ भी एक सीध में चली जाती थी, इर्द-गिर्द की बातों को सुनकर कभी खड़ी नहीं होती लगती थी। साधु डेरे भी, घर-गृहस्थी की तरह, झगड़ों-वगड़ों और निन्दा-चुग़ली से बसते हैं—जाले इन की दीवारों पर भी लगते हैं। पर महन्त किरपासागरजी की आवाज़ के बारे में मैं यह ज़रूर कह सकता हूँ कि वह नदी के वेग की तरह, इस सब कुछ को बहाकर ले जाती और उन्हें आँख भरकर देखती भी नहीं थी।

यह आवाज़ दो तरह की थी—एक भारी और वेगवती; और दूसरी बहुत सूक्ष्म, उदास और पवन की तरह पवन में मिलती तथा अपने अस्तित्व का सबूत भी चुराती।

पहली तरह की आवाज़ एक ख़ास तरह के प्रभाव को लेकर चलती थी, पर दूसरी तरह की बिलकुल बेपरवाह होकर।

कोई जब भी बात करता है, सिर्फ़ पहली तरह की आवाज़ की ही बात करता है। शायद वह प्रत्यक्ष थी, इस लिए। और शायद लोगों की अपनी हस्ती उस के प्रभाव के नीचे झुक जाती थी, इस लिए। पर मेरे लिए इस तरह नहीं। सोचता हूँ—बाहर दिखते बोझ को कोई हाथ से अपने ऊपर से उतार सकता है, पर वह जो दूसरी क़िस्म का कुछ होता है, जो साँसों में मिलकर छाती में उतर

जाता है, उस का क्या करे !

मन्दिर के साथवाले जंगल में, यह दूसरी तरह की आवाज़ मैं ने कई बार सुनी थी । वह अकेले, रात-प्रभात, कभी उस जंगल में खो गये लगते थे—आवाज़ को भी शायद, जंगल की 'शाँ-शाँ' में मिलाकर, खो देना चाहते थे—एक ही बोल होता था जो बार-बार होंठों से झड़ता था—"मुद्दतें गुज़र गयीं बेयार ओ मददगार हुए ।"

यह बोल उन के होंठों से पीले पत्ते की तरह झड़ता था, फिर होंठों पर हरे पत्ते की तरह उगता था, और फिर होंठों से पीले पत्ते की तरह झड़ता था...

पंजों के बल चलकर मैं ने कई बार इस आवाज़ का पीछा किया था। अपने कानों की इस चोरी से मुझे कोई उलाहना नहीं। सिर्फ़ कई बार ऐसे होता था कि मेरे कान बहुत दर्द करने लगते थे, और लगता था कि एक नफ़रत मेरे कानों में पीप की तरह भर जाती थी...

पता नहीं, यह असली अर्थों में नफ़रत थी या नहीं। यदि थी तो इस से बचने के लिए मैं बड़ी आसानी से यह कर सकता था कि कभी वह आवाज़ न सुनता। एक बेपरवाही की रुई कानों में दे सकता था। पर मैं तो उस आवाज़ का पीछा करता था, वह मुझे बुलाती नहीं थी, पर फिर भी पंजों के बल चलकर मैं उस के पीछे जाता था। उस के बिना कानों को जैसे एक बेचैनी-सी होती थी।

आज आवाज़ कोई नहीं, पर उस की कल्पना अभी भी बाक़ी है। वही उस मरी हुई आवाज़ को फिर से जीवित कर देती है। और फिर वह सिर्फ़ मेरे कानों तक सीमित नहीं रहती, कई बार मेरे होंठों तक भी आ जाती है। होंठ उस के भार के तले हिलने लग पड़ते हैं, और हिलते-हिलते ख़ुद एक आवाज़-सी बन जाते हैं—मुद्दतें गुज़र गयीं बेयार ओ मददगार हुए...

किसी साईं-फ़क़ीर ने कहा है :

> कुन फिकुन जदों कीतो ई
> कीतियाँ नी जोरावरियाँ
> जुज़ अपनी तो जुदा कीतो ई
> तेरियाँ कीतियाँ मत्थे धरियाँ[1]

उस साईं-फ़क़ीर ने भी शायद यही एकाकीपन भोगा था, जो महन्त किरपासागरजी ने बेयार मददगार होते हुए भुगता था...

कुन-फिकुन—मैं एक से अनेक होऊँ—

पता नहीं किस अपार शक्ति को यह ख़याल आया ? सब छोटे-छोटे टुकड़ों

1. तुम ने जब कहा कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ, तब तुम ने हम से ज़बरदस्ती की। तुम ने हमें अपने से अलग कर दिया, और तुम्हारा किया हमें स्वीकार करना पड़ा।

में बँट गये थे—एकाकीपन के टुकड़ों में।

महन्त किरपासागरजी का अस्तित्व भी एकाकीपन का एक टुकड़ा था—और उस टुकड़े ने शायद बिलकुल मिट जाने की ख़ौफ़ में से एक और टुकड़े को जन्म देना चाहा था—मुझे।

किसी के वजूद पर लादी गयी किसी की मरज़ी...

मुझे उन से नहीं, उन की इसी मरज़ी से नफ़रत है...

अपना आप नाजायज़ लगता है, शायद इस लिए यह नफ़रत जायज़ लगती है...

आज वह आया था—वही दीनानाथ। कपड़े साधारण थे, घर के धुले हुए थे, साफ़-सुथरे, पर उस के सिमटे हुए अंगों से लगकर कुछ सिकुड़े-से लग रहे थे, उस के मुँह की तरह दीन-से लग रहे थे, और उस के मुख से निकली बात की तरह झिझकते-से, और गुच्छा-से होते...

उस के गले में कोई अंगोछा-सा था और उस अंगोछे की कन्नी वह अपने हाथ से ऐसे मरोड़ रहा था, जैसे अभी भी एक कपड़े के टुकड़े से लालटेन की चिमनी पोंछ रहा हो...

पता नहीं उस दिन उस को चिमनी पोंछते हुए देखकर उस का किस तरह का मुँह ध्यान में अड़ गया था। लगा, वह कई बरसों से एक चिमनी को पोंछ रहा है...

वह बड़े एकान्त के समय आया था। यह शायद संयोग नहीं था, वह वक़्त को देखकर आया था। मैं उस वक़्त अकेला मन्दिर के पिछवाड़े के जंगल में पगडण्डियों पर घूम रहा था। रोज़ शाम को सन्ध्या के समय इस तरह घूमता हूँ। एक नियम की तरह। लगता है, उस को इस नियम का पता था...

ये चैत के दिन बड़े अजीब होते हैं—पेड़ों की पत्तियाँ पल-पल में रंग बदलती

हैं, थोड़ी-सी हवा से भी काँप-काँप-सी जाती हैं; और फिर लगता है जैसे वे घबराकर पेड़ों के पैरों पर गिर रही हों...

उन की यह दीनता देखकर मन में कुछ होता है...

वह भी जब आया मेरे पास, मेरे मन को कुछ हुआ...

मेरा ख़याल है, उस ने भी एक बार चुपचाप पेड़ों की तरफ़ देखा था—पेड़ जो हर घड़ी नंगे और दीन-से हो रहे थे, फिर उस ने, आँखों को झुकाकर, पेड़ों की होनी क़बूल कर ली थी :

"मैं तुम से एक बात करने आया हूँ..." उस ने कहा। पर इतना वह मुझे कहता नहीं लग रहा था, जितना अपने आप को। जैसे कोई पेड़ अपने को पतझड़ के आने की ख़बर बता रहा हो।

"यह तेरी माँ है..." उस ने कहा, और फिर चुप हो गया।

पता नहीं यह बतानेवाली क्या बात थी। मुझे पता थी, और उस को भी मालूम था कि मुझे पता है।

"जाने उस के कितने दिन रहते हैं, पता नहीं दो घड़ियाँ ही हों, पर उस की जान अटकी हुई है...तू ने उस राजकुमारी की कहानी सुनी है जिस की जान तोते में थी? वह मारने से नहीं मरती थी, पर जब किसी ने तोते की गरदन मरोड़ दी, उस की भी गरदन टूट गयी...वह भी अभी मरने लायक़ नहीं थी, पर उस की जान उस में नहीं, तुझ में है—तेरी एक नज़र में। तू नज़र मोड़ता है, उस की जान लटक जाती है...तू उसे एक बार माँ समझकर देख, वह मरी हुई भी जी पड़ेगी..." यह सब कुछ उस ने अटक-अटककर भी कहा और एक साँस में भी।

मुझे ऐसा लगा था कि जैसे वह मुझ पर तरस खाकर मुझे गुफा के अँधेरे में से निकालने आया हो, पर उसे यह पता न हो कि अगर उस ने दो क़दम आगे रखे, तो उसे भी हमेशा के लिए गुफा के अँधेरे में गुम हो जाना होगा।

मुझे ज़िन्दगी में अगर किसी पर पहली बार तरस आया तो उस पर—दिल में आया कि उस के होंठों पर हथेली रखकर उसे आगे कुछ कहने से चुप कर दूँ...

हवा तेज़ नहीं थी, पर पेड़ों की पत्तियाँ झड़ी जा रही थीं। मैं हवा को हाथ से रोक नहीं सकता था।

"वह बड़ी नेक औरत है..." शब्द उस के मुँह में थे, मेरे कान बौरा-से गये। वही घड़ी सामने आ गयी, जब महन्त किरपासागर ने आख़िरी श्वासों के समय कहा था, "वह एक पुण्यात्मा है..."

लगा—यह दोनों मर्द, मुझे—एक तीसरे इनसान को—यह बताने के बजाय, एक-दूसरे को बताते, फिर?

तो क्या फिर भी दोनों के मुँह से यह बात निकलती? सोचा—महन्त

किरपासागरजी जीवित नहीं, पर उन की कही हुई बात बाक़ी है, जो मैं यह इस भोले इनसान को सुना दूँ? लगा—यह जो स्वयं ही गुफा के अँधेरे में भटकने के लिए आया है, तो मैं क्या कर सकता हूँ...

इस लिए जवाब दिया, "मुझे पता है, महन्त किरपासागरजी ने भी यही बात कही थी।"

बहुत दिन हुए, महाभारत की एक कथा पढ़ी थी कि एक मुनि ने यज्ञ कराया, राजा की ओर से इक्कीस बैल दक्षिणा में मिले, पर मुनि ने वे बैल दूसरे ऋषियों को दान कर दिये, और राजा से और बैल माँगे। राजा ने गुस्से में आकर मरी हुई गउएँ दे दीं। मुनि ने भी गुस्से में आकर राजा के नाश के लिए और यज्ञ आरम्भ किया। वह ज्यों-ज्यों गउओं का मांस काटकर हवन करता गया, त्यों-त्यों राजा का राज्य नष्ट होता गया...

लगा—मैं ने जो बात कही थी, वह भी एक मरी हुई गाय का मांस काट-कर हवन में डालनेवाली बात थी, और उस के साथ अभी, इस सामने खड़े इन-सान के मन का स्वर्ग नष्ट हो जायेगा...

माँ उस वक़्त मरी हुई गाय की तरह लग रही थी...

पर कोई भी स्वर्ग शायद भुलावे के परदे में नहीं होता, सच की नग्नता में होता है। लगा, मैं कुछ भी कहूँ, उस के मन के स्वर्ग को नष्ट नहीं कर सकता था। क्योंकि मेरी बात के जवाब में उस ने स्वयं ही कह दिया था, "उन्होंने जरूर कहा होगा क्योंकि यह सच है।"

एक बार यक़ीन नहीं आया कि मैं सचमुच उस के स्वर्ग को नष्ट नहीं कर सकता। इस लिए फिर कुछ ठहरकर, कुछ और स्पष्ट-सा कहा, "उन्होंने यह भी बताया था कि उस पुण्यात्मा को भगवान् ने स्वयं सपने में दर्शन दिये...और हुक्म दिया..."

लगा, मैं ने उस के स्वर्ग को अगर अभी नष्ट नहीं किया था, तो भी एक सेंध ज़रूर लगा दी थी। और मैं ने कहा, "भगवान् ऐसा हुक्म देने के लिए सिर्फ किसी पुण्यात्मा को ही चुन सकता है..."

ख़याल था—वह काँपकर पूछेगा—क्या हुक्म? कैसा हुक्म? पर उस ने कुछ नहीं पूछा। सिर्फ़ यह लगा कि वह कुछ काँपा-सा ज़रूर था। फिर वह कुछ देर सामने पेड़ों की तरफ़ देखता रहा, जिन की टहनियाँ पल-पल झड़ते पत्तों से नंगी-सी हो रही थीं।

"हाँ, उस पुण्यात्मा को ही मैं ने यह हुक्म देने के लिए चुना था। यह मेरा हुक्म था...उस ने हमेशा मुझे भगवान् समझा है..." उस ने कहा।

लगा—यह कहते हुए न उस का मुँह दीन-सा हो रहा था, और न उस की आवाज़ हीन-सी थी।

याद आया—पाँच-छह दिन पहले, जब उस के घर गया था, उस ने भी कुछ ऐसा ही कहा था, "मेरे ऐसे करम कभी नहीं हुए कि भगवान् मुझे सपने में दर्शन देते, और कुछ कहते, मैं ने सिर्फ़ उस का हुक्म माना जिसे मैं ने सारी उम्र भगवान् समझा। दर्शन उसे हुए थे, मैं ने सिर्फ़ हुक्म माना..."

लगा—एक साँस थी जो मेरे सीने की हड्डियों में अटक गयी थी...

"वह ऐसी नेक औरत है कि मैं अगर उसे सीधा-सादा हुक्म देता, वह रोती और मेरे पैरों पर गिर पड़ती कि मैं इस हुक्म को वापस ले लूँ। मैं उस का भगवान् था, पर जो भगवान् सामने दिखता हो, उस को यह भी तो कहा जा सकता है कि हुक्म को वापस ले ले...इस लिए मैं ने अपना हुक्म उस को उस भगवान् के मुँह से सुनवाया, जो दिखता नहीं। कहा कि मुझे सपने में भगवान् के दर्शन हुए हैं और उन्होंने हुक्म दिया है कि तेरा संजोग..."

लगा—एक अनन्त पीड़ा उस आदमी की छाती में उठी थी। उस ने पेड़ के एक तने से पीठ लगा ली, और पल भर के लिए अपनी आँखें, आँखों की पलकों के नीचे ढाँप लीं।

फिर उस की आँखों की पलकें धीरे से हिलीं, उस के होंठों की तरह। और उस ने कहा, "मुझे शिव की मूर्ति के आगे चढ़ाकर जब महन्त किरपासागरजी ने कहा था कि यह बालक आज से शिवजी का पुत्र है, उन्होंने सच कहा था। क्या हुआ जो तन उन का था, तेरी माँ ने जब उन के तन से पुत्र माँगा था, तो उन्होंने अपने तन में शिव का मन डालकर उसे पुत्र दिया था..."

और लगा—अब उस के मुँह पर आया हुआ अनन्त दर्द उस का बल बन गया था। उस ने पेड़ के तने से लगी हुई पीठ पेड़ से हटा ली, और एक पेड़ की तरह तनकर खड़ा हो गया। और फिर पेड़ पर नये सिरे से लगे पत्तों की तरह मुस्करा दिया, "वह मन मेरा था। मैं आप शिव हूँ। मैं ने शिव की तरह ज़हर का प्याला पिया है..."

उस ने सचमुच ज़हर का प्याला पिया है, यह सामने दिख रहा था। मैं ने आँखें नीची कर लीं।

"तू सोचता होगा कि तू मेरा पुत्र नहीं। पर मैं ऐसे नहीं सोचता। हिसाब सिर्फ़ लोक का नहीं होता, परलोक का भी होता है। असली संयोग तन का नहीं होता, मन का होता है। तन साथ नहीं देता था, इस लिए तन की जगह मैं ने मन को बरत लिया। उस का तन, मेरा मन, और तू इस संयोग में से पैदा हुआ। मैं किस तरह कहूँ कि तू मेरा पुत्र नहीं..."

लगा—मेरा माथा झुक गया था। वह कह रहा था, "मैं ने तेरी माँ पर कोई एहसान नहीं किया था। वह बेचारी अब भी समझती है कि मैं उसे भगवान् का रूप होकर मिला हूँ। पर यह मेरा पाप है कि मैं ने उसे कभी कुछ और नहीं

बताया। पता नहीं, उस की आँखों में भगवान् का रूप होकर रहने का लालच है..." वह कहता-कहता हँस-सा दिया और फिर कहने लगा, "तू उस का बेटा है, इस लिए तुझे अपना बेटा समझकर बताता हूँ कि मैं ने अपनी जवानी में उस के साथ द्रोह किया था। वह अभी डोली में से निकली थी कि मैं उसे छोड़कर परदेश चला गया था। धन कमाने के लिए। कमाया भी बड़ा, उजाड़ा भी बड़ा। पर धन से ज़्यादा मैं ने अपने आप को उजाड़ा। ऐसी बीमारी लगी कि जिस के इलाज के वक़्त सयानों ने मुझे बताया कि अब मेरा वंश कभी नहीं चलेगा। बीमारी का खाया हुआ जब घर लौटा, उस नेकबख़्त के माथे लगने लायक़ नहीं था। मन फटकारें देता था। पर मैं ने उसे बताया कुछ नहीं। बरस बीत गये। रोज़ देखता था कि वह एक पुत्र के मुँह को तरसती थी। कितनी देर देखता ? उस का कुछ तो क़र्ज़ा चुकाना था...जैसे-तैसे उसे तेरा मुँह दिखाना था..."

लगा—उस के पाँव धरती से ऊँचे हो गये थे। इतने ऊँचे कि मेरे माथे तक पहुँच गये थे...

और शायद उस के पाँव चल रहे थे, मुझे लगा, मेरा माथा भी उस के पैरों के साथ-साथ चल रहा था...

एक बहुत ही लम्बी राह थी, कुछ नहीं दिख रहा था। शायद शाम का अँधेरा बहुत गाढ़ा हो गया था, कि शायद मैं मन्दिर की गुफा में चल रहा था...

और फिर एक उजाला-सा हुआ। देखा—उस के हाथ में एक लालटेन थी। शायद उस ने लालटेन अभी जलायी थी...

और देखा—लालटेन की चिमनी पर एक भी दाग़ नहीं था। उस ने चिमनी के शीशों को पोंछ-पोंछकर उस के सारे दाग़ उतार दिये थे...

और लालटेन की रोशनी में देखा—मेरे सामने मेरी ओर बिटर-बिटर देखता मेरी माँ का मुँह था...

मन्दिर के पिछवाड़ेवाले जंगल में से चलता हुआ पता नहीं किस तरह मैं वहाँ उस के घर पहुँच गया था...

मेरी बाँहें उस के गले की ओर बढ़ीं—जैसे कोई बहुत अँधियारी गुफा में से निकलने के लिए गुफा का द्वार ढूँढ़ता है...

उस की साँसें मेरे माथे को छू रही थीं...कहीं से बहुत ठण्डी और ताज़ी हवा का झोंका आया है, और मेरी साँसों में मिल गया है...

शायद अब सामने, एक क़दम की दूरी पर, कैलास पर्वत है...

सारे के सारे आसमान ने जैसे धरती को अपने हाथों धोया हो...

बादल मेरे पाँवों के नीचे कुछ रेशम-सा बिछा रहे हैं...

अचानक पेड़ों की टहनियों ने मेरे गिर्द कुछ लपेट-सा दिया है...

अभी माथे पर एक ठण्डी फ़ुहार-सी पड़ी है, कुछ उड़ते पक्षी सिर के ऊपर से गुज़रे हैं, शायद उन्होंने अपने पंखों से कुछ कुहरा झाड़ा है...

एक सरसराहट-सी भी शायद उन के पंखों से झड़कर मेरे सीने में पड़ गयी है...

सूरज की कुछ किरणें शायद सोयी हुई बर्फ़ को जगाने के लिए आयी हैं।

नदियों का पानी ऐसे ठुमककर चल रहा है जैसे उस ने पैरों में चाँदी की खड़ाऊँ पहनी हुई हों...

लगता है—कैलास पर्वत की सारी सुन्दरता, सारी ऊँचाई, और सारा एकाकीपन मेरा है...

एक बड़े निर्मल पानी का सोता मेरी माँ के मुँह जैसा है, जिस में मेरी परछाईं ऊँघ रही है...

कमल फूलों के तालाब को देखकर अनायास ही महन्त किरपासागरजी का ख़याल आ गया है...

अभी किसी टहनी से एक फूल गिरा था, और अडोल एक हथेली की तरह मेरे पैर को छू गया था। एक पल लगा, पैर जैसे मूर्च्छित-सा हो गया था...

दूर वह गुफा दिख रही है जिस के अँधेरे में मैं कई बरस चला हूँ। मेरा ख़याल है कोई उस अँधेरे में अब भी लालटेन लेकर खड़ा है...

मेरा ख़याल है शिव और पार्वती पत्थर नहीं हुए, सिर्फ़ वहाँ, मन्दिर की छत के नीचे, एक जगह खड़े, हाथ के इशारे से बता रहे हैं कि यह गुफा कैलास पर्वत पर पहुँचती है...

लगता है—कैलास पर्वत की सारी सुन्दरता, सारी ऊँचाई और सारा एकाकीपन मेरा है...

आख़िरी पंक्तियाँ

शॉपेनहावर की जेब में पड़े हुए सोने के सिक्के की तरह, हम भी कई लोग—छोटे-छोटे शॉपेनहावर—सोने की डली जैसा किसी न किसी सोच का सिक्का जेब में डाले घूमते हैं...शॉपेनहावर बरसों उस घड़ी का इन्तज़ार करता रहा—जिस घड़ी वह सोने का सिक्का दान कर सकता। वह घड़ी उस की ज़िन्दगी में नहीं आयी। सिक्का उस की जेब में ही पड़ा रहा। और ज़िन्दगी की आख़िरी साँस तक उसे अपनी जेब का बोझ ढोना पड़ा। शायद हमारी भी, कइयों की, यही तक़दीर है...

कहते हैं शॉपेनहावर जिस होटल में दो वक़्त रोटी खाता था, रोटी की मेज़ पर, रोज़ सोने का एक सिक्का रखकर रोटी खाना शुरू करता और आख़िर मेज़ से उठने लगता तो वह सोने का सिक्का फिर ज़ेब में डाल लेता। बरसों बाद एक बैरे ने उस से यह भेद पूछने की जुर्रत की। उस ने सोचा था कि यह कोई शॉपेनहावर की ख़ानदानी रस्म होगी। पर शॉपेनहावर ने उसे अपनी एक अजीब हसरत बतायी—"मैं ने आज तक कभी दान नहीं किया, पर यह सोने का सिक्का मैं रोज़ इस आस से जेब में से निकालता हूँ कि मैं उस पहली घड़ी यह सिक्का दान करूँगा जिस दिन मैं किसी अंग्रेज़ को घोड़ों, औरतों और कुत्तों के सिवा किसी चीज़ के बारे में बात करते सुनूँगा..."

शॉपेनहावर होने का कोई दावा नहीं—यह सिर्फ़ आस-पास दूर-दूर तक फैले हुए 'डिके' की बात है। 'मॉरेलिटी' के सीमित अर्थों, और सिकुड़े हुए घेरों की बात है। और उस दृष्टिकोण की बात, जो बहुसंख्यकों की आदतों में शुमार हो तो स्वीकृत माना जाता है, पर जो गिने-चुने लोगों का चिन्तन हो तो अस्वीकृत।

('डेमीक्रेसी' सिर्फ़ उन्नत और विचारशील लोगों को मुआफ़िक़ आती है, पर मानसिक और आर्थिक तौर पर पिछड़े हुए लोगों को यह नसीब नहीं हो सकती। मूर्ख बहुसंख्यक के मूर्ख फ़ैसले वक़्त की लगाम सँभालते हैं—और ज़िन्दगी की विशाल सीमाएँ उन के खुरों के नीचे कुचली जाती हैं। ये लोग 'आपरेस्ड' हों तो

एक रेवड़ की तरह हाँके जाते हैं, 'आपरेसर' हों तो एक लाठी की शक्ल में हाँकते हैं। हालतें दोनों ही भयानक हैं।)

नीत्शे ने सीमित अर्थोंवाले इनसान से, विशाल अर्थोंवाले इनसान को अलग करने के लिए 'सुपरमैन' शब्द गढ़ा था, मैं ने ऐसा कोई शब्द नहीं गढ़ा, पर मेरे सब से पहले नॉवेल के डॉक्टर देव को कुछ ऐसे ही अर्थों में लिया गया था। हमेशा सोचती रही हूँ, क्या यथार्थवाद के अर्थ इतने सिकुड़ गये हैं? क्या बहुसंख्यक का जाना-पहचाना जो कुछ है, सिर्फ़ वही यथार्थ है? और क्या अल्पसंख्यक कहे जानेवाले लोगों का अमल यथार्थ नहीं?

पर सच की तलाश जिस की प्यास हो, और सिर्फ़ 'सर्वाइवल' जिस की तसल्ली न हो, यक़ीनन वह मॉरेलिटी के जाने-पहचाने अर्थों से टूट जायेगा। 'डॉक्टर देव' की ममता पर, 'एक सवाल' की रेखा पर, 'बन्द दरवाज़ा' की करमी पर, 'एक थी अनीता' की अनीता पर, 'धरती, सागर, सीपियाँ' की चेतना पर, 'चक नम्बर छत्तीस' की अलका पर, और 'एरियल' की एकता पर, इस जुर्रत का दोष है। ये दोषी हैं क्योंकि सिर्फ़ सर्वाइवल इन्हें क़बूल नहीं था।

अँधेरे में भोगे जाते झूठ के बजाय इन्होंने उजाले में सच को भोगना चाहा—चाहे इम्मॉरेल कहलवाने की क़ीमत दी। अँधेरे की मॉरेलिटी से उजाले की इम्मॉरेलिटी इन का चुनाव था।

'सुपर' जैसा कोई शब्द मैं इन पात्रों के साथ जोड़ना नहीं चाहती—इन का वजूद, और उस का इज़हार सिर्फ़ एक लेखक के तौर पर जेब में डाले हुए सोचों के सिक्कों को ख़र्चने का यत्न है—इस आस से कि अगर बहुत नहीं, तो शायद कुछ लोग घोड़ों, औरतों और कुत्तों के सिवा किसी और चीज़ की बात भी सुनना चाहेंगे... (पश्चिमी स्तर के मुक़ाबले में जो पूर्वी स्तर के अनुसार कहना चाहें तो औरत, पैसा और परलोक कहा जा सकता है।)

मैं ने अपने नॉवेलों में जिस औरत की बात कही है, वह सिर्फ़ 'सेक्स-चिह्न' के अर्थों से टूटकर चलती है, इस लिए वह अलग है। और इस लिए चाहे वह 'एरियल' की एकता (एक औरत) के मुँह से हो या 'जलावतन' के मलिक (एक मर्द) के मुँह से—वह इनसान की बात है। एकता का दुःखान्त है कि उस के साबुत अस्तित्व के लिए, इनसान को सिर्फ़ टुकड़ों में क़बूलनेवाले समाज की व्यवस्था में, कोई जगह नहीं। और मलिक का दुःखान्त है कि उस की उम्र से बड़े उस के मानसिक स्तर के वास्ते, कुछ लकीरों में लिपटे हुए समाज के ढाँचे में, उस की कोई पूर्ति नहीं।

सचाई का जिज्ञासु मर्द भी हो सकता है और औरत भी। सिर्फ़ सच की

परिभाषा अपने-अपने मानसिक विकास के अनुसार होती है...

इस नये नॉवेल का नायक एक मर्द है—कोई बीस बरसों की उम्र का, जवानी की पहली सीढ़ी पर खड़े होकर अपने वजूद को एक बेबसी से देखता, अपने माहौल को घूरता, और उस का कारण बने लोगों से क्रुद्ध। अपने क्रोध को वह आग की तरह जलाता है और उस के अंगारों से खेलता, अपने हाथ पर भी छाले डलवाता है और अगर बस चले तो उस की चिनगारी उन की झोली में भी फेंकता है जिन का अस्तित्व उस के अस्तित्व से सम्बन्धित है। यह सचाई को उसी एक कोण से देखने का प्रतिक्रम है, जिस कोण से देखने की आदत उसे उस के जन्म से मिली है—और जिस कोण से यह अकसर देखी जाती है।

'ग्रोथ' इनसान को एक कोण पर नहीं खड़ा होने देती। यह नायक 'ग्रोथ' का चिह्न है, इस लिए जब वक़्त आता है, वह किसी और कोण पर खड़ा होकर सचाई को देखने से इनकार नहीं करता। न उस को समझने से इनकार करता है।

ज़िन्दगी अपने जाने-पहचाने अर्थों में जिस दायरे का नाम है उस को एक नज़्म में मैं ने कुछ इस तरह कहा था :

[1]छे क़दम पूरे ते इक अधा
जेल दी इक कोठड़ी
कि बन्दा बैठ-उठ सके
ते नि्सल वी हो लवे ;
'रब' दी इक बही रोटी
'सबर' दा बकल सलूणा

---

1. छह क़दम पूरे और एक आधा
जेल की एक कोठरी
कि आदमी बैठ-उठ सके
और निवृत्त भी हो ले;
'प्रभु' की एक बासी रोटी
'सब्र' का सलोना बक्कल
वह चाहे तो इसे ही
दोनों वक़्त खा ले
और जेल के अहाते के पास
ज्ञान का एक जोहड़
कि आदमी हाथ-मुँह धोये
(उस के मच्छर नितारकर)
और घूँट भर पी भी ले।

चाहवे ताँ रजपुज के
उह दोंवें डंग खा लवे
ते जेल दे हाते दी गुठ्ठे
इक छप्पड़ ज्ञान दा
कि बन्दा हथ-मुँह धोवे
(ते कुज मच्छर नतार के)
ओह बुक-भर के पी लवे ।

पर ज्ञान को खड़े पानी का जोहड़ बनाना ज्ञान की हतक है, और उस के बासीपन को चुल्लू भर पीकर एक तृप्ति हासिल करना इनसान की हतक । और कुछ लोग ऐसे होते हैं—जो यह हतक नहीं कर सकते...

इनसान के ऊँचे मानसिक स्तर की सम्भावना को अगर एक पंक्ति में कहना हो तो कुछ ऐसे कह सकती हूँ—इनसान हर खाई के ऊपर आप ही एक पुल बन सकता है, आप ही उस पुल पर से गुज़रनेवाला और आप ही अपने से आगे पहुँचनेवाला ।

इस नॉवेल के नायक को मैं उस की जन्म-कहानी से लेकर जानती हूँ...उस दिन से जिस दिन उस को साधुओं के किसी डेरे में चढ़ाया गया था—यह बहुत बरसों की बात है। अब देखे हुए बरसों गुज़र गये, पर अब भी याद करूँ तो बड़े तराशे हुए नक़्शोंवाला उस का साँवला चेहरा, उस की उदासी समेत आँखों के आगे आ जाता है। उस के बचपन का, उस का बार-बार कुछ सोचता हुआ चेहरा मुझे याद है, पर नहीं जानती कि उस ने अपनी भरी जवानी में ज़िन्दगी को कितना हँसकर क़बूल किया, कितना रोकर। मेरे नॉवेल के पन्नों में चलता हुआ वह आख़िर में जिस अवस्था को पहुँचता है, वह मेरी कल्पना है।

रवायती मय्यार, खुले आसमानों की सचाई नहीं होते, यह 'फ़ालसरूफ़' की एक सिकुड़ी हुई दानाई होते हैं। 'फ़ालसरूफ़' में कोई चाहे तो चाँद-सितारे भी जड़ सकता है पर चाँद-सितारों की लौ नहीं जड़ सकता...

इस नॉवेल के नायक को मैं ने इसी लिए यात्री कहा है क्योंकि सिर को छूती छत को तोड़कर वह चाँद-सितारों की लौ की यात्रा आरम्भ करता है। अँधेरे से पैदा हुई एक तीखी नफ़रत में से उस की यह यात्रा शुरू होती है—यही नफ़रत उस का हथियार है, जिस के साथ वह सिर के ऊपर तनी हुई छत को तोड़ने का यत्न करता है...

छत को तोड़ना, या मीलों लम्बी एक गुफा को लाँघना एक ही अर्थों में है—

सिर्फ़ एक पंक्ति में कहना हो तो कह सकती हूँ कि यह चाँद-सितारों की लौ के आशिक़ों के लिए, चाँद-सितारों की लौ के एक आशिक़ की कहानी है। अपने से आगे अपने तक पहुँचने की यात्रा।

आक के पत्ते

क्या आप को पता है वेद कैसे रचे गये ? ईश्वर ने जो कुछ मनुष्य के कान में कहा था, मनुष्य ने वह सुनकर कण्ठस्थ कर लिया था। इसी लिए वेदों को 'श्रुति' कहते हैं।

वेद शब्द का अर्थ ही ज्ञान है, बहुत ऊँचा ज्ञान। मैं ने भी जो कुछ जाना है—वह एक भयानक ज्ञान है...

वेद चार थे। और कितना अजीब इत्तफ़ाक़ है कि मैं अपने ज्ञान को भी चार हिस्सों में बाँट सकता हूँ। आप को पता ही होगा कि ऋग्वेद में सिर्फ़ देवताओं की महिमा कही गयी है। माता-पिता देवता ही तो होते हैं, अपने बच्चे को जब अपने लहू-मांस में से जन्म देते हैं, छाती में से दूध देते हैं, थाली की रोटी में से ग्रास देते हैं और उसे पोटा-पोटा करके पालते हैं, वह बच्चे को देवताओं से कम नहीं लगते। सो, माता-पिता के संरक्षण में मैं अपनी उम्र के बीस बरस जो कुछ सोचता रहा, यह मेरा ऋग्वेद है...

और दूसरा यजुर्वेद था—उस में बलिदान का और यज्ञ-हवन का वर्णन है। मेरे वेद में भी एक बहुत बड़े बलिदान की कथा है। विष्णु पुराण में कथा आती है कि एक ऋषि ने अपने एक शिष्य को यह वेद पढ़ाया था। फिर एक दिन ऋषि ने

लात मारी तो उस का भानजा मर गया, जिस के प्रायश्चित्त के लिए उस ने शिष्यों को बुलाया और उन की सलाह पूछी कि अब वह क्या करे। जिस शिष्य को उस ने यह वेद पढ़ाया था, वह कहने लगा कि वह अकेला ही इस वेद के मन्त्रों के सहारे उसे पाप से मुक्त करा सकता है। ऋषि को लगा कि उसे अभिमान हो गया है, इस लिए उस ने आज्ञा दी कि वह उसी समय कै करके सारे मन्त्र धरती पर उगल दे। शिष्य ने आज्ञानुसार सारे मन्त्र गले से बाहर उगल दिये, जो बाक़ी शिष्यों ने तीतर बनकर धरती पर से चुग्गे की तरह चुग लिये।

—यह मेरा वेद ? उर्मि मर गयी है, किसी ने उसे लात मारी थी, और अब मेरे इस वेद के सारे मन्त्र धरती पर बिखरे पड़े हैं। शायद पता नहीं कब, मैं तीतर बनकर इन को धरती पर से चुग्गे की तरह चुगूँगा, फिर उन मन्त्रों को पढ़ूँगा, और वह ऋषि जिस ने उर्मि को लात मारकर मार दिया है, पाप-मुक्त हो जाएगा...

तीसरा सामवेद था, चौथा अथर्ववेद। इन के मन्त्र मंगल-कार्य के लिए और हवन के समय पढ़े जाते थे। उर्मि के मंगल-कार्य के लिए मैं ने कितनी ख़ुशियों की कल्पना की थी, उर्मि के जितने लाड़, जितने चाव, जितनी हँसी थी, वह सब मेरे सामवेद के मन्त्र थे। और अब उस का हवन मैं सारी उम्र करता रहूँगा, मेरे सीने की आहें और मेरी आँखों के आँसू मेरे मन्त्र हैं, जिन को मैं सारी उम्र पढ़ता रहूँगा···

यह मेरा उर्मि-वेद...

उर्मि अभी थी; अब नहीं है। उसे मरते हुए देख लेता तो शायद उस मरी हुई का मुँह एक अन्त का निश्चय दिला देता। पर ऐसा नहीं हुआ। उसे मरी हुई किसी ने नहीं देखा। और तो और, क़ानून ने भी नहीं देखा। क़ानून के काग़ज़ों में वह ज़िन्दा है, पर मुझे आँखों के आगे कहीं नहीं दिखती...काग़ज़ के अक्षरों में उस की आँखें क्यों नहीं झाँकतीं ? ये अक्षर आँखों की तरह झपकते क्यों नहीं ? वहीं काग़ज़ों पर पत्थर हो गये हैं...

सोच रहा हूँ—उर्मि लहर को कहते हैं, पानी की लहर को, पानी की तरंग को। पुराने ग्रन्थ जिन का नाम सागर होता था, उन के हर काण्ड का नाम उर्मि होता था। पानी की लहर पानी में मिल जाती है, उस का वजूद ख़त्म हो जाता है, पर उस की लाश नहीं होती। मेरी उर्मि भी शायद पानी की लहर थी, अनन्त सागर में मिल गयी, अब उस का वजूद भी कोई नहीं रहा, उस की लाश भी कोई नहीं।

देखो ! चार वेदों के चार रंग होते हैं। ऋग्वेद का रंग सफ़ेद, यजुर्वेद का लाल, सामवेद का पीला, अथर्ववेद का सुरमे की तरह काला। मेरे उर्मि-वेद के भी चार रंग हैं—गोरी अछूती उर्मि की जवानी का रंग बिलकुल सफ़ेद, उस की

मौत का रंग ख़ून की तरह लाल, उस के वियोग का रंग निरा पीला, और इस वियोग का कारण बिलकुल काले रंग का।

यह उर्मि-वेद किस को सुनाऊँ ? मैं रोज़ इसे ख़ुद पढ़ता हूँ, ख़ुद सुनता हूँ...

कहते हैं—वेदों को सुनने का अधिकार शूद्रों को नहीं होता। सिर्फ़ ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वेदों को सुन सकते हैं। मुझे—जहाँ तक दिखाई देता है, सब शूद्र ही शूद्र नज़र आते हैं। वह जो किसी के दर्द के साथ दर्दमन्द नहीं होते, वही तो शूद्र होते हैं। उर्मि का दर्द कोई नहीं जानता। न कोई मज़हब, न कोई समाज। इस लिए यह सब धर्मों-कर्मों के वली, और समाज के नियमों वाले शूद्र हैं। इन्हें मैं यह वेद नहीं सुना सकता...

पर यह सब कुछ क्या मैं अपनी छाती में रखकर इस दुनिया से चला जाऊँगा ? ज्ञान हमेशा किसी को सौंपकर जाना चाहिए। यह ज्ञान, यह भयानक ज्ञान, मैं किसे सौंपूँ ?

आप, कुछ वह लोग जिन्हें मैं जानता नहीं, अगर सचमुच अपने दिल के मुताबिक़—ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य हों, तो आप को यह वेद सुनने का अधिकार है...

तो सुनिये !

यह, जहाँ मैं खड़ा हूँ, एक चौराहा है।

एक राह एक अन्धे कुएँ की तरफ़ जाती है, जिस में उर्मि की लाश पड़ी हुई है...

एक राह एक नदी की तरफ़ जाती है, जिस में उर्मि की लाश बह रही है...

एक राह धरती के एक गढ़े की तरफ़ जाती है, जिस में उर्मि की लाश दबी हुई है...

एक राह एक चिता की तरफ़ जाती है, जिस की आग में उर्मि की लाश जल रही है...

और मैं जैसे चारों राहों पर चल रहा हूँ।

चारों तरफ़ बेहद बू है, पर दुनिया के काम-काज उसी तरह चल रहे हैं, किसी को यह बू नहीं आती।

मैं, हारकर, इस देश के क़ानून के पास गया था, सुना था कि वह बू का निशान भी सूँघ लेता है! पर मुझे देखकर उस ने जल्दी से नोटों की एक पोटली नाक के आगे रख ली, और मुझ से हँसकर कहने लगा—'कहाँ? बू तो कहीं से भी नहीं आ रही।'

उर्मि एक ख़ुशबू थी, पर उसे किसी ने बू बना दिया है।

दोनों गाँव पास-पास हैं—एक उर्मि के पीहर का, एक उर्मि के ससुराल का। और दोनों गाँवों को जैसे दाँती लग गयी है, वे मुँह से कुछ भी नहीं बोलते।

नहीं, यह दाँती नहीं, यह मिर्गी है, क्योंकि दोनों गाँवों के मुँह से झाग निकल रहा है।

कहते हैं, जिसे मिर्गी आती हो, उसे एक नसवार देनी चाहिए। यह नसवार आक के दूध में चावलों को भिगोकर और पीसकर बनायी जाती है। सच भी आक की तरह कड़ुआ होता है। उर्मि की बातें सफ़ेद चावलों की कनी सरीखी थीं। उन्हें अगर सच के आक के दूध में भिगो लूँ और उस की नसवार बनाकर इन दोनों गाँवों की नाक में सुँघा दूँ, तो इन की मिर्गी ज़रूर हट जायेगी···

यह सच है···कि एक गाँव ने उर्मि को ज़बर्दस्ती डोली में डालकर दूसरे गाँव में धकेल दिया था। और अब एक गाँव ने उर्मि की एक बाँह पकड़ी और दूसरे गाँव ने दूसरी बाँह पकड़ी, और उसे घसीट-घसीटकर मार डाला।

इन दोनों गाँवों को उर्मि की कोई चिन्ता नहीं। ठीक है, मिर्गी के रोगी को चिन्ता नहीं करनी चाहिए...

उर्मि का कहीं नाम-निशान नहीं, जैसे उर्मि कभी थी ही नहीं। मैं उर्मि की बात करूँ तो उस के लगे-लिपटे मुझे ऐसे दखते हैं जैसे मैं जिन्न-भूतों की बात कर रहा हूँ। और जैसे उर्मि को सिर्फ़ मैंने ही कभी देखा हो, और किसी ने कभी आँखों से देखा ही न हो।

सब गवाहियाँ ख़त्म हो गयी हैं, सिर्फ़ एक गवाही यहाँ गाँव के स्कूल के काग़ज़ों में पड़ी हुई है, जहाँ उर्मि को दाख़िल करते वक़्त लिखा गया था—उर्मि, उम्र छः साल, पिता का नाम हरिश्चन्द्र।

जैसे, जो हुआ और जो बीता, अब भी आँखों के आगे चित्रित है। एक दिन पूछता हूँ, "पिताजी! राजा हरिश्चन्द्र सूर्य वंश का अट्ठाईसवाँ राजा था न?"

"हाँ," पिताजी कह देते हैं, और खटिया की अदवायन कसने लगते हैं।

"आप ने अपना नाम राजा हरिश्चन्द्र के नाम पर रखा था न?" फिर कहता हूँ।

पिताजी उत्तर नहीं देते।

मेरी जीभ को एक वल-सा पड़ जाता है, पर फिर भी कहता हूँ, "राजा हरिश्चन्द्र सत्यवादी था। आप चाहे फिर कभी सच न बोलना, पर एक बार सच बता दो—उर्मि कहाँ है ?"

पिताजी खटिया की अदवायन को इतने ज़ोर से खींचते हैं कि अदवायन टूट जाती है···

माँ मूढ़े पर एक गठरी की तरह बैठी हुई है। गाँव का हकीम उस की रीढ़ की हड्डी पर रोज़ लेप करता है, और कहता है कि उसे कभी ढीली खाट पर न सुलाना। इसी लिए पिताजी रोज़ उस की खाट कसते हैं...

पिताजी खटिया की अदवायन को गाँठ लगाने लगते हैं, तो मूढ़े पर पड़ी हुई गठरी धीरे से रोने लगती है, "हाय री बेटी, कौन टूटी को जोड़ें..."

गठरी ही कहूँगा...मां होती तो ज़ोर-ज़ोर से विलाप न करती...

सोचता हूँ—उर्मि अगर एक सुन्दर-सजीली लड़की न होती, किसी खाट की खुरदरी अदवायन होती, तो उस की उम्र को गाँठ लग जाती...

फिर कमरे का आला मेरी तरफ़ देखता है और मैं कमरे के आले की तरफ़। उस की भी छाती में किसी ने ऐसे बुटका भरा है, जैसी मेरी छाती में। वहाँ—आले में—एक तसवीर थी, मेरी और उर्मि की। एक बार पिताजी, हम दोनों की उँगली पकड़कर, एक मेले पर ले गये थे।

उर्मि तब कोई सात बरस की थी, और मैं पाँच बरस का। और वहाँमे ले में हम दोनों बहन-भाई की तस्वीर उतरवायी थी। पर आज वह तसवीर वहाँ पर नहीं रही।

मैं और यह आला, दोनों मिलकर पूछते हैं, "पिताजी, वह तसवीर कहाँ चली गयी ?"

"तुझे क्या करना है उस का ?" पिताजी गुस्से में अदवायन को इस तरह खींचते हैं, मुझे लगता है कि अदवायन फिर टूट जायेगी।

कहता हूँ, "उस की एक ही तो निशानी थी !"

पिताजी खीझकर बोलते हैं, "निशानी अब सिर से मारनी है ?"

मैं ढीठों की तरह कहता हूँ, "आप को नहीं ज़रूरत थी तो न रखते, मुझे दे देते, मैं शहर वाले कमरे में लगा लेता।"

"डूब जाये तेरा शहर..." पिताजी का सारा बदन खुरदरी अदवायन की तरह कस जाता है। और शायद उन के अपने बदन की छिलतरें उन के हाथों में चुभ आती हैं, वह हाथों को मलते-से मेरी तरफ़ देखते हैं।

जानता हूँ—मैं शहर में कमरा लेकर जब कॉलिज में पढ़ने लगा था, तो उर्मि ने अपने पीहरियों और ससुरालियों के आगे हाथ जोड़े थे कि उस का आदमी

अगर कुछ बरसों के लिए केनिया कमाने चला गया है, तो वह गाँव में पड़ी क्या करेगी, उसे शहर जाकर आगे पढ़ लेने दें। और वह शहर जाकर आगे पढ़ने के लिए कॉलिज में दाखि़ल हो गयी थी। हम बहन-भाई दोनों शहर में कमरा लेकर रहते थे।

निशानी से याद आता है कि उर्मि अगर ज़िन्दा होती—सिर्फ़ तीन-चार महीने और ज़िन्दा रहती—तो उस का बच्चा भी एक निशानी होता...

पिताजी खटिया पर खेस बिछाकर, गठरी-सी बनी माँ को मूढ़े पर से उठा-कर खटिया पर लिटा देते हैं और फिर हाथ धोकर तीनों थालियों में रोटी परोस देते हैं।

रसोई के तख़्ते पर काँसे की चार थालियाँ हमेशा पास-पास रखी होती हैं माँ हमेशा इन्हें माँज-मींजकर चमकाती थी। ये कँगूरे वाली थालियाँ बिल्कुल नये नमूने की थीं, एक बार एक मेले में से ख़रीदी थीं। और माँ हमेशा इन्हें तख़्ते पर चमकाकर रखती हुई कहती थी, 'यह थाली मेरी उर्मि की, यह उर्मि के भाई की यह मेरी और यह तुम्हारे बापू की...'

उस दिन पिताजी ने जब तख़्ते पर से तीन थालियाँ उतारीं, तो मेरे मुँह से अचानक निकल गया, "वह थाली उर्मि की..."

पिताजी ने क्रोधी आँखों से देखा, पता नहीं मुझे, कि थाली को...

मैं ने रोटी का एक ग्रास तोड़ा, पास की कटोरी में डुबोया, और मुँह में डाल लिया। दाल जली हुई थी। पर हम तीनों—चुपचाप जली हुई दाल से ही रोटी खाने लगे।

यह चौराहा पता नहीं कैसा चौराहा है, मैं जहाँ जाता हूँ, यह मेरे साथ जाता है, मेरे पैरों से लिपटा जाता है, और हर जगह उस में से वही चार राहें निकलती हैं :

एक, जो एक अन्धे कुएँ की तरफ़ जाती है, और जिस में उर्मि की लाश पड़ी

हुई है।

दूसरी, जो एक नदी की तरफ़ जाती है, और जिस में उर्मि की लाश बह रही है।

तीसरी, जो धरती के एक गढ़े की तरफ़ जाती है, जिस में उर्मि की लाश दबी हुई है।

और चौथी, जो एक चिता की तरफ़ जाती है, जिस की आग में उर्मि की लाश जल रही है।

गाँव से शहर आ गया, और वह चौराहा भी मेरे साथ आ गया...

एक और राह भी थी, जहाँ उर्मि चला करती थी...नहीं, शायद कोई राह नहीं थी, उर्मि ने ख़ुद ही काँटे चुन-चुनकर वह राह बनायी थी, और मुश्किल से दस क़दम चली होगी कि उस के पैरों के लहू में उस की राह डूब गयी...

मेरे कमरे में अभी भी उर्मि की चारपाई उसी तरह सामने दीवार के पास बिछी हुई है। दोनों चारपाइयों के बीच उसी तरह छोटी-सी मेज़ पड़ी हुई है, और मेज़ पर वही बिजली का लैम्प रखा हुआ है, जिस के शेड पर उर्मि ने एक दिन लाल रंग का एक फूल बनाया था।

फूल बनाते हुए उस ने कहा था, "भइया रे ! अभी इसे हाथ न लगाना, गीला रंग है, इसे सूख लेने देना।"

यह पिछले बरस की बात थी। पर इस का रंग अब तक भी नहीं सूखा ! मैं ने उँगली से उस फूल को छुआ, तो पपोटे से उस का रंग लग गया।

शायद मेरी आँखों से कुछ पानी उस पर गिर गया था...

अब तक तो जहाँ उर्मि का ख़ून गिरा होगा, वह भी सूख गया होगा...

सोचता हूँ—पूरे दो महीने होने को हैं इस बात को...

शायद कुल्हाड़ी से उसे काटा था...कुल्हाड़ी वाले हाथ में उस का ख़ून ज़रूर लग गया होगा...

फिर वह ख़ून उस के हाथों पर सूख गया होगा...उस ने हाथ धो लिये होंगे, पर कुछ तो रोमों में गुज़रकर उस की हथेलियों में रह गया होगा...वह हमेशा वहाँ हथेलियों में रहेगा...हथेलियों में सूख जायेगा...पर कभी शायद उस की आँखों में आँसू भी आते होंगे—कभी आधी रात को—और हथेलियों में जमा हुआ ख़ून फिर गीला हो जाता होगा...

शायद रंग गीला हो जाता है, ख़ून गीला नहीं होता...

कमरे का बन्द दरवाज़ा खोलकर वह—एक प्रेत-सा—अन्दर आ गया है...

वही, जिसे उर्मि ने प्यार किया था।

सिर के बाल जटाओं-से बने हुए—वह एक लोई ओढ़े मेरे कमरे में गाढ़े अँधेरे की तरह खड़ा हो गया...

अँधेरा नहीं टूटता, सिर्फ़ चुप टूटती है। वह पूछता है, "कब आया गाँव से ?"

"आज।"

"कुछ पता लगा ?"

मैं इनकार में सिर हिला देता हूँ।

वह अँधेरे का एक ढेर-सा, पहले उर्मि की ख़ाली चारपाई को देखता रहता है, फिर चारपाई पर बैठ जाता है।

उर्मि की चारपाई पर से एक आवाज़ आती है, "लोग कहते हैं, इश्क और मुश्क छुपाए नहीं छुपते...यह आधा सच है, आधा झूठ...इश्क नहीं छुपा, पर मुश्क छुप गयी..."

मुझे क्या कहना था, कुछ नहीं कहा।

उर्मि की चारपाई से ही आवाज़ आती है, "भइया रे! गौतमी शिला सच-मुच होती है, यह पानी में नहीं डूबती। रामचन्द्रजी जब लंका गये थे, तो गौतमी शिला पर बैठकर गये थे। मेरा प्यार भी गौतमी शिला है, यह मुझे पार लगा देगा..."

मैं चौंक जाता हूँ—यह उर्मि की आवाज़ कहाँ से आयी ?

फिर एक गहरा रहस्य पा जाता हूँ—उर्मि ने जाने कैसे इस आदमी को प्यार किया कि मरकर भी उस का वजूद इस के वजूद में समाया हुआ है। इस के यहाँ, इस चारपाई पर बैठने के साथ ही, वह भी जैसे इस चारपाई पर आ बैठी है। वह इसी तरह पिछले बरस इस चारपाई पर बैठकर मेरे साथ बातें करती थी...

वह फिर कहता है, "जो कुछ सुना है, वह तो यही है कि उसे कुल्हाड़ी से काटकर नदी में बहा दिया..."

सोचता हूँ—उर्मि ने शायद आख़िरी वक़्त गौतमी शिला वाली बात सोची होगी, और उसे पता नहीं कैसा ग़ुस्सा आया होगा इस कलियुग पर, जहाँ गौतमी शिला भी पानी में डूब जाती है...

"तू बोलता नहीं ?" वह पूछता है।

मैं ने उर्मि को कहा था कि यह रामचन्द्र का द्वापर-युग नहीं, कलियुग में गौतमी शिला भी डूब जाती है।

"तुझे पता था कि उस का सगा बाप उसे अपने हाथों मार देगा ?" वह पूछता है।

कहता हूँ, "नहीं, यह नहीं पता था।"

"अब रात को उसे नींद कैसे आती है ?" वह फिर पूछता है।

"यह तो मैं भी जितने दिन गाँव रहा—सोचता रहा था। रात को उठकर बाप की चारपाई की तरफ़ भी देखता रहा था। सारा घर खोज मारा था—

शायद कहीं कोई सुराग़ मिले, खोज सकता तो उस की नींद को भी खोज कर देखता, पर..."

"माँ भी कुछ नहीं कहती, जिस की ममता कुतरी गयी थी ?" वह फिर पूछता है।

जो देखा था कह दिया, "वह मांस की गठरी-सी चारपाई पर पड़ी रहती है। न किसी की तरफ़ देखती है, न किसी को कुछ कहती है।"

"उसे अन्दर ही अन्दर ज़रूर पता होगा..."

"पता नहीं।"

"मैं थानेदार से मिला था..."

"वह तो हम इकट्ठे ही मिले थे..."

"मैं फिर अकेला जाकर मिला था।"

"फिर ?"

"वही बात कहता था—तू क़ानूनी तौर पर उस का कुछ नहीं लगता, तेरी तरफ़ से तो तफ़्तीश की अरज़ी भी मंज़ूर नहीं हो सकती।...कुत्ते ने उधर से माल खाया हुआ है..."

सोचता हूँ—क्या कुत्ते सिर्फ़ माल खाने वाले ही होते हैं ? और खिलाने वाले ?

माँ के हाथों में सोने के मोटे-मोटे कड़े हमेशा पड़े रहते थे। इस बार गाँव गया तो उस के हाथों में कुछ नहीं था। जान गया—वह अब ज़रूर थानेदार की बीवी के हाथों में होंगे...

सोने के कड़े उर्मि के हाथों में भी थे, पर पिछली बार जब वह छुट्टियों में गांव गयी तो उतारकर ससुरालियों के घर रख आयी थी। शहर आयी तो कहने लगी, 'पराया धन लेकर गौतमी शिला पर नहीं बैठते...'

मैं हँस पड़ा था, कहा था, 'यह गौतम तुझे इतना ही अच्छा लगा था, तो तू ने तब पराया धन क्यों हाथों में पहना था ?'

जिस दिन से उर्मि ने मेरे सामने अपने दिल की बात कही थी, उस दिन से मैं ने ही हँसकर उस आदमी का नाम गौतम रख दिया था। वह हमारे गाँव का था, मेरा जाना-पहचाना, पर तब मैं बहुत छोटा था, मुझे उर्मि के मन की पहचान नहीं थी। उर्मि हँसी भी और रोई भी, 'तब छोटी थी, भइया। अन्दर जाकर माँ से विनती की थी, पर जब बाप और चाचा का क्रोध देखा, सोचा—मन को मार लूँगी। चलो—सगे बाप-चाचा की बात रह जाये। पर मुझे क्या पता था कि यह मन नहीं मारा जायेगा...'

गौतम शहर में पढ़ता था, फिर पढ़कर शहर में ही रह गया था, गाँव नहीं लौटा था। उर्मि जब सब की मिन्नत-मोहताजी करके शहर में पढ़ने आ गयी थी,

मुझे नहीं पता था कि वह सिर्फ़ गौतम के लिए शहर आयी थी।

फिर मैं कभी हँसकर कहता था, 'उर्मिये ! अगर तेरा कुछ लगता फिर तो तुझे अपने साथ ही केन्या ले जाता ?'

'राह में समुद्र आता है न ?' उर्मि हँस पड़ती।

'हाँ।' मैं कहता।

'बस, फिर समुद्र में डूबकर मर जाती।' उर्मि कहती।

उर्मि की यह बात एक बार गौतम ने भी सुन ली, कहने लगा, 'तू समुद्र में भी खो नहीं पाती, मैं सारा समुद्र मथकर तुझे ढूँढ़ लेता...'

अब अचानक मेरे मुँह से निकला—"गौतम !"

गौतम के कन्धों पर ओढ़ी हुई लोई रोंगटों की तरह खड़ी हो गयी। उस ने मेरी तरफ ऐसे देखा जैसे मैं उर्मि को ढूँढ़ने का रास्ता बताने लगा था। कहने लगा, "क्या पता उन्होंने मारा न हो, कहीं छुपा दिया हो, या तेरे और मेरे से चोरी से उसे किसी ने केन्या भेज दिया हो..."

शायद लम्बे दुखों के समय आशाएँ भी परछाइयों की तरह लम्बी हो जाती हैं। गौतम एक घड़ी यह भी भूल गया कि उर्मि के पास उस का छः-सात महीने का बच्चा था, और इस हालत में उसे वह किसी और के पास कैसे भेज सकते थे ! मैं ने उसे यह याद दिलाया तो वह जैसे लोई की अपनी बुक्कल में ही डूब गया हो।

"मैं सोच रहा था..." मेरे गले में आवाज़ कुछ अड़ गयी, "हम ने तो कहा था—हम उसे समुद्र मथकर ढूँढ़ लेंगे, पर..."

कहा गौतम ने था, पर यह उलाहना, उस अकेले को नहीं था, यह सब से बड़ा मेरा उलाहना मेरे साथ था।

उर्मि को गौतम के घर मैं ने अपने हाथों भेजा था···सोचा था, मेरा वास्ता मेरी बहन की ख़ुशी से है, ज़रूरत पड़ी तो बाप के ग़ुस्से से निबट लेंगे...

वह वक़्त ही न आया, और सारी कहानी निबट गयी...

मेरा बाप मेरी रगों को पहचानता था, पर मुझ से ही उस की रगें न पहचानी गयीं।...

गौतम जब उस दिन—डूबते सूरज के साथ डूबता-सा—मेरे पास आया था, 'तेरी बहन को पता नहीं वह कहाँ ले गये हैं,' तो 'वह' लफ़्ज़ के साथ मैं अपने बाप को नहीं जोड़ सका था।

'वह कौन ?' मैं ने अपने होशो-हवास थामकर पूछा था।

'तेरा बापू—उस का बापू...उस के साथ कोई और भी एक आदमी था ...मैं घर पर नहीं था, अभी काफ़ी दिन बाक़ी था, जिस वक़्त वे दो जने दो घोड़ियों पर आये...' उस के हवास टूट रहे थे।

यह गौतम को उस की एक पड़ोसिन ने बताया था, जो उस वक़्त उर्मि के

पास बैठी हुई थी। उस ने ख़ुद उर्मि के मुँह से सुना था कि उस का बापू आया है···फिर उस ने उर्मि को बापू के साथ जाते देखा था...दूसरी घोड़ी वाला अन्दर नहीं आया था, गली के बाहर खड़ा रहा था। वह पता नहीं कौन था?

मैं ने फिर भी बात की थाह नहीं पायी थी। कहा था, 'तो क्या हुआ, अगर बापू ख़ुद ही आया था तो काहे का ख़तरा?'

'पता नहीं क्या होने वाला है...' गौतम को धीरज नहीं बँधा। कहने लगा, 'शहर में आकर वह तुझे न मिला, मेरी भी ग़ैर-मौजूदगी में ले गया, वह भी घोड़ी पर...हम सब जब गाँव जाते हैं—गाड़ी पर जाते हैं...वह ख़ास तौर से घोड़ी पर क्यों आया...फिर साथ एक और आदमी...'

मुझे भी घबराहट हुई थी। हम दोनों रात की गाड़ी से गाँव चले गये थे। पर सुबह जब मैं घर पहुँचा, तो बापू सो रहा था, और उर्मि कहीं नहीं थी...

पूछ-पूछकर हार गया, पर बापू ने एक ही बात पकड़ रखी थी, 'मुझे कुछ पता नहीं।...'

उस दिन माँ वहाँ नहीं थी। साथ के गाँव में अपने भाई की ख़बर लेने गयी हुई थी...

आँगन में घोड़ी बँधी हुई थी। मैं बहुत देर तक घोड़ी के पास जाकर खड़ा रहा। देख सकता था—वह एक लम्बी राह तय करके हाँफ रही थी...

फिर एक मिन्नत-सी की थी, 'बापू! कल से उर्मि नहीं है...'

'मुझे क्या पूछने आया है?' बापू ने तमककर कहा था, आगे जब भाग गयी थी, तब मुझे पूछने आया था? अब है नहीं तो किसी और के साथ भाग गयी होगी, मुझे क्या पता...'

छाती में से हूक उठी थी—अगर सामने बाप न होता, उस की जगह कोई और होता...

फिर मैं ने और गौतम ने जैसे सारा गाँव छान मारा। गाँव के गढ़े, टिब्बे, कुएँ, झाड़ियाँ, पास में बहती नदी का रेतीला मैदान, उस के पार का उजाड़...

हमारे गाँव के बाहर रहने वाले छोटी कौम के लोगों में खुसर-पुसर हो रही थी—रात को नदी के किनारे कोई घोड़ियों पर आये थे...नदी के पार से चीख़ें सुनाई दे रही थीं...अन्धे कुएँ के पास घोड़ियाँ देर तक खड़ी रहीं...पार टीलों में रात-भर आग जलती रही थी...

हवाओं में गाँठ नहीं लगती। उन के किनारे हर जगह खुले रहते हैं। सुना कि केन्या से बहुत-सा रुपया उस के गाँव उस के बाप को आया है। उन के घर देगें पकी हैं और थाने में बोतलें खुली हैं...

दोनों गाँवों को मिरगी पड़ गयी है। बोलते कुछ नहीं, पर दोनों के हाथ-पैर अकड़े हुए हैं, मुँह से झाग बह रही है।

आक की नसवार...कड़ुए आक जैसा सच...यह आक का पौधा किस धरती पर बोऊँ...धरती ही तो नहीं है...धरती तो सारी उन्होंने अपने नाम करा ली, जिन के हाथ में रस्मो-रिवाज की लाठी थी...

सामने उर्मि की चारपाई पर, वह एक अँधेरे का ढेर-सा पड़ा हुआ था। कभी आँखें खोलकर अचानक ऐसे देखता था—जैसे दो तने अँधेरे में जलते हों...

चौथे दिन ख़बर सुनी—गौतम को यूनिवर्सिटी से शोध-प्रबन्ध लिखने के लिए वज़ीफ़ा मिल गया है।

जब से उर्मि नहीं रही थी, मेरे पैर गौतम के घर की गली देखकर ही जैसे जिस्म से अलग हो जाते थे। इस लिए कभी फिर उस गली में से नहीं गुज़रा था। गौतम ख़ुद ही अँधेरे की तरह फैलता मेरे कमरे में आ जाता था। पर ख़बर सुनी तो सोचा—उस का और मेरा दुःख कोई बाँटा हुआ थोड़े ही है, इस लिए मैं पैरों को घसीटता-सा उस के घर चला गया।

आज भी काँप-काँप जाता हूँ—जैसे गौतम को देखा था।

वह ज़मीन पर अडोल आल्थी-पाल्थी मारकर पूरी आँखें खोले बैठा हुआ था। कमरे का पर्दा खोलकर मैं उस के पास जाकर खड़ा हो गया, तब भी उस ने मेरी तरफ़ नहीं देखा। मैं ने आवाज़ दी, कन्धे हिलाये। पर उस ने न मेरी तरफ़ देखा, न आँखें झपकायीं। वह जैसे सुन्न—पत्थर—बैठा हुआ था।

घुटनों के बल ज़मीन पर उस के पास बैठकर मैं ने उस की बाँह खींची। उस का हाथ अपने हाथ में लेकर ज़ोर से भींचा।

बड़ी देर बाद उस के होंठ फड़के, "कुछ नहीं दिखता, कुछ भी नज़र नहीं आता, वह पता नहीं कहाँ है..."

"कौन ?" मैं ने चौंककर पूछा।

"उर्मि, और कौन..."

वह अभी भी सामने दीवार की तरफ़ देखे जा रहा था। जैसे उर्मि को उस दीवार में से निकलकर आ जाना हो।

"एक दीवार ही तो है, जिस के पार हम कुछ नहीं देख सकते...यह न जाने कैसी दीवार हमारी आँखों के आगे उठ आयी है..." मेरे मुँह से निकला, और मैं वहाँ ही, उस के पास घुटनों के बल बैठ गया।

उस ने एक गहरी साँस भरकर आँखें बन्द कीं, और फिर खोलीं। इस बार उस ने मेरी तरफ़ देखा।

मेरे माथे में से एक कँपकँपी उठकर मेरे पैरों तक चली गयी। उस की आँखों में ख़ून जैसी लाल धारियाँ पड़ी हुई थीं।

"तेरी आँखों को क्या हो गया ?" मैं ने घबराकर उस की पलकों को छुआ।

"यह...यह कुछ नहीं, जो वह कहीं दिख पड़े..." वह मुस्करा-सा पड़ा।

मुझे लगा—जो वह रो पड़ता, तो उस के रोने को झेलना आसान था, पर इस मुस्कराहट को झेलना बहुत मुश्किल था।

"कहीं जीती होती तो दिख न पड़ती !" मैं ने टूटकर कहा।

वह जल्दी से बोला, "पर इस का भी क्या सबूत है कि वह जीती नहीं है..."

"सबूत तो कोई नहीं," मैंने कहा, पर साथ ही फिर कहा, "जो कहीं होती तो, चाहे जिस हाल में होती, कोई ख़बर ज़रूर देती। आख़िर किसी तरह कोई ख़त या सन्देशा कुछ तो आता..."

"वह शायद...कहीं बड़ी मजबूर हो...क्या पता उसे किसी कोठरी में बन्द कर रखा हो...क्या पता किसी और देश में भेज दिया हो..."

उस की टूटी हुई आस को अगर कहीं गाँठ पड़ रही थी, तो मैं क्या कह सकता था !

"वह नज़र आयेगी, ज़रूर आयेगी...चाहे जहाँ भी हो..." उसने फिर धीमे से कहा।

"पता नहीं कब—अगर क़िस्मत हुई तो..." मेरे मन को उस की तरह आस नहीं बँध रही थी।

"मिले चाहे जब, पर आज या कल नज़र ज़रूर आयेगी।"

उस ने कुछ इतने विश्वास से कहा कि मैं ने उस के कन्धे को झटका-सा देकर जल्दी से पूछा :

"कुछ पता लगा है ?"

"पता कहाँ से लगना है..." उस ने ना में सिर हिलाया, तो मुझे उस की सारी बातें ऐसी अटपटी-सी लगीं, लगा—उस की सोच का तवाज़न कहीं से हिल

गया था।

"आज दूसरी रात है, कल तीसरी रात हो जायेगी। तीन रातों के अन्दर-अन्दर वह मुझे ज़रूर नज़र आ जानी है।" उस ने कहा तो मैं ने माथा पकड़ लिया। मुँह से मुश्किल से निकला—"गौतम !"

वह बोली नहीं।

मैं ही काफ़ी देर बाद कह सका, "तू शायद कल रात भी नहीं सोया। देख तेरी आँखें कैसी हो गयीं हैं। तू, भगवान् का वास्ता है, सोने की कोशिश कर!"

"सो जाऊँगा, तो वह दिखाई कैसे देगी ?" वह हँस-सा दिया, और कहने लगा, "वह जहाँ भी, जिस हाल में है, मुझे आज या कल ज़रूर दिखाई देगी। अगर उस के पैरों में रस्सियाँ भी बँधी होंगी, तो भी मुझे यह तो पता लग ही जायेगा कि वह कहाँ है..."

मैं सिर्फ़ यही सोच सका कि या तो मैं उसे डॉक्टर के पास ले जाऊँ, या किसी डाक्टर को ही जाकर इस के पास बुला लाऊँ। उठने लगा, तो उस ने कहा, "अगर तू चाहे तो तू भी उसे देख सकता है।"

"किस तरह ?" मैं ने उठते-उठते पूछा।

"मैं ने एक सुरमा बनाया है, बड़ी मुश्किल से, देख—उस कटोरी में अभी भी कितना सारा पड़ा हुआ है। तू भी मेरी तरह इसे आँखों में लगा ले, और यहाँ बैठ जा..." उस ने मेरे उठते हुए हाथ को पकड़ लिया।

जिधर उस ने इशारा किया था, मैं ने उधर देखा, एक कटोरी पड़ी हुई थी। मैं ने हाथों में ली। उस में कुछ-कुछ लाल-सा गीला रंग था।

"सुरमा ? यह लाल सुरमा ? पर सुरमा लगाने से वह किस तरह दिखाई देगी ?" मैं पूछ रहा था कि मैं ने कटोरी को सूँघकर देखा। कटोरी में से एक बू आयी...

"इसे आँखों में लगा लो, तो दुनिया-भर में तुम जहाँ भी देखना चाहो, दिखाई दे जाता है...सो उर्मि जहाँ भी होगी—चाहे समुद्र के पार ही हो—वह जरूर दिखाई देगी..." वह कह रहा था कि मैं ने घबराकर उस का हाथ झंझोड़कर पूछा, "गौतम, तुझे क्या हो गया है ? सच बता, यह क्या बला तूने आँखों में लगा ली है ?"

"यह सुरमा है..."

"पर सुरमा काला होता है, लाल नहीं होता।"

"यह साधारण बाजार वाला सुरमा नहीं।"

"तुझे किस ने दिया है ?"

"किसी ने नहीं, मैं ने ख़ुद बनाया है। इस का नुस्ख़ा मुझे एक साधु ने दिया है।"

"हाय राम..." मेरे मुँह से निकला, और मुझे लगा जैसे उर्मि आज दूसरी बार मर रही थी।

बड़ी सँभली हुई आवाज़ में मैं ने पूछा, "अच्छा बता, यह सुरमा कैसे बनाया है?"

वह जल्दी से पूछने लगा, "तू लगाएगा?"

"हाँ।" मैं ने सिर हिलाकर कहा।

वह सलाई लेने के लिए उठने लगा तो मैं ने पकड़कर बिठा लिया और पूछा, "पहले मुझे इस का नुस्ख़ा बता।"

"तू ऐसे ही फिर बनायेगा! बड़ी मुश्किल से बनता है, इसे ही लगा ले।" वह अपनी धुन में कहे जा रहा था।

"अच्छा, यही लगा लूँगा, पर पहले बता दे कि यह कैसे बनाया जाता है..." मैं ने उस से संभलकर, जितना संभलकर कहा जा सकता था, कहा।

"यह... यह आक की जड़ को, भेड़ के ख़ून में पीसकर, काजल-सा बनाया जाता है..."

उस ने ज्योंही कहा, मेरे आँसू निकल आये।

कहना चाहता था—आक की जड़! आक तो उर्मि की मौत का सच है, जो हम ने चबा लिया है। सच से बड़ा आक कोई नहीं होता...

पर मेरा कुछ भी कहा उसे सुनाई नहीं दे रहा था। यही कहा कि मैं अभी आता हूँ, और बाज़ार जाकर नींद की एक गोली और एक गिलास चाय ले आया।

किसी तरह उसे गोली खिलायी, चाय पिलायी और बाहर आकर सड़कों पर ऐसे चलने लगा जैसे मरघट में चल रहा होऊँ...

कॉलेज में दो दिन की छुट्टियाँ थीं। गाँव जाने का कोई ख़याल नहीं था—यूँ ही दिन ढले स्टेशन चला गया।

पिछले दिनों से कई बार जबरन मेरे पैर स्टेशन की तरफ़ चले जाते थे—आँखों के आगे अपनी ही किसी तमन्ना का कल्पित झाँवला आ खड़ा होता था—कि उर्मि गाड़ी के एक डिब्बे में से उतर रही है...

कितनी ही देर तक स्टेशन के प्लेटफ़ार्म पर खड़ा रहा—उर्मि की हमउम्र लड़कियाँ अगर पीठ की ओर से कोई उस का झाँवला-सा डालतीं—तो उन का मुँह देखने के लिए मेरी छाती में जो उतावलापन होता—वह एक पल उर्मि के ज़िन्दा होने का ऐसा भ्रम उत्पन्न कर देता—मैं एक पल उस की मौत को भूल जाता...

यही काँपता-सा भ्रम बनाये रखने के लिए मैं कई बार स्टेशन पर जाता था। उस दिन भी ऐसे ही गया था, पर ज़रा भी पता नहीं कि क्यों मैं गाँव जाने वाली गाड़ी पर चढ़ गया। रात ठंडी थी, पास में एक कम्बल तक नहीं था, पर एक कोने में—अपनी हड्डियों को अपनी ही हड्डियों में लपेटकर बैठा रहा।

पता नहीं किस वक़्त नींद आ गयी। शायद ख़यालों में ही कहीं गहरा उतर गया था; लगा—अपनी चारपाई पर बहुत गर्म रज़ाई में पड़ा हुआ था। सब कुछ वैसे ही था जैसे होता था। उर्मि मेरी रज़ाई को एक तरफ़ से मोड़ती बिजली का लैम्प बुझा रही थी...

सो गया था। पता नहीं कितनी देर। अचानक कितनी ही आवाज़ों का एक शोर मचा, और उस शोर से मैं जाग पड़ा।

सुबह होने वाली थी। गाड़ी किसी स्टेशन पर खड़ी थी, और लोग गाड़ी में से उतर और चढ़ रहे थे।

मेरे ऊपर सचमुच एक रज़ाई थी, यह कहाँ से आ गयी?

सपने का ख़याल आया—उर्मि ने मेरी चारपाई के पास आकर मुझे रज़ाई दी थी...

पर सपने वाली रज़ाई—यहाँ गाड़ी में सचमुच मेरे पास किस तरह आ गयी?

गाड़ी के डिब्बे में उर्मि कहीं भी नहीं थी...

सच और झूठ जैसे पानी में पानी की तरह मिले हुए थे, अलग नहीं होते थे...

मेरे बिल्कुल पास, मेरे सामने बैठा एक बूढ़ा आदमी, बड़े भले-से मुँह से मेरी तरफ़ देखकर कहने लगा, "तुझे किस जगह जाना है, बेटा? तेरा स्टेशन तो नहीं गुज़र गया?"

मन में कुछ छिल-सा गया। कहने को हुआ 'उर्मि कौन-से स्टेशन पर उतर गयी?—उतरना तो मुझे वहीं था'—पर मुँह बन्द कर लिया। खड़ी गाड़ी में से बाहर की तरफ़ देखा—स्टेशन का नाम पढ़ा, और कहा, "अगले स्टेशन पर

उतरूँगा।"

अचानक ख़याल आया कि यह रज़ाई ज़रूर इसी आदमी ने मुझे ओढ़ायी होगी। मैं ने हैरान उस की ओर देखा, "रज़ाई..."

"क्या हुआ बेटा ! तेरे पास भारी कपड़ा नहीं था, मेरे ऊपर तो इतना मोटा खेस भी है..."

क्या यही बूढ़ा आदमी मेरे सपने में उर्मि बन गया था ?

जो जहाँ भी किसी का कुछ सँवारता है, क्या वह हर जगह उर्मि है ?

अगला स्टेशन आ गया। मैं ने रज़ाई वापस की तो हाथ से धीमे से उस आदमी की बाँह छुई...

यही—एक पल का भुलावा कि मैं ने हाथ से उर्मि की बाँह छुई थी...

सारे होश, सारे हवास ठीक हैं। हक़ीक़त और भुलावों के बीच अभी मैं एक लकीर खींच सकता हूँ...

घर—माँ उसी तरह मांस और कपड़ों की गठरी-सी बनी खटिया पर पड़ी हुई थी।

पिताजी ने चूल्हे पर चाय चढायी, पर मुझे लगा—उन्होंने मेरी ओर ऐसे देखा जैसे मैं पराया डंगर उन के खेत में आ घुसा होऊँ...

देखा—उन के हाथ की एक उँगली पर पट्टी बँधी हुई थी। पूछा, "उँगली में क्या हो गया ?"

"कुछ नहीं," पहले उन की आवाज कुछ कंस-सी गयी। फिर कहने लगे, "तेरी माँ खटिया पर पड़ गयी है, चूल्हे में भी मुझे ही हाथ जलाने पड़ते हैं..."

उन्होंने जब मेरे लिए गिलास में चाय डाली तो गिलास उन के हाथ से पकड़ते हुए, अचानक मेरे मुँह से निकला, "अनामिका।"

"क्या ?" उन्होंने घूरकर पूछा।

"यही आप की उँगली, यह चीची के साथ की उँगली है न, पुराणों में इस उँगली का नाम नहीं लेते, इसी लिए इसे अनामिका कहते हैं..."

"तू पुराण कहाँ से घोट आया है ?"

"कॉलेज की लाइब्रेरी में पढ़े थे..."

जब आया था—तो मन में ऐसा कुछ नहीं था कि मुँह से कुछ कहा-सुनी करूँगा। पर सामने एक उँगली पर पट्टी बँधी देखकर, एक ख़याल आया, तो मुझ से मुँह रोका न गया।

पूछा, "आप को पता है, इस उँगली को अनामिका क्यों कहते हैं ?"

उन्होंने जवाब नहीं दिया।

मैं ने ही फिर कहा, "इस उँगली से शिव ने ब्रह्मा का सिर काटा था। इसी लिए इसे आज तक अपवित्र मानते हैं..."

उन के हाथ में पकड़े चाय के पतीले में से काफ़ी-सी चाय छलककर चूल्हे में गिर गयी।

रोने जैसी हँसी आयी। अपना चाय का गिलास मैं ने उन के आगे रखकर कहा, "आप यह चाय पी लो, मैं अपने लिए और बना लूँगा।"

दोपहर में, माँ घर पर अकेली थी, जिस वक्त मेरा ध्यान आँगन के एक कोने में लगी हुई तुलसी की तरफ़ गया। पत्ते काफ़ी मुरझाये हुए थे। माँ तो इसे रोज़ पानी दिया करती थी, कभी चूकती नहीं थी, फिर तुलसी को क्या हो गया ?

मुँह से निकल गया, "माँ, तुलसी को अब पानी नहीं देती हो ?"

माँ हर वक़्त ऊँघती-सी पड़ी रहती थी—न पता लगता था, सो रही है, न पता लगता था, जाग रही है। मेरी आवाज़ सुनकर चौंक-सी गयी, और कहने लगी, "मेरी तो मति को ही आग लग गयी है...सूख गयी तुलसी !"

"मैं पानी दे दूँ !—अभी जड़ से हरी है।" मैं ने कहा, और लोटे से तुलसी को पानी देने लगा।

पानी देते हुए तुलसी की कथा याद आयी, सुनाई तो कभी माँ ने ही थी, कहा, "माँ ! तुलसी तो शंखचूड़ को ब्याही थी न ?"

"हाँ।" माँ ने हुंकारा भरा।

"फिर जब इस की पूजा करते हैं, इस का ब्याह विष्णु के साथ क्यों रचाते हैं ? इसे विष्णु-वल्लभा कहते हैं, विष्णु की प्यारी..."

"वह तो..." माँ कुछ कहते-कहते रुक गयी।

मैं ने ही कहा, "मुझे थोड़ी-सी कहानी याद है, तुलसी जब शंखचूड़ को ब्याही गयी; तो एक बार शंखचूड़ घर पर नहीं था, और विष्णु तुलसी के पास चला गया। वह विष्णु को बड़ी अच्छी लगी थी...है न ? फिर दोनों को शाप लग गया। तुलसी गंडका नदी बन गयी, और विष्णु शालग्राम पत्थर होकर उस नदी में रहने लगे। तुलसी का पौधा तुलसी के बालों में से उगा था न ?"

माँ ऐसे ही सिर हिला रही थी, जैसे तुलसी की कहानी को सुनती और ही सोचों में पड़ गयी हो।

मैं कहता गया, "पर माँ ! साथ ही तो दोनों को शाप लगा कि उन्होंने बुरा काम किया था, और साथ ही अब उन की पूजा करते हैं, और तुलसी तथा शाल-ग्राम का ब्याह रचते हैं..."

"देवताओं की बातें और, मनुष्यों की और..." माँ ऐसे कह रही थी, जैसे झूर रही हो...

मैं माँ के पास उस की चारपाई पर जा बैठा। बोला, "पर मनुष्य अगर कभी देवताओं को नाराज़ कर ले, तो इस में क्या हर्ज होता है?"

माँ अपने पल्लू से आँखों को पोंछने लगी। धीरे से उसके मुँह से निकला, "लिखा हुआ कौन मिटाये..."

"पर माँ!" आज मेरी हिम्मत पड़ गयी, कहा, "लोग मरे हुओं की पूजा करते हैं, क्या पता किसी दिन हमारी उर्मि की पूजा भी करेंगे..."

माँ फूट पड़ी, "अरे मेरे कलेजे में कचोट होती है, चुप हो जा!"

और वह घुटनों पर सिर रखकर जैसे बिल्कुल खो गयी हो...
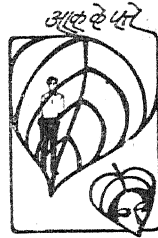
मैं फिर शहर पहुँच गया। पर पहुँचना कहाँ था—जहाँ से चला था वहीं पहुँच गया।

उर्मि की बात भी जहाँ से चली थी, फिर से वहीं पहुँच गयी है...मेरे पैरों के नीचे वही चौराहा है—जिस में से वही चार रास्ते फटते हैं...

गौतम का हाल देखने के लिए गया। उस का यह हाल देखना भी मेरी क़िस्मत में था।

वह कमरे के बीचोबीच आग जलाकर एक काग़ज़ को आग के अंगारों पर सुखा रहा था। काग़ज़ पर कई लकीरें खींची हुई थीं। लकीरों के ख़ानों में 'ह' अक्षर चौबीस बार लिखा हुआ था। किसी अक्षर को मात्रा, किसी को बिन्दी और बिलकुल बीच में 'उर्मि' लिखा हुआ था।

गाँव गया तो सोचा था कि गौतम के भाई को जाकर उस का हाल बता आऊँ। न उस की माँ ज़िन्दा थी, न बाप। एक भाई था, वह भी सगा नहीं था। पर फिर भी कहने गया था कि गौतम बीमार है, कोई उस के पास जाकर रहे तो

ठीक है। पर उस के भाई ने बात को टाल-सा दिया था। उस ने कहा था कि वह किसी दिन जाकर उसे गाँव ले आयेगा।

गौतम उसी तरह कमरे में अकेला था। मैं ने कुछ नहीं कहा। चुप होकर उस के पास, आग के पास, बैठ गया।

उस ने ख़ुद ही मेरी तरफ़ देखा और हुलसित-सा कहने लगा, "यह बड़ा बढ़िया मंत्र बताते हैं। कहते हैं—इस से कोई सौ योजन दूर हो, तो भी झट से आ जाता है।"

"अच्छा!" मैं ने दबी आवाज़ में कहा।

"यह लिखना मुश्किल नहीं था..." उस ने फिर कहा, पर मेरी तरफ़ देखा नहीं। शायद वह काग़ज़ को आग पर सुखाते हुए इस ध्यान में था कि काग़ज़ कहीं आग के ज़्यादा निकट न आ जाये।

मैं ने ही बात को चलाये रखने के लिए पूछा, "यह कैसे लिखा जाता है?"

उस ने ध्यान काग़ज़ की तरफ़ रखा और जवाब दिया, "काले धतूरे के पत्तों को पीसकर उसके पानी में गोरोचन मिलाते हैं।"

"गोरोचन क्या होता है?" मैं ने पूछा।

वह मुसकरा पड़ा। कहने लगा, "मुझे भी तेरी तरह पता नहीं था। फिर पता लगा कि यह गाय या बैल के पित्ते में से निकली हुई पीली-सी चीज़ होती है।"

"अच्छा!"

"बस, फिर काग़ज़ पर स्याही की जगह इस से यह अक्षर लिख दिये जाते हैं। जो कोई खो गया हो, बीच में उस का नाम लिखा जाता है—यह देख, बीच में उर्मि लिखा हुआ है।"

मेरा सिर झुक-सा गया। आँखें उठाकर उस की तरफ़ देखा न गया।

कमरे में कुछ टहनियाँ बिखरी पड़ी थीं। यूँ ही एक टहनी को हाथों में पकड़कर, मैं ने उँगलियों को आरे-सा लगा लिया।

वह कहने लगा, "हाँ, सच, यह अक्षर जिस क़लम से लिखे जाते हैं, वह क़लम सफ़ेद कनेर की टहनी से बनायी जाती है..."

यह गौतम—जिस ने यूनिवर्सिटी से वज़ीफ़ा लिया—शोध करने के लिए...

आँखें भर-भर आयीं...

अब वह काम पर नहीं जाता था जहाँ पढ़ाता था। मैं दूसरे दिन वहाँ जाकर उस की बीमारी की दरख़ास्त देकर उस के लिए छुट्टियाँ ले आया।

शहर में अस्पताल बहुत बड़ा था, मैं गया—पर घंटों यही लगा—जैसे मैं बीमार और ज़ख़्मी लोगों के एक जंगल में घिर गया होऊँ। कई घंटे एक लाइन में खड़ा रहा—पर आगे कहीं पहुँचने की जगह, जहाँ खड़ा था, अस्पताल के वक़्त

के ख़त्म होने तक देखा, कि मैं वहीं खड़ा हुआ था।

उस के अगले दिन—बहुत जल्दी, लाइनें लगने से पहले ही अस्पताल के दरवाज़े पर जा खड़ा हुआ। अब मेरे आगे कोई नहीं था, पर पीछे धीरे-धीरे एक क़तार बनने लगी। यह डॉक्टर के दरवाज़े के आगे खड़ी होने वाली क़तार नहीं थी, यह सिर्फ़ उस मुंशी की मेज़ के आगे खड़ी होने वाली क़तार थी, जहाँ से अस्पताल का कार्ड बनवाना था।

अस्पताल के खुलने का वक़्त नौ बजे था, पर साढ़े नौ बजने वाले थे, मुंशी कहीं दिखता नहीं था। मेरे लिए खड़ा होना बहुत मुश्किल नहीं था क्योंकि मैं बीमार नहीं था, मुझे तो गौतम के लिए एक कार्ड बनवाना था। पर मेरे पीछे लगी क़तार में सब बीमार ख़ुद आकर खड़े हुए थे। उन के लिए पैरों के बल खड़ा होना बड़ा मुश्किल था। कई वहीं अपने नम्बर के मुताबिक़ ज़मीन पर बैठ गये थे, और कइयों के मुँह से निकलती हाय-हाय की भी जैसे क़तार लग गयी थी...

पीछे मुँह करके हाय-हाय की कतार को देख रहा था कि अचानक मेरे मुँह पर—मिट्टी-धूल का एक बगूला-सा पड़ा। मुँह पलटकर देखा—मुंशी आ गया था, और अपनी मेज़ झाड़ रहा था...

ख़ैर, कार्ड बन गया, और मैं कार्ड हाथ में पकड़कर, डॉक्टर के कमरे का नम्बर पूछकर, उस कमरे के बाहर जा खड़ा हुआ। कमरे के आगे स्टूल पर बैठे चपरासी की मिन्नत की कि मुझे डॉक्टर साहब के सिर्फ़ दो मिनट लेने हैं, मरीज़ को साथ नहीं लाया, सिर्फ़ उस की हालत अकेले डॉक्टर को बतानी है। सिर्फ़ दो मिनट...और मैं कमरे की चिक उठाकर जब अन्दर जाने लगा, तो चपरासी ने रोक दिया, "वक़्त हो गया है, पर अभी डॉक्टर साहब नहीं आये।"

मैं इन्तज़ार करता रहा—चाहे मुझ से आगे किसी और की बारी नहीं थी, पर ऐसे जैसे मैं सब से पिछली बारी वाली जगह पर खड़ा होऊँ। पूरा एक घंटा बीत गया। फिर अन्दर टेलीफ़ोन की घंटी बजी, चपरासी अन्दर जाकर टेलीफ़ोन सुन आया, तो बाहर आकर मुझ से कहने लगा, "आज डॉक्टर साहब ने छुट्टी ले ली है, अब नहीं आयेंगे। कल आना।"

सवाल कहीं कोई किया ही नहीं जा सकता...पता नहीं सारे सवालों के जवाब कहाँ चले गये हैं...

कॉलेज से ली हुई छुट्टी मेरी आज भी बेकार गयी। प्राइवेट डॉक्टर के लायक़ पैसे कहीं से भी आ नहीं सकते थे...

एक या दो दिन की फ़ीस के लायक़ हो जाते, पर उसे तो रोज़ के सोलह रुपये लेने थे—मन के मरीज़ के साथ पैंतालीस मिनट बातें करने के सोलह रुपये...

कॉलेज का वक़्त गुज़र गया था। दोपहर में ख़ाली था—मैं गौतम की तरफ़

चला गया ।

कितनी अजीब बेतुकी बात है कि जाकर देखा—गौतम की भी उसी उँगली पर पट्टी बँधी हुई थी, जिस को अनामिका कहते हैं ।

"यह तेरी उँगली को क्या हुआ ?"

"कुछ नहीं, मैं ने इस में से थोड़ा-सा ख़ून निकाला था ।"

"तुझे पता है इस उँगली को अनामिका कहते हैं ?"

"हाँ, पता है, इसी लिए इस में से ख़ून निकाला था । यह देखो..." उस ने क़मीज़ का बटन खोलकर अपनी छाती से अटकाया हुआ एक काग़ज़ निकाला—जिस पर एक चौरस खाना खिंचा हुआ था और बीच में ख़ून से लिखा हुआ था—'ॐ...का...दं...ह्रीं...नमः उर्मि...माकरषय...ॐ...क्लीं...'

और गौतम ने हुलसकर कहा, "यह मंत्र अनामिका उँगली के ख़ून से लिखकर छाती के पास रख छोड़ें, तो इस पर जिस का नाम लिखें, वह रात को ज़रूर आता है..."

मेरे होंठ काँपकर रह गये, बोला नहीं गया । आँखों में आये आँसू शायद मुँह पर दिख पड़े थे । गौतम ने हैरान होकर पूछा, "तू रोता क्यों है ?"

मुझे रुलाई आ गयी । मैं ने उसे बाँहों में लेकर कहा, "एक आँखों से ओझल होकर मर गयी, दूसरा आँखों के सामने मर रहा है । मैं कहाँ जाऊँ..."

कॉलेज से आया तो बन्द दरवाज़े में एक पर्चा अटका हुआ था, मेरे मिलिटरी वाले चाचा का । लिखा था, "सुबह मैं और भाई दोनों आये थे, पर दरवाज़ा बन्द था, तू कॉलेज जा चुका था । वापिस आकर कमरे में ही रहना, हम दोपहर में फिर आयेंगे ।"

कमरे में रहना था, इस लिए बैठा रहा । पर गिनती के घंटों में लाखों दलीलें कैसे आती हैं, यह मुझे इस वक़्त पता लगा ।

—चाचाजी भी और पिताजी भी दोनों अचानक शहर क्यों आये ?...चाचा छुट्टी आया होगा, या पिताजी ने कोई मुसीबत पड़ने पर ख़ास तौर पर बुलाया होगा ?...क्या पता, पुलिस ने कोई सोई हुई बात जगा ली हो ?...क्या पता शहर किसी बड़े अफ़सर से मिलने आये हों ?...क्या पता, सारी ही ख़बरें ग़लत हों, और उर्मि ज़िन्दा हो, और अब बच्चे के होने का वक़्त आ गया हो...

निराशा की आदत डाल ली हो, तो आशा का ज़रा-सा भी झाँवला झेलना मुश्किल हो जाता है...उर्मि के ज़िन्दा रहने की कल्पना ने मेरे रोम-रोम से बिजली छुआ दी...मैं जैसे वहीं बैठा था और मेरे पैर सारे शहर में दौड़ रहे थे...उर्मि को ढूँढ़ रहे थे...

शायद उसे अस्पताल ले गये हों...यह वक़्त गाँव में तो नहीं काटा जा सकता था...पर इतने दिन उर्मि को रखा कहाँ ?

परछाइयों में लकीरें भरने लगीं। और अचानक—अचानक एक रंग-सा भर गया—हाँ, चाचाजी को मिलिटरी अस्पताल में सारी सुविधाएँ मिल सकती हैं—इस लिए चाचाजी को बुलाया होगा...यह वक़्त और कैसे गुज़ारा जा सकता था...

और कमरे में बैठे हुए भी मेरे पैर जैसे गौतम को ढूँढ़ने के लिए दौड़ पड़े...

कमरे का दरवाज़ा हिला, मेरी आँखें जैसे दरवाज़े पर ही जमी हुई थीं। देखा—सामने चाचाजी थे।

"क्या हाल है बरख़ुर्दार !" चाचाजी यह कहते हुए कमरे में आ गये, और उन्होंने मेरे सिर पर प्यार किया।

मैं अभी भी उन के पीछे ख़ाली दरवाज़े को देख रहा था—पर वह अकेले थे।

पूछा, "पिताजी ?"

"वह अभी अस्पताल में हैं...मैं अभी घंटे-भर में अस्पताल जाऊँगा..." चाचाजी कह रहे थे कि लगा मेरा दिल मेरी छाती में सँभल नहीं रहा था...जो सोचा था क्या वह ठीक था ?...उर्मि सचमुच ज़िन्दा थी ?...

मुँह से निकला, "मिलिटरी अस्पताल ?"

"हाँ, भई," चाचाजी चारपाई पर बैठते हुए कहने लगे, "वहीं कुछ सुनवाई हो सकती थी, दूसरे अस्पतालों में हमें कौन पूछता है..."

आँखों में शायद पानी आ गया था, मुझे चाचाजी का मुँह न दिख सका। कमरा भी नहीं दिख रहा था। सब कुछ जैसे पानी में डूब गया हो।

और आँखों के पानी में से उर्मि का मुँह तैर आया...देखे जा रहा था, आँखें नहीं झपका रहा था कि उस का मुँह फिर कहीं लोप न हो जाये...

आँखों का पानी शायद मुँह पर ढलक पड़ा था । चाचाजी ने मुझे बाँह से पकड़कर चारपाई पर पास बिठाते हुए कहा, "फ़िकर न कर, भाई ठीक हो जायेगा ।"

"क्या ?" मेरे होश को जैसे ठोकर लग गयी हो ।

"वैसे तो भाई के होशो-हवास ठीक हैं—बस कानों पर ही पर्दे-से आ गये हैं, सुन कुछ नहीं पड़ता..."

उर्मि का मुँह, मेरी आँखों के आगे, रेत के महल की तरह झर गया...मैं उसे भौंचक्का-सा सामने देख रहा था ।

"तू जब पिछली बार गाँव गया था, भाई को कोई तकलीफ़ लगती थी ?" चाचाजी ने पूछा ।

"नहीं ।"

"बात कुछ ऊँची सुनता था ?"

"नहीं ।"

"तेरी माँ भी यही कहती थी बस, एक दिन सोकर उठा तो कान से कुछ सुनाई ही न दिया । न कोई चोट लगी, न कान में कोई फोड़ा-फुँसी..." चाचाजी ने गले का कोट उतारकर पाये के पास रख दिया, और चारपाई पर ज़रा आराम से बैठते हुए कहने लगे, "यह तो मैं यूँ ही आ गया । वैसे वह ठीक था, उठकर उस ने मुझे गले से लगाया, पर उसे कान से कुछ भी नहीं सुनाई पड़ता । मैं उस के कानों से मुँह लगाकर ज़ोर-ज़ोर से भी बोला, पर उस ने हाथ हिला दिया कि कुछ सुनाई नहीं देता । पता नहीं मुक़द्दर का ही कोई खेल है..."

"मैं जब गया था, तब ठीक थे ।" मैं ने बताया ।

"तेरी माँ भी यही कहती थी । बस जिस दिन तू आया, उस के दूसरे दिन ही यह हो गया ।"

"फिर ?"

"कानों के पर्दे दिखाने थे, कहीं फट तो नहीं गये । सो मुश्किल से मनाकर शहर लाया हूँ । घर कुछ दारू-दरमत किया था, पहले कड़आ तेल गरम करके कानों में डाला था, फिर रात ब्रांडी की दो-चार बूँदें गर्म करके डालीं, पर अन्दर कोई फुंसी-वुंसी नहीं दिखती, न उसे पीड़ा होती है । सो डॉक्टर देख रहा है । चार बजे जायेंगे, तब शायद कुछ पता लगे..."

सो उर्मि न थी, न होगी...

"आप रोटी खायेंगे ? नीचे बाज़ार से ले आऊँ ?" मैं ने चाचाजी से पूछा ।

"ना भई, रोटी तो मैं आता हुआ राह में खा आया हूँ । जाते हुए चाय का घूँट ज़रूर पीऊँगा । पर अभी नहीं ।" चाचाजी ने कहा, और फिर ज़रा-सा रुक-कर कहने लगे, "घड़ी-भर तेरे साथ भी बातें करनी थीं ।"

"कहिये।"

"सच-सच बतायेगा न ?"

"आप को यह भी पूछने की ज़रूरत पड़ गयी ?" एक बड़ी ही कड़ुई-सी हँसी आयी।

"हमारी लड़की कहाँ है ? कुछ भी हो, आख़िर अपनी बेटी है..."

"किसी की बहन है, किसी की बेटी है, पर शायद किसी की भी कुछ नहीं थी..." मुँह में आई हुई कड़ुआहट मुँह से निकल गयी। पर लगा, मुझे कुछ नहीं कहना चाहिए था।

"सुना है—वहाँ अगलों के घर राज़ी नहीं थी..." चाचाजी ने फिर मुझे कुरेदा।

"आप आये तो थे ब्याह के वक्त। आप को पता ही है कि उस का बाँधकर ब्याह किया गया था। मैं तो तब छोटा था : आप को शायद पता होगा..." मैं ने जवाब दिया।

"हाँ...हाँ..." चाचाजी ने कुछ सोचकर कहा, "कानों में भनक तो पड़ी थी कि उस की मर्ज़ी किसी और जगह है; पर हम ने तो अपनी तरफ़ से उस का ही भला चाहा था, बड़ा खाता-पीता घर ढूँढ़ा था..."

मैं ने कुछ नहीं कहा। चाचाजी ही कहने लगे, "अन्दर बिठाकर भाभी ने मुझे बताया था, भई जहाँ उस की मरज़ी है उस का घर-ठिकाना कोई नहीं ! माँ-बाप उस के सिर पर नहीं, घर सौतेला भाई है, उसे कौड़ी भी देने वाला नहीं। आँखों से देखते हुए लड़की को वहाँ धक्का कैसे दे देते..."

कहने को बहुत कुछ था, पर क्या कहता !

चाचाजी चारपाई पर आराम से पड़े होते हुए भी, फिर उठकर बैठ गये। कहने लगे, "यहाँ तेरे पास आकर शहर में फिर पढ़ने लगी थी ?"

सिर हिलाकर 'हाँ' कहा।

"सुना है, वह जना भी यहीं शहर में था ?"

मैं ने फिर सिर हिलाकर 'हाँ' कह दिया।

"पर अगर वह मर्द का बच्चा था तो सीधी तरह उस की बाँह पकड़ता। मेरे और तेरे बाप के सामने आकर बात करता। चलो हम, जहाँ लड़की का मन नहीं मानता था, वह रिश्ता तुड़वा देते। पर वह चोरों की तरह क्यों ले गया ?" और चाचाजी एक ही साँस में फिर कहने लगे, "ले भी गया था, तो बाप का बच्चा होता, उस की लाज रखता—उस ने आगे कहीं..."

"चाचाजी," मैं चीख़-सा पड़ा। फिर सँभलकर कहा, "यह सब कुछ आप कहाँ से सुनकर आये हैं ?"

चाचाजी कितनी ही देर तक मेरे मुँह की तरफ़ देखते रहे, फिर कहने लगे,

"भाई भी यही कहता है और सारा गाँव भी..."

मन बड़ा बोझिल-सा हो गया था। मैं इतना ही कह सका..."उर्मि ऐसी नहीं थी, नहीं वह आदमी..."

चाचाजी सोच में डूबे रहे, फिर कहने लगे, "किसी का मुँह नहीं पकड़ा जाता, तेरी चाची ने तो कुछ और भी सुना है...लोग मुँह पर कुछ नहीं कहते, पर पीठ पीछे कई बातें करते हैं..." और फिर अचानक मेरे कन्धे पर हाथ रख-कर कहने लगे, "तू भी तो अब नादान नहीं...तू बता! तू क्या सोचता है?"

मैंने अभी कुछ नहीं कहा था, कि चाचाजी पूछने लगे, "तू तो शहर में था, तू ने कभी उसे देखा, तुझे वहाँ भी वह उदास-उदास लगती थी?"

"नहीं चाचाजी! वहाँ वह बहुत ख़ुश थी..."

"फिर यह तो ठीक नहीं लगता कि उस ने अपने को ख़ुद ही ख़त्म कर लिया हो..."

"बिल्कुल नहीं।"

"फिर तेरा क्या ख़याल है कि किसी ने ज़बरदस्ती उस को..."

"उस के साथ जो कुछ भी हुआ है ज़रूर किसी ने जबरन किया है..."

"शायद उन लगतों ने तैश में आकर..."

"यह मुझे कुछ पता नहीं।"

"लोग तो..." चाचाजी ने जैसे अपनी जीभ काट ली, "नहीं, नहीं, मैं यह नहीं मान सकता..."

पता था चाचाजी ने क्या सुना था और क्या कहने लगे थे। पर फिर भी पूछा, "क्या?"

"मेरा भाई ऐसी बात नहीं कर सकता," और आवाज़ पर ज़ोर-सा देकर वह कहने लगे, "उस का मन कहीं लगा हुआ था, यह बात तो समझ आती है, पर हमारी लड़की ऐसी नहीं थी कि एक को छोड़कर दूसरे के पास, और दूसरे को छोड़कर तीसरे के पास..."

"नहीं, चाचाजी! उस के घर तो बच्चा..."

"हैं? क्या कहा?"

"बस दो-तीन महीने रहते थे...वह आदमी तो उसे ढूँढ़ता पागल हुआ फिरता है..."

चाचाजी कितनी देर तक माथे को पकड़कर बैठे रहे...

"चाचाजी, चार बजने वाले हैं।" मैं ने हाथ की घड़ी की तरफ़ देखा।

"अच्छा, चल फिर चलें। तू मेरे साथ चलेगा न?"

"चलूँगा।..."

"दस मिनट ठहर जा, मेरा जी ठिकाने नहीं आ रहा है।" वह फिर चार-

पाई पर अधलेटे-से हो गये ।

"आप ने कहा था...चाय का घूंट..."

"नहीं, इस वक़्त नहीं..." कहते हुए वह फिर चारपाई पर से उठ बैठे, और मुझे कंधे से पकड़कर कहने लगे, "यह ज़रूर केन्या वाले होंगे, उन के पास पैसा भी बहुत है, पैसे के ज़ोर से सब कुछ हो सकता है, वह पुलिस की आँखों में भी मिट्टी झोंक सकते हैं..."

मैंने चारपाई के पाये पर से उठाकर उन का कोट पकड़ाया, तो कोट को गले में डालते हुए वह कहने लगे, "मेरे भाई का ख़ून सफ़ेद नहीं हो सकता... नहीं, नहीं..."

मैं और चाचाजी जब अस्पताल पहुँचे, डॉक्टर ने अपनी रिपोर्ट लिखकर रखी हुई थी, और पिताजी एक बेंच पर बैठे ऊँघ रहे थे ।

मैं पास जाकर खड़ा हुआ, तो वह जाग पड़े । पूछने लगा, "डॉक्टर ने क्या कहा है ?" कि लगा—उन्हें बिलकुल ही कुछ सुनाई नहीं दे रहा हो । उन्होंने अपने कान के पास हाथ लाकर हिलाया, इशारे से बताया, "कुछ नहीं सुनता ।"

मैं और चाचाजी डॉक्टर के पास कान की रिपोर्ट समझते रहे, "कानों की सब नाड़ियाँ और पर्दे ठीक हैं । कहीं कोई ज़ख़्म या खरोंच नहीं । जिस्मानी नुक़्स कहीं नहीं..."

शायद अब और कुछ पूछने या समझने लायक़ नहीं था...
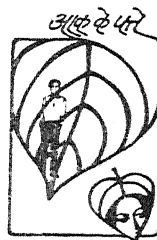
दूसरे दिन बड़े सवेरे अभी सोया पड़ा था, कमरे का दरवाज़ा खटका । उठकर दरवाज़ा खोला, बाहर गौतम खड़ा था ।

वह कमरे की दहलीज़ लाँघ आया, पर बैठा नहीं । उसी तरह खड़े-खड़े कहने लगा, "भोजपत्र चाहिए, छोटा-सा टुकड़ा, कहाँ मिलेगा ?"

इस के सिवाय कुछ नहीं कहा जा सकता था, "कहीं ढूँढूँगा। तू यहाँ चार-पाई पर बैठ, मैं नीचे बाज़ार से दो प्याले चाय ले आऊँ...।"

"नहीं, वक़्त बड़ा थोड़ा है..." वह उसी तरह खड़ा रहा।

"कहाँ जाना है इतनी जल्दी ?"

"जाना नहीं, पर तुझे पता है आज क्या तारीख़ हो गयी है ?"

"आज—बाइस जनवरी।"

"उर्मि बाइस अक्तूबर को गयी थी..."

मन में आया—गौतम को यह तारीख़ ठीक याद थी, शायद उस के अन्दर का तवाज़न बहुत नहीं बिगड़ा था, और शायद अब वह ठीक हो रहा था...

वह कहने लगा, "तब उर्मि को सातवाँ महीना लगा था, इस का मतलब है कि अब पूरे दिन हो गये होंगे। बस, आज या कल हमारा बच्चा..."

मुझ से आगे नहीं सुना गया। वह उसी तरह खड़ा हुआ था, मैं ही निढाल चारपाई पर बैठ गया।

उस ने इधर चारपाई के पास आकर मुझे एक काग़ज़ दिखाया जिस पर दो बड़े ख़ाने और नीचे दो छोटे ख़ाने बने हुए थे। ऊपर के ख़ाने में 'क्लीं' लफ़्ज़ लिखा हुआ था, निचले में पाँच 'ह्रीं', तीन 'क्रं क्रें क्रों' और छोटे ख़ाने में एक-एक 'ह्लृ'..."

"इस बीच की ख़ाली जगह पर गर्भवती का नाम लिखकर रख लें, तो बच्चे को कोई ख़तरा नहीं रहता।"...गौतम कह रहा था, मैं रो रहा था, और इस बच्चे की माँ कहीं रोने लायक़ भी नहीं रही थी...

"पर यह साधारण काग़ज़ पर नहीं लिखा जाता...यह भोजपत्र पर चन्दन से लिखते हैं..."

वह कह रहा था, धरती-अम्बर सुन रहे थे, पर चुप थे...

उस के मन को और तरफ़ लगाने के लिए मैं बोला, "तुझे डाक्टरेट करना है, सबजेक्ट कौन-सा लेना है ?"

"चल उठ, कहीं पता करें, भोजपत्र कहाँ मिलेगा।"

हम दोनों जैसे बहरे हो गये थे, उसे मेरी बात सुनाई नहीं देती थी, मुझे उसकी बात।

नहीं—हमारे कानों को कुछ नहीं हुआ था...सारी दुनिया बहरी हो गयी थी, जिसे हमारी आवाज़ सुनाई नहीं देती थी...

गौतम अपने ही ख़याल में खड़ा हुआ था। मैं ने कहा कुछ नहीं, पास से गुज़रकर सीढ़ियाँ उतर गया। नीचे बाज़ार में चाय की दुकान नज़दीक ही थी, मैं उबले हुए अण्डे, थोड़े-से बिस्कुट और चाय लेकर आ गया।

उर्मि वाली चारपाई अभी भी मेरे कमरे में उसी तरह उसी जगह बिछी

हुई है। मैं ने हाथ उधर करके गौतम को बैठने के लिए कहा, तो वह बैठ गया। उस के पास पड़ी हुई छोटी-सी मेज़ पर मैं ने चाय रखी और अण्डे छीलने लगा।

गौतम ने एतराज़ नहीं किया, चाय ले ली। आधी पी थी कि उसे कुछ याद आ गया। उस ने चाय का गिलास मेज़ पर रखकर जेब में हाथ डाला, और एक काग़ज़ निकालकर कहने लगा, "यह मेरे पास एक और मंत्र है, इस से जो भी उर्मि को दुःख देगा, उस का नाश हो जायेगा। पर यह नहीं...यह मैं नहीं लिखता..."

"क्यों ?" मैं ने ऐसे ही पूछ लिया।

वह कहने लगा, "यह कौए और उल्लू के ख़ून से लिखा जाता है—मरघट में से मनुष्य की खोपड़ी लाकर, उस खोपड़ी पर। मुझ से मनुष्य की खोपड़ी को हाथ नहीं लगाया जायेगा..."

गौतम का मुँह सामने था। अचानक मेरे अपने बाप का मुँह भी सामने आ गया—जिस ने किसी ग़ैर-पराये की नहीं, अपनी ही बेटी की हड्डियों को और खोपड़ी को हाथ से उठाया, बहाया या दबाया होगा...

"यह सब जंतर-मंतर छोड़ दे गौतम। हम दोनों पागल हो जायेंगे। इन से कुछ नहीं होने का..."मैं ने गौतम के घुटनों के पास बैठकर एक ही वास्ता डाला।

"तुझे नहीं पता..." गौतम ने एक भरोसे से कहा, "तू साईं बाबा के पास जाकर देख, वहाँ लोगों की भीड़ लगी रहती है। इन्हीं मंत्रों से कइयों के कारज सिद्ध हुए हैं।"

गौतम को बचाने की मुझे जैसे राह मिल गयी। मैं ने जल्दी से कहा, "अच्छा, तू मुझे साईं बाबा के पास ले जायेगा ?"

"तू चलेगा ? वह रेलवे लाइन के पार वाली झोंपड़ियों में रहता है। हमेशा यहाँ नहीं रहता, पता नहीं कब चला जाये..." गौतम ने हाथ में पकड़ा हुआ बिस्कुट का टुकड़ा फिर प्लेट में रख दिया—जैसे हमारे जाने में देर हो रही हो।

शनिवार था, कॉलेज सिर्फ़ एक ही पीरियड के लिए जाना था, मैं ने कॉलेज का ख़याल छोड़ दिया, कहा, "अच्छा, अभी चलते हैं।" सोचा—साईं बाबा की मिन्नत करूँगा—बाबाजी, हम मरे हुओं को न मारो...

पर मैं और गौतम रेलवे लाइन को पार करके, कच्ची राह की मिट्टी छानकर, साईं बाबा वाली झोंपड़ी में पहुँचे तो वहाँ औरतों और मर्दों का इतना झुरमुट पड़ा हुआ था जैसे ज़िन्दगी की सारी आशाएँ वहाँ मिट्टी में रेंग रही हों।

हम भीड़ के आख़िरी सिरे पर थे, पर साईं बाबा की आवाज़ वहाँ भी ऊँची-ऊँची कानों में पड़ रही थी "सदाशिवं सदानंदकरुणामृतसागरम्...तंत्रविद्या क्षणसिद्धि कथ्यसर्वं मम प्रभो .."

साईं बाबा का मुँह उम्र से पका हुआ और एक अच्छा हठीला मुँह था। आँखें एक ही नज़र से चारों तरफ़ की भीड़ को परख लेने वाली। मैं ने देखा—साईं बाबा की नज़र मेरे मुँह पर चील की तरह झपटकर गुज़र गयी। मैं एक नया चेहरा था, शायद मेरे मुँह पर दीनता और विश्वास की मुहर नहीं थी··· देखा—वह नज़र दूसरी बार झपटी, तो साईं बाबा की आवाज़ और ऊँची तथा सख़्त हो गयी, "शान्ति और पुष्टिकर्म में सत्ताईस दाने की माला पिरोयी जाती है, वशीकरण में पन्द्रह दाने की, उच्चाटन में सत्ताईस दाने की, विद्वेषण में इकत्तीस दाने की, और आकर्षण में सत्तावन दाने की पृथक्-पृथक् प्रकार के डोरे में माला पिरोयी जाती है..."

लोगों के इतने दीन मुँह मैं ने कभी नहीं देखे थे। यह दुनिया ही जैसे मैं पहली बार देख रहा था, कमज़ोर, बीमार, बूढ़े, झुर्रियों वाले हाथ प्रार्थना में जुड़े हुए थे। औरतें फटी हुई धोतियों से अपनी आँखें पोंछ रही थीं। सब के वर्तमान और भविष्य जैसे उन की फटी हुई झोली में से नीचे गिर गये हों...

साईं बाबा कह रहा था, "वशीकरण मंत्र सत्ताईस दिन में, मारक इकसठ दिन में, मोहन इकत्तीस दिन में, आकर्षण और उच्चाटन इकतालीस दिन में, और विद्वेषण मंत्र इक्यावन दिन में अपना फल देंगे..."

एक अधेड़-से दिखते आदमी ने साईं बाबा के एक पैर को कसकर पकड़ रखा था। साईं बाबा ने उधर नज़र की और कहा, "ॐ ह्रीं क्लीं—महालक्ष्म्यै नमः—वटवृक्ष के नीचे एकाग्र मन से महालक्ष्मी यक्षिणी का जाप करें, दस हज़ार संख्या में, तो लक्ष्मी स्थिर हो।"

एक चाँदी का गोखरू-सा उस आदमी ने साईं बाबा के आसन की कन्नी उठाकर रख दिया, और दोनों हाथ जोड़कर परे हो गया।

साईं बाबा का पैर ख़ाली हुआ तो एक मरियल-सी औरत ने उस के पास एक रुपया रखकर जल्दी से वह पैर पकड़ लिया। उस ने साईं बाबा को कुछ बताया, पर मैं दूर था, सुनाई नहीं दिया। सिर्फ़ साईं बाबा की आवाज सुनाई दी—श्वेत आक की जड़ पुष्य नक्षत्र में उखाड़कर दाहिनी भुजा में बाँधने से अभागी स्त्री भी स्वामी से सौभाग्य को प्राप्त होती है...

दुःखों का अन्त नहीं था, किसी की नौकरी छूट गयी थी, किसी का जवान बेटा बरस-भर से चारपाई पर पड़ा था, किसी की कोख बाँझ थी, किसी का भविष्य बाँझ था...

साईं बाबा के जंतर-मंतर और चाहे कुछ न हों, पर ज़िन्दगी के छोटे-मोटे बहलावे ज़रूर थे। पर लोग, रोज़ के पता नहीं कितने लोग, बहलावों में बूढ़े हो रहे थे...

और देखा—साईं बाबा के बताये मंत्र कुछ तो मासूम-से लगते थे, पर कई

बहुत भयानक भी थे—जिन में कहीं चिता की राख थी, कहीं मनुष्य की खोपड़ी, कहीं मनुष्य की हड्डी में से गढ़ी हुई सलाई···या उल्लू, ऊँट और काले मुर्गे के ख़ून की बात जैसे आम-सी थी···एक बार मैं ने कानों से सुना कि उस ने किसी को श्मशान में जाकर किसी मुर्दे की छाती पर बैठकर एक मंत्र पढ़ने का आदेश दिया। दो घंटे के बाद जब साईं बाबा के इर्द-गिर्द की भीड़ छँट गयी, मैंने साईं बाबा के बिल्कुल कान के पास आकर कहा, "बाबाजी, किसी ने पुलिस के बड़े अफ़सर के पास शिकायत की है कि आप के कहने पर लोग रात मरघट में जाकर मनुष्यों की खोपड़ियाँ चुरा लाते हैं। पुलिस आप के पीछे लगी हुई है...परसों एक आदमी एक मुर्दे की छाती पर बैठा पकड़ा गया है..."

साईं बाबा की लाल-लाल आँखें मेरे ऊपर बड़े ज़ोर से झपटीं, पर मैं सिर नीचा करके और दोनों हाथ जोड़कर साईं बाबा के सामने बैठ गया।

साईं बाबा चुप हो गये। इतने चुप कि गौतम के बोलने पर भी न बोले।

मैं इतना जान गया कि अगर मिन्नत-मोहताजी से साईं बाबा को कहूँगा कि लोगों को झूठे बहकावे मत दो, तो वह मेरी बात नहीं सुनने के।

पुलिस को कुछ कहने का सवाल ही नहीं था, किसी को कह-सुनकर ले भी आता, तो उसे साईं बाबा के पास से भी कुछ ले-देकर अपनी राह चला जाना था। ऐसे ही तीर-तुक्का-सा लगाया, चल गया तो भी, न चला तो भी।

चुप लम्बी हो गयी, तो मैं ने गौतम का हाथ पकड़कर उठाया, "साईं बाबा की समाधि लग गयी है। चलो चलें। फिर कल आ जायेंगे।"

दूसरे दिन इतवार था, मुझे छुट्टी थी। इस लिए गौतम दूसरे दिन मुझे फिर खींचकर वहाँ ले गया। पर दूसरे दिन साईं बाबा सचमुच वहाँ नहीं था।

वह केन्या वाला, उर्मि का नहीं, उर्मि के गहनों का सगा मुझे ढूँढ़ता-ढूँढ़ता एक दिन मेरे कॉलेज आ गया। मेरे कमरे का शायद उसे पता नहीं था, या मिला

नहीं था।

उस ने मेरे नाम की चिट लिखकर मुझे बाहर न बुलाया होता, तो मैं उस को पहचान नहीं सकता था। पहले सिर्फ़ एक बार देखा था, वह भी सेहरे से ढँके मुँह को, अब बिलकुल भी पहचान नहीं रह गयी थी। उस ने नाम-पता बताया, तो मैं पहचान सका।

हैरान था, अब उसे मेरी क्या ज़रूरत पड़ गयी थी, पर जब उसे साथ लेकर मैं अपने कमरे में आया, तो पता लगा कि उसे मेरी ज़रूरत क्यों पड़ी थी।

कमरे में, मेरी एक आदत थी, गौतम जब आता, मैं उसे हमेशा उर्मि की चारपाई पर बिठाया करता था, और ख़ुद उस के सामने हमेशा अपनी चारपाई पर बैठा करता था। पर आज मैं जल्दी से उर्मि की चारपाई पर बैठ गया, और अपनी चारपाई की तरफ़ हाथ करके उसे बैठने के लिए कहा। लगा अगर वह उर्मि की चारपाई पर बैठ गया तो उर्मि की रूह को, जहाँ भी वह होगी, दुःख होगा।

सोच रहा था—अब उर्मि की बात वह क्या करेगा, कैसे करेगा, शायद मुझ से उस के खो जाने का या मरने का कोई भेद पूछेगा...

वह कुछ देर चुप रहा। फिर कहने लगा, "वह जब यहाँ पढ़ने के लिए आयी थी, उस के हाथों में सोने के कड़े थे?"

मैं ने जवाब दिया, "हाँ, पर वह छुट्टियों में एक बार गाँव गयी थी, वहाँ वापिस दे आयी थी।"

"नहीं," उस ने धमकी-सी देकर कहा, "वह जिस आदमी के पास चली गयी थी, वह कड़े उसी आदमी ने अपने पास रख लिये हैं। तू उस आदमी के पास जाकर वह कड़े ला दे, नहीं तो..." वह कुछ आगे कहता हुआ रुक गया।

मेरी हड्डियों में कुछ जल-सा उठा, "नहीं, उस आदमी ने तुम्हारे घर के किसी गहने को या कपड़े को हाथ नहीं लगाया।"

उस ने फिर ज़ोर से कहा, "उसे जब वह भगाकर ले गया था, कड़े उस के हाथों में पड़े थे।"

"वह भगाकर नहीं ले गया था..." कह रहा था कि मुँह का फ़िकरा बीच में छोड़ दिया। लगा—उसे कुछ भी कहने की ज़रूरत नहीं थी।

उर्मि ने हाथों के कड़े मेरे सामने उतारे थे, और इसी आदमी के छोटे भाई को गाँव से बुलाकर मेरे सामने सौंप दिये थे। पर यह बात कहने से पहले मुझे एक अजीब ख़याल आया...

मैं ने जल्दी से कहा, "फिर शायद मरते वक़्त उस के हाथों में ही पड़े रहे हों..."

"नहीं, उस के हाथों में नहीं थे..." वह बात के जवाब में बोल गया।

सो—आज उर्मि की मौत मैं ने कानों से सुन ली। अभी तक कानों से कुछ नहीं सुन सका था। अपने बाप के मुँह से भी नहीं, पर इस आदमी के मुँह से आसानी से ही सुन लिया।

सो—दूसरी घोड़ी वाला इस का बाप था। उसी ने मरी हुई की बाँहें टटोली होंगी...

आग की एक लपट मेरे मुँह में जली, कहा, "अगर तुम्हें इतना पता है, तो यह भी पता होगा कि उसे काटकर नदी में बहाया था कि ज़मीन में दबाया था?'

"यू—शटअप .." उस ने कहा, और चारपाई पर से उठ बैठा।

मैं भी चारपाई पर से उठकर खड़ा हो गया, और कहा, "फिर वह कड़े जो किसी ने चोरी से रख लिये हैं, तो तुम्हारे अपने भाई ने रख लिये हैं। मेरी बहन ने वह कड़े मेरे सामने तुम्हारे भाई को दिये थे।"

वह जाता-जाता खड़ा होकर कुहरी आँखों से मेरी तरफ़ देखने लगा और कहने लगा, "पर पहले तू ने कहा था कि शायद मरते वक़्त उस के हाथों में रहे हों..."

"अब तुम्हें पता लग गया होगा कि मैं ने क्यों कहा था···" मैं अभी कह ही रहा था कि वह जल्दी-जल्दी सीढ़ियाँ उतर गया।

उर्मि की चारपाई पर मैं पता नहीं कितनी देर तक औंधा पड़ा रहा।

मैं जैसे ख़ुद अपने गले से लगकर रो रहा था।

मेरे कमरे की दीवारें—मुझे हाथों में पकड़कर दबोच रही थीं। इस कमरे से दौड़कर, कहीं बाहर—सारी धरती और सारे अम्बर के गले से लगकर रोना चाहता था...

अपना मन अपनी ही छाती में नहीं सँभाला जा रहा था। अचानक मांस की गठरी बनी हुई माँ याद आयी, तो मुझे पहली बार उस पर बड़ा तरस आया।

अपनी छाती का सारा उबाल वह कैसे अपने होंठों से पी गयी...

मैं गौतम के घर की तरफ़ चल पड़ा,चल नहीं पड़ा, उठकर दौड़-सा पड़ा...

वह घर पर नहीं था। पता नहीं कहाँ था। वह साईं बाबा के पास जाया करता था, पर अब तो वह भी वहाँ नहीं था। गौतम कहाँ चला गया ?

उस की गली के मोड़ पर एक तन्दूर है, शायद वहाँ हो ?—यही सोचता हुआ मैं वहाँ गया। मुझे देखकर वह तन्दूर वाला, मेरे कुछ पूछने से पहले ही कहने लगा, "बाबूजी ! तुम्हारे दोस्त बाबूजी को पता नहीं क्या हो गया है, परसों से वह गली के पिछवाड़े वाले कीकर के नीचे जाकर बैठे रहते हैं।"

"कीकर के नीचे ? इतनी ठंड में ?" कहता हुआ मैं गली के पिछवाड़े कीकर की ओर गौतम को ढूँढ़ने चला गया।

गौतम लोई ओढ़कर सचमुच कीकर के नीचे बैठा हुआ था। उस की आँखें बन्द थीं, इस लिए उस ने मुझे पास आते नहीं देखा।

मैं चुपचाप उस के पास जा खड़ा हुआ। हाय राम रे ! आँखें बन्द करके वह यह क्या पढ़ रहा था :

"बिसमिल्ला अर रहमान-उर रहीम
सात चक्कर की बावड़ी, गल मोतियन का हार
लंका-सी कोट समुद्र-सी खाई
जहाँ फिरे मुहम्मदा बीर की दुहाई
कौन बीर आगे चले, सुलेमान बीर चले
दुरानी बीर चले, नादरशाह बीर चले
मुट्ठी चले नहीं तो हज़रत सुलेमान की सात दुहाई..."

मैं ने गौतम को झंझोड़कर हिलाया। मुँह से निकला, "तू किस तरफ़ चल पड़ा गौतम ? एक तो उर्मि पता नहीं किस तरफ़ चली गयी, तू..."

"यह मुट्ठी पीर की चौकी है," गौतम को शायद मेरे विघ्न डालने पर ग़ुस्सा आया, कहने लगा, "तू मुझे तीस दिन कुछ न कह, मुझे कीकर के नीचे बैठकर हज़ार बार यह चौकी पढ़नी है।"

मुझे रोना आया और साथ ही ग़ुस्सा। कहा, "यह दस लाख बार पढ़ने पर भी कुछ नहीं बनेगा। गौतम, होश में आ। आ, हम सच का आक एक बार फिर चबा लें..."

गौतम को मेरी बात सुनकर भी नहीं सुनाई दे रही थी। कहने लगा, "साईं बाबा पता नहीं कहाँ लोप हो गया है, मेरे वे मंत्र अधूरे ही रह गये। यह एक मुसलमान फ़क़ीर ने मुझे मंत्र दिया है..."

उस दिन मैं ने गौतम को कुछ नहीं बताया, आज बताया, "तेरे साईं बाबा के

कान में मैं ने पुलिस का नाम लिया तो वह रातोंरात भाग गया। मैं तेरे इस मुट्ठी पीर को भी भगा दूँगा..."

"साईं बाबा को तू ने उस दिन कान में यही कहा था ?" गौतम हैरान और परेशान मेरे मुँह की तरफ़ देखने लगा।

"दुःखों से मति मारी जाती है गौतम। लोगों को अगर जिन्दगी में राह मिलती हो, तो वह इस तरह क्यों भटकें ! वह तो बेचारे लोग दुनिया का न कुछ जानते न बूझते, पर तू..."

"हमें भी तो कोई और राह नहीं मिलती..." गौतम ने निराशा से कहा।

"वह जीती होती तो कोई राह होती..." मैं ने कहा, और गौतम का हाथ पकड़कर, उसे कीकर के नीचे से उठाकर, उस के कमरे में ले आया।

सोने के कड़ों वाली सारी बात सुनायी, तो गौतम का बहुत दिनों का रुका हुआ रोना निकल पड़ा। उस की बाँहों ने इस तरह तड़पकर पास पड़ी हुई चारपाई पर हाथ डाला जैसे उर्मि के बदन पर लगी हुई कुल्हाड़ी की सारी पीड़ा उसे हो रही हो...

गौतम जितना रो सकता था, मैं सोच रहा था, रो ले। बहुत दिनों से उस ने जंतरों-मंतरों के सहारे जो रोना रोका हुआ था, उस के अन्दर से पीप की तरह निकल जाये। इस लिए मैं चुपचाप उस के पास बैठा रहा।

गौतम, मन के इस आवेग में, चारपाई की पाटी से सिर हटाकर उठा। उस ने दीवार की अलमारी को खोलकर अलमारी के कुछ कपड़ों को ऐसे बाँहों में भींच लिया, जैसे उन कपड़ों के गले लगकर रो रहा हो...

उर्मि के कपड़ों वाली यह अलमारी शायद उस ने आज पहली बार खोली थी ..

गुलाबी रंग के ऊन के एक छोटे-से स्वेटर की बाँहें, जैसे अलमारी के ख़ाने में से बाहर की तरफ़ अपने को फैला रही थीं...

मेरे माथे में ज़ोर से पीड़ा होने लगी। साथ ही कुछ याद आया—पर मुँह से कुछ बोला नहीं गया—वही बात, इसी वक़्त गौतम को याद आयी।

कहने लगा, "एक दिन उर्मि जब यह स्वेटर बुन रही थी, तुझे याद है ?"

"हाँ, याद है।"

"उस दिन हम बहुत हँसे थे..."

"हाँ।"

"उर्मि भी बहुत हँसी थी"—उस ने कहा, "बृहस्पति की औरत तारा को जब चन्द्रमा भगाकर ले गया तो इस बात पर बहुत बड़ी लड़ाई छिड़ी...क्या पता अब भी कोई लड़ाई छिड़ पड़े..."

मुझे उस दिन की हँसी अक्षर-अक्षर याद थी, कहा, "उस दिन मैं ने कहा था

कि उस लड़ाई में चन्द्रमा की तरफ़ शिव था, और बृहस्पति की तरफ़ इन्द्र। अब जो गौतम और केन्या वाले के बीच लड़ाई छिड़ी तो गौतम की तरफ़ मैं होऊँगा, और केन्या वाले की सहायता के लिए हमारा बाप होगा...

"उर्मि हँसती रही, और यह स्वेटर बुनती रही। कह रही थी, 'अगर लड़ाई में जीतकर वह मुझे तारा की तरह वापिस छीनकर ले गये, तो भी गौतम का बेटा तो गौतम को दे जायेंगे, जैसे चन्द्रमा का पुत्र चन्द्रमा दे गये थे..."

गौतम ने स्वेटर को मुट्ठी में भींच लिया, और बिलख पड़ा, "उन्होंने तो हमारे साथ धोखे की लड़ाई लड़ी, लड़ना था तो सीधे हाथों लड़ते..."

और फिर कपड़ों को सारी चारपाई पर बिखेरकर गौतम ने मेरी बाँह झँझोड़ी, "एक बार उसे पूछ तो सही, उस ने बाप होकर यह क्या किया..."

"किसे पूछूँ गौतम!" मैं ने बाप की हालत उसे उस दिन पहली बार बताई, "जब उसे मेरी आवाज़ सुनाई देती थी, उस ने तब कुछ न बताया, अब तो उसे कुछ सुनाई ही नहीं देता..."

चाचाजी का ख़त आया, उन की छुट्टी ख़त्म होने वाली थी, इस लिए मुझे एक दिन के लिए गाँव बुलाया था।

रात की गाड़ी से चला गया। दूसरे दिन इतवार था, छुट्टी लेने की ज़रूरत नहीं थी। पता नहीं किस लिए बुलाया था? गाँव में हमारी कोई खेती-बारी वाली ज़मीन नहीं थी, जो मुझे सौंपनी थी। पिताजी शुरू से स्कूलमास्टर थे, और चाचा जी फ़ौज में भरती हो गये थे। सारी उम्र की कमाई से उन्होंने मिलकर आम के बगीचे ख़रीदे थे, जो ठेके पर दिये हुए थे। रोटी का गुज़ारा चल रहा था...

घर पहुँचा तो चाचाजी वहाँ नहीं थे, एकदम सुन्न समाधि सरीखी हालत थी। माँ थी, बाप भी वहीं था, पर मिट्टी की मूर्तियों की तरह। माँ पहले ही कम

उस के इस माहात्म्य के बारे में कि इस पुराण को सुनने से ब्रह्म-हत्या का दोष भी उतर जाता है, इस लिए चाची के मन की बात समझ गया ।

सो लोग चाहे मुँह से कुछ नहीं कह रहे थे, पर अन्दर से कहीं उर्मि की हत्या वाली बात जानते थे ।

मैं ने चाची से सिर्फ़ इतना ही कहा,"पर चाची ! उस का माहात्म्य तब होता है, जब कोई उसे एकाग्र मन से सुने ।"

"और ऐसे थोड़े ही..." चाची ने कहा, तो मैं ने पिताजी की तरफ़ इशारा किये बिना ही कहा, "पर वह तो अब सुन नहीं सकते ।"

चाचाजी को इस बात का पता भी था, परन्तु उन्हें यह ख़याल ही नहीं आया था । जल्दी से कहने लगे, "लो फिर तो बात ही ख़त्म हो गयी ।"

चाची ने माँ की तरफ़ देखकर हैरान-सी होकर कहा,"भाभी ! यह तो ख़याल ही नहीं आया । फिर अब ?"

माँ ने हवा में हाथ-सा मार दिया, जैसे उस का अब कुछ बनता-बिगड़ता न हो ।

"अच्छा फिर..." चाची का हाथ चकले पर रुक गया, कुछ सोचती-सोचती कहने लगी, "फिर इतना-सा तो करो कि काग़ज़ पर पाँच अक्षर लिख दो, बस यही 'नमः शिवाय'—नहीं, नहीं, 'ओम् नमः शिवाय' और लिखकर भाईजी को दे दो । वह इस का जाप करते रहा करें । यह तो कोई बड़ी बात नहीं ।"

"हाँ, यह तो मुश्किल बात नहीं, जो भाई मान जायें तो ।" चाचाजी ने जल्दी से कहा । उन्हें काम बड़ा आसान होता-सा लगा ।

"चलो पूछो तो भाईजी से, मान जायेंगे !" चाची ने कहा तो चाचाजी ने जेब में हाथ डाला । कागज़ कोई नहीं था, पर पेंसिल थी । उन्होंने वहीं ज़मीन पर ही यह लिखकर पूछा कि वह इस मंत्र को पढ़ेंगे कि नहीं ?

पिताजी ने फिर हाथ धोये, और पास आकर ज़मीन पर लिखे अक्षरों को पढ़कर धीरे से सिर हिलाया । उन में कोई उत्साह नहीं आया, पर उन्होंने मना भी नहीं किया ।

मैं ने चाची की तरफ़ देखा, उस का मन कुछ हल्का हो गया-सा लग रहा था । कहने लगी, "बस, एक बात और । मिट्टी से अपने हाथों शिव की मूर्ति बनाकर यहाँ कहीं पर घर में रख छोड़ ।"

मेरा निगोड़ा मन...

सुना हुआ था कि शिव की मूर्ति नदी की मिट्टी से बनानी चाहिए, मैं ने एक काग़ज़ ढूँढ़कर उसपर पेंसिल से लिखा, "आओ चलें ! नदी पर जाकर मिट्टी ले आयें, नदी की पवित्र मिट्टी से ही शिव की मूर्ति बन सकती है," और काग़ज़ पिताजी के आगे रख दिया ।

पिताजी सुन नहीं सकते थे, पर बोल सकते थे। पर यह काग़ज़ पढ़कर वह बोले नहीं—सिर्फ़ उन का सिर 'नहीं-नहीं' में काँपने लगा...

चाचाजी एकटक मेरी तरफ़ देखते रहे, पर मैं फिर किसी के मुँह की ओर न देख सका।

उस वक़्त नहीं, पर जब वापिस शहर आ गया, अपने कमरे में रात को सोने लगा तो एक ख़याल आया—जैसे आज पिताजी का सिर काँप रहा था, शायद ब्रह्मा का पाँचवाँ सिर भी एक दिन इसी तरह काँपा था...ब्रह्मा के चार सिर सत्यवादी थे, पर पाँचवाँ मिथ्यावादी था...

बन्द हुई मुट्ठियों में मेरे हाथों के नाख़ून मेरी हथेलियों में चुभ गये—"एक दिन शिव ने माथे पर तेवर डाले, कहते हैं उस की भौंह में से भैरव निकला—और उस ने ब्रह्मा का पाँचवाँ सिर काटकर ज़मीन पर फेंक दिया...शायद वही धरती पर गिरा हुआ ब्रह्मा का पाँचवाँ सिर धरती के मनुष्य को नसीब हुआ है..."

मेरे अपने नाख़ूनों से हथेलियाँ बिंध गयीं—आज शिव के तेवर किसी के पास नहीं...मैं अपना माथा सिर्फ़ अपने हाथों में छुपा सकता हूँ...शिव का माथा, और शिव के तेवर अगर किसी दिन मुझे...मुझे नसीब हो जायें...

गौतम काम पर जाने लगा है। सवेरे पहले नौकरी की तरफ़ जाता है, फिर रिसर्च के लिए यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी में।

मैं कोशिश करता हूँ—गौतम से कम मिलूँ। मुझे लगता है—मुझे देखकर उस का ज़ख़्म खुल जाता है।

हम जब मिलते हैं, हमारे दरम्यान उर्मि होती है। जब ज़िन्दा थी, तब भी हुआ करती थी, अब ज़िन्दा नहीं रही, तो भी है...

कभी जब बड़े होश में होता हूँ, सोचता हूँ—दुनिया-भर की किताबें अब उर्मि की जगह ले लें। अब जब गौतम आये, या मैं गौतम के पास जाऊँ, तो हमारे

बोलती थी, अब बिलकुल गूँगों की तरह बैठी हुई थी। पता लगा, पिताजी को कोई फ़र्क नहीं पड़ा। उन्हें, चाहे कोई ख़ूब ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाता रहे, तो भी सुनाई नहीं देता था।

चाचाजी का घर बहुत पास नहीं था। पर दूर भी नहीं था। गाड़ी का वक़्त भी पता था उन्हें। ज़रा-सा खड़ा ही हुआ था कि वह आ गये। माँ उठकर चूल्हे के पास आ बैठी थी, पर उस से बार-बार उठा नहीं जा रहा था। वह इशारे से कोई बर्तन या लकड़ी माँगती तो पिताजी पकड़ा देते।

एक अजीब बात देखी—माँ ने दूध गरम करने के लिए छोटी पतीली माँगी तो पिताजी ने उठकर लोटे से हाथ धोये, फिर पतीली पकड़ा दी। फिर उस ने चाय का पानी रखने के लिए एक और पतीली माँगी, तो पिताजी ने फिर लोटे के पानी से हाथ धोये और एक पतीली पकड़ा दी। फिर उस ने इशारे से एक लकड़ी माँगी, तो पिताजी ने फिर पानी से हाथ धोये और उस को लकड़ी पकड़ा दी। फिर उस ने चाय के लिए गिलास माँगे, तो पिताजी ने पानी से हाथ धोये और गिलास परछत्ती से उतारकर उस के आगे रख दिये...

मैं घबराकर चाचाजी की तरफ़ देखने लगा।

"मैं ने तुझे इसी लिए बुलाया है। इधर भाई को रोज़ पता नहीं क्या होता जा रहा है, उधर मेरी छुट्टी ख़त्म हो रही है, इस का हम क्या करें ?" चाचाजी ने मूढ़े पर बैठते हुए कहा, तो मैं धीरे से बोला, "बाहर जाकर बात करते हैं, इन के सामने..."

"पर यहाँ और बाहर में कोई अन्तर नहीं, भाई तो कुछ सुनता ही नहीं।" चाचाजी ने कहा तो मुझे सचमुच चक्कर-सा आ गया। पिताजी के सामने कुछ भी कहना कितना मुश्किल होता था, और अब...अब चाहे कुछ भी कहे जाओ...

चाचाजी कह रहे थे, "मेरे देखते-देखते भाई को हाथ धोने का ख़ब्त हो गया है ...यह बीमारी पता नहीं क्या बला है...अन्दर-बाहर जाते भी हाथ धोकर जाता है..."

माँ की तरफ़ देखा तो वह माथे पर हाथ मारकर कर्मों को रो रही थी।

"अगर तू कहे तो..." चाचाजी ने चाय को फूँक मारकर गिलास में से एक घूँट भरा और कहा, "तेरी चाची को इन के पास छोड़ जाऊँ ? वैसे तो पास ही है, दिन में एक-आध फेरा लगा जाती है, पर दिन-रात पास रहने की बात और होती है।"

"पर यह मुझ से क्यों पूछते हो चाचाजी ? यह तो चाची की मेहरबानी है जो वह..." कह रहा था कि चाचाजी ने बात काटकर कहा, "वैसे तो जो मैं कहूँगा वह करेगी, पर...भाभी को कोई एतराज़ नहीं, जो तू मान जाये और मेरे पीछे पाँच-सात दिन यहाँ रहकर जो तेरी चाची कहती है वह करवा दे..."

"वह क्या ?"

"अभी आ रही है, तुझे खुद ही बता देगी। है तो औरतों का वहम ही, पर वहम का इन्सान क्या करे..." चाचाजी कह रहे थे कि चाची आ गयी। उस ने मुझे प्यार किया, और माँ को चूल्हे के पास से उठाती हुई कहने लगी, "उठ भाभी! तू चाय का घूँट भर, मैं इन्हें पराँठे बना देती हूँ।"

पिताजी ने फिर हाथ धोये, चाय का गिलास पकड़ा और उधर मूढ़े पर बैठ गये।

चाचाजी कहने लगे, "ले, बता लड़के को, जो कुछ करवाना है..."

चाची पहले चुप कर गयी, फिर कहने लगी, "मेरी भी छाती कलपती है, तब ही कह रही हूँ..."

"वह तो ठीक है, पर बता दे न जो तुझे ख़याल आता है..." चाचाजी ने कहा, तो चाची ने तवे का पराँठा उतारकर मेरे आगे करते हुए कहा, "ऐसे ही मन बुरा है, वहम आता है..."

मैं ने पराँठे वाली थाली पिताजी की तरफ़ कर दी तो चाची ने कहा, "यह ऊपर का उतारकर उन्हें देने लगी थी, मैं ने सोचा, तू रात का भूखा होगा, तुझे पहले दे दूँ।"

"कोई बात नहीं, अगला सही," मैं ने कहा और पूछा, "अच्छा, बता चाची।"

"देखना, वह तो जीती कहीं दीखती नहीं..." चाची ने कहा, "जीती होती तो कोई ख़ैर-ख़बर मिलती..."

बड़ा अजीब लग रहा था—पिताजी सामने बैठे थे, पर किसी बात से उन का कोई सम्बन्ध नहीं रहा था...

"मैं यह कहती हूँ," चाची ने कुछ हिचकियाँ लेकर कहा, "उस का न कोई क्रिया न कर्म...क्या ख़बर, घर को यही श्राप लग गया है...देखते-देखते तेरी माँ खटिया से लग गयी, अब अचानक भाईजी के कानों पर पर्दे पड़ गये...वह पत्थर-से बैठे रहते हैं..."

लगा, चाची इस घर में आकर रहने से डरती थी और शायद घर में से भूत-प्रेत निकलवाने के लिए कुछ कह रही थी। सो पूछा, "फिर बता चाची, क्या करें ?"

चाची ने जल्दी से कहा, "मुझे तो बड़ा भरोसा है, भई, जहाँ शिवपुराण की कथा हो जाये, वहाँ से सारे पाप छूट जाते हैं। इस का बड़ा महातम होता है।"

"पर बेटे, यह उस के इतने ढकोसले बताती है, करेगा कौन ?" पास से चाचाजी ने कहा, तो चाची ने जल्दी में 'ऊँकार शिवाय नमः' कहके चाचाजी को घूरा, "यह मुँह से कैसा लफ़्ज़ निकाला है ?"

मुझे भी कुछ शिवपुराण के बारे में पता था, सुनने-सुनाने से, ख़ास तौर पर

मेरे अपने मन की मिट्टी से मेरे पैर सने हुए हैं...

'मन' की बात करते हुए ख़याल आया—मन के अस्तित्व और उन की सारी फ़िलासफ़ी जब नहीं होती थी, शायद तब मनुष्य बहुत सुखी होता था... मन की फ़िलासफ़ी हमें कल्पना ने दी...

पीछे से किसी ने कन्धे पर हाथ रखा। देखा, गौतम खड़ा था।

"वापिस जा रहा है?"

"लाइब्रेरी में गया था, तू वहां नहीं था, इस लिए..."

"मुझे कुछ देर हो गयी, आ चलें।"

"नहीं, कमरे में जाऊँगा..."

उस ने कुछ नहीं कहा, मेरे साथ कमरे की तरफ़ चल पड़ा। राह में चुप रहा था, कमरे में पहुँचकर कहा, "तेरा हर्ज होगा, तू चला जाता।"

"रात बहुत देर तक पढ़ता रहा था, सिर में कुछ दर्द था—ठहरकर चला जाऊँगा..."

उस ने हाथ के काग़ज़-पेंसिल को चारपाई की पाटी पर रख दिया, और उर्मि के तकिये का सहारा लेकर कहने लगा, "तू सड़क के किनारे कितनी देर से खम्भे की तरह खड़ा हुआ था। मैं ने तुझे दूर से देखा था, फिर सड़क पार की, तेरे पास आया, तू वहीं का वहीं खड़ा था..."

"सोच रहा था..." मुझे ख़ुद ही हँसी-सी आ गयी, पर बताया, "मन की कल्पना, कहते हैं आस्ट्रिक कल्पना है। हिन्दू फ़लसफ़े ने यह उन से ली थी..."

गौतम मुस्करा-सा दिया...

मैं अपनी रौ में था, कहे गया, "उन के स्वभाव की एक विशेषता तब भी थी, अब भी है...वह बड़े इमैजिनेटिव थे पर पैसिव, एग्रेसिव बिल्कुल नहीं...तेरी और मेरी तरह...जैसे हम कुछ नहीं कर सकते, सिर्फ़ सोचे जा रहे हैं, सोचे जा रहे हैं..." और मैं ने उसी साँस में यह भी कहा, "इस लिए उन की कल्पना झट वहम और भ्रम की तरह फिसल जाती थी, जैसे तू उन जंतरों-मन्तरों की तरफ़ पड़ गया था..."

"फिर तो तुझे और मुझे अब तक पहाड़ों और जंगलों में मील के पत्थर होना चाहिए था...जब वह पहले-पहल यहाँ आये थे, हाथों में सिर्फ़ तीर-कमान लेकर आये थे, पर हमेशा उसी तरह रहे...आर्य लोग वेद रचते रहे, पर वह तीर-कमान लिये उसी तरह जंगलों में बैठे रहे..." गौतम ने तकिये को पीठ की तरफ़ से निकालकर, सामने पैरों पर रख लिया।

"पंचतन्त्र, कहते हैं, आस्ट्रिक विचारों के सहारे बना था..." मैं ने कहा, पर साथ ही कहा, "अब मन की फ़िलासफ़ी अगर हमारे विचारों में आ ही चुकी है, तो इस का क्या हो सकता है, यह रहेगी...चाहे कहीं से आयी हो, पर रहेगी..."

फिर पूछा, "तेरा थीसिस शुरू हो गया है कि नहीं ?"

"कल रात शुरू कर दिया। इस लिए रात को बहुत जागता रहा था," गौतम ने चारपाई की पाटी पर रखे हुए काग़ज़ उठाये, और कहने लगा, "रफ़ नोट जो पहले लिखे, वह मेरे पास हैं। तुझे सुनाऊँ—मैं ने कैसे शुरू किया है ?"

मुझे लगा—अब जैसे गौतम सँभल गया हो, पर मैं पैरों से उखड़ रहा होऊँ। मैं ने उस की तरफ़ ध्यान देकर कहा, "सुना।"

गौतम ने कुछ काग़ज़ सिलसिलेवार लगाये, और पढ़ने लगा कि फिर अचानक काग़ज़ों से सिर उठाकर कहने लगा, "बीच में एक ख़याल आ गया है, तेरी आस्ट्रिक कल्पना से नागाओं में हमें मंगोल फीचर्ज़ मिलते हैं, जैसे, कोल, भील और मुण्डा लोगों में आस्ट्रेलियन पर नैग्रायड फ़ीचर अब हमें कहीं नहीं मिलते, हालाँकि अजन्ता की मूर्तियों में सिर्फ़ उन्हींके नैन-नक़्श सँभाले हुए हैं। और तुझे पता है कि हिन्दू फ़लसफ़े में पितरों के श्राद्धों की जितनी मान्यता है, वह उन की कल्पना से आयी थी। ख़ास-ख़ास पेड़ों और जानवरों की मान्यता भी उन की देन थी। स्वर्ग की राह में एक पुल है जो मुश्किल से लाँघना पड़ता है, यह ख़याल भी उन्होंने दिया था..."

"पता नहीं, कहाँ से क्या-क्या आया..." मुझे अपने-आप पर हँसी आ गयी, और ख़याल आया, "पर सब कुछ मिलाकर आख़िर बना क्या ?"

"अच्छा तू थीसिस सुना, कैसे शुरू किया है ?" मैं ने सँभलकर कहा।

गौतम ने फिर काग़ज़ों की तरफ़ ध्यान दिया, "इस दिखती ज़िन्दगी के पीछे कौन-सी अदृश्य शक्तियाँ हैं ? मनुष्य की इस सोच में से जो इतिहास शुरू होता है...उस के दो आदि रूप मिलते हैं—एक पूजा और एक हवन। आर्यों से पहले के समय में पूजा ज़रूर थी, पर यज्ञ-हवन नहीं था।"

"अच्छा ?..." अचानक मेरे मुँह से निकला।

गौतम कह रहा था, "पु का अर्थ पुष्प है, फूल। पूजा का भाव है पुष्प-कर्म। यह द्रविड़ कल्पना थी। अनार्य कल्पना। वह सिर्फ़ अदृश्य शक्तियों के आगे फूल-पत्र चढ़ाकर सन्तुष्ट हो जाते थे।"

"फिर ?" मेरे मुँह से निकला।

"फिर आर्य आये—ईरान की तरफ़ से, या दक्षिणी रूस की तरफ़ से। वह अन्न को उगाना नहीं जानते थे, भेड़ों के मांस पर गुज़ारा करते थे। क़ुदरती ताक़तों को सन्तुष्ट करने के लिए उन्होंने अग्नि को एक ऐसा दूत माना जिस के द्वारा वह अदृश्य शक्तियों से अपना सम्बन्ध जोड़ सकते थे। इस लिए जब आग जलाते, जो कुछ खाने के लिए पास होता, पहले उस का एक हिस्सा निकालकर अग्नि में डाल देते।"

"सो भेड़-बकरी या जो भी पशु-पक्षी मारते..."

दरम्यान इतनी किताबें हों कि वहाँ सुई रखने जितनी जगह भी ख़ाली न हो...

नहीं—उर्मि की जगह कोई नहीं ले सकता। सिर्फ़ यह कि वह किताबों में समा जाये...दुनिया में जितना भी इल्म है, उस के अक्षर-अक्षर में समा जाये...

मैं बहुत दिनों से गौतम के पास नहीं गया था, एक दिन गहरी शाम वह ख़ुद ही आ गया।

उस दिन वह मन से बहुत सँभला हुआ लग रहा था। कुछ वक़्त—यही बातें करता रहा कि यूनिवर्सिटी की लाइब्रेरी में किताबें बहुत कम हैं, किसी किताब के हवाले से वह दूसरी ढूँढ़ने लगता है, तो मिलती नहीं।

यह पता था कि वह रिसर्च कर रहा है, पर मुझे रिसर्च के मज़मून का पता नहीं था। इस लिए पूछा, "तू ने कौन-सा मज़मून लिया है ?"

वह हँस-सा पड़ा, "भारत में बलि की प्रथा।" उस की हँसी में एक कसक थी। मुझे यही ख़याल आया कि इस मज़मून में—हर वक़्त एक ख़ून उस की आँखों के आगे फैला रहेगा—इस लिए कहा, "कोई और मज़मून ले लेता, जिस से..." उस ने बात काट दी, "जिस से उस का ख़याल भूल जाता, तू यही कहने लगा था न ?"

मैं ने कुछ नहीं कहा। उसी ने कहा, "रिसर्च के लिए बिल्कुल जी नहीं करता था। कोई भी किताब पकड़ता था, उस का हर सफ़ा एक-सा लगता था. पर इस मज़मून में मेरा मन रम गया है..."

"पर..." मैं ने कुछ झिझककर कहा, "इस के साथ तू फिर जन्तरों-मन्तरों की दुनिया में न फिसल जाये..."

"नहीं, बल्कि उल्टा लगता है। इस दुनिया का वजूद ही ख़ौफ़ में से बना था, चाहे वह आग का या पानी का ख़ौफ़ था और चाहे भूख का या बैरी का... रिसर्च का मतलब ही है कि उस के कारण तक पहुँचना..."

उस ने ऐसे कहा तो मुझे उस की तरफ़ से कुछ ढाढ़स-सा बँधा।

फिर कुछ देर वह वैदिक काल की बातें सुनाता रहा कि पूजा और बलि का वर्णन उस काल में भी मिलता है, ख़ासकर चौथे वेद में...

और अचानक वह उर्मि की चारपाई पर, जहाँ बैठा था, झुककर चारपाई के सिरहाने को छूकर कहने लगा "तू वहम न समझना ! पर आज मैं क़बीलों के देवी-देवताओं के बारे में पढ़ रहा था, तो उस में आया कि वे लोग एक मनुष्य की एक रूह नहीं मानते। उन का ख़याल है कि एक मनुष्य में तीन रूहें होती हैं। और मनुष्य जब मर जाये, एक रूह आसमान को चली जाती है, एक यहाँ ही धरती पर जंगलों में भटकती रहती है, और तीसरी..."

मैं चुप उस की तरफ़ देखता रहा। कुछ देर बाद उस ने कहा, "उस की तीसरी रूह वहीं उस के घर में रहती है...कहीं नहीं जाती..."

... वह अपने ख़यालों में से जब ख़ुद ही कितनी देर तक न लौटा, तो मैं ने धीरे से कहा, "पर गौतम, यह सब कुछ सिम्बोलिक नहीं ? जिन्दा मनुष्य में उस की रूह के ये तीन पक्ष नहीं होते ?—एक बड़ा ख़ूबसूरत दैविक पक्ष, एक भ्रम और भुलावों के जंगल में भटकता, और तीसरा ज़िन्दगी की हक़ीक़तों में हँसता और रोता..."

"हाँ..."उस ने धीरे से कहा, और साथ ही कहा, "इसी तरह मरने के बाद यह हमारी चाह होती है कि जाने वाले का कुछ हमारे पास रह जाये, इस लिए... इस लिए..."

और गौतम उठकर जाते हुए कहने लगा, "पर तू इस चारपाई को यहाँ इसी तरह रहने देना। मेरे कमरे में भी उस की चारपाई और अलमारी उसी तरह, उसी जगह पड़ी हुई है। कुछ तस्कीन-सी होती है...वहम...नहीं...अच्छा, वहम ही सही..."

गौतम चला गया। पर सारी रात मेरे मन में खलबली-सी रही। दूसरे दिन कॉलेज के समय के बाद मैं कमरे में लौटने के बजाय लाइब्रेरी में चला गया। गौतम अभी वहाँ नहीं आया था। मैं अकेला कुछ किताबें देखने लगा—जैसे इतिहास और मिथ्स में से गौतम को ढूढ़-सा रहा होऊँ...

वैदिक काल, प्राग्वैदिक काल, प्रीसाइंटिफ़िक एज...

माइथालोजी—लैंग्वेज ऑफ़ द प्रिमिटिव...

अग्नि, वायु, सूर्य—प्राकृतिक तत्त्व—यही समय-समय पर ब्रह्मा, विष्णु, शिव हो गये...जन्म, विकास और विनाश के चिह्न—सत, रज, तम—त्रिगुण...

सृष्टि की शक्तियों के नियम ढूँढ़ने के लिए और उन के साथ जुड़ी धरती के भेद को पाने के लिए मनुष्य ने सब से पहले जो दो देवताओं की कल्पना की थी, वह असुर-वरुण थे—वरुण लफ़्ज़ की जड़—वर, व्री, यानी रोकना —थामना—जल-थल को थामना...

और असुर शब्द पर मेरा ध्यान अटक गया। असु के अर्थ प्राण, सो असुर के अर्थ प्राणदाता। ऋग्वेद में असुर शब्द देवताओं के लिए था पर बाद में उल्टे अर्थों में दैत्यों के लिए कैसे हो गया ? यह अर्थ क्यों और किस तरह उलट जाते हैं ?

और एक भयानक ख़याल से मैं काँप गया—क्या रिश्तों की बनावट में कभी 'पिता' शब्द के अर्थ भी उलट जायेंगे ?

लगा—आज गौतम के सामने नहीं हो सकूँगा। मैं लाइब्रेरी में से जल्दी से बाहर आ गया।

वहाँ से बाहर आ गया, पर अपने आप में से शायद कभी भी बाहर नहीं आ सकूँगा...

और कहने लगा, "इतने दिनों से मुझे एक बार भी उर्मि का सपना नहीं आया था। आज रात पहली बार उस का सपना आया।"

"वह कुछ बोली? उस ने कुछ मुँह से कहा?" मैं ने सोचा था, सपने की बात नहीं पूछूँगा, पर वह जब सपने को सुनाने लगा, तो मैं ने यह पूछा। लगा—क्या पता, सपने में उस के अपने साथ जो बीती थी, वह बताया हो...

"सपने में बड़ा कुछ मिला हुआ है, मैं ने इसे कई तरह, कई शक्लों में देखा—पहले एक मन्दिर में देखा...उजाड़ जंगल में एक मन्दिर था, पर मन्दिर में बहुत-से लोग थे, वह एक देवी की पूजा कर रहे थे..." गौतम ने हथेली से माथे का पसीना पोंछा, और मेरी तरफ़ देखकर कहने लगा, "पत्थर की वह मूर्ति, उर्मि की मूर्ति थी। सिर्फ़ उस मूर्ति में एक अजीब बात थी कि उस की कोख में कितने ही फूल और पत्र उगे हुए थे..."

"फूल-पत्र लोगों के चढ़ाये हुए होंगे..." मैं कह रहा था कि गौतम ने ज़ोर से कहा, "मूर्ति के पास पड़े हुए नहीं, उस के शरीर में से उगे हुए..."

गौतम कितनी देर तक कुछ सोचता रहा, फिर कहने लगा, "मेरा ख़याल है—मैं ने पिछले दिनों जो मोहनजोदड़ो के खँडहरों में से निकली मूर्ति के बारे में पढ़ा था, शायद उसी से यह सपना आया है। खँडहरों में से जो शाही मोहरें निकलीं, यह तसवीर मोहरों पर खुदी हुई मिली...

"द्रविड़ों ने पूजा के लिए जो सब से पहली देवी कल्पित की थी, वह धरती थी। इस लिए देवी की कोख में से निकलते फूल-पत्र वह मूर्ति में बनाया करते थे..."

"हाँ, सपना उसी से आया होगा।" मैं ने सिर्फ़ इतना ही कहा। वैसे मन में आया कि गौतम के अचेतन मन में शायद अपने बच्चे का ख़याल भी होगा, और शायद वही बच्चा मूर्ति के शरीर में से उगते फूल-पत्रों का चिह्न होगा, पर गौतम से यह नहीं कहा गया।

गौतम कहने लगा, "मन्दिर में बहुत भीड़ थी। मैं भीड़ में से लाँघकर जल्दी से मूर्ति के पास जाना चाहता था, पर लोग मुझे लाँघने नहीं दे रहे थे। फिर उन्होंने मूर्ति के आगे आग जला दी, और उस के गिर्द खड़े होकर कोई मन्त्र पढ़ने लगे। मैं आग के पास से गुज़रकर आख़िर मूर्ति के पास पहुँच ही गया। पर इतनी देर में किसी ने आग के पास ज़िन्दा लड़की को लाकर खड़ा कर दिया। और मुझे पता नहीं किस ने धीरे से बताया कि आज के दिन पूनम की रात, इस देवी के मन्दिर में बलि दी जाती है..."

'तू आजकल बलि का इतिहास पढ़ रहा है न, इसी लिए ऐसा सपना आया है।" मैं ने कहा।

गौतम ने भी सिर हिलाकर 'हाँ' कहा, पर साथ ही कहा, "जब मैं ने आग के

पास खड़ी उस लड़की की तरफ़ देखा तो मेरी चीख़ निकल गयी—वह उर्मि थी। उर्मि पत्थर की देवी भी थी, और उर्मि उस के आगे दी जाने वाली बलि भी थी...''

गौतम बड़ी देर तक चुप रहा जैसे वह इस कमरे में से चलता हुआ फिर रात वाले मन्दिर में चला गया हो...

''मेरी अपनी चीख़ से मेरी नींद खुल गयी थी...'' फिर गौतम ने बताया, ''मैं कितनी देर तक उठकर बाहर बरामदे में खड़ा रहा, मन्दिर वाले सपने को सोचता रहा। फिर जब सोने की कोशिश करूँ तो आँखों के आगे वही मन्दिर आ जाये। नींद नहीं आ रही थी। फिर पता नहीं किस वक़्त नींद आ गयी। अभी—सवेरे ही फिर एक सपना आया कि उर्मि एक दरिया के किनारे खड़ी हुई थी, मैं भी उस के पास था। वह दरिया में से चुल्लू में पानी भर-भरकर पैर धो रही थी, और हँस रही थी। मुझे याद है। वह कभी-कभी मौज में गाया करती थी—'प्रीत तो मेरी सोने का गड़वा, प्रीत तो मेरी गंगाजल पानी...' ''

मुझे याद है—कभी-कभी उर्मि को जब पहले ब्याह का ख़याल आ जाता था, वह कुम्हला-सी जाती थी। पर फिर हुलसकर गाने लगती थी—'प्रीत तो मेरी सोने का गड़वा...'

गौतम कहने लगा, ''वही उस की हँसी, वही उस की आवाज़...कि अचानक कोई पीछे से आया। उस ने उर्मि को दरिया में धक्का दे दिया। पता नहीं, कौन था। आधा मनुष्य, आधा बैल-सा। मैं ने उर्मि को पकड़ने के लिए, उस के पीछे दरिया में छलांग मार दी...''

मुझे याद आया—मैं ने जब गौतम को जगाया था, उस ने पहली बात कही थी, 'मैं यहाँ किनारे पर किस तरह आ गया?' उस वक़्त शायद उसे यही सपना आ रहा था...

''कहा करता था न कि तुझे समुद्र को मथकर ढूँढ़ लूँगा...'' गौतम ने निराश होकर कहा, ''शायद यही ख़याल मन में था, सपने में उसे दरिया में ढूँढ़ता रहा—तू ने जब मुझे जगाया था, मुझे कितनी देर तक गले के कपड़े इस तरह गीले लगते रहे जैसे दरिया का पानी अभी भी...'' और गौतम की आँखें भर आयीं—यह आँखों में आने वाला पानी—शायद उसी नदी का पानी है जिस में उर्मि की लाश तैर रही है...

"हाँ, इसी रीति का नाम यज्ञ था। द्रविड़ों ने पूजा शुरू की, आर्यों ने हवन। उस का नाम पुष्प-कर्म था। इस का नाम पशु-कर्म रखा गया। उन की ख़ुराक में ज्यों-ज्यों दूध, मक्खन और अनाज शामिल हुए, उस का हिस्सा भी मांस के साथ-साथ, अग्नि में डालने की रीति बनी..."

"सो यहाँ से बलि की प्रथा चली..."

"हाँ..." गौतम ने पैरों पर पड़े तकिये को हाथ में भींच-सा लिया, कहने लगा, "मनुष्य को कभी आसमानी ताक़तों का ख़ौफ़ लगता रहा, कभी धरती की मुसीबतों का—भूख का, दुश्मन का, समाज का...और भेड़ों, मुर्गों, घोड़ों की बलि देकर—अपने अज़ीज़ लोगों की भी...वह सोचता रहा कि उस की ज़िन्दगी की मुसीबतें टल जायेंगी...यह ख़याल शायद कभी भी ख़त्म नहीं होगा..." गौतम का माथा, उस के हाथ में भिंचे तकिये की सलवटों की तरह, सिकुड़ गया, "बलि की यह रस्म अब भी चली आती है—अभी उन्होंने उर्मि की बलि दी है..."

इस से आगे कुछ कहने लायक़ और कुछ सोचने लायक़ नहीं रहा था...

मैं चुप था, गौतम चुप था...

गौतम के सिर में दर्द था, पर कुछ देर बाद ही उस का जिस्म तपने लगा। उठ-कर जाने लगा, तो बोला, "लाइब्रेरी नहीं जाया जायेगा..." मैं ने ही उसे रोक लिया था, "अगर लाइब्रेरी नहीं जाना है तो वहाँ कमरे में अकेला क्या करेगा, रात यहीं रह जा। बुख़ार शायद बढ़ न जाये..."

पहले कभी वह रात को मेरे कमरे में नहीं रहा था। पहली बार रहा। पर आधी रात तक इतना बेचैन था, मुझे लगता रहा कि उर्मि की चारपाई पर शायद वह हश्र तक जागता रहेगा, सो नहीं सकेगा...

उस का जिस्म गर्म था, तेज़ बुख़ार नहीं था, पर दो-तीन बार चाय पीने के अलावा उस ने कुछ भी नहीं खाया था। कमरे के साथ लगता एक छोटा-सा

बरामदा था, जिसे तख़्तों से ढँककर, जब उर्मि थी, मैं ने एक छोटी-सी रसोई बनायी थी। बिजली का स्टोव और वह बर्तन आज भी वहाँ उसी तरह पड़े थे, पर उर्मि के जाने के बाद, मैं ने कभी उन्हें इस्तेमाल नहीं किया था। शाम को गौतम के कहने पर मैं ने कुछ चीनी, दूध और चाय की पत्ती लाकर वहाँ चाय बनायी थी, पर आधी रात एक खटके से मैं जागा, तो देखा—गौतम उस वक़्त भी वहाँ जाकर फिर चाय बना रहा था।

मैं ने नींद में ही पूछा था, "गौतम, तू सोया नहीं? तुझे बुख़ार बहुत तो नहीं?" उस ने तसल्ली दी थी, "नहीं, अब बुख़ार नहीं है, तू सो जा..." मैं शायद ज्यादा नींद में था, फिर मुझे कुछ पता नहीं, गौतम कितनी देर तक जागता रहा।

सुबह जब मैं जागा, तो मैं ने उठकर गौतम के जिस्म को हाथ लगाया। जिस्म ज़ोर से तप रहा था। पर वह नींद में था, मैं ने उसे जगाया नहीं। कुछ देर बाद लगा, जैसे वह नींद में कुछ बोल रहा हो। मैं ने उस की चारपाई के पास आकर उसे हिलाया, जिस्म को टटोला—तो वह पसीने से भीगा हुआ था...

अचानक, उस ने सोये हुए ही, अपने जिस्म से छूती मेरी बाँह कसकर पकड़ ली, और सारा ज़ोर लगाकर अपनी तरफ़ खींची। उस के इसी अपने ज़ोर से उस की नींद खुल गयी, और वह मेरी तरफ़ ऐसे देखने लगा, जैसे मुझे पहचानता न हो...

"गौतम, तेरा बुख़ार उतर गया, देख तुझे कितना पसीना आया हुआ है," मैं उसे तसल्ली-सी देने लगा, तो उस के मुँह से निकला—"मैं यहाँ किनारे पर कैसे आ गया?"

"किनारे पर? कौन-से किनारे पर?" मैं हैरान उसे पूछ रहा था।

गौतम बोला नहीं। मेरी तरफ़ देखता रहा। फिर उस ने तकिये से सिर उठाकर, सारे कमरे की तरफ़ देखा। और फिर उठकर चारपाई की पाटी पर बैठ गया।

मुझे लगा, उस के जिस्म में एक कँपकँपी-सी आयी। मैं ने उस की उतारी हुई रज़ाई फिर उस के, बैठे हुए के कंधों पर पास कर दी।

"रात बड़े ही अजीब-से सपने आते रहे..." गौतम ने बहुत देर बाद लौटे होश से कहा।

"शायद बुख़ार था, इसी लिए..." मैं ने कहा।

"शायद..." उस ने इतना कहा और चुप हो गया।

मैं ने सोचा था, मैं सपनों की बात नहीं पूछूँगा, उसे फिर दोबारा उन की याद न दिलाऊँगा, पर मैं उस के पास से उठने लगा, तो उस ने इशारे से बैठे रहने के लिए कहा।

वाला मर गया, तो जिस के घर सुना था—अंधेर नहीं होता, उस के घर भी अंधेर मच गया।

'मोरनी तो पैरों को देख-देखकर झूरती है, पर जब औरत को झूरना पड़ता है, वह माथे के लेखे को देख-देख झूरती है...' वह जब अब कुछ सहने योग्य हुई थी तो उठती-बैठती के मुँह से यही निकलता।

ग़म जब उतरता है, तो औरत की छाती में उतरता है, और मर्द के हाथों में। साऊ हाड़ तोड़कर अपने खेतों को भी गोड़ता-बीजता और भाभी मोरनी के खेतों को भी। जो कमी ख़ुदा ने कर दी थी, उसे वह इन्सान की जात भर नहीं सकता था, पर और कोई कमी उस ने भाभी मोरनी को न आने दी थी।

'बच्चों के हीले चूल्हे में आग तो जलायेगी, नहीं तो बासी-तिबासी खाकर पड़ रहेगी,' साऊ मन में सोचता, और बच्चों को किसी न किसी बहाने उस के घर भेज देता था। वैसे भी एक दीवार का उलाँघन ही था—बच्चे कई बार दीवार के इस पार सोते और उस पार जागते। सोते हुओं को उन की माँ उठाकर ले जाती या भाभी मोरनी कन्धे से लगाकर छोड़ आती।

और फिर अचानक साऊ की औरत, अपने नैहर अपने बाप के मरने पर गयी, जैसे अपने के मरने पर गयी हो, एक ही रात में उस के कलेजे में पीर उठी किसी हौल सरीखी, जिस ने दूसरा दिन भी न देखने दिया।

'उस की चिता उसे बुलाती थी,' कहते हैं बिलखते उस के नैहरिये-ससुरालिये उसे रो बैठे तो साऊ को अगली फ़िकर लगी—उस के बच्चों का क्या बनेगा? उस ने भाभी मोरनी का दर खटखटाया—'यह तेरे हरड़-बहेड़े रुल जायेंगे, इन्हें सँभाल ले।'

उस वक़्त भाभी मोरनी ने अँसुआई आँखों से बच्चों को तो कलेजे से लगा था, पर कहा था—'साऊ, तेरे बहुत एहसान हैं मुझ पर, मेरा रोम-रोम बिंधा पड़ा है तेरे एहसानों से, पर जग का मुँह कौन थामेगा?'—और फिर साऊ का मुँह ऐसे रिसिया गया था जैसे आग में तपी ईंट पर किसी ने पानी का छींटा मार दिया हो। जग आँखों की ओट था, साऊ आँखों के सम्मुख, भाभी मोरनी अपने पैरों की तरफ़ देखती और झूरती कहने लगी—'अच्छा रे देवरा! मेरी पत तेरे हाथ है, मैं तेरे बेटों की सेवा से मुन्किर नहीं होती।'

फिर जो दीवार का उलाँघन था, वह तो वैसे ही रहा, पर दो घर, समेत दीवारों के, जैसे एक हो गये थे। भाभी मोरनी ने बच्चों को माँ का हौका न लगने दिया।—गर्मी हो चाहे सर्दी, उस की भूख-प्यास भी, बच्चों की भूख-प्यास में मिल गयी थी। (वैसे कोई डेढ़ बरस पीछे जो दीवार दोनों घरों को बाँटती थी, उस के मेंहों से लेवड़े उतर गये, तो उस ने दोबारा उसे लीपने-पोतने का जतन नहीं किया था। फिर एक जगह खोखल-सा हुआ, तो बच्चों ने उस में से लाँघ-लाँघकर

धीरे-धीरे उस को नीचे ज़मीन से लगा दिया। और जैसे वह दीवार, ख़ुद ही अपनी आंखों में हकीर होकर ढेला-ढेला गिर गयी।)

धीरे-धीरे लड़के उस के कन्धों से ऊँचे हो गये, और फिर धीरे-धीरे यह हो गया कि भाभी मोरनी ख़ुद मुश्किल से लड़कों के कन्धों तक पहुँचती। साऊ ने जोग तो किसी से नहीं लिया था, पर गाँव वाले कहते थे—कि वह पिछले जन्म का ज़ोगी ज़रूर था। उस की करनी सच्चे साधुओं जैसी थी।

'अरी निगोड़ी! अब यह पूनियाँ कैसे कातेगी?' जो सोचें भाभी मोरनी को बीस बरस नहीं आयी थीं, पता नहीं उस के पास फ़ुरसत नहीं थी इन सोचों के लिए, अब तीनों लड़के जब शहर चले गये, तो उसे उठते-बैठते ये सोचें आने लगीं।

छाती उस नीड़-सरीखी हो गयी थी जिस में से पखेरू उड़ गये हों।

छाती के खोहड़ की ओर देखती वह दलीली में पड़ी हुई थी कि बाहरला दरवाज़ा खटका।

'शायद शहर से बड़का आया हो...' उठकर, बाहरले दरवाज़े तक पहुँची। उस ने कितनी ही सोचें मथ डालीं—'हठीले, बहुतेरा कहा था कि बेटों की तरह माथे पर सेहरा बाँधकर ब्याह कर, और डोला घर लेकर आ...वहाँ पता नहीं क्या किया, क्या न किया, बस ख़त लिख छोड़ा कि ब्याह हो गया है...

'ऐसे ही रात-भर के लिए लाया था—ईसाइन-सी लगती थी...वह भी चलो उस की मरज़ी...फिर बहुतेरा कहा कि वह पूरे दिनों पर होगी तो घर छोड़ जाना। वहाँ शहरों में कौन रखाई कर सके है...वही बात हुई—कच्चे हाड़ों उस ने पता नहीं क्या खाया और क्या पिया कि लड़का छोड़कर जापे में ही मर गयी...और वह आज मरी, कल दूसरा दिन...बिगड़ैल से दो महीने भी सब्र न हुआ...तीजे मास ही और ब्याह करने को फिर रहा है...'

पर कुंडा खोला तो शहर से आया बड़का नहीं था, साऊ ही दिन छिपे घर लौट आया था।

"तेरा जी तो राज़ी है ना साऊ!" भाभी मोरनी सहम-सी गयी।

"वैसे तो राज़ी है, यूँ ही एक सलाह लेनी थी तुझ से..." अन्दर आते हुए साऊ ने कहा, तो भाभी मोरनी ने, उस की खटिया की पाटी पर बैठते हुए पूछा, "क्या भला? बड़के का कोई ख़त आया है?"

"पुराने समय में परियों की जान तोतों में हुआ करती थी—तेरी भी आधी जान बड़के में, और बाक़ी आधी जान छुटकों में पड़ी है..." साऊ सोचों में डूबा-सा भी लग रहा था और रौ में भी।

"काहे को! उन के लिए तो मैं जीते-जी मर गयी—निगोड़े कभी झलक दिखाने भी नहीं आते..." भाभी मोरनी ने जैसे उलाहना-सा दिया।
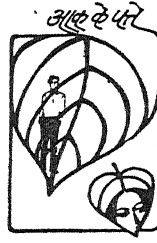
अन्तिका

आग, हवा, सूर्य, शरीर, आत्मा—ये सब अर्थ 'क' के हैं और इन से वंचित हो जाना, इन से रहित हो जाना 'अक' (अर्थात् आक) है ।

मैं और गौतम इस आक को चबाते आक के पत्तों की तरह हो गये हैं—सच सरीखे कड़ुए...

आक का पौधा बोने के लिए धरती तो मिली नहीं, हम ने छाती में ही इसे बो लिया...
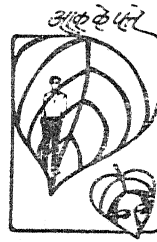
भाभी मोरनी

'अरी निगोड़ी, अब यह पूनियाँ कैसे कातेगी ?' उस ने अपने रुई सरीखे सफ़ेद बालों को जब रीठों से धोया, तो पूनी जितने छोटे-छोटे बालों को निचोड़ती हुई वह दलीलों में पड़ गयी ।

वह जैसे दलीलों के धागे अटेरन पर अटेर रही थी—'रिज़क का कल कौन

मोड़े... चिड़िया के चेचले जब उड़ने लायक़ हुए तो पता नहीं किस पेड़ पर जा बैठे...'

उस ने सचमुच तीनों लड़कों के लिए छाती में घोंसला बनाया था। उन के सौ काम होते थे, खटिया पर कमर सीधी करने की भी फ़ुरसत नहीं मिलती थी, पर तब भी वह कभी नहीं थकी थी। और अब बड़का ब्याहा बराये नौकरी पर, और छोटके दोनों शहरों में पढ़ने चले गये थे, तो ख़ाली बैठी जिन्दो को लगता कि उस के जोड़-जोड़ में अकड़ाव आ गया है।

'काली रुई तो निबट गयी अब सफ़ेद कैसे कातूँगी?' उसे जो ख़याल जवानी में भी नहीं आये थे—अब बुढ़ापे में घुटनों की पीर के समान उठ खड़े हुए...और उसे अपने स्याह-काले बालों का ध्यान आया, जो सचमुच मोरों की पैल की तरह उस की पीठ पर पड़े रहते थे...

'रे साऊ! तू ने किस घड़ी मेरा नाम मोरनी रख छोड़ा था...मोरनियों के नसीबों में पैलें कहाँ—मोरनियाँ तो पैरों को देख-देखकर झुरा करती हैं...' और उस की नजर अपने पैरों पर से फिलसकर—पैरों की बिवाइयों में गिर पड़ी।

'साऊ' उस के रिश्ते का देवर था। अभी निरा छोकरा था जब उस ने सफ़ेद सिरहाने पर हरे काशनी धागों से मोर काढ़ती हुई भाभी को देखा था, और उसे भाभी मोरनी कहकर पुकारा था। थुड़े[1] घर से आयी और थुड़े घर ब्याही जिन्दो के हाथ में पकड़ी हुई सूई साऊ की आवाज़ सुनकर धागों की ऐसी पैल डालने लगी, वह सिरहाना ख़त्म करके जब छब्बीस की मलमल का दुपट्टा काढ़ने लगी, तो उस पर तरह-तरह के फूल बनाने की जगह—मोर काढ़ने लगी। उस के इसी सिर के पल्लू के कारण सारे गाँव में उस का नाम भाभी मोरनी पड़ गया था।

देखते-देखते साऊ का ब्याह हुआ, उस के घर ऊपर-तले के तीन बेटे जन्मे, और भाभी मोरनी उन को चूम-चूम, चाट-चाट खिलाती रही। उस की अपनी जून निष्फल जा रही थी, गाँव की कोई बड़ी-बूढ़ी दुखियाती, तो वह साऊ के बेटे को घुटनों पर बिठाकर दही-शक्कर खिलाती हुई हँसकर कहती—"ना बेबे, कोई दुख नहीं। औरत को यही दुख होता है न कि बुढ़ापे में जब घुटनों में पानी पड़ जायेगा, तब...अरी तब त्रिफला ही खाना होता है न..." और वह साऊ के बेटों के मुँह चूमती हुई कहती—'यह देख, मेरे हरड़-बहेड़े-आँवले, जरा-सी मोह की फक्की भी न देंगे?'

'अरी, उस के यहाँ देर होती है, अंधेर नहीं।' दूसरी दिल रखने को कह दिया करती थी। पर जब भाभी मोरनी के आँगन में पैलें डालने वाला उस का घर-

---

1. तंग हाथ वाले

"तू ख़ुश नहीं कि जैसे-तैसे उन से निबटी है—उन के पीछे तू ने अपना आपा गला लिया।"

"और अब ख़ाली बैठी मैं ने अपना अचार डालना है ?"

"अच्छा, फिर ख़ाली न बैठ ! बड़के का ख़त आया है कि उस ने और ब्याह करना है, पर उस की नवोढ़ा उस के बच्चे को रखने में राज़ी नहीं..."

"हाय, मैं मर जाऊँ—कोई बेटों से भी मुँह फेरता है..."

"और वह लिखता है कि अगर तुम कहो तो मैं बच्चे को तुम्हारे पास छोड़ जाऊँ..."

भाभी मोरनी का मन कुछ भर आया। कहने लगी, "साऊ ! तेरी कोई उम्र थी, जब तेरी औरत मरी थी, पर तू ने न सोचा कि घर को फिर बसता कर लूँ। अब देख लड़के से चार दिन नहीं काटे गये..."

"मेरी बात और थी भाभी," साऊ ने अनायास ही एक हौका-सा भरा।

"क्यों, तेरी बात कैसे और थी ? तू तो अपने बेटों से भी सात गुना सवाया था..."

साऊ अपने में खोया सामने दीवार की ओर देखता रहा।...

"हैं रे..." भाभी मोरनी के सफ़ेद बादलों सरीखे बालों में से जैसे बिजली कौंध गयी।

"और ऐसे ही तो नहीं जवानी जर ली..." साऊ के मुँह पर एक उजियाला-सा फिर गया।

"जो बीत गयी, अच्छी बीत गयी, अब बुढ़ापे में..." वह हड़बड़ाई-सी बोली।

"और मैं कब कहता हूँ, अच्छी नहीं कटी—तू ने एक बोल मारा था—'देवरा ! मेरी पत तेरे हाथ है'—मैं नें अपना वचन निभा दिया..." साऊ की छाती आज पता नहीं बादल की तरह फट पड़ी थी।

भाभी मोरनी कितनी देर तक धरती की तरफ़ देखती रही, फिर धरती की तरह अडोल हो गयी—"अच्छा साऊ ! जो बात सारी उम्र नहीं सोची, अब काहे को सोचनी है..."

साऊ कितनी देर तक तालू से अपनी जीभ मलता रहा, फिर कहने लगा, "अच्छा, बता फिर लड़के का क्या करें ?"

भाभी मोरनी बोली—"लड़के का क्या करना है, घर ले आओ, वह यहाँ खटोले पर पड़ा होगा तो घर फिर बसता लगेगा..."

साऊ ने उठकर कार्ड पर दो अक्षर लिखे, और ख़ाली-सा होकर रोज़ की तरह अपने कोने में बैठकर दारू का घूँट पीने लग पड़ा।

भाभी मोरनी ने रोज़ की तरह चूल्हे पर दाल रखी। और फिर फ़ारिग़-सी

मोड़े...चिड़िया के चेचले जब उड़ने लायक़ हुए तो पता नहीं किस पेड़ पर जा बैठे...'

उस ने सचमुच तीनों लड़कों के लिए छाती में घोंसला बनाया था। उन के सौ काम होते थे, खटिया पर कमर सीधी करने की भी फ़ुरसत नहीं मिलती थी, पर तब भी वह कभी नहीं थकी थी। और अब बड़का ब्याहा बराये नौकरी पर, और छोटके दोनों शहरों में पढ़ने चले गये थे, तो ख़ाली बैठी जिन्दो को लगता कि उस के जोड़-जोड़ में अकड़ाव आ गया है।

'काली रुई तो निबट गयी अब सफ़ेद कैसे कातूँगी ?' उसे जो ख़याल जवानी में भी नहीं आये थे—अब बुढ़ापे में घुटनों की पीर के समान उठ खड़े हुए...और उसे अपने स्याह-काले बालों का ध्यान आया, जो सचमुच मोरों की पैल की तरह उस की पीठ पर पड़े रहते थे...

'रे साऊ ! तू ने किस घड़ी मेरा नाम मोरनी रख छोड़ा था...मोरनियों के नसीबों में पैलें कहाँ—मोरनियाँ तो पैरों को देख-देखकर झुरा करती हैं...' और उस की नजर अपने पैरों पर से फिलसकर—पैरों की बिवाइयों में गिर पड़ी।

'साऊ' उस के रिश्ते का देवर था। अभी निरा छोकरा था जब उस ने सफ़ेद सिरहाने पर हरे काशनी धागों से मोर काढ़ती हुई भाभी को देखा था, और उसे भाभी मोरनी कहकर पुकारा था। थुड़े[1] घर से आयी और थुड़े घर ब्याही जिन्दो के हाथ में पकड़ी हुई सूई साऊ की आवाज़ सुनकर धागों की ऐसी पैल डालने लगी, वह सिरहाना ख़त्म करके जब छब्बीस की मलमल का दुपट्टा काढ़ने लगी, तो उस पर तरह-तरह के फूल बनाने की जगह—मोर काढ़ने लगी। उस के इसी सिर के पल्लू के कारण सारे गाँव में उस का नाम भाभी मोरनी पड़ गया था।

देखते-देखते साऊ का ब्याह हुआ, उस के घर ऊपर-तले के तीन बेटे जन्मे, और भाभी मोरनी उन को चूम-चूम, चाट-चाट खिलाती रही। उस की अपनी जून निष्फल जा रही थी, गाँव की कोई बड़ी-बूढ़ी दुखियाती, तो वह साऊ के बेटे को घुटनों पर बिठाकर दही-शक्कर खिलाती हुई हँसकर कहती—"ना बेबे, कोई दुख नहीं। औरत को यही दुख होता है न कि बुढ़ापे में जब घुटनों में पानी पड़ जायेगा, तब...अरी तब त्रिफला ही खाना होता है न..." और वह साऊ के बेटों के मुँह चूमती हुई कहती—'यह देख, मेरे हरड़-बहेड़े-आँवले, जरा-सी मोह की फक्की भी न देंगे ?'

'अरी, उस के यहाँ देर होती है, अंधेर नहीं।' दूसरी दिल रखने को कह दिया करती थी। पर जब भाभी मोरनी के आँगन में पैलें डालने वाला उस का घर-

---

1. तंग हाथ वाले

"तू ख़ुश नहीं कि जैसे-तैसे उन से निबटी है—उन के पीछे तू ने अपना आपा गला लिया।"

"और अब ख़ाली बैठी मैं ने अपना अचार डालना है?"

"अच्छा, फिर ख़ाली न बैठ! बड़के का ख़त आया है कि उस ने और ब्याह करना है, पर उस की नवोढ़ा उस के बच्चे को रखने में राज़ी नहीं..."

"हाय, मैं मर जाऊँ—कोई बेटों से भी मुँह फेरता है..."

"और वह लिखता है कि अगर तुम कहो तो मैं बच्चे को तुम्हारे पास छोड़ जाऊँ..."

भाभी मोरनी का मन कुछ भर आया। कहने लगी, "साऊ! तेरी कोई उम्र थी, जब तेरी औरत मरी थी, पर तू ने न सोचा कि घर को फिर बसता कर लूँ। अब देख लड़के से चार दिन नहीं काटे गये..."

"मेरी बात और थी भाभी," साऊ ने अनायास ही एक हौका-सा भरा।

"क्यों, तेरी बात कैसे और थी? तू तो अपने बेटों से भी सात गुना सवाया था..."

साऊ अपने में खोया सामने दीवार की ओर देखता रहा।...

"हैं रे..." भाभी मोरनी के सफ़ेद बादलों सरीखे बालों में से जैसे बिजली कौंध गयी।

"और ऐसे ही तो नहीं जवानी जर ली..." साऊ के मुँह पर एक उजियाला-सा फिर गया।

"जो बीत गयी, अच्छी बीत गयी, अब बुढ़ापे में..." वह हड़बड़ाई-सी बोली।

"और मैं कब कहता हूँ, अच्छी नहीं कटी—तू ने एक बोल मारा था—'देवरा! मेरी पत तेरे हाथ है'—मैं नें अपना वचन निभा दिया..." साऊ की छाती आज पता नहीं बादल की तरह फट पड़ी थी।

भाभी मोरनी कितनी देर तक धरती की तरफ़ देखती रही, फिर धरती की तरह अडोल हो गयी—"अच्छा साऊ! जो बात सारी उम्र नहीं सोची, अब काहे को सोचनी है..."

साऊ कितनी देर तक तालू से अपनी जीभ मलता रहा, फिर कहने लगा, "अच्छा, बता फिर लड़के का क्या करें?"

भाभी मोरनी बोली—"लड़के का क्या करना है, घर ले आओ, वह यहाँ खटोले पर पड़ा होगा तो घर फिर बसता लगेगा..."

साऊ ने उठकर कार्ड पर दो अक्षर लिखे, और ख़ाली-सा होकर रोज़ की तरह अपने कोने में बैठकर दारू का घूँट पीने लग पड़ा।

भाभी मोरनी ने रोज़ की तरह चूल्हे पर दाल रखी। और फिर फ़ारिग़-सी

होकर खड़ी-खड़ी को पता नहीं क्या हुआ, छाती में एक लपट-सी उठी, और उस ने मिट्टी की अँगीठी में चार छिपटियाँ डालीं और तेल की कढ़ाही चढ़ायी, और फिर प्याज़ के छोटे-छोटे पकौड़े तलके दारू पीते हुए साऊ के पास रख आयी...

पाँचवें दिन बड़का शहर से आया और रात की रात रहकर वह चार महीने के बिलूँगड़े-से को भाभी मोरनी की झोली में डालकर चला गया, तो भाभी मोरनी ने सफ़ेद जीरे की फक्की मारकर बच्चे को छाती से लगा लिया।

गाँव की यह दन्तकथा अब भी सुनाई में आती है कि साऊ का वह पोता पूरा एक वरस भाभी मोरनी का दूध चूँघता रहा।

आज

फ़्लाइट लेफ़्टिनेंट अनवर हुसैन के सामने एक सैंड-मॉडल पड़ा था, ढाका यूनीवर्सिटी का सैंड-मॉडल...

यूनिवर्सिटी के होस्टल विंग में एक कमरे की खिड़की खुली, नज़मा ने खिड़की से बाहर देखा...

अनवर चौंक गया—सामने उस का विंग कमांडर फ़िरोज़ख़ान खड़ा था, और उसे एक मिशन सौंप रहा था, "यह ढाका यूनिवर्सिटी का सैंड-मॉडल है..."

अनवर ने सैंड-मॉडल की तरफ़ देखा—सैंड-मॉडल में न तो कमरों के नम्बर होते हैं, न कमरों की खिड़कियाँ—पर वहाँ कहीं, पता नहीं कौन-सा, नज़मा का एक कमरा था...

विंग कमांडर फ़िरोज़ख़ान कह रहा था, "ठीक साढ़े सात बजे ढाका यूनिवर्सिटी के स्टूडेंट्स की मीटिंग होगी, यह मीटिंग तेरा टारगेट है..."

"येस सर!" अनवर का स्वर उस की आदत के अनुसार था।

"एअर क्राफ़्ट इज़ लोडिड विद रॉकेट्स एण्ड आल द गन्ज़..."[1]

"......"

"जहाज़ तीस हज़ार फ़ुट की ऊँचाई पर रखना, टु सेव यूअर फ़्यूएल..."[2]

"येस सर !"

"टारगेट से कुछ दूर पहुँचकर—ट्री टाप लेवल..."[3]

"......"

"इस लेवल से मजमे में हवाई जहाज़ की आवाज़ नहीं पहुँचेगी।"

"येस सर !"

"टारगेट से बीस सेकिंड पहले—पुल अप ! चार हज़ार फ़ुट की ऊँचाई पर। पुट द एयर क्राफ़्ट इन डाइव एण्ड फ़ायर यूअर गन्ज़, ओवर द मीटिंग प्लेस।[4] अगर ज़रूरत पड़े तो दूसरी-तीसरी बार भी...पर फ़िनिश यूअर राउंड्ज़। इतने में जो लोग बचे होंगे इन इमारतों की तरफ़ दौड़ेंगे।"[5] विंग कमांडर ने सैंड-मॉडल की तरफ़ इशारा किया, और कहा, "नाउ सिलेक्ट यूअर राकेट्स एण्ड अटैक दीज़ बिल्डिंग्स।"[6]

"येस सर !"

"एअर क्राफ़्ट इज़ लोडिड एण्ड फ़्यूएल्ड, प्लैन यूअर मिशन..."[7] और विंग कमांडर ने "आल द बेस्ट"[8] कहते हुए यह भी कहा, "आई वांट मैक्सीमम रिज़ल्ट्स।"[9] अनवर ने सिर नीचा कर लिया। पास ही ग्रुप कैप्टन अहमदख़ान खड़ा था। उसे लगा जैसे अनवर के मुँह पर एक ज़र्दी फिर गयी थी। वह अनवर के पास होकर हँस-सा दिया, "वेरी सिंपल मिशन, नो एनीमी अपोज़ीशन, नो गन्ज़, नो मिसाइल्ज़, नो इंटरसैप्टर्ज़...[10]

एक दिन नज़मा ने भी कहा था, 'तुम मेरा बंगाल नहीं देखोगे ! तुम ने जैसोर के सिवा कुछ भी नहीं देखा। कभी छुट्टियाँ लेकर ढाका आना, मेरी यूनिवर्सिटी बहुत ख़ूबसूरत है...'

और आज वह ढाका यूनिवर्सिटी जा रहा था...ब्रीफ़िंग ख़त्म हो रही थी, विंग कमांडर ने ताकीद की, "अटैक फ्राम ऐनी साइड, एवायड ईस्टर्न डाय-रेक्शन।"[11]

---

1. हवाई जहाज़ में रॉकेट और गनें रख दी गयी हैं। 2. ईंधन बचाने के लिए 3. पेड़ जितनी ऊँचाई 4. हवाई जहाज़ को सहसा नीचे ले जाना और सभा स्थल पर बमबारी कर देना। 5. अपने राउंड ख़त्म करना। 6. अपने राकेट चुन लो और उन इमारतों पर हमला कर दो। 7. जहाज़ में हथियार और ईंधन रख दिये गये हैं, अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखो। 8. विजयी होओ। 9. मैं अधिकतम सफलता चाहता हूँ। 10. सीधा-सादा लक्ष्य, न दुश्मन का मुक़ाबला, न शत्रु की गनें, न मिसाइल, न कोई और अवरोधक। 11. किसी भी तरफ़ से हमला करो, पूर्व दिशा से नहीं।

होकर खड़ी-खड़ी को पता नहीं क्या हुआ, छाती में एक लपट-सी उठी, और उस ने मिट्टी की अँगीठी में चार छिपटियाँ डालीं और तेल की कढ़ाही चढ़ायी, और फिर प्याज़ के छोटे-छोटे पकौड़े तलके दारू पीते हुए साऊ के पास रख आयी...

पाँचवें दिन बड़का शहर से आया और रात की रात रहकर वह चार महीने के बिलूँगड़े-से को भाभी मोरनी की झोली में डालकर चला गया, तो भाभी मोरनी ने सफ़ेद जीरे की फक्की मारकर बच्चे को छाती से लगा लिया।

गाँव की यह दन्तकथा अब भी सुनाई में आती है कि साऊ का वह पोता पूरा एक बरस भाभी मोरनी का दूध चूँघता रहा।

आज

फ़्लाइट लेफ़्टिनेंट अनवर हुसैन के सामने एक सैंड-मॉडल पड़ा था, ढाका यूनीवर्सिटी का सैंड-मॉडल...

यूनिवर्सिटी के होस्टल विंग में एक कमरे की खिड़की खुली, नज़मा ने खिड़की से बाहर देखा...

अनवर चौंक गया—सामने उस का विंग कमांडर फ़िरोज़ख़ान खड़ा था, और उसे एक मिशन सौंप रहा था, "यह ढाका यूनिवर्सिटी का सैंड-मॉडल है..."

अनवर ने सैंड-मॉडल की तरफ़ देखा—सैंड-मॉडल में न तो कमरों के नम्बर होते हैं, न कमरों की खिड़कियाँ—पर वहाँ कहीं, पता नहीं कौन-सा, नज़मा का एक कमरा था...

विंग कमांडर फ़िरोज़ख़ान कह रहा था, "ठीक साढ़े सात बजे ढाका यूनिवर्सिटी के स्टूडेंट्स की मीटिंग होगी, यह मीटिंग तेरा टारगेट है..."

"येस सर!" अनवर का स्वर उस की आदत के अनुसार था।

"एअर क्राफ़्ट इज़ लोडिड विद रॉकेट्स एण्ड आल द गन्ज़..."[1]

"......"

"जहाज़ तीस हज़ार फ़ुट की ऊँचाई पर रखना, टु सेव यूअर फ़्यूएल..."[2]

"येस सर !"

"टारगेट से कुछ दूर पहुँचकर—ट्री टाप लेवल..."[3]

"......"

"इस लेवल से मजमे में हवाई जहाज़ की आवाज़ नहीं पहुँचेगी।"

"येस सर !"

"टारगेट से बीस सेकिंड पहले—पुल अप ! चार हज़ार फ़ुट की ऊँचाई पर। पुट द एयर क्राफ़्ट इन डाइव एण्ड फ़ायर यूअर गन्ज़, ओवर द मीटिंग प्लेस।[4] अगर ज़रूरत पड़े तो दूसरी-तीसरी बार भी...पर फ़िनिश यूअर राउंड्ज़। इतने में जो लोग बचे होंगे इन इमारतों की तरफ़ दौड़ेंगे।"[5] विंग कमांडर ने सैंड-मॉडल की तरफ़ इशारा किया, और कहा, "नाउ सिलेक्ट यूअर राकेट्स एण्ड अटैक दीज़ बिल्डिंग्स।"[6]

"येस सर !"

"एअर क्राफ़्ट इज़ लोडिड एण्ड फ़्यूएल्ड, प्लैन यूअर मिशन..."[7] और विंग कमांडर ने "आल द बेस्ट"[8] कहते हुए यह भी कहा, "आई वांट मैक्सीमम रिज़ल्ट्स।"[9] अनवर ने सिर नीचा कर लिया। पास ही ग्रुप कैप्टन अहमदख़ान खड़ा था। उसे लगा जैसे अनवर के मुँह पर एक ज़र्दी फिर गयी थी। वह अनवर के पास होकर हँस-सा दिया, "वैरी सिंपल मिशन, नो एनीमी अपोज़ीशन, नो गन्ज़, नो मिसाइल्ज़, नो इंटरसैप्टर्ज़..."[10]

एक दिन नज़मा ने भी कहा था, 'तुम मेरा बंगाल नहीं देखोगे ! तुम ने जैसोर के सिवा कुछ भी नहीं देखा। कभी छुट्टियाँ लेकर ढाका आना, मेरी यूनिवर्सिटी बहुत ख़ूबसूरत है...'

और आज वह ढाका यूनिवर्सिटी जा रहा था...ब्रीफ़िंग ख़त्म हो रही थी, विंग कमांडर ने ताकीद की, "अटैक फ्राम ऐनी साइड, एवायड ईस्टर्न डायरेक्शन।"[11]

---

1. हवाई जहाज़ में रॉकेट और गनें रख दी गयी हैं। 2. ईंधन बचाने के लिए 3. पेड़ जितनी ऊँचाई 4. हवाई जहाज़ को सहसा नीचे ले जाना और सभा स्थल पर बमबारी कर देना। 5. अपने राउंड ख़त्म करना। 6. अपने राकेट चुन लो और उन इमारतों पर हमला कर दो। 7. जहाज़ में हथियार और ईंधन रख दिये गये हैं, अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखो। 8. विजयी होओ। 9. मैं अधिकतम सफलता चाहता हूँ। 10. सीधा-सादा लक्ष्य, न दुश्मन का मुक़ाबला, न शत्रु की गनें, न मिसाइल, न कोई और अवरोधक। 11. किसी भी तरफ़ से हमला करो, पूर्व दिशा से नहीं।

ज़ाहिर था—विंग कमांडर की सूझ बारीक थी। सुबह का सूरज अगर सामने की तरफ़ से आँखों पर पड़ेगा तो उस की चमक से आँखें चुँधिया जायेंगी... इस लिए मशरिक़ की तरफ़ मुँह करके अटैक नहीं करना था...

अनवर की छाती दहल गयी—सूरज सिर्फ़ एक तरफ़ से उगता है—पर नज़्मा—मशरिक़, मग़रिब, शमाल, जनूब—चारों तरफ़ से क्यों उदित हो रही है...चारों तरफ़ से आँखों के आगे एक चकाचौंध...अनवर ने आज के मिशन के लिए हवाई जहाज़ की सीट सँभाली, और अपने गिर्द स्ट्रैप्स कसते हुए एक आह सरीखी साँस ली, "नज़्मा! तुम ने किसी वक़्त मुझे कहा था—'ढाका यूनिवर्सिटी आना, बोलो आओगे न!'—और मैं ने कहा था—'अच्छा, ज़रूर आऊँगा।'—पर मैं ने अल्ला की क़सम, ऐसे नहीं कहा था..."

उस ने इंजन स्टार्ट किया—जेनरेटर की बत्ती अभी भी लाल सुर्ख़ थी, जिस का मतलब था जेनरेटर चार्ज नहीं कर रहा। अनवर को तसकीन-सी हुई—जहाज़ ख़राब था, इस लिए आज के मिशन से उसे छुटकारा मिल जायेगा...

राहत भरी साँस मुश्किल से दो पल आयी, इलेक्ट्रीशन ने फ़िउज़ बदल दिया, जेनरेटर ठीक हो गया। अनवर ने टैक्सी आउट किया, जहाज़ को रनवे की ओर ले गया। टेक ऑफ़ से पहले सारे चेक्स किये, फिर उस ने जहाज़ को रनवे पर लाइन अप कर लिया।

छाती में से एक हूक निकली, "या ख़ुदाया, इस का इंजन फ़ेल हो जाये।" ...और जहाज़ को रोल करते हुए उस ने पाँचों पीरों को मनाया। पर जहाज़ स्पीड पकड़ रहा था। टेक ऑफ़ स्पीड पर उस ने कंट्रोल स्टिक को पीछे खींचा, जहाज़ ऊपर की ओर हो रहा था...

अनवर के सारे अंग जैसे एक दूसरे से जुदा हो गये। दिल-दिमाग़ एक तरफ़ होकर बैठ गये, और हाथ अपनी आदत के अनुसार जहाँ-जहाँ भी पड़ने थे, पड़ते रहे। मुँह से आवाज़ भी उसी तरह निकलती रही जिस तरह ऐसे वक़्त हमेशा निकलती थी—'ब्रेक्स...वील्ज़ अप...सेफ़्टी स्पीड...थ्राटल बैक'...दिल भी जहाज़ की तरह, फ़ासले को चीर रहा था—पर जहाज़ आने वाली घड़ी के फ़ासले को, और दिल बीती हुई घड़ी के फ़ासले को...

पिछले बरस उस की पोस्टिंग जब जैसोर हुई थी, दिसम्बर में उस के ग्रुप कैप्टन के दोस्त कमिश्नर नज़रुलदीन के बच्चे एअर फ़ोर्स स्टेशन देखने के लिए आये थे। और ग्रुप कैप्टन ने कहा था—'हम में से फ़्लाइट लेफ़्टिनेंट अनवर हुसैन को बंगाली आती है, वह बहुत अच्छी तरह सब कुछ दिखायेगा...और उस ने नज़रुलदीन के छोटे बच्चों को और छुट्टियों में आयी हुई उस की सबसे बड़ी बेटी नज़्मा को—एअर क्राफ़्ट्स दिखाते हुए पता नहीं, किस होनी का मुँह देख लिया था...

जहाज़ तीस हज़ार फ़ुट की ऊँचाई पर उड़ रहा था, और अनवर की विचार-धारा धरती से कई हज़ार फ़ुट नीचे पाताल में उतरी हुई थी...शायद वहाँ, जहाँ कभी आदम और हव्वा छोटी-छोटी मछलियाँ बनकर तैरा करते थे...

उस दिन उस ने नज़मा को जेट का प्रिंसीपल समझाया था—न्यूटन का थर्ड लॉ ऑफ़ मोशन। हवाई जहाज़ में फ़्युएल जलता है, गैसें जेट एग्ज़ास्ट में से पिछली तरफ़ जाती हैं, और वही जहाज़ को आगे धकेलती है...न्यूटन का थर्ड लॉ ऑफ़ मोशन...

नज़मा की स्याह-काली आँखों में पता नहीं क्या था, अनवर को लगा था, अगर वह एक बार इन आँखों में डूब गया तो फिर इन पलकों में से वह कभी बाहर न आ सकेगा। फिर कितने दिन...कितने दिन...वह जब भी अपने पैर पीछे खींचता था, वह एक क़दम जैसे और आगे हो जाता था...यह पता नहीं न्यूटन का फ़ोर्थ लॉ ऑफ़ मोशन था...

न्यूटन ने सिर्फ़ तीन लॉ बनाये थे... यह चौथा...और अनवर को घबराकर याद आया कि अभी उस ने कण्ट्रोल टॉवर को मैसेज देना है। मैसेज दिया, "जैसोर टॉवर...पीस टाइम...रिपोर्टिंग ऑपरेशन नॉर्मल..."

और अनवर को लगा—जैसे उस ने आज सब से बड़ा झूठ बोला हो। नॉर्मल ...कुछ भी तो नहीं...उस की नाड़ियों में आग की लकीरें फैल रही हैं, और वह कह रहा है—सब नॉर्मल...

नज़मा ने उसे दूसरे दिन, छोटे भाई की सालगिरह पर दावत दी थी। वैसे भी इन दिनों में बंगाली बहुत ख़ुश थे। इलेक्शनों में जीते हुए थे...नज़मा ने कमल के फूलों का गीत गाया था...

और उस से अगली मुलाक़ात जैसे उस ने हठात् नज़मा से माँग ली हो—पर वह मुलाक़ात सुखद नहीं थी—हवा में शिद्दत की गंध थी— और नज़मा तमाम वक़्त उसे हुकूमत का एक अंग समझकर शिकवे करती रही थी...अपनी तहज़ीब के मान में मदमस्त...पर दिल फ़रेब...

नज़मा के लम्बे स्याह बालों की तरह आसमान में बादल घिर आये थे, अनवर के ख़याल भी...वह छुट्टियाँ गुज़ारकर जाने लगी तो फ़ोन करके उस ने ख़ुद अनवर को बुलाया था। ख़ुश भी थी, खीझी हुई भी, कह उठती थी, 'अनवर तुम्हारी पोस्टिंग उन्होंने तुम्हारे देश से इतनी दूर, मेरे देश में क्यों कर दी? मज़हब एक होने से क्या होता है, तुम बंगाल का दर्द कभी नहीं समझ सकते...'

बंगाल का दर्द...पंजाब के अनवर ने अपने होंठों को अपने दाँतों से काटा—इन्सान का एक निजी दर्द भी तो होता है...ये सरकारें जब इन्सान को हुक्म देती हैं...

उस का जी चाहा कि हवाई जहाज़ वापस मोड़ ले—कह देगा, मौसम ख़राब था...पर यह एक पल का दिल को भुलावा था, अनवर को पता था...इस का मतलब कोर्ट मार्शल था...

ढाका यूनिवर्सिटी—ठीक साढ़े सात बजे स्टूडेंट्स का जलसा, उन में नज़मा भी...और बंगाल का दर्द भी...

—मेरा मिशन...अनवर का माथा काँपा—नज़मा कहा करती थी—ज़िन्दगी में उस का एक मिशन है...और अनवर ने हड़बड़ाकर कहा—ख़ुदाया ! यह मिशन अलग-अलग कैसे हो जाते हैं ! अनवर के बिखरे-बिखरे अंग—दिल की आग में पड़कर जैसे फिर जुड़ गये। उस ने कंट्रोल टॉवर को कहा—इंजन का टेम्परेचर बढ़ रहा है। फिर कुछ सेकिंड बीत गये। वह मुस्कराया—और उस ने इमरजेन्सी कॉल की—मे डे मे डे मे डे...कॉलसाइन तीन बार ट्रांसमिट किया—पीस टाइम...पीस टाइम...पीस टाइम...

अनवर को हँसी-सी आ गयी।—मशीनगनों से एक यूनिवर्सिटी को तबाह करने जा रहे जहाज़ का कॉलसाइन—'पीस टाइम', इस से गलीज़ मज़ाक़ और क्या हो सकता है...और उस ने ट्रांसमिट किया—इंजन ऑन फ़ायर...सिक्स फ़ाइव माइल्स फ्राम ढाका।...ऑन रेडियल थ्री टु टु...बेलिंग आउट...

वह ढाका से तीस मील की दूरी पर था, पर उस ने सिक्स फ़ाइव कहके ग़लत पोज़ीशन बतायी कि सर्च पार्टी जल्द न ढूँढ़ सके। फिर उस ने एअर क्राफ़्ट को ट्रिम किया, कैनोपी को जैटीसन किया, सीट को इंजेट किया; और एक धमाके से सीट सहित ऊपर को फेंका गया। जहाज़ उस के नीचे से निकल गया। कुछ सेकिंड बाद सीट अलग होकर गिर गयी, और वह तेज़ी से नीचे की ओर आने लगा। पन्द्रह हज़ार फ़ुट की ऊँचाई रह गयी तो उस की पैराशूट खुल गयी। गिरने की स्पीड एकदम धीमी हो गयी।

उस ने देखा—एअर क्राफ़्ट कुछ दूर सीधा गया, फिर दायीं ओर झुका, फिर उस की नोज़ नीचे की ओर हुई, और वह तेज़ी से गोल चक्कर काटता हुआ ज़मीन पर गिरने लगा। अनवर सोच रहा था—उस के ज़मीन पर गिरते ही आग की लपटें निकलेंगी...और पेड़ों के एक मुंड के पास नर्म जगह अनवर के जब पैर लगे, उस ने कोई तीन मील की दूरी पर आग की लपटें देखीं...

अनवर ने पास के पुलिस स्टेशन या मिलिट्री एस्टेब्लिशमेंट पर जाकर इन्फ़ॉर्म करना था, वापस जाना था, पर यह बाद की बात थी—कल की बात। उस ने 'आज' बचा लिया था...अपना आज भी, और नज़मा का आज भी।

एक ख़ाली जगह

मोहरसिंह जब अचानक घोड़ी पर से गिरकर मर गया, तो आसपास के गाँव में जितने दोस्त थे, उन के घर बलते घी के दीये काँप गये। हरनाम कौर, उस की ब्याहता, नामो "वे सरदारा ! मेरिया थानेदारा..." विलाप करती-करती जब थक गयी तो नसवार की एक चुटकी लेकर पिछली कोठरी में जा पड़ी।

केहरा, उस का बड़ा बेटा, जब क्रिया पर बैठा, उस की आँखों के पपोटे सूज रहे थे। लोगों के लिए वह सारी रात रोता रहा था, पर यह सिर्फ़ उसे पता था कि वह मृतक पिता के सिरहाने से जब पिस्तौल और सिलाजीत की डिबिया उठाकर पिछली एक कोठरी में गया था तो सारी रात फावड़े से कोठरी के एक कोने में गड्ढा खोदकर बाप के सारे गँडासे, छुरे और गोलियाँ-पिस्तौल छिपाता रहा था। जानता था कि पुलिस कभी इस घर की राह नहीं करती थी, पर यह भी समझता था कि पुलिस को जिस मुँह का मुलाहज़ा था, वह मुँह न रहा तो पुलिस का लिहाज़ भी नहीं रहना था।

मलकी ने इस आँगन में कभी पाँव नहीं रखा। उस के लिए मोहरसिंह ने नया कोठा छतवा दिया था, पर आख़िर उस की सरदारी भी मोहरसिंह के लिए सदक़ा थी, मरे हुए सरदार का मुँह देखने के लिए खोयी हुई बछड़ी की तरह उस के आँगन में आ गयी। फ़ौजा, मोहरसिंह के यारों में नम्बर एक था। मोहरसिंह ख़ुद भी उसे 'दरजा अव्वल' कहा करता था। मोहरसिंह का संस्कार हो गया, और जब लोग घरों को लौटे, मलकी भी ख़ामोशी से उठकर अपने घर को चली, तो फ़ौजा उस के पीछे-पीछे हो चला। वह घर का कुंडा खोलने लगी तो फ़ौजे ने पास होकर कहा, "मलकीअत कौरे ! दिल न थोड़ा करना, बस, यही कहने के लिए तेरे पीछे आया हूँ।"

मलकी एक बार ठिठक-सी गयी। एक मोहरसिंह था, जो उसे 'मलकीअत कौर' कहा करता था। उस के यारों-दोस्तों में से किसी की मजाल नहीं होती कि जो उस की परछाई भी छू सके। कभी वास्ता पड़ता तो हर कोई उसे भाभी कहता था, पर कभी उस का नाम नहीं लेता था। आज फ़ौजे ने मोहरसिंह के मरते ही उस का नाम लेकर बुलाया तो वह एक पल चौंकी, फिर सँभल गयी। कहने लगी, "अब उम्र ढल गयी देवर। मुझे काहे का फ़िक्र है। वह ख़ुद सयाना था, जीते-जी यह कुआँ और खेत मेरे नाम करवा गया, मुझे सारी उम्र के लिए काफ़ी है। अकेली जान का क्या होना है।"

"फिर भी मैं ने कहा, कभी भाभी, तू डोल जाये...बस यही कहने आया था।" फ़ौजासिंह ने शायद सचमुच और कुछ नहीं कहना था, यही कहकर पीछे लौट गया।

मलकी ने अन्दर से दरवाज़े का कुंडा लगा लिया, दीया जलाया और फिर निहत्थी-सी होकर खटिया पर बैठती को रोना आ गया।

'अकेली जान का क्या होता है,' मलकी की अपनी आवाज़ ही उस के कानों में खड़ी हो गयी, और जो रोना उसे सवेरे मोहरसिंह की लाश देखकर नहीं आया था, वह अकेली बैठी को आ गया, 'सरदारा! तेरे जीते-जी भी तो अकेली थी, एक जगह ऐसी अकेली थी, तुझे भी नहीं दिखता था...'

मलकी ने गहरी साँस ली और सोचने लगी—मोहरसिंह जब सात नियामतें लिये उस के पास बैठा होता था, तब भी उस के सामने ऐसी ही ख़ाली जगह होती थी, जो कभी भरती नहीं थी...इस ख़ाली जगह पर वह आप ही कभी एक बच्चे को गोदी में डालकर बैठ जाती थी...बच्चे को दूध पिलाती थी...कन्धे पर लगाकर उस रोते हुए को बहलाती थी...और फिर सोए हुए बच्चे का मुँह चूम-चूमकर बावरी हो जाती थी...

जब वह बरस गिनती तो वही गोदी का बच्चा उस की आँखों के आगे बड़ा हो जाता...वह नया ढीला कुर्ता सिलाती...और आटे की परात भरकर गूँथती...

बरसों की गिनती भूल जाती तो बच्चा छोटा हो जाता, बरसों की गिनती याद करती तो बच्चा बड़ा हो जाता...और वह अपने सामने पड़ी ख़ाली जगह को आँखें मूँद-मूँदकर भरती रहती...

एक दिन सो रही थी, तो उस ने सपने में अपने बेटे की सुन्नतें करवाईं। जागी तो मोहरसिंह की आवाज़ कान में पड़ी, 'मलकीअत कौरे! उठ चाय का घूँट बना, मैं ने जल्दी जाना है...'

'मलकीअत कौर'...रोती हुई मलकी को हँसी-सी आ गयी, बैठी-बैठी कहने लगी, 'मलकीअत कौर तो तेरे साथ ही मर गयी सरदारा! अब बता इस मलकी का क्या करूँ?'

'सरदार जब जीता था, कभी रौ में होता था, तो उसे कहती थी—वेलिया सरदारा! यह तू ने मेरे साथ क्या किया? मुझे बसी-बसाई को उजाड़ना था तो दो बरस पहले उजाड़ लेता, तब क्यों उजाड़ा, जब बरस का बेटा झोली में डालकर बैठी थी...'

और 'बेली सरदार' कहा करता था, 'संयोगों की बात होती है मलकीअत कौरे! मैं ने सैकड़ों औरतें तेरी जैसी, और तुझ से भी सवाई, उठायी और बेचीं, पर धर्म की सौगन्ध, दिल किसी पर नहीं आया था। तेरा सौदा तो किसी और के लिए किया था, पर ज्यों ही आँख उठाकर तुझे देखा, मेरे जी को जंजाल पड़ गया...'

और मलकी जी ही जी में काँप जाती, 'यह सरदार, जो मुझे बन्दूकों के ज़ोर से उठा लाया, जो औरों की तरह मुझे भी कहीं आगे बेच देता, मेरा पता नहीं क्या हाल होता...यहाँ मुझे गर्म हवा नहीं लगने देता...मुँह से एक बात निकालूँ तो छत्तीस निआमतें हाज़िर करता है...मैं शिकलीगरों की फ़क़ीरनी-सी औरत...यह मुझे राज करवाता है।' और फिर मलकी की सारी दलीलें डूब जातीं, जिस्म पर पड़े सोने के गहने भी कच्चे रंग की तरह खुर जाते, और वह मन के गहरे दरिया में पड़ी हुई उस किनारे को ढूँढ़ती जिस किनारे पर उस की कोख में जन्मा उस का बेटा था...

बेली सरदार ने एक बार उस के लिए कोशिश की। पर कुछ नहीं बना। शिकलीगरों को जब मलकी का पता लगा था, वह सरदार के गाँव आये थे, और सरदार ने उन के साथ एक सौदा करना चाहा था कि अगर वह मलकी का बेटा उसे दे दें तो वह पूरे पाँच हज़ार उन की झोली में डाल देगा। पर शिकलीगरों ने सरदार को बदले की धमकी दी थी, और सौदा थूक दिया था।

'सरदार मोहरसिंह से बदला?" सरदार ज़ोर-ज़ोर से हँसा था, और फिर हवा में उस की पिस्तौल की गोलियाँ हँसी थीं...

और फिर पता लगा कि शिकलीगरों का वह टोला हदें-सरहदें लाँघकर पाकिस्तान चला गया था...

'अठारह बरस हो गये...' मलकी ने उँगलियों पर बरस गिने, और फिर उन में अपने बेटे की उम्र का वह बरस भी जोड़ा, जब उस ने बेटे को आख़िरी बार देखा था, और फिर उन्नीस बरस के बेटे का मुँह याद करती सामने पड़ी हुई ख़ाली जगह की तरफ़ देखने लगी...

मोहरसिंह का अभी मुश्किल से क्रिया-कर्म ही हुआ था जब लोगों ने सुना कि मलकी अपने कुएँ-खेत छोड़कर पाकिस्तान चली गयी थी...

कजली

पठानकोट बीस मील पीछे छूट गया था, और आगे सड़क का दूसरा सिरा अभी पचास मील दूर था कि गाड़ी की फ़ैनबेल्ट टूट गयी। गाड़ी न एक क़दम आगे हो सकती थी न पीछे। एक ही चारा था कि पठानकोट की तरफ़ जाती किसी लॉरी-कार में बैठकर इमरोज़ पठानकोट जाये, और वहाँ से नयी फ़ैनबेल्ट ख़रीदकर, फिर इस तरफ़ आती किसी लॉरी-कार में बैठकर आ जाये।

वैसे सुबह का वक़्त था, सारा दिन सामने पड़ा था। साँझ के अँधियारे का ख़ौफ़ अभी बड़ी दूर था। इसलिए दो घंटे या इससे ज्यादा इन्तज़ार करना मुझे मुश्किल नहीं था। सड़क छोटी थी। गाड़ी को पहाड़ी दीवार की तरफ़ लगाकर, मैं खाई की ओर बैठ गयी थी कि अगली या पिछली तरफ़ से आने वाली कारों-लॉरियों को यहाँ से सँभलकर गाड़ी के पास से गुज़र जाने का इशारा दे सकूँ।

एक लॉरी बिल्कुल नज़दीक आयी, तो झटका-सा खाकर खड़ी हो गयी। उस का पहिया पंक्चर हो गया था। लॉरी में कई सवारियाँ थीं। लॉरी का ड्राइवर और कंडक्टर पहिया बदलने लगे, तो सवारियाँ उतरकर सड़क पर खड़ी हो गयीं। ड्राइवर किसी रौ में था, अपनी सवारियों से कहने लगा, "यही मोड़ मुड़कर मरखनी की बावड़ी है। सब पानी-वानी पिओ, या झोंपड़ी वाले चाचा की दुकान से चाय पी लो—पहिया चढ़ाकर तुम्हें आवाज़ दे लूँगा।"

सवारियाँ उस के कहे पर अगले मोड़ की तरफ़ चल पड़ीं तो कंडक्टर ने लॉरी के पहियों के साथ बड़े-बड़े पत्थर रखते हुए ड्राइवर को चुटकी भरी, "बचना! तुझे चाहे और सब कुछ भूल जाये, पर मरखनी नहीं भूलेगी : न तुझे, न तेरी लॉरी को। देख ले, ससुरी वहीं पहुँचकर पंक्चर हुई है..."

सो लगा मरखनी कोई औरत थी। सींग मारने वाली गाय या भैंस को तो सुना हुआ था कि मरखनी कहते हैं, पर औरत...

ड्राइवर तमककर कह रहा था, "साले! नाम न ले मरखनी का, यह जैक नहीं लगेगा मुझ से..."

उस का कंडक्टर उस की रगें पहचानता-सा लगा था, उस ने फिर हुज्जत की, "अरे ! जीती थी तो तुझे हमेशा सींग मारती थी, अब मरी हुई भी मारती है ?"

पहिये के नट कसते हुए ड्राइवर ने हाथ में पकड़ा हुआ वीलपाना कंडक्टर के कान में फँसा दिया, और हँस पड़ा, "आ तो बच्चू, पहले तेरे नट कस लूँ..." नया पहिया चढ़ गया, तो कंडक्टर दौड़कर सामने मोड़ के पास गया। बावड़ी शायद एक तरफ़ पास ही थी, उस की आवाज़ सुनाई दी, "आओ भई, आओ, वहाँ कौन-सी मरखनी बैठी है जो तुम हिलते नहीं..." इधर ड्राइवर फिर अपनी सीट पर बैठकर हॉर्न दे रहा था, कंडक्टर और भी कुछ कह रहा था, पर वह हार्न की आवाज़ में डूब गया, सुनाई नहीं दिया।

सवारियाँ लौट आयीं, लॉरी चली गयी, तो मेरे पैर अनायास ही उस मोड़ की तरफ़ बढ़ गये, जिस के एक तरफ़ कोई बावड़ी थी। चाय गाड़ी में रखे थर्मस में थी, पानी की भी ज़रूरत नहीं थी। पर फिर भी बावड़ी जैसे बुला रही थी...

देखा, पहाड़ी बावड़ियों सरीखी एक बावड़ी थी। एक तरफ़ ज़रा-सा ऊपर सलेटों की छत वाली दो लकड़ी की कोठरियाँ थीं। एक में आग जल रही थी, दहलीज़ के पास बैठा एक बूढ़ा आदमी अभी-अभी ख़ाली हुए चाय के गिलास धो रहा था।

पास जाकर पूछा, "यही मरखनी की बावली है ?"

उस ने गिलासों से सिर उठाकर मेरी तरफ़ देखा तो लगा—मेरे सवाल से वह ग़ुस्सा हो गया था। मैं ने फिर हलीमी से पूछा, "यहाँ अभी एक लॉरी ख़राब हुई थी, तो उस के ड्राइवर ने बताया था कि यहाँ मोड़ पर..."

"वह कुत्ते के बीज मरघट में भी पड़ी हुई को चैन नहीं लेने देते..."

बूढ़े के हाथ से काँच का गिलास छिटकते हुए बचा। देखा—चूल्हे के पास टीन के छोटे-छोटे डिब्बे पड़े हुए थे। एक रुपया दीवार के पास पड़े स्टूल पर रखकर कहा, "बाबा ! चाय का गिलास और कुछ खाने को मिल जायेगा ?"

उस ने एक डिब्बा खोलकर कुछ बिस्कुट निकाले, और चाय का पानी चूल्हे पर चढ़ाकर कहने लगा, "बिटिया ! यह कजली की बावड़ी है, सारा जग जानता है। इस का पानी तो अब दुश्मन भी आँखों से लगाते हैं...पर कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्हें ख़ुदा की मार होती है—इनसान की जून में आकर भी इनसान नहीं बनते..."

"कजली कौन थी बाबा ?"

"कजली मेरी बेटी थी, बेटी जैसी...ये राह जाते जब बुरी नजरों से देखते, तो फिर वह उन की पसलियाँ न तोड़ती, तो क्या करती ?—इसी लिए ये कुत्ते के बीज उसे मरखनी कहते थे।"

"कब मर गयी ?"

"थी तो जीने लायक़, पर मर गयी...मौत भी नहीं आयी थी, पर मर गयी..." और उस ने काँच के गिलास उल्टे रखकर कहा, "अगर बिटिया, तू ने कहीं वह देखी होती..."

बाबा के मन में, लगा, खाई जैसी कोई हसरत थी। मुझ राही को वह कह रहा था—'जो तू ने कहीं वह देखी होती...'

मैं ने भी उसी हसरत से पूछा, "कैसी थी ?"

चूल्हे पर से खौलती चाय शीशे के गिलास में डालकर उस ने काँपते हाथ से जब गिलास मेरे आगे रखा—लगा उस के शीशे सरीखे मन में भी कुछ उबल-खौल रहा था...

कह रहा था, "अँगूठा चूसती को झोली में डाला था। आँधी से कोठा ढह गया। ऊपर से इतने पेड़ टूटे कि कोठा भी कहीं ढूँढ़े मिलता नहीं था। बाप मर गया, माँ मर गयी, पर मिट्टी के ढर में से यह निकल आयी। होनी कि बेटी को तब कुछ न हुआ।"

"फिर ?"

"ऐसी पक्की हड्डी थी। फिर जवान हुई तो कई बवँडर उठ खड़े हुए..."

"यहाँ इसी बावड़ी पर तुम्हारा घर था बाबा ?"

"काहे को, अपने भरे गाँव में था। अपने खेत थे...अपने खलिहान..."

"फिर ?"

"कोई पिछले जन्म का लेन-देन था। गाँव के नम्बरदार का बेटा भरती हुआ तो हाथ में बन्दूक़ थामकर कह गया—'यह कजली किसी और जगह ब्याही तो उस जने को बन्दूक़ की एक ही गोली से बींध दूँगा।' "

"फिर ?"

"उस से भी सवाया, पता नहीं किस निगोड़ी माँ ने जन्मा था, एक कोई और घोड़े पर चढ़ा, हमारे गाँव में से गुज़रा, और कजली के माथे पर तक़दीर लिखी गयी।"

"फिर बाबा ?"

"चिड़ियों और गुटारों की तरह उड़ती लड़की को पिंजरे में डाल गया..."

"लौटकर आया कि ना ?"

"उस की होनी उसे बुलाती थी, आता कैसे ना ? ढलते दिन की तरह गया था, उगते दिन की तरह लौट आया।"

"फिर ?"

"मैं नम्बरदारों से डरता इस को कोई हामी ना भरूँ, पर यह तो नदियों के बहाव थे, मैं कैसे थाम सकता था...उस के हाथ में भी बन्दूक़ थी, कहता—'भुगत लूँगा नम्बरदार के लड़के को...' लड़की उस से भी सवा रत्ती बढ़कर कहे—'मुझे

सिखा बन्दूक़ चलाना...' और उन दिनों सचमुच नम्बरदारों का लड़का छुट्टी आ गया।"

"फिर ?"

चाय पीनी भूल गयी थी, तो भी लगा—गर्म चाय से होंठ जल गये थे...

'उस की आयी थी...उस की काहे को, सब की आयी थी...दोनों ने बन्दूक़ें तानलीं। नम्बरदार का लड़का बन्दूक़ की गोली से मर गया, और हम सब को कर्मों ने मार दिया..."

"वह पकड़ा गया ?"

"सारा गाँव गवाह था, उस बावरे ने कहाँ जाना था...पुलिस पकड़कर ले गयी तो फिर उस की सूरत नहीं देखी। लड़की ने कई अरज़ियाँ दीं, पर अगलों ने यही बात पकड़ ली कि वह अरज़ी देने वाली कौन होती है—न माँ, न बहन, न घर की कोई नार..."

सामने दूर पार तक पत्थर ही पत्थर दिखते थे। लगता—कजली को सारी दुनिया ही पत्थरों की दिखती होगी।

"बिटिया ! चार फेरे लिये होते, चलो वह चाहे जेल में ही था, तिमाहे-छमाहे उस का मुँह तो देखती..."

"उसे कितनी सज़ा हुई, बाबा ?"

"सारी उम्र की।"

"सारी उम्र की ?"

"तीन बरस बीत गये—जग ताने देवे कि भला वह उस की क्या लगती थी ? क़ानून तो काग़ज़ों के होते हैं न बिटिया !"

काग़ज़ों पर लिखे अक्षरों में, और पत्थर पर खिंची लकीर में—क्या और कहाँ फ़र्क़ होता है ? सोच रही थी— यह कभी पकड़ में नहीं आता...

बाबा कह रहा था—"उसे किसी पर ग़ुस्सा नहीं था—सिर्फ़ पुलिस वालों पर ग़ुस्सा था, कि उस सलाखों के पीछे पड़े हुए को, कभी बरस-छमाही देखने क्यों नहीं देते, थाने जाती तो वहाँ उस की बेइज़्ज़ती करते कि...रोती के हाथ भीग जाते...फिर—एक-दो रिश्ते आये तो जली-मारी कहने लगी—चाचा, किसी से मेरा ब्याह-श्याह कर दे—इज़्ज़त वाली हो कर देख लूँ..."

"फिर उस ने ब्याह किया ?"

"ना ही करती...उस बेलगाम घोड़ी को लगाम कहाँ पड़नी थी, उधर फेरे दिये, उधर सोग मनाकर बैठ गयी... मैं ने उस जने को समझाया कि सब्र से काम ले—पर वह निगोड़ा जला-भुना चौथे दिन ही गाली-गलौज देने लगा। हाथों से मेहँदी भी नहीं उतरी थी, लड़की को मारने-पीटने लगा। उस ने भी मारते हुए का हाथ न रोका। बदन पर नील पड़ गये तो थाने जाकर रपट लिखवा आयी।

कहने लगी—'अब तो क़ानून बोलेगा, तब तो उसे दाँती लग गयी थी। तब उसे मेरे ज़ख़्म नहीं दिखते थे, अब तो मेरे नील दिखेंगे... अब तो इज्ज़त वाली हूँ..."

मैं ने हैरान-सा होकर पूछा—"फिर बाबा ?"

"वह पकड़ा गया। छः महीने की सज़ा सुनायी गयी। कहा गया या तो दो सौ रुपये दण्ड भरे या जेल जाये। घर तो तगड़ा नहीं था, रुपया कहाँ से भरता ? पर इस लड़की की बातें—न हम से बूझी गयीं, न भगवान् से। ख़ुद ही उसे सज़ा दिलवायी, ख़ुद ही जाकर उस का दण्ड भर आयी। दो सौ रुपया सरकार के माथे मारकर उसे छुड़ा दिया। पर ख़ुद, ख़ुदा की बन्दी फिर उस के माथे न लगी। न उस के घर गयी, न उसे अपने घर आने दिया ..बस अन्दर घुसकर बैठ गयी—जैसे क़ब्र में पड़ी हो..."

मैं सोच रही थी—पहाड़ी राह—पेचीदे मोड़ वाले, शायद इन्सानी मन की रीस में बनी है...बावड़ी की तरह मन भर आया...

वह कह रहा था—"फिर दो बरस बाद वह, जिस की सूरत भी भूल गये थे, जेल तोड़कर वह हमारे घर में आ खड़ा हुआ..."

"वह ?"

"आधी रात को। मैं तो पूस की रात की तरह काँपने लगा...पर कजली उसे ललककर मिली। जैसे क़ब्र में से उठ बैठी..."

"पर पुलिस उस के पीछे होगी ?"

"कजली को भी पता था कि पुलिस उस के पीछे होगी, पर उन्हीं कपड़ों खड़े पैरों वह उस के साथ हो ली। वह घड़ी-भर भी वहाँ नहीं ठहर सकते थे। पहला छापा, पता था, वहीं पड़ना था..."

"फिर ?"

"वह जगह पता नहीं सौ कोस दूर होगी। पता नहीं वह यहाँ कैसे पहुँचे। मुझे फिर छः महीने उन की कोई ख़बर नहीं मिली। कहते हैं, वह छः महीने यहाँ घर बनाकर रही। गुज़ारे के लिए—यह चाय की दूकान चलाती। किसी को अपने मर्द के माथे न लगने देती। दिखने को सब को अकेली दिखाई देती थी। तभी तो बिटिया ! यह हराम के उसे मरखनी कहते थे। अकेली देखकर पगला जाते होंगे...बस वही रातों के अँधेरे में चार दिन उस ने जो जीना था, जी लिया—फिर पुलिस को सू लग गयी। कहते हैं, जब पुलिस ने घेरा डाल लिया तो कजली ने ख़ुद बन्दूक़ चलाकर पहले अपने मर्द को मार दिया, फिर एक गोली अपने छाती में मार ली...और पुलिस लाशें लेकर चल पड़ी..."

उस ने छोटी अँसुआई आँखों से चौगिर्द के पेड़ों को, पौधों को ऐसे देखा जैसे पत्ते-पत्ते में से कजली की और उस के मर्द की रूह दिखती हो...मरे हुए बुत तो पुलिस ले गयी थी...

बावड़ी के पानी से आँखें धोती हुई, मैं ने देखा—मेरे हाथ काँप रहे थे...
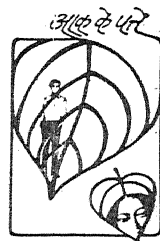
लाल मिर्च

"डाक्टरों के इंजेक्शनों को छोड़ो यार, जिस घर के कुत्ते ने काटा है, उस घर की लाल मिर्चें अपने ज़ख्म पर लगा लो।" एक दोस्त ने कहा।

"जिस घर के कुत्ते ने काटा है, अगर उस घर की कोई सुन्दर लड़की तुम्हारे ज़ख्म पर पट्टी बाँध दे...। लड़कियाँ भी तो लाल मिर्च होती हैं," दूसरा दोस्त बोला।

कॉलेज के सभी दोस्त लड़के हँस पड़े। और वह, जिसे कुत्ते ने काटा था, हँसकर कहने लगा, "यार, नुस्ख़ा तो अच्छा है, पर तुम ने आज़माया हुआ है न?"

गोपाल ने उम्र की सीढ़ी के अठारहवें डंडे पर पाँव रखा हुआ था, और गोपाल को लगा कि इस डंडे पर जवानी के अहसास का एक कुत्ता दुबककर बैठा हुआ था, और आज उस ने अचानक पागलों की तरह उस की टाँग में से मांस नोच लिया था।—उस दिन से गोपाल का मन अपने ज़ख्म पर लगाने के लिए लाल मिर्च जैसी लड़की ढूँढ़ने लग गया था।

लड़कियाँ तो गोपाल के कॉलेज में भी थीं, पड़ोस के घरों में भी, उस शहर की गलियों में भी, और अन्य सब शहरों में भी। 'पर जिस लड़की को मैं ढूँढ़ रहा हूँ,' गोपाल सोचता, 'वह कहाँ है?'

और फिर गोपाल लड़कियों को ऐसे देखता जैसे थाली में दाल को बीना जाता है। छोटे क़द की, मोटी, बैठी हुई नाक वाली, लम्बी, गोल...और जब ऐसी लड़कियों को वह दाल में के पत्थरों की तरह बीन लेता, उसे सभी पुरानी उपमाएँ याद आ जातीं—लचकती हुई टहनी जैसी लड़की, चन्दन जैसी लड़की, देवदार के वृक्ष

जैसी लड़की, चाँद की फाँक जैसी लड़की...और फिर गोपाल सोचता—कोई नहीं, इन में से कोई भी नहीं, उसे तो केवल लाल मिर्च जैसी लड़की चाहिए।

वैसे तो कॉलेज के सभी लड़कों में पुस्तकों और कोर्सों की बजाय लड़कियों की बातें लम्बी हो गयी थीं, पर गोपाल की हर बात को अपने घर जाने के लिए जैसे 'लड़की' शब्द के दरवाज़े में से ज़रूर गुज़रना पड़ता था।

कभी रेडियो पर नूरजहाँ की आवाज़ आती, "तुम्हारे मुख पर काले रंग का तिल है, ऐ सियालकोट के लड़के!" तो गोपाल अपने लाल होंठों पर एक मोटे तिल को अँगुली से टटोलने लग जाता और फिर जैसे नूरजहाँ को सम्बोधित करके कहता, "ज़ालिम, हर बार कहती है 'सियालकोट के लड़के', 'सियालकोट के लड़के', कभी इस की जगह लायलपुर के लड़के भी तो कहा कर।"...नूरजहाँ ने तो गोपाल की बात कभी न सुनी पर कॉलेज के लड़कों ने ज़रूर गाना शुरू कर दिया, "ऐ लायलपुर के लड़के...।" पर इस से तो गोपाल की ज़बान और भी सूख जाती थी। उसे और प्यास लगती थी—कभी नूरजहाँ, कभी एक लड़की यह बात कहे!

भुने हुए चने बेचने वाला कहता, "बम्बई का बाबू मेरा चना ले गया," तो गोपाल हँसता, " 'चना ले गया' तो ऐसे कहता है जैसे इस की लड़की निकालकर ले गया है।"

ऐनकों वाली लड़कियाँ गोपाल को लड़कियाँ नहीं लगती थीं। "जब भी आँखों को देखना हो, पहले काँच की दीवार पार करनी पड़ती है।" गोपाल कहता और उन लड़कियों को लड़कियों की सूची में से निकाल देता।

किसी लड़की ने ऊँची धोती बाँधी हुई होती, पाँव में जुराबें पहनी होतीं, हाथों में छतरी होती, तो गोपाल हँसकर मुँह फिरा लेता, "यह लड़की थोड़ी है, यह तो मास्टरनी है, मास्टरनी। जो विद्यार्थी गणित में कमज़ोर हो, वह मास्टरनी से शादी कर ले..."

किसी लड़की ने गहरे रंगों के कपड़े पहने होते या बाँह में चूड़ियाँ ही बहुत ज़्यादा पहनी होतीं, तो गोपाल कहता, "यह तो रंगों का विज्ञापन है। लड़की तो बीच में से मिलती ही नहीं, बस पूरी की पूरी चूड़ियों की दूकान है।"

किसी की बरात जा रही होती, गोपाल उदास हो जाता, "च...च...च... बेचारे का दिवाला निकल गया..." और गोपाल कहता, "जब मनुष्य प्रेमी बनने से पहले पति बन जाता है तो समझो अब बेचारे के पास पूंजी बिल्कुल नहीं रही, और उस ने घबराकर दीवालिया होने की अर्ज़ी दे दी है।"

"शायद वह किसी प्रेमिका से ही शादी करने जा रहा हो।" गोपाल का कोई दोस्त कहता।

"नहीं यार, ज़ुल्फ़ को सर करने में उम्र लगती है। ग़ालिब की डोमनी

और लोर्का की जिप्सी, इन के दरवाज़ पर कभी बरात नहीं जाती।" और गोपाल कई वर्ष तक इस ज़ुल्फ़ की बातें करता रहा जिस के सर करने में उस को उम्र लगानी थी।

और गोपाल ने टटोल-टटोलकर देखा—काली रात जैसे बाल, पर उसे किसी रात ने नींद न दी। सघन जंगल जैसे बाल, पर वह किसी जंगल में खो न सका। समुद्र की लहरों जैसे बाल, पर वह किसी लहर में गोता न लगा सका। और गोपाल ने उम्र के जो साल एक ज़ुल्फ़ को सर करने में लगाने थे, वे ज़ुल्फ़ को ढूंढ़ने में ही खोते रहे। और फिर गोपाल अपने सालों के खो जाने से घबरा गया।

"तुम भी अब हमारी तरह दीवालियापन की अर्ज़ी दे दो यार।" कॉलिज के पुराने साथियों में से कोई जब गोपाल को मिलता मज़ाक़ करता।

उम्र के अठारहवें वर्ष में जवानी के पागल कुत्ते ने गोपाल की टाँग को काटा था और उस ज़ख़्म पर लगाने के लिए गोपाल एक लाल मिर्च जैसी लड़की ढूँढ़ रहा था, पर अब उम्र के बत्तीसवें वर्ष में उस ज़ख़्म का जहर उस के सारे शरीर में फैलने लग गया था।

अब गोपाल सोचने लग गया था, वह न ग़ालिब है, न लोर्का। वह गोपाल है, या एक ईश्वरदास, या एक शेरसिंह, या एक अल्लारक्खा।...और उस ने सिर झुकाकर दीवालिया होने की अर्ज़ी दे दी।

"क्यों यार, आज डोमनी के घर में बरात आयेगी या जिप्सी के घर में?"

"सुनाओ, भाभी कैसी है?"

"और कुछ नहीं तो हम तुम्हारी लाल मिर्च के देवर तो बन ही जायेंगे।"

"बेशक सोने की अँगूठी की जगह हीरे की अँगूठी ही देनी पड़े, भाभी का घूँघट जरूर उठायेंगे।"

गोपाल अपने दोस्तों के मज़ाक़ को अपने हाथ पर विवाह के लाल धागे की तरह बाँधे जा रहा था और हँसता हुआ कह देता था, "मास्टरनी है, मास्टरनी। ऐनक भी लगाती है तुम्हारी भाभी।"

माँ ने जब रिश्ता किया था, गोपाल से कहा था कि अगर वह चाहे तो किसी बहाने वह लड़की दिखा देगी। पर गोपाल ने स्वयं ही इंकार कर दिया था—"जब दीवालिया होने की अर्ज़ी ही देनी है तो..."

डोली दरवाज़े पर आ गयी।

"सुन्दर है बहू, घर का सिंगार है।" उसे रुपये देते समय गोपाल की ताई कह रही थी। और गोपाल कह रहा था—"जब लोग दरवाज़े के सामने कोई भैंस लाकर बाँधते हैं, तब भी यही बात कहते हैं—'भैंस तो घर का सिंगार होती है।' और जब लोग डोली लेकर आते हैं तब भी यही बात कहते हैं—'बहू तो घर का

जैसी लड़की, चाँद की फाँक जैसी लड़की...और फिर गोपाल सोचता—कोई नहीं, इन में से कोई भी नहीं, उसे तो केवल लाल मिर्च जैसी लड़की चाहिए।

वैसे तो कॉलेज के सभी लड़कों में पुस्तकों और कोर्सों की बजाय लड़कियों की बातें लम्बी हो गयी थीं, पर गोपाल की हर बात को अपने घर जाने के लिए जैसे 'लड़की' शब्द के दरवाज़े में से ज़रूर गुज़रना पड़ता था।

कभी रेडियो पर नूरजहाँ की आवाज़ आती, "तुम्हारे मुख पर काले रंग का तिल है, ऐ सियालकोट के लड़के!" तो गोपाल अपने लाल होंठों पर एक मोटे तिल को अँगुली से टटोलने लग जाता और फिर जैसे नूरजहाँ को सम्बोधित करके कहता, "ज़ालिम, हर बार कहती है 'सियालकोट के लड़के', 'सियालकोट के लड़के', कभी इस की जगह लायलपुर के लड़के भी तो कहा कर।"...नूरजहाँ ने तो गोपाल की बात कभी न सुनी पर कॉलेज के लड़कों ने ज़रूर गाना शुरू कर दिया, "ऐ लायलपुर के लड़के...।" पर इस से तो गोपाल की ज़बान और भी सूख जाती थी। उसे और प्यास लगती थी—कभी नूरजहाँ, कभी एक लड़की यह बात कहे!

भुने हुए चने बेचने वाला कहता, "बम्बई का बाबू मेरा चना ले गया," तो गोपाल हँसता, " 'चना ले गया' तो ऐसे कहता है जैसे इस की लड़की निकालकर ले गया है।"

ऐनकों वाली लड़कियाँ गोपाल को लड़कियाँ नहीं लगती थीं। "जब भी आँखों को देखना हो, पहले काँच की दीवार पार करनी पड़ती है।" गोपाल कहता और उन लड़कियों को लड़कियों की सूची में से निकाल देता।

किसी लड़की ने ऊँची धोती बाँधी हुई होती, पाँव में जुराबें पहनी होतीं, हाथों में छतरी होती, तो गोपाल हँसकर मुँह फिरा लेता, "यह लड़की थोड़ी है, यह तो मास्टरनी है, मास्टरनी। जो विद्यार्थी गणित में कमज़ोर हो, वह मास्टरनी से शादी कर ले..."

किसी लड़की ने गहरे रंगों के कपड़े पहने होते या बाँह में चूड़ियाँ ही बहुत ज़्यादा पहनी होतीं, तो गोपाल कहता, "यह तो रंगों का विज्ञापन है। लड़की तो बीच में से मिलती ही नहीं, बस पूरी की पूरी चूड़ियों की दूकान है।"

किसी की बरात जा रही होती, गोपाल उदास हो जाता, "च...च...च... बेचारे का दिवाला निकल गया..." और गोपाल कहता, "जब मनुष्य प्रेमी बनने से पहले पति बन जाता है तो समझो अब बेचारे के पास पूंजी बिल्कुल नहीं रही, और उस ने घबराकर दीवालिया होने की अर्ज़ी दे दी है।"

"शायद वह किसी प्रेमिका से ही शादी करने जा रहा हो।" गोपाल का कोई दोस्त कहता।

"नहीं यार, ज़ुल्फ़ को सर करने में उम्र लगती है। ग़ालिब की डोमनी

और लोर्का की जिप्सी, इन के दरवाज़ पर कभी बरात नहीं जाती।" और गोपाल कई वर्ष तक इस ज़ुल्फ़ की बातें करता रहा जिस के सर करने में उस को उम्र लगानी थी।

और गोपाल ने टटोल-टटोलकर देखा—काली रात जैसे बाल, पर उसे किसी रात ने नींद न दी। सघन जंगल जैसे बाल, पर वह किसी जंगल में खो न सका। समुद्र की लहरों जैसे बाल, पर वह किसी लहर में गोता न लगा सका। और गोपाल ने उम्र के जो साल एक ज़ुल्फ़ को सर करने में लगाने थे, वे ज़ुल्फ़ को ढूंढ़ने में ही खोते रहे। और फिर गोपाल अपने सालों के खो जाने से घबरा गया।

"तुम भी अब हमारी तरह दीवालियापन की अर्ज़ी दे दो यार।" कॉलेज के पुराने साथियों में से कोई जब गोपाल को मिलता मज़ाक़ करता।

उम्र के अठारहवें वर्ष में जवानी के पागल कुत्ते ने गोपाल की टाँग को काटा था और उस ज़ख़्म पर लगाने के लिए गोपाल एक लाल मिर्च जैसी लड़की ढूँढ़ रहा था, पर अब उम्र के बत्तीसवें वर्ष में उस ज़ख़्म का ज़हर उस के सारे शरीर में फैलने लग गया था।

अब गोपाल सोचने लग गया था, वह न ग़ालिब है, न लोर्का। वह गोपाल है, या एक ईश्वरदास, या एक शेरसिंह, या एक अल्लारक्खा।...और उस ने सिर झुकाकर दीवालिया होने की अर्ज़ी दे दी।

"क्यों यार, आज डोमनी के घर में बरात आयेगी या जिप्सी के घर में?"

"सुनाओ, भाभी कैसी है?"

"और कुछ नहीं तो हम तुम्हारी लाल मिर्च के देवर तो बन ही जायेंगे।"

"बेशक सोने की अँगूठी की जगह हीरे की अँगूठी ही देनी पड़े, भाभी का घूँघट जरूर उठायेंगे।"

गोपाल अपने दोस्तों के मज़ाक़ को अपने हाथ पर विवाह के लाल धागे की तरह बाँधे जा रहा था और हँसता हुआ कह देता था, "मास्टरनी है, मास्टरनी। ऐनक भी लगाती है तुम्हारी भाभी।"

माँ ने जब रिश्ता किया था, गोपाल से कहा था कि अगर वह चाहे तो किसी बहाने वह लड़की दिखा देगी। पर गोपाल ने स्वयं ही इंकार कर दिया था—"जब दीवालिया होने की अर्ज़ी ही देनी है तो..."

डोली दरवाज़े पर आ गयी।

"सुन्दर है बहू, घर का सिंगार है।" उसे रुपये देते समय गोपाल की ताई कह रही थी। और गोपाल कह रहा था—"जब लोग दरवाज़े के सामने कोई भैंस लाकर बाँधते हैं, तब भी यही बात कहते हैं—'भैंस तो घर का सिंगार होती है।' और जब लोग डोली लेकर आते हैं तब भी यही बात कहते हैं—'बहू तो घर का

सिंगार होती है।' और फिर भैंस में और बहू में जो फ़र्क़ होता है, वह कहाँ गया ?"—और फिर गोपाल ख़ुद ही हँस देता—"यह भी वही फ़र्क़ है जो एक प्रेमी और दूल्हे में होता है।"

गोपाल की पत्नी न ही इतनी सुन्दर थी, न ही इतनी कुरूप। आम लड़कियों जैसी लड़की, देखने में बस ठीक ही लगती। और गोपाल को न कोई चाव था, न कोई शिकायत। वह भाँति-भाँति के कपड़े पहनती, पर गोपाल उसे कभी 'रंगों का विज्ञापन' न कहता। और वह सोहाग की चूड़ियाँ और दहेज के कड़े सब कुछ एकसाथ पहन लेती, गोपाल उसे कभी 'ज़ेवरों की दुकान' न कहता।

आजकल गोपाल को जवानी के शुरू के दिनों में पढ़ा हुआ एक अंग्रेज़ी उपन्यास याद आया करता था जिस में अपने सपनों की लड़की ढूँढ़ने के लिए कोई उम्र लगा देता है, पर उसे ढूँढ़ नहीं पाता, और फिर मरते समय अपने बेटे को अपनी सारी रूपरेखा और सारी लगन देकर कह जाता है कि वह इस क़िस्म की आँखों वाली, इस क़िस्म के नक़्शों वाली और इस क़िस्म के बालों वाली लड़की को ज़रूर ढूँढ़े। और फिर सारी उम्र की खोज के बाद उस का बेटा मरते समय यही बात अपने बेटे को लिखकर दे जाता है।

'ज़ुल्फ़ को सर करने में ग़ालिब ने सिर्फ़ एक ही उम्र का अन्दाज़ा लगाया था, पर' गोपाल सोचता, 'जीवन की हार ग़ालिब के अन्दाज़े से बहुत बड़ी है।' और आजकल गोपाल सोच रहा था, उस के घर एक पुत्र जन्म लेगा, हूबहू उस की मुखाकृति, हूबहू उस का दिल, हूबहू उस के सपने और फिर जब उस का पुत्र जवान होगा, वह एक लाल मिर्च जैसी लड़की ज़रूर ढूँढ़ेगा।...और फिर वह सारा संसार अपने पुत्र की आँखों में देखेगा।

"आज मैं बर्फ़ वाला पानी नहीं पिऊँगी," एक दिन गोपाल की पत्नी ने शिकंजबी का गिलास अपनी सास को लौटाते हुए कहा। और माँ जब उस के लिए चाय बनाने के लिए रसोई में गयी तो गोपाल ने अपनी पत्नी से हलका-सा मज़ाक़ किया, "मैं सारा महीना सपने इकट्ठे करता हूँ और तुम महीने के बाद मेरे सारे सपने तोड़ देती हो...।"

शायद वह इन्हीं शब्दों का असर था कि अगले महीने गोपाल की पत्नी के दिन लग गये और गोपाल की बाँहों में जैसे अभी उस का बेटा खेलने लग गया।

"खट्टी या नमकीन चीज तो इस ने कभी माँगी ही नहीं, हमेशा इस का मन मीठी चीज़ों के पीछे भटकता है। ज़रूर बेटा होगा। तुम्हारे जन्म के समय मुझे भी गुड़ की खीर अच्छी लगती थी।" माँ जब कहती, गोपाल को लगता, अब तो उस का बेटा तोतली बातें भी करने लग गया है।

यह नौ महीने गोपाल को पिछले नौ वर्षों के समान प्रतीत हुए। और फिर घर में घी, गुड़ और अजवायन इकट्ठी होने लगी।

कमरे का दरवाज़ा बन्द किया हुआ था। गोपाल ने बाहर बरामदे में बैठकर कागज़, क़लम और पुस्तक अपने सामने इस तरह रखी हुई थी जैसे देखनेवाले को लगे, उसे सिर उठाने की फ़ुरसत नहीं थी। पर गोपाल पुस्तक का कभी कोई पृष्ठ उलटता, कभी कोई। और फिर जो पंक्तियाँ सामने आ जातीं, उन को कागज़ पर लिखने लग जाता। दरवाज़े के पास वह जमा बैठा था और उस के कान अन्दर की आवाज़ सुनने के लिए सतर्क थे।

"ज़रा हिम्मत कर बेटी। बेटों का इसी तरह जन्म होता है।...बस मिनट-भर के लिए दाँतों तले ज़ुबान दबा..." रह-रहकर दाई की आवाज़ आ रही थी। और गोपाल प्रतीक्षा कर रहा था, अभी...अभी वह कहेगी...'लाख-लाख बधाइयाँ गोपाल को माँ। यह लो बेटा...।'

एक बार दाई बाहर आयी थी। कहने लगी, "बेटा गोपाल, ज़रा जाकर थोड़ा-सा शहद तो ला दे। देखकर लाना, नया शहद हो।"

गोपाल वहाँ से जाना नहीं चाहता था। 'क्या पता बाद में...जल्दी ही कुछ हो जाये...मैं उस की पहली आवाज़ सुनूँगा,' और वह दाई से कहने लगा, "शहद की याद अब तुम्हें आयी है।...यह सारा काम पड़ा हुआ है मेरे सामने। कल मुझे यह सारा काम दफ़्तर में देना है।"

"तुम मर्दों को तो अपने काम की ही पड़ी रहती है। आख़िर बूढ़ी उम्र है, कई बातें भूल जाती हूँ।" दाई यह कह रही थी कि गोपाल की माँ ने सारी मुश्किल दूर कर दी। कहने लगी, "हमारे यहाँ कभी किसी ने शहद-वहद नहीं दिया। हम तो अँगुली पर थोड़ा-सा गुड़ लगाकर मुँह में डाल देते हैं।"

"अच्छा गुड़ ही सही।" और दाई अन्दर चली गयी थी।

गोपाल के कान फिर दरवाज़े की ओर लगे हुए थे, पर दाई का 'मिनट-भर' पता नहीं कितना लम्बा था। वह अभी तक कह रही थी, "मिनट-भर के लिए दाँतों तले ज़ुबान दबा...ज़रा अपनी तरफ़ से ज़ोर लगा न नीचे को।"

और फिर अचानक बच्चे के रोने की आवाज़ आयी। गोपाल का साँस जैसे किसी ने हाथ में पकड़ लिया हो। वह न नीचे को आ रहा था, न ऊपर जा रहा था। और अभी तक दाई की आवाज़ नहीं आयी थी। उसे बच्चे की आवाज़ की अपेक्षा दाई की आवाज की अधिक प्रतीक्षा थी।

और फिर दाई की आवाज़ आयी, "लड़की।"

गोपाल की कुर्सी काँप गयी। उस की माँ शायद पानी या तौलिया लेने बाहर आयी हुई थी। गोपाल के होंठ काँपे, "माँ, लड़की !"

"नहीं बेटा, नहीं, तू भी पागल है। जब तक 'औल' नहीं गिरती, दाइयां यही कहती हैं। अगर वह कह दें कि बेटा हुआ है तो माँ की ख़ुशी के कारण औल ऊपर चढ़ जाये।" और माँ जल्दी-जल्दी अन्दर चली गयी।

'यह 'औल' पता नहीं क्या बला है। न जल्दी गिरती है, न दाई आगे बोलती है।" गोपाल की कुर्सी अब यद्यपि पहले की तरह उतनी काँप नहीं रही थी, पर फिर भी गोपाल ने उसे दीवार के साथ लगा लिया था।

"बेटी हो या बेटा, जो भी जीव हो भाग्यवान् हो।" दाई की आवाज़ आयी।

"बेटी तो लक्ष्मी होती है। इस बार बेटी तो अगले साल बेटा।" माँ दाई से कह रही थी।

"लड़की है कि रेशम का धागा है..." माँ कह रही थी या दाई कह रही थी, इस बार गोपाल से आवाज़ पहचानी नहीं गयी। उस की कुर्सी काँपी और कुर्सी के कारण जैसे सारी दीवार डगमगा गयी। उसे लगा, वह बूढ़ा हो गया था, लाला गोपालदास। और उस की पत्नी अपने घुटनों को दबाती हुई कह रही थी, 'लड़की इतनी बड़ी हो गयी है, कोई लड़का देखो न। कहाँ छुपाऊँ इस आँचल की आग को? ऐसा रूप...ऊपर से ज़माना बुरा है...।' और फिर उस के दरवाज़े पर बरात आ गयी...उस के दामाद ने उस के पाँव छुए...उस की बेटी लाल सुर्ख़ कपड़ों में लिपटी हुई थी...वह डोली के पास जाकर उसे प्यार देने लगा...उस की बेटी...बिलकुल लाल मिर्च...।

लाल मिर्च...लड़की...लाल मिर्च...और गोपाल को लगा, आज...आज किसी ने मिर्चें उठाकर उस की आँखों में डाल दी थीं।

एक लड़की : एक जाम

प्रसिद्ध चित्रकार सुमेश नन्दा की यह कहानी असल में मैं ने पिछले बरस लिखी थी। दिल्ली में उन के चित्रों की प्रदर्शनी लगी थी। हफ़्ते-भर, रोज़, किसी न किसी पत्र में सुमेश नन्दा की कला की आलोचना होती रही। बड़े समझदार लोग यह प्रशंसात्मक आलोचना करते थे। मुझे चित्रकला के सम्बन्ध में सिर्फ़ उतनी ही जानकारी है, जितनी एक कला-विधान से अनजान, पर एक सूक्ष्म अहसास

वाले आदमी को होती है।...और प्रदर्शनी के कई चित्रों की ख़ामोश तारीफ़ करती मेरी आँखें सुमेश नन्दा के दो चित्रों के सामने जमकर रह गयी थीं। एक चित्र के नीचे लिखा हुआ था, 'ढाई पत्ती-डेढ़ पत्ती' और दूसरे चित्र के नीचे लिखा हुआ था, 'एक लड़की : एक जाम'।

पहला चित्र चाय के बाग़ में चाय की पत्तियाँ चुनती हुई पहाड़ी लड़कियों का था और इस चित्र का भाव चित्रकार ने ऐसे समझाया था :

चाय के सारे पौधे की अन्तिम कोंपल डेढ़ पत्ती होती है, एक पूरी बड़ी पत्ती और एक उस के साथ जुड़ी हुई छोटी-सी बच्चा पत्ती। उस डेढ़ पत्ती की चमक ही अलग होती है। उस अन्तिम कोंपल से नीचे ढाई पत्तियाँ उगती हैं, बड़ी नर्म। और फिर उस से नीचे मोटी पत्तियों की कई शाखें। ढाई पत्ती और डेढ़ पत्ती अलग तोड़कर रख लेते हैं। इन पत्तियों से जो चाय बनती है, वह बड़ी महँगी बिकती है। बाक़ी हम लोग जो चाय ख़रीदते हैं, वह नीचे की सस्ती, मोटी पत्तियों की चाय होती है। एक साबुत पौध से सिर्फ़ चार छोटी पत्तियाँ झरती हैं, सारे बाग़ में से आख़िर कितनी पत्तियाँ झरेंगी? वह चाय बड़ी महँगी बिकती है, साठ रुपये पौंड से भी महँगी।

सुमेश नन्दा के इस चित्र में जो सबसे पहली लड़की थी, उस का मुँह आधे से भी थोड़ा दिखाई पड़ता था। हमारे सामने ज़्यादा उस की पीठ थी, फिर भी उस के सौन्दर्य की कैसी छवि दिखती थी! लगता था, सारी पहाड़ी लड़कियाँ जैसे चाय का एक पौधा हों, बिखरा-फैला एक पौधा, और यह लड़की, इस पार खड़ी हुई लड़की, सारे पौधे की अन्तिम कोंपल हो, डेढ़ पत्ती की छोटी, हरी चमकदार कोंपल!...पर मैं ने अपनी बात अपने पास ही रखी और चित्रकार को कुछ नहीं कहा।

दूसरा चित्र, जिस के नीचे लिखा था, 'एक लड़की : एक जाम', एक पहाड़ी लड़की का अनोखा सौन्दर्य था; जैसे लोग कहते हैं, 'यह चित्र तो मुँह से बोलता है!' वाक़ई ऐसा मुँह से बोलनेवाला चित्र मैं ने कभी नहीं देखा था। उस के सम्बन्ध में चित्रकार ने कुछ नहीं कहा था। मैं ने ही कहा, "ऐसा जाम पीने के लिए तो एक उम्र भी थोड़ी है!"

चित्रकार ने चौंककर मेरी ओर देखा। कोई साठ साल की उम्र होगी उन की। जाने कौन-सी जवानी पिघलकर चित्रकार की आँखों में आ गयी। बोले, "इस चित्र की यह व्याख्या मैं ने और किसी से नहीं सुनी। यह बिलकुल वही बात है, जो मैं ने कहनी चाही थी। और तो और, मेरे मित्रों ने भी इस का यह अर्थ नहीं लगाया था। मेरे साथ कइयों ने मज़ाक़ किये, 'एक लड़की : एक जाम'...और जाम नित नया होता है!"

जाने उस चित्र में कौन-सा बुलावा था! हफ़्ते-भर वह प्रदर्शनी लगी रही,

और मैं उस हफ़्ते में तीन बार प्रदर्शनी देखने गयी थी—असल में सारे चित्र नहीं, एक चित्र, 'एक लड़की : एक जाम' ! किसी कला-मर्मज्ञ होने के ज़ोर से नहीं, सिर्फ़ मन में कुछ उठते हुए के ज़ोर से मैं ने सुमेश नन्दा की उस कृति के सम्बन्ध में एक सादी-सी बात कही थी। और उस सादी-सी बात ने चित्रकार का सारा मन खोलकर उस के होंठों पर ला दिया था।

"काँगड़ा-क़लम को जाँचता-परखता मैं कुछ दिन काँगड़े के एक गाँव में रहा था। पालमपुर चाय के बाग़ अधिक दूरी पर नहीं थे। यह चित्र, 'ढाई-पत्ती डेढ़ पत्ती', मैं ने वहीं बनाया था। यह लड़की, जो इस ओर खड़ी हुई है, ध्यान से देखना, वही लड़की है, जिसे दूसरे चित्र में मैं ने लिखा है, 'एक लड़की : एक जाम' !"

"यह तो मैं ने आप के कहने से पहले नहीं पहचाना था। पर पहले दिन ही यह चित्र देखकर मुझे लगा था, जैसे सारी लड़कियाँ चाय का एक पौधा हों और यह लड़की उस पौधे की सबसे ऊपर की कोंपल हो, छोटी, हरी और चमकदार !"

सुमेश नन्दा की बूढ़ी आँखों में फिर एक जवान चमक आयी और उन्होंने कहा, "अब तो मैं और विश्वास से भर गया हूँ। तुम ने यह बात अपने अधिकार से मुझ से निकलवा ली है। तुम ने मेरे दोनों चित्रों के जैसे अर्थ दिये हैं, मेरी कहानी सुनने का तुम्हारा अधिकार हो जाता है। पहले किसी ने मुझ से यह बात नहीं सुनी।

"मैं ने इस लड़की को टूणी कहकर बुलाया था। इस का नाम पूछने का भी कष्ट मैंने नहीं किया था। इसी ने, इस चाय की पत्तियाँ चुन रही ने, 'ढाई पत्ती-डेढ़ पत्ती, वाली बात मुझे सुनायी थी और मैं ने उसे कहा, 'तू लड़कियों के सारे पौधे की ऊपर की पत्ती है, बड़ी महँगी !...जाने यह कौन पियेगा !'

"बरसात के दिन थे। एक नाला ऐसे बहा कि साथवाले गाँवों को जोड़ने-वाली सड़क उस में डूब गयी। गाँवों का आवागमन बन्द हो गया। कोई तीन दिन के बाद सड़क का जिस्म दिखाई दिया। इस तरफ़ से मैं जा रहा था, उस पार से वह टूणी आ रही थी। मैं ने कहा, 'आख़िर पानी रुक ही गया। एक बार तो ऐसे लगा था, इस पानी का बहाव सूखेगा ही नहीं !'

"पता है कि टूणी ने क्या कहा? कहने लगी, 'बाबू, यह भी कोई आदमी के आँसू हैं जो कभी न सूखें !' मैं टूणी के मुँह की ओर देखता रह गया। उस का मुँह सुन्दर था, पर ऐसी बात भी कह सकता था, मैं यह नहीं सोच सकता था। कुछ ऐसी बात मैं ने पहले एक बँगला उपन्यास में पढ़ी थी, पर टूणी ने तो कभी बँगला उपन्यास नहीं पढ़ा था। जाने, सारे देशों के दुखों की एक ही भाषा होती है !

"मैं उस के घर पर गया। उस का बाप था, माँ थी, दो भाई थे और एक

भाभी। मैं उस के घर का भीतर-बाहर टटोलता रहा। वह कौन-सा दुख था उस के मन में, जहाँ से उस की यह बात उगी थी ? और मैं ने उस के दुख का बीज ढूँढ़ लिया। उस के बापू के सर पर काफ़ी क़र्ज़ा था। उस ओर लड़कियों की क़ीमत पड़ती है—तीन-चार सौ से लेकर हज़ार तक। और क़र्ज़ा देनेवाले ने टूणी को पन्द्रह सौ रुपये के बदले उस के बापू से माँग लिया था। और टूणी कहती थी, 'वह आदमी आदमी नहीं, एक देव-दानव है ! मुझे सपने में भी उस से भय आता है !'

"एक दिन मैं ने टूणी को अलग बिठलाकर पूछा, 'अगर मैं तेरे भय की रस्सी खोल दूँ ?'

" 'वह कैसे, बाबू ?'

" 'मैं पन्द्रह सौ रुपये भर देता हूँ। तू अपने बापू से कह, वह सगाई तोड़ दे।'

"कोई और लड़की होती, जाने मेरे पैरों को हाथ लगाती। पर उस टूणी ने सीधा मेरे दिल में हाथ डाल दिया। कहने लगी, 'और बाबू, तू मेरे साथ ब्याह करेगा ?"

"कभी मैं ने कहा था, 'टूणी ! तू चाय के पौधे की सब से क़ीमती पत्ती है, यह चाय कौन पियेगा ?' और आज टूणी ने अपने प्राणों की पत्ती से मेरे लिए वह चाय बना दी थी। पर न मैं ने यह बात पहले सोची थी, न मैं ने कही थी। मैं ने उसे समझाना चाहा कि मेरा यह मतलब नहीं था। पर उस के कपड़ों पर तो जैसे किसी ने चिनगारी फेंक दी हो।

"कहने लगी, 'अरे बाबू, मैं कोई भीख माँगनेवाली हूँ ?'

"मेरी ज़िन्दगी कोई अच्छी नहीं थी। कितनी लड़कियाँ आयी थीं और फिर अपनी राह चल दी थीं। मैं ज़िन्दगी की एक छोटी-मोटी सड़क पर ही उन के साथ चल सका था; कोई लम्बा रास्ता मैं ने कभी नहीं पकड़ा। और अब मेरा यह विश्वास ही खो गया था कि मैं कभी भी किसी के साथ ज़िन्दगी का सारा सफ़र चल सकूँगा।

" 'मेरी ज़िन्दगी में बड़ी तपिश है। तू पी नहीं सकेगी, यह मुँह जल जायेगा !' और मैं ने लाड़ से टूणी का दिल रखने के लिए उस के होंठों को अपनी अँगुली लगा दी।

" फूंक-फूंककर पी लूँगी, बाबू,' यह-जैसी बात मैं ने सुनी, और वह-जैसा टूणी का मुँह मैं ने देखा। मुझे लगा, यही टूणी है, यही टूणी, जिस के साथ मैं ज़िन्दगी का सारा रास्ता चल सकता हूँ।

"अपने और उस के फ़ैसले को मैं ने चाँदी के रुपये की भाँति फिर ठनकाकर देखा। मैं ने कहा, 'तुझे पता नहीं, पहले कितनी लड़कियाँ मेरी ज़िन्दगी में आ चुकी हैं। हर लड़की को मैं ने शराब के एक जाम की तरह पिया, और फिर एक जाम

के बाद मैं ने दूसरा जाम भर लिया ।'

"टूणी हँस दी। कहने लगी, 'क्यों बाबू, तेरी प्यास नहीं मिटती ?'

"मैं ने अभी कुछ नहीं कहा था कि टूणी फिर बोली, 'अच्छा, एक वादा कर ले बाबू ! जब तक मेरे दिल का प्याला ख़त्म न हो जाये, तू उतनी देर किसी दूसरे प्याले को मुँह न लगायेगा ।'

"मुझे लगा, मैं ने आज तक जितने भी जाम पिये थे, वे जिस्मों के जाम थे, बिलकुल जिस्मों के जाम ! उन में दिल का जाम कोई नहीं था । अगर होता तो शायद जब तक उस प्याले की शराब ख़त्म न हो जाती, मैं दूसरे प्याले को मुँह न लगा सकता ।...और शायद दिल के प्याले में से शराब कभी ख़त्म नहीं होती ।

"मैं ने अपने फ़ैसले का रुपया ठनकाकर देख लिया । टूणी का फ़ैसला तो था ही खरा...टूणी के माँ-बाप ने हम दोनों का फ़ैसला मान लिया । और मैं रुपयों का प्रबन्ध करने के लिए शहर में आ गया ।"

सुमेश नन्दा ने जब अपनी यह कहानी आरम्भ की थी, उस समय आठ बजने वाले थे । आठ बजे प्रदर्शनी ख़त्म हो जाती थी, इस लिए कमरे में से चित्र देखने वाले लोग लौट गये थे, और नया कोई आने वाला नहीं था । कहानी भंग नहीं हुई थी । पर कहानी को यहाँ तक पहुँचाकर चित्रकार ने स्वयं ही अपनी ख़ामोशी से उस कहानी को खड़ा कर लिया ।

मैं चित्रकार को देखती रही, खड़ी हुई कहानी को देखती रही । चित्रकार जैसे एक समाधि में डूब गया था ।

चपरासी प्रदर्शनी के कमरे का दरवाज़ा बन्द करने के लिए बाहर दहलीज़ों के पास आ गया था । मैं ने हाथ के इशारे से उसे ख़ामोश रहने के लिए कहा और इन्तज़ार करने लगी, शायद यह खड़ी हुई कहानी कोई क़दम उठा ले ।

चित्रकार की बन्द आँखों से आँसू टपकने लगे शायद । उस पानी ने कहानी को बहाव में डाल दिया ।

"मैं जब रुपये लेकर वापस गया, क़िस्मत ने मेरा जाम मेरे हाथों में से छीन लिया था ।"

"क्या बाप ने टूणी का ज़बरदस्ती ब्याह कर दिया था ?" मैं ने काँपकर पूछा ।

"इस से भी भयंकर बात !...टूणी जिसे देव-दानव कहती थी, उस बूढ़े साहूकार ने अपना सौदा टूटने की ख़बर सुन ली थी और उस ने धोखे से किसी के हाथों टूणी को ज़हर पिला दिया था ...

"टूणी की चिता में थोड़ी-सी सेंक बाक़ी थी, थोड़ी-सी आग । मैं ने उस आग को साक्षी बनाया और चिता के गिर्द घूमकर जैसे फेरे ले लिये ।"

शायद तीस-पैंतीस की उम्र में चित्रकार ने वे फेरे लिये होंगे । अगले तीस

बरस उस ने कैसे उन फेरों की लाज रखी होगी, यह उस के साठवें-बासठवें बरस से भी पता चलता था, कोई पूछने की बात नहीं थी। मुझे लगा, सारी बीसवीं सदी उसे प्रणाम कर रही है।

धीरे-धीरे चित्रकार के होंठ फड़के, "टूणी ने कहा था, 'एक वादा कर ले, बाबू ! जब तक मेरे दिल का प्याला ख़त्म न हो जाये, तू उतनी देर किसी दूसरे प्याले को मुँह न लगायेगा।'...वह सामने खड़ी हुई टूणी गवाह है, मैं ने किसी दूसरे प्याले को मुँह नहीं लगाया।"

सामने टूणी का चित्र था। टूणी एक लड़की, एक जाम ! ...मौत ने चित्रकार के हाथों से वह जामा छीन लिया, पर कोई मौत उस की कल्पना में से वह जाम न छीन सकी...और चित्रकार की सारी उम्र पीते हुए बीत गयी; उस जाम की शराब ख़त्म न हुई !

लगभग एक बरस हो चला है, मैं ने सुमेश नन्दा के मुँह से यह कहानी अपने कानों से सुनी थी, और फिर अगले हफ़्ते अपने हाथों से लिखी थी, पर तब उन्होंने मुझे छपाने की आज्ञा नहीं दी थी। तब मैं ने कहानी में उन का एक कल्पित नाम लिखा था। उन्होंने कहा था, 'जब तक मेरी उम्र का अन्तिम दिन नहीं आता, मेरा कोई दावा नहीं बनता। इस जाम को पीते हुए मुझे उम्र का अन्तिम दिन भी ख़त्म कर लेने दो, फिर इस कहानी को छापना; अभी नहीं। और तब, बेशक मेरा नाम भी बदलकर न लिखना।'

और अब, पिछले हफ़्ते, आपने पत्रों में पढ़ा होगा, प्रसिद्ध चित्रकार सुमेश नन्दा की मृत्यु हो गयी। चित्रकार की कला के सम्बन्ध में पत्रों के कई कालम भरे हुए थे और एक-दो पत्रों में यह भी लिखा हुआ था, 'जिस कमरे में चित्रकार ने अन्तिम साँस ली, उस कमरे में उन की बनायी हुई एक ही तस्वीर लगी हुई थी, 'एक लड़की : एक जाम'।

उम्र छोटी थी, जाम बड़ा था—आज चित्रकार का दावा सत्य हो गया है। इस कहानी में आज मैं ने कुछ नहीं बदला सिर्फ़ उन का असली नाम लिख दिया है, उन्हीं के कहने के अनुसार !

उधड़ी हुई कहानियाँ

मैं और केतकी अभी एक दूसरी की वाक़िफ़ नहीं हुई थीं कि मेरी मुस्कराहट ने उस की मुस्कराहट से दोस्ती गाँठ ली। मेरे घर के सामने नीम के और कीकर के पेड़ों में घिरा हुआ एक बाँध है। बाँध के दूसरी ओर सरसों और चनों के खेत हैं। इन खेतों की बायीं बग़ल में किसी सरकारी कॉलेज का एक बड़ा बग़ीचा है। इस बग़ीचे की एक नुक्कड़ पर केतकी की झोंपड़ी है। बग़ीचे को सींचने के लिए पानी की छोटी-छोटी खाइयाँ जगह-जगह बहती हैं। पानी की एक खाई केतकी की झोंपड़ी के आगे से भी गुज़रती है। इसी खाई के किनारे बैठी हुई केतकी को मैं रोज़ देखा करती थी। कभी वह कोई हँडिया या परात साफ़ कर रहीं होती और कभी वह सिर्फ़ पानी की अँजुलियाँ भर-भरकर चाँदी के गजरों से लदी हुई अपनी बाँहें धो रही होती। चाँदी के गजरों की तरह ही उस के बदन पर ढलती आयु ने मांस की मोटी-मोटी सिलवटें डाल दी थीं। पर वह अपने गहरे साँवले रंग में भी इतनी सुन्दर लगती थी कि मांस की मोटी-मोटी सिलवटें मुझे उस की उमर की सिंगार-सी लगती थीं। शायद इसी लिए कि उस के होंठों की मुस्कराहट में एक अजीब-सी भरपूरगी थी, एक अजीब तरह की संतुष्टि, जो ज़माने में सब के चेहरों से खो गयी है। मैं रोज़ उसे देखती थी और सोचती थी कि उस ने जाने कैसे यह भरपूरता अपने मोटे और साँवले होंठों में सँभालकर रख ली थी। मैं उसे देखती थी और मुस्करा देती थी। वह मुझे देखती और मुस्करा देती। और इस तरह मुझे उस का चेहरा बग़ीचे के सैकड़ों फूलों में से एक फूल जैसा ही लगने लगा था। मुझे बहुत-से फूलों के नाम नहीं आते, पर उस का नाम मुझे मालूम हो गया था—'मांस का फूल'।

एक बार मैं पूरे तीन दिन उस के बग़ीचे में न जा सकी। चौथे दिन जब गयी तो उस की आँखें मुझ से इस तरह मिलीं जैसे तीन दिनों से ही नहीं, तीन सालों से बिछुड़ी हुई हों।

"क्या हुआ बिटिया! इतने दिन आयीं नहीं?"

"सर्दी बहुत थी अम्माँ ! बस बिस्तर में बैठी रही।"

"सचमुच बहुत जाड़ा पड़ता है तुम्हारे देश में।"

"तुम्हारा कौन-सा गाँव है अम्माँ ?"

"अब तो यहाँ झोंपड़ी डाल ली, यही मेरा गाँव है।"

"यह तो ठीक है, फिर भी अपना गाँव अपना गाँव होता है।"

"अब तो उस धरती से नाता टूट गया बिटिया ! अब तो यही कार्तिक मेरे गाँव की धरती है और यही मेरे गाँव का आकाश है।"

"यही कार्तिक," कहते हुए उस ने झुग्गी के पास बैठे हुए अपने मर्द की तरफ़ देखा। आयु के कुबड़ेपन से झुका हुआ एक आदमी जमीन पर तीले और रस्सियाँ बिछाकर एक चटाई बुन रहा था। दूर पड़े हुए कुछ गमलों में लगे हुए फूलों को सर्दी से बचाने के लिए शायद चटाइयों की आड़ देनी थी।

केतकी ने बहुत छोटे वाक्य में बहुत बड़ी बात कह दी थी। शायद बहुत बड़ी सच्चाइयों को अधिक विस्तार की ज़रूरत नहीं होती। मैं एक हैरानी से उस आदमी की तरफ़ देखने लगी जो एक औरत के लिए धरती भी बन सकता था और आकाश भी।

"क्या देखती हो बिटिया ! यह तो मेरी 'बिरंग चिट्ठी' है।"

"बैरंग चिट्ठी !"

"जब चिट्ठी पर टिक्कस नहीं लगाते तो वह बिरंग हो जाती है।"

"हाँ अम्माँ ! जब चिट्ठी पर टिकट नहीं लगी होती तो वह बैरंग हो जाती है।"

"फिर उस को लेने वाला दुगुना दाम देता है।"

"हाँ अम्माँ ! उस को लेने के लिए दुगुने पैसे देने पड़ते हैं।"

"बस, यही समझ लो कि इस को लेने के लिए मैं ने दुगुने दाम दिये हैं। एक तो तन का दाम दिया और एक मन का।"

मैं केतकी के चेहरे की तरफ़ देखने लगी। केतकी का सादा और साँवला चेहरा ज़िन्दगी की किसी बड़ी फ़िलासफ़ी से सुलग उठा था।

"इस रिश्ते की चिट्ठी जब लिखते हैं तो गाँव के बड़े-बूढ़े इस के ऊपर अपनी मोहर लगाते हैं।"

"तो तुम्हारी इस चिट्ठी के ऊपर गाँव वालों ने अपनी मोहर नहीं लगायी थी ?"

"नहीं लगायी तो क्या हुआ ! मेरी चिट्ठी थी, मैं ने ले ली। यह कार्तिक की चिट्ठी तो सिर्फ केतकी के नाम लिखी गयी थी।"

"तुम्हारा नाम केतकी है ? कितना प्यारा नाम है ! तुम बड़ी बहादुर औरत हो अम्माँ !"

"मैं शेरों के क़बीले में से हूँ ।"

"वह कौन-सा क़बीला है अम्माँ ?"

"यही जो जंगल में शेर होते हैं, वे सब हमारे भाई-बन्धु हैं । अब भी जब जंगल में कोई शेर मर जाय तो हम लोग तेरह दिन उस का मातम मानते हैं । हमारे कबीले में मर्द लोग अपना सिर मुँड़ा लेते हैं, और मिट्टी की हँडिया फोड़-कर मरने वाले के नाम पर दाल-चावल बाँटते हैं ।"

"सच अम्माँ ?"

"मैं चकमक टोला की हूँ । जिस के पैरों में कपिलधारा बहती है ।"

"यह कपिलधारा क्या है अम्माँ !"

"तुम ने गंगा का नाम सुना है ?"

"गंगा नदी ?"

"गंगा बहुत पवित्र नदी है, जानती हो न ?"

"जानती हूँ ।"

"पर कपिलधारा उस से भी पवित्र नदी है । कहते हैं कि गंगा मइया एक साल में एक बार काली गाय का रूप धारण कर कपिलधारा में स्नान करने के लिए जाती है ।"

"वह चकमक टोला किस जगह है अम्माँ ?"

"करंजिया के पास ।"

"और यह करंजिया ?"

"तुम ने नर्मदा का नाम सुना है ?"

"हाँ, सुना है ।"

"नर्मदा और सोन नदी भी नज़दीक पड़ती हैं ?"

"ये नदियाँ भी बहुत पवित्र हैं ?"

"उतनी नहीं, जितनी कपिलधारा । यह तो एक बार जब धरती की खेतियाँ सूख गयी थीं, और लोग बेचारे उजड़ गये थे, तो उन का दुःख देखकर ब्रह्माजी रो पड़े थे । ब्रह्माजी के दो आँसू धरती पर गिर पड़े । बस जहाँ उन के आँसू गिरे वहाँ ये नर्मदा नदी और सोन नदी बहने लगीं । अब इन से खेतों को पानी मिलता है ।"

"और कपिलधारा से ?"

"इस से तो मनुष्य की आत्मा को पानी मिलता है । मैं ने कपिलधारा के जल में इशनान किया और कार्तिक को अपना पति मान लिया ।"

"तब तुम्हारी उमर क्या होगी अम्माँ ?"

"सोलह बरस की होगी ।"

"पर तुम्हारे माँ-बाप ने कार्तिक को तुम्हारा पति क्यों न माना ?"

"बात यह थी कि कार्तिक की पहले एक शादी हुई थी । इस की औरत मेरी

सखी थी। बड़ी भली औरत थी। उस के घर चुन्दरू-मुन्दरू दो बेटे हुए। दोनों ही बेटे एक ही दिन जनमे थे। हमारे गाँव का 'गुनिया' कहने लगा कि यह औरत अच्छी नहीं है। इस ने एक ही दिन अपने पति का संग भी किया था और अपने प्रेमी का भी। इसी लिए एक की जगह दो बेटे जनमे हैं।"

"उस बेचारी पर इतना बड़ा दोष लगा दिया?"

"पर गुनिया की बात को कौन टालेगा! गाँव का मुखिया कहने लगा कि रोपी को प्रायश्चित्त करना होगा। उस का नाम रोपी था। वह बेचारी रो-रोकर आधी रह गयी।"

"फिर?"

"फिर ऐसा हुआ कि रोपी का एक बेटा मर गया। गाँव का गुनिया कहने लगा कि जो बेटा मर गया, वह पाप का बेटा था इसी लिए मर गया।"

"फिर?"

"रोपी ने एक दिन दूसरे बेटे को पालने में डाल दिया और थोड़ी दूर जाकर महुए के फूल डलियाने लगी। पास की झाड़ी से भागता हुआ एक हिरन आया। हिरन के पीछे शिकारी कुत्ता लगा हुआ था। शिकारी कुत्ता जब पालने के पास आया तो उस ने हिरन का पीछा छोड़ दिया और पालने में पड़े हुए बच्चे को खा लिया।"

"बेचारी रोपी!"

"अब गाँव का गुनिया कहने लगा कि जो पाप का बेटा था उस की आत्मा हिरन की जून में चली गयी। तभी तो हिरन भागता हुआ उस दूसरे बेटे को भी खाने के लिए पालने के पास आ गया।"

"पर बच्चे को हिरन ने तो कुछ नहीं कहा था। उस को तो शिकारी कुत्ते ने मार दिया था।"

"गुनिये की बात को कोई नहीं समझ सकता बिटिया! वह कहने लगा कि पहले तो पाप की आत्मा हिरन में थी, फिर जल्दी से उस कुत्ते में चली गयी। गुनिया लोग बात की बात में मरवा डालते हैं। बसाई का नन्दा जब शिकार करने गया था तो उस का तीर किसी हिरन को नहीं लगा था। गुनिया ने कह दिया कि ज़रूर उस के पीछे उस की औरत किसी ग़ैर मरद के साथ सोयी होगी, तभी तो उस का तीर निशाने पर नहीं लगा। नन्दा ने घर आकर अपनी औरत को तीर से मार दिया।"

"अरे!"

"गुनिया ने कार्तिक से कहा कि वह अपनी औरत को जान से मार डाले। नहीं मारेगा तो पाप की आत्मा उस के पेट से फिर जनम लेगी और उस का मुख देखकर गाँव की खेतियाँ सूख जायेंगी।"

"फिर ?"

"कार्तिक अपनी औरत को मारने के लिए सहमत न हुआ। इस से गुनिया भी नाराज़ हो गया और गाँव के लोग भी।"

"गाँव के लोग नाराज़ हो जाते हैं तो क्या करते हैं ?"

"लोग गुनिया से बहुत डरते हैं। सोचते हैं कि अगर गुनिया जादू कर देगा तो सारे गाँव के पशु मर जायेंगे। इस लिए उन्होंने कार्तिक का हुक़्क़ा-पानी बन्द कर दिया।"

"पर वे यह नहीं सोचते थे कि अगर कोई इस तरह अपनी औरत को मार देगा तो वह ख़ुद ज़िन्दा कैसे बचेगा ?"

"क्यों, उस को क्या होगा ?"

"उस को पुलिस नहीं पकड़ेगी ?"

"पुलिस नहीं पकड़ सकती। पुलिस तो तब पकड़ती है जब गाँववाले गवाही देते हैं। पर जब गाँववाले किसी को मारना ठीक समझते हैं तो पुलिस को पता नहीं लगने देते।"

"फिर क्या हुआ ?"

"बेचारी रोपी ने तंग आकर महुए के पेड़ से रस्सी बाँध ली और अपने गले में डालकर मर गयी।"

"बेचारी बेगुनाह रोपी !"

"गाँववालों ने तो समझा कि बात ख़त्म हो गयी। पर मुझे मालूम था कि बात ख़त्म नहीं हुई, क्योंकि कार्तिक ने अपने मन में ठान लिया था कि वह गुनिया को जान से मार डालेगा। यह तो मुझे मालूम था कि गुनिया जब मर जायेगा तो मरकर राक्षस बनेगा।"

"वह तो जीते-जी भी राक्षस था !"

"जानती हो राक्षस क्या होता है ?"

"क्या होता है ?"

"जो आदमी दुनिया में किसी को प्रेम नहीं करता, वह मरकर अपने गाँव के दरख़्तों पर रहता है। उस की रूह काली हो जाती है, और रात को उस की छाती से आग निकलती है। वह रात को गाँव की जवान लड़कियों को डराता है।"

"फिर ?"

"मुझे उस के मरने का तो ग़म नहीं था। पर मैं जानती थी कि कार्तिक ने अगर उस को मार दिया तो गाँववाले कार्तिक को उसी दिन तीरों से मार देंगे।"

"फिर ?"

"मैंने कार्तिक को कपिलधारा में खड़े होकर वचन दिया कि मैं उस की औरत बनूँगी। हम दोनों इस देश से भाग जायेंगे। मैं जानती थी कि कार्तिक उस देश

में रहेगा तो किसी दिन गुनिया को ज़रूर मार देगा। अगर वह गुनिया को मार देगा तो गाँववाले इस को मार देंगे।"

"तो कार्तिक को बचाने के लिए तुम ने अपना देश छोड़ दिया ?"

"जानती हूँ, वह धरती नरक होती है जहाँ महुआ नहीं उगता। पर क्या करती ? अगर वह देश न छोड़ती तो कार्तिक ज़िन्दा न बचता और जो कार्तिक मर जाता तो वह धरती मेरे लिए नरक बन जाती। देश-देश इस के साथ घूमती रही। फिर हमारी रोपी भी हमारे पास लौट आयी।"

"रोपी कैसे लौट आयी ?"

"हम ने अपनी बिटिया का नाम रोपी रख दिया था। यह भी मैं ने कपिलधारा में खड़े होकर अपने मन से वचन लिया था कि मेरे पेट से जब कभी कोई बेटी होगी, मैं उस का नाम रोपी रखूँगी। मैं जानती थी कि रोपी का कोई क़सूर नहीं था। जब मैं ने बिटिया का नाम रोपी रखा तो मेरा कार्तिक बहुत ख़ुश हुआ।"

"अब तो रोपी बहुत बड़ी होगी ?"

"अरी बिटिया ! अब तो रोपी के बेटे भी जवान होने लगे। बड़ा बेटा आठ बरस का है और छोटा छः बरस का। मेरी रोपी यहाँ के बड़े माली से ब्याही है। हम ने दोनों बच्चों के नाम चुन्दरू-मुन्दरू रखे हैं।"

"वही नाम जो रोपी के बच्चों के थे ?"

"हाँ, वही नाम रखे हैं। मैं जानती हूँ, उन में से कोई भी पाप का बच्चा नहीं था।"

मैं कितनी देर केतकी के चेहरे की तरफ़ देखती रही। कार्तिक की वह कहानी जो किसी गुनिये ने अपने निर्दय हाथों से उधेड़ दी थी, केतकी अपने मन के सुच्चे रेशमी धागे से उस उधड़ी हुई कहानी को फिर से सी रही थी। यह एक कहानी की बात है। और मुझे भी मालूम नहीं, आप को भी मालूम नहीं कि दुनिया के ये 'गुनिये' दुनिया की कितनी कहानियों को रोज़ उधेड़ते हैं।

कोई नहीं जानता

सब जानते हैं—बदायूँ ज़िले के मानिकपुर गाँव के ठाकुर पृथ्वीसिंह जब ससुराल की रिश्तेदारी में एक विवाह में शरीक होने के लिए लाव-लश्कर के साथ चले तो रास्ते के गाँवों के लोग कोसों का चक्कर लगाकर उन की चढ़त देखने के लिए आये थे।

सब से आगे दुशालों से सजे हुए गुमटी वाले रथ में ठाकुर पृथ्वीसिंह ख़ुद बैठे हुए थे और तकिये से उन्होंने नहीं, उन की बन्दूक़ ने सहारा लगाया हुआ था। उस के पीछे चाँदी के झब्बे वाला रब्बा था, पालकी जैसा, जिस में सिर पर सोने का शीशफूल, कमर में सोने की तगड़ी और पैरों में सोने के बिछुए पहने उन की ठकुराइन बैठी हुई थीं।

ठाकुर और ठकुराइन की उम्र यूँ तो अब ढलती राह पर थी, पर धन-मान की दृष्टि से दोनों चढ़ती राह पर थे। ठाकुर पृथ्वीसिंह वैसे तो मानिकपुर के ठाकुर ही कहलाते थे, लेकिन पूरे पाँच गाँव उन की ताबेदारी में थे। ठकुराइन के दहेज में भी दो गाँव मिले थे—हरफूरी और सहसपुर, सो मिलाकर पूरे सात गाँव उन के हुकुम में बँधे हुए थे।

ससुराल की रिश्तेदारी में यह ब्याह उसी हरफूरी गाँव में था जो ठकुराइन

के दहेज का गाँव था। यह मानिकपुर से काफ़ी दूर पड़ता था, इस लिए बरसों बीत जाते थे, वहाँ जाना नहीं होता था। और आज का समय, सिर्फ़ विवाह पूरा करने का समय नहीं था—ठाकुर और ठकुराइन के लिए अपनी रिआया को अपना धन-मान दिखाने का अवसर भी था।

और फिर अब तो बेटे जवान हो गये थे, रिआया के अगले मालिक। उन की अक्ल और जवानी भी सोने की मुहरों के समान थी। उन का दबदबा रिआया पर पड़ना ज़रूरी था। बड़ा लड़का मलखानसिंह पिता के गुणों पर नहीं गया था (नीची आँख रखने वाला और धीमे स्वभाव का होने के कारण उस की शोहरत साधू मलखानसिंह के नाम से चली थी), पर छोटा बेटा चन्दनसिंह पिता से भी सवाया निकलता आ रहा था। वह बन्दूक़ लेकर शिकार के लिए क्या चढ़ता था, नदियों के किनारे पर लगे पेड़ों-बेलों की छाती पर मानो शेर की गरज चढ़ती थी। लोग अभी से उसे कुँवर साहब कहने लगे थे।

इस समय भी मलखानसिंह ठकुराइन-माँ की रक्षा के लिए पालकी में बैठा हुआ था, पर छोटे बेटे चन्दनसिंह ने हाथ में बन्दूक़ ले रखी थी और अपने लिए फिरक जुतवाई थी। रथ गोल छत का होता है, रब्बा चौरस छत का, पर फिरक खुली छत की होती है। चन्दनसिंह को अपनी बन्दूक़ के सिर पर छत नहीं चाहिए थी, इस लिए फिरक में बैठे हुए चन्दनसिंह की छवि, रथ और रब्बे से अलग थी। दुशालों वाला रथ, और चाँदी के झब्बों वाला रब्बा भले ही लोगों की आँखों को चौंधियाते हों पर उन की आँखों में भय की सलाई डालने वाली सिर्फ़ चन्दनसिंह की फिरक थी। पीछे-पीछे बैलगाड़ियाँ थीं—सन्दूक़ों से भरी हुई, और सब से पीछे हंसा-मोती दो घोड़े थे, जो मलखान और चन्दन ने दूध-घी से पाले हुए थे। इस समय वे साईसों के हाथ में थे।

नौकरों, साईसों और रथवानों के लिए भी यह अवसर अकड़कर चलने का था। उन की सिन्दूरी पगड़ियों में लगा हुआ अबरक सचमुच तारों की तरह चमक उठा था। जब एक गाँव के पास से उन का लाव-लश्कर गुज़रा तो उस दिन गाँव में हफ़्तावारी पैंठ लगी होने के कारण बाज़ार में छाप-छल्ले, काँच की चूड़ियाँ और ख़ुशबूदार साबुन की बट्टियाँ ख़रीदने वाली युवतियाँ, पैंठ को छोड़कर, इस तड़क-भड़क को देखने के लिए आकर इकट्ठी हो गयीं।

धूप की चमक वैसे भी ज्यादा थी। पर खुली फिरक में बैठे हुए चन्दन के गोरे माथे पर मानो सूरज ही चढ़ा हुआ था। युवतियों के पल्लों के छोर से ढके हुए आधे-आधे मुँह जैसे चंदन की ओर देख-देख उँगलियों को दाँतों के तले दबा रहे थे।

पर कोई नहीं जानता—हरफूरी गाँव के एक रख में लड़कियों के साथ मिल-कर पेंगें झूलती बेनू ने जब इस लाव-लश्कर को गुजरते देखा, तो चन्दनसिंह को देखकर उस की जीभ जैसे दाँतों के बीच कटकर रह गयी। बेनू ने जैसे किसी परी कथा के राजकुमार को देख लिया हो...

एक घड़ी के लिए उसे लगा मानो उस की पेंग आसमान पर जा चढ़ी हो और दूसरी घड़ी उसे लगा, मानो वह धरती में गाड़ दी गयी हो...

बेनू के झूले को झोटा दे रही उस की सहेली लौंगवती बेनू के मुँह की ओर ताकती रह गयी। लश्कर उस ने भी देखा था और इतना सुना भी हुआ था कि मानिकपुर के ठाकुर, जो ब्याह में आने वाले हैं, उन के भी रिश्तेदारों में हैं, ठकुरा-इन की ओर से, पर जो मलखान और चन्दन उस ने छोटेपन में देखे थे, उन्हें अब वह पहचान न सकती थी।

और बेनू के मुँह पर जब पीलापन फैल गया, लौंगवती ने चुपके से उस के चूँटी भरी, और झूले को झोटे देते हुए गाने लगी :

घिर आई सावन की बदरिया
रेशम की डोरी बाँध दे साँवरिया...

पर चन्दन की फिरक आगे निकल गयी थी, उस ने अभी बेनू को देखा नहीं था, न रेशम की डोरी बाँधने के लिए उस के हाथों में कुलबुली मची थी। और बेनू, जिस ने झूले के मोटे रस्से को हाथों में पकड़ रखा था, हथेलियों को मलते हुए अपने हाथों को ऐसे देखने लगी जैसे कई फाँसें एक बार में ही उस के हाथों में चुभ गयी हों...

सब जानते हैं—गाँव में जनवासा सजा हुआ था। ठाकुर पृथ्वीसिंह का उतारा गाँव की पक्के चबूतरों वाली हवेली में हुआ। जनवासे के रास्ते पर भी पानी छिड़का जा रहा था, और पक्की हवेली के रास्ते पर भी, जैसे गाँव में दो बरातें उतर रही हों। पाँच दिन बरात ठहरनी थी, इस लिए औरतों को पाँच दिन बढ़ार गानी थी; पर ठाकुर पृथ्वीसिंह के आने की वजह से ख़ास तौर पर नट-निएँ बुलायी गयी थीं। हवेली में कभी रूपोश का क़िस्सा गाया जाता, कभी अमरसिंह राठौर का और कभी आल्हा-ऊदल का। नक़्क़ालों और बेड़िमिनियों का मुक़ाबला भी बदा गया। और फिर बिरादरी के ठाकुर जंगीसिंह ने, जिन के घर ब्याह था, ठाकुर पृथ्वीसिंह की ख़ातिरदारी के लिए ख़ास तौर पर रेशम-चन्दा नाम की उस नर्तकी को बुलवाया जिस की आवाज़ की धूम मची हुई थी। कहते थे—उस का नाज़-नख़रा छुरी की तरह सीने में उतर जाता था।

और सब जानते हैं—जब रेशमचन्दा ने हरे चने के रंग के रेशमी दुपट्टे को ओढ़कर फेरा लिया और ठाकुर पृथ्वीसिंह के आगे बेंत की भाँति दुहरी होकर उस ने गीत के बोल उठाये :

पिछवारे से बोल सुनाये रसिया
मैं तो अधर धरी पलँगा पर...

तो ठाकुर पृथ्वीसिंह के शरीर में व्याकुलता छा गयी।

रेशमचन्दा ने नाक में हीरे की बाली पहनी हुई थी, जिस की चमक गैस की रोशनी को मद्धिम कर रही थी। ठाकुर पृथ्वीसिंह की आँख वहीं थम गयी।

वह गा रही थी :

जब मोरे रसिया चौखट आएउ
भूँक पड़ी बैरन कुतिया...
जब मोरे रसिया सेजन आएउ
टूट पड़ी बैरन खटिया...

और सब जानते हैं—ठाकुर पृथ्वीसिंह ने उस समय अपने एक विश्वासी कारिन्दे

के कान में कुछ कहा था। हवेली में तो जैसे सारा गाँव जुटा हुआ था—सारे बैरन कुतिया जैसे—और ठाकुर पृथ्वीसिंह इस समय रेशमचन्दा की चौखट पर नहीं जा सकते थे। पर सयानी आँखों ने ताड़ लिया था कि आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, ठाकुर पृथ्वीसिंह रेशमचन्दा की चौखट पर ज़रूर चढ़ेंगे।

पर कोई नहीं जानता—लौंगवती ने ठकुराइन के साथ रिश्तेदारी का जोड़-तोड़ तो लगा ही लिया था, बेनू की ख़ातिर उस ने रिश्ते में भाई लगने वाले चन्दनसिंह से भी बोल-चाल गाँठ ली थी, और आते-जाते चन्दनसिंह की आँखों में बेनू की चमक डलवा दी थी। पर चन्दनसिंह जब बेनू से बात करने के लिए उत्सुक हुआ था, तब लौंगवती ने बेनू को पीछे खींच लिया था। लौंगवती ब्याही हुई थी, बेनू से ढाई बरस बड़ी भी थी, पर ये छोटे-से ढाई बरस उसे बेनू से कहीं ज़्यादा अनुभवी बना गये थे। उस ने चन्दनसिंह के चंचल हो रहे मन को देख लिया था, पर वह नहीं चाहती थी कि छुरी एक बार में ही पार हो जाये। चन्दन साधारण घर का हो, तो और बात थी, पर वह कुँवर चन्दनसिंह था। साधारण जवानी एक ही राह पर पैर रखती है, पर अमीरज़ादों की जवानी एक ही पैर को सात राहों पर रखती है। और वैसे भी लौंगवती सोचती थी—किसी घाव की इतनी पीड़ा नहीं होती जितनी गड़े हुए काँटे की।

और फिर जब एक दिन दोपहर के समय बरात खाना खाने बैठी थी, औरतें गा रही थीं—'अब तो बैठ गयी ज्यौनार जनकपुरी के आँगन'—तो चन्दनसिंह ने लौंगवती का पल्ला खींचकर उसे कनात की ओट में करके पूछा था, "वह कहाँ है?" और लौंगवती ने होंठों की हँसी को दबाकर पूछा था, "वह कौन?"

पर सवालों का लम्बा खेल खेलने का समय नहीं था, चन्दनसिंह की पोर में गड़ा हुआ काँटा उस के सारे हाथ को तड़पा रहा था। उस ने तड़पते हुए हाथ से लौंगवती का हाथ मरोड़ा—"रिश्ते की बहन नहीं, धर्म की बहन बना लूँगा तुझे,

उसे बुला दे।"

लौंगवती ने फिर चन्दनसिंह के मन को टटोलते हुए कहा—"कुँवर साहब ! तुम सात गाँवों के मालिक, जाकर दही-बूरा खाओ ! तुम से यह गैंचनी और बेझड़ की रोटी नहीं खायी जायेगी..."

चन्दनसिंह का शरीर उस समय कनात की दीवार की तरह काँप गया। अपना पैर उस ने कनात के डंडे के समान धरती में गड़ाते हुए कहा, "गैंचनी की रोटी क्या होती है—गेहूँ और चने की—और बेझड़, जौ और मटर की ?—सौगंध खाता हूँ, आज से दही-बूरा मुँह से नहीं लगाऊँगा...अब आगे तुम्हारी मर्ज़ी, चाहे भूखा मार दो चाहे..."

लौंगवती सिर्फ़ वर्तमान का ही नहीं सोच रही थी, वह दूर की बातें पक्की कर रही थी। बोली, "तुम लोगों के खेल न्यारे होते हैं, कुँवर साहब ! बड़े ठाकुर साहब को, हाथ लगाने से मैली होने वाली ठकुराइन मिली, पर तब भी सुना है, उन की रखैलों का अन्त नहीं है, और अब सुना है—उन्होंने रेशमचन्दा को अपने मानिकपुर आने की साई दी है..."

यह बात लौंगवती की जगह किसी और के मुँह से निकली होती तो, चन्दनसिंह को लगा, वह शायद बन्दूक़ तान लेता, पर इस समय जैसे उस की अपनी बन्दूक़ का मुँह उस की अपनी छाती की ओर था, और हाथों में उस का मुँह मोड़ने की शक्ति नहीं थी। सिर नीचा किये कहने लगा, "महुआ नदी यहाँ से कितनी दूर बहती है ?"

लौंगवती ने अभी जवाब नहीं दिया था कि चन्दन कहने लगा, "उस का जल गंगा जैसा पवित्र है, चलो, वहाँ ले जाकर उस के जल की सौगन्ध खिला लो..."

लौंगवती ने फिर बात का रुख़ मोड़ा, "सुना है, कुँवर साहब ! तुम मगर-मच्छ का शिकार भी कर सकते हो, और दस फ़ुट के मगर का शिकार तो सुना हुआ था, पर तुम ने सत्रह फ़ुट के महारी मगरमच्छ का शिकार किया है, और उस की खाल तुम्हारी मानिकपुर वाली हवेली की दीवार पर टँगी हुई है..."

चन्दनसिंह लौंगवती की लम्बी बातों से थक चुका था। कहने लगा, "पर आज तो मगरमच्छ का शिकार तुम कर रही हो, मेरी खाल उतारकर किस दीवार पर टँगोगी ?"

लौंगवती सिर के पल्ले को दाँतों के बीच लेकर हँस पड़ी। कहने लगी, "वह जो तुम्हारी लगती है, जब उस की डोली चलेगी, उसे दहेज में दूँगी..."

चन्दनसिंह गम्भीर हो गया। कहने लगा, "पर उस की डोली तो मेरे घर आयेगी..."

लौंगवती को भी उस घड़ी लगा—शायद अनहोनी होनी हो जाये—और मन का संशय मिटाने के लिए पूछने लगी, "ठाकुर होकर खत्रियों के दरवाज़े

ब्याहने आओगे ?"

चन्दनसिंह ताव में आकर कह उठा, "वह अहीरन-चमारन हो तब भी आऊँगा..."

और लौंगवती ने हामी भरी, "अच्छा, फिर ज़रा कुछ धूप-ढले गाँव के बाहर वाली आम की बग़ीची में आ जाना...तालाब वाली बग़ीची में।" और लौंगवती ने अपने जी के डर को अपने दाँतों के बीच दबाकर कहा, "पर एक बात का ध्यान रखना, तुम हुए गाँव के जागीरदार, उसे मालगुज़ारी मत समझ बैठना !..."

चन्दनसिंह हँस दिया, "सुना था, लोग चन्दन को रगड़कर माथे पर लगाते हैं, पर तुम तो मुझे ही रगड़कर मेरे माथे पर लगा रही हो। अच्छा, वचन पूरा करोगी न ?"

लौंगवती भी नरम पड़ गयी। कहने लगी, "करूँगी, तुम्हें धर्म का भाई जो कह चुकी हूँ..."

और कोई नहीं जानता—उस दोपहर को जब बरात का खाना हो गया, और दोपहर काटने के लिए जनवासे की चारपाइयों पर खेस और दुतहियाँ बिछ गयीं, तो सूने रास्ते पर होती हुई, लौंगवती बेनू का हाथ पकड़े उसे आमों की बग़ीची में ले गयी।

बेनू आम की टहनी की भाँति काँप रही थी, पर बौर से भी भरी हुई थी। पास ही एक तालाब था, उस के किनारे खड़े होकर अपनी क़िस्मत की तरह काँपती हुई अपनी परछाई को देखने लगी...

लौंगवती का मुँह दूसरी ओर था, बाहर गाँव की ओर से आती हुई पगडंडी की ओर। उस का ख़याल था—चन्दनसिंह अभी देर से आयेगा, वे दोनों बताये हुए समय से बहुत पहले आ गयी थीं—ताकि आगे-पीछे जाते हुए कोई ताड़ न ले...

और फिर बेनू की पानी में काँपती हुई परछाई में से ही जैसे एक और परछाई निकल आयी—चन्दनसिंह, जो इन से भी पहले आमों की बगीची में आकर बैठ गया था, इन दोनों को आते देखकर कोई पल-भर के लिए एक तने के पीछे खड़ा हो गया था, कि कौन जाने दोनों के पीछे भी कोई आता हो, पर जब दोनों अकेली तालाब के पास आकर खड़ी हो गयीं तो थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के बाद चन्दनसिंह भी दबे पाँव उन के पास आकर खड़ा हो गया। लौंगवती का ध्यान परली ओर से आने वाले रास्ते की ओर था, इस लिए उस ने पीठ के पीछे खड़े हुए चन्दनसिंह को देखा ही नहीं था, और बेनू का ध्यान तालाब के पानी में काँपती हुई अपनी परछाई की ओर था...

परछाइयाँ जब दो हो गयीं, बेनू समझी जैसे तालाब के पानी में सपने तैर

रहे हों...एक पल के लिए उस ने आँखें मींच लीं जैसे इस सच पर उसे विश्वास न बँध रहे हों...

चन्दनसिंह से भी बोला नहीं गया, मानो चुप ने टोना कर दिया हो। अब लौंगवती का ध्यान उधर गया—और चुप का टोना तोड़ने के लिए उस ने चन्दनसिंह से पूछा, "क्यों वीर! कैसी लगी मेरी सहेली?"

चन्दनसिंह मुश्किल से कह सका, "तपे हुए सोने की मूरत जैसी।"

लौंगवती मन में खिली थी, पर मुँह से बोली, "फिर वही जागीरदारों वाली बात की न? इसे सोने-चाँदी की मालगुज़ारी ही समझ लिया न?"

चन्दनसिंह ने आज तक अपनी बन्दूक़ का ज़ोर आज़माया था, पर दिल का ज़ोर नहीं आज़माया था। आज पहली बार उसे अपने दिल के ज़ोर का पता लगा—उस के मुँह से निकला, "मूरत चाहे सोने की हो, और चाहे मालगुज़ारी में मिले, उसे तो पूजा ही जाता है..."

"वाह-वा ठाकुर," लौंगवती हँस पड़ी, "बातें तो ज्ञान की करते हो। मैं समझी थी, सिर्फ़ बन्दूक़ चलाना ही जानते हो।"

बेनू अभी तक मुँह से नहीं बोली थी, पर लौंगवती से बातें करते हुए चन्दनसिंह की आवाज़ उसे लगा, उस के सारे शरीर में से गुज़रकर लौंगवती तक जा रही थी...

लौंगवती ने बेनू को छेड़ा, "यह कुँवर साहब दही-बूरा छोड़कर तेरी गैंचनी की रोटी खाने आये हैं। बावली! इन से बात तो कर जो भूखे को निवाला मिले..."

और बेनू का सिर और नीचा हो गया। वह आँख उठाकर चन्दनसिंह की ओर देख भी न सकी, नीचे तालाब के पानी में उस की परछाईं देखती रही...

चन्दनसिंह ने जो सिल्क का कुरता पहना हुआ था, वह जब हवा में हिलता तो पानी में जैसे बेनू से आ लगता हो और बेनू सारी की सारी काँप जाती हो...

फिर चन्दनसिंह ने सचमुच ही अनहोनी को छू लिया। काले डोरे में पिरोया हुआ सोने का तावीज़ अपने गले से धीरे से उतारकर अपनी हथेली पर रख लिया और हथेली बेनू के आगे करके कहने लगा, "यह लो मेरी अमानत, सँभालकर रखना, जल्दी ही लेने आऊँगा।"

बेनू ने हाथ आगे बढ़ाया, पर उस का हाथ मानो पानी के तालाब में से निकला हो, ठंडा और काँपता हुआ...

चन्दनसिंह के जी में एक बार आया—बेनू का हथेली पर झुका हुआ हाथ हथेली में दबा ले...पर आज लगता था, ईश्वर ने उसे ज़ोर भी दिया था और सब्र भी। वह सिर्फ़ बेनू की काँपती हुई उँगलियों की ओर देखता रह गया...

लौंगवती ने समय की ओर ध्यान दिलाया तो बेनू ने विदा माँगते हुए तावीज़

को अपने माथे से लगाया, और अनायास ही उस का सिर चन्दनसिंह के पैरों की ओर झुक गया। लौंगवती बेनू की नाक में पड़े हुए बुलाक को देखकर हँस पड़ी। चन्दनसिंह से कहने लगी, "नाक का बुलाक पैरों का बिछुआ माँगता है ठाकुर !"

"क्या ?" बात चन्दनसिंह की समझ में नहीं आयी। लौंगवती ने बताया, "बुलाक तो कुँआरी लड़कियाँ पहनती हैं, बिछुआ ब्याहता। अब समझे ठाकुर ?"

बेनू शर्म से ऐसी पानी-पानी हो गयी जैसे ख़ुद ही पानी का तालाब हो, और ख़ुद ही तालाब में भीगी हो...

आज लौंगवती आते समय बेनू की सहेली थी, जाते समय वह माँ जैसी ममता से भर गयी। तालाब में दोनों की परछाइयों को देखकर कहने लगी, "दोनों कितने प्यारे लग रहे हो, नील सरोवर की मुर्ग़ाबियों जैसे..."

दो दिन अभी गाँव में और ठहराव था। चन्दनसिंह ने और बेनू ने एक-दूसरे को दूर से कई बार देखा, पर मन और तड़प उठा, प्यास और भड़क गयी।

और जिस दिन ठाकुर पृथ्वीसिंह का लाव-लश्कर लौटने की तैयारी करने लगा, चन्दनसिंह ने लौंगवती को खोजकर उस से मिन्नत की, "उस संखचील को एक बार तो दिखला दो।"

लौंगवती हँसते-हँसते दुहरी हो गयी, "अच्छा ! अब उस का नाम संखचील रख दिया है ?"

चन्दनसिंह का मन मोह में बँधा हुआ था। कहने लगा, "अब सफ़र पर जाना है न...और संखचील को देखना शगुन होता है..."

"अच्छा, अपने ही शगुन मनाते हो ?" लौंगवती को छेड़छाड़ सूझ रही थी। पूछने लगी, "पहले यह बताओ, वह संखचील है या नील सरोवर की मुर्ग़ाबी ?" और फिर साथ ही कहने लगी, "चलो, कुछ भी हो, पर किसी दिन बन्दूक़ चलाकर उसे मार न डालना, बड़े शिकारी साहब !"

—और जाते-जाते चन्दनसिंह का हाथ मरोड़ गयी, "घूमने-फिरने के बहाने उधर चमारों के कुएँ की तरफ़ आ जाओ, मैं तुम्हारी सफ़ेद पंखों वाली संखचील को लेकर अभी आती हूँ।"

और कोई नहीं जानता—जब चमारों के कुएँ के पास चन्दनसिंह से बेनू मिली, वह बेनू का हाथ पकड़कर सारे समय गुमसुम-सा खड़ा रहा, न वह आज की बातें उस से कर सका, न कल की।

सब जानते हैं—-जिस दिन रेशमचन्दा के नाच की अन्तिम रात थी, उस दिन उस के तीर-तरकश ठाकुर पृथ्वीसिंह की ओर से मुँह मोड़कर छोटे ठाकुर मलखानसिंह के दिल को निशाना बनाते रहे।

मलखानसिंह को संगीत का शौक़ शुरू से था—और शुरू में एक और भी शौक़ था—कुश्ती का, जिस से उस ने अपना शरीर कमाया था। संगीत के बढ़ते शौक़ के साथ उस का दूसरा शौक़ धीरे-धीरे मन्द पड़ गया था, पर भरपूर जवानी के कसे हुए बदन में ज़ोर और जुर्रत रची हुई दिखाई देती थी।

और रेशमचन्दा, सारी खोज-ख़बर निकालकर, उस अन्तिम रात को अपनी तमाम अदाएँ मलखान पर न्योछावर करती रही...

यहाँ तक कि बड़े ठाकुर के सामने कुहनियों तक वह काँच की चूड़ियाँ छनकाती, फिर एक अदा से इस तरह बाँहें छुड़ाती थी जैसे सामने से किसी ने कसकर पकड़ ली हों, और फिर मलखानसिंह की तरफ हाथ से इशारा करते हुए गाती रही थी :

लो मेरा ते दंगलिया दावेदार।
जी मोरी छोड़ दो कलइयाँ...

दर्शक नर्तकी की अदा पर क़ुर्बान भी होते रहे थे, और ऐसे सीधे इशारों पर हँसते भी रहे थे।

मलखानसिंह तो तन-मन से साधु स्वभाव का था। भले ही शिष्टाचार के नाते रोज़ महफ़िल में आ बैठता था, पर न वह यह सब कुछ देखता था, न उसे कुछ छू पाता था।

हाँ, बड़े ठाकुर ने ज़रूर अपने मन की चीस को पी लिया, और चाहे इसे 'रंडी का नख़रा' कहकर—बात को हँसी में गँवा दिया था, पर मन में एक चोट-सी खा ली थी।

ठाकुर पृथ्वीसिंह मानिकपुर लौटे, तो मन में रेशमचन्दा के लिए एक कसक लेकर। वैसे वह जानते थे, साई दी हुई है, सो जल्दी ही किसी दिन रेशमचन्दा

का डेरा यहाँ आ उतरेगा। पर ठाकुर पृथ्वीसिंह को इतने से ही सन्तोष नहीं हो रहा था। उन के मन में आता था—एक गाँव उस के नाम कर दूँ, और फिर वह कभी किसी और के दरवाज़े पर न जाये। यह बात अभी उन्होंने सात पर्दों में रखी हुई थी, सिर्फ़ अपने विश्वासपात्रों के कानों में डाली थी, लेकिन फिर भी यह बात बाहर निकल गयी थी, ऐसा लगता था। विश्वासपात्रों ने ही बताया था कि एक कुएँ पर बैठे हुए लोगों ने उन्हें गुज़रते हुए ताना दिया था। ठाकुर पृथ्वीसिंह ने जवानी के ज़माने में कभी ठकुराइन की ओर से भय नहीं खाया था, पर अब जब बेटे जवान हो गये थे और ठकुराइन दो मर्द बेटों की माँ हो गयी थी, वह ठकुराइन से कुछ भय खाने लगे थे।

हंसा, मोती यूँ तो घोड़ों के नाम थे, पर मलखानसिंह और चन्दनसिंह की भाइयों की जोड़ी को भी लोग हंसा-मोती की जोड़ी कहते थे। लोग पृथ्वीसिंह से भय खाने के कारण उन्हें सलाम करते थे; पर मलखान-चन्दन को लोग प्यार से छोटे ठाकुर भी कहते थे, कुँवर साहब भी, और हंसा-मोती भी। और ठाकुर पृथ्वीसिंह को हवा के इस बदलते हुए रुख़ का कुछ भान था...पूरी दो पीढ़ियों से ठाकुर पृथ्वीसिंह की और यादवों के चौधरी भूपसिंह की लगती आयी थी। दोनों की गढ़ियों के बीच एक नदी पड़ती थी, जिस पर जिस का ज़ोर चलता, बाँध बना लेता, और पानी का मुँह मोड़कर दूसरे के खेतों को बर्बाद कर देता। पर पिछले कई वर्षों से ठाकुर पृथ्वीसिंह का हाथ ऊपर रहा था, इस लिए चौधरी भूपसिंह की ओर से कुछ चुप्पी प्रतीत होती थी। पर देखने में जो अमन-चैन था, ठाकुर पृथ्वीसिंह को यह भी मालूम था कि किसी भी दिन वह लावे की तरह फूट सकता था।

यूँ तो ठाकुर पृथ्वीसिंह का यह भय उस समय से बहुत छा गया था जब से अंग्रेज़ कलक्टर के ज़ोर पर एक थानेदार ने खुले आम गाँव में कहा था, "मैं ठाकुर पृथ्वीसिंह को सलाम करने क्यों जाऊँ ! साले को ग़रज़ होगी तो ख़ुद आयेगा।"

और एक दिन चौंसठ फेर वाली पगड़ी वाले ठाकुर पृथ्वीसिंह ने अपने कारिन्दों को भेजकर थानेदार को गढ़ी में खाने का निमंत्रण देकर बुलवाया था, और आसन पर बिठाकर अपने सेवकों से कहा था, "दारोग़ा जी की ख़िदमत करो!" और सेवकों ने थानेदार को रस्सियों से बाँधकर उस के आगे घास डाल दी थी खाने के लिए और उस समय तक उस की रस्सियाँ नहीं खोली थीं, जब तक उस ने मुँह नीचा करके डलिया में पड़ी हुई घास में से दो तिनके मुँह में उठाकर नहीं चबाये थे। और बात जब अंग्रेज़ कलक्टर तक पहुँची थी, उस ने ठाकुर पृथ्वीसिंह से वैर पालने के बजाय थानेदार की वहाँ से बदली करवा दी थी।

और उस के बाद पीठ के पीछे बुरा-भला कहने वाले चौधरी भूपसिंह के एक आदमी को पकड़कर जब ठाकुर पृथ्वीसिंह के आगे हाज़िर किया गया तो उस के दोनों हाथ पीठ के पीछे बँधवाकर, और कड़ी वाली पंसेरी उस की चोटी से बँधवाकर, ठाकुर पृथ्वीसिंह ने उसे चौधरी भूपसिंह की तरफ रवाना कर दिया, तब भी चौधरी भूपसिंह की तरफ से कोई मिनका तक नहीं था।

पर इतने दबदबे के बावजूद अब ठाकुर साहब को हवा का रुख़ वैसा नहीं मालूम होता था जैसा पहले था। बहुत करके इस लिए कि मलखानसिंह तो यूँ भी साधु स्वभाव का था, और छोटा लड़का चन्दनसिंह भले ही बन्दूक़ लेकर जंगलों में फिरने का शौक़ीन था, पर बड़े ठाकुर के क़दमों पर चलने वाला वह भी दिखाई न देता था।

और फिर यह चिन्ता एक दिन ठाकुर पृथ्वीसिंह का लहू खौला गयी।

वह शाम के खाने-पीने के बाद पान का बीड़ा लेकर अपने मुँह लगे साथियों के साथ ताश खेलने के लिए बैठे थे कि उन के निजी सेवक ने आकर धीरे से कुछ कहा।

ठाकुर ने साथियों को विदा कर दिया, और अकेले में सेवक से फिर पूछा, "क्या कहा है? रेशमचन्दा का आदमी उस का ख़ास सन्देशा लेकर आया है?"

"जी हाँ! हुकम हो तो हाज़िर करूँ..."

ठाकुर पृथ्वीसिंह ने कुछ सोच में पड़कर पूछा, "कोई रुक़्क़ा लाया है?"

"जी नहीं, ज़बानी अर्ज़ करना चाहता है।"

ठाकुर साहब ने फिर ताकीद से पूछा, "तुम उसे पहचानते हो? उसी का आदमी है, कोई और तो नहीं?"

सेवक ने बताया, "जी हाँ, वही तबलची है, जिसे आप ने हरफूरी की हवेली में नाच के वक़्त देखा था..."

"अच्छा, अन्दर ले आओ, पर सामने के दरवाज़े से नहीं। मलखान और चन्दन बाहर की बैठक में हैं?"

"जी, सरकार!"

"तबेले वाले रास्ते से लाओ।"

रेशमचन्दा का तबलची जब सेवक के साथ अन्दर ठाकुर पृथ्वीसिंह के हुज़ूर में आया, ठाकुर साहब को प्रणाम करके, हाथ बाँधकर खड़ा हो गया।

ख़ामोशी लम्बी हुई तो ठाकुर साहब ने ही पूछा, "हाँ भई, क्या पैग़ाम है?"

उस ने हाथ बाँधे हुए ही कहा, "हुज़ूर! जान-बख़्शी हो तो अर्ज़ करूँ?"

ठाकुर पृथ्वीसिंह ने कहा कुछ नहीं, सिर्फ़ आँख उठाकर उस की ओर देखा, पर निगाह ऐसी थी कि सामने खड़े हुए आदमी को सिर से पैर तक पसीना आ गया।

उस ने कुछ हकलाते हुए कहा, "सरकार ! छोटे मुँह बड़ी बात है, जान-
बख़्शी हो तो..."

ठाकुर साहब ने बेसब्री से कहा, "हाँ-हाँ, जान बख़्शी, जल्दी बोलो !"

उस ने, काँपते हुए, जेब में से एक सौ एक रुपये निकाले और झुककर ठाकुर के पैरों के आगे धरती पर रखकर कहा, "बेगम साहिबा ने कहा है कि बन्दी ख़िद-मत में हाज़िर नहीं हो सकेगी।"

ठाकुर साहब ने समझ लिया कि ये वही साई के एक सौ एक रुपये हैं जो रेशमचन्दा ने लौटाये हैं।

ठाकुर साहब के मन में बात खटक गयी, पर पक्के तौर पर जानने के लिए पूछा, "क्यों, क्या बेगम की तबीयत नासाज़ है ?"

"जी नहीं..." और आगे कुछ कहने से पहले वह डर का मारा पीछे को हो गया।

"फिर ? ये रुपये कम हैं ?" ठाकुर जानते थे कि यह बात नहीं थी, पर उस के मुँह से सच बात कहलवा लेने के लिए उन्होंने इस तरह कहा।

"जी नही..." उस ने फिर कहा, और फिर साहस बटोरकर जल्दी से कह दिया, "चौधरी भूपसिंह ने बेगम को एक गाँव देकर हमेशा के लिए ख़िदमत में रख लिया है, इस लिए मजबूरी है..."

यह शायद पृथ्वीसिंह के जीवन में पहला दिन था जब इस तरह अपनी आज्ञा का पालन न होना उन्होंने देखा, साई में दिये हुए रुपये इस तरह लौटते देखे, और ऐसा पैग़ाम, जो सख़्त गुस्ताख़ी के समान था, अपने कानों से सुना।

और इसपर भी—सामने खड़े हुए आदमी की जान बख़्श दी।

वह आदमी चला गया, पर ठाकुर पृथ्वीसिंह का सुख-चैन भी उस के साथ चला गया।

ठाकुर पृथ्वीसिंह को अब रेशमचन्दा की परवाह नहीं रही थी, परवाह थी इस बात की कि चौधरी भूपसिंह ने उन्हें नीचा दिखाने के लिए यह किया था और रेशमचन्दा से साई के रुपये लौटवाकर, इलाक़े में उन की तौफ़ीक़ की तौहीन की थी...

उस रात मखमल का बिछौना ठाकुर साहब को शूलों की सेज की भाँति चुभता रहा...

और सवेरे तड़के, रात को पानी में भीगे हुए बादामों की गिरी छीलकर, जब रोज़ की तरह उन्होंने कलेवा किया, उन की एक दाढ़ में पीड़ा होने लगी।

शराब में भिगोकर रुई का फाहा जब उन्होंने दाढ़ पर रखा, तो छाती में एक चीस-सी उठ खड़ी हुई कि—जवानी अब दगा देने लगी थी...

यह पीड़ा ठकुराइन के साथ नहीं बाँटी जा सकती थी, और बेटों की ओर से

भी ठाकुर पृथ्वीसिंह को किसी तरह की हिमायत की उम्मीद नहीं थी। सो, उन्होंने अपने कारिन्दों से ही बात चलायी और चौमासे की नदी पर बाँध बनवा-कर पानी का मुँह चौधरी भूपसिंह के गाँव की ओर करके रातो-रात उस के खेत बर्बाद करवा डाले...

पर कोई नहीं जानता—हरफूरी गाँव के एक पेड़ में पेंगें झूलती बेनू के मन पर क्या बीत रही थी, जिस समय उस की सहेलियों ने मल्हार छेड़ा था :

छेओला फूलो रे—छेओला फूलो रे...
लाल फुलन के रंग में तू रँग ले चुनरिया
तू रँग ले उमरिया
तेरा कान्ह कन्हैया-सा दूल्हो रे...
छेओला फूलो रे...
पत्तियन चिलोर की तू झुमका बनाय ले
सैयाँ रिझाय ले
तिन्दूआ के पेड़ झूला झूलो रे...
छेओला फूलो रे...

सेमल के पेड़ आग के रंग के फूलों से लदे हुए थे—दर्शक के मन में भी आग-सी लगाते। उसे ही गाँव वाले छेओला कहते थे, जो पानी में भी आग लगाता हुआ प्रतीत होता था।

बेनू ने चन्दनसिंह का तावीज भले ही अपनी कुरती में छिपा रखा था, पर उसे हाथ से टटोलती तो काँप उठती—मानो उस का कुँआरा शरीर चन्दनसिंह से छू जाता हो...

लौंगवती आजकल ससुराल थी। चौमासे में आने वाली थी, पर जब तक नहीं आती बेनू के पास अपने मन की बातें करने के लिए वही गूंगा तावीज़ था

जो चन्दनसिंह उस के पास अमानत के तौर पर रख गया था।

और तो और, उड़ती हवा भी कोई ख़बर नहीं लाती थी...

उस दिन बेनू ने भी, और बाक़ी लड़कियों ने भी, सचमुच चिलोर की पत्तियों के गुच्छे तोड़े जिन के हरे नरम रंग में बीजों के गाढ़े रंग नगों की-सी झलक मारते थे, और धागों से वे गुच्छे बाँधकर उन्होंने कानों में पिरो लिये। सब ने झुमके पहन लिये। पर कुँआरे सपने में जो सैयाँ होता है, वह आँखों के सामने तो नहीं होता। सो, कौन रिझाये और किसे रिझाये! बेनू के मन में उदासी की घनी घटा छा गयी।

चन्दनसिंह से उसे कोई शिकायत नहीं थी, पर वह आँखों के सामने दिखाई नहीं देता था, यही उस का दोष था। बेनू का मन उलाहने से भर गया, और चन्दन का मिलन उसे छलावे जैसा लगने लगा, यूँ ही सा, एक ऋतु का मेला...

उस रात अँधेरे की चादर में बेनू ने तुक जोड़ी, "तू तो है सैयाँ चौमासे का पानी, मैं तो भर-बहती नदिया रे..." और आँचल में मुह ढककर बेनू बहुत रोयी। लगा—उसे सचमुच, हमेशा के लिए, भर-बहने वाली नदी का शाप लग गया था।

सब जानते हैं—चौधरी भूपसिंह के पाँच भाई थे—छन्नूसिंह, चूड़ामन, शिशुपाल-सिंह, अनेकसिंह और करनसिंह। और जब से ठाकुर पृथ्वीसिंह ने नदी पर बाँध लगाकर उन के खेतों को बर्बाद करवाया था, वे तब से साँपों के डंक की तरह किसी ताक में फिरते थे।

एक दिन उन्होंने सुना—ठाकुर पृथ्वीसिंह गढ़ी में अकेले हैं, मलखानसिंह अपने संगीत के गुरु के साथ किसी संगीत-सभा में गया हुआ है, और चन्दनसिंह जंगल में शिकार खेलने। उन्हें मलखानसिंह का डर नहीं था, सिर्फ़ चन्दनसिंह से डर था। मलखानसिंह यूँ तो हाथ-पाँव का इतना तगड़ा था कि कई आदमियों से

भी ठाकुर पृथ्वीसिंह को किसी तरह की हिमायत की उम्मीद नहीं थी। सो, उन्होंने अपने कारिन्दों से ही बात चलायी और चौमासे की नदी पर बाँध बनवा-कर पानी का मुँह चौधरी भूपसिंह के गाँव की ओर करके रातो-रात उस के खेत बर्बाद करवा डाले...

पर कोई नहीं जानता—हरफूरी गाँव के एक पेड़ में पेंगें झूलती बेनू के मन पर क्या बीत रही थी, जिस समय उस की सहेलियों ने मल्हार छेड़ा था :

छेओला फूलो रे—छेओला फूलो रे...
लाल फुलन के रंग में तू रँग ले चुनरिया
तू रँग ले उमरिया
तेरा कान्ह कन्हैया-सा दूल्हो रे...
छेओला फूलो रे...
पत्तियन चिलोर की तू झुमका बनाय ले
सैयाँ रिझाय ले
तिन्दूआ के पेड़ झूला झूलो रे...
छेओला फूलो रे...

सेमल के पेड़ आग के रंग के फूलों से लदे हुए थे—दर्शक के मन में भी आग-सी लगाते। उसे ही गाँव वाले छेओला कहते थे, जो पानी में भी आग लगाता हुआ प्रतीत होता था।

बेनू ने चन्दनसिंह का तावीज़ भले ही अपनी कुरती में छिपा रखा था, पर उसे हाथ से टटोलती तो काँप उठती—मानो उस का कुँआरा शरीर चन्दनसिंह से छू जाता हो...

लौंगवती आजकल ससुराल थी। चौमासे में आने वाली थी, पर जब तक नहीं आती बेनू के पास अपने मन की बातें करने के लिए वही गूंगा तावीज़ था

जो चन्दनसिंह उस के पास अमानत के तौर पर रख गया था।

और तो और, उड़ती हवा भी कोई ख़बर नहीं लाती थी...

उस दिन बेनू ने भी, और बाक़ी लड़कियों ने भी, सचमुच चिलोर की पत्तियों के गुच्छे तोड़े जिन के हरे नरम रंग में बीजों के गाढ़े रंग नगों की-सी झलक मारते थे, और धागों से वे गुच्छे बाँधकर उन्होंने कानों में पिरो लिये। सब ने झुमके पहन लिये। पर कुँआरे सपने में जो सैयाँ होता है, वह आँखों के सामने तो नहीं होता। सो, कौन रिझाये और किसे रिझाये! बेनू के मन में उदासी की घनी घटा छा गयी।

चन्दनसिंह से उसे कोई शिकायत नहीं थी, पर वह आँखों के सामने दिखाई नहीं देता था, यही उस का दोष था। बेनू का मन उलाहने से भर गया, और चन्दन का मिलन उसे छलावे जैसा लगने लगा, यूँ ही सा, एक ऋतु का मेला...

उस रात अँधेरे की चादर में बेनू ने तुक जोड़ी, "तू तो है सैयाँ चौमासे का पानी, मैं तो भर-बहती नदिया रे..." और आँचल में मुह ढककर बेनू बहुत रोयी। लगा—उसे सचमुच, हमेशा के लिए, भर-बहने वाली नदी का शाप लग गया था।

सब जानते हैं—चौधरी भूपसिंह के पाँच भाई थे—छन्नूसिंह, चूड़ामन, शिशुपालसिंह, अनेकसिंह और करनसिंह। और जब से ठाकुर पृथ्वीसिंह ने नदी पर बाँध लगाकर उन के खेतों को बर्बाद करवाया था, वे तब से साँपों के डंक की तरह किसी ताक में फिरते थे।

एक दिन उन्होंने सुना—ठाकुर पृथ्वीसिंह गढ़ी में अकेले हैं, मलखानसिंह अपने संगीत के गुरु के साथ किसी संगीत-सभा में गया हुआ है, और चन्दनसिंह जंगल में शिकार खेलने। उन्हें मलखानसिंह का डर नहीं था, सिर्फ़ चन्दनसिंह से डर था। मलखानसिंह यूँ तो हाथ-पाँव का इतना तगड़ा था कि कई आदमियों से

एक साथ निबट सकता था, पर चन्दनसिंह के निशाने की मार से बचना आसमान में थेगली लगाने के समान था। और इस लिए आज वे चन्दनसिंह की अनुपस्थिति में कौड़ियाले साँपों की तरह चलते हुए ठाकुर पृथ्वीसिंह की गढ़ी के पास आकर बैठ गये...

उधर चन्दनसिंह यूँ तो दूर जंगल में निकल गया था, और पसिया जाति के छोटे-छोटे लड़के उस के पीछे मारे हुए शिकार को उठाने के लिए दौड़ रहे थे, पर उसे कोई क़ायदे का शिकार नहीं मिला था।

आख़िर में उस ने एक पाड़े के गोली मारी, जिस का मांस उस के किसी काम का नहीं था, पर गाँव से भागते हुए आने वाले लड़कों को ख़ुश करने के लिए उस ने पाड़े का शिकार किया।

पाड़े का ख़ुश्क मांस सिर्फ़ पसिया जाति के लोग खाते हैं।

लड़कों ने लहू के निशान खोजकर पाड़े को ढूँढ़ लिया, पर दौड़कर पीछे लौट आये, "कुँवर साहब! पाड़ा नहीं मरा, सिर्फ़ चुटैल है।"

चन्दनसिंह ने उन के साथ जाकर पाड़े को दूसरी गोली मारी। वह घायल होकर एक जगह गिरा तड़प रहा था, पर अभी तक मरा नहीं था। चन्दनसिंह उसे लड़कों के हवाले कर ख़ुद वापस लौटने लगा।

लड़कों में से एक ने आवाज़ दी, "ठाकुर! झील के किनारे चलो, नील सरोवर की मुर्ग़ाबियाँ आयी हुई हैं..."

चन्दनसिंह ज़ोर से हँस पड़ा, "नहीं, नहीं, नील सरोवर की मुर्ग़ाबियाँ नहीं मारते," और हँसता हुआ घोड़े पर सवार हुआ और एड़ी मारकर वापस लौट गया।

इधर गढ़ी का जो दरवाज़ा साथ लगे हुए अस्तबल में भी खुलता था, जहाँ हंसा-मोती बँधे रहते थे, चौधरियों ने उधर का रुख़ किया। उन्हें मालूम था कि आज हंसा को मलखान ले गया है, और मोती को चन्दन, पर यह मालूम नहीं था कि संगीत-सभा में गुरु के अचानक पीड़ा हो उठने के कारण, सभा भंग कर दी गयी थी, और मलखान संगीत-सभा से लौट आया था।

वे पाँचों जब हाथों में भाले लेकर गढ़ी के तबेले में से गुज़रने लगे, उन्हें सामने मलखान खड़ा हुआ दिखाई दिया। यह यूँ तो अचानक ही हुआ था, लेकिन उन्होंने मलखान को सँभलने का मौक़ा नहीं दिया, पाँचों उस पर टूट पड़े...

और सब जानते हैं कि—जब अचानक चन्दनसिंह शिकार से जल्दी लौट आया और तबेले में घोड़ा बाँधने गया, वहाँ लहू की धारें बह रही थीं। मलखानसिंह एक घायल देव के समान तबेले की दीवारों से टकराता पाँचों से लोहा ले रहा था, लेकिन उस का साँस टूट रहा था। चन्दनसिंह की बन्दूक़ की गोली जिस समय पाँचों में से एक की पीठ में धँसी तो चीख़ें मारते हुए पाँचों बाहर की ओर

दौड़े। पर चन्दन के हाथ में बन्दूक़ थी, वे उस की मार से बहुत दूर नहीं जा सकते थे। और मिनट में ही यह घटना घट गयी कि पाँचों की लाशें दूर-पास की मिट्टी के ढेरों की भाँति गिर पड़ीं।

गाँव में अभी बात फैल भी नहीं पायी थी कि चन्दनसिंह ने मलखान को चारपाई पर डलवाकर, साथ में माता-पिता को लिया, और चारपाई सीधी थाने में रखवाकर, मलखान को पास के शहर के हस्पताल में भेजने की ताकीद करके, ख़ुद घोड़े को एड़ लगाकर हवा हो गया।

पुलिस के काग़ज़ों में जब तक कार्रवाई दर्ज हुई, चन्दनसिंह खादर पार करके ढाक के जंगल में पहुँच चुका था।

पर कोई नहीं जानता—जंगल की आग की तरह जब यह ख़बर बेनू तक पहुँची, वह दीवारों के गले लगकर कितनी रोयी।

कुँआरी बेटी का रुदन माता-पिता के अन्तर को चीर गया, पर दूसरे कानों को ख़बर न हुई।

सिर्फ़ कुछ दिन बाद लौंगवती हाथ मलते हुए आयी, और बेनू को, जो प्याज़ के छिलके जैसी हो गयी थी, छाती से लगाकर रोने लगी।

बेनू का एक ही विलाप था, "यह तावीज़ उस की अमानत थी, उस ने मेरी ख़ातिर अपने गले में से उतार दिया। अगर यह उस के गले में होता तो उस पर यह संकट न आता..."

लौंगवती बेनू के लिए चन्दनसिंह का भेजा हुआ सन्देशा लायी थी, ख़त-पत्तर नहीं था, सिर्फ़ मुँह-ज़बानी, जो कोई, न जाने कौन, भरी दुपहरी में उस का दरवाज़ा खटकाकर कह गया था कि ज़रूरत पड़ी तो चन्दनसिंह ने पाँच आदमी मारे हैं, पर नील सरोवर की मुर्ग़ाबी नहीं मारी...

लौंगवती ने जब यह बताया, बेनू का कलेजा मुँह को आ गया, एक पछतावा-

एक साथ निबट सकता था, पर चन्दनसिंह के निशाने की मार से बचना आसमान में थेगली लगाने के समान था। और इस लिए आज वे चन्दनसिंह की अनुपस्थिति में कौड़ियाले साँपों की तरह चलते हुए ठाकुर पृथ्वीसिंह की गढ़ी के पास आकर बैठ गये...

उधर चन्दनसिंह यूँ तो दूर जंगल में निकल गया था, और पसिया जाति के छोटे-छोटे लड़के उस के पीछे मारे हुए शिकार को उठाने के लिए दौड़ रहे थे, पर उसे कोई क़ायदे का शिकार नहीं मिला था।

आख़िर में उस ने एक पाड़े के गोली मारी, जिस का मांस उस के किसी काम का नहीं था, पर गाँव से भागते हुए आने वाले लड़कों को ख़ुश करने के लिए उस ने पाड़े का शिकार किया।

पाड़े का ख़ुश्क मांस सिर्फ़ पसिया जाति के लोग खाते हैं।

लड़कों ने लहू के निशान खोजकर पाड़े को ढूँढ़ लिया, पर दौड़कर पीछे लौट आये, "कुँवर साहब ! पाड़ा नहीं मरा, सिर्फ़ चुटैल है।"

चन्दनसिह ने उन के साथ जाकर पाड़े को दूसरी गोली मारी। वह घायल होकर एक जगह गिरा तड़प रहा था, पर अभी तक मरा नहीं था। चन्दनसिंह उसे लड़कों के हवाले कर ख़ुद वापस लौटने लगा।

लड़कों में से एक ने आवाज़ दी, "ठाकुर ! झील के किनारे चलो, नील सरोवर की मुर्ग़ाबियाँ आयी हुई हैं..."

चन्दनसिंह ज़ोर से हँस पड़ा, "नहीं, नहीं, नील सरोवर की मुर्ग़ाबियाँ नहीं मारते," और हँसता हुआ घोड़े पर सवार हुआ और एड़ी मारकर वापस लौट गया।

इधर गढ़ी का जो दरवाज़ा साथ लगे हुए अस्तबल में भी खुलता था, जहाँ हंसा-मोती बँधे रहते थे, चौधरियों ने उधर का रुख़ किया। उन्हें मालूम था कि आज हंसा को मलखान ले गया है, और मोती को चन्दन, पर यह मालूम नहीं था कि संगीत-सभा में गुरु के अचानक पीड़ा हो उठने के कारण, सभा भंग कर दी गयी थी, और मलखान संगीत-सभा से लौट आया था।

वे पाँचों जब हाथों में भाले लेकर गढ़ी के तबेले में से गुज़रने लगे, उन्हें सामने मलखान खड़ा हुआ दिखाई दिया। यह यूँ तो अचानक ही हुआ था, लेकिन उन्होंने मलखान को सँभलने का मौक़ा नहीं दिया, पाँचों उस पर टूट पड़े...

और सब जानते हैं कि—जब अचानक चन्दनसिंह शिकार से जल्दी लौट आया और तबेले में घोड़ा बाँधने गया, वहाँ लहू की धारें बह रही थीं। मलखानसिंह एक घायल देव के समान तबेले की दीवारों से टकराता पाँचों से लोहा ले रहा था, लेकिन उस का साँस टूट रहा था। चन्दनसिंह की बन्दूक़ की गोली जिस समय पाँचों में से एक की पीठ में धँसी तो चीख़ें मारते हुए पाँचों बाहर की ओर

दौड़े। पर चन्दन के हाथ में बन्दूक़ थी, वे उस की मार से बहुत दूर नहीं जा सकते थे। और मिनट में ही यह घटना घट गयी कि पाँचों की लाशें दूर-पास की मिट्टी के ढेरों की भाँति गिर पड़ीं।

गाँव में अभी बात फैल भी नहीं पायी थी कि चन्दनसिंह ने मलखान को चारपाई पर डलवाकर, साथ में माता-पिता को लिया, और चारपाई सीधी थाने में रखवाकर, मलखान को पास के शहर के हस्पताल में भेजने की ताकीद करके, ख़ुद घोड़े को एड़ लगाकर हवा हो गया।

पुलिस के काग़ज़ों में जब तक कार्रवाई दर्ज हुई, चन्दनसिंह खादर पार करके ढाक के जंगल में पहुँच चुका था।

पर कोई नहीं जानता—जंगल की आग की तरह जब यह ख़बर बेनू तक पहुँची, वह दीवारों के गले लगकर कितनी रोयी।

कुँआरी बेटी का रुदन माता-पिता के अन्तर को चीर गया, पर दूसरे कानों को ख़बर न हुई।

सिर्फ़ कुछ दिन बाद लौंगवती हाथ मलते हुए आयी, और बेनू को, जो प्याज़ के छिलके जैसी हो गयी थी, छाती से लगाकर रोने लगी।

बेनू का एक ही विलाप था, "यह तावीज़ उस की अमानत थी, उस ने मेरी ख़ातिर अपने गले में से उतार दिया। अगर यह उस के गले में होता तो उस पर यह संकट न आता..."

लौंगवती बेनू के लिए चन्दनसिंह का भेजा हुआ सन्देशा लायी थी, ख़त-पत्तर नहीं था, सिर्फ मुँह-ज़बानी, जो कोई, न जाने कौन, भरी दुपहरी में उस का दरवाज़ा खटकाकर कह गया था कि ज़रूरत पड़ी तो चन्दनसिंह ने पाँच आदमी मारे हैं, पर नील सरोवर की मुर्ग़ाबी नहीं मारी...

लौंगवती ने जब यह बताया, बेनू का कलेजा मुँह को आ गया, एक पछतावा-

सा आया। 'अरे पागल ! तुम बेवफ़ा निकलते तो मैं दिल पर पत्थर रख लेती, पर अब कैसे भूलूँगी ।'

और कोई नहीं जानता—रात के पिछले पहर बेनू नंगे पाँव देवी के मन्दिर में गयी और चन्दनसिंह के तावीज़ को उस ने देवी के चरणों से छुआकर चन्दनसिंह के सिर की ख़ैर माँगी।

सब जानते हैं—पाँच लाशें जिस समय मानिकपुर में उठीं, चौधरी भूपसिंह की गढ़ी में लोगों की आँखों में ख़ून उतरा हुआ था।

पुलिस ने मलखानसिंह को शहर के अस्पताल में पहुँचा दिया था, पर ठाकुर पृथ्वीसिंह को और ठकुराइन को लौटकर गढ़ी में नहीं जाने दिया था। मालूम था कि—ये चौधरी भूपसिंह के आदमियों के हाथों क़तल हो जायेंगे। इस लिए रामपुर शहर में जहाँ ठाकुर की अपनी शहरी कोठी थी, वहाँ पुलिस की रखवाली में भेज दिया, जहाँ पुलिस के दो आदमी दिन में पहरे पर होते और दो रात में पहरे पर।

चन्दनसिंह का अभी सुराग़ नही लगा था। खादर से छोइया नदी के किनारे से, जहाँ से आगे ढाक का जंगल शुरू होता है, उस का घोड़ा मिल गया था, पर इस के आगे चन्दनसिंह का निशान नहीं मिला था।

मलखानसिंह के सिर में सात टाँके लगे थे, और अभी तक वह होश में नहीं आया था। अस्पताल के बाहर भी पुलिस के दो आदमी थे, सफ़ेद कपड़ों में, कि शायद चन्दनसिंह रात-बिरात अपने भाई का हाल देखने आ जाये।

और पुलिस ने चन्दनसिंह के हुलिये की सूचना हर जगह दे रखी थी...

पर कोई नहीं जानता कि—आग के धुएँ से बचने के लिये तो बेनू का पिता जब बेनू के लिए रातोंरात रिश्ता खोजने चला तो बेनू की छाती से कैसी लपट निकली थी...

ईश्वर दूर था, पर ईश्वर के सहारे जैसी अंतरंग सहेली पास थी। बेनू उस के सामने बिलखने लगी—"एक पल हाथ से निकल गया तो सारी उमर रोती रह जाऊँगी। हाय मेरी क़िस्मत ! मेरे माता-पिता से कहो, जल्दी न करें, चार दिन सब्र करें..."

लौंगवती का जी भी अन्दर ही अन्दर रोता था, पर बेनू की माँ या पिता से कुछ कहती तो क्या कहती। फिर भी उस ने घर के भीतर जाकर, बेनू की माँ के पास बैठकर, माँ की ममता वाली नरम जगह पर हाथ रखा। कहा, "मौसी ! मैं तो हूँ अनजान, कैसे कहूँ। तुम ख़ुद सयानी हो, तुम ख़ुद समझ लो। बेनू को मन का आदमी न मिला तो सारी उमर गीले उपले की तरह सुलगेगी, फिर धुआँ तो तुम्हारी आँखों को भी लगेगा..."

माँ ने मुँह खोलकर बेनू से कुछ पूछा नहीं था, पर जब से मानिकपुर वालों की ख़बर आयी थी, लड़की को दीवारों से लग-लगकर रोते देखकर 'जले कर्मों' का अन्दाज़ा लगा चुकी थी।

आज लौंगवती ने मुँह खोला तो वह भी मन की भड़ास निकालने लगी, "पहले मुझे यह बता, सयानी...कि उस के मन में यह आग कैसे लगी, किस ने लगायी ?"

लौंगवती ने, जितना उस के जिगरा था, पूरा लगाकर कहा, "मौसी! यह मैं तुम्हें बताऊँ ? यह तो वेद-कतेब लिखने वालों को भी पता नहीं लगा कि मन की आग कैसे लगती है। बस ब्याह में आये हुए चन्दनसिंह को देखकर बेनू ने उसे मन में अपने मन का मर्द मान लिया।"

माँ के मन में कई शंकाएँ उठीं, पर सब कुछ जानने के लिए उस ने ठंडे जी से पूछा, पर कहाँ हम, और कहाँ वह राजाओं जैसे ठाकुर, लड़की ने कैसे सोच लिया

कि वह आसमान में थेगली लगा लेगी ?"

स्वाभाविक रूप से लौंगवती के मुँह से निकला, "मौसी ! जब दिल आते हैं तो राजाओं की बेटियाँ फ़कीरों के घर जा बसती हैं, और राजाओं के बेटे कम्मियों-कमीनों की बेटियाँ ब्याहकर ले आते हैं।"

माँ को बात कुछ भेदभरी लगी। पूछने लगी, "तो चन्दनसिंह ने हामी भर ली थी ? वह कहाँ छिपकर लड़की से मिला था ?"

लौंगवती सँभल गयी। कहने लगी, "नहीं, कहीं नहीं, मौसी ! वह तो दूर का दर्शन था..."

माँ कुछ ठंडी हुई। कहने लगी, "फिर तुम लड़कियो, झूठमूठ हवा में क्यों पत्थर मारती हो ? दूसरे घर का न कुछ पता न ख़बर, और इस ने जो तेरी कुछ लगती है, घर बैठे ही उस के लिए जयमाला पिरो ली ?..."

"नहीं, मौसी ! यह बात तो नहीं," लौंगवती ने कुछ दबते हुए कहा, "यह तो उस के मुँह से भी दिखता था।" पर फिर बात बदलते हुए कहने लगी, "दिल को भी दिल से राह होती है। अगर इस के मन में कोई सेंक हैं तो वह उसे भी लगना ही था...जब उसे पता चलता, ख़ुद ही उस का दिल आ जाता। पार्वती ने भी तो तप करके शिवजी को पाया था..."

माँ एकाएक गरम हो उठी, "वह बड़ी पार्वती बनती है, पहले शिवजी तो ढूँढ़ ले। उसे शिवजी कहते शर्म नहीं आती जिस के माथे पर पाँच ख़ून लगे हुए हैं ?"

लौंगवती कच्ची-सी पड़कर कहने लगी, "वह तो न जाने उस ने किस हाल में किये। पर मौसी ! यह बताओ, अगर पहले यह रिश्ता हो गया होता, और फिर ऐसा बानक बनता, तो हम क्या कर लेते ?"

यहाँ लौंगवती ने 'हम' कहकर बेनू के दुख-सुख से अपनी साझेदारी भी उतनी ही जोड़ ली जितनी माँ की थी। पर वह माँ की समझ से परे थी। वह ग़ुस्से से ऐंठती हुई बोली, "तब की बात और थी, लड़की। तब तो उस की क़िस्मत को ईश्वर भी नहीं बदल सकता था—"

लौंगवती जल्दी से बोल उठी, "कौन जाने अब भी ईश्वर बदलना नहीं चाहता, अगर तुम मान जाओ..."

माँ ने खीझकर कहा, "क्या मान जाऊँ...कि अपने हाथ से फाँसी का रस्सा उस के गले में डाल दूँ ? वह जो इतने ख़ून करके भागा फिर रहा है, उसे ढूँढ़ूँ जाकर—'भई फाँसी चढ़ने से पहले मेरी बेटी से ब्याह कर जा...'

लौंगवती माँ के मन को भी समझ रही थी, पर साहस करके बोली, "नहीं, मौसी ! ऐसे न कहो ! उस का शायद कोई क़ुसूर नहीं है, वह शायद कचहरी से छूट ही जाये," और फिर नम्र होकर कहने लगी, "मैं यह तो नहीं कहती कि अभी जाकर उस से रिश्ता कर दो, मैं तो सिर्फ़ यह कह रही हूँ कि जब तक उस का पता

नहीं लगता, उतनी देर जल्दी न करो इसे कहीं ब्याहने की..."

माँ कुछ धीमी पड़ी। कहने लगी, "चल, मैं तो चाहे मान भी लूँ कि लड़की कुँआरी बैठी रहे, पर उस का बप्पा मानेगा ?"

लौंगवती को कुछ आशा बँधी। कहने लगी, "मौसी ! अगर तुम मान जाओ, तो शायद तुम्हारे कहने से..."

बेनू की माँ कानों को हाथ लगाते हुए बोली, "तुम्हें उस के स्वभाव की ख़बर नहीं। अगर मैं ने मुँह से कुछ कहा तो वह हम माँ-बेटी दोनों को काटकर पिछली कोठरी में गाड़ देगा..."

और क़िस्मत की लकीर को जहाँ टूटना था, टूट गयी !

तीसरे दिन, सूरज डूब रहा था जब बेनू का पिता अलीगढ़ के एक अच्छे व्यापारी घराने में बेनू का रिश्ता जोड़कर आ गया।

आते ही उस ने जब बेनू की माँ को यह ख़बर सुनायी, "मैं तो घेर की रस्म भी कर आया हूँ, अब पाँचवें दिन भेंट की रस्म के लिए जाना है," तो बेनू के मन में ऐसी घेर पड़ी कि शगुन की घेर भी लज्जित-सी उस के मुँह की ओर देखने लगी...

माँ भेंट के लिए गहने और रुपये थाल में जोड़ती रही, पर कोई नहीं जानता बेनू किस तरह भीतर-बाहर से रीती होती जा रही थी...

भेंट की रस्म मर्दों को अदा करनी थी, जाकर कर आये। पर जिस समय एक सप्ताह बाद अलीगढ़ से व्यापारियों की औरतें बेनू की गोद भरने के लिए आयीं, बेनू सूनी-सी, लुटी हुई-सी, क़िस्मत के इस ठट्ठे को अपने पल्ले में डलवाती रही...

उन्हीं दिनो बाँहों पर नाम गोदने वाला उस गाँव से गुज़रा था, जिस से औरतों को कई भूले-बिसरे गाने भी याद आ गये थे। बेनू की हथेली पर शगुन की मेहँदी लगायी गयी, और औरतों ने सुहाग गाकर गीत छेड़ दिया, जिस में कृष्ण की प्रेमिका अपने अंग-अंग पर उस का नाम गोदवाती हैं :

लीला गोदवाय लेओ प्यारी
गली में आय गये ललिहारी
ठोड़ी पै ठाकुर लिखो...
कन्धे पै कान्हा लिखो...

और ज्यों-ज्यों गीत बढ़ता गया—अपने कृष्ण का नित नया नाम रखने वाली गोपिका अपने अंग-अंग पर उस का नाम गोदवाती रही—बेनू को लगता रहा—उस के अंग-अंग पर चन्दन का नाम गोदा जा रहा है...

एक पल मँगनी, दूसरे पल ब्याह की रस्मों में से गुज़रती हुई बेनू बावली

आँखों से हरएक के मुँह की ओर ऐसे देखती रही, मानो होनी के मुँह के सिवाय किसी को पहचानती न हो...

गाँव का जनवासा एक बार फिर सजा, औरतों ने फिर बढ़ार गायी, जनवासे में पानी के घड़े भरकर 'खेत देने' गयीं, लड़की के घर का दरवाज़ा फूलों से महक उठा, कुछ इस तरह जैसे गाँव के ठाकुर जंगीसिंह की लड़की के ब्याह के अवसर पर हुआ था...

और वेनू कई बार भूल-भूल गयी कि अब जंगीसिंह की लड़की का ब्याह नहीं था, उस का अपना ब्याह था...

और भुलावा पड़ता रहा—कि अभी...अभी...ब्याह के लिए आया हुआ चन्दनसिंह उस दीवार की ओट के पीछे से भी दिखाई दिया...और इस दीवार की ओर के पीछे से भी...

पर बेनू के घर के आँगन में जब मँड़वा सजा और अलीगढ़ का व्यापारी कहलाने वाला कोई आदमी उसी के घर की ड्योढ़ी को लाँघ अन्दर कोठरी में आकर छन्द कहने लगा, और बेनू को औरतों ने पकड़-थामकर उस के सामने उस का कँगना खोलने के लिए बिठा दिया तो बेनू के मन की गाँठें कस गयीं...

"...हाय री क़िस्मत...धागों वाली गाँठें खुलवा रही है...पर जिन गाँठों को तू ने अपने हाथों से डाला है, उन्हें कौन खोलेगा ?..." बेनू लौंगवती की छाती से लगकर भी रोई और क़िस्मत की छाती से लगकर भी...

और बेनू के मरे-जीते हाथ रस्मों में से गुज़रते रहे...

सिर्फ़ डोली के दिन उस ने लौंगवती की बाँह पकड़ी और घर के पिछले दरवाज़े से निकलकर आमों के उस बाग़ की ओर चल दी जहाँ तालाब के पानी में उस की समझ से, उस की और चन्दनसिंह की परछाइयाँ अभी भी तैर रही थीं...

"बेनू ! यह क़िस्मत का लिखा था, भूल जा...।" रास्ते में लौंगवती ने रह-रहकर कहा। पर लगता था, बेनू के कानों में कोई आवाज़ नहीं पड़ रही थी।

वह अपने ध्यान में मग्न तालाब के किनारे पर जाकर खड़ी हो गयी और पानी में काँपती हुई अपनी परछाईं को देखकर लौंगवती से कहने लगी, "तू जानती है न, जिन्नों और भूतों की पहचान क्या होती है ? उन की परछाईं नहीं होती। यह देख, मेरी परछाईं यहाँ रह गयी है, और मैं जिन्न-भूत बनकर आज डोली में जाऊँगी..."

लौंगवती का जी किया कि छाती पकड़कर रोये, पर बेनू को थामते हुए वह अपने आप को भी थामती रही।

और तालाब के किनारे से लौटते हुए एक जगह पर बेनू रोड़े-पत्थरों की ठोकर खाकर ऐसे गिरी कि उस के पैरों की उँगलियाँ छिल गयीं। और घड़ी-

पहर बाद जब उसे ससुराल के गहने पहनाये जाने लगे तो उस के पैरों की उँगलियों में बिछुआ न पहनाया जा सका।

उस समय डोली में बैठते हुए बेनू ने—कोई नहीं जानता—लौंगवती के कान में कुछ कहा...

सिर्फ़ लौंगवती कितनी देर तक अपने कानों को मलती रही—जिन में बेनू के शब्द चुभ रहे थे—'तूने उस से कहा था न कि मेरे नाक का बुलाक पैरों का बिछुआ माँगता है...कभी वह तुझे जीता मिले तो उस से कहियो—बेनू ने पैरों में किसी और का बिछुआ नहीं पहना था...'

सब जानते हैं—एक शाम को बड़े शहर के अस्पताल में, हाथ में पिस्तौल लिये चन्दनसिंह आया, और सीधे भाई की चारपाई के पास जाकर, उस का मुँह देखकर और उस के पैर चूमकर, उसी तरह पिस्तौल ताने हुए खिड़की से छलाँग मारकर अलोप हो गया...

थानों में ख़बर फैल गयी, शहर की नाकेबन्दी हो गयी, ठाकुर पृथ्वीसिंह की कोठी का पहरा कड़ा हो गया, पर चन्दनसिंह का कोई सुराग़ न मिला।

और बाद में सबको मालूम हुआ कि उस रात पुलिस से छुपते हुए चन्दनसिंह ने जिस घर में पनाह ली थी, वह एक बूढ़ी विधवा गंगा का घर था, जिस की पन्द्रह बरस की जवान लड़की त्रिबेनी के आगे पिस्तौल तानकर चन्दनसिंह ने एक धमकी-सी दी थी कि अगर उस की माँ ने आवाज़ निकाली तो वह गोली चला देगा। और उसी तरह पिस्तौल ताने हुए उस ने गंगा से माँगकर रोटी खायी थी, और उस रात जितने पैसे उस की जेब में थे, वे सारे के सारे उस ने गंगा के आगे ढेरी करके उसे अपनी शहर वाली कोठी पर अपने माता-पिता के पास सन्देशा देकर भेजा था कि उन का बेटा एक बार उन से मिलना चाहता है।

गंगा उस के लिए उस की माँ का जवाबी सन्देशा ले आयी कि अभी कोठी के

चारों तरफ़ पहरा है, वह भूलकर भी वहाँ न आये। और चन्दनसिंह दो रात और गंगा के घर रहकर जाते समय हाथ में पहना हुआ सोने का कड़ा उसे देकर कहीं अलोप हो गया। और जाते समय गंगा को प्रणाम करते हुए उस से कह गया, "गंगा माँ ! किसी दिन मेरा यह ख़त मेरी ठकुराइन माँ को पहुँचा आना"— और गंगा उस के लिए ममता से भर गयी। और चार दिन का अन्तर डालकर वह ठकुराइन को ख़त दे आयी।

पर पुलिस ने ताड़ रखा था—दो बार गंगा को कोठी में जाते देखकर उन्होंने पूछताछ के लिए गंगा को जाकर धमकाया था। सुराग़ मिल गया था, पर चन्दनसिंह नहीं मिला।

ख़त भी नहीं मिला था, पर पूछताछ के लिए ठाकुर पृथ्वीसिंह पर सख़्ती होने लगी थी। पुलिस की चढ़ आयी थी।

और सब जानते हैं—जब से मलखानसिंह ने एक पल के लिए ही सही, अस्पताल में चन्दनसिंह का मुँह देखा था, उस के घाव भरने लगे थे।

पर कोई नहीं जानता—बेनू ने जिस दूर बहती कुँआरी नदी का सिर्फ़ नाम सुना था, उसे कभी देखा नहीं था, वह एक रात बेनू के सपने में आ गयी...

बेनू जिस से ब्याही गयी थी, वह अच्छे पैसे वाला व्यापारी था। तालों का व्यापार करता था, पर तन का भी बेढंगा था, मन का भी और जिस के स्पर्श से बेनू को अपना तन-मन भ्रष्ट होता लगता था...

और एक रात सूजे हुए पपोटों को लेकर सोयी हुई बेनू के सपने में आकर कुँआरी नदी ने कहा, 'तू मेरी तरह कुँआरी है, सदा कुँआरी। जैसे मैं किसी के अंग से लगने पर भी कुँआरी रहती हूँ, तू भी इसी तरह पवित्र रहेगी।'

और उस रात से बेनू के मन में कुछ स्थिरता आ गयी थी, साथ ही मन मे धीरज बँधा था. 'यह तन की नहीं, मन की तपस्या है। अगर मेरी तपस्या में बल होगा—वह ज़िन्दा रहेगा...'

सब जानते हैं—ढाक के मीलों लम्बे जंगल में कितने ही गिरोह थे जो आस-पास के गाँवों के गाय-बैल खोलकर ले जाते थे, और फिरौती लेकर लौटा देते थे। लेकिन पुलिस कभी उस जंगल में जाने का साहस नहीं कर सकी थी। पास ही केलादेवी का मन्दिर पड़ता था जहाँ वे डाकू पूजा करने आते थे, लेकिन पुलिस के हाथ नहीं पड़ते थे। अनुमान होता था कि चन्दनसिंह भी शायद उसी जंगल में होगा, पर ख़बर नहीं मिलती थी।

ठाकुर पृथ्वीसिंह पर सख़्ती बढ़ गयी, तो उन के वकील ने सलाह दी कि जैसे-तैसे चन्दन को हाज़िर किया जाये, और फिर रहम की अपील करके उस की सज़ा कम से कम करवायी जाये।

पुलिस ने चन्दन के लिए पाँच हज़ार का इनाम भी रखा था, और पकड़-पकड़ाई में उसके मारे जाने का ख़तरा भी बढ़ गया था।

उधर ग़रीबनी गंगा पर भी पुलिस की सख़्ती बढ़ गयी थी, और एक और भय बढ़ता जा रहा था कि गंगा की जवान लड़की त्रिबेनी की इज़्ज़त ख़तरे में थी। कुछ पुलिस वालों की उसपर बुरी नज़र थी, जिस के कारण गंगा दो बार ठाकुर पृथ्वीसिंह के पाँव पकड़कर रोयी थी।

मलखानसिंह अस्पताल से घर आ गया था, पर चुपचाप चारपाई पर पड़ा रहता था। कभी बोलता तो कहता, "हंसा-मोती की जोड़ी टूट जायेगी ? बताओ, हंसा-मोती की जोड़ी टूट जायेगी ?"

और मलखान की आँखों के आगे जीवन का वह एक दिन फैल जाता, जब चन्दन को, चढ़ती जवानी के समय, मलखान की तरह अखाड़े में जाकर कुश्ती सीखने का शौक़ हुआ था...

चूनी गिर मलखान का उस्ताद था। नौसिखुए चन्दन का दिल रखने के लिए वह मलखान को इशारा कर देता और मलखान कुश्ती के दाँव-पेच सीख रहे चन्दन से उस घड़ी अचानक हार जाता जब चन्दन को बाज़ी हाथ से जाती हुई मालूम होती।

और जीत की ख़ुशी से चन्दन का दिल बढ़ जाता...

यह कैसा समय था, मलखान सोचता कि—वह जानकर कुश्तियाँ हारता रहा और चन्दन को जिताता रहा—

पर अब—अब जब ज़िन्दगी ने दोनों को दाँव पर लगा दिया तो चन्दन सचमुच बाज़ी ले गया।...

वह मलखान को हार से बचाने के लिए, कैसे जिगरे से हार खा गया...

मलखान ज़िन्दा है, मलखान को यही बात अजीब लगती...कि उस के ज़िन्दा रहते हुए चन्दन के पीछे लगी हुई मौत शहरों में भी घूम रही है, जंगलों में भी...और वह कुछ नहीं कर सकता...

'यह कैसा समय है,' मलखान का दिल डुबकी खाता, 'जब ज़िन्दगी हार रही है, और मौत जीत रही है...'

ज़मींदारी की प्रथा समाप्त कर दी गयी थी।

पहले ठाकुर पृथ्वीसिंह ने दो गाँव बेचकर कुछ रुपया इकट्ठा किया था, जो अब तक कुछ गुज़ारे में ख़र्च हो गया था, कुछ पुलिस की नज़र हो गया था। अब सरकार ने जागीरदारी की समाप्ति के समय कुछ बॉण्ड दिये थे, पर वे पन्द्रह-पन्द्रह बरस की मियाद के थे। उन में से कुछ उन्होंने तीस-पैंतीस रुपये सैकड़ा के हिसाब बेचकर फिर कुछ रुपया हाथ में किया, और चन्दनसिंह को हाज़िर करके वह रुपया मुक़दमे में लगाने के लिए रख लिया।

पर चन्दनसिंह की कोई ख़बर नहीं मिल रही थी...

मलखानसिंह के कई घाव भर गये थे, पर यही एक नहीं भर रहा था। उसे बहुत बड़ा ग़म था कि जिस दिन वह होनी हुई थी, उस दिन चन्दन क्यों आ गया था। उसे ही बचाने के लिए चन्दन ने गोली चलायी, नहीं तो चन्दन को काहे का ख़तरा था...और चन्दन का इस तरह जंगलों में मारे-मारे फिरना उसे बिलकुल अपना दोष लगता था।

ठकुराइन की रो-रोकर आँखें रह गयी थीं। फिर रातों को आँख नहीं लगती थी। नींद न आने के कारण आँखों के पपोटे हर समय सूजे रहते। दिन काटे नहीं कटते थे, पर रातें और भी भयानक थीं। उसे पल-पल पर खटके सुनाई देते, कभी इस दरवाज़े से, कभी उस दरवाज़े। लगता उस ने अभी चन्दन के पैरों की आहट सुनी है, कभी खिड़की के शीशे पर उसे चन्दन का हाथ दिखाई देता। वह उठती—दरवाज़े खोलती, तरस उठती—चन्दन कहीं दिखाई दे जाये, साथ ही डरती, चन्दन कहीं इधर न आ निकले...

घर के चारों तरफ पुलिस का पहरा था, पर माँ के ख़यालों में से जन्मा एक साया घर के दरवाज़े और खिड़कियाँ खटखटाता रहता...

कोई नहीं जानता—चन्दनसिंह जब ढाक के जंगल में छिपा था, वह असल में गाय-बैलों के चोरों के रख में जा घुसा था।

दूध-रोटी से उस का स्वागत हुआ था, और देखने में वह गिरोह के मुखिया का ऐसा मेहमान लगता था जिस के सोने के लिए गदेला था और ओढ़ने के लिए रेशमी चादर। पर चन्दन ने जल्द ही जान लिया था कि उस के सो जाने पर भी मुखिया की बन्दूक़ तनी रहती है।

शिकार की जो बन्दूक़ वह साथ लाया था, उस ने मुखिया का विश्वास जीतने के लिए उस के हवाले कर दी थी, पर मन में वह उस घड़ी की प्रतीक्षा में था जब वह मुखिया का भरोसा जीत ले, और मित्र की निशानी के तौर पर उस से एक पिस्तौल माँग ले।

अब उसे बन्दूक़ नहीं छोटी-सी पिस्तौल चाहिए थी...

सरबन मुखिया को चन्दनसिंह ने, जो जैसे हुआ था, सब बता दिया था, और मुखिया का मन ललचा गया था कि ऐसा निशानेबाज़ अगर सारी उम्र उस के गिरोह में रहे तो उस के गिरोह की ताक़त कई गुना बढ़ सकती थी। और मुखिया जानता था—यह जागीरदार है, चाहे इस समय होनी के हाथों झकझोरा हुआ था, पर सारी उमर के लिए गिरोह में रहने वाला नहीं था। वह घर से भी मज़बूत था, और किसी भी दिन सोने-चांदी के बल पर उस के लिए क़ानून को ख़रीदा जा सकता था। और चाहे उस के हाथ से पाँच क़तल हुए थे, वे क़तल करने की ख़ातिर नहीं हुए थे। हमला तो दूसरी गढ़ी वालों ने किया था और इस ने सिर्फ़ अपने बचाव के लिए गोलियाँ चलायी थीं...और अगर कहीं गवाहियाँ सचमुच सीधी पड़ गयीं, तो यह सीधी तरह से क़ानून से बच सकता था।

तो मुखिया सोचता था—किसी न किसी तरह इस के हाथ से किसी पुलिस वाले का या किसी और का ख़ून करवाकर इसे हमेशा के लिए दाग़ी करा दे...

सो, जिस दिन चन्दनसिंह ने मुखिया से एक पिस्तौल की बात की, वह ख़ुशी

से मान गया।

यह वही सरबन मुखिया का पिस्तौल था, जिसे लेकर एक दिन चन्दनसिंह शहर के अस्पताल में अपने भाई को देख आया था।

पर अभी तक चन्दनसिंह ने मुखिया की किसी कारगुज़ारियों में उस का साथ नहीं दिया था। सरबन मुखिया चुप था, पर मौक़े की ताक में था।

बहुत समय हुआ जब ढाक के जंगल की परली ओर एक उड़िया बाबा आया था जिस ने लोगों के खेत और फ़सलें बचाने के लिए गंगा पर बाँध बँधवाया था, और तब से लोग उसे पूजते थे।

फिर उड़िया बाबा के देहान्त की ख़बर भी सुनी गयी थी, और लोगों ने उन के नाम पर कृष्ण की पूजा आरम्भ कर दी थी। पर इन्हीं दिनों ख़बर मिली कि उड़िया बाबा का एक चेला हरिहर बाबा आया है जिस के दर्शनों के लिए लोग गाँवों से टोलियों में आ रहे हैं...

गायें-भैंसें चुराने का भी यह क़ीमती अवसर था। मुखिया ने लोग इस के लिए तैयार किये, और एक काम चन्दनसिंह के ज़िम्मे भी कर दिया ऐसे ही हँसी-मज़ाक़ में—और चन्दनसिंह को किसी तरह दाग़ी करने के लिए। कहा, "भई, चन्दन यार! हरिहर बाबा कीर्तनिये का नाम सुना है? बस, उस का छैना-मजीरा उठा ला, जंगल में कुछ मौज-मेला ही रहेगा..."

मुखिया चन्दनसिंह के हाथ से कोई बड़ा कारनामा करवाने से पहले, यह छोटा-सा कुछ करवा कर, उसे जागीरदारी के आसन से उतारकर अपने साथ मिला लेना चाहता था...

पर चन्दनसिंह ने उस की नीयत को बूझ लिया था। कहा कुछ नहीं, हामी-सी भी भर दी, पर सारी रात सो न सका...

जो ख़ून उस के माथे पर लगा हुआ था, चन्दन सिंह उस के कारण लज्जित नहीं था, बल्कि कहीं मन में उसे अपने बहादुर माथे पर वह तिलक के समान लगता था, लेकिन यह काम—जो सरबन मुखिया कह रहा था, उसे चोर-उचक्कों का काम लगता था। उस का मन घिनिया गया...

मन में किसी जगह यह भी था कि उसे एक दिन, ईश्वर का तो पता नहीं, पर बेनू को सारा हिसाब देना है। इसी लिए उस ने आते ही मुखिया से एक आदमी माँगकर, लौंगवती के ससुराल के गाँव भेजकर बेनू का नाम नहीं लिया था, पर बेनू के लिए सन्देशा भिजवाया था—'चन्दनसिंह ने पाँच क़तल किये हैं, ज़रूरत पड़ने पर। पर नील सरोवर की मुर्ग़ाबी नहीं मारी...'

चन्दनसिंह को सोते-बैठते अगर ठकुराइन माँ की ममता का ध्यान आता था, तो बेनू का प्यार भी जागकर, उस का मन बेध जाता था...

और अब—हरिहर बाबा के छैने-मजीरों की चोरी ?—चन्दन का खाया-पिया मुँह को आने लगा...

एक विचार यह भी आने लगा—भला अगर मैं वहाँ से न भागता, उसी तरह हाथ में बन्दूक़ लिये थाने में बैठ जाता, तो मुक़दमा ही चलता, और क्या होता, दिन के उजाले की तरह प्रत्यक्ष था कि हमला तो हमारी गढ़ी पर हुआ था, मैं कौन-सा दुश्मनों को उन के घर मारने गया था...

पर गर्मी में जो हो गया, हो गया। वह दूर की दृष्टि नहीं थी, पर चन्दनसिंह अब उस घड़ी को लौटा नहीं सकता था...

और उस का मन एक और चिन्ता से डूबने लगा, 'मैं निर्दोष हूँ, पर आख़िर तो नील सरोवर की मुर्ग़ाबी गोली से बिंध गयी...अब तक बेनू न जाने किस के घर बस गयी होगी...'

और उस रात चन्दनसिंह के माथे में एक टीस उठी—जीने के लिए जिस रास्ते पर चल पड़ा था, उसी रास्ते के कारण बेनू बिछुड़ गयी...और चन्दनसिंह को जीने का यह रास्ता अकारथ प्रतीत होने लगा। मन में आया—जंगलों में भटककर मरने से अच्छा है जेल में जाकर ही मर जाऊँ, अँधेरे के एक कोने में बैठकर—यह तो उजाला भी चोरी का है...

और सब जानते हैं—जिस पुलिस वाले की त्रिबेनी पर बुरी नजर थी, वह मौक़ा ताककर एक दिन उस समय गंगा के घर आ गया था जब गंगा घर में नहीं थी...

और पुलिस वाले के लिए दरवाज़ा खोलने के पछतावे के कारण त्रिवेनी की चीख़ निकल गयी थी...

हाथापाई में त्रिबेनी के कपड़े लीर-लीर हो गये थे, और दरवाज़े के कुंडे में त्रिबेनी की चीखें अड़ी हुई थीं, तब दरवाज़े पर बाहर से लात पड़ी थी, और दरवाज़े के टूटे हुए तख़्ते को परे हटाकर चन्दनसिंह वहाँ आ पहुँचा था...

अब हाथापाई त्रिबेनी की नहीं थी, चन्दन और पुलिस वाले की थी...एक क्षण के लिए चन्दनसिंह को पछतावा आया कि आते समय वह सरबन मुखिया की पिस्तौल क्यों छोड़ आया, वह यूँ तो अपने आप को पुलिस के हवाले करने के लिए आया था, पर रास्ते के लिए हाथ में हथियार तो ले ही आता। पर दूसरे ही क्षण चन्दनसिंह को यह बात ग़नीमत मालूम हुई कि इस समय उस के हाथ में पिस्तौल नहीं थी, नहीं तो एक ख़ून और उस के सिर मढ़ जाता...

एक पुलिस वाले को धर दबोचने के लिए चन्दनसिंह बहुत तगड़ा था—वैसे भी पुलिस वाले के माथे दोष मढ़ती हुई एक नंगी गवाही सामने खड़ी थी, जिस का डर उसे अन्दर से भी काट रहा था। चन्दनसिंह की टाँग को चारपाई के पाये से क़रारी चोट लगी, पर उस ने जल्दी ही उस पुलिस वाले को बाँध-जूड़कर कोने में डाल दिया था।

तब तक गंगा आ गयी, जो वस्त्रहीन त्रिबेनी के मुँह से, जो हुआ था, सुनकर सिर पकड़कर बैठ गयी।

"जाओ, गंगा माँ! उठो! थाने में ख़बर कर दो!" चन्दनसिंह ने गंगा को धीरज दिया।

"नहीं बेटा! यह मैं नहीं करूँगी...तुम ने मेरी बेटी की इज्ज़त बचायी है, तुम्हें किस तरह थाने में दे दूँ?" गंगा रोने लगी।

"और यह जो मुरदार आँखें फाड़े बैठा हुआ है, इस का क्या करना है?" चन्दनसिंह ने बँधे हुए सिपाही की ओर हाथ से इशारा किया।

"इसे किसी कुएँ में फेंक दो, और तुम बचकर निकल जाओ!" गंगा बिलखने लगी।

"नहीं, गंगा माँ!" आज चन्दनसिंह के सामने उस का मार्ग निश्चित हो गया था। कहने लगा, "मैं आज भाग जाने के लिए नहीं आया हूँ। जो किया है, उसे भुगतूँगा, इसी लिए आया हूँ। सीधा थाने जा रहा था, लेकिन रास्ते में तुम से यह कहने चला आया कि जाकर मेरे माता-पिता को ख़बर दे दो..."

और चन्दनसिंह ने चारपाई के पाये के पास थूककर कहा, "इस कुत्ते की जून को मैं ने इसी लिए जान से नहीं मारा...भई, इस के गन्दे ख़ून से क्यों अपने हाथ लथेड़ूँ, जो इस के सगे हैं वही इस से निबटेंगे।"

गंगा ने अपने ऊपर और ठाकुर-ठकुराइन पर की जा रही पुलिस की सख़्ती की दास्तान सुनायी, पर अभी तक उस का मन यह नहीं मानता था कि चन्दन सिंह थाने में हाज़िर हो।

"मेरे बूढ़े माँ-बाप कब तक ये सख़्तियाँ सहेंगे? मैं एक बार हाज़िर हो जाऊँ तो वे तो बच जायेंगे..." चन्दनसिंह ने फिर गंगा को समझाया, और कहा, "जाने को तो मैं अपने-आप ही थाने चला जाऊँ, तुम से इस लिए कह रहा हूँ क्योंकि

सरकार ने मुझे पकड़वाने के लिए पाँच हज़ार रुपये देने का ऐलान किया है, वे क्यों फ़िज़ूल में जायें, वे तुम्हें मिल जायें तो मुझे तसल्ली होगी ..."

"हाय राम !" गंगा के मुँह से निकला, और उस ने कानों पर हाथ रख लिये। कहने लगी, "यह तो सुनने से भी मुझे पाप लगता है, बेटा ! तुम्हें बेचकर उस रुपये की रोटी खाऊँगी !"

चन्दनसिंह के मन में पिछले दिनों की वह याद उभर आयी—जो उस ने सरबन मुखिया के मुँह पर पढ़ ली थी—'साला ! कितने दिन हमारे साथ नहीं मिलता ! बहुत हठ करेगा तो थाने में देकर पाँच हज़ार तो कमा ही लेंगे...'

और चन्दनसिंह का मन गंगा के लिए पिघल गया। गंगा के हाथ बँधे हुए थे, "पुलिस को ख़बर हुई तो बात शहर में फैल जायेगी, मेरी कुँआरी लड़की को कचहरी जाना पड़ेगा गवाही के लिए...और फिर...फिर मेरी लड़की को कौन ब्याहेगा ? वह तो घर-घर बदनाम हो जायेगी..."

चन्दनसिंह कितनी ही देर तक सिर थामे बैठा रहा। यह सच था कि पुलिस वाले का दोप साबित करने के लिए त्रिवेनी की गवाही ज़रूरी थी...और...

आख़िर माथे पर लिखी हुई तक़दीर की तरह चन्दनसिंह ने सिर उठाकर गंगा की ओर देखा और कहा, "गंगा माँ ! तुम्हारे साथ कौल करता हूँ, मैं जब जेल से छूटकर आऊँगा, आकर तुम्हारी लड़की से ब्याह करूँगा..."

और सब जानते हैं—उस दिन चन्दनसिंह ने थाने जाकर आत्म-समर्पण कर दिया...

पर कोई नहीं जानता—यह ख़बर जब गाँवों-शहरों में फैल गयी, और अफ़-वाह फैल गयी कि अव्वल तो चन्दनसिंह को फाँसी लगेगी, या फिर उमर क़ैद होगी, तब बेनू के दिल पर क्या गुज़री...

लौंगवती का ब्याह बहुत छोटी आयु में हुआ था। वह कई-कई महीने

अब हाथापाई त्रिबेनी की नहीं थी, चन्दन और पुलिस वाले की थी...एक क्षण के लिए चन्दनसिंह को पछतावा आया कि आते समय वह सरबन मुखिया की पिस्तौल क्यों छोड़ आया, वह यूँ तो अपने आप को पुलिस के हवाले करने के लिए आया था, पर रास्ते के लिए हाथ में हथियार तो ले ही आता। पर दूसरे ही क्षण चन्दनसिंह को यह बात ग़नीमत मालूम हुई कि इस समय उस के हाथ में पिस्तौल नहीं थी, नहीं तो एक ख़ून और उस के सिर मढ़ जाता...

एक पुलिस वाले को धर दबोचने के लिए चन्दनसिंह बहुत तगड़ा था—वैसे भी पुलिस वाले के माथे दोष मढ़ती हुई एक नंगी गवाही सामने खड़ी थी, जिस का डर उसे अन्दर से भी काट रहा था। चन्दनसिंह की टाँग को चारपाई के पाये से क़रारी चोट लगी, पर उस ने जल्दी ही उस पुलिस वाले को बाँध-जूड़कर कोने में डाल दिया था।

तब तक गंगा आ गयी, जो वस्त्रहीन त्रिबेनी के मुँह से, जो हुआ था, सुनकर सिर पकड़कर बैठ गयी।

"जाओ, गंगा माँ ! उठो ! थाने में ख़बर कर दो !" चन्दनसिंह ने गंगा को धीरज दिया।

"नहीं बेटा ! यह मैं नहीं करूँगी...तुम ने मेरी बेटी की इज्ज़त बचायी है, तुम्हें किस तरह थाने में दे दूँ ?" गंगा रोने लगी।

"और यह जो मुरदार आँखें फाड़े बैठा हुआ है, इस का क्या करना है ?" चन्दनसिंह ने बँधे हुए सिपाही की ओर हाथ से इशारा किया।

"इसे किसी कुएँ में फेंक दो, और तुम बचकर निकल जाओ !" गंगा बिलखने लगी।

"नहीं, गंगा माँ !" आज चन्दनसिंह के सामने उस का मार्ग निश्चित हो गया था। कहने लगा, "मैं आज भाग जाने के लिए नहीं आया हूँ। जो किया है, उसे भुगतूँगा, इसी लिए आया हूँ। सीधा थाने जा रहा था, लेकिन रास्ते में तुम से यह कहने चला आया कि जाकर मेरे माता-पिता को ख़बर दे दो..."

और चन्दनसिंह ने चारपाई के पाये के पास थूककर कहा, "इस कुत्ते की जून को मैं ने इसी लिए जान से नहीं मारा...भई, इस के गन्दे ख़ून से क्यों अपने हाथ लथेड़ूँ, जो इस के सगे हैं वही इस से निबटेंगे।"

गंगा ने अपने ऊपर और ठाकुर-ठकुराइन पर की जा रही पुलिस की सख़्ती की दास्तान सुनायी, पर अभी तक उस का मन यह नहीं मानता था कि चन्दन सिंह थाने में हाज़िर हो।

"मेरे बूढ़े माँ-बाप कब तक ये सख़्तियाँ सहेंगे? मैं एक बार हाज़िर हो जाऊँ तो वे तो बच जायेंगे..." चन्दनसिंह ने फिर गंगा को समझाया, और कहा, "जाने को तो मैं अपने-आप ही थाने चला जाऊँ, तुम से इस लिए कह रहा हूँ क्योंकि

सरकार ने मुझे पकड़वाने के लिए पाँच हज़ार रुपये देने का ऐलान किया है, वे क्यों फ़िज़ूल में जायें, वे तुम्हें मिल जायें तो मुझे तसल्ली होगी ..."

"हाय राम !" गंगा के मुँह से निकला, और उस ने कानों पर हाथ रख लिये। कहने लगी, "यह तो सुनने से भी मुझे पाप लगता है, बेटा ! तुम्हें बेचकर उस रुपये की रोटी खाऊँगी !"

चन्दनसिंह के मन में पिछले दिनों की वह याद उभर आयी—जो उस ने सरबन मुखिया के मुँह पर पढ़ ली थी—'साला ! कितने दिन हमारे साथ नहीं मिलता ! बहुत हठ करेगा तो थाने में देकर पाँच हज़ार तो कमा ही लेंगे...'

और चन्दनसिंह का मन गंगा के लिए पिघल गया। गंगा के हाथ बँधे हुए थे, "पुलिस को ख़बर हुई तो बात शहर में फैल जायेगी, मेरी कुँआरी लड़की को कचहरी जाना पड़ेगा गवाही के लिए...और फिर...फिर मेरी लड़की को कौन ब्याहेगा ? वह तो घर-घर बदनाम हो जायेगी..."

चन्दनसिंह कितनी ही देर तक सिर थामे बैठा रहा। यह सच था कि पुलिस वाले का दोष साबित करने के लिए त्रिबेनी की गवाही ज़रूरी थी...और...

आख़िर माथे पर लिखी हुई तक़दीर की तरह चन्दनसिंह ने सिर उठाकर गंगा की ओर देखा और कहा, "गंगा माँ ! तुम्हारे साथ कौल करता हूँ, मैं जब जेल से छूटकर आऊँगा, आकर तुम्हारी लड़की से ब्याह करूँगा..."

और सब जानते हैं—उस दिन चन्दनसिंह ने थाने जाकर आत्म-समर्पण कर दिया...

पर कोई नहीं जानता—यह ख़बर जब गाँवों-शहरों में फैल गयी, और अफ़वाह फैल गयी कि अव्वल तो चन्दनसिंह को फाँसी लगेगी, या फिर उमर क़ैद होगी, तब बेनू के दिल पर क्या गुज़री...

लौंगवती का ब्याह बहुत छोटी आयु में हुआ था। वह कई-कई महीने

मायके रहती, कई-कई महीने ससुराल में, पर वह बरसों अपने मर्द से अलग रही थी।...वह शहर के कॉलिज में पढ़ता रहा। जब ब्याह हुआ, वह छोटी आयु का था, पर अब वह वकालत पास करके मध्यप्रदेश के दतिया ज़िले में वकालत करने लगा था, और लौंगवती अब बेनू से कोई दो सौ मील की दूरी पर थी।

काफ़ी अर्से से वह जब भी अपने पीहर के गाँव गयी थी उस का लौंगवती से मिलना नहीं हुआ था। लौंगवती वहाँ नहीं होती थी। एक बार बस कोई आधे दिन के लिए मुलाक़ात हुई थी—बेनू अभी गाँव के बाहर पैर रखने वाली ही थी कि लौंगवती आ गयी। अब बेनू को केवल एक ही लालसा थी—किसी तरह लौंगवती मिले, और वह लौंगवती के वकील पति से चन्दनसिंह के बचाव के लिए कोई जतन करने के लिए कहे।

बेनू को मालूम था—ठाकुर पृथ्वीसिंह उस के बचाव के लिए धन-दौलत भी पानी की तरह बहा देंगे, और बड़े लोगों की सिफ़ारिशें भी पहुँचायेंगे। पर कितने ही जतन क्यों न हों, वे उस के मन को हमेशा कम लगते थे...

और एक दूसरी बात बेनू के मन में यह आयी—एक बार बातें करते हुए लौंगवती ने स्वाभाविक रूप से कहा था कि दतिया ज़िले में एक नदी बहती है जिस के पानी में नहाकर जो मुराद माँगो वह पूरी होती है। चाहे उस समय बेनू ने टूटे हुए मन से कहा था, 'मुझे क्या, अब मुझे किस की मुराद माँगनी है, इस जनम में तो अब मुराद कोई नहीं रही...' लेकिन आज बेनू को लगा—'अब चन्दन मुझे नहीं मिल सकता, न सही, पर इस दुनिया में वह जीता तो रहे...' और बेनू को लगा, यह सब से बड़ी मुराद थी जो वह किसी ईश्वर से माँग सकती थी...

पर लौंगवती तक पहुँचने का रास्ता नहीं दिखाई देता था। बेनू का पति बड़ा बेढब आदमी था, बेनू जानती थी। इस लिए बेनू को चारों ओर अँधेरा दिखाई देने लगा...

फिर जैसे अँधेरे में बिजली चमक जाती है, बेनू को ख़याल आया—उस का हमल जो पिछले बरस छठे महीने गिर गया था, अगर उस की बात चलाकर, सन्तान की मन्नत मनाने के लिए, वह अपने पति को मनाये, तो क्या मालूम वह मान ही जाये, और उसे लौंगवती के पास कुछ दिनों के लिए भेज दे...

बेनू का विचार सही उतरा। उस के आदमी ने अपने एक बूढ़े नौकर को उस के साथ भेजना मान लिया, पर साथ ही यह भी कहा, "रास्ता अच्छा नहीं है, दिन-दहाड़े लॉरियाँ लूटी जाती हैं, सोने का छाप-छल्ला भी पहनकर मत जाना..."

बेनू के मन में चीख़ जैसा विचार आया—जो लूटा जा सकता था, वह तो जग ने लूट लिया, अब बाक़ी क्या रह गया है...

और कोई नहीं जानता—यह चीख़ बेनू की अपनी छाती में से उठी, और फिर उस के अपने कानों में से होकर उस की अपनी छाती में ही समा गयी...

सब जानते हैं—पहली पेशी में जब सिपाही की करतूत सामने आयी तो सरकारी वकील ने त्रिवेनी को गवाह के कठघरे में खड़ा करके जो निर्लज्जतापूर्ण सवाल पूछे, उन्हें सुनकर हथकड़ी-लगे चन्दनसिंह की आँखों में ख़ून उतर आया, और ऐसी गरज के साथ उस ने सरकारी वकील को मुँहतोड़ जवाब दिया कि उस की धमक सारी कचहरी में बैठ गयी।

चन्दनसिंह ने क्रोध को उगला भी था, पिया भी था, जो कहा था उबलकर कहा था, पर दलील से कहा था, "वकील साहब ! उस क़ानून की लाठी ने कैसे लड़की पर हाथ डाला, पहले बाँह पर या टाँग पर—ये क्या पूछने की बातें हैं ? एक बदतमीज़ी तो उस ने की, दूसरी आप क्यों करते हैं ?—बस, यह जान लीजिये कि किस नीयत से आया था, सवाल नीयत का होता है, कर्म का नहीं..."

और चन्दनसिंह पहली पेशी में ही लोगों की समझ में मुक़दमा जीत गया था। पर जो सरकारी मशीनरी को पुर्ज़ा-पुर्ज़ा जानते हैं, वे समझ गये कि अब चन्दनसिंह का छूटना मुश्किल है।

भले ही चन्दनसिंह के वकील ने सिपाही की नीयत के बारे में बताते हुए यह भी कहा था, "अच्छे-बुरे हर क्षेत्र में होते हैं, इस के कारण किसी भी क्षेत्र का अपमान नहीं हो जाता," लेकिन पुलिस कहाँ-कहाँ और कैसे-कैसे वैर निकालेगी, उस का कुछ अनुमान सब को हो गया था।

और जब जानते हैं—सात दुशालों में ढँकी हुई और पालकी के रेशमी आसन पर बैठने वाली ठकुराइन चन्दनसिंह की हर पेशी के दिन कचहरी के रोड़ों पर बैठी रहती थी।

चन्दनसिंह की ज़मानत नहीं हुई थी। और ठाकुर पृथ्वीसिंह को सब से बड़ा दुःख इस बात का था कि अंग्रेज़ों के ज़माने में कांग्रेस के जो लीडर उस की गढ़ी में पनाह लिया करते थे, आज उन्हीं के राज में उस के लड़के की ज़मानत भी नहीं हो रही थी...

दिन के उजाले जैसा सच यह था कि ठाकुर पृथ्वीसिंह की गढ़ी उखड़ने से चौधरी भूपसिंह की गढ़ी और ताक़त पकड़ गयी थी, और गाँव के गवाह, जो हंसा-मोती की जोड़ी के टूटने पर हाथ मलते थे, अब चौधरी भूपसिंह का ज़ोर बढ़ते ही आँखें फेर गये थे।

और अब सरकार के दरबार में जो ओहदेदार थे, जो एक लम्बे समय से ठाकुर पृथ्वीसिंह के ऋणी थे, अब चौधरी भूपसिंह का सोना अपने-अपने घरों में डालकर, ठाकुर पृथ्वीसिंह के लिए डूबी हुई रक़म के समान हो गये थे...

गंगा और त्रिबेनी ठकुराइन के दायें-बायें उस की बाँहों की तरह बैठ जाती थीं। गंगा और त्रिबेनी को पुलिस के ज़ोर-धक्के से बचाने के लिए ठकुराइन ने अपनी हवेली में आश्रय दे दिया था। गंगा ठकुराइन की ताबेदारी में थी, रसोई का काम भी अब वह ही सँभालती थी, लेकिन ठकुराइन ने उसे कभी नौकरानी नहीं समझा।

त्रिबेनी—चुप, छाया की तरह, ठकुराइन के साथ रहती, और ठकुराइन बेटे के मोह में पिघली हुई-सी त्रिबेनी को उस के नाम का वास्ता भी देती थी—"ऐ मेरे राम ! मैं ने तो कोई पाप किया होगा जो मेरे दूध का कोई दोष मेरे बेटे को लग गया, पर इस कुँआरी कन्या ने कोई पाप नहीं किया, तुम इस की माँग में सिन्दूर भर दो..."

ठकुराइन ने अपने बेटे का वचन पूरा करने के लिए मन में धार लिया था कि चन्दन जब छूटकर घर आयेगा, मैं अपने हाथ से, अपने ख़ानदान की सारी मर्यादा भुलाकर, यह पुण्य कमाऊँगी।

जो कुछ हुआ था उस के लिए ठाकुर के मन में पछतावा नहीं था, पर ठकुराइन के मन में यह अवश्य था कि उस के अकड़बाज़ पति के हाथों कई ग़रीब लाचार सताये गये थे और उस की हर समय की वासना ने ही उन्हें ये दिन दिखाये थे...

ठकुराइन कचहरी के बाहर बैठी होती तो कई मनचले पास से गुज़रते हुए त्रिबेनी की ओर उँगली से इशारा करके कह जाते, "है तो रईसज़ादा न, क्या मालूम जेल में भी रखैल को साथ ले जाये..."

ठकुराइन अपनी आँखों में उतरते हुए ख़ून को छिपा लेती, और साथ ही त्रिबेनी को अपने सिर पर ली हुई चादर के पल्ले से ओट में कर लेती।

औरत की मजबूरी का जो सन्ताप पति के कई रखैलें रखने के कारण उस ने

जवानी में भी नहीं जाना था, वह इस उम्र में, नंगी सड़क पर, त्रिबेनी के मुँह की ओर देखकर भुगत रही थी...

और सब जानते हैं—गिनती की कुछ पेशियों के बाद चन्दनसिंह को फाँसी का हुक्म हो गया।

पर कोई नहीं जानता—शिवरात्रि के दिन मध्यप्रदेश के दतिया ज़िले की सिंध नदी पर जिस समय आसपास के गाँवों से हज़ारों की गिनती में लोग आकर पर्व मना रहे थे—उस समय लाल किनारी की सफ़ेद धोती में लिपटी हुई एक परदेसी औरत सिंध नदी के सनकुएँ में खड़े होकर ईश्वर नाम की शक्ति से क्या मुराद माँग रही थी...

लोग सिंध नदी का जल इतना पवित्र मानते हैं कि आसपास के गाँव वाले शिवरात्रि को काँवर भरने आते हैं। काँवर एक बहँगी-सी होती है, जिस के मोटे डण्डे से दोनों तरफ़ दो मटकियाँ बँधी रहती हैं। ऊपर से इसे लाल कपड़े से ढँका और सजाया जाता है, दोनों तरफ़ फूलों के हार भी लटकाये जाते हैं। और सिंध नदी में मटकियाँ भरने के बाद जब लोग काँवर को अपने-अपने गाँव ले जाते हैं तो रास्ते में साँस लेने के लिए इसे धरती पर नहीं रखते। रास्ता चाहे कितना ही लम्बा हो, साथियों से कंधा बदल लेते हैं, पर काँवर को भूमि पर नहीं रखते। वे सारे समय चलते रहते हैं, और शिव की स्तुति गाते रहते हैं...

वेनू ने सिंध नदी में पैर डालने से पहले जब एक काँवर जाते देखी, शिव-स्तुति सुनी—साथ ही मनुष्य-जीवन की असारता, उस का मन भर आया...कुछ लोग काँवर उठाये गा रहे थे :

बड़े भए तो का भए, जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर॥
बोलो कि भाई, बम बोलो......

बेनू मानो हज़ारों विचारों में से गुज़र गयी हो—'एक वह काँवर भी है, जो किसी को दिखाई नहीं देती...मैं ने, बरसों बीत गये, प्यार की नदी से आँखों की मटकियाँ भरी थीं...आज तक उन्हें भूमि पर नहीं रखा है...इस बहँगी को कन्धे पर उठाये घूम रही हूँ...सिर्फ़ चुप हूँ, बोल नहीं सकती...'

और बेनू का मन आराधना में बँध गया—"हे शिवशक्ति ! क्या मेरी लगन का कोई फल नहीं ? क्या मेरे प्यार की नदी तेरी सिंध नदी जैसी नहीं ?...ज़िन्दगी अकारथ ही सही...खजूर का पेड़ ही सही...मेरा हाथ नहीं पहुँचता, न सही...मुझे उस की छाया नहीं चाहिए...सिर्फ़ उस पर फल लगा दो !...दूर का फल...जिसे मैं नहीं तोड़ूँगी...मैं नहीं खाऊँगी..."

सिंध नदी की कथा सुनाते हुए शिव मन्दिर के पुजारी ने बेनू को बताया, "ब्रह्मा के चार मानस-पुत्र थे—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—वे यहाँ आये। यहाँ मीलों तक कहीं पानी नहीं था। वे तपस्या करने बैठ गये। यह उन की तपस्या का प्रताप था कि दूर बहने वाली सिंध नदी ने अपनी धारा बदल दी, और मीलों का चक्कर काटकर वह मानस-पुत्रों के चरणों में बहने लगी..."

और बेनू लाल किनारी की सफ़ेद धोती में लिपटी, सिंध नदी के सनकुएँ में खड़े होकर, हाथ फैलाकर, ईश्वर की शक्ति से माँगने लगी, "मैं सारी ज़िन्दगी प्यासी रही हूँ, प्यासी रहूँगी। मैं उस की ज़िन्दगी के पानी को मुँह से नहीं लगाऊँगी, पर उस की ज़िन्दगी का पानी उसे लौटा दो।...हम भी मानस-पुत्र हैं, मेरे ईश्वर ! दोषों से भरे हुए, मोह से, क्रोध से, अहंकार से भरे हुए...पर हमारे भी दुख-सुख हैं...हम भी तपस्या करते हैं...अपनी समझ से, जैसा भी ढंग हमें आता है...जैसी भी समझ तुम ने हमें दी है...हम भी तुम्हारे मानस-पुत्र हैं, बड़े नगण्य ही सही...क़िस्मत की नदी का रुख़ मोड़ दो, मालिक !...मैं और कुछ नहीं माँगती...किसी और जन्म में माँगूंगी...इस जन्म में बस इतना दे दो...वह जीता रहे...मैं चाहे सारी उम्र उसे न देख सकूँ..."

और बेनू ईश्वर से सौदा भी करती रही, हठ भी, प्रार्थना भी...

उस रात लौंगवती के पति शिवचरन ठाकुर ने विस्तार सहित चन्दनसिंह के मुक़दमे को सुना, समझा और फाँसी के हुक्म के बाद भी हाई कोर्ट में अपील करने के लिए काग़ज़ तैयार करने लगा। उस ने लौंगवती का नाम लेकर, ठाकुर पृथ्वीसिंह के पास ख़ुद ही बिना बुलाये जाना स्वीकार कर लिया था। बेनू ने यह बात पक्की कर ली थी कि वह उस का नाम किसी तरह भी चन्दनसिंह के या उस के घर वालों के सामने नहीं लेगा।

बेनू के आने से पहले, शिवचरन ठाकुर लौंगवती के मुँह से बेनू की क़िस्मत की कथा सुन चुका था, पर बेनू को देखकर, और उस से बात करके वह बेनू के

प्रति मोह, प्यार और श्रद्धा से भर गया।

कल एक बार शिवचरन ठाकुर ने बेनू के मन की थाह लेने के लिए कहा था, "अब तक शायद चन्दनसिंह को तुम्हारा नाम भी याद न रहा हो बेनू! यह सब तुम्हारा अपना सोचा और पाला हुआ स्नेह है..."

...तो बेनू हँस-सी पड़ी थी। कहने लगी, "दाऊ! नेह भी ब्रह्मा का रूप होता है। ब्रह्मा भी तो अपने में से ही जन्मे थे। ब्रह्मा की कौन माँ थी, कौन पिता था?"

और शिवचरन ठाकुर को बेनू के प्यार की थाह मिल गयी थी। आज दोपहर को जब बेनू नदी से लौटी, कचहरी में शिवरात्रि की छुट्टी होने के कारण शिवचरन ठाकुर घर पर ही था। बेनू ने लौंगवती के साथ एक ही थाली में खाना खाते समय ठाकुर साहब से पूछा, "दाऊ! मैं तो पढ़ी-लिखी नहीं हूँ, तुम ने तो वेद भी पढ़े होंगे, यह बताओ कि ब्रह्मा के ये पुत्र मानस-पुत्र किस तरह हुए? देवताओं के घर मानस-पुत्र कैसे जन्मे?"

शिवचरन ठाकुर हँस दिया। बोला, "यहाँ सब यही कहते हैं। कोई इन की जननी का नाम नहीं जानता। शायद वह धरती की औरत हो...तुम्हारे जैसी या लौंगवती जैसी..." और फिर गम्भीर होकर उस ने कहा, "असल में शब्द मानस-पुत्र नहीं मानसिक पुत्र है..."

बेनू के हाथ का कौर हाथ में ही रह गया। बोली, "फिर तो बात और भी कठिन हो गयी...क्या शारीरिक पुत्र और होते हैं, मानसिक पुत्र और?"

शिवचरन ठाकुर ने अभी कोई उत्तर नहीं दिया था कि लौंगवती हँसने लगी और बोली, "तुझे मैं बताती हूँ..."

लौंगवती के एक ही पुत्र था—सात बरस का, सरन, जिसे शिवचरन ठाकुर गाँवों के स्कूलों में नहीं, शहर के किसी अच्छे स्कूल में पढ़ाना चाहता था, इस लिए उस ने उसे मसूरी के एक स्कूल के होस्टल में रखा था। लौंगवती उसी का नाम लेकर कहने लगी, "जैसे सरन मेरा शारीरिक पुत्र है—पर अब जब चन्दनसिंह जेल से छूटकर आयेगा, आकर ब्याह करेगा, अब तू तो उसे मिल नहीं सकती, कोई और ही मिलेगी, फिर उस के घर जो पुत्र जन्म लेगा, वह तेरा मानसिक पुत्र होगा..."

लौंगवती की बात पर शिवचरन ठाकुर आँखें नीची किये हँसता रहा, पर बेनू को लगा कि एक पल के लिए जैसे उस के सब दुख दूर हो गये हों, और उसे लौंगवती का मुँह चन्दनसिंह के फांसी से बचने का वर देता हुआ प्रतीत हुआ...

इस घड़ी उसे शारीरिक पुत्र और मानसिक पुत्र का फ़र्क़ नहीं छू सकता था, शायद कभी भी नहीं छू सकता था, पर इस घड़ी तो निश्चित रूप से नहीं...

बेनू के बस की बात होती तो वह चन्दनसिंह के जेल से छूटने तक सनकुएँ के

जल में खड़ी ब्रह्मा के मानस-पुत्रों की भाँति तप करती रहती। पर वह अपनी मजबूरियाँ जानती थी—उस ने सिर्फ़ सात दिन प्रार्थना करने का मन से प्रण किया।

शिवचरन ठाकुर उस के पीठ पीछे लौंगवती से कहता, "मानस-पुत्रों के तप की कथा तो लोग हमेशा जानेंगे, पर एक मानस-पुत्री ने कैसा तप किया, यह बात कोई नहीं जानेगा...शायद चन्दनसिंह को भी कभी पता नहीं चलेगा .."

लौंगवती का मन जैसे डूबता हो—"अगर अपील ख़ारिज हो गयी, चन्दन-सिंह को सचमुच फाँसी लग गयी...तो इस मानस-पुत्री का क्या हाल होगा..."

बेनू के मन में जिस की लगन लगी हुई थी, लौंगवती ने सिर्फ़ उसी की बातें की थीं। घर के और दुख-सुख की बात पूछकर उस के ध्यान को नहीं बँटाया था। पर सात दिन के बाद जब बेनू के विदा होने की रात आयी तो लौंगवती का मन ऐसा डूबता महसूस हुआ कि उस ने उस से बीती बातें छेड़ दीं...

बेनू सवेरे की पूजा करने के लिए जब नदी पर चली जाती थी, उस का नौकर, जो उस के साथ आया था, लौंगवती की रसोई में उस का हाथ बँटाता था और बेनू बीबी के साधु-स्वभाव की छोटी-छोटी बातें भी लौंगवती से कभी-कभी किया करता था। इस समय लौंगवती ने उसी की बात को दुहराया, "बेनू ! तेरा नौकर अच्छा आदमी है। बता रहा था कि बाई तो सवेरे के समय नाम लेने योग्य है, पर मालिक का स्वभाव और है...तेरी कैसी निभती है ?"

बेनू हँसने लगी। बोली, "तुम तो जानती हो, उन का तालों का व्यापार है। मैं ने और तो कुछ उन से लिया-दिया नहीं; पर एक चीज़ उन से ज़रूर ली है, एक ताला, और मैं ने उसे अपने विचारों पर लगा लिया है..."

बेनू हँस रही थी, पर लौंगवती रुआँसी हो गयी। वैसे बात एक ही थी।

लौंगवती ने भरे मन से कहा, "ऐसी ब्याही होने से तो तू कुँआरी अच्छी थी, विचार तो अपने थे..."

बेनू शान्त थी, हलकी आवाज़ में कहने लगी, "तुमने तो जतन करके देख लिया था, पर लड़की के लिए कुँआर-कोठा बनाने के वास्ते सिर पर माँ-बाप की छत होनी चाहिए..."

लौंगवती दुख से भरी कहने लगी, "और अब माँ-बाप की छत ख़ुश है ? ख़ाली हो गयी है न तुझे बाहर निकालकर...".

बेनू के मन का धुआँ कुछ थोड़ा-सा निकला, "अब तो माँ भी जब बुलाती है, उस के घर जाने को जी नहीं करता...जब मैं मिन्नतें करती थी तब छत के नीचे रहने न दिया..."

और बेनू हिरखकर कहने लगी, "यह लछमन-रेखा सिर्फ़ सीता के पाँवों के आगे नहीं थी, हर औरत के पैरों के आगे होती है। यह जो ब्याह होता है न,

लछमन-रेखा के समान होता है, बस एक बार पैर उस रेखा को पार कर ले, उस लकीर-सी को, औरत लौटकर पीछे नहीं आ सकती..." और बेनू सोच में डूबती हुई कहने लगी, "सीता का तो कोई राम था, उसे लंका से भी लौटा लाया, पर साधारण औरत का कोई राम नहीं होता जो उसे लौटा लाये .."

और बेनू चुप हो गयी...

इस के आगे वह जगह थी, जहाँ बेनू ने सच ही कहा था—'विचारों पर भी ताला पड़ जाता है...'

विचार आगे नहीं जा सकते थे, पीछे मुड़े। लौंगवती ने पूछा, "गाँव में ख़बर-सी सुनी थी कि तेरे आदमी ने और भी कोई औरत रखी हुई है, कोई कुजातन, यह कहाँ तक ठीक है?"

"इस में क्या ख़ास बात है?" बेनू फिर हँस-सी पड़ी।

"वह साथ ही रहती है?" लौंगवती के दिल में हौल उठी।

"अलग है, पर साथ भी रहे तो क्या है..."

लौंगवती ने क्रोध से होंठ काट लिया। कहने लगी, "तो माँ-बाप ने तुझे भरी खटिया पर दे दिया?"

पर बेनू शान्त थी। कहने लगी, "तुम जानती हो, वह खटिया मेरी नहीं है, भरी हुई हो चाहे ख़ाली..."

लौंगवती का मन दहल गया। वह समझ नहीं पा रही थी कि इस मानस-पुत्री को इस जन्म में यह कैसा शाप मिला था...

और कोई नहीं जानता—बूढ़े नौकर के साथ बेनू अपनी अन्तरंग सखी लौंगवती के घर से अलीगढ़ आते हुए रेलगाड़ी के ज़नाने डिब्बे में जब बैठी थी, तब रात को एक स्टेशन पर जब गाड़ी खड़ी हुई तो एक आदमी प्लेटफार्म पर, बायीं से दायीं तरफ़ जाते हुए और फिर दायीं तरफ़ से बायीं तरफ जाते हुए उस डिब्बे को चोर आँखों से देख रहा था जिसमें बेनू बैठी हुई थी।

एक बार उस की निगाह कुछ कम चोर नज़र थी कि बूढ़े नौकर ने भी उसे देख लिया जब वह अपने डिब्बे से उतरकर बेनू से पानी-वानी पूछने के लिए आया था, जैसे वह हर स्टेशन पर आता था जिस पर गाड़ी रुकती थी। बूढ़े नौकर ने खिड़की के शीशे के पास होकर कहा, "बाबू! यह ज़नाना है, अगले डिब्बे की तरफ़ जाओ..."

डिब्बे में और औरतें भी थीं, बच्चे थे। गाड़ी के चलने के समय बेनू का नौकर उतरकर अपने मर्दाने डिब्बे में जा बैठा...

गाड़ी चल दी थी, पहले धीमी रफ़्तार से चली, फिर जब रफ़्तार तेज़ी पकड़ रही थी, बेनू ने पहला कौर तोड़ा। सीट पर खाने का डिब्बा खोलकर और छोटी तश्तरी को धो-पोंछकर उस का नौकर उस के लिए रख गया था।

रास्ते के लिए खाना लौंगवती ने तैयार करके साथ रखवा दिया था। और बेनू सिंध नदी का पवित्र जल एक ढक्कन वाले डोल में डालकर साथ ले आयी थी...

और इस समय उसी पानी का घूँट भरते हुए बेनू सोच रही थी—यह पानी मैं अलीगढ़ नहीं ले जा सकती...वहाँ सब कुछ जूठा है, यह पानी भी वहाँ जूठा हो जायेगा...

और एक बेनू जैसे दूसरी बेनू से सवाल-सा कर रही थी—क्या इस का उलटा नहीं हो सकता? यह सुच्चा जल, जहाँ जो भी जूठा है, उसे पवित्र नहीं बना देगा?...

पर डोल से छोटे गिलास में पानी उँडेलकर पीते हुए एक बेनू दूसरी बेनू के कहे को गर्दानती नहीं लगती थी, क्योंकि वह पानी को न बचाकर रखना चाहती थी, न रास्ते में कहीं फेंक देना चाहती थी, इस लिए एक-एक घूँट पीते हुए उसे जैसे ख़त्म कर रही थी...

जब गाड़ी तेज़ हो गयी, डिब्बे का दरवाज़ा खुला और वह आदमी, जो उस समय जब गाड़ी खड़ी थी इस डिब्बे को ग़ौर से देख रहा था, अन्दर आ गया...

डिब्बे की सब औरतें काँप गयीं।...

आगन्तुक—कोई नहीं जानता—मध्यप्रदेश का मशहूर खैरा डाकू था, जिस ने सिंध नदी में सात दिन तय करने वाली बेनू का यह भेद जान लिया कि वह अलीगढ़ के मशहूर व्यापारी की पत्नी है और किसी मिन्नत-मुराद के लिए इस ओर आयी है, और एक बूढ़ा नौकर उस की सेवा में हर समय हाज़िर रहता है...

उस ने बेनू को नदी में स्नान करते हुए दूर से देखा था, और किसी भेदिये के ज़रिये यह भी पता चला लिया था कि नदी में स्नान करने वाली औरत के पास गहना-पत्ता भी नहीं है, पर इतने बड़े व्यापारी की घरवाली ख़ाली-बुच्ची हो, यह बात उस ने नहीं मानी थी।

और बेनू की वापसी पर उस ने निगाह रखी थी।

बेनू को, जब वह नदी में खड़ी थी, उस ने दूर से देखा था, पर बूढ़े नौकर को उस ने नज़दीक से देखकर पहचान लिया था और अब हर स्टेशन पर वह बूढ़ा नौकर जिस ज़नाने डिब्बे के फेरे कर रहा था, उस से उस ने उस डिब्बे में बेनू की मौजूदगी का अनुमान लगा लिया था...

खैरा जिस समय अपने पंचफेरे को कन्धे पर रखे और उसे चादर में छिपाये गाड़ी के इस डिब्बे में आया, डिब्बे में बैठी और लेटी हुई औरतों के गले सूख गये...

खैरा शायद आवश्यकता पड़ने से पहले दहशत फैलाना नहीं चाहता था, हलीमी से बोला, "ओहो...यह ज़नाना डिब्बा है...मैं पानी पीने गया था कि गाड़ी चल दी...अँधेरे में जो भी डिब्बा सामने आया उसी पर चढ़ गया..."

और खैरा ने अपने होंठों पर इस तरह जीभ फेरी जैसे बहुत प्यासा हो, और गाड़ी के चलने की आवाज़ सुनकर पानी भी नहीं पी सका हो...

बेनू ने अपने चाँदी के गिलास को धोया और उस में डोल से पानी उड़ेलकर उस के आगे करते हुए बोली, "कोई बात नहीं, भाई साहब ! अगले स्टेशन पर उतर जाइयेगा। यह लीजिये पानी—यह सिंध नदी का पवित्र पानी है..."

खैरा ने एक बार फिर बेनू की सोने-चाँदी से बिलकुल ख़ाली बाँहों की ओर देखा और चकित-सा होकर उस ने पास आकर पानी का गिलास ले लिया।

बेनू पानी को अलीगढ़ ले जाने या न ले जाने की दुविधा में पड़ी हुई थी, अब जैसे खिल उठी। कहने लगी, "यह पवित्र जल न जाने आप के पीने के लिए ही था, भाई साहब ! कि मैं इतनी दूर से इसे लिये चली आ रही हूँ..."

बेनू की सब दुविधा मिट गयी, पर खैरा के मन में सचमुच दुविधा पैदा हो गयी—क्या सचमुच इस सेठानी औरत के पास कोई सोना-पैसा नहीं ?

खैरा ने पानी पीते हुए एक बार फिर बेनू की बाँहों के ऊपर, उस के गले की ओर देखा जहाँ सोने की पतली-सी ज़ंजीर भी नहीं थी, और फिर अपनी चोर-नज़र छुपाने के लिए नीचे सीट की ओर देखने लगा—जहाँ एक पीतल की रकाबी में दो पूरियाँ और आलू की भाजी पड़ी हुई थी।

इसी समय सामने की सीट पर से एक जागा हुआ बच्चा भी बेनू के सामने रखी हुई पूरी की ओर हाथ बढ़ा रहा था, सो बेनू ने डिब्बे में से एक पूरी निकाली और उस पर दो आलू रखकर उस को गोल पूनी-सी बनाकर बच्चे की ओर हाथ बढ़ाया, और देखा कि पास खड़ा हुआ आदमी पूरी-आलू को बड़े ग़ौर से देख रहा है...

वह न जाने क्या सोच रहा था, क्या देख रहा था ! बेनू को लगा जैसे इस आदमी को प्यास के साथ-साथ भूख भी बहुत लगी हुई थी।

बेनू मन की जिस दशा में थी, वह एक साधारण औरत के साधारण मन की दशा नहीं थी, वह मुरादें पूरी करने वाली सिंध नदी में मल-मल नहाकर, सिंध नदी का रूप हो गयी थी, मुरादें पूरी करने वाली...

वह तृप्त मन से कहने लगी "भाई साहब ! ये पूरियाँ जूठी नहीं हैं, अगर आप को भूख लगी हो, तो आप ही डिब्बे में से निकालकर खा लीजिये।"

और कोई नहीं जानता—न कभी जानेगा—कि खैरा डाकू के मन में बेनू की आवाज़ एक ठंडे फाहे के समान बैठ गयी...शायद हर जीव-जन्तु के मन में कहीं कोई छिपा हुआ घाव होता है, और खैरा के मन में भी था, और वहाँ बेनू

रास्ते के लिए खाना लौंगवती ने तैयार करके साथ रखवा दिया था। और बेनू सिंध नदी का पवित्र जल एक ढक्कन वाले डोल में डालकर साथ ले आयी थी...

और इस समय उसी पानी का घूँट भरते हुए बेनू सोच रही थी—यह पानी मैं अलीगढ़ नहीं ले जा सकती...वहाँ सब कुछ जूठा है, यह पानी भी वहाँ जूठा हो जायेगा...

और एक बेनू जैसे दूसरी बेनू से सवाल-सा कर रही थी—क्या इस का उलटा नहीं हो सकता? यह सुच्चा जल, जहाँ जो भी जूठा है, उसे पवित्र नहीं बना देगा?...

पर डोल से छोटे गिलास में पानी उँडेलकर पीते हुए एक बेनू दूसरी बेनू के कहे को गर्दानती नहीं लगती थी, क्योंकि वह पानी को न बचाकर रखना चाहती थी, न रास्ते में कहीं फेंक देना चाहती थी, इस लिए एक-एक घूँट पीते हुए उसे जैसे ख़त्म कर रही थी...

जब गाड़ी तेज़ हो गयी, डिब्बे का दरवाज़ा खुला और वह आदमी, जो उस समय जब गाड़ी खड़ी थी इस डिब्बे को ग़ौर से देख रहा था, अन्दर आ गया...

डिब्बे की सब औरतें काँप गयीं।...

आगन्तुक—कोई नहीं जानता—मध्यप्रदेश का मशहूर खैरा डाकू था, जिस ने सिंध नदी में सात दिन तय करने वाली बेनू का यह भेद जान लिया कि वह अलीगढ़ के मशहूर व्यापारी की पत्नी है और किसी मिन्नत-मुराद के लिए इस ओर आयी है, और एक बूढ़ा नौकर उस की सेवा में हर समय हाज़िर रहता है...

उस ने बेनू को नदी में स्नान करते हुए दूर से देखा था, और किसी भेदिये के ज़रिये यह भी पता चला लिया था कि नदी में स्नान करने वाली औरत के पास गहना-पत्ता भी नहीं है, पर इतने बड़े व्यापारी की घरवाली ख़ाली-बुच्ची हो, यह बात उस ने नहीं मानी थी।

और बेनू की वापसी पर उस ने निगाह रखी थी।

बेनू को, जब वह नदी में खड़ी थी, उस ने दूर से देखा था, पर बूढ़े नौकर को उस ने नज़दीक से देखकर पहचान लिया था और अब हर स्टेशन पर वह बूढ़ा नौकर जिस ज़नाने डिब्बे के फेरे कर रहा था, उस से उस ने उस डिब्बे में बेनू की मौजूदगी का अनुमान लगा लिया था...

खैरा जिस समय अपने पंचफेरे को कन्धे पर रखे और उसे चादर में छिपाये गाड़ी के इस डिब्बे में आया, डिब्बे में बैठी और लेटी हुई औरतों के गले सूख गये...

खैरा शायद आवश्यकता पड़ने से पहले दहशत फैलाना नहीं चाहता था, हलीमी से बोला, "ओहो...यह ज़नाना डिब्बा है...मैं पानी पीने गया था कि गाड़ी चल दी...अँधेरे में जो भी डिब्बा सामने आया उसी पर चढ़ गया..."

और खैरा ने अपने होंठों पर इस तरह जीभ फेरी जैसे बहुत प्यासा हो, और गाड़ी के चलने की आवाज़ सुनकर पानी भी नहीं पी सका हो...

बेनू ने अपने चाँदी के गिलास को धोया और उस में डोल से पानी उड़ेलकर उस के आगे करते हुए बोली, "कोई बात नहीं, भाई साहब ! अगले स्टेशन पर उतर जाइयेगा । यह लीजिये पानी—यह सिंध नदी का पवित्र पानी है..."

खैरा ने एक बार फिर बेनू की सोने-चाँदी से बिलकुल ख़ाली बाँहों की ओर देखा और चकित-सा होकर उस ने पास आकर पानी का गिलास ले लिया ।

बेनू पानी को अलीगढ़ ले जाने या न ले जाने की दुविधा में पड़ी हुई थी, अब जैसे खिल उठी । कहने लगी, "यह पवित्र जल न जाने आप के पीने के लिए ही था, भाई साहब ! कि मैं इतनी दूर से इसे लिये चली आ रही हूँ..."

बेनू की सब दुविधा मिट गयी, पर खैरा के मन में सचमुच दुविधा पैदा हो गयी—क्या सचमुच इस सेठानी औरत के पास कोई सोना-पैसा नहीं ?

खैरा ने पानी पीते हुए एक बार फिर बेनू की बाँहों के ऊपर, उस के गले की ओर देखा जहाँ सोने की पतली-सी ज़ंजीर भी नहीं थी, और फिर अपनी चोर-नजर छुपाने के लिए नीचे सीट की ओर देखने लगा—जहाँ एक पीतल की रकाबी में दो पूरियाँ और आलू की भाजी पड़ी हुई थी ।

इसी समय सामने की सीट पर से एक जागा हुआ बच्चा भी बेनू के सामने रखी हुई पूरी की ओर हाथ बढ़ा रहा था, सो बेनू ने डिब्बे में से एक पूरी निकाली और उस पर दो आलू रखकर उस को गोल पूनी-सी बनाकर बच्चे की ओर हाथ बढ़ाया, और देखा कि पास खड़ा हुआ आदमी पूरी-आलू को बड़े ग़ौर से देख रहा है...

वह न जाने क्या सोच रहा था, क्या देख रहा था ! बेनू को लगा जैसे इस आदमी को प्यास के साथ-साथ भूख भी बहुत लगी हुई थी ।

बेनू मन की जिस दशा में थी, वह एक साधारण औरत के साधारण मन की दशा नहीं थी, वह मुरादें पूरी करने वाली सिंध नदी में मल-मल नहाकर, सिंध नदी का रूप हो गयी थी, मुरादें पूरी करने वाली...

वह तृप्त मन से कहने लगी "भाई साहब ! ये पूरियाँ जूठी नहीं हैं, अगर आप को भूख लगी हो, तो आप ही डिब्बे में से निकालकर खा लीजिये ।"

और कोई नहीं जानता—न कभी जानेगा—कि खैरा डाकू के मन में बेनू की आवाज़ एक ठंडे फाहे के समान बैठ गयी...शायद हर जीव-जन्तु के मन में कहीं कोई छिपा हुआ घाव होता है, और खैरा के मन में भी था, और वहाँ बेनू

की आवाज़ नरम और ठंडे फाहे की तरह लग गयी...या शायद यही निराशा थी कि बेनू के किसी भी अंग पर एक तोला सोना नहीं था, और खैरा को आज का दिन व्यर्थ जाने का विश्वास हो गया था, सो वह एक ठंडी साँस लेकर और सिकुड़कर बेनू वाली सीट की पट्टी पर बैठ गया...

पर खैरा चकित था कि रात व्यर्थ जाने के गुस्से का उस के मन में कोई बल नहीं पड़ रहा था, बल्कि उसे सचमुच भूख-सी लगने लगी थी...

उस ने धीरे से हँसकर एक बार बेनू की ओर देखा, फिर एक बार पूरियों के डिब्बे की ओर...

बेनू ने पूरियों का डिब्बा, और आलू की भाजी का डिब्बा, दोनों उस के आगे रख दिये...

खैरा ने डिब्बों से हाथ नहीं लगाया, सिर्फ़ चादर में से दोनों हाथ निकाल-कर बेनू के आगे इस तरह पसार दिये जैसे मन्दिर में प्रसाद माँग रहा हो...

बेनू ने पानी से दाहिना हाथ धोकर डिब्बे में से पूरियाँ निकालीं, ऊपर सूखे आलू रख दिये, चटनी भी, और उन्हें खैरा के फैले हुए हाथों पर रख दिया...

खैरा ने पूरियाँ खायीं, गिलास आगे बढ़ाकर पानी माँगा, और चाँदी के गिलास को धोकर बेनू के आगे रख सीट से उठकर खड़ा हो गया।

इस सारे समय में खैरा ने उस भाई कहने वाली बेनू की ओर मुड़कर नहीं देखा, न डिब्बे की किसी और औरत की ओर, और डिब्बे के दरवाज़े के पास इस तरह जाकर खड़ा हो गया जैसे अगले स्टेशन पर गाड़ी के रुकने की प्रतीक्षा कर रहा हो...

स्टेशन शायद दूर था—गाड़ी की एकसार आवाज़ कहीं से भी नहीं टूट रही थी। कुछ औरतें फिर ऊँघ गयी थीं, कुछ भयभीत-सी आँखें खोले उसी तरह बैठी हुई थीं, और औरतों के इस डिब्बे में एक आदमी दरवाज़े को पकड़कर बुत बना खड़ा था।

बेनू भी ऊँघ गयी—शायद कुछ मिनटों के लिए ही, पर मिनटों के इस अर्से में ही वह मन की एक विचित्र अवस्था से गुज़र गयी :

सपना आया—वह एक सफ़ेद हंसिनी थी।

वहाँ, न जाने कहाँ, एक मानसरोवर था।

और उस के साथ एक सफ़ेद हंस अठखेलियाँ करता हुआ मोती चुग रहा था...

और फिर जंगल में गोली चलने की आवाज़ आयी।

और हंस के सफ़ेद पंखों में से लाल लहू बहने लगा।

और एक शिकारी ने झपट्टा मारकर घायल हंस को सरोवर में फेंक दिया, और हंसिनी को दोनों हाथों में पकड़ लिया...

हंसिनी ने उस के हाथों से छूटने के लिए इतना ज़ोर लगाया कि उस के कितने ही पँख टूट गये।...

और फिर वह हंसिनी, शिकारी के हाथों में पकड़ी हुई ही, काली स्याह हो गयी...

और शिकारी ने उसे काली कौवी समझकर छोड़ दिया।

और वह काले पंखों वाली हंसिनी जंगल में उड़ने लगी...

जंगल बहुत बड़ा था, और हंसिनी के कई पंख टूट चुके थे, और वह बहुत उड़ भी न पाती थी।

वह जंगल में उड़ते हुए एक सरोवर को खोज रही थी।

और फिर सरोवर मिल गया।

उस ने सरोवर के पानी में डुबकी लगायी और उस के काले पंख फिर सफ़ेद हो गये...

अचानक गाड़ी की एकसार खड़-खड़ एकदम रुक गयी जिस से बेनू की नींद टूट गयी।

औरतें खिड़कियों से बाहर देख रही थीं, कह रही थीं, "स्टेशन तो कोई नहीं है, गाड़ी क्यों खड़ी हो गयी ?" इंजन की सीटी बार-बार ज़ोर-ज़ोर से सुनाई दे रही थी। दरवाज़े के पास खड़ा आदमी कह रहा था, "स्टेशन पास ही है, पर सिगनल नहीं हुआ, इस लिए गाड़ी रुक गयी है।" और इतना कह-कर वह दरवाज़ा खोलकर नीचे उतर गया...

गाड़ी फिर एक हिचकोले के साथ चलने लगी और बेनू अपने अभी देखे हुए सपने के अचम्भे में जागती रह गयी। वह सोच रही थी—यह सब इस नदी के पानी का कौतुक है...

और अचम्भे के साथ-साथ बेनू के मन में धीरज भी आया—वह ज़रूर जेल से छूट जायेगा, नहीं तो मैं सपने में कौवी से हंसिनी कैसे बन गयी...

आज बेनू को पहली बार—ब्याह के बाद पहली बार—अपना आप हंसों के पंखों के समान उज्ज्वल प्रतीत हुआ...

गाड़ी रुक गयी। स्टेशन आ गया। रात का जादू टूट गया।

बेनू का बूढ़ा नौकर बहुत घबराया हुआ डिब्बे में आया और सब कुशल-मंगल देखकर ज़ोर से साँस लेता हुआ बेनू के निकट होकर कहने लगा, "माल-किन ! घर पहुँचकर मैं हनुमान के मंदिर में परसाद चढ़ाऊँगा।"

"क्या हुआ ?" बेनू हैरान-सी हो गयी, पर बोली, "इतनी दूर सिंध नदी में प्रसाद चढ़ाने से तुम्हारी तसल्ली नहीं हुई ?"

"नहीं मालकिन !" वह कहने लगा, "हमारे डिब्बे में पिछले स्टेशन से कोई तीन जने चढ़े थे, पता नहीं कौन थे। अभी कुछ देर पहले जब गाड़ी स्टेशन से

परे खड़ी हो गयी थी, वे वहाँ उतर गये...बाद में डिब्बे के लोग कह रहे थे कि वे किसी डाकू के साथी थे...लोगों को डर था कि आज गाड़ी में डाका पड़ेगा... उन का मुखिया भी शायद गाड़ी में था...न जाने किस डिब्बे में...और फिर न जाने क्या हुआ...सब के सब उतर गये...वह भी उतर गया होगा, नहीं तो सब क्यों उतरते..."

बेनू कुछ भी कहने या पूछने की जगह उस के मुँह की ओर ताकती रह गयी ..

वह कह रहा था, "पर सब तरफ़ कुशल-मंगल दिखाई देता है, नहीं तो अब तक स्टेशन पर हल्ला मच गया होता..."

गाड़ी ने चलने की ह्विसिल दी और वह बूढ़ा नौकर मालकिन की ख़ैर-ख़ैरियत देखकर अपने डिब्बे में चला गया...

गाड़ी चल पड़ी। पानी का ख़ाली डोल, जिस में बेनू सिंध नदी का जल भरकर लायी थी, गाड़ी के हिचकोलों से हिलने लगा। बेनू को लगा—वह ख़ाली हिल रहा डोल जैसे उस से कह रहा हो, 'यह मेरे जल का कौतुक था—वह न जाने कौन था, क्योंकि डिब्बे में चढ़ा था, पर तुम्हारे हाथ से यह जल पीकर वह जैसे आया था, वैसे ही चला गया...'

और हंसिनी वाले सपने ने इस घटना के साथ मिलकर बेनू के होंठों पर एक मुस्कराहट ला दी—और रेलगाड़ी के पूरे सफ़र में यह मुस्कराहट बेनू के होंठों पर बनी रही...

सब जानते हैं—चन्दन को जब फाँसी का हुक्म हो गया, उस के माता-पिता और भाई कई दिन और कई रात घर के फ़र्श पर हारे-बुझे-से पड़े रहे। कभी पानी का एक घूंट ऐसे पी लेते जैसे कोई मरने वाले के मुँह से पानी लगाता हो। रोटी गले से नीचे नहीं उतरती थी, कौर अन्दर जाने से पहले बाहर को आता था,

मुँह का रंग धूल जैसा हो गया था...

कभी घर का दरवाज़ा खड़कता, कोई पड़ोसी सहानुभूति से मिलने आ जाता, या वकील अपील के बारे में कुछ बात सोचकर आता, तो चन्दन के बूढ़े माता-पिता और उस का जवान भाई दरवाज़े की ओर इस तरह देखते जैसे उन मरते हुओं के सिरहाने कोई दीया-बत्ती जलाने आया हो।

पर कोई नहीं जानता—जेल की सीखचों वाली कोठरी के शीतल अन्धकार में चन्दन एक तपते हुए अँधेरे की भाँति किस तरह जल रहा था...

उस का जागना और सोना जैसे एक-सा हो गया था। आँखों के आगे कुछ फैलता और सिमटता था, पता नहीं लगता था कि वह जागृति का हिस्सा था या नींद का...

एक जंगल था, हड्डियों से भरा हुआ, और चन्दन उस जंगल की एक-एक हड्डी को ग़ौर से देखता हुआ अपनी हड्डियों को ढूँढ़ रहा था...

यह शायद एक रात का सपना था—जो रात में से निकलकर दिन के घेरे में आ गया था और चन्दन मौत के पल में से गुज़रे बिना मरने के बाद की अपनी हड्डियाँ चुन रहा था...

एक ही समय में—जीवित भी और मरा हुआ भी...

इसी जंगल के सपने में एक नदी का सपना भी मिल गया था—चन्दन को अपनी जीभ प्यास से अकड़ी हुई मालूम होती है और वह दूर से दीख पड़ने वाली नदी के पास जब दौड़कर पहुँचता है, नदी लहू की हो जाती है...

एक दिन सवेरे के समय वह जागने से पहले सपना देख रहा था और जागने और सोने के फ़र्क़ को जाने बिना उस ने जब कोठरी में पड़े हुए पानी के सकोरे को मुँह से लगाया—उसे नदी के लहू की ऐसी दुर्गन्ध आयी—उस ने चीख़ मारी और सकोरे के पानी को लुढ़का दिया...

और चन्दन ने जैसे अपनी आँखों से अपने प्रेत को देखा। देखा कि कुछ लोग एक औरत के गिर्द बैठकर आग की धूनी लगा रहे हैं और चिमटों से उस औरत को मार रहे हैं...धूनी का धुआँ इतना गाढ़ा है कि औरत का मुँह नहीं पहचाना जाता...फिर धुआँ कुछ कम हो जाता है, और वह देखता है कि वह बेनू है... वह दौड़कर बेनू को छुड़ाने लगता है कि एक बहुत बड़ा लोहे का चिमटा उस के मुँह पर लगता है...और इर्द-गिर्द खड़े हुए लोग कहते हैं—'बेनू को चन्दन का प्रेत चिपट गया है...सारी रात उसे चिमटे मारते हैं, लेकिन प्रेत नहीं निकलता...'

सब जानते हैं—चन्दन चाहे जेल की सीखचों वाली कोठरी में था, पर जीवित था। पर कोई नहीं जानता—चन्दन ने जीते-जी अपनी चिता की हड्डियाँ चुनी थीं...पानी की नदी से अपना लहू पिया था...और अपना वह प्रेत भी देखा

था जिसे लोग चिमटों से बेनू के शरीर में से निकाल रहे थे...

बेनू...कभी-कभी चन्दन के मुँह से यह नाम निकलता और लोहे के सीखचों से टकराकर वहाँ पर ही, चन्दन की जेल की कोठरी में, घायल होकर गिर पड़ता...

सब जानते हैं—बेनू जिस समय सिंध नदी का तप-स्नान करके लौटी और यह ख़बर बेनू के माता-पिता को भी मिली, तो बेनू की माँ ने सिंध नदी के प्रताप में अपना जतन मिलाकर उस प्रताप को बढ़ाने के लिए बेनू को चार दिन के लिए मायके बुला लिया।

"औलाद के बिना औरत की जड़ धरती में नहीं लगती।" बेनू की माँ ने गाँव के पाधाजी को बारीक मलमल की धोती और पाँच रुपये चढ़ाकर कोई उपाय पूछा कि जैसे-तैसे बेनू की कोख हरी हो।

माँ के कलेजे को अन्दर से एक भय चीर रहा था—कि अगर इसी तरह और चार बरस बीत गये और बेनू के घर औलाद नहीं हुई तो क्या पता वह व्यापारी का पूत कोई और ब्याह रचा ले। उस की पहली रखैल की बात भी किसीसे छिपी हुई नहीं थी, चाहे वह कुजात की थी, पर जात वाली भी, अगर पास दाने हों, तो सात सवाई मिल जाती हैं...

सो, पाधा ने बेनू की माँ को जहाँ दान-पुण्य के और उपाय बताये थे, वहाँ एक यह उपाय भी बताया था कि मंगलवार के दिन बेनू को नहला-धुलाकर उस के हाथ में एक मूँगे की अँगूठी पहना दी जाये।

माँ ने जौहरी को उस के काम के दाम तो दिये ही, साथ में पुण्य के नाम पर उस से मिन्नत भी की कि वह परखकर सच्चा पत्थर दे, ताकि उस के असर में कोई कोर-कसर न रह जाये। और जब लाख के रंग का मूँगा सोने के तार में लिपटा हुआ घर आ गया तो बेनू की माँ ने किसी के हाथ बेनू के पास भेजने की

जगह बेनू को ही बुलवा लिया।

माँ बेनू की लापरवाह तबीयत को जानती थी, और उसे भरोसा नहीं था कि आँखों से दूर बैठी बेनू उस विधि के अनुसार मूँगे को धारण करेगी जो पाधा ने बतायी थी। इस लिए अपनी आँखों के सामने वह बेनू को अँगूठी पहनाना चाहती थी।

बेनू आयी। मंगलवार में अभी पूरे तीन दिन बाक़ी थे। माँ ने घर के एक चबूतरे को लीप-पोतकर स्वच्छ किया, और बेनू के मन में श्रद्धा जगाने के लिए, जैसे पाधा ने बताया था, उसे समझाती रही—"मंगल किसी स्थान पर अड़चन डाल रहा है, पर इस पत्थर में बल होता है, यह पति की रक्षा भी करता है और इस से जो मुराद माँगो, वह भी देता है..."

बेनू चुप सुनती रही। पहले दो दिन तो एक कान से सुनती और दूसरे कान से बाहर निकालती रही, पर फिर शायद सारे आडम्बर का कोई एक पक्ष उस के मन में घर कर गया, वह माँ के उत्साह के साथ अपना उत्साह मिलाकर सोमवार की रात को सोते हुए भी मंगलवार की प्रतीक्षा करने लगी।

मंगलवार की लौ के साथ ही बेनू जाग उठी। उस ने भरी गागर से सिर से पैर तक स्नान किया, और गीले बालों को निचोड़ते हुए, कोरी धोती लपेटकर, उस चबूतरे पर एक साधुनी की भाँति बैठ गयी।

माँ ने एक कटोरी में दूध डाला, एक कटोरी में पानी, दोनों कटोरियाँ बेनू के आगे रखकर रेशमी रूमाल के किनारे में लपेटी हुई मूँगे की अँगूठी सामने रख दी। पास ही एक कटोरी में धूप जलाकर रख दी।

बेनू ने जैसे माँ ने कहा वैसे ही पहले मूँगे की अँगूठी को दूध में धोया, फिर पानी में। और इस तरह सात बार दूध और पानी में धोकर, धूप के धुएँ से अँगूठी को छुआकर, उसे उँगली में पहनने से पहले, आँखें बन्द करके अपनी मन्नत माँगी।

पर कोई नहीं जानता—बेनू ने क्या माँगा...

माँ ने कहा था—'पति की कुशल-याचना करके अपने लिए पुत्र का दान माँगना...'

पर बेनू ने बन्द, फड़कते हुए होंठों से दैवी शक्ति को सम्बोधन किया और कहा, "जिसे पहले दिन से जिस रूप में माना था, केवल वह ही मेरे लिए उसी रूप में है, चाहे मुँह से कहने के लिए अब मेरी जीभ कटी हुई है...पर ऐ मेरे ईश्वर! तुझे मेरी कटी हुई जीभ का वास्ता है, चन्दन भले ही पराया हो जाये, किसी का भी पति बने, पर वह जीता रहे..." और बेनू ने दूध और पानी से और धूप के धुएँ से पवित्र की हुई अँगूठी दाहिने हाथ की तीसरी उँगली में पहन ली।

मन के बोल साबुत थे, पर क़िस्मत के उतार-चढ़ाव के साथ बेनू के हाथ की उँगली काँप रही थी।

न बेनू की माँ ने कुछ जाना, न संसार के और किसी व्यक्ति ने, कि बेनू का चन्दन से क्या रिश्ता था और आज उस ने अपने लिए क्या माँगा था।

सब जानते हैं—ठाकुर पृथ्वीसिंह ने अपने बाक़ी सरकारी बांड भी रुपये में चार आने के हिसाब से बेच दिये थे और चन्दनसिंह के मुक़दमे की अपील के लिए कुछ पैसा हाथ में कर लिया था।

मलखानसिंह ने सिर्फ़ गेरुए रंग के कपड़े ही पहनना नहीं शुरू कर दिया था, वह तन-मन से त्यागी हो गया था। रामपुर वाली कोठी भले ही शहर के बहुत ही निर्जन स्थल में थी, पर संगीत के रसिया प्रभात के उजाले के समय उस कोठी के आसपास चक्कर लगाया करते थे। कानों में पड़ी मलखान के तानपूरे की आवाज़ दिमाग़ में झंकार छेड़ देती थी, और इस के साथ ही भजनों के बोल 'करमन की गति न्यारी रे, साधो! करमन की गति न्यारी...' मानो आत्मा में रस बरसाते थे...

और इन्हीं दिनों एक घटना हो गयी थी—चौधरी भूपसिंह चन्दनसिंह की फाँसी का हुक्म सुनकर रोज़ ख़ुशी में बेहिसाब शराब पी रहा था। उस ने जिगर की पीड़ा से जो चारपाई पकड़ी तो फिर उस से न उठा।

दतिया के शिवचरन ठाकुर ख़ुद चलकर ठाकुर पृथ्वीसिंह के पास आ गये थे, और पहले वकील से मिलकर उन्होंने सिर्फ़ रहम की अपील ही नहीं की थी, मुक़दमे की दोबारा सुनवाई का हुक्म भी ले लिया था...

हादसे की तफ़सील वही थी, पुरानी, लेकिन गाँव के गवाहों के सिर से चौधरी भूपसिंह का भय उतर जाने के कारण सारी बात का रंग ही बदल गया।... पहले मुक़दमे में इतना भी साबित नहीं हो सका था कि चौधरी भूपसिंह के भेजे

हुए आदमी ठाकुर पृथ्वीसिंह के क़त्ल के लिए ख़ुद उस की गढ़ी में आये थे। बल्कि उलटा दोष लगा था कि ये पाँचों तो गढ़ी के बाहर एक पेड़ के नीचे बैठे सुस्ता रहे थे कि शिकार से लौटे हुए चन्दनसिंह ने दोनों घरों की पुरानी दुश्मनी निकालने का मौक़ा ताड़कर बन्दूक़ चला दी...

और सरकार के दरबार में, जहाँ पहले ठाकुर पृथ्वीसिंह की पहुँच नहीं हो रही थी, वहाँ से जब चौधरी भूपसिंह का जादू उतर गया तो वे बन्द दरवाज़े हाथ लगाते ही खुलने लगे...

ठाकुर पृथ्वीसिंह के पास आज एक का सन्देशा पहुँचा तो कल दूसरे का, "जी, हम पुराने दिन कभी भूल सकते हैं ?...हम ने तो आप की गढ़ी में अपनी मुसीबत के दिन बिताये हैं..."

और अब जब मुक़दमे की सुनवाई फिर शुरू हुई तो गवाहियाँ बदल गयी थीं। पुराने गवाह सरकारी ख़ौफ़ से कुछ तो गाँव ही छोड़ गये थे, कुछ समय बिताने के लिए दूर इलाक़ों में चले गये थे। पर एक-दो ऐसे भी थे जिन्होंने कचहरी में साफ़ कह दिया था कि उन्हें भूपसिंह से जान का ख़तरा था इस लिए उन्होंने झूठी गवाहियाँ दी थीं, और वे लोग जो पहले न सच बोल सकते थे, न झूठ, अब नितर-कर आगे आ गये...

फिर गिनती की पेशियाँ हुईं, और चन्दनसिंह सारे मामले में निर्दोष साबित हो गया। फाँसी का हुक्म रद्द कर दिया गया। केवल एक दोष उसपर लगता था —कि वह फ़रार क्यों हुआ। इस के लिए उस को तीन बरस की क़ैद की सज़ा सुनायी गयी।

पर कोई नहीं जानता—दूर शहर में जिस समय चन्दनसिंह के मुक़दमे की सुन-वाई हो रही थी, और जिस समय फाँसी के रस्से की भयानक कल्पना उस के गले से उतर रही थी, उस समय बेनू को घर के बराबर वाले मन्दिर के कलश

पर शंखचील बैठी हुई दिखाई दी...

और बेनू के मन में शंखचील के सफ़ेद पंखों के समान एक विश्वास उत्पन्न हुआ कि जिस तरह एक दिन किसी शक्ति ने ब्रह्मा के मानस-पुत्रों की आवाज़ सुनी थी, उसी तरह उस ने आज के मानस-पुत्रों की आवाज़ भी सुन ली है...

और बेनू अपने अन्दर से उत्पन्न हुए विश्वास जैसी हो गयी—"शिव-शक्ति! उस ने कभी मेरा नाम संखचील रखा था। कहता था, 'सफ़र पर जाओ तो संख-चील को देखना शगुन होता है...' देखो, उस का सफ़र कितना लम्बा हो गया... मैं उस की संखचील हूँ।...मेरे नाम में मेरा गुण भर दो ...उस ने मेरा मुँह देख-कर राह पकड़ी थी...उसे कुछ नहीं हो सकता...वह बच जायेगा...मेरा दिल कहता है...।"

और बेनू को लगा—मानस-पुत्रों के विश्वास इतने उन की छाती में उत्पन्न नहीं होते जितने प्रार्थना में जुड़े उन के हाथों से।

बरसों हो गये थे—बेनू के गिर्द एक ऐसा अँधेरा पसरा हुआ था जिस में कुछ भी दिखाई नहीं देता था...

चन्दनसिंह तो दिखता ही नहीं था, बेनू को अपना आप भी दिखाई नहीं देता था...

रोज़ आने-जाने वाला सूरज भी अँधेरे को नहीं चीर पाता था...

बेनू कभी बैठती तो सोचती—यह कैसा अँधेरा है? शरीर के मांस की तरह शरीर से चिपटा हुआ...भीतर की हड्डियों पर लिपा हुआ...

मांस तो मल-मलकर धोया जा सकता है, गहरे साँवले रंग भी कभी दप-दप चमकते हैं, पर अँधेरा...

अँधेरे को धो सकने के लिए कुछ भी नहीं होता...मन की लौ भी अँधेरे को नहीं छू पाती...

कभी-कभी बेनू को लगता—यह चन्दनसिंह की जेल की कोठरी का अँधेरा है, जो सारी दुनिया में फैल गया है...

जैसे खटाई का एक छींटा दूध के भरे हुए पतीले का जून बदल देता है... बेनू सोचती—सूरज की सारी रोशनी को अँधेरे का जामन लग गया...

पर उस रात को मन की लगी ने, बेनू की आँखों के सामने, एक जादू-सा बिछा दिया...

चन्दनसिंह कोसों का रास्ता तय करके बेनू के सपने में आया...

वही हरफूरी गाँव था, जिस की परती भूमि में बेनू भागती हुई जा रही थी ...पैरों का सारा ज़ोर लगाकर.. राहों को पहचानती थी...पर फिर भी बावली-सी रास्ता निबेड़ने में लगी हुई थी...और रास्ता ख़त्म होने में नहीं आ रहा था...

वह जो भी रास्ता तय करती, वही फिर उस के पैरों के आगे आ जाता...

और फिर हँसती हुई बेनू को सूने रास्ते पर एक चरवाहा लड़का गाय का दूध दुहता दिखाई दिया...

बेनू ने पूछा कुछ नहीं, पर चरवाहे के लड़के ने बायें हाथ मुड़ने वाली पगडण्डी की ओर हाथ से इशारा किया जो पत्तों से लदे चिलोर के पेड़ के पास से घूमकर न जाने कहाँ चली जाती थी...

और बेनू उस पगडण्डी पर मुड़ गयी...

और फिर अचानक सामने वह तालाब वाला आमों का बाग़ीचा आ गया जिसे वह चिरकाल से पहचानती थी...

बेनू ने आम के पहले दिखाई देने वाले पेड़ को हाथ लगाते हुए लम्बी साँस ली, और फिर पल्ले की किनारी से माथे पर बहती हुई पसीने की धार पोंछकर तालाब की ओर चल दी...

और तालाब के किनारे चन्दनसिंह खड़ा हुआ था...

वही लाज, जो चन्दनसिंह को देखकर बेनू को पहले दिन आयी थी, आज भी आयी—पर चन्दनसिंह ने बाँह आगे बढ़ाकर बेनू को अपने कन्धे से लगा लिया...

आज तक बेनू ने उस से बात करके नहीं देखा था, अब भी न बोला गया...

चन्दनसिंह ही बोला, "मैं ने कहा, तुम इन्तज़ार कर रही होगी, पहले तुम से मिल लूँ..."

और चन्दनसिंह ने बेनू का धीरज बँधाने के लिए उस की पीठ पर हाथ फेरा...

बेनू ने आँखें उठाकर पहले चन्दनसिंह की ओर देखा, फिर तालाब के पानी की ओर, और वहाँ सचमुच दो परछाइयाँ तैर रही थीं...

और बेनू ख़ुशी से बावली हो गयी। उस ने आज तक चन्दनसिंह का हाथ नहीं पकड़ा था, पर अब वह उस का हाथ पकड़कर चलने लगी...न जाने कहाँ जाने के लिए...

पर चन्दनसिंह के पाँव वहीं के वहीं थे—वे हिलते नहीं थे—और बेनू ने घबराकर उस के पैरों की ओर देखा—पैरों में लोहे की बेड़ियाँ पड़ी हुई थीं...

और एक चीख के साथ बेनू की नींद टूट गयी...

जाग गयी, तो बेनू की बरसों की सूनी आँखों में बड़े-बड़े आँसू भरे हुए थे...

हर्ष और शोक दोनों मिल गये...

लगा—चन्दनसिंह के सिर से फाँसी की सज़ा टल गयी थी, पर लोहे की बेड़ियाँ अभी भी उस के पैरों में थी...

सोचने लगी...वह, जब उस का बस चला, सब से पहले उस से ही मिलने आया...पर वे, दो क़दम भी मिलकर धरती पर न चल सके...सपने में भी नहीं...

और उस रात बेनू ने, एक ही छाती में, हर्ष और शोक दोनों सँभाल लिये...

सब जानते हैं—चन्दनसिंह को जब फाँसी की जगह तीन बरस की क़ैद की सज़ा सुनायी गयी, उस के पिता और भाई की आँखों की बुझती हुई ज्योति दीयों की तरह जलने लगी...

मलखानसिंह के मुँह पर तो एक सुनहली लौ फिर गयी। उस ने कचहरी के दरवाज़े पर ही मस्ती में आकर बाँहें तान लीं और उस के होंठ कितनी ही देर तक फड़कते रहे, "अजब तेरी लीला, अजब तेरी माया..."

ठकुराइन माँ ने ऐसे काले अंधकारपूर्ण दिन देखे थे कि आज का उजाला दिन देखते हुए डर रही थी। सामने दिखाई दे रहा चन्दन का मुँह कभी सपने जैसा लगता, कभी सच जैसा। अपनी क़िस्मत पर से जैसे उसे विश्वास उठ गया था। उस ने पास बैठी हुई त्रिबेनी का मुँह-माथा चूम लिया। उस के मुँह से निकला, "तेरी क़िस्मत अच्छी है न...इसी लिए...इसी लिए..."

त्रिबेनी से आज अपनी आँखों को झपका नहीं जा रहा था। भरी कचहरी में वह चन्दनसिंह के मुँह की ओर ऐसे ताकती रही थी मानो वह कोई अलौकिक मनुष्य हो...

पिछले दो बरसों में जो कुछ हुआ-बीता था, त्रिबेनी के मन पर जैसे दस बरस चढ़ा गया था...

आज कचहरी में बैठी त्रिबेनी को आस बँधी हुई थी कि चन्दनसिंह छूट जायेगा, इस लिए चन्दनसिंह के छोटे-छोटे कितने ही रूप उस के मन में उतारी हुई

अलग-अलग तस्वीरों की भाँति दिखाई देने लगे...

एक रूप था—एक शाम घर का बाहर का दरवाज़ा बन्द करते हुए माँ के हाथ से कुंडी छुड़वाकर हाथ में पिस्तौल ताने हुए चन्दनसिंह का ज़बर्दस्ती उन के घर आ जाना और उस बच्ची-सी के आगे पिस्तौल तानकर खड़े हो जाना—और डरती हुई माँ के पास से ज़बर्दस्ती रोटी माँगकर खाने लगना...

उस समय त्रिबेनी यूँ तो पन्द्रह बरस की थी, पर मन से बच्ची ही थी। उसे चन्दनसिंह को हाथ में पिस्तौल लिये देखकर न रोना आया था, न डर लगा था—शायद इस लिए कि चन्दनसिंह इतना सुन्दर था कि त्रिबेनी की सुनी-सुनायी चोर-डाकुओं की कहानियों वाले चेहरों से उस का चेहरा नहीं मिलता था।

और फिर वह रूप था—जिस दिन वह डर से चीख़ उठी थी, वह सिपाही उस के पहने हुए कपड़े फाड़कर उतार रहा था और दरवाज़े के तख़्ते तोड़कर चन्दनसिंह एक देव की भाँति आया था—कितना बहादुर...ईश्वर के सहारे के समान...

और अब एक वह रूप था—जो उस ने देखा नहीं था, पर जिस की अपने मन में कल्पना करके वह रोज़ चकित होती थी...रानियों जैसी ठकुराइन माँ जब कहती थी कि वह त्रिबेनी का चन्दनसिंह से ब्याह कर देगी तो त्रिबेनी कितनी ही देर छिपकर शीशे में देखती रहती थी, और उसे शीशे में सिर्फ़ अपना मुँह ही नहीं दिखाई देता था—चन्दनसिंह का भी दिखाई देता था...सेहरे वाला मुँह...

आज जब कचहरी से उठते हुए ठकुराइन माँ ने उस का मुँह-सिर चूम लिया, उसे सारी दुनिया कुछ और ही दिखाई देने लगी...

और फिर सब जानते हैं—चन्दनसिंह की क़ैद शुरू होने के समय ठाकुर पृथ्वीसिंह ने दरख़ास्त देकर सिर्फ़ पाँच दिन के लिए चन्दनसिंह को माँगा, उस का ब्याह करने के लिए...

न जात, न बिरादरी, न नाच, न नटनियाँ, न दरवाज़े पर हलवाई, न कनातें, सिर्फ़ अन्दरख़ाने देवताओं को साक्षी करके, एक छोटी-सी रस्म पूरी करने के लिए...

चन्दनसिंह पुलिस की बन्द गाड़ी में पाँच दिन के लिए मेहमान बनकर घर आया...

घर के बड़े कमरे में बड़ी दरी और उस के ऊपर सफ़ेद चादरें बिछी हुई थीं, थोड़े-से गोल तकिये थे, और दीवारों पर पुराने विरसे की बाप-दादों की कुछ तस्वीरें। एक तस्वीर हाथ में बन्दूक़ लिये और घोड़े पर चढ़े हुए चन्दनसिंह की थी।

ड्योढ़ी में खड़े होकर ठकुराइन माँ ने घर की दहलीज पार कर रहे चन्दन-

सिंह के माथे पर तिलक लगाया और उस के ऊपर से पानी वारा...और फिर गंगा माँ ने आगे होकर चन्दनसिंह का माथा चूमा...

कमरे में आते हुए चन्दनसिंह की नज़र दीवार पर लगी हुई अपनी तस्वीर पर पड़ी तो उसे लगा—जैसे वह अपने पिछले जन्म की तस्वीर देख रहा हो...

मलखानसिंह के कमरे के कोने में तानपूरा रखा हुआ था। उस ने एक बार चन्दनसिंह को गले से लगाया, फिर तानपूरे पर भजन छेड़ा, "गाओ सखि, गाओ मंगलचार मोर घर आये राम भरतार..."

ठाकुर पृथ्वीसिंह आज जीवितों में लौट आये थे। पुराने दिनों का गुमान चूर हो चुका था। चन्दनसिंह ने जब अपने पिता के पाँव छुए, उन्होंने उसे गले से लगा लिया। दोनों वकीलों को भी बेटों के समान गले से लगाया, और चन्दनसिंह के साथ जो दो सिपाही आये थे, उन्हें भी हाथ जोड़कर नमस्कार करके अन्दर कमरे में बिठाया...

बस दो वकील और दो सिपाही, चन्दनसिंह की यही बरात थी...

भजन के बाद कमरे में चाय और मिठाई आयी तो उस समय चन्दनसिंह ने शिवचरन ठाकुर से पूछा, "आपको सिर्फ़ आज पहली बार देखा है, मुक़दमे के शुरू के दिनों में तो आप नहीं थे..."

शिवचरन ठाकुर ने संकोच से कहा, "मैं यहाँ का वकील नहीं हूँ, दतिया का हूँ..."

"बप्पा ने आप को दतिया से बुलाया ?"

"मैं ख़ुद आया था, इस मुक़दमे का हाल सुनकर..."

चन्दनसिंह कुछ हैरान होकर शिवचरन की ओर देखने लगा।

शिवचरन को लगा—चन्दनसिंह को इस से अधिक बताना चाहिए, सो कहने लगा, "आप के हरफूरी गाँव में मेरी ससुराल है, इस लिए इस मुक़दमे में मेरी दिलचस्पी थी..."

चन्दनसिंह के मुँह पर से एक परछाईं-सी गुज़र गयी...

फिर एक चुप-सी की छाया में से निकलकर चन्दनसिंह ने पूछा, "हरफूरी गाँव वालों को मैं बहुत नहीं जानता, पर आप के ससुर कौन-से ठाकुर हैं ?"

शिवचरन ठाकुर के लिए अब मुश्किल आ पड़ी थी। ज़रा देर चुप रहा—पर जवाब देना था, दिया, "ठाकुर रघुबीरसिंह...आप की रिश्तेदारी में ही हैं..."

शिवचरन जानता था कि जवाब अधूरा था, इस से चन्दनसिंह की तसल्ली नहीं हुई थी, पर वह बात को आगे नहीं बढ़ा सकता था।

चन्दनसिंह ने ही ठहरकर पूछा, "ठाकुर रघुबीरसिंह को मैं नहीं जानता... उन्होंने ही आप को मुक़दमे के लिए भेजा ?"

"नहीं...उन की लड़की ने...मेरी घरवाली ने...लौंगवती ने..." शिवचरन को इतना कहना ही पड़ा...

चन्दनसिंह का साँस भीतर गहरा हो चला...

शिवचरन को तो कुछ कहना नहीं था, चन्दनसिंह भी न बोल सका...

ठकुराइन माँ ने पिछले आँगन में चौकी डलवा दी और चन्दनसिंह के नहाने के लिए पानी गर्म करके रखवा दिया।

रामपुर के लोग आज तक दंतकथा सुनाते हैं, चाहे किसी ने जाकर आँखों से नहीं देखा, घर की महरियाँ और नौकरों से ही सब कुछ सुना था, कि किस तरह मानिकपुर वाले ठाकुर पृथ्वीसिंह के कुँवर चन्दनसिंह का अलौकिक विवाह हुआ...

अन्दर के आँगन में जब चन्दनसिंह को चौकी पर बिठाया गया, उस के दोनों ओर, थोड़ी दूर पर, दो सिपाही खड़े हुए थे और ठकुराइन ने उबटन का शगुन करने के बाद, साबुन की टिकिया और गर्म पानी उस के नहाने के लिए आगे रख दिया था...

चन्दनसिंह को न घोड़ी पर चढ़ना था, न दरवाज़े पर बरात जोड़नी थी, सो नहा-धोकर, मलमल की सफ़ेद धोती और सिल्क का कुरता पहनकर, अन्दर की बैठक में आकर बैठ गया।

ठाकुर पृथ्वीसिंह ने दोनों वकीलों को सगे-सम्बन्धियों के समान न्यौता दिया हुआ था, इस लिए वे भी ब्याह की रस्म तक वहाँ रहे।

चन्दनसिंह ने कमरे के कोने में गोल तकिये, और दीवार के साथ सहारा लगाकर जैसे थककर आँखें बन्द कर लीं...

बड़े ठाकुर, ठकुराइन, और मलखान पास वाले छोटे कमरे में पंडित के साथ मँडवा गाड़ रहे थे, और हवन की सामग्री इकट्ठी कर रहे थे...

चन्दनसिंह ने आँखें खोलकर परे बैठे हुए शिवचरन की ओर देखा, फिर उसे इशारे से अपने पास बुलाया...

शिवचरन आकर पास बैठ गया, तब भी चन्दनसिंह कितनी ही देर तक कुछ न पूछ सका...

फिर, मुश्किल से, उस ने पूछा, "लौंगवती अच्छी तरह है?"

शिवचरन ने सिर से भी और ज़बान से भी मुश्किल से 'हाँ' कहा। वह जानता था—चन्दनसिंह क्या पूछना चाहता है, पर जो कुछ बताने योग्य था, वह बता नहीं सकता था...

चन्दनसिंह बहुत देर तक चुप रहा, पर जिस ने बरसों की चुप सहार ली थी, इस समय उसे पलों की चुप सहारना कठिन हो गया।

"और वह?"—चन्दनसिंह ने जैसे कटी हुई जीभ से पूछा।

शिवचरन को लगा—बात की तरफ़ से बिलकुल अनजान बन जाना, न स्वाभाविक था, न सम्भव। धीरे से बोला, "वह भी ठीक है।"

चन्दनसिंह के मन में उलझन-सी पैदा हुई। उस ने कहा, "उस का तो ब्याह हो गया होगा? कब हुआ?"

शिवचरन को लगा—इस बात को पूछना और बताना शायद बहुत ज़रूरी था। शायद चन्दनसिंह को अपने विवाह के समय मन पर बोझ-सा महसूस हो रहा था। इस लिए शिवचरन ने संक्षेप में पर साफ़-साफ़ कहा, "वह तो तभी तय हो गया था, जब गढ़ी में क़त्ल हुए थे..."

इस के बाद चन्दनसिंह ने कुछ नहीं पूछा। आँखें बन्द करके गोल तकिये और दीवार का सहारा ले लिया।

सब जानते हैं—सिपाहियों के पहरे में हवन हुआ, गंगा ने त्रिबेनी का कन्यादान किया, और ठकुराइन ने वहू-बेटे के सिर पर वारफेर करके त्रिबेनी के पाँवों में बिछुए पहना दिये।

और चन्दनसिंह दरवाज़े पर बैठे हुए सिपाहियों के पहरे में चार रातें त्रिबेनी के साथ बिताकर, तीन बरस के लिए जेल चला गया।

फिर बरस के अन्दर-अन्दर त्रिबेनी के पुत्र का जन्म हुआ, और छः महीने के बाद ठकुराइन अपने पोते की मन्नत चढ़ाने के लिए, ठाकुर पृथ्वीसिंह के साथ गंगा-स्नान करने चली गयी...

पर कोई नहीं जानता—कि बेनू को भी एक मन्नत चढ़ानी थी। लौंगवती और शिवचरन से उसे सब कुछ पता चलता रहता था। ठाकुर और ठकुराइन के तीर्थयात्रा पर जाने का जब उसे पता चला, तो वह रामपुर के बड़े डॉक्टर से इलाज करवाने के बहाने रामपुर आयी...

गंगा रसोई में थी, त्रिबेनी अपने बेटे को बाहर के बाग़ीचे में खिला रही थी,

जहाँ आजकल ककैना बेतहाशा खिला हुआ था।

बेनू बड़ी ताव से आयी। सारा घर-द्वार, बाग़-बग़ीचा, दीवार-चौखट, शिवचरन की आँखों से वह ऐसे देख चुकी थी कि उसे सब कुछ जाना-पहचाना-सा लगा।

त्रिबेनी भी पहचानी हुई लगी, जिसे न जाने वह चन्दनसिंह की आँखें बनकर कितनी ही बार देख चुकी थी।

पर त्रिबेनी के लिए बेनू अजनबी थी।

वैसे बेनू का चेहरा, उस का पहनावा, उस की बोलचाल, ऐसी ताव वाली थी कि त्रिबेनी ने आदर से हाथ जोड़े, और उसे अन्दर कमरे में ले गयी।

"ठकुराइन माँ तीर्थ करने गयी हुई है," त्रिबेनी ने झिझककर कहा। उसे न ठाकुरों के घर-घराने के बारे में कुछ मालूम था, न दूर-पास की रिश्तेदारी के बारे में। इस ठाकुर घराने की रही-सही अमीरी भी त्रिबेनी की आँखों को चौंधियाने के लिए काफ़ी थी। ठकुराइन माँ का इतना रोब था कि त्रिबेनी को अपना आप नगण्य प्रतीत होता था, इस लिए वह बीते समय की बातें उत्साहपूर्वक कभी नहीं पूछती थी। ठकुराइन कभी रौ में आकर जो ख़ुद सुनाती थी, वही सुन लेती थी।

बेनू ने आँख भरकर बच्चे को देखा तो गंगा की एक लहर जैसे उस की छाती को छू गयी। बेनू ने त्रिबेनी की गोद से जिस समय बच्चे को अपनी गोद में लिया, त्रिबेनी ख़ुश हो गयी। उस के मन में आया—कितनी अमीर ठकुराइनें मेरे बेटे को गोद में लेकर बैठती हैं...

त्रिबेनी भले ही चन्दनसिंह की ब्याहता स्त्री थी, पर चन्दनसिंह को उस ने जिस दशा में देखा था, बस, उतनी ही जानती थी और वही उस के लिए बहुत था।

बेनू को बच्चे को प्यार करते देखकर त्रिबेनी गर्व से बोली, "आपने बीबी! इस के पिता को नहीं देखा है, यह उन जितना सुन्दर नहीं है।"

और बेनू ने बच्चे को गले लगाकर एक पल के लिए पलकें मूँद लीं।

त्रिबेनी के घर वैसे भी कभी कोई मेहमान नहीं आया था और अब ठकुराइन की अनुपस्थिति में जो आया तो त्रिबेनी को पहली बार घर की मालकिन होने का एहसास हुआ। चाय-पानी लाने के लिए उठने लगी तो बेनू ने उस का हाथ पकड़कर पास बिठा लिया।

त्रिबेनी क्या बात करे, उसे कुछ सूझ नहीं रहा था। दीवार की ओर देखते हुए उसे चन्दनसिंह की वह तस्वीर दिखाई दी जिस में वह हाथ में बन्दूक़ लिये घोड़े पर चढ़ा हुआ था, सो त्रिबेनी उसी की ओर इशारा करते हुए बेनू को बताने लगी, "वह देखो, बीबी! इस के पिता की तस्वीर!"

और कमरे में वही पल लौट आया जब ख़ुद चन्दनसिंह को अपनी तस्वीर

:खकर लगा था मानो वह अपनी पूर्वजन्म की तस्वीर देख रहा हो। और अब ांनू को लगा जैसे वह अपने पहले जन्म में देखे हुए चन्दनसिंह को देख रही हो।

"सच में वह बहादुर भी बड़े हैं..." त्रिबेनी ने गर्व से कहा।

बेनू हँस-सी दी। उस ने शिवचरन की ज़बानी सुन रखा था कि चन्दनसिंह ने फ़रार होने के समय, पीछे लगी पुलिस से बचने के लिए जिस घर में शरण ली थी, वह त्रिबेनी का और उस की माँ का घर था। और वह सारी छोटी-छोटी बातें भी सुन रखी थीं कि कैसे चन्दनसिंह ने लड़की के आगे पिस्तौल तानकर माँ को शोर मचाने से रोका था।

पर त्रिबेनी का मान रखने के लिए, वह त्रिबेनी के मुँह से सुनना चाहती थी। कहने लगी, "गाँव में हम ने बातें तो सुनी थीं कि उन्होंने तुम्हें पिस्तौल से किस तरह डराया था..."

त्रिबेनी हँसते-हँसते दुहरी हो गयी, कहने लगी, "मैं तो नहीं डरी थी, पर माँ डर गयी थीं...मैं कैसे डरती ? वह पिस्तौल तानकर माँ से रोटी माँगने लगे और वहीं खड़े होकर खाने लगे..."

रसोई से गंगा की आवाज़ आयी, "बेटी, बबुआ के लिए दूध ले जा..."

"आयी माँ !" कहकर त्रिबेनी रसोई की ओर चली गयी।

बेनू बच्चे के पास अकेली कमरे में रह गयी तो उस ने एक बार बच्चे को कसकर कलेजे से लगाया और चूमा, फिर अन्दर की कुरती में रखा हुआ सोने का तावीज़ निकालकर, पहले उसे अपने माथे से लगाया, फिर बच्चे के गले में डाल दिया।

दूध की बोतल लेकर जिस समय त्रिबेनी कमरे में आयी, उस के साथ गंगा भी थी।

गंगा ने हाथ जोड़े और कहा, "बीबी ! आप का स्वागत है। खाना बिलकुल तैयार है। उठिये, हाथ धो लीजिये।"

बेनू की आँखों में कुछ पानी-सा आ गया था, उसे छुपाते हुए बोली, "नहीं, मैं ठीक नहीं हूँ, मुझे खाना मना है, एक गिलास पानी दे दीजिये।"

गंगा पानी लेने चली गयी और त्रिबेनी बच्चे को दूध देने के लिए जिस समय बेनू की गोद में से बच्चे को उठाने लगी तो बच्चे के गले में पड़े हुए तावीज़ पर उस की नज़र पड़ी। त्रिबेनी के पूछने से पहले ही बेनू ने कहा, "यह तावीज़ इस के पिता का है, उस समय अफ़रा-तफ़री में उन के गले से निकलकर गिर गया था। बाद में किसी को मिला, वही देने आयी हूँ।" और बेनू ने हाँफती-सी अपनी साँस को ठहराने के लिए सिर झुकाकर फिर एक बार बच्चे को प्यार किया और कहा, "यह इन के कुल का तावीज़ है, बच्चे की रक्षा करेगा..."

त्रिबेनी ख़ुश भी थी, हैरान भी। बच्चे को गोद में लेते हुए उस ने पूछा,

"बीबी ! आपने मुझे अपना नाम नहीं बताया, मैं उन्हें क्या बताऊँगी ?"

बेनू की समझ में कुछ नहीं आ रहा था, कि गंगा पानी का गिलास लेकर आ गयी, साथ ही त्रिबेनी से कहने लगी, "तू लड़के को दूध देकर ख़ुद जायेगी, या मैं तेरे जेठजी को खाना दे आऊँ ?"

"मैं इन के पास बैठी हूँ, तुम जाकर दे आओ...थाली ढँककर ले जाना..." त्रिबेनी ने माँ से कहा, और फिर बेनू से कहने लगी—"मेरे जेठजी निरे साधु हैं, सारे दिन भजन और पाठ करते रहते हैं...पिछवाड़े के बग़ीचे में उन्होंने अलग कोठरी बनवा ली है—इधर कभी-कभार ही आते हैं...बस कभी बबुआ को खिलाने के लिए ले जाते हैं।"

फिर बेनू कुछ देर बाद उठकर जाने लगी तो त्रिबेनी ने हाथ जोड़कर उस के पैरों की ओर नमस्कार करते हुए एक बार फिर पूछा, "बीबी ! आपने नाम नहीं बताया, सासूजी को क्या बताऊँगी ?"

बेनू ने एक बार हँसकर बात टाली, "तुम्हारी सासूजी सारी रिआया को कहाँ जानती हैं...मेरा नाम तो उन्होंने कभी सुना ही नहीं होगा..."

पर साथ ही बेनू के मन में एक चीस-सी उठी, जाते हुए निचले होंठ को दाँतों तले दबाकर बोली, "मुझे लोग प्यार से संखचील पुकारते थे..."

त्रिबेनी ने शायद 'थे' शब्द की ओर ध्यान नहीं दिया, वह बच्चे के गले में पड़े हुए सोने के तावीज़ की ओर देखने लगी...

सब जानते हैं—पन्द्रह अगस्त के दिन देश की आज़ादी की ख़ुशी में कुछ क़ैदी रिहा कर दिए जाते हैं।

चन्दनसिंह को पन्द्रह अगस्त के दिन जब जेल से रिहाई मिली, उस की क़ैद की मियाद एक बरस दो महीने और बाईस दिन बाक़ी थी।

वह पाँच दिन की मोहलत के बाद जब जेल गया था, ब्याह के शगुन वाले कपड़े पहने हुए था, जो जेल में जमा थे। रिहाई के समय वही कपड़े उसे मिल गये थे, और ठाकुर पृथ्वीसिंह और मलखानसिंह जिस समय उसे लेकर घर आये, तो लगता था मानो चन्दनसिंह का अभी-अभी ब्याह हुआ है, और उस की रेशमी क़मीज़ पर गेंदे के फूलों के निशान शगुनों-टेहलों की गवाही दे रहे हैं...

आज मुद्दतों बाद पहला दिन था जब चन्दनसिंह के गिर्द या उस के घर के गिर्द सिपाहियों की वर्दी दिखाई नहीं दे रही थी, और घर आज पहली बार घर मालूम हो रहा था।

सास और माँ ने आगे बढ़कर चन्दनसिंह को गले से लगाया। त्रिबेनी एक बार प्रणाम करने के लिए आगे बढ़ी, फिर लाज से सकुचाकर पीछे के कमरे में चली गयी। कमरे के भीतर नहीं गयी, दरवाज़े की ओट में खड़ी होकर चन्दनसिंह

को देखती रही।

चन्दन ने उसे सेंध में से देखते हुए देखा तो धीरे से हँस पड़ा।

त्रिबेनी यूँ तो ठाकुर पृथ्वीसिंह की बहू थी, लेकिन उसे अभी तक सब कुछ रंग-बिरंगे सपने की तरह लगता था...बेटा भी सपने में जन्मा लगता था...

ठकुराइन ने गंगा को इशारा किया और वह बराबर के कमरे से चन्दनसिंह के बेटे को उठा लायी जो उस समय सो रहा था, और ठकुराइन ने अपने हाथों से उठाकर बच्चे को चन्दनसिंह की गोद में दे दिया।

चन्दनसिंह की निगाह बेटे के मुँह पर पड़ी, पर साथ ही उस के गले में पड़े हुए तावीज़ पर भी पड़ी, और वह हैरान-सी आँखों से अपनी माँ के मुँह की ओर देखने लगा...

ठकुराइन भी बताने-पूछने को बेचैन थी। कहने लगी, "देख न चन्दन! यह तो वही तावीज़ है जो मैं ने अपने हाथों से तुझे पहनाया था।"

चन्दनसिंह ने तावीज़ को हाथ में उल्टा-सीधा करके देखा, पर कुछ बताने की जगह माँ से पूछा, "पहचानो तो सही, वही है?"

"लो, मैं भला पहचानती नहीं?"

चन्दनसिंह ने भी धीरे से कहा, "वही मालूम होता है..."

माँ उस समय से हैरान थी जब से यह तावीज़ मिला था। पूछने लगी, "तुझे याद है या नहीं—यह कब तेरे गले से गिरा था, कहाँ गिरा था?"

चन्दनसिंह ने 'पता नहीं' में हाथ हिलाया, पर मुँह से कुछ नहीं कहा।

माँ ही बताने लगी, "तुम जानते हो, कैसे मिला?—मैं तो हरिद्वार गयी हुई थी, इस की मनौती देने के लिए, पीछे घर में कोई औरत आयी थी। न जाने कौन थी! वही आकर लड़के के गले में डाल गयी थी...साथ ही यह भी कह गयी थी बहू से कि यह तुम्हारे कुल का तावीज़ है, यह बच्चे की रक्षा करेगा..."

और माँ ने ख़ुशी और आश्चर्य से कहा, "न जाने कौन थी, उसे कहाँ मिला... पर ईश्वर उस का भला करे..."

और कोई नहीं जानता—जब चन्दनसिंह ने बच्चे को कसकर अपने कलेजे से लगाया, बच्चे के गले में पड़ा हुआ तावीज़ चन्दनसिंह के दिल की तरह धड़कने लगा...

यह गहरी रात की बात है—जब सब सो गये, और त्रिबेनी चन्दनसिंह के लिए दूध का गिलास लेकर उस की चारपाई के पास आयी तो चन्दनसिंह ने त्रिबेनी की बाँह पकड़कर उस का हालचाल पूछते हुए यह भी पूछा—"बेनी! यह तावीज़ देने जो औरत आयी थी, वह कौन थी?"

"बड़ी ही अच्छी थी, बड़ी ही सुन्दर..." त्रिबेनी सब कुछ बड़े चाव से बताने

लगी।

"पर" चन्दनसिंह ने बात काटते हुए बेसब्री से पूछा, "उस का नाम क्या था ?"

"नाम तो बड़ा अजीब उसने बताया था ।"

"क्या ?"

"पहले तो बता ही नहीं रही थी, कहे कि ठकुराइन अपनी सब रिआया के नाम नहीं जानतीं, जब बाद में जाने लगी तब बताया..."

"क्या ?" चन्दनसिंह की साँस तेज़ हो गयी।

"कहा—संखचील ।"

चन्दनसिंह को लगा, उस का साँस उस की छाती में रुक गया है ।

त्रिवेनी कहे जा रही थी, "भला यह भी किसी का नाम होता है ?"

और चन्दनसिंह के मुँह से रुके हुए साँस की तरह निकला "होता था ?"

त्रिवेनी ने शायद 'था' पर ध्यान नहीं दिया, बग़ल में पलँगड़ी पर सोए हुए बच्चे को उठाकर अपने चन्दनसिंह की गोद में डाल दिया ।

और चन्दनसिंह ने कसकर बच्चे को छाती से लगाया तो उस के गले में पड़ा हुआ तावीज़ चन्दनसिंह के दिल की तरह धड़कने लगा ।

यह सच है

उस के अनुमान से अभी रात थी...

पानी के किनारे पर उगी हुई झाड़ी में उस ने अपनी सिकोड़ी हुई टाँगों को सीधा किया और पैरों के बल खड़ा हुआ तो उसे झाड़ी के ऊपरी सिरे के गुच्छेदार फूल अपनी गरदन को छूते हुए लगे...

पर जब वह लम्बे डग भरता झाड़ी से निकलकर पानी के किनारे पर आया तो पानी में पड़ने वाली उस की परछाई उस के दिल को हिला गयी...

निथरे, खड़े हुए पानी में उस की पूरी आकृति प्रतिबिम्बित थी —लम्बी-पतली टांगें, छाती की हलकी दूधिया परछाई, और दोनों पहलुओं में लगे हुए अखरोटी रंग के पंखों का गहरा साया, और माथे के पास सिर पर पहने हुए ताज के समान बड़े चमकदार नीले पंखों का गहरा रंग, और लम्बी-पतली चोंच का अकड़ाव... और आँखों के गिर्द लाल सुर्ख़ घेरे...

सो, यह रात नहीं थी, दिन चढ़ने वाला था, तभी तो उस का प्रतिबिम्ब इतना स्पष्ट दिखाई दे रहा था...

और दिन चढ़ने के ख़याल से एक प्रकार के भय का एक ऐसा कम्पन उस के शरीर से गुज़र गया कि खड़े हुए जल में भी उस का साया काँप गया।

उस ने जल्दी से चोंच को पानी में डुबाकर एक लम्बी घूँट भरी। उस के सूखे हुए गले को जब पानी की तरावट मिली, उस ने अपनी प्यास की ओर से ध्यान हटाकर, दूर तक एक भयभीत दृष्टि डाली, और फिर जल्दी से लम्बे डग भरता हुआ पानी के किनारे उगी हुई झाड़ी में जाकर छिप गया।

सरकण्डों की यह झाड़ी पतली-सी थी, जिस की दरज़ों को रात का अँधेरा तो मिटा देता था, पर दिन की रोशनी उन्हें चौड़ा-सा करती हुई लगती थी, जिस के कारण वह अपने शरीर को छिपाकर भी निश्चिन्त नहीं था...

और सरकण्डों की यह झाड़ी ऊँची भी नहीं थी। वह जब बैठ जाता था, तब कहीं उसे कुछ ढकती थी ; पर जब वह खड़ा होता था, तो बस उस की गरदन तक आती थी। उस ने अपने शरीर को मानो अपने शरीर में ही समेट लिया, और फिर जल्दी से सरकण्डे के पत्तों को अपनी चोंच में लेकर ऊपर खींचने लगा।

शरीर की पूरी शक्ति से जब उस ने पत्तों को ऊपर खींचकर अपने शरीर को ढकने की कोशिश की, तो उस के हाँफने के कारण उस की नींद टूट गयी।

बिस्तर की चादर को वह नींद में न जाने कितनी देर तक खींचता रहा था कि उसे लगा, कि वह चादर पाँयती की ओर से कुछ फट गयी है।

उस ने पलंग के पास ही लगे हुए बिजली के बटन को दबाया और हैरान होकर अपने कमरे को देखा।

वही रोज़ की तरह सजा हुआ कमरा था, वही लकड़ी के बारीक काम की पीठ वाला पलंग, और वही...वह...

अजीब सपना आया था कि आज वह तप्त रेखा में पैदा होने वाला पंछी बन गया था, जो दिन भर, रोशनी से डरते हुए, पानी के किनारे की झाड़ी में छिपकर रहता है और सिर्फ़ रात के घने अँधेरे में झाड़ी से बाहर निकलता है।

उसे अपना गला उसी तरह सूखता हुआ लगा, जैसे अभी-अभी नींद में पानी के किनारे खड़े हुए अपनी लम्बी चोंच से लम्बे घूँट भरकर पानी पीते समय लगा था।

पलंग के पास ही छोटी मेज़ पर रखी हुई काँच की सुराही में से उस ने पानी के कितने ही घूँट भरे, और फिर, अभी देखे हुए अपने सपने के बारे में सोचने लगा।

सहज स्वभाववश उस का हाथ अपनी छाती की ओर भी गया और बाँहों की ओर भी—जैसे अभी उस के सारे पंख झड़ गये हों और वह एक पंछी से बदलकर सिर्फ़ एक आदमी रह गया हो।

पंख नहीं थे, पर पंछी के मन का डर इस समय भी उस के मन में था। और यों तो अभी रात थी, दिन का उजाला नहीं हुआ था, कमरे की मसनूई रोशनी से भी चौंककर वह कमरे की दीवारों की ओर देखने लगा।

एक दीवार से लगी हुई किताबों की अलमारी थी। उस की भटकती हुई दृष्टि जब किताबों की ओर गयी, उसे याद नाया कि कल उस ने एक ऑस्ट्रेलियन आर्टिस्ट की एक किताब पढ़ी थी—'द ड्रीम टाइम बुक' और उसी किताब में तप्त रेखा में पैदा होने वाले उस 'रात के पक्षी' की तस्वीर देखी थी, जो दिन-भर पानी के किनारे पर सरकण्डों में छिपकर रहता है, और जब उसे वे सरकण्डे अपने क़द से छोटे जान पड़ते हैं, वह चोंच से उन के पत्तों को खींचता रहता है ताकि वे जल्दी से ऊँचे हो जायें।

उसे अपने सपने पर हँसी-सी आ गयी और पलँग से उठकर उस ने अलमारी में से फिर वह किताब निकालकर देखी।

पर उस की हँसी उस के होंठों के पास आकर भी पीछे होती हुई उस के गले में अटक-सी गयी, पर सपने में मैं वह पक्षी क्यों बन गया ?

'शायद पिछले जन्म में मैं तप्त रेखा का पक्षी था !

'शायद अगले जन्म में मैं उस पक्षी की जून पाऊँगा !

'शायद इस जन्म में शरीर मनुष्य का, आत्मा उस पक्षी की... !

उस ने एक गहरी साँस ली, और आदिवासियों की उस कथा के संबंध में सोचने लगा, जो 'रात के पक्षी' से संबंधित है और जिस में वे कहते हैं कि वह पक्षी वास्तव में एक मनुष्य था, जिसे उस के साथियों ने इतना सताया कि उस ने ईश्वर के आगे प्रार्थना कर-करके अपने लिए एक पक्षी का रूप माँग लिया। उस की प्रार्थना स्वीकार हो गयी और वह पक्षी बन गया; पर उस की छाती में जो भय जमा हुआ था, उस के पक्षी बनने के बाद भी उस की छाती में ही पड़ा रहा, और वह सदा के लिए दिन की रोशनी में छिपकर रहने लगा।

'पर आदिवासियों की इस कथा का मुझ से क्या संबंध ?

'यह कथा मेरी छाती में क्यों उतर गयी ?

'केवल याद में नहीं, रात के सपने में भी ?...'

ज़िन्दगी के थोड़े-से वर्षों ने कई सुख उस के दायें-बायें बिछाये थे, और दूर जहाँ तक उस की दृष्टि जाता थी, उसे सारा रास्ता मखमली रंग का दिखाई देता था; पर आज वह चकित था कि वह कौन-सा डर था, जो रात के समय उसे सरकंडों की झाड़ी में छिपकर बैठने के लिए कहता रहा था ?

और रात के समय खड़े हुए पानी में भी उस का प्रतिबिंब क्यों काँपता रहता था ?

उस ने किताब का वह पन्ना पलट दिया, जिस पर 'रात के पक्षी' का चित्र था और अगले पन्नों पर छपी हुई तस्वीरें देखने लगा।

ये तस्वीरें उस ने कल भी प्यासी आँखों से देखी थीं।

यह उस अण्डे की तस्वीर थी, जिस के टूटने पर उस में से पहला सूरज

निकला था ।

वह पक्षी, जो मनुष्य जाति के लिए अपने सिर पर आग उठाकर लाया था और जिस के सिर के ऊपर वाले पंख सदा के लिए लाल हो गये थे ।

वे टूटी हुई चट्टानें, जिन में से मानो अब भी एक तूफ़ान का शोर सुनाई दे रहा हो ।

हाथ में ली हुई किताब को उस ने परे रख दिया—रंगों के तूफ़ान का शोर सुनाई देने का यह एक भयानक एहसास था ।

किताब, जैसे उस ने रखी थी, बन्द और चुप पड़ी रही, पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ किताब का नाम मानो उस की आँखों को पकड़कर बैठा रहा—ड्रीम टाइम बुक...

खाने का समय, काम का समय, सोने का समय, आराम का समय...ये सब समय लोगों ने गढ़े हैं, पर यह किस प्रकार का आदमी है—वह सोचने लगा—जिस में सपनों का समय कहकर इस किताब को देखने की बात की है...

रात का सपना उसे फिर याद आ गया और किताब की ओर से मुँह हटाते हुए उसे लगा, मानो वह स्वयं किताब का एक पृष्ठ बनकर किताब में रह गया हो, और अब वह किताब से नहीं, स्वयं अपने से परे हटकर अपने पलंग की ओर जा रहा हो ।

पलंग के पास खड़े होकर, वह कितनी ही देर रात वाली पायंती की ओर से फटी हुई चादर की ओर देखता रहा ।

सोचता रहा—इस चादर में मैं क्यों अपने शरीर को छिपा लेना चाहता था ?

क्यों ? किस से ?

और अचानक उस का ध्यान ऊँचा होकर छत के उस कोने की ओर गया, जहाँ एक महीन-सा जाला मानो उस कोने में बैठकर नीचे पलँग की ओर देख रहा हो ।

भय का एक काला साया मानो उस कोने से लटक रहा हो ।

उसे जाले से नहीं, अपने आप से एक प्रकार की निराशा हो आयी—कि साधारण-से जाले को, उस के मन ने, न जाने क्यों, भय के काले साये के साथ मिलाया है ।

ये उस के वे ख़ाली दिन थे, जो बड़ी सरकारी नौकरी वाले किसी परदेश में होने वाली बदली से पहले बिताते हैं ।

आजकल वह अकेला था ।

उस का सामान, जो उस के साथ परदेश जाने वाला था, उस से भी पहले समुद्री सफ़र पर जा चुका था ।

उस की पत्नी आने वाले तीन वर्षों की दूरी से पहले एक बार अपनी माँ के पास कुछ दिन रह लेना चाहती थी, इस लिए वह वहाँ गयी हुई थी।

उस की मिनिस्ट्री के, उस के अपने विभाग के लोग उसे विदाई का जश्न दे चुके थे, और अपनी ओर से उसे अपने पास से विदा कर चुके थे।

और अब वह अपने पास केवल स्वयं अकेला रह गया था।

उस की माँ यदि जीवित होती तो वह उस के पास जाकर उसे ज़िन्दगी की इस सफलता की सूचना देता, पर वह अब जीवित नहीं थी, और इस लिए यह ख़बर भी, अब उस की तरह, उस के कमरे में अकेली थी।

सो, यह अकेलेपन का समय था।

बीते हुए सुखों और आने वाले सुखों के बीच का ख़ाली समय...जैसे दो देशों की सीमाओं के बीच एक ख़ाली जगह होती है।

ख़ाली जगह...उसे ध्यान आया, 'शायद इसी जगह को उस किताब वाले ऑस्ट्रेलियन ने ड्रीम टाइम कहा है...सपनों का समय...'

पर पहली रात का ही यह पहला सपना कैसा है?

एक प्यास...एक भय...

और ठहरे हुए पानी में उस के शरीर की काँपती हुई परछाईं!

चिन्ता की एक पपड़ी-सी उस के होंठों पर जम गयी। क्या सपनों का समय इस जैसा भयानक होता है?

उस के सोने के कमरे और बाहर के बड़े कमरे, जहाँ लोगों से मुलाक़ातें की जाती थीं, के बीच एक छोटा-सा कमरा था, जो किसी ने कभी नहीं खोला था।

केवल वह ही कभी उसे खोल लिया करता था, पर वह बात बहुत समय पहले की है।

इस 'बहुत समय' का उस ने कुछ अनुमान-सा लगाना चाहा, पर समय की

पगडंडी पर इतना घास-फूस उगा हुआ था कि उसे समय के पद-चिह्न नहीं मिले।

सिर्फ़ एक ख़याल आया कि यह बन्द कमरा शायद उस के और उस की पत्नी के सोने के कमरे, और उस की ज़िन्दगी की सफलता के चिह्न—उस के मुलाक़ाती कमरे के बीच बना हुआ एक वह कमरा है, जो अपने सारे अँधेरे को समेटकर सदा चुप रहता है, पर सदा वहीं का वहीं खड़ा रहता है।

और वह कमरा अपने दोनों पहलुओं की ओर बने हुए दोनों कमरों की रोशनी के बीच दिल के पूरे अँधेरे से मुसकराता है।

उसे लगा—शायद दोनों कमरों की रोशनियाँ, कभी-कभी हैरान होकर, उस बीच के अँधेरे को देखती हैं। शायद उस से कुछ पूछती भी हैं, पर विवश-सी अपनी जगह पर खड़ी रहती हैं। वे उस अँधेरे को किसी जगह से भी तोड़ नहीं सकतीं।

उस का अपना हाथ आज मानो उस के शरीर से बाहर होकर, उस अँधेरे की ओर बढ़ा—उस के बन्द दरवाज़े की ओर...और फिर उस के अन्तर में गहरा उतरकर उसे उँगलियों से टटोलने लगा।

उस कमरे की एक खिड़की दिन की रोशनी की ओर खुलती थी, पर चिर-काल से उस के पल्ले अँधेरे और उजाले के बीच अड़कर खड़े हुए थे।

उस ने हाथों से टटोल-टटोलकर वह खिड़की ढूँढ़ ली, और उस के भिड़े हुए पल्लों को खींचकर खोलने लगा।

शायद शरीर के मांस की भाँति लकड़ी को भी एक प्रकार की पीड़ा हुई, पल्लों में से एक चिरने की-सी आवाज़ आयी।

उस के हाथ ठिठक गये। लगा, मानो खिड़की की लकड़ी को जो पीड़ा हुई, वह भी उस के अपने शरीर में से गुज़री हो।

आख़िर खिड़की के पल्लों ने उस का कहना मान लिया, जगह से परे हो गये।

उन्होंने कभी उस जगह पर खड़े होने के लिए भी उसी का कहना माना था। आज भी उसी का कहना मानकर परे हो गये और बाहर से आने वाले सवेरे के उजाले में उसके मुँह की ओर देखने लगे।

मानो पूछ रहे हों—आज तुम यहाँ कैसे आ गये? तुम्हें यह अवकाश कैसे मिल गया?

अवकाश की इस भयानकता का शायद आने वाले को उन पल्लों से भी ज्यादा ज्ञान था, वे आने वाले के चेहरे की उदासी को पिघली हुई आँखों से देखने लगे।

अँधेरे का दिल भी कुछ पिघल-सा गया और उस ने जो कुछ भी छिपाकर

रखा हुआ था, दीवारों की छाती से लगाकर, वह सब कुछ आने वाले के आगे रख दिया।

आने वाले ने दीवार के साथ लगी हुई एक कैनवस की ओर देखा, जिस पर धूल की एक तह जमी हुई थी।

उस ने अपनी उँगली से उस धूल को छुआ—तो कैनवस पर एक लकीर-सी बैठ गयी—मानो धूल एक रंग हो, और उँगली एक ब्रुश...

कैनवस ख़ाली थी, इस लिए धूल की तह के नीचे से किसी हरे-पीले रंग को नहीं उभरना था, केवल धूल में से कुछ नक़्श बनने और मिटने थे...

'ख़ाली कैनवस लेकर रखने का क्या फ़ायदा ? एक नहीं...दो नहीं...कितनी ही...पर क्यों ?' बहुत अर्सा हुआ, एक बार उस की पत्नी ने खीझकर उस से पूछा था, पर उस ने कोई उत्तर नहीं दिया था।

आज भी मानो वह प्रश्न कमरे के अंधेरे में लटका हुआ था।

शायद यह प्रश्न सदा उस के घर के एक अँधेरे कोने में लटकता रहेगा ? उसे विचार आया—घर बदल सकते हैं, पर इस से क्या होता है! जहाँ भी जाओ, वहाँ ही घरों के कोने होते हैं, और कोनों के अँधेरे।

और अँधेरे में लटकने वाले प्रश्न !

उत्तर न वह अपनी पत्नी को दे सकता था, न अपने आप को। इस लिए उसी तरह सिर झुकाये अपनी उँगली से कैनवस पर पड़ी हुई धूल में लकीरें-सी खींचता रहा।

धूल की लकीरें मुड़ती, टूटती और कहीं से गोल-सी होती हुई जब एक अजीब-सा दायरा बन गयीं—तब उसे ध्यान आया कि उस ने अपनी उँगली से उस धूल में किसी का नाम लिखा है।

उ...सि...ला

यह नाम उन लकीरों में टूट भी रहा था, जुड़ भी रहा था।

मानो वह हवा में लटकते हुए प्रश्न को उत्तर दे रहा हो।

धूल के होंठों में से निकले हुए बोल ने जब उस के अपने कानों को छुआ, उसे लगा, जैसे वह चुप की आवाज़ उस के कानों में से होती हुई और उस के सारे शरीर के अंग-अंग में से होती हुई उस के पाँवों की एड़ियों तक चली गयी हो, और उस के पाँव वहीं के वहीं उस फ़र्श पर जम गये हों। उस के मन में एक अजीब-सा डर पैदा हुआ। ये पाँव आज से नहीं, शायद कई बरसों से यहीं खड़े हुए हैं, और वह जब अपने सरकारी पद की कुर्सी पर बैठने के लिए जाता है, उस के पाँव वहाँ उस के साथ नहीं जाते...और जब वह अपनी पत्नी के बिस्तर में सोने के लिए जाता है तो उस के सारे अंग उस के साथ बिस्तर में जाते हैं, पर उस के पाँव उस के साथ नहीं जाते।

और उसे लगा—अब जब वह तीन बरस के लिए आज से भी ऊँचे पद को सँभालने के लिए इस देश के बाहर जायेगा, उस के पाँव उस के साथ नहीं जायेंगे।

एक चुप हो चुके नाम की आवाज़ न जाने किस तरह धीरे-धीरे राँगे के समान भारी हो गयी थी, और उस के पाँवों की एड़ियों में जाकर इस तरह बैठ गयी थी कि उस के पाँव जहाँ कभी खड़े हुए थे, वहीं खड़े रह गये थे।

और उसे लगा कि वह सदा अपने पाँवों के बिना चलता रहा था, और वह सदा अपने पाँवों के बिना चलता रहेगा।

उस ने एक गहरी साँस ली और आदिवासियों की एक प्राचीन कथा की तरह उन दिनों की बात सोचने लगा, जब उस के पाँव हुआ करते थे।

एक जवानी का देश होता था, जिस में गंगा जैसे मन की कई नदियाँ बहती थीं।

जहाँ-जहाँ सपनों के बीज गिरते थे, वहाँ-वहाँ बहुत हरे और करामाती पेड़ उग आते थे।

पेड़ों पर फूल भी खिलते थे, फल भी आते थे, चाहे इर्द-गिर्द के कई लोग उस से धीरे से कहते थे कि ये सब वर्जित फूलों और वर्जित फलों के पेड़ हैं।

पर लोगों का क्या, उस के अपने मन ने उस से कहा था कि वह वर्जित फूल भी तोड़ेगा और वर्जित फल भी खायेगा।

यह तब की बात है, जब उस के पाँव होते थे। और एक दिन उस ने दूर से देखा कि मन के एक ऊँचे टीले पर बैठकर उर्सिला कुछ काग़ज़ों पर एक पेन्सिल से तस्वीर बना रही है और वह पाँवों से चलकर नहीं, उड़कर, पीछे से जाकर उर्सिला की पीठ के पीछे खड़ा हो जाता है।...

उर्सिला सारी की सारी उस की परछाईं में लिपट गयी थी। परछाईं में नहीं, उस के अस्तित्व में...

और उस ने उर्सिला की पीठ पर छाये हुए उस के खुले हुए बालों में हाथों की उँगलियाँ उलझाते हुए पूछा था, 'उर्सिला! तुम रंगों से पेंट क्यों नहीं करतीं?'

'किसी दिन करूँगी।' कहते हुए वह हँस दी थी।

'पर कब?' उस ने पूछा था तो उर्सिला ने कहा था, 'जब रंग ख़रीदने के लिए पैसे होंगे, इक़बाल! तब...'

उस ने यह बात सुनी थी, पर समझी नहीं थी। उसे यह बहुत छोटी बात लगी थी—रंगों के लिए पैसे अगर आज नहीं हैं, तो कल हो जायेंगे।

पर आज और कल में, उस ने नहीं जाना था कि ग़रीबी का एक वह लम्बा फ़ासला होता है, जो कई बार एक जन्म में तय नहीं होता।

उन दिनों उस ने वर्जित फूलों और वर्जित फलों का अर्थ भी नहीं समझा था। यह उस ने बहुत समय बाद जाना था कि ग़रीबी के फूल घरों में सजाने के लिए नहीं होते और ग़रीबी के फल खाने के लिए नहीं होते ।

पर समझ की सीमा में आकर भी अनेक बातें होती हैं, जो समझ से परे खड़ी रहती हैं और शायद मनुष्य पर हँसती रहती हैं।

उसे लगा —वह उर्सिला के लम्बे और खुले बालों में हाथों से उलझाव डालता हुआ एक दिन स्वयं ही उलझन जैसा हो गया था, और शायद सदा के लिए उस के अस्तित्व का एक टुकड़ा, वहाँ, उस के बालों में ही उलझकर रह गया था।

और उस के अस्तित्व का जो हिस्सा उस के पास से बहुत दूर आ गया, वह कभी-कभी वे रंग और वह कैनवस ख़रीदने लगा, जो उर्सिला को ख़रीदने थे ।

उसे ज्ञात था—अब वह न ये रंग उर्सिला तक पहुँचायेगा, न यह कैनवस, और यह सब कुछ सदा एक बन्द कमरे के अँधेरे में पड़ा रहेगा—जहाँ रंग सूख जायेंगे और हर कैनवस पर धूल की तह जम जायेगी। पर तब भी वह ख़रीदता रहा, रखता रहा, और समझ की सीमा में आकर भी ये सब बातें उस की समझ से परे खड़ी रहीं, और शायद उस पर हँसती रहीं। इक़बाल के माथे पर पड़ी हुई चिन्ता की लकीर को देखकर समय व्यंग्य से मुस्कराया। और जब इक़बाल ने घबराकर जेब में हाथ डाला और अपने लिए एक सिगरेट निकालकर जलायी, तो 'समय' भी एक बूढ़े आदिवासी की भाँति हथेली पर तम्बाकू मलकर हुक़्क़े में डालता हुआ इक़बाल को एक प्राचीन कथा सुनाने लगा—'एक था अरब नौजवान और एक थी अरब सुन्दरी...'

कहानी साकार इक़बाल की आँखों के आगे विचरने लगी—ऐसे, जैसे किसी को पिछला जन्म स्पष्ट दिखाई दे जाये—वह जन्म, जब इक़बाल एक अरब नौजवान था और उर्सिला अरब सुन्दरी।

कॉलेज के थियेटर ग्रुप ने दुनिया-भर के विवाहों की रस्में इकट्ठा की थीं और साप्ताहिक थियेटर में उन्हें अभिनीत किया था। जब उन्हें एक प्राचीन अरब विवाह की रस्म का अभिनय करना था, तब उस के लिए इक़बाल और उर्सिला को चुना था।

इक़बाल ने अरबी वेशभूषा धारण की थी—मोटे-सफ़ेद कपड़े का चुन्नटदार किल्ट, जिस की गाँठ सामने की ओर बँधी हुई थी—और वह स्टेज पर सजायी हुई रेत की वीरानी में बाँसुरी बजाता हुआ मरुस्थल को मन की मुहब्बत सुनाता रहा था...

उर्सिला ने सनाई रेगिस्तान का लम्बा चोग़ा पहना हुआ था, जो उस के एक कन्धे के ऊपर से होता हुआ दोनों कोनों से सामने की ओर बँधा हुआ था, और

जिस में से उस की खुली हुई बायीं बाँह हवा में ऐसे फैली हुई थी, जैसे बाँसुरी के सुरों में से निकलने वाली आवाज़ को वह रेत पर गिरने से बचाना चाहती हो। और फिर उर्सिला उस की बाँसुरी की अरबी धुन के साथ अपनी आवाज़ मिलाने लगी। और फिर जैसे वे दोनों मरुस्थलों को चीरकर मिले हों—उर्सिला उस की बाँहों में सिमट गयी थी...। उस ने सनाई रेगिस्तान की रस्म के अनुसार उर्सिला के होंठ चूमे थे और फिर ख़ुशी में झूमता हुआ वह रेतीले स्थलों को पार करता उधर चल दिया था, जिधर बस्ती के लोग रहते थे।

बस्ती के एक घर के बाहर बैठकर उस ने फिर बाँसुरी के सुर छेड़े थे। बाँसुरी की आवाज़ घर के बन्द दरवाज़ों से देर तक टकराती रही थी।

इतने में उस के पीछे धीरे-धीरे चलते हुए उर्सिला भी आ पहुँची थी और उस से सटकर बैठ गयी थी, और उस ने किल्ट के ऊपर ओढ़ी हुई अपनी चादर उतारकर उस से उर्सिला को सिर से पैर तक ढक लिया था।

घर का दरवाज़ा आख़िर खुला और घर का बुज़ुर्ग सामने ड्योढ़ी में आकर खड़ा हो गया।

इक़बाल ने उठकर बुज़ुर्ग के पाँव छुए और नम्रतापूर्वक कहा, 'मैं आपके पास, ऐ बुज़ुर्गवार! आपकी बेटी का हाथ माँगने आया हूँ।'

बुज़ुर्ग मुस्कराया, 'नौजवान! मेरी बेटी एक हीरा है, बहुत क़ीमती, तुम इस की क़ीमत अदा कर सकते हो?'

इतने में इस अरब आशिक़ का पिता वहाँ पहुँच गया और उस ने आदर-सहित उत्तर दिया, 'मैं अपने बेटे के लिए आप की हीरे जैसी बेटी का हाथ माँगता हूँ।'

सुन्दर युवती के पिता ने कहा था, 'दो हज़ार पौंड देने पड़ेंगे।'

और अरब आशिक़ के पिता ने कहा था, 'सब दे सकता हूँ; जो माँगेंगे, वह दे सकता हूँ; पर देखिये, मेरा बेटा रेगिस्तान का फूल है, रेगिस्तान का झरना है, ठंडे-मीठे पानी का झरना। और देखिये, मेरा बेटा इस वीराने में खजूर का पेड़ है।'

सुन्दरी का पिता मुस्कराया था, 'यह तो मानता हूँ, स्वीकार करता हूँ, और इस लिए पाँच सौ पौंड छोड़ता हूँ।'

इतने में सनाई रेगिस्तान का क़ाज़ी पहुँच गया। उस ने आते ही कहा, 'और पाँच सौ पौंड मेरे नाम पर छोड़ने पड़ेंगे, ख़ुदा के नाम पर, ऐ ख़ुदा के बन्दे!'

सुन्दर युवती का पिता फिर मुस्कराया और कहने लगा, 'अच्छी बात है, पाँच सौ पौंड इन्सान के नाम पर छोड़े थे, अब पाँच सौ ख़ुदा के नाम पर छोड़ता हूँ...'

तभी युवती की माँ भी घर के बाहर आ जाती है, और सामने की ओर से

युवती के प्रेमी की माँ भी।

एक माँ जब कहती है, 'एक सौ पौंड मेरे दूध के नाम पर छोड़े जायें,' तब दूसरी माँ कहती है, 'हाँ! एक सौ पौंड मेरे दूध के नाम पर भी,' तो सुन्दर युवती का पिता हँसकर दोनों औरतों की ओर देखता है और दोनों के नाम पर दो सौ पौंड और छोड़ देता है।

फिर दोनों के भाई आते हैं—एक भाई अपने छोटे भाई की दाहिनी बाँह बनकर आता है, और दूसरा अपनी बहन का पिता जैसा रखवाला बनकर, और दोनों के नाम पर दो सौ पौंड और छोड़ दिये जाते हैं।

फिर दो बूढ़े दादा आते हैं—एक युवती का दादा, और दूसरा उस के आशिक़ का दादा। इन में से पहला कहता है, 'मेरी पोती मेरे घर के दीये की लौ है,' और दूसरा कहता है, मेरा पोता मेरे घर का चिराग़ है,'—तो दोनों दादाओं के नाम पर एक-एक सौ पौंड और छोड़ दिये जाते हैं।

फिर कई आवाज़ें उठती हैं:

'मैं आज के इस आशिक़ का दोस्त हूँ, उस के भाइयों के समान...'

'मैं आज की होने वाली दुलहन की सहेली हूँ, उस की बहनों के समान...'

'मैं ने लड़के को इल्म दिया है...'

'मैं ने लड़की को हुनर सिखाया है...'

और घर के दरवाज़े की चौखट पर खड़ा हुआ सुन्दर युवती का पिता आज की माँगों पर झूमते हुए कहता है, आप सब के नाम पर मैं सब कुछ छोड़ता हूँ, केवल एक सौ पौंड लूँगा...'

उसी समय धान कूटने की आवाज़ आती है। कारीगरों, मज़दूरों के गाने की आवाज़ें आती हैं।

लड़की का पिता पूछता है, 'ये कैसी आवाज़ें हैं? कितनी प्यारी लग रही हैं!'

लड़के का पिता उत्तर देता है, 'घरों के आँगनों में हाँडियाँ पक सकें, इस लिए इस बस्ती के मज़दूर धान कूट रहे हैं। देखिये, हवा में कैसी अच्छी महक है!'

तो लड़के का पिता उत्तर देता है, 'फिर एक सौ पौंड मैं संसार के सारे मज़दूरों के नाम पर छोड़ता हूँ—घरों में और खेतों में काम करने वाले श्रमिकों के नाम पर।'

और फिर विवाह की दावत सज जाती है।

कॉलेज के दिनों में खेला हुआ यह नाटक इक़बाल को ऐसे याद आया, मानो

पिछला जन्म याद आया हो।

नाटक खेलते हुए भी उसे विश्वास नहीं हो रहा था कि यह केवल नाटक है, और आज जब उस का एक-एक दृश्य याद आया तो पूरे का पूरा अपनी आपबीती की भाँति लगने लगा।

जगबीती किस स्थान पर आकर आपबीती बन गयी, इक़बाल उस स्थान को अपनी छाती में खोजने लगा।

'शायद प्राचीन कथा में जो शिष्टाचार था—सगे-संबंधियों और मित्रों को हासिल करने के लिए धन-सम्पदा का त्याग'—इक़बाल सोचने लगा, 'शायद यही वह स्थान था, जहाँ उस के और उर्सिला के बीच दुनिया द्वारा डाली हुई दूरियाँ मिट गयी थीं।'

सनाई मरुस्थलों की यह प्राचीन रस्म जैसे कई वर्ष हुए, इक़बाल को झकझोर गयी थी। आज भी वह उस की आँखों के सामने ऐसे चमक गयी कि उस का मन चौंधिया गया। 'इस रस्म का विस्तार किस प्रकार संसार को अपनी बाँहों में समेट लेता है—केवल सगे-सम्बन्धियों और मित्रों को ही नहीं, बेगानों-परायों को भी। केवल आदर और मोह की जगह को नहीं, बेगानों की मेहनत की जगह को भी...।' और रस्म का अन्तिम भाग—अन्तिम सौ पौंड को संसार के नाम पर छोड़ना—इक़बाल की दृष्टि में इस रस्म को एक बहुत ऊँची रस्म बना गया।

पर रस्म उस की आँखों में जितनी ऊँची हुई, उतना वह स्वयं छोटा हो गया।

लगा—वह बाँसुरी उस की नहीं थी, जो मरुस्थलों में गूँज उठी थी; उस के बोल तो सारे के सारे मिट्टी में मिल गये...

बाँसुरी तो उस दिन उस ने उधार ली थी, वह सोचने लगा—'क्या उर्सिला को मुहब्बत करने वाला अपने सीने में छुपा मन भी उस ने उधार लिया था?'

बाहर के बरामदे में अचानक एक खटका हुआ—और इक़बाल ऐसे चौंक गया, जैसे कोई क़ानून किसी क़ानून से बाहर की जगह में अचानक दाख़िल हो गया है।

किसी जगह पर पुलिस के छापा मारने के समान।

इक़बाल के हाथ ख़ाली थे, पर उसे ऐसा लगा, जैसे अचानक हाथों में से कुछ छिटक गया हो। चोरी से खींची जा रही शराब के समान, या जाली नोटों की गड्डी के समान।

उस के होश ने सँभलना चाहा और फिर उसे भी सँभालना चाहा, कहा, 'अख़बार वाले ने बरामदे में रोज़ की तरह सिर्फ़ अखबार फेंका है...'

पर वह खटका, जो बाहर के बरामदे में हुआ था, बाहर की बैठक की बन्द कुंडी को खोलकर जैसे अन्दर चलकर आ गया था, इस चिरकाल से बन्द रहने वाले कमरे में...और अब जैसे इक़बाल अकेला इस कमरे में नहीं था, वह खटका भी कमरे में खड़ा हुआ था।

इक़बाल भी चुप था, और उस की तरह वह खटका भी, पर चुप हो जाने से अस्तित्व नहीं मिटता···दोनों का अपना-अपना अस्तित्व था। इक़बाल का एक छुपी हरकत की तरह, और खटके का छुपी हरकत को झाँककर देखने वाले की तरह।

आज घर में इक़बाल की पत्नी नहीं थी, न कोई नौकर; पर उन लोगों ने मानो घर से परे जाकर भी इक़बाल को अपने अस्तित्व की याद दिलाना ज़रूरी समझा था—चाहे एक छोटे-से खटके की सूरत में ही।

इक़बाल ने एक गहरी साँस ली और अपने आप को अपने अकेलेपन का विश्वास देता हुआ बन्द कमरे के टूटे हुए जादू को फिर जगाने की चेष्टा करने लगा।

पर उस के मन की सारी एकाग्रता भूमि पर ऐसे गिर गयी थी, मानो चोरी से खींची जा रही शराब गिर गयी हो, और अब केवल हवा में उस की महक रह गयी हो, जिसे न गिलास में डाला जा सकता था, और न जिस का घूँट भरा जा

सकता था...

इक़बाल को एक बड़ी कड़वी-सी हँसी आयी और ख़ाली कैनवस की ओर देखकर कहने लगा, 'देखो उर्सिला ! तुम्हारी सारी यादें जाली नोटों की तरह हो गयीं...अब मैं अकेले बैठकर चाहे कितने ही नोट छाप लूँ, ये मेरी दुनिया में नहीं चल सकते...'

इक़बाल परेशान-सा कमरे के बाहर आ गया, और दोनो ओर के कमरों की ओर इस प्रकार देखने लगा, मानो अभी वह घर में चोरी करके घर से बाहर निकलने का रास्ता खोज रहा हो...

एक बड़ी तेज़-सी नफ़रत की गन्ध इक़बाल के सिर को चढ़ गयी···और सिर को ऐसे चक्कर आया कि उस का हाथ पास की दीवार का सहारा लेता हुआ काँप-सा गया...

क्या नफ़रत की भी गन्ध होती है? उसे विचार आया—और वह साथ ही सोचने लगा—यह नफ़रत घर की दीवारों से उठ रही है या उस के अपने शरीर में से ?

हर जगह की अपनी विशेष गंध होती है—सोने के कमरे की अजीब गर्म-सी गंध, और बैठक की कुछ ठंडी और ऊपरी-सी, और हर शरीर की अपनी-अपनी—इतनी कि किसी शरीर के मांस को अपने शरीर से सूँघने को जी करता है, और किसी को...

पर आज मानो सारी दुनिया की गंध एक जैसी हो गयी हो—इक़बाल को लगा—इस घर की, घर की हर चीज़ की, और घर में खड़े हुए उस के अपने शरीर की...

इक़बाल ने ज़ोर की एक साँस लेकर हवा को सूँघा, और फिर ज़ोर से हँसते हुए सोचने लगा—नहीं, यह दुनिया की गंध नहीं है, न इस घर की, यह घर में मरे हुए एक कमरे की गंध है...

और साथ ही इक़बाल को एक भयानक ख़याल आया—और तीन दिन के बाद, जब देश से बाहर जाते समय वह इस घर को छोड़ देगा, क्या यह मरा हुआ कमरा—समुद्र पार, वहाँ के नये घर में रहने के लिए उस के साथ चला जायेगा ?

इस समय इक़बाल जहाँ खड़ा था, वहाँ से दायें हाथ की बैठक के शीशे वाले दरवाज़े में से बाहर के बरामदे का कुछ हिस्सा दीख रहा था; वहीं, जहाँ आज सवेरे का अख़बार पड़ा हुआ था...और दूर से औंधे-से पड़े हुए अख़बार की ओर देखते हुए इक़बाल को लगा—मानो आज के अख़बार का पहला शीर्षक हो कि आज एक जीवित व्यक्ति एक मृत कमरे में से बरामद हुआ है...

फिर न जाने किस समय इक़बाल के सामने किसी ने अख़बार रखा—और इक़बाल ने देखा—एक ख़बर के गिर्द पेन्सिल से कीरमकाटे-सी लकीरें खिंची हुई थीं...

इक़बाल ने चौंककर कई वर्ष परे बैठी हुई उर्सिला की ओर देखा, और पूछा, 'इस ख़बर के गिर्द तुम ने पेन्सिल से लकीरें क्यों खींची हैं?'

उर्सिला का चेहरा बहुत उदास था, बोली, 'ख़बर के गिर्द नहीं, बेकारी के गिर्द, मजबूरी के गिर्द...'

'किस की मजबूरी?' उस ने पूछा।

और उर्सिला ने कहा, 'जिसे एक रोटी चुराने के जुर्म में आज एक महीने की क़ैद हुई है।'

'तुम उसे जानती थीं?'

और उत्तर में उर्सिला मुस्करा दी, 'पहले नहीं जानती थी, पर अब जानती हूँ। कल रात मैं ने उस के भूखे बच्चों को देखा था, और बच्चों की माँ को... उस समय, जब उसे जेल ले जा चुके थे...' और उर्सिला ने कहा, 'अख़बारों में हमेशा अधूरा सच होता है...देख लो, चोरी की बात वे सब को बता रहे हैं, मजबूरी की बात किसी को नहीं बतायेंगे...'

उर्सिला उसी प्रकार वर्षों की दूरी पर खड़ी रही, केवल यह बात इधर आकर इक़बाल के पास खड़ी हो गयी।

इक़बाल ने घबराकर गुसलख़ाने का पानी खोला और कई बार अपनी आँखों को धोया। न जाने आँखों से बीते दिनों को धोने के लिए, या आज के दिनों को धो-मिटाकर बीते दिनों को अच्छी तरह देखने के लिए।

अचानक उस की आँखों में एक स्पष्टता-सी आयी—रेगिस्तान के रेतों को चीरती हुई, और उस के बचपन और जवानी वाले उस के पहाड़ी गाँव के पत्थरों तक पहुँचती हुई।

सनाई के मरुस्थल की वह रस्म, जिसमें किसी की निजी ख़ुशी बेगानों-परायों की मेहनत को भी अपनी छाती में समेट लेती है, और उस के पहाड़ी गाँव की उर्सिला, जो किसी बेगाने को एक महीने की क़ैद होने की उस ख़बर के गिर्द काली लकीरें खींचती है।

लाखों मीलों का फ़ासला तय करके—मानो मानव-मन के दोनों सिरे एक ही स्थान पर जुड़ जाते हैं...इक़बाल चकित-सा आँखों में आयी हुई इस स्पष्टता को देखने लगा।

स्पष्टता की रेखा एक ही थी—केवल उर्सिला के दो चेहरे थे—एक होते

हुए भी दो चेहरे, एक शरीर पर धारण किये हुए अरबी वस्त्र की ओर झुका हुआ और अपने होने वाले पति की चादर में लिपटा हुआ लाल और लजाता हुआ चेहरा, और दूसरा आँखों के आगे अख़बार रखकर परायी भूख से तड़पता हुआ उदास चेहरा।

और उर्सिला इक़बाल के जन्म और लालन-पालन की भूमि से लेकर लाखों मील दूर अरब के मरुस्थलों तक फैल गयी।

दोनों सिरे बहुत दूर थे, हाथ कहीं नहीं पहुँच सकता था, और बीच में—वह सारा आडम्बर था, जिसे लोग घर-संसार कहते हैं।

पर तौलिये से आँखों और माथे को पोंछते हुए इक़बाल को लगा कि बीच में वह जो कुछ था, वह केवल कुछ धब्बों जैसा रह गया है, शायद पोंछा जा सकता है।

और इक़बाल के शरीर पर थोड़ी-सी धूप निकल आयी।

उस ने किचन में जाकर गैस का चूल्हा जलाया और पानी की केतली चूल्हे पर रख दी। सिंक में रात की कॉफ़ी का प्याला उसी तरह बिन-धोया पड़ा था। बराबर चाहे शीशे की पट्टी पर और प्याले रखे थे, पर वह सिंक में पानी की टोंटी खोलकर रात वाले प्याले को ही धोने लगा।

केतली का पानी अभी उबला नहीं था। उस ने स्वाभाविक तौर पर आग को तेज़ करने के लिए जब ज़ोर से फूँक मारी, गैस की आग बुझ गयी, और गैस की अजीब-सी गन्ध उस के सिर में चढ़ गयी।

ठिठुरते हुए हाथ से दियासलाई से फिर गैस को जलाते हुए इक़बाल ने अपने माथे में एक उस बहुत पुराने दिन को ज़ोर से झंझोड़ा, जब कॉलेज की पिकनिक वाले दिन झरने के पत्थरों के पास बैठकर, जंगल की कुछ सूखी टहनियों को इकट्ठा करके उर्सिला ने चाय बनाने के लिए आग जलायी थी और वह आग को बनाये रखने के लिए, नयी टहनियों को जलती हुई टहनियों के साथ लगाता हुआ आग को बार-बार फूँक मारता रहा था।

एक बुझी हुई लकड़ी का धुआँ उस की आँखों में लगा था। न जाने किस तरह का धुआँ था कि आज वर्षों बाद इक़बाल को याद आया तो उस धुएँ से उस की आँखों में पानी आ गया।

कॉफ़ी का प्याला बनाकर जब इक़बाल अपने कमरे में आया, उसे अचानक कल देखी हुई वह पेण्टिंग याद आ गयी, जिस में लाल परों वाले सिर का वह पंछी था, जो मानव जाति के लिए देवताओं के घरों से आग चुराकर लाया था अपने सिर पर रखकर, जिस के कारण उस के सिर के पर सदा के लिए लाल

हो गये थे...

इक़बाल को लगा—वह कल का सच था, आज का सच उस के उलट है।

और एक पेण्टिंग की तरह उस ने अपनी शक्ल शीशे में देखी, और शीशे की ओर उँगली से इशारा करते हुए, मानो अपने कानों से कहने लगा—'पर यह वह इन्सान है, जो देवताओं के यहाँ से धुआँ चुराकर लाया है...'

कानों में एक खटका-सा सुनाई दिया—पीठ की ओर से।

उस ने पीठ मोड़कर टाइलों की छत के नीचे, कच्चे आमों की चटनी कूटती हुई अपनी माँ की ओर देखा।

माँ के चेहरे को ग़ौर से देखना चाहा, पर आँखों के आगे बीसों बरसों का धुआँ फैल गया।

धुआँ इधर था, माँ के मुख से इधर, और मुख दूसरी ओर था।

उस ने धुएँ में हाथ मारा, हाथ से धुएँ को परे करते हुए, सिलबट्टे के खटके से वह दिशा ढूँढ़ने लगा, जहाँ माँ लकड़ी की एक पटरी पर बैठकर हरी मिर्च और कच्चे आमों की चटनी पीस रही थी।

वह जब स्कूल से आकर, माँ से रोटी माँगने के लिए दौड़ता हुआ रसोई की ओर जाता था, तब भी इसी प्रकार हाथ से धुएँ को आँखों के आगे से परे हटाया करता था।

और माँ कहा करती थी, 'रे, कोई धुएँ वाला कोयला पड़ा हुआ है चूल्हे में, चिमटे से पकड़कर निकाल दे!'

और उसे चूल्हे में से उठते हुए धुएँ के ग़ुबार में कहीं इधर-उधर पड़ा हुआ चिमटा नहीं मिलता था।

फिर माँ के पाँवों के नीचे पड़ी हुई लकड़ी की पटरी हिलती थी, माँ ही उठकर धुएँ में हाथ मारते हुए चिमटा ढूँढ़ लेती थी और चूल्हे में से धुएँ वाले कोयले को निकालकर, चूल्हे पर तवा रख देती थी।

'कई बरस भी शायद धुएँ वाले कोयले की तरह होते हैं' वह सोचने लगा—पर वह चिमटा, जिस से पकड़कर वह धुएँ वाले कोयले को निकाल दे...' उसे हँसी-सी आ गयी—'वह तो मुझे तब भी नहीं मिला करता था...'

उसे लगा—वह ज़िन्दगी के पन्नों का बस्ता लिये हुए अब भी किसी ड्योढ़ी में खड़ा हुआ है और सामने कई बरस धुएँ वाले कोयलों की भाँति सुलग रहे हैं।

उसे लगा—शायद वह सदा इसी प्रकार भूखा-प्यासा ड्योढ़ी में खड़ा रहेगा, कहीं दूर से हरी मिर्चों की और कच्चे आमों की महक आती रहेगी, और धुएँ में हाथ मारता हुआ वह चेहरा सदा ढूँढ़ता रहेगा—जो धुएँ के परले पार है।

कॉफ़ी गर्म थी, पर धुएँ से आँखों में पानी भर आया। इक़बाल ने उँगली की पोर से वह पानी पोंछा तो कॉफ़ी के गर्म घूंट ने भी उस के शरीर में एक ठंडी-सी कम्पन उतार दी।

उस के शरीर पर अभी तक वही कपड़े थे, जो उस ने रात को सोते समय पहने थे—उस का हाथ एक आदत के तौर पर अलमारी में टँगे हुए अपने ऊनी ड्रेसिंग गाउन की ओर बढ़ा; पर ड्रेसिंग गाउन को पहनते समय जब उस का हाथ स्वाभाविक ही उस की जेब में गया—ऊनी गाउन की कुछ गर्माइश लेने के लिए, तो हाथ जैसे जेब में अटक गया।

एक जेब थी, जिस में उर्सिला का हाथ था।

उस दिन पिकनिक से लौटते हुए जब बहुत ठंड उतर आयी थी...उस दिन उर्सिला को हलका-सा बुख़ार हो गया था। उस के पास कोई गर्म कपड़ा नहीं था। उस की एक सहेली ने अपना कोट उतारकर ज़बरदस्ती उसे पहनाया था, जिस के दायीं ओर की जेब में उस ने अपने दायें हाथ को गर्म कर लिया था, पर उस के बायीं ओर चलते हुए, उस के बायें हाथ को इक़बाल ने पकड़कर अपने कोट की जेब में डाल लिया था।

और उर्सिला ने जब अपने घर के पास की सड़क के पास आकर उधर मुड़ना चाहा था—'अच्छा, इक़बाल ! इस मोड़ से मुझे पास पड़ेगा, मैं...'

और उस की बात को बीच में काटकर इक़बाल ने कहा था, 'अकेली जाओगी ? अच्छा...'

पर उस का हाथ इक़बाल की जेब में था, जिसे 'अच्छा' कहकर भी उस ने पकड़ रखा था।

और वह उसी तरह खड़ी रह गयी थी।

'जाओ...'

'हाथ...'

'यह मेरी जेब में रहेगा...'

और वह ज़ोर से हँस पड़ी थी। कहने लगी, 'अच्छा, फिर मैं हाथ के बिना चली जाती हूँ; पर यह बताओ, तुम इस का क्या करोगे ?'

'जेब में डाले रखूँगा।'

'कितने समय तक ?'

'हमेशा...'

'और जब कोट धोने के लिए दोगे ?'

'धोने के लिए दूँगा ही नहीं...'

'और जब कोट पुराना हो जायेगा ?'

'यह पुराना होगा ही नहीं...'

"और जब...'

'चुप क्यों हो गयीं ?'

'अगर बुरा मानोगे तो नहीं कह सकूँगी...'

'कह दो...'

'जब वह ज़मींदार की बेटी तुम्हारी जेब की मालकिन हो जायेगी, तब ?'

ज़मींदार की बेटी के साथ होने वाले इक़बाल के रिश्ते की बात सारी हवा में थी, वह जानता था, पर उस ने जेब में अपने हाथ में लिया हुआ उर्सिला का हाथ ज़ोर से भींच लिया...

पर ऐसे, जैसे उस ने अपने हाथ के लिए उर्सिला के हाथ का सहारा लिया हो।

कहा, 'वह मेरा सपना नहीं है, उर्सिला !'

उस ने जो कहा था, सच कहा था। उर्सिला के सिवाय दुनिया की कोई लड़की उस का सपना नहीं थी। ज़मींदार की बेटी सिर्फ़ उस के माता-पिता का सपना थी...

उर्सिला ने ग़ौर से उस के मुँह की ओर देखा, अपलक देखती रही...

फिर धीरे से बोली, 'बेटों के चेहरे में माता-पिता की छवि होती है न...'

'कुछ नैन-नक़्श विरसे में मिलते हैं...'

'घर-ज़मीन भी विरसे में मिलते हैं...'

इक़बाल को अनुमान नहीं हुआ कि वह क्या कहना चाहती है, इसलिए चुप-सा रह गया।

उर्सिला ने ही फिर कहा, 'मेरा ख़याल है सपने भी विरसे में मिलते हैं...'

'नहीं !' और वह हँस पड़ा। कहने लगा, 'अभी सपनों की वसीयत करने वाले काग़ज़ नहीं बने।'

वह भी हँस पड़ी थी। कहने लगी, 'इस का जवाब दे सकती हूँ, पर दूँगी नहीं।'

'क्यों ?'

वह फिर हँस पड़ी थी। कहने लगी, 'कई बातें ऐसी होती हैं, जिन्हें लफ़्ज़ों की सज़ा नहीं देनी चाहिए।'

और पाँवों की भाँति बात भी खड़ी हो गयी।

फिर जब उस ने जाने के लिए पाँव उठाया, तो उस की बाँह खिंच-सी गयी।

'जाओ ! पर यह हाथ यहीं रहेगा, मेरी जेब में...मंज़ूर ?"

'हाँ, मंज़ूर.. हाथ के बिना चली जाऊँगी।'

बहुत-बहुत दिन उस क्षण में समा गये थे। इक़बाल ने अपनी जेब में उर्सिला

के हाथ को ढककर, छिपाकर पकड़ रखा था...और ज़िन्दगी का एक टुकड़ा सच-मुच उस की जेब में पड़ा रहता था ।

फिर न जाने कब, किस तरह, वह कोट मर गया ।

और वह कोट मरकर उस के विवाह के जामे की जून में पड़ गया...

ज़मींदार के घर की दौलत पाँवों के आगे बिछी, पर इक़बाल ने जेब में हाथ डालते हुए देखा, जेब हाथ से ख़ाली थी ।

ख़ाली जेब ने इक़बाल की ओर देखा ।

'मैं ने उस हाथ को बेच दिया ।' उस ने धीरे से जेब से कहा ।

जेब ने चकित होकर उस की ओर देखा—मानो धुर तक, अपनी सीवनों तक, अपने ख़ालीपन को दिखाते हुए पूछ रही हो, 'पर किस क़ीमत पर ?'

इक़बाल ज़ोर से हँसा, मानो आँखों तक भर आये रोने को रोक रहा हो । कहने लगा, 'कई बातें ऐसी होती हैं कि उन्हें लफ़्ज़ों की सज़ा नहीं देनी चाहिए...'

टेलीफ़ोन की घंटी बजी...

इक़बाल ने चौंककर मशीन के उस काले-से टुकड़े की ओर देखा—जो उस के चारों ओर की दुनिया ने उस के सोने वाले कमरे में भी एक लम्बे हाथ की तरह रखा हुआ था ।

घंटी फिर बजी ।

इक़बाल ने टेलीफ़ोन के तार की ओर घबराकर देखा, मानो वह मांस की लम्बी बाँह हो, जिस का हाथ उस की छाती के बिलकुल अन्दर तक पहुँच रहा हो ।

घंटी बजे जा रही थी ।

मानो कोई दीवार में लगातार छेद किये जा रहा हो ।

कोई हथौड़ी मानो एक ताल में बँधी हो ।

उस का हाथ घबराकर रिसीवर को ओर बढ़ा...आवाज़ को तोड़ देने के लिए।

वह आवाज़ एक झटके से टूट गयी, पर एक धीमी हलकी-सी आवाज़ सरक-कर उस की ओर आयी

'मिस्टर इक़बाल ?'

'हाँ ।'

'मैं पुरी बोल रहा हूँ । भाभी जाने वाली थीं, चली गयीं ?'

'हाँ ।'

'फिर लंच पर मैं तुम्हारा इन्तज़ार करूँगा ।'

इक़बाल को लगा, मानो एक दिन की मोहलत भी ग़ैर-क़ानूनी हो, और कोई हाथ में सर्चलाइट लेकर उसे, एक दिन की गुफा में बैठे हुए को, ढूँढ़ रहा हो।

'हैलो...हैलो...आवाज़ नहीं आ रही है...'

'नहीं पुरी ! मैं ने लंच के लिए कहीं 'हाँ' की हुई है...'

'फिर रात को सही, डिनर मेरे साथ...'

'नहीं...रात को भी कहीं 'हाँ' कर चुका हूँ ..''

टेलीफ़ोन के तार में से गुज़रती हुई एक हँसी-सी इक़बाल के कानों को छू गयी, 'फिर तो मामला सीरियस मालूम होता है !'

'नहीं पुरी !'

'भाभी आयेंगी तो सारी रिपोर्ट तैयार रखूँगा...सच बताओ, किसी लड़की के साथ लंच का इक़रार है ?'

पुरी की चिन्ता का, मानो पुरी की चिन्ता में ही इक़बाल ने उत्तर दिया, 'हाँ।'

'और डिनर भी उसी के साथ ?'

'हाँ ।'

टेलीफ़ोन का तार ज़ोर से हँसा, 'यार ! अब हमारे देश से जाते हुए क्यों हमारे देश की एक लड़की को रोने के लिए छोड़ जाओगे ?'

'तुम कमाल हो पुरी !'

'क्यों ?'

'अभी तुम किसी भाभी के साथ हमदर्दी कर रहे थे, और अभी तुम्हें किसी और से हमदर्दी हो गयी !'

'यार ! फ़्लोर क्रॉसिंग तो हमारे बड़े-बड़े नेता कर लेते हैं...अच्छा, उस एक दिन की मलिका को हमारा सलाम कहना !'

इक़बाल ने टेलीफ़ोन का प्लग खींचकर निकाल दिया ।

एक राहत-सी हुई कि अब बाहर की कोई आवाज़ अन्दर नहीं आयेगी।

पर टूटी हुई चुप को फिर से जोड़ते हुए उसे ख़याल आया, 'मैं ने पुरी से झूठ क्यों कहा कि आज का लंच किसी लड़की के साथ...'

और साथ ही उसे लगा, 'यह पूरा झूठ नहीं है...दूर से देखने में झूठ लगता है, पर पास से देखने पर यह झूठ नहीं है...'

आज कॉफ़ी का प्याला पीते हुए उर्सिला उस के पास थी...

और दोपहर के खाने के समय भी...

इक़बाल को लगा...आज मानो वह सच और झूठ के बीच कहीं खड़ा हुआ है; यह नहीं मालूम कौन-सी जगह है...एक नयी जगह, सच और झूठ के बीच।

इस जगह की बात उस ने एक बार सुनी थी। उर्सिला ने सुनायी थी, जब कॉलिज में एक डिबेट हुई थी ।

बीते हुए क्षण धीरे से सरककर कमरे में आ गये ।

डिबेट का विषय है—'विल-पावर' ।[1]

'उर्सिला ! तुम विल-पावर के पक्ष में बोलोगी, मैं भी पक्ष में बोल रहा हूँ...'

'नहीं, मैं पक्ष में नहीं बोलूँगी ।'

'क्यों ?'

'क्योंकि उस के पास तुम्हारे जैसा तगड़ा वकील है, उसे मेरी ज़रूरत नहीं है।'

'यह मज़ाक़ क्यों ?'

'मज़ाक़ नहीं...'

मज़ाक़ ही तो था—उर्सिला ने अपनी विल-पावर से क्या नहीं किया ? ननिहाल की दया पर पली है, तब भी किसी की मर्ज़ी न होते हुए भी कॉलेज में पढ़ रही है। फ़ीस का बहुत बड़ा सवाल सामने आया था तो उस ने 'स्कॉलर-शिप' लेकर उस सवाल का हल निकाल लिया था। फिर...फिर उर्सिला ऐसे क्यों कह रही है ?

कॉलेज का हॉल भरा हुआ है ।

डिबेट का एक पलड़ा भारी हो रहा है। विल-पावर के पक्ष वाले बड़े उत्साह में हैं, उन के तर्क जवानी के गर्म लहू में भीगे हुए हैं, और उन की कसी हुई बाँहें

1. आत्मशक्ति

सीधे भविष्य के सीने को छूती हुई प्रतीत होती हैं।

इक़बाल सोच में पड़ा हुआ है। उर्सिला जानबूझकर एक उदास और हारे हुए पक्ष की ओर क्यों जा बैठी है ? क्यों ?

परन्तु उर्सिला का चेहरा उदास नहीं है, केवल गंभीर है—और स्टेज पर जाकर बोलने वाले हर किसी को सुनते हुए, वह सुनने वालों की तालियों के साथ अपनी तालियाँ भी मिला रही है।

मानो अपने पक्ष के विपरीत बोलने वालों को दाद दे रही हो।

'यह उर्सिला आज अपने विरुद्ध क्यों है ?'

इक़बाल ने कल लाइब्रेरी में बैठकर इन्सान के मन की शक्ति पर कितने ही हवाले एकत्र किये थे, वह बारी-बारी स्टेज पर सब के सब दोहरा रहा है और फूलों से लदी हुई मेज़ के पास रखी हुई कुर्सियों पर बैठे तीनों जज उसे सुनते हुए अपने काग़ज़ों पर कुछ नोट ले रहे हैं...और सुनने वाले तालियों से हॉल की ख़ामोशी को बार-बार तोड़ रहे हैं...उर्सिला भी...

हॉल में एक विश्वास-सा फैल गया है कि आज की डिबेट का चमकता हुआ विजयी पक्ष इक़बाल के हाथों को छूने वाला है।

अब उर्सिला की बारी है।

कमरे में ख़ामोशी के साथ-साथ एक संशय-सा भी फैल गया है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो अचानक कमरे की तेज़ रोशनी मद्धिम हो गयी हो।

उर्सिला की आवाज़ आ रही है...दीवारों से टकराकर गूँजती हुई नहीं, केवल कानों को छूकर हवा की तरह सरकती हुई-सी।

'अभी, यहाँ, इसी जगह पर खड़े होकर जो भी बोलते रहे, वे मुझे जिन्दगी के छोटे-छोटे टुकड़ों की तरह लगते रहे...'

उर्सिला आख़िर क्या कहना चाहती है ? इक़बाल हैरान है, 'इस तरह खड़ी हुई है, मानो अपने ख़िलाफ़ गवाही देने के लिए खड़ी हो...'

पर उर्सिला उस की ओर नहीं देख रही—सामने शून्य में देख रही है। कह रही है, 'उन्होंने जो कुछ कहा, सच है, परन्तु पूरा सच नहीं, और अधूरा सच बहुत ख़तरनाक होता है।'

कमरे की हवा मानो अपनी साँस रोककर खड़ी हो।

उर्सिला कह रही है, 'दुनिया कितने देशों में बँटी हुई है, सवाल यह नहीं है, सवाल यह है कि दुनिया सिर्फ़ दो टुकड़ों में बँटी हुई है—एक टुकड़ा वह है, जो हुकूमत करता है और दूसरा वह, जिस पर हुकूमत की जाती है।'

उर्सिला किस ओर चल दी है...इक़बाल को लगा—मानो वह एक बन्द गली की ओर जा रही हो।

उर्सिला लफ़्ज़ों से कोई रास्ता खोजते हुए कह रही है—'पर दोनों में से

स्वतन्त्र कोई नहीं है...देखने में केवल यह दिखाई देता है कि यह मालिक और ग़ुलाम का रिश्ता है, जिस में केवल ग़ुलाम स्वतन्त्र नहीं है, मालिक स्वतन्त्र है। और यही मालिक की स्वतन्त्रता अधूरा सच है। मालिक अपने ग़ुलाम का सबसे अधिक मोहताज है, क्योंकि यह केवल ग़ुलाम का अस्तित्व होता है, जो उसे मालिक होने की हैसियत दे सकता है...अगर प्रजा ही न हो, तो कोई बादशाह कैसे बने? इस तरह बादशाह सबसे अधिक प्रजा का मोहताज होता है।'

आवाज़ कानों को छूकर, न जाने क्यों, परे नहीं हो रही है। उस में कुछ भारी-सा है, जो कानों से टकरा रहा है, कानों को मानो झिंझोड़ रहा हो।

'जिस तरह स्वतन्त्रता, कई जगहों पर अपने होने का भ्रम नहीं डालती, पर कई जगहों पर अपने होने का भुलावा डालती है, उसी तरह 'विल-पावर' भी कई जगहों पर अपने होने का भ्रम पैदा करती है—इन्सान को बदलने का, समाज को बदलने का, राजनीति को बदलने का। इस से मेरा यह मतलब नहीं है कि भुलावा नहीं खाना चाहिए।'

हॉल में धीमी-सी हँसी कुर्सियों के ऊपर से छलक गयी और फिर झाग की तरह नीची हो गयी।

उर्सिला कह रही है, 'दुनिया की एक बहुत प्यारी कविता है कि जो लोग दूर चमकती हुई रेत को पानी समझकर रेत में नहीं दौड़ते, वे ज़रूर बुद्धिमान होंगे; पर मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ, जो रेत में पानी का भ्रम खाते हैं और पानी की एक बूंद पीने के लिए सारी उम्र रेत पर दौड़ते रहते हैं।'

और उर्सिला किंचित् हंसते हुए-से स्वर में कह रही है, 'एक कवि का यह प्रणाम वास्तव में भ्रम को नहीं, मनुष्य की प्यास को है, और प्यास का दूसरा नाम ज़िन्दगी है।'

हॉल में बैठे लोगों के चेहरे कुछ खिच-से गये, जैसे वे सोच में पड़ गये हों।

उर्सिला सहज-सी कह रही है, 'किसी सचाई के 'होने' और 'दीखने' के बीच एक फ़ासला होता है, जो अभी तक इन्सान ने तय नहीं किया है—जैसे खँडहरों में से कई बार बीती हुई सभ्यता के चिह्न मिल जाते हैं, उसी तरह किसी दस्तावेज़ में कई बार इतिहास के बीते हुए सच के टुकड़े मिल जाते हैं। और कल का विचार आज के विचार के आगे अचानक झूठा पड़ जाता है। देखा जाये तो यह धरती विवशताओं का एक लम्बा इतिहास है...'

फूलों से लदी हुई मेज़ के पास कुर्सियों पर बैठे तीनों जज कुछ हैरान-से उर्सिला की ओर देख रहे हैं। उन की दृष्टि में कुछ बेचैनी-सी भी है...

पर उर्सिला का स्वर सहज है, 'हाँ, विल-पावर कुछ इतना काम आती है कि इन्सान अपने दर्द को अपनी ज़बान पर ला सकने की जगह अपने होंठों से पोंछ सकता है। उसे अन्दर अपने गले में उतार सकता है। इस से ज्यादा जो कुछ है,

वह प्यास की करामात है, पानी की नहीं, और प्यास को जगाये रखने के लिए उस जगह पर खड़े होना ज़रूरी है, जो सच और झूठ के बीच में है, क्योंकि दुनिया के सब फ़ैसले केवल वहीं खड़े होकर किये जा सकते हैं...विल-पावर से कुछ बन सकने और बदल सकने का फ़ैसला भी केवल वहीं खड़े होकर...'

हॉल में जो लोग बैठे हुए थे, उन सब को मानो किसी ने कुछ सुँघा दिया हो, इतना कि तारीफ़ के चिह्न के रूप में ताली बजाने के लिए उठे हुए कुछ हाथ हवा में ही रह गये...

उर्सिला सहज ही हँस पड़ी है...कह रही है, 'शायद अपने शब्दों में मैं बहुत अच्छी तरह नहीं कह सकती, इस लिए एक चेक कहानी सुनाती हूँ—कगलर नाम का एक आदमी था। कई हत्याएँ कर चुका था, बहुत बदनाम था कगलर। हमेशा जासूस और पुलिस उस के पीछे लगे रहते थे। पर उस ने जो नौवीं हत्या की थी, वह अपने बचाव के लिए एक पुलिसमैन पर गोली चलायी थी। वह पुलिसमैन भी मरते-मरते उस पर सात गोलियाँ चला गया था, जिस से कगलर मर गया... ख़ैर, वह दूसरी दुनिया में पहुँचा, परलोक में, और तीन जजों की ख़ास अदालत में हाज़िर किया गया...'

सुननेवालों का कहानी से बँधा हुआ ध्यान ज़रा-सा छिटक गया...स्टेज पर बैठे हुए जजों की ओर देखकर हवा जैसे मुसकरायी हो, पर उर्सिला किसी के ध्यान को छिटकने का मौक़ा नहीं दे रही है...कह रही है, 'मेज़ पर उसी तरह की फ़ाइलें थीं, जैसी हमारी दुनिया में हमारी अदालतों में होती हैं—कि फ़र्दिनांद कगलर, बेरोज़गार, अमुक तारीख़ को जन्मा...और अमुक तारीख़...हाँ उन फाइलों में उस की मृत्यु की तारीख़ भी थी...

'मुख्य जज ने, हमारी अदालतों के जजों की तरह, ठंडी आवाज़ में पूछा—कगलर ! तुम अपने आप को दोषी समझते हो या निर्दोष ?

'कगलर ने कहा—निर्दोष।

'और जज की आज्ञा से उस की गवाही माँगी गयी।

'कमरे में गवाह आया, अजीबोग़रीब सूरत, बुज़ुर्ग, तने हुए कंधे, बड़े जलाल वाला चेहरा, और शरीर पर पहने हुए नीले चोगे पर बहुत चमकदार सितारे जड़े हुए...

'कगलर हैरान होकर गवाह के जलाल को देखने लगा, और वह और भी हैरान हुआ, क्योंकि तीनों जज उस गवाह के स्वागत के लिए उठकर खड़े हो गये...ख़ैर, जब गवाह कुर्सी पर बैठ गया, तब जज भी अपनी कुर्सियों पर बैठ गये...

'फिर मुख्य जज कहने लगा—गवाह ! तुम सब कुछ जानते हो, जाननहार ! तुम परम सत्य हो, इस लिए तुम्हें सौगन्ध दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि तुम

जो कुछ कहोगे, सच कहोगे...इस लिए अब मुक़दमे की कार्यवाही शुरू की जाती है...

'और मुख्य जज ने कगलर से कहा—अपराधी ! तुम किसी भी बात से मुकरने की कोशिश मत करना, क्योंकि गवाह सब कुछ जानता है...ख़ैर, जज ने ऐनक उतारी और आराम से कुर्सी की पीठ का सहारा लगाकर बैठ गया...

'वह जो गवाह था, उस ने धीरे से कहना शुरू किया—यह कगलर बचपन से ही एक अक्खड़ बालक था। अपनी माँ को बहुत प्यार करता था; पर माँ काम में फँसी रहती थी और लड़का माँ का ध्यान आकर्षित करने के लिए दिनों दिन ज़िद्दी बनता गया, इतना कि एक बार इस के पिता ने इसे थप्पड़ मारने की कोशिश की तो इस ने पिता के अँगूठे को बड़े ज़ोर से दाँतों से घायल कर दिया...और गवाह ने कगलर की ओर देखकर कहा—फिर तुम ने पहली चोरी की, किसी के बाग़ीचे से गुलाब का एक फूल चुराया...

'हाँ, मैं ने एक लड़की इरमा के लिए फूल चुराया था।—कगलर ने कहा।

'गवाह हँस-सा पड़ा, कहने लगा—हाँ, मुझे मालूम है, इरमा जब सात बरस की थी...तुम्हें मालूम है इरमा के साथ क्या हुआ ?

'कगलर चकित होकर गवाह की ओर देखने लगा, बोला—मैं ने कई बार उस के बारे में सोचा, पर मुझे फिर पता नहीं चला कि इरमा कहाँ गयी...

'गवाह ने बताया कि इरमा का एक रोगी आदमी से विवाह कर दिया गया था, और दुखी होकर वह कुछ दिनों बाद मर गयी थी...

'कगलर चकित होकर गवाह के मुख की ओर देखता रहा। एक जज ने कुछ बेसब्री से गवाह से कहा—ऐ ख़ुदा ! तुम सब कुछ जानते हो, पर यह सब ब्योरा हमें नहीं चाहिए, तुम सिर्फ़ कगलर के गुनाहों की बात करो।

'सो कगलर ने जाना कि ख़ुद ख़ुदा उस का गवाह है।'

हॉल में बैठे हुए सारे लोग बुत-से हो गये हैं, जज भी, और उर्सिला की कहानी आगे बढ़ रही है।

'गवाह हँस-सा दिया और बताने लगा कि कगलर की दोस्ती एक बूढ़े शराबी से हो गयी, जो समय-कुसमय कगलर को खाना खिलाया करता था।

'कगलर से रहा न गया, बीच में ही बोल पड़ा—पर उस की लड़की मेरी का क्या हुआ ?

'ख़ुदा ने बताया—मेरी मुश्किल से चौदह बरस की हुई थी, जब ज़बर्दस्ती उस की शादी कर दी गयी और बीसवें बरस में वह मर गयी...मृत्यु के समय तुम्हें बहुत याद कर रही थी...

'कगलर ने बहुत उदास होकर ख़ुदा से पूछा—मैं तो चौदह बरस की उम्र में घर से भाग गया था, मेरी माँ का क्या हुआ ? मेरी बहन का ? मेरे बूढ़े बाप

का ?

'ख़ुदा ने बताया—चिन्ताओं के कारण तुम्हारे पिता की मृत्यु हो गयी और माँ की आँखें रो-रोकर जाती रहीं। ग़रीबी के कारण तुम्हारी बहन का विवाह नहीं हो सका, इस लिए वह लोगों के कपड़े सीकर निर्वाह करती है।

'मुख्य जज ने गंभीरता से टोका—ऐ ख़ुदा ! मुक़दमे की कार्यवाही करनी चाहिए—यह बताओ कि अपराधी ने कितनी हत्याएँ कीं ?

'गवाह बताने लगा—इस ने नौ हत्याएँ कीं। पहली हत्या एक दंगे-फ़िसाद में इस के हाथों अनजाने हो गयी थी, जिस के लिए इसे जेल में डाला गया था। जेल में यह बहुत बिगड़ गया। बाहर आकर इस ने दूसरी हत्या अपनी बेवफ़ा प्रेमिका की की। तीसरी, चोरी करने के बाद उस बूढ़े आदमी की, जिस के यहाँ इस ने चोरी की। चौथी हत्या रात के एक पहरेदार की। पाँचवीं और छठी हत्याएँ एक बूढ़े आदमी और उस की औरत की, जिन के यहाँ चोरी करने से इसे केवल सोलह डॉलर मिले थे, जब कि उन के पास बीस हज़ार डॉलर थे...

'कगलर ने हैरान होकर पूछा—बीस हज़ार डॉलर ? वे कहाँ रखे हुए थे ?

'ख़ुदा ने बताया—उसी चटाई में, जिस पर वह सोये हुए थे—और कहा—सातवीं हत्या इस ने अमरीका में अपने एक हमवतन की की थी, और आठवीं एक रास्ता चलते आदमी की, जो पुलिस से भागते हुए इस के रास्ते में आ गया था... और नौवीं हत्या उस पुलिस वाले की, जिस ने इस पर गोलियाँ चलायीं, और इस ने उसपर...

'अपराधी ने इतनी हत्याएँ क्यों कीं ?—एक जज ने पूछा।

'फिर ख़ुदा कगलर की ओर देखकर कहने लगा—कुछ पैसों के लिए, कुछ ग़ुस्से में आकर, कुछ अचानक हो गयीं...ख़ैर, यह उदार हृदय भी बहुत था, समय-समय पर लोगों की सहायता भी कर दिया करता था...बड़े कोमल स्वभाव का था, इस लिए स्त्रियों के साथ इस का व्यवहार अच्छा था...वादे का यह पक्का था, किसी से जो कहता था, सदा...

'एक जज ने ख़ुदा को टोक दिया कि इस विवरण की आवश्यकता नहीं है। और फिर तीनों जज कगलर की फ़ाइल पर ग़ौर करने के लिए बराबर के कमरे में चले गये...

'अब कगलर और ख़ुदा कमरे में अकेले रह गये तो कगलर ने हैरान होकर ख़ुदा से कहा कि मेरा ख़याल था कि इस दूसरी दुनिया में सारे फ़ैसले तुम स्वयं करते होगे, पर यहाँ भी यही लोग फ़ैसले करते हैं...क्यों ?

'और ख़ुदा कुछ उदास होकर कहने लगा—हाँ कगलर! इन्सान के कामों का फ़ैसला इन्सान ही कर सकते हैं...मैं पूरा सच जानता हूँ, और जब पूरा सच जान लिया जाता है, तब किसी के गुण-अवगुण का फ़ैसला नहीं किया जा सकता...

ये इन्सान अधूरा सच जानते हैं, इसी लिए सज़ा का फ़ैसला कर सकते हैं...'

उर्सिला ने एक ठंडी-सी साँस ली है, इतनी ठंडी कि सारे हॉल में हलका-सा कम्पन फैल गया है।

वह कह रही है—'हम सब अधूरे सच के योग्य हैं, हम अपनी विल-पावर से दुनिया बदल सकते हैं—यह एक मोहक भ्रम है, जो केवल अधूरे सच से ही स्थापित रखा जा सकता है। मैं यह बिलकुल नहीं कहना चाहती कि भ्रम नहीं रखना चाहिए, क्योंकि भ्रमों के बिना ज़िन्दगी को जिया नहीं जा सकता...केवल यह कहना चाहती हूँ कि इन जैसे भ्रमों को अन्तिम सच कह देना मनुष्य की कोई जीत नहीं है...'

और उर्सिला स्टेज से उतर रही है।

हॉल में उपस्थित सभी जन हाथ हिलाना भी भूल गये हैं और कुर्सियों से उठना भी।

तीन कुर्सियों पर बैठे हुए तीन जज मानो घड़ी-भर के लिए कुर्सियों का अस्तित्व ही भूल गये हों। एक ने दायीं आँख के पास आये पानी को धीरे से उँगली से पोंछा है।

और ज़िन्दगी का तक़ाज़ा अचानक अस्तित्व में आ गया है—सारा हॉल तालियों से गूँज उठा है। जजों ने एक-दूसरे की ओर देखा है—फिर उन में से एक ने उठकर स्टेज से परे जाती हुई उर्सिला का नाम पुकारा है।

एक नाम एक हॉल में गूँजकर खुले दरवाज़े से बाहर चला गया है।

दूर घाटियों में...

दूर पहाड़ियों के पीछे...

समय के भी परे...

इक़बाल कमरे में सुन्न-सा रह गया है।

बीता हुआ समय कुछ क्षणों के लिए कमरे में आया और चला गया।

शायद उसी खिड़की से आया था—इक़बाल ने चकित-सी आँखों से अपने इर्द-गिर्द देखा—वह, जो एक बन्द कमरे की खिड़की उस ने सवेरे के उजाले के साथ खोली थी।

इक़बाल ने कॉफ़ी का गर्म प्याला बनाया और किचन के ऊँचे स्टूल पर बैठकर सामने पत्थर के स्लैब पर प्याला रखते हुए सोचा—एक समय था, जो मेरा हो सकता था, मेरे साथ पाँव से पाँव मिलाकर चलता हुआ। इस समय यहाँ, इस कमरे में आ सकता था...

कॉफ़ी के एक प्याले की-सी वास्तविकता।

रोटी के टुकड़े की-सी वास्तविकता।

पर वह समय—

किसी नदी में गिर गया...पानी की तरह बह गया।

या शायद भूमि पर गिरकर एक पत्थर के समान हो गया।

और कॉफ़ी के प्याले की ओर बढ़ा हुआ इक़बाल का हाथ भी ठहरे हुए समय की भाँति हो गया।

हाथों में कुछ फूल थे, और हाथ उर्सिला की ओर बढ़ा हुआ था।

उर्सिला के घर के मोड़ वाले मन्दिर की दीवार के पास। और कुछ आवाज़ें थीं, जो अभी भी वहाँ हवा में खड़ी हुई थीं।

—इक़बाल ! तुम...यहाँ ?...

—तुम्हें यह फूल देने के लिए...

—हार के फ़लसफ़े को फूल दिये जाते हैं ?

—सच के अधूरेपन को देखना हार का फ़लसफ़ा नहीं...

—पर उसे जीत भी तो नहीं कह सकते।

—जीतों और हारों को देशों की लड़ाइयों के लिए रहने दे।

—फिर ?

—केवल यह जानना चाहता हूँ...

—क्या ?

—कि इस उम्र में, उम्र के परे जो कुछ होता है, वह तुम ने कैसे देखा है ?

हवा में एक हँसी-सी भी ठहरी हुई है...

और ठहरे हुए समय के पास खड़ा हुआ इक़बाल अब भी उसे सुन सकता है

—इक़बाल ! तुम ने कभी वे लोग देखे हैं, जो ख़ुद अपने जनाज़े के साथ चलते हैं ?

—नहीं उर्सिला !

—मैं ने देखे हैं। शायद इसी लिए जो कुछ उम्र के परे है, वह देख सकती हूँ।

—वे लोग ?

—इतिहास भरा हुआ है उन लोगों से—नहीं, यह इतिहास नहीं, जो हम स्कूल या कॉलेज में पढ़ते हैं।

—खँडहरों में दबा हुआ इतिहास ?

—हाँ, ख़ामोशी के खँडहरों में दबा हुआ...उस का कोई-कोई टुकड़ा-सा कभी खुदाई में निकलता है...उसे भी लोग कभी ज़ब्त कर लेते हैं, पर कभी हवाओं में रुलता हुआ-सा अचानक दिखाई दे जाता है। मैं ने परसों एक ज़ब्त-शुदा किताब पढ़ी थी...

—ज़ब्तशुदा किताब ?

—एक जेल के क़ैदी की लिखी हुई।

—बहुत भयानक होगी ?

—हाँ, बहुत भयानक...उस में मेरी उम्र की कई लड़कियों की वारदातें भी थीं...

—जेलों में डाली हुई लड़कियों की ?

—जेलों में केवल साधारण क़ैदियों की तरह नहीं...और राजनीतिक क़ैदियों की तरह भी नहीं...वे आम साधारण थीं, जिन के पास सिर्फ़ एक छोटे-से घर का सपना होता है, छोटे-से रोज़गार का और इज़्ज़त की रोटी का...

—पर वह जेलों में ?

—मैं ने कहा था न—दुनिया दो हिस्सों में बँटी हुई है, एक को आदेश देने का अधिकार होता है, दूसरे को लेने का...वह जिन अफ़सरों की नज़र चढ़ी··· और उन के आदेश का उल्लंघन कर दिया...

और हवा में ठहरी हुई हँसी इक़बाल के कानों को छूती रही...

—साधारण लड़कियों की साधारण घर बसाने की विल-पावर...

—और अफ़सरों ने उन्हें राजनीति के जाल में फँसाकर जेलों में डलवा दिया। सिर्फ़ इतना ही नहीं, जेलों के दारोग़ाओं को हुक्म मिला कि उन्हें जेल के

अफ़सरों की वेश्याएँ बना लिया जाये। इक़बाल ! ये कुछ वे लोग होते हैं, जो अपना जनाज़ा आप देखते हैं।

—पर उर्सिला...

—तुम कहोगे, मैं उन लड़कियों में अपनी शक्ल क्यों देखती हूँ ? वे, वे थीं, मैं नहीं...।

और हवा में अभी तक उर्सिला की आवाज़ की तरह इक़बाल की ख़ामोशी भी ठहरी हुई है...

उर्सिला की आवाज़ हैं—मैं ने उन्हें आँखों से नहीं देखा, लेकिन उन्हीं जैसी अपनी माँ को आँखों से देखा है।

—माँ को ?

—माँ जब कुँआरी थी, उसपर कोई रीझ गया था। बड़े तगड़े घर का आदमी था। उस गाँव का राजा कहलाता था। और माँ ने भी वही अपराध किया, जो उस की श्रेणी के लोगों को नहीं करना चाहिए। ज़िद ठान ली कि वह मर जायेगी, पर उस घर नहीं जायेगी। माँ की आँखों में भी एक छोटे-से घर का सपना था।

—वह सपना ?

—पूरा हुआ, पर एक क़र्ज़ की तरह...

—क़र्ज़ की तरह ?

—हाँ। घर बना, मर्ज़ी का मर्द भी मिला, और एक बच्चा भी...यानी मैं...पर इस दुनिया का क़र्ज़ बढ़ता गया।

—उर्सिला !

—जगबीती नहीं, आपबीती कह रही हूँ। मैं सात बरस की थी, इस लिए जो आँखों से देखा था, वह आँखों में पड़ा रहेगा। उस समय जब क़र्ज़ लेने वाले लोग आये थे...बहाने से आये थे कि मेरे पिता को घोड़ी से गिरकर बहुत चोट लगी है, और माँ उस के घावों की पीड़ा से चीखकर, उन लोगों के साथ चल दी थी।

—यह उसी गाँव के राजा कहलाने वाले का बदला था ?

—हाँ, और यह बदला उस ने अपनी हवेली में बैठकर लिया...

—और माँ ?

—जब आधी रात को हवेली के बाहर निकाल दी गयी...साधारण औरतों के बड़े साधारण संस्कार होते हैं, इक़बाल !...वह एक टूटा हुआ सपना लेकर साबुत घर में नहीं लौट सकती थी, वह नदी में डूबकर मर गयी। वह आप अकेली अपने जनाज़े के साथ गयी थी।

वहाँ, मंदिर की दीवार के पास, इक़बाल की एक ख़ामोशी है, जो पत्थर

बनकर धरती पर गिरी थी, और अभी तक वहाँ एक पत्थर की तरह पड़ी हुई है।

उर्सिला की आवाज़ भी वहाँ ही खड़ी हुई है।

फिर मैं ने अपने पिता को अपने जनाज़े के साथ जाते हुए देखा। और कोई बदला उस के बस का नहीं था, और न उस ने लिया, पर एक बदला उस के बस में था···जिस दुनिया ने उस की औरत छीन ली थी, उस ने उस दुनिया की ओर पीठ कर दी···साधु होकर उस ने दुनिया तज दी।

—वह जीवित है?

—जीने और मरने का सम्बन्ध अपने ज्ञान के साथ होता है। अगर ज्ञान न हो तो दोनो चीज़ें एक समान हैं।

—उर्सिला!

—इसी लिए अपनी उम्र से बहुत आगे आ गयी हूँ, इक़बाल! और अब आशाओं और सपनों जैसी चीज़ों की ओर पीछे नहीं लौटा जा सकता...

शायद इक़बाल का हाथ काँप गया या कॉफ़ी का प्याला अपने-आप काँप गया, वह स्लैब से नीचे गिरकर कई टुकड़ों में बिखर गया।

'वह समय अब कहीं नहीं...' इक़बाल के माथे की एक नस अपने लहू को कसती हुई-सी माथे की चीस बन गयी...'मैं बहुत दूर आ गया हूँ···लौटकर उस समय की ओर नहीं जा सकता...'

आँखों के आगे से मानो मन्दिर की दीवार ढह गयी।

केवल मलबा रह गया।

इक़बाल किचन के स्टूल से उठा···मानो कोई बेहोश-सा इन्सान मलबे के नीचे से निकला हो।

पाँव एक आदत में बँधे हुए उसे सोने के कमरे में ले गये, पर शरीर में एक अजीब-सी थकान थी...क़दम लड़खड़ाते हुए-से। वह अपने पलंग के पास आकर एक हाथ से उस की पट्टी को पकड़कर पलंग पर बैठा गया।

किसी ने, एक मलबे का ढेर-सा, मानो उस परली जगह से उठाकर इधर इस ओर रख दिया हो।

एक गहरी और कठिन साँस लेते हुए इक़बाल को अपने ऊपर आश्चर्य-सा भी हुआ···उर्सिला की माँ नदी में डूब गयी थी..यह बात मुझे ज्ञात थी... परन्तु आज ऐसा क्यों लगा, जैसे यह बहुत भयानक बात...अभी अचानक मालूम हुई हो।

ऐसे, जैसे आज इक़बाल ने नदी में बहती हुई उस की लाश देखी हो...

पलंग के पास रखी हुई शीशे की सुराही में से इक़बाल ने पानी पिया, पाँवों के तलुओं तक एक ठंडी-सी लकीर खिंच गयी।

आज जैसे सब कुछ दूसरी बार घट रहा हो।

जैसे एक समय दुनिया पर दो बार आया हो।

नहीं, शायद समय एक गुफा की भाँति वहीं खड़ा है...केवल वह स्वयं दूसरी बार उस गुफा में से गुज़र रहा है।

आज...आज उर्सिला उस के पास से दूसरी बार खो गयी है।

आज...आज उर्सिला की माँ दूसरी बार मर गयी है।

इक़बाल ने अपने-आपको एक दीवानगी की खाई में उतरते हुए देखा। कुछ दिखाई नहीं दिया...केवल एक अँधेरा...धरती को खोदकर मानो एक अँधेरा गहरी जगह में छिपा हुआ हो।

मन के पत्थरों को चीरती हुई-सी एक चीख़ से इक़बाल ने अपने पाँव सम्भाले।

अपना हाथ पकड़कर वह खाई से कुछ बाहर आया और अपने ध्यान को सम्भालने के लिए कमरे की दीवारों और किताबों की ओर देखने लगा।

अलमारी से एक किताब उठायी, रखी…दूसरी को उठाया, रखा। ऐसे ही कुछ पन्ने आगे पलटे, कुछ पीछे, और उकताये हुए हाथों ने कितनी ही किताबें अलमारी के पास रखी हुई मेज़ पर बिखेर दीं।

—उर्सिला किताबों के बाहर है।

—उस की माँ की लाश भी किताबों के बाहर है।

वह हाथों की भाँति, उकताकर, मेज़ के पास इधर को आने लगा तो ख़याल आया…दुनिया में न जाने कितने लोग हैं, जो इस तरह मरते हैं, और भरी दुनिया में वे अकेले अपने जनाज़े के साथ जाते हैं...

हाथ जल्दी से इण्डेक्स की ओर बढ़े और उस में वे आत्म-हत्या के इतिहास के पन्ने का नम्बर देखकर सुनहरी अक्षरों की एक किरमिज़ी जिल्द की पुस्तक में से वह पन्ना निकालकर आत्म-हत्या का इतिहास पढ़ने लगा:

आत्महत्या के क्षेत्र में एक सौ वर्ष की खोज...

इक़बाल के निचले होंठ के पास मुसकराहट की एक लकीर-सी खिंच गयी। 'मर्दुमशुमारी की तरह मरने वालों की पूरे आँकड़ों के साथ की गयी खोज...'

ये आँकड़े अक्षरों में डूबने और तैरने लगे:

'कई देशों में दूसरे देशों के मुक़ाबले आत्महत्या की दर पाँच गुना है।

'और देशों के मुक़ाबले में आयरलैंड के आँकड़े सबसे कम हैं...एक लाख की आबादी के पीछे केवल तीन व्यक्ति...।

'डेनमार्क, आस्ट्रेलिया और हंगरी में आत्महत्या करने वालों की गिनती सबसे अधिक है…लाख पीछे बीस से अधिक...

'फ्रांस, जर्मनी और स्वीडन में…पन्द्रह और बीस के बीच...

'इंग्लैंड और अमरीका में दस या बारह...

'स्पेन, इटली, नार्वे में पाँच से लेकर दस तक...

'सबसे अधिक गिनती जापान में...'

और साथ ही इक़बाल का ध्यान इन अक्षरों पर पड़ा—'यह गिनती बहुत अधूरी समझी जानी चाहिए, क्योंकि बहुत सारे मरने वालों के रिश्तेदार इस वास्तविकता को छिपा जाते हैं।'

—उर्सिला ने मुझे से कुछ नहीं छिपाया, पर तब भी नदी में पड़ी हुई उस की माँ की लाश किसी गिनती में नहीं है।

हाथ में ली हुई पुस्तक का पन्ना काँप गया...शायद इक़बाल की एक गहरी-सी साँस उसे छू गयी थी...

शायद…दुनिया के सभी मरने वालों की आत्मा को छू गयी थी।

एक नदी का पानी उछलता हुआ-सा किनारों को छू गया···न जाने मन की नदी का, या उस नदी का, जिस में उर्सिला की माँ की लाश थी...

इक़बाल की आँखों के सामने कुछ अक्षर फैल गये।

'आत्मघात के लिए हथियारों का इस्तेमाल प्रायः स्त्रियाँ नहीं करती हैं, केवल पुरुष करते हैं...'

और इक़बाल का मन पुरुषों के उन हथियारों के बारे में सोचने लगा, जो लोहे के नहीं होते।

—जिन वहशी हाथों से गाँव के उस राजा कहलाने वाले आदमी ने उर्सिला की माँ को मौत के रास्ते पर भेजा था, वह भी तो हथियार था; लोहे का नहीं, केवल वहशत का, ज़हरीले मांस का···

और इक़बाल के मस्तिष्क में एक विचार रक्त की बूँदों की भाँति बहने लगा···'जिस हथियार से मेरा और उर्सिला का भविष्य मर गया, वह भी तो लोहे का नहीं था...।'

इक़बाल ने अपनी आँखों से अपनी ओर देखा···'वह हथियार मेरे पाँव थे, जो जाना किधर चाहते थे, और चले किधर गये...मेरी आँखें जो झुकीं तो झुकी रह गयीं...मेरी जीभ जो चुप हुई तो चुप रह गयी...'

सब आँकड़े—पुस्तक के पन्नों में टूटने लगे...

विचार आया—'उन लोगों के भविष्य, जो आत्महत्या करते हैं, किसी गिनती में नहीं हैं...'

इक़बाल थककर पुस्तक को परे रखने ही लगा था कि नज़र पड़ी—एक पन्ने पर दुनिया के जीने वालों ने मरने वालों के मौसम का भी ब्योरा लिखा हुआ है।

पढ़ने लगा :

'बहार का मौसम जब अन्त होने वाला होता है और गर्मी के शुरू के दिन जब पास आने वाले होते हैं, तब आत्महत्या करने वालों की गिनती सबसे अधिक होती है...'

इक़बाल ने हाथ को एक झटका देकर किताब परे रख दी। मन में विचारों की भीड़ हो गयी···'एक मौसम घर-घरानों की इज्ज़त का भी होता है···जब मन के सारे कोमल पत्ते झड़ जाते हैं...'

और इक़बाल मन के सूखे हुए पेड़ के नीचे खड़े होकर अपनी उस टहनी की ओर देखता रहा, जिस से एक रस्सी बाँधकर—आज से तीन बरस पहले···उस के भविष्य ने आत्महत्या की थी...

अचानक उसे लगा···दरवाज़े को कोई बाहर से अजीब तरह से खरोंच रहा है...

यह मानुषी हाथ का खटका नहीं था।

शायद अतीत का कोई खटका था, जो वर्षों से उस के कानों में पड़ा हुआ था और आज अचानक कानों में हिलने लगा था।

उस ने एक चेतन यत्न किया, अतीत की ओर कान लगाने का···पर दूर बरसों तक एक सन्नाटा था।

अपने पुराने पहाड़ी गाँव को ध्यान में लाया, पर खड्डों से उठने वाली धुँध गाँव के मकानों पर इस तरह लिपी हुई दिखाई दी कि सारे मकान एक भुलावा-से प्रतीत होने लगे...और हवा ऐसे ठहरी हुई कि पेड़ों के पत्तों को भी मानो हिलना मना हो।

पर खटका अभी भी आ रहा था, जैसे नाख़ूनों और पंजों से कोई दरवाज़े को और दीवार को उन की जगह से हिलाता हो।

उस ने दीवारों की ओर देखा, फिर दरवाज़े की ओर, उस के सोने के कमरे का दरवाज़ा खुला हुआ था। वह चकित-सा उस खुले हुए दरवाज़े में से होता हुआ बाहर के बड़े कमरे की ओर गया।

उस कमरे की दहलीज़ उस ने लाँघी ही थी कि खटका ज़ोर से हुआ···पहले सामने की दीवार की ओर, फिर बायें हाथ के बन्द दरवाज़े की ओर...

उस ने दरवाज़े की कुंडी खोली तो जल्दी से सरककर रुई के गुच्छे जैसी कोई चीज़ भीतर आयी और उस के पाँवों से लिपट गयी...

—अरे, तू ?

उस ने झुककर सफेद रुई के गाले जैसे पामरेनियन कुत्ते को हाथों में उठा लिया, पुचकारा, पूछा, 'तू अकेला किस तरह आ गया ? इतनी दूर ? अपने-आप रास्ता ढूँढ़कर ?'

वह अपनी छोटी-सी जीभ से उस के हाथों को चाटने लगा।

यह छोटा-सा कुत्ता, उस के देश से बाहर जाने की ख़बर सुनकर उस के

दफ़्तर के एक सहकर्मी ने उस से माँग लिया था और उस ने परसों उसे दे दिया था, पर आज...

उसे हँसी-सी आ गयी···लोग तो कहते हैं, ये पामरेनियन नस्ल के कुत्ते बड़े डरपोक होते हैं; जितने सुन्दर होते हैं, उतने डरपोक, फिर यह अकेला रास्ता खोजता उस के पास किस तरह लौट आया ?

उस ने उस के रेशमी बालों को दुलराया, फिर किचन में जाकर उसे एक बिस्कुट देकर उस के लिए कटोरे में दूध डाला।

—तू सूँघकर पहचानता है न ? तूने मुझ में क्या सूँघा था, जिसे सूँघने के लिए फिर आ गया ?

और वह रुई का गुच्छा-सा दूध चाटकर फिर उस के पाँवों के पास आकर पाँवों को चाटने लगा...

उस की उंगलियाँ कुत्ते के बालों में छिपी हुई-सी काँप उठीं···किसी के शरीर की पहली सुगन्ध, पहली पहचान, क्या उम्र के साथ चलती रहती है ?

ऐसे ही उस की उंगलियाँ उर्सिला के लम्बे-लम्बे बालों में डूब जाया करती थीं। उसे लम्बे उड़ते हुए-से बालों में से एक महक चढ़ जाया करती थी।

आज उसे एक अजीब ख़याल आया—'अगर सारी दुनिया की औरतें किसी एक जगह पर कोई बैठा दे और उस की आंखों पर पट्टी बाँधकर कहे···भला बताओ, उर्सिला कौन-सी है ?···तो वह बालों को सूँघकर उसे झट पहचान सकता है···पर मनुष्य के पास बुद्धि होती है न'···एक हँसी उस के होंठों पर लकीर-सी लिप गयी···'वह जिस तरह जानवरों के गले में ज़ंजीर बाँधता है, उसी तरह अपने आप को···

उस ने अपने लिए गिलास में कुछ ह्विस्की और पानी डाला, फिर गिलास को ऊपर उठाकर कहने लगा, 'दुनिया की सब ज़ंजीरों और साँकलों के नाम, जिन्हें मनुष्य के किसी-न-किसी सयानेपन ने बनाया...'

कुछ देर बाद उसे ख़याल आया, 'मालूम नहीं, मिस्टर आचार्य ने इसे ज़ंजीर से क्यों नहीं बाँधा ?'

—यह बहुत छोटा है, ज़ंजीरें तो उम्र के साथ पड़ती हैं···उस ने आप ही अपने आप को जवाब दिया।

और फिर उसे ख़याल आया···वे लोग इसे ढूँढ़ रहे होंगे, क्या मालूम, ढूँढ़ते हुए यहीं आ जायें ?

आज वह नहीं चाहता था कि कोई आये। उस ने सोचा···स्वयं जाकर इसे छोड़ आऊँ। बाहर से ही किसी नौकर को देकर आ जाऊँगा...।

उस ने जल्दी से कपड़े पहने। अभी तक उस ने सोने वाले कपड़े पहने हुए थे, ऊपर सिर्फ़ ड्रेसिंग गाउन लपेटा हुआ था। और उस ने छोटे-से पामरेनियन को

हाथ में पकड़कर, बाहर आकर अपनी गाड़ी का दरवाज़ा खोला। उसे गाड़ी में रखा, और जब वह घर के बाहर वाले गेट को खोल रहा था, अचानक एक सवालिया हाथ उस के सामने आया।

दरवाज़े के पास से गुज़रता हुआ एक साधु अपने हाथ का भिक्षा-पात्र उस के सामने करता हुआ दरवाज़े के पास आकर खड़ा हो गया था। वह साधु के मुख की ओर देखता रह गया।

—क्या चाहिए बाबा ?

—जो श्रद्धा हो।

—श्रद्धा को भिक्षा की तरह माँगोगे, बाबा ?

—न माँगने का कोई अहंकार नहीं, बेटा !

—अगर इस दुनिया से कुछ माँगते रहना था तो दुनिया छोड़ी ही क्यों, बावा ?

—वह तो शरीर छोड़ने तक नहीं छोड़ी जा सकती।

—फिर अगर त्याग नहीं है तो त्याग का यह भेस क्यों ?

—त्याग है, बेटा !

—किस चीज़ का ?

—मन का।

—और तन का ?

—वह मजबूरी है...कुछ अन्न की आवश्यकता तन की मजबूरी है।

—फिर, बाबा, अगर तन को इनकार नहीं, तो मन को इनकार क्यों ?

—तन पर भी संयम है, बेटा ! केवल उस की अग्नि के लिए दो मुठ्ठी अन्न...

—क्या मन की अग्नि सच नहीं है, बाबा ?

—वह भी सच है, जिज्ञासु, पर उस का अन्न और है...

—कौन-सा ?

—ईश्वर···उस का सृजनहार...

—क्या जिस माँ ने जन्म दिया, आप का यह शरीर रचा, वह ईश्वर नहीं थी ? छोटा-सा ईश्वर ?

—वह माया का जाल है, बेटा !

—क्योंकि दिखाई देता है...पर ईश्वर दिखाई नहीं देता, इस लिए उस का जाल भी दिखाई नहीं देता...क्या जो दिखाई देता है, केवल वह ही झूठ है ?

उस के अन्तर् से उस साधु के प्रति उठता हुआ क्रोध मानो उस की आँखों में आ गया।

—जिज्ञासु ! क्या कहना चाहते हो ?

—केवल जानना चाहता हूँ बाबा ! कि अगर मन को दुनिया का अन्न नहीं चाहिए, तो तन को दुनिया का अन्न क्यों चाहिए ?

—हाँ, जिज्ञासु ! तन की भूख आनन्द की अवस्था नहीं है...

—सो, जब तक शरीर है, आनन्द की अवस्था नहीं पायी जा सकती।

—यह तन की मजबूरी है, जिज्ञासु !

—अगर तन की मजबूरी स्वीकार कर ली, बाबा, तो मन की मजबूरी क्यों नहीं स्वीकार की जा सकती ? उस बच्ची का क्या दोष था, बाबा, जो तुम्हारे मन की मजबूरी नहीं बनी ?...क्या वह ईश्वर का एक टुकड़ा नहीं थी ?

—कौन बच्ची ?

—जिस की माँ की लाश अभी भी दुनिया के पानियों में बह रही है।

—कौन माँ ? किस की लाश ?

उस ने गेट के ठंडे लोहे से अपना तपता हुआ-सा सिर लगाया और फिर सामने खड़े हुए साधु के मुँह की ओर देखते हुए सामने शून्य में देखने लगा।

जब होश लौटा तो वह साधु दरवाज़े से जा चुका था। वहाँ केवल वह ख़ुद था, और कुछ भस्म के समान पड़ी हुई एक चेतना—'उर्सिला का पिता, जो उसे छोड़कर संन्यासी हो गया। क्या मैं उसे खोज रहा हूँ ? मैं यह कैसे सोच सका—यह वह था ?'

उस ने गेट को खोलकर गाड़ी को बाहर सड़क पर किया और सामने की सड़क का मोड़ मुड़ते हुए सोचा, 'मेरा क्रोध केवल मेरे ऊपर है...यह मेरे मन का छल था कि अपने क्रोध को अपने कंधों से उतारकर मैं किसी और के कंधों पर रख रहा था...'

शहर की सड़कें गाड़ी के पहियों के नीचे से गुज़रती रहीं, और उस के विचार उस के मन के पाँवों के नीचे से।

उर्सिला के पिता की एक मजबूरी थी—अपनी पत्नी, अपनी प्रेमिका की लाश को देखने की मजबूरी... उस के टूटे हुए मन में अगर अपनी बेटी का मोह भी टूट गया, तो उस का दोष नहीं था...पर...

यह 'पर' उस के पाँवों के आगे एक खड्ड की भाँति आ गया...विचारों के पाँव काँप उठे—'क्या रिश्ता सिर्फ़ पिता का होता है ? प्यार करने वाले का नहीं ? उस ने मोह का रिश्ता तोड़ दिया, ममता का, और मैं ने मुहब्बत का...'

—पर कैसे उलटे कारण हैं, उस ने जो कुछ छोड़ा, दुनिया को छोड़ने के लिए...और मैं ने जो कुछ छोड़ा, दुनिया को पाने के लिए।

गाड़ी वह अचेत-सा चला रहा था, सड़कों के नाम और रास्ते जाने बग़ैर, पर आदत ने उस का साथ दिया। गाड़ी अचानक रुकी तो सामने मिस्टर आचार्य का

घर दिखाई दिया ।

यह शायद गाड़ी के हॉर्न की आवाज़ थी; सामने घर में से एक नौकर दौड़ता हुआ गाड़ी की ओर आया—'साहब ! हमारा पामरेनियन नहीं मिल रहा है ।'

'यह लो । अब सँभालकर रखना ।'

उस ने सीट के उपर से छोटे-से कुत्ते को उठाकर एक बार उस के बालों को सहलाया, फिर उसे नौकर के हाथों में थमा दिया ।

'साहब बहुत परेशान हुए...हम इसे बहुत ढूँढ़ते रहे...आप को भी फ़ोन करते रहे, पर आप का फ़ोन ख़राब था ।'

'फोन ख़राब था ?'

'हाँ, साहब ! बिलकुल डेड...'

उसे याद आया, आज जिस समय मिस्टर पुरी का फ़ोन आया था, उस ने उस के बाद अपने फ़ोन का प्लग निकाल दिया था ।

नौकर कह रहा था—'साहब अभी आप के घर जाने वाले थे...'

वह गाड़ी चलाकर जाने लगा तो नौकर ने जल्दी से कहा—'साहब, अन्दर नहीं आयेंगे ?'

'नहीं, बहुत जल्दी है ।'

उस ने तेज़ी से गाड़ी मोड़ ली ।

अपने आप पर एक हँसी-सी आयी—बहुत जल्दी है उस जगह पर पहुँचने की, जो कहीं नहीं है...।

आसमान पर हलके-से बादल थे, पर अचानक गहरे हो गये, और नन्ही-नन्ही बूँदें पड़ने लगीं ।

उस ने गाड़ी का वाइपर नहीं चलाया, केवल गाड़ी को धीमी चाल पर डाल दिया और सामने के शीशे में से इर्द-गिर्द की इमारतों को इस तरह देखता रहा, मानो सारे शहर को कुछ धुँधला करके देख रहा हो ।

उस के हाथ पर गीला-सा स्पर्श अभी भी था। उस के रुई के गुच्छे जैसे पामरेनियन ने लौटते समय जब फिर उस के हाथ को जीभ से चाटा था तो उस की गीली जीभ का कुछ अभी भी उस के हाथ पर पड़ा रह गया था।

ज़िन्दगी के कई बीते हुए दिन भी शायद गीली जीभ की भाँति होते हैं, उसे लगा, तो विचार आया, 'कुत्ते को पालतू बनाने की मनुष्य की रुचि बहुत पुरानी है, इतिहास के अनुमान के अनुसार आज से चौदह हज़ार वर्ष पहले की।'

और मन मानव-स्वभाव के खंडहरों में चला गया···पर कई यादों को पालतू बनाने वाली रुचि न जाने कितने हज़ार साल पहले की है।

उस के मन में एक अजीब तुलना आयी···जैसे कुत्तों की कई नस्लें होती हैं, उसी प्रकार मनुष्य की यादों की भी कई नस्लें होती हैं।

—कुछ यादें, केवल कोमल-सी खाल वाली, पांवों से और हाथों से लिपटती हुई, छोटी-सी जीभ से शरीर के मांस को चाटती हुई... और छोटी-छोटी आँखों से टिमटिम आप के मुँह की ओर देखती हुई।

—कुछ जिन की आँखें भी सामने दिखाई नहीं देतीं, बालों में गहरी कहीं छिपी हुई होती हैं, पर यह मालूम होता है, वे कहीं छिपकर आप को देख रही हैं।

—कुछ आप के पहरे पर बैठती हुई, और दुनिया के हर खटके पर भौंकती हुई।

— और कुछ यादें, यादों की बैरी, एक दूसरे के अस्तित्व को नकारती हुई, परस्पर में लड़ती हुई, झगड़ती हुई, और एक-दूसरे को लहूलुहान करती हुई।

—और कुछ यादें, आप चाहे कहीं क्यों न चले जायें, आपके खुरों को सूँघती हुई, आप का पीछा करती, आप को सदा ढूंढ़ लेती हैं...

और कुछ यादें, केवल रोटी के टुकड़े के लिए पूँछ हिलाती हुई...

—और कुछ, पागल हो गयीं...उन के मुँह से झाग निकलती हुई।

उस के पाँव को जैसे एक पागल कुत्ते ने दाँतों में भींच लिया...

और पाँव घबराकर उस के पास से छूटने के जतन में गाड़ी के ऐक्सिलरेटर पर दब गया।

बायीं ओर से मुड़ने वाली कार वाले ने अगर ज़ोर से ब्रेक न लगाया होता तो मन की घटना बाहर सड़क पर बिखर जाती।

उस ने माथे पर आये हुए पसीने को घबराकर पोंछा, और गाड़ी को अगली सडक पर धीमी चाल में डालकर वाइपर को चला दिया।

चलते हुए वाइपर में से शहर की इमारतें ऐसे दिखाई देने लगीं, जैसे एक पल कोई उन पर मुलतानी मिट्टी लीपता हो, और दूसरे पल पोंछता हो...

दिन की लौ अभी बाक़ी थी, पर मेह ने उसे ढक लिया—इस लिए कई इमारतों में बिजली की रोशनी होने लगी।

छोटे-छोटे, गोल टुकड़ों में टूटी हुई रोशनी।

और आग को पालतू करने वाली बात पर उसे हँसी-सी आ गयी।

'पालतू आग में से धुआँ नहीं उठता,' उसे ध्यान आया, 'पर और हर तरह की आग से धुआँ उठता है...'

धुएँ से उस का ध्यान सिगरेट पीने की ओर गया और उस ने जेब से सिगरेट-केस निकालकर सिगरेट सुलगा ली...

सिरगेट के धुएँ में से जैसे कई धुएँ निकल आये।

खड्डों में से उठती हुई धुंध का धुआँ...

पहाड़ी घरों के चूल्हों से उठता हुआ लकड़ियों का धुआँ...

हवन की अग्नि में से उठता हुआ सामग्री का धुआँ...

कारख़ानों की चिमनियों में से उठता...

और चिता की आग में से...

पूरी की पूरी ज़िन्दगी उस की आँखों के सामने अंगारे की तरह जली और भस्म हो गयी...

फिर उस की अपनी साँस भी मानो उस के होंठ से छुई...कोहरे में से निकलते हुए मुँह के धुएँ की तरह...

और फिर साँस, जैसे, अचानक रुक गयी हो—सामने सड़क पर कोई दो जने—एक जवान लड़की और एक उस के साथ कोई—सिर पर एक ही छतरी ताने हुए, मेह से एक दूसरे को बचाते हुए—बिलकुल उस की गाड़ी के सामने आ गये थे...

उस ने जोर से ब्रेक लगाया, इतना कि पहियों के एकाएक रुकने की आवाज़ ज़ोर से हवा में फैल गयी और गाड़ी उलटने को होती हुई-सी काँपकर खड़ी हो गयी...

सड़क के दोनों किनारे जो दुकानें थीं...वहाँ से कुछ लोग दौड़ते हुए-से आये...

—क्या हुआ साहब ?

उस ने हैरान गाड़ी के दोनों ओर खड़े हुए लोगों की ओर देखा, कहा, 'कुछ नहीं, वे सामने गाड़ी के नीचे आ चले थे...'

लोगों ने सामने वाली सड़क पर देखा, उन की चकित आँखें मानो पूछ रही थीं, 'कौन ?'

वह गाड़ी से उतरा। सामने सड़क की ओर देखने लगा, पर सड़क दूर तक ख़ाली थी।

उस ने घबराकर, नीचे, गाड़ी के पहियों की ओर देखा ...जैसे सड़क वाले वे दो जने, अगर सड़क पर नहीं दिखाई दे रहे हैं तो ज़रूर गाड़ी के पहियों के नीचे होंगे...पर कहीं कुछ नहीं था—

लोग हैरान थे, 'साहब ! गाड़ी उलट चली थी, मुश्किल से बची है...'

'पर वे ?'

'वे कौन ?'

'कोई दो जने थे, छतरी लेकर चल रहे थे...

पर सड़क पर तो कोई नहीं...

वह परेशान-सा फिर गाड़ी में बैठ गया, गाड़ी को स्टार्ट किया और सामने की ख़ाली सड़क को देखता हुना गाड़ी चलाने लगा...

उस के हाथों में हलका-सा कम्पन आ गया...

ख़याल आया—जब वाइपर नहीं चलाया था, सारे शहर को धुँधला करके देख रहा था...जैसे हर चीज़ को धुँधला करके...पर वह छतरी धुंध में से कैसे उभर आयी थी ? बिलकुल मेरे सामने आ गयी थी...

बहुत पुराना एक दिन याद आया, जब उर्सिला बरसते हुए मेह में कॉलेज से घर को चल दी थी।

वह कितनी देर तक उसे चलते हुए देखता रहा, उस की भीगी हुई पीठ को देखता रहा।

वह फिर पास से, एक पान वाले की दुकान की ओर चढ़ गया था और एक रुपये का नोट पान वाले को देकर, उस की छतरी उधार माँगकर उर्सिला के पीछे दौड़-सा पड़ा था।

हाथ में ली हुई छतरी उस ने दौड़कर उर्सिला के सिर पर तान दी थी।

उर्सिला ने भी छतरी की डंडी को हाथ में लेकर छतरी को उठाया था और फिर वह थोड़ी-थोड़ी देर बाद डंडी पर ज़ोर डालकर छतरी को अपने सिर से परे—उस के सिर की ओर कर देती थी।

छतरी एक ही थी, और कभी वह आधी भीग जाती थी, कभी वह...

उस का पाँव कभी ऐक्सिलरेटर पर काँपता रहा, कभी ब्रेक पर, और उस की गाड़ी शहर की कई सड़कों के मोड़ काटती रही...

पर विचार एक ही सड़क पर पड़ गया—आज वह गाँव की पगडंडी वाला दिन शहर की सड़क पर क्यों आ गया ?

वही मेह ? वही छतरी ?

वह घर से सिर्फ़ अपने पामरेनियन को मिस्टर आचार्य के घर छोड़ने आया

था, पर घर लौटने की बजाय वह शहर की सड़कों पर, यूँ ही, जो मोड़ सामने आता, उधर ही गाड़ी को मोड़ता हुआ शहर को देखे जा रहा था...

मेह अभी थमा नहीं था, इस लिए सड़कें और सूनी होने लगी थीं, और कई जगहों की, ख़ास कर बड़ी सड़कों की दुकानें बन्द होने लगी थीं।

फिर अकेले, भीगते हुए, और जलती-बुझती बत्तियों के शहर को देखने का यह अनुभव, अचानक उस के मन में किसी उस देश के उस शहर से मिल गया, जिसे उस ने कभी देखा नहीं था, केवल एक क़ैदी की डायरी में पढ़ा था :

"मुझे शीशों वाली एक बन्द गाड़ी में बैठाकर वे ले जा रहे हैं...गाड़ी भरे शहर में से गुज़र रही है और इधर-उधर लोग गिरती हुई बर्फ़ में भी चल रहे हैं...बिजली की रोशनी में बर्फ़ अजीब तरह से चमकती है। लोगों के चेहरे भी अजीब तरह से चमक रहे हैं। एक ठंडी और एक गर्म लहर मिलकर उनके चेहरों पर बैठी हुई हैं। बर्फ़ की ठंड और ज़िन्दगी की गर्माइश ! मैं शीशों में से उन्हें देख सकता हूँ, पर उन तक यह ख़बर नहीं पहुँचा सकता कि मैं आज भरे शहर में से गुज़रते हुए भी बिलकुल अकेला हूँ, और अभी मिनटों बाद मैं उन की आबादी का हिस्सा नहीं रहूँगा।"

और वह, गाड़ी को चलाता हुआ, गाड़ी के शीशों में से भरे शहर को एक वैसी हसरत से देखने लगा, जिस से बहुत वर्षों के लिए किसी जेल में पड़ने से पहले केवल एक क़ैदी देख सकता है।...

फिर सामने एक चौक की लाल बत्ती ने जब उस का पाँव ब्रेक पर रखवा दिया, उस का होश उसे रोककर कहने लगा, 'ज़िन्दगी में बन्द शीशों वाली कुछ वे गाड़ियां भी होती हैं, जिन्हें मनुष्य स्वयं ही चलाता है और स्वयं ही उन में क़ैदी होकर बैठता है...'

चौक की लाल बत्ती ने जब रंग बदला, यानी हरी होकर दिखाई दी, तो उस ने गाड़ी को चौक से लँघाकर अगले गोल चक्कर से घर की ओर मोड़ लिया।

यह भी जैसे स्वयं को दिया हुआ स्वयं का आदेश था।

लगा—शायद यही घर की ओर जाने वाली वह सड़क थी, जिस से बचता हुआ, वह कई घंटों से शहर की सड़कों पर फिर रहा था।

मेह थम रहा था, बस कोई-कोई बूँद रह गयी थी। उस ने वाइपर बन्द कर दिया। पर कुछ देर बाद देखा—शीशे पर पड़ने वाली किसी-किसी बूँद से वह कुछ इस तरह दिखाई देने लगा, जैसे शीशे को पसीना आ गया हो।

गाड़ी जब घर के दरवाज़े से गुज़रकर, दीवार के साथ लगकर खड़ी हो गयी तो उस ने गाड़ी से उतरते हुए, सामने की दीवार पर लगे हुए पीतल के उस टुकड़े की ओर देखा, जिस पर उस का नाम लिखा हुआ था—जैसे हर जेल के बाहर जेल का नाम लिखा हुआ होता है।

न जाने क्यों, उस का हाथ दरवाज़े के पास लगी हुई घंटी के बटन की ओर गया—मानो वह एक मुलाक़ाती हो और इस घर में किसी से मिलने आया हो।

घंटी ज़ोर से बज उठी तो उस का हाथ मूर्च्छित-सा हो गया...

हवा तेज़ हो गयी थी। अचानक दीवार पर लगे हुए पीतल के टुकड़े में से, छोटा-सा टुकड़ा हवा से झड़ गया और भूमि पर उस के गिरने की आवाज़ आयी।

उस ने चौंककर उधर दीवार की ओर देखा। उस के नाम वाले पीतल के उस टुकड़े की छाती में से शायद एक कील नीचे गिर गयी थी, पर छाती में चुभी हुई दूसरी कील के सहारे वह अभी भी दीवार के साथ लगा हुआ था, पर लटकता हुआ-सा...और हवा से हिलता हुआ, मानो हाथ हिलाकर उस से कुछ कह रहा हो।

सारा मकान दीवारों में भी सिमटा हुआ था, अंधेरे में भी; पर बाहर सड़क की बत्ती की कुछ रोशनी थी, जिस में वह पीतल का टुकड़ा एक आँख की भाँति चमककर उस की ओर देखता हुआ प्रतीत होता था।

उस का अपना नाम, मानो उस की ओर देख रहा हो।

उस ने घबराकर जेब में हाथ डाला, चाबी को टटोला, और दरवाज़े के अँधेरे में छिपे हुए ताले के छेद को खोजने लगा।

जेल के दारोग़ा की भाँति जब उस ने भारी-से दरवाज़े को खोला तो फिर एक क़ैदी की भाँति उस के अन्दर चला गया।

मेह की बूँदें जैसे सिर के बालों में अटककर कमरे के भीतर आ जाती हैं, उसे लगा—पिछले दिनों पढ़ी किसी क़ैदी की डायरी के कुछ शब्द—जेल, दारोग़ा, क़ैदी—उस की स्मृति में अटककर ख़ामख़ाह उस के साथ चल पड़े हैं।

सोने के कमरे की बत्ती जलाते हुए उस ने जल्दी से अलमारी से ह्विस्की की बोतल निकाली और कट-वर्क के एक सुन्दर चेक गिलास में ढालते हुए—क़ैदी की डायरी में से चिपट गये लफ़्ज़ों को अपने से झटकारना चाहा...

शीशे की सुराही से गिलास में पानी डालते हुए जब उस ने गिलास ऊपर होंठों के पास किया, कानों में कहीं से आवाज़ आयी...

—ऐ बंदे ! मेरे सवालों का जवाब दिये बिना इस गिलास को मुँह से न लगाना ।

उसे एक बहुत पुरानी घटना याद आ गयी—एक ऐतिहासिक घटना—जब वह पांच पांडवों में से एक था और वे सब द्रौपदी को साथ लेकर वनों में विचर रहे थे । बहुत प्यास लगी तो युधिष्ठिर ने कहा, 'जाओ नकुल ! पानी का स्रोत ढूँढ़ो ।'

उस ने पानी का सोत ढूँढ़ लिया था, पर जब पानी लेने के लिए गया तो किनारे पर उगे हुए पेड़ से आवाज़ आई—'हे नकुल ! मेरे प्रश्नों का उत्तर दिए बिना यह जल मत पीना, नहीं तो तुम्हारी मृत्यु हो जायेगी ।'

पर उस ने आवाज़ की ओर ध्यान नहीं दिया और पानी के झरने के नीचे खड़े होकर उस ने ओक लगा दी और पानी पीते ही धरती पर ढेर हो गया।...

लगा—वही आवाज़ थी, जो तब एक पेड़ पर से आयी थी।

उस ने चकित होकर ऊपर की ओर देखा।

ऊपर केवल कमरे की छत थी, और कुछ नहीं...न कोई पेड़, न परछाईं।

उस ने जन्म-जन्मान्तरों की उस आवाज़ को पहचानने की चेष्टा की, शायद यही प्रश्न थे, जो अनेक जन्म पूर्व भी इस आवाज़ ने पूछे थे।

पहला प्रश्न था—सूर्य को कौन उदय करता है ?

दूसरा प्रश्न था—सूर्य को कौन अस्त करता है ?

और तीसरा—सूर्य के चारों ओर कौन घूमता है ?

और चौथा—सूर्य किस से सम्मानित होता है ?

प्रश्न जाने-पहचाने लगे, परन्तु उत्तर ?...उत्तर तो उस ने तब भी नहीं दिये थे, युधिष्ठिर ने दिये थे।

उस ने आज भी, आवाज़ को कानों से बाहर निकालकर हाथ में थामे हुए गिलास को पी जाना चाहा, पर हाथ रुक गया, आवाज़ माथे से टकरायी।

—ऐ आज के इनसान ! मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये बिना इस गिलास को मुँह से न लगाना, नहीं तो...

'नहीं तो' के आगे जो हो सकता था, वह उस के साथ हो चुका था—जब वह नकुल था।

आवाज़ ने, शताब्दियों से हवा में खड़े हुए प्रश्न दोहराये—वही चार प्रश्न, और फिर अगले चार प्रश्न—

—ज्ञाता कौन है ?

—महान् पद कैसे प्राप्त होता है ?

—मनुष्य एक से दो कैसे होता है ? और

—बुद्धि कैसे प्राप्त होती है ?

उर्सिला उस के मन में एक सूरज के समान चढ़ी, और फिर अचानक उस के आसमानों को एक बार लाल करके सूरज की भाँति डूब गयी...

मन में घोर अंधकार छा गया...

घोर अंधकार में उस ने घबराकर हाथ में लिया हुआ गिलास मुँह से लगा लिया।

प्रश्न उसी प्रकार, बिना उत्तर के, हवा में खड़े हुए रह गये...

और वह, जैसे आवाज़ ने कहा था, पलँग पर बेहोश-सा पड़ गया।

शायद फिर मृत्यु का शाप लग गया, जैसे उस समय लगा था, जब वह नकुल था...।

नहीं, वह मरा नहीं शायद जीवित है, उसे लगा—कि कोई उस के पलँग के पास खड़े होकर उस की बाँह हिला रहा है, और उस की बाँह जीवित मनुष्य की बाँह की भाँति हिल रही है।

—यादों का शाप उसे अवश्य लगा हुआ था, विचार आया—आख़िर मरा तो तब भी नहीं था, जब मैं नकुल था। युधिष्ठिर ने सब प्रश्नों के उत्तर दे दिये थे और उस ने जीवन का वर पा लिया था।

लगा—आज फिर उसी युधिष्ठिर ने प्रश्नों के उत्तर दे दिये होंगे, और अब वह ही उसे बाँह से पकड़कर पलँग से उठा रहा है...

उस ने बाँह की ओर देखा, पर वहाँ कुछ दिखाई नहीं दिया।

हाँ, यह विश्वास अवश्य हो गया कि वह जीवित है।

गले से चीख़-सी आवाज़ निकली—प्रश्नों के उत्तर किस ने दिये हैं? युधिष्ठिर ने ?

कमरें में दिखाई कुछ नहीं दिया, किन्तु कोई धीरे से हँसा—यह युधिष्ठिर का युग नहीं है।

—फिर ?

—आज के प्रश्नों के उत्तर तुम्हें स्वयं देने पड़ेंगे ।

—वही प्रश्न ?

—हाँ, वही प्रश्न, पर युग बदल गया है।

—प्रश्न नहीं बदले ?

—नहीं, पर शब्द बदले हैं।

—किस तरह ?

—जिस तरह तुम्हारा नाम बदला है। तब नकुल था, पर आज...

—मैं जानता हूँ।

—फिर उठो !

—कहाँ जाना होगा ?

—अदालत में।

—किस की अदालत में ?

—यह तुम ख़ुद जाकर देख लेना...

लगा, एक हाथ उसे पलँग से उठा रहा है...

कमरे में बिलकुल अँधेरा था, शायद उसी अजनबी हाथ ने कमरे की बत्ती बुझा दी थी...पर बाँह की कलाई के पास किसी के हाथ की पकड़ उसी तरह है...

वह उठकर चलने लगा...

लगा—वह धरती के एक साधारण व्यक्ति की भाँति चालीस लाख तीन सौ बीस वर्ष से चल रहा है और कोई ब्रह्मा आज हँसकर उस से कह रहा है—अभी तो केवल एक दिन हुआ है...

चालीस लाख तीन सौ बीस वर्ष जितना एक दिन...

उस की धरती का मिथहास उस की रगों में से बोल उठा—'आज निर्णय का दिन है, किसी निर्णायक के आगे सफ़ाई देने का दिन। किसी रचना के ईश्वर में लीन हो जाने से पूर्व का दिन, जो अपना निर्णय किसी ओर भी दे सकता है... जीवन से मुक्ति का निर्णय भी, और इसी जीवन को पुनः जीने का निर्णय भी...'

—यह दूसरा निर्णय मेरी सज़ा होगा...उस के अपने अन्तर् से उस के मन ने कहा, पर वह ख़ामोश चलता गया।
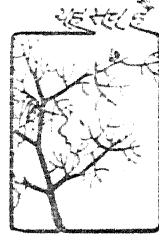
शायद गहरे अंधकार का प्रभाव था कि उसे लगा...वह मर चुका है, अब उसे केवल पृथ्वी से यमपुरी ले जाया जा रहा है।

पूछा—'हे दूत ! तुम मुझे यमपुरी ले जा रहे हो ?'

उत्तर मिला—'सब तुम्हारे ही बनाये हुए शब्द हैं। अगर तुम उसे यमपुरी कहना चाहते हो तो कह लो, मुझे कोई आपत्ति नहीं है।'

—रास्ता कितना लम्बा है ?

—तुम्हारे गिनने-मापने का हिसाब मैं नहीं जानता...

उत्तर देने वाला चुप हो गया तो उसे याद आया—एक बार युधिष्ठिर के प्रश्न करने पर कृष्ण ने बताया था कि पृथ्वी से यमपुरी छियासी हज़ार योजन है।

और वह मन में हिसाब लगाने लगा—चार कोस का एक योजन होता है, इस तरह छियासी हज़ार योजन को चार से गुणा करने से बना...

और साथ ही एक भयानक-सी याद उभर आयी—कृष्ण ने यह सब कुछ बताते हुए कहा था कि इस रास्ते में न कोई पेड़ है, न कुआँ, न तालाब, न कोई नगर या गाँव, न आश्रम, सारा रास्ता अंधकार से भरा हुआ है...

उस ने भूख-प्यास की कल्पना करनी चाही, पर लगा...न इस समय उसे भूख थी, न प्यास। और छियासी हज़ार योजन की कल्पना करके भी उस के पाँवों में थकावट नहीं थी।

पर लगा—कुछ था, जो अँधेरे में उस के पीछे-पीछे चलता आ रहा था।

उस ने खड़े होकर पीछे की ओर देखने का यत्न किया, पर अँधेरे में कुछ दिखाई नहीं दिया।

पूछा—'हे दूत ! हे मार्गदर्शक ! मेरे पीछे-पीछे कौन आ रहा है ! कुछ है, जो मेरे साथ चल रहा है, पर मैं उसे देख नहीं सकता।'

उत्तर मिला—पर अपने आप में एक प्रश्न के समान—'आज के मनुष्य के साथ कौन चल सकता है ?'

उस ने फिर कहा—'मालूम नहीं, पर किसी समय कृष्ण ने ही युधिष्ठिर से कहा था कि मनुष्य जब पृथ्वी से जाता है, तब उस के पाप-पुण्य उस के पीछे-पीछे चलते हुए उस के साथ जाते हैं।'

अँधेरे में हलकी-सी हँसी की आवाज़ सुनाई दी, साथ ही यह भी—'हो सकता है, तुम्हारे यही संस्कार तुम्हारे पीछे-पीछे आ रहे हों।'

उस ने जल्दी से कहा—'नहीं, संस्कार नहीं, पर हो सकता है, ये मेरे विचार हों, जो मेरे पीछे-पीछे मेरे साथ आ रहे हैं।'

उत्तर मिला—'हाँ, हो सकता है।'

फिर बहुत देर तक अँधेरे की भाँति ख़ामोशी भी छायी रही...

केवल वे विचार, जो उस के पीछे-पीछे आ रहे थे, क़दम मिलाकर उस के साथ चलने लगे।

एक ने, बिलकुल उस के निकट आकर, हथेली से कोई जड़ी-बूटी सुँघाई, और एक अजीब-सी सुगंध में लिपटकर उस ने पूछा—'यह तुम ने मुझे क्या सुँघाया है?'

'एक बूटी।'

'क्यों?'

'इस से हज़ारों वर्ष पुरानी बातें भी याद आ जाती हैं...'

'मुझे कुछ याद नहीं आ रहा है।'

'अभी याद आयेगा।'

'सुनो!'

'हाँ...'

'कुछ याद आ रहा है...'

'क्या?'

'मैं ने एक बार जुआ खेला था।'

'फिर?'

'सारा धन, हीरे-मोती, लाल-पन्ने दावँ पर लगा दिये...'

'फिर?'

'सारे गाँव-गोठ भी...हाथी-घोड़े भी...'

'फिर?'

'सब कुछ हार गया...'

'फिर?'

'फिर मैं ने अपनी पत्नी भी दावँ पर लगा दी।'

'पत्नी?'

'हाँ, उर्सिला भी...'
'क्या कहा ?'
'हाँ, उर्सिला भी दावँ पर लगा दी, और हार गया...'
'अच्छी तरह याद करो !'
'हाँ, सच, द्रौपदी...उस समय उर्सिला का नाम द्रौपदी हुआ करता था...'

अचानक वह चुप हो गया। उसे लगा—समय उस के अन्दर कुछ इस तरह हिल रहा है कि कभी वह हज़ारों वर्ष उधर चला जाता है, कभी हज़ारों वर्ष इधर आ जाता है।

उस ने कोशिश की कि वह समय की कोई आवाज़ न सुन सके, पर एक आवाज़ उस के कानों के पास आयी और खड़ी हो गयी।

उस के विचार ने कहा, 'यह आवाज़ तुम्हें सुननी पड़ेगी...

पूछा, 'किस की आवाज़ है ?'

'दुर्योधन की सभा में खड़ी हुई द्रौपदी की। सुनो ! वह कह रही है कि युधिष्ठिर जब अपने आप को हार चुके तो मुझे दावँ पर लगाने का उन्हें क्या अधिकार था ?

'सुन रहा हूँ...'

'उत्तर दो !'

'इस का उत्तर तो युधिष्ठिर भी नहीं दे सके थे।'

'इसी लिए यह प्रश्न हज़ारों वर्षों से हवा में ठहरा हुआ है।'

'पर मैं इस का क्या उत्तर दे सकता हूँ ?'

'अब तुम ने फिर इस जन्म में जुआ खेला...धन-सम्पदा और मान-सम्मान के लिए ज़मींदार घर की लड़की से विवाह किया...'

'पर मैं ने अपने आप को दावँ पर लगा दिया, और हार गया...'

'यही तो आज की द्रौपदी पूछ रही है कि आज के युधिष्ठिर ! तुम्हें अपना आप हारने के बाद क्या अधिकार था कि तुम ने मुझे भी दावँ पर लगा दिया... आज वह किसी दुर्योधन के सामने खड़ी हुई...'

'चुप रहो !'

चुप छा गयी...

अचानक एक मद्धिम-सी रोशनी हुई, सामने एक इमारत दिखाई दी, और उस के भिड़े हुए दरवाजे के पास पहुँचकर उस के पाँव ठिठक गये...

'यह क्या जगह है?' उस ने अपने अदृश्य दूत से पूछा।

—अदालत।

—क्या यह पुरातन कथा-कहानियों के अनुसार धर्मराज की कचहरी है?

—बीसवीं शताब्दी के मनुष्य! इस में पुरातन कहानियों का धर्मराज नहीं, इस में तुम्हारी आज की अदालत है, जज भी और सरकारी वकील भी···

—और मैं?

—एक अपराधी।

—पर मेरा अपराध?

—तुम अन्दर जाकर पूछ लो...

—पर जिन शहरों में मैं रहता हूँ, वहाँ तो मुक़दमे अकसर झूठे होते हैं...

—इसी लिए यह अदालत तुम्हारे शहरों के बाहर है।

पूछने से कुछ बात नहीं बन रही थी, इस लिए वह भिड़े हुए दरवाज़े को खोल इमारत के अन्दर चला गया।

सामने एक बहुत बड़ी दीवार थी, जिस पर एक चित्र लगा हुआ था। कमरे में बहुत थोड़ी रोशनी थी, इस लिए वह चित्र को पहचान नहीं सका; पर इतना जान लिया कि यह चित्र समय के उस शासक का होगा, जिस के नाम पर इस अदालत में न्याय होता है।

उसी बड़ी दीवार के पास, उस चित्र के नीचे, ठीक उस की सीध में एक ऊँचा चबूतरा-सा था, जिस पर एक बहुत बड़ी मेज़ रखी हुई थी, काग़ज़ों से भरी हुई, और जिस के पास एक ऊँची पीठवाली कुर्सी पर एक जज बैठा हुआ था। उस ने सफ़ेद चोग़ा पहना हुआ था, जिस से उस ने अनुमान लगाया कि वही जज है।

उस ने कमरे को दायें-बायें भी ग़ौर से देखा—वहाँ केवल एक व्यक्ति और

था, जिस का मुँह जज की ओर था और उस ने काला कोट पहन रखा था, जिस से उस ने अनुमान लगाया कि वह अवश्य सरकारी वकील होगा।

कमरे में और कोई नहींथा।

उसे हलकी-सी हँसी आ गयी—मानो दुनिया में केवल एक ही जज रह गया हो, एक ही वकील, और एक ही अपराधी...

उस के पैरों की आहट सुनकर सामने की बड़ी दीवार के पास बैठे हुए जज का ध्यान उस की ओर गया, और उस ने हाथ के संकेत से उसे उधर खड़े होने के लिए कहा, जिधर लकड़ी का एक जंगला-सा था—अपराधी के खड़े होने का कठ-घरा।

वह कठघरे में जाकर खड़ा हो गया।

ख़याल आया—अजीब अदालत है, कहीं कोई आवाज नहीं! क्या अदालतें भी इस तरह ख़ामोश होती हैं?

उस ने धीरज से पूछा, 'हुज़ूर! मुझे किस लिए बुलाया गया है?'

उस बड़ी दीवार की ओर से न्यायाधीश की आवाज़ आयी, 'आज तुम्हारी पेशी है, अब तारीख़ और आगे नहीं डाली जा सकती, क्योंकि तुम जल्दी ही इस देश से बाहर जा रहे हो।'

—पर किस बात की पेशी?

—तुम तीन साल तक सोचते रहे हो कि तुम्हारे मुक़दमे की सुनवाई न हो।

—पर कौन-सा मुक़दमा?

—आज से तीन साल पहले तुम ने ख़ुद ही एक दरख़्वास्त दी थी...

—मैं ने?

—तुम्हें याद नहीं?

—हाँ...एक दरख़्वास्त दी थी...पर वह बहुत पुरानी बात है...

वकील ने मेज़ पर से एक फ़ाइल उठायी और धीरे से जज से कहने लगा, 'हुज़ूर! यह बहुत ख़तरनाक आदमी है...किसी बात का जवाब सीधी तरह नहीं देगा। आप मुझे जिरह करने की इजाज़त दें।'

'इजाज़त है।' जज ने संकेत किया।

सरकारी वकील ने जेब से रूमाल निकालकर अपनी ऐनक के शीशे पोंछे, फिर एक-दो काग़ज़ों पर कुछ पढ़ते हुए कठघरे की ओर देखकर पूछा, 'तुम्हारा नाम?'

उसे हँसी-सी आ गयी, बोला, 'क्या आप के काग़ज़ों में मेरा नाम नहीं है? अगर आप को नाम भी पता नहीं है, तो मुझे यहाँ बुलाया किस तरह?'

वकील के माथे पर हलकी-सी त्योरी पड़ गयी, कहने लगा, 'तुम्हें मालूम है,

तुम पर क्या इलज़ाम है ?'

—नहीं।

—क़त्ल का।

—क़त्ल का ? किस के क़त्ल का ?

—अपने दोस्त के क़त्ल का।

—पर वह तो...

—जिस के लिए तुम ने दरख़्वास्त दी थी कि मिल नहीं रहा है...

—अगर मैं ने उसे क़त्ल किया होता, तो दरख़्वास्त क्यों देता ?

वकील हँस उठा।

—इसी लिए मैं ने तुम्हें ख़तरनाक अपराधी कहा था। अच्छा, यह बताओ, उसे गुम हुए कितना अर्सा हुआ है ?

—तीन साल।

—वह कब से तुम्हारा दोस्त था ?

—बचपन से।

—स्कूल में तुम्हारे साथ पढ़ता था ?

—हाँ, स्कूल में भी, कॉलेज में भी...।

—उस की उम्र ?

—मुझ जितनी ही...।

—सिर्फ़ वही एक दोस्त था ?

—हाँ, सिर्फ़ वही।

—तुम्हारा क्या ख़याल था ?

—यही कि यह दोस्ती सारी उम्र रहेगी।

—फिर ?

—अचानक वह गुम हो गया।

—तुम ने उसे ढूँढ़ा नहीं ?

—बहुत ढूँढ़ा...अभी तक ढूँढ़ रहा हूँ...।

वकील मुस्कराया। वह हैरान हुआ, कहने लगा—'वकील साहब ! आप को मुझ पर विश्वास नहीं है ?'

—तुम्हें शायद ख़ुद अपने ऊपर विश्वास नहीं है।

उस के अन्तर् में कुछ घबराहट-सी हुई। उस ने भी वकील की तरह जेब से रूमाल निकाला, पर ऐनक को नहीं, माथे को पोंछा। माथे पर अचानक कुछ पसीना-सा आ गया था।

वकील हँस पड़ा।

—आप मुझ पर हँसते क्यों हैं, वकील साहब ?

—तुम रूमाल से माथे को इस तरह पोंछ रहे थे..

—यह कमरा बहुत गर्म है, मेरे माथे पर पसीना...

—नहीं, तुम माथे को इस तरह पोंछ रहे थे, मानो हर याद को स्मृतिपट से पोंछे दे रहे हो...

वकील का मुँह बहुत गम्भीर हो गया। कहने लगा—'तुम दोनों दोस्त जब मिलकर किताबें पढ़ते थे, वह कौन-सी कहानी थी, जिस का तुम दोनों पर बहुत प्रभाव पड़ा था?'

—कई थीं।

—कोई एक, जो तुम्हारे मन को बल देती थी...

—एक थी...एक बच्चे की, जो एक ऋषि के पास विद्या ग्रहण करने के लिए गया था...

—फिर ?

—ऋषि ने उस के पिता का नाम पूछा तो वह दूसरे दिन आकर कहने लगा—मेरी माँ कहती है कि मैं ने कई लोगों की सेवा करके यह पुत्र पाया है, इस-लिए किसी एक का नाम नहीं बता सकती—और ऋषि ने बच्चे को गले से लगा लिया।

—क्यों ?

—क्योंकि वह इतना बड़ा सच बोल सका, बड़े सहज मन से...वह उस स्त्री का बच्चा था, जिसे सच से कोई संकोच नहीं था...

—तुम जानते हो, यहाँ केवल एक जज है...एक मैं, और एक तुम ?

—हाँ।

—यहाँ तुम्हारा कोई गवाह नहीं है ?

—क्यों ?

—क्योंकि हमारा विश्वास है कि उस कहानी का अभी भी तुम पर थोड़ा-सा प्रभाव बाक़ी है। इस लिए तुम अपनी गवाही आप दोगे।

—फिर वकील साहब ! आपने मुझे ख़तरनाक अपराधी क्यों कहा ?

—क्योंकि पिछले तीन वर्षों के 'तुम', वह 'तुम' नहीं हो, जो पहले थे। तुम कभी-कभी कोशिश करोगे सच को छिपाने की...

—पर ?

—एक वाक्य में छिपाकर दूसरे में स्वयं ही बता दोगे...

उस ने सिर झुका लिया। एक हलकी-सी आह भी भरी। फिर सिर उठा-कर कहा—'हाँ, पूछिये वकील साहब, जो पूछना चाहते हैं।'

—उर्मिला कौन थी ?

—मैं उस से मुहब्बत करता था।

—अब नहीं करते ?

—जो ज़बान 'हाँ' कह सकती है, वह कट गयी है।

—किस ने काटी ?

—मैं ने।

—तुम्हारे दोस्त ने नहीं ?

—नहीं।

—तुम्हारे दोस्त को तुम्हारी इस मुहब्बत का पता था ?

—वह सब जानता था।

—वह ख़ुश नहीं था ?

—वह बहुत ख़ुश था...बहुत ख़ुश था, वकील साहब !

—फिर?

—मेरी माँ ख़ुश नहीं थी।

—क्यों ?

—वह चाहती थी—मैं...

—वह ज़मींदार के घर की दौलत चाहती थी ?

—अपने लिए नहीं, मेरे लिए।

—और तुम्हारा दोस्त ?

—वह तब पहली बार मुझ से लड़ा था। उस से पहले हम इकट्ठे रहते थे, एक ही कमरे में...उस के बाद वह मुझे छोड़कर चला गया।

—तुम ने उसे मनाया नहीं ?

—किस ज़बान से मना सकता था ! मैं ने अभी आप को बताया था कि जिस ज़बान से दोस्ती की और मुहब्बत की बात की जाती है, वह मैं ने काट दी थी।

—पर ज़मींदार की बेटी से ब्याह करने की हामी किस तरह भरी ?

—कटी हुई ज़बान से...दुनिया का हर काम कटी हुई ज़बान से हो सकता है, वकील साहब !

—फिर उस के बाद तुम्हारा दोस्त तुम से कभी नहीं मिला ?

—दूर से कई बार देखा...

—कहाँ ?

वह चुप हो गया। उस के कानों में अनेक पेड़ों के पत्ते साँय-साँय करने लगे, अनेक मन्दिरों के घण्टे बज उठे, और अनेक पुस्तकों के पन्ने हिलने लगे...

—तुम बोलते नहीं ?

—अगर मैं कहूँ कि मैं ने कई बार रात को चाँद की लौ में उसे देखा था...

किसी टहनी पर उगने वाले पहले पत्ते में...और नदी के पानी में तैरते हुए मन्दिर के कलश में...और किसी-किसी किताब के...

वकील हँसने लगा, बोला, 'आज अगर कोई अदालत की कार्यवाही देखे तो यही समझेगा कि हम किसी कालिदास को पकड़कर अदालत में ले आये हैं...'

उस ने एक पल के लिए आँखें मूँद लीं, शायद आँखें गीली हो आयी थीं, फिर बोला, 'मैं शायद एक छोटा-सा कालिदास हो सकता था, पर हुआ नहीं...'

—क्या तुम ख़ुश नहीं हो कि तुम ने एक ऐसा पद प्राप्त किया है, जिस के लिए तुम्हारी दुनिया के कई लोग तुम से ईर्ष्या करते थे ?

— वकील साहब !...

—यह चुप क्यों ?

—इस लिए कि मुझे ख़ुशी शब्द के अर्थ भूल गये हैं...

—यह पद तुम ने किस तरह पाया ?

वकील के इस प्रश्न पर वह चौंक गया। उसे वह दिन याद आया, जब उर्सिला ने उस से कहा था—'कई बातें ऐसी होती हैं, जिन्हें लफ़्ज़ों की सज़ा नहीं दी जाती...'

वह आँखों में एक मिन्नत डालकर वकील की ओर देखने लगा।

वकील मुस्कराया, कहने लगा—'एक बालक था, जो एक ऋषि के पास विद्या ग्रहण करने के लिए गया था...'

उस ने सिर नीचा कर लिया, आवाज़ काँप-सी गयी—'वह न जाने किस युग की बात थी...'

—हो सकता है...

—क्या ?

—कि उस युग में वह बालक तुम ही थे।

एक पल के लिए समय और स्थान बदल गये।

वकील के कहे हुए शब्द कानों में पड़े तो वह, जो इस समय अभियुक्त था, एक ऋषि की कुटिया में कुशा के आसन पर बैठ गया।

—फिर एक पल का सुख मन में डालकर वह वकील की ओर देखने लगा...

—क्यों, मैं ने ठीक नहीं कहा ?

—शायद नहीं।

—तुम नहीं चाहते कि तुम वह बच्चे होते ?

—वकील साहब ! जो ज़बान हाँ कह सकती है, वह कह गयी है...

वकील ने एक ठंडी साँस ली। फिर एक बार परे उस ऊँची कुर्सी पर बैठे हुए न्यायाधीश की ओर देखा, मानो अभियुक्त के लिए दया की अपील कर रहा हो।

पर न्यायाधीश चुप था।

वकील ने फिर अभियुक्त की ओर देखा, कहा—'क्या यह सच है कि तुम्हारा यह पद भी ज़मींदार की बेटी ने लेकर दिया था ? मेरा मतलब है, तुम्हारी पत्नी ने ?'

—पहला वाक्य ही काफ़ी था, वकील साहब !

—उसे पत्नी कहने पर आपत्ति क्यों ?

—आपत्ति नहीं, संकोच हो सकता है...

—किस तरह ?

—क्यों कि आपत्ति का सम्बन्ध क़ानून से है, और संकोच का मन से...

— और तन से ?...वकील हँस-सा दिया, तो अभियुक्त के मुँह में एक कड़वाहट-सी घुल गयी—पर वह चुप रहा।

इस चुप से उसे अपने तन की वह चुप याद आ गयी, जब उस ने विवाह की पहली रात ज़मींदार की बेटी के बिस्तर में चुप पाँव रखा था...

तन गूँगा हो गया था...

उस ने कपड़ों को फाड़ने की तरह अपने शरीर से उतारा था, पर शरीर बोलता नहीं था...

तन की आवाज़ को ढूँढ़ने के लिए उस ने तन के अंधे कुएँ में रस्सी लटकायी थी, पर केवल कुएँ की चर्खी चीख़ी थी, मानो तन की ख़ामोशी बिलख उठी हो...

आज उसे वह रात याद आयी तो उस को कल्पना धीरे से हँसी, कहने लगी—अगर उस रात वह बिस्तर उर्सिला का होता ?

कल्पना ने टोना कर दिया तो वह सोचने लगा—'तन के साज़ को छूने के लिए हाथों में अदब भरा जाता—मैं उस के अंगों की गोलाइयों को इस तरह छूता, जैसे कोई साज़ के तारों को छूता है। पोरुओं से तन की नोकों को टटोलता, जैसे कोई तारों को सुर दे रहा हो...तार, तलवों तक हिल जाते...सारे अंग स्वर बन जाते...पैरों के 'सा' से लेकर माथे के 'सा' तक...

और जब खरज और गंधार के जादू में वह लिपट गया, तो साज़ के किसी तार को तोड़ते हुए वकील की आवाज़ आयी...'सो, फिर तुम्हारा दोस्त तुम्हें कहीं नहीं मिला ?'

—नहीं, फिर कहीं नहीं मिला—उस ने निराश स्वर से उत्तर दिया।

—कभी दूर से भी नहीं देखा ?

—रास्ता चलते देखा था...

—किस सड़क पर ?

—केवल एक ही सड़क पर।

—कौन-सी ?

—उस पर, जिस पर कई बार रात को मैं जाया करता था...

—कहाँ ?

—उस के पास, जो यह सब कुछ दिलवा सकता था...

—और तुम्हारा दोस्त ?

—अँधेरे में मोड़ पर खड़ा रहता था।

—किस लिए ?

—मुझे उस रास्ते से हटाने के लिए।

—तुम्हारे हाथों में क्या हुआ करता था ?

—कई तरह की रिश्वत।

—और वह तुम्हारा दोस्त ?

—मेरे हाथों को तोड़ देना चाहता था।

—तुम उसे अपने रास्ते से किस तरह हटाते थे ?

—उसी तरह, जिस तरह किसी को रास्ते से हटाया जाता है।

वकील मुस्करा पड़ा, कहने लगा—'सो, अब भी तुम यह कहते हो कि तुम ने उस की हत्या नहीं की ?

—मैं ठीक कहता हूँ, मैं ने उस की हत्या नहीं की। मैं सदा चाहता था, वह जीवित रहे...

—तुम ने अन्तिम बार उसे कब देखा था, और कहाँ ?

—उसी सड़क के मोड़ पर...जिस दिन वह मेरे साथ थी।

—वह कौन ?

—वही, ज़मींदार की बेटी...

—तब तुम्हारा उस से विवाह हो चुका था ?

—हो चुका था...

फिर तुम उसे अपनी पत्नी क्यों नहीं कहते ?

—क़ानून कहता है। मैं न भी कहूँ तो क्या फ़र्क़ पड़ता है...

—अच्छा, यह बताओ, उस दिन तुम उसे अपने साथ लेकर क्यों गये थे ?

—वह मेरी मर्ज़ी नहीं थी, उस की थी। या फिर उस की, जिस ने बुलाया था।

—क्या वह भी एक रिश्वत का टुकड़ा थी ?

—हाँ, पर जिसे न वह बैंक में रख सकता था, न घर में। केवल एक घंटे भर के लिये सोने के कमरे में।

—सो, उस दिन तुम्हारा दोस्त तुम्हें अन्तिम बार मिला था ?

—'हाँ' और उस ने अँधेरे के उस मोड़ पर खड़े होकर मेरे ज़ोर से थप्पड़, मारा था...

—और जवाब में तुमने क्या किया ?

—केवल हाथ से उसे रास्ते से हटाया था...

—और वह वहाँ अँधेरे में गिर गया था?

—हाँ, वह गिर गया था, इसी लिए मैं तेज़ी से आगे बढ़ गया...

—और, क्या मालूम, उसे बहुत चोट लगी हो ?

—ज़रूर लगी होगी...

—और क्या मालूम, वह वहाँ मर गया हो ?

—नहीं...

—तुम किस तरह जानते हो ?

—मैं विश्वास से कह सकता हूँ...

—किस तरह ?

—मेरे पास इस का प्रमाण मौजूद है।

—क्या ?

वकील ने प्रमाण माँगा, तो उस की आँखें गीली हो आयीं, कहने लगा—'वकील साहब ! अगर वह सचमुच मर गया होता तो मेरी आँखों में यह पानी नहीं आ सकता था...मैं अभी भी अपने आप पर रो सकता हूँ। तो इस का मतलब यही है कि वह जीवित है...'

—क्या यह प्रमाण काफ़ी है ?—वकील ने फिर पूछा तो वह कुछ खीझ उठा, बोला, 'प्रमाण अपने समझने के लिए होते हैं, किसी को समझाने के लिए नहीं...'

वकील ने बात पलट दी, कहा—'पर तुम्हारी पत्नी ने जो कुछ भी किया, तुम्हारे लिए। क्या उस की यह क़ुर्बानी नहीं थी ?'

—नहीं। पहली बात तो यह है कि उस ने जो कुछ भी किया, अपने लिए। इस सब कुछ की मुझे ज़रूरत नहीं थी, उसे थी। मेरे हाथों में पहली रिश्वत उस ने ही थमाई थी।

—और दूसरी बात ?

—कि यह क़ुर्बानी नहीं थी...वह जो कोई भी था, ज़मींदार घराने का पुराना आदमी था...उसे, मेरा मतलब है—जमींदार की बेटी को, उसी तक पहुँचता था...मैं केवल एक क़ानूनी रास्ता था, जिस पर चल कर उस तक जाया जा सकता था...

—अब तुम आपस में किस तरह रहते हो ? किस प्रकार की ज़िन्दगी जीते हो ?

—बड़े आराम से, हम एक-दूसरे के तन का झूठ जी रहे हैं।

—पर इस विवाह के लिए आख़िर तुमने ही 'हाँ' की थी।

—मेरी 'हाँ' केवल माँ की ज़िद के आगे थी, और किसी के आगे नहीं...

—फिर बाद में तुम्हारी माँ को उस का पछतावा नहीं हुआ ?

—वह बहुत जल्दी मर गयी, पछतावे का दिन देखने से पहले...केवल कई बार ख़याल आता है...

—क्या ?

—कि अगर उस की इस तरह इतनी जल्दी मृत्यु होनी थी तो इस से कुछ दिन पहले ही...

—तुम्हारा मतलब है कि तुम्हारा विवाह करने से पहले उस की मृत्यु हो जाती ?

—हाँ !

—क्या अपनी माँ के बारे में ऐसे सोच सकना तुम्हारी क़त्ल की वह रुचि नहीं, जिस से हो सकता है , तुम ने अपने दोस्त का क़त्ल किया हो, हालाँकि तुम मानते नहीं...

—आप नहीं समझेंगे, वकील साहब !

वकील ने न्यायाधीश की ओर देखा, मानो कह रहा हो कि अभियुक्त के भीतर छिपी हुई उस की क़त्ल की रुचि स्पष्ट दिखाई देती है, उस में और समझने की कोई गुंजाइश नहीं है, न उस की सफ़ाई में कुछ सुनने की...

पर न्यायाधीश ने पहले बड़ी गंभीर दृष्टि से अभियुक्त की ओर देखा, फिर वकील की ओर। हाथ से संकेत करते हुए कहा, 'वह जो कुछ कहना चाहता है, वह सुना जाये।'

वकील ने अभियुक्त के कठघरे की ओर देखकर कुछ थके हुए स्वर में कहा —'सो, माँ की मृत्यु की कामना करके भी तुम इसे कत्ल की रुचि नहीं मानते ?'

—नहीं, क्यों कि मैं माँ को बहुत प्यार करता था, इस लिए उस की ज़िद के आगे अपनी उर्सिला की बलि दे दी थी...

वकील व्यंग्य से मुस्कराया—'पर उस की मृत्यु की कामना करना प्यार का अच्छा प्रमाण है...'

वह उत्तर में मुस्कराया, कहने लगा, 'वकील साहब ! आप की कठिनाई यह है कि आप को हर बात के लिए प्रमाण चाहिए। अच्छा, सुनिये ! एक बहुत बड़ा तपस्वी था। उस ने रेनुका नामक एक राजकुमारी से विवाह किया। उस रानी के पाँच पुत्र हुए। ...सुन रहे हैं न ?'

—हाँ, सुन रहा हूँ...

वकील ने एक बार हँसकर न्यायाधीश की ओर देखा, फिर ध्यान अभियुक्त की ओर कर लिया।

वह सुनाने लगा—'एक बार वह रानी नदी में नहाने गयी तो वहाँ चित्ररथ को देख उस के रूप पर मोहित हो गयी। घर आयी, तो उस के ऋषि पति ने अपनी तपस्या के बल से यह बात जान ली। उसे बहुत क्रोध आया। उस ने अपने चार पुत्रों को बुलाकर उन्हें आदेश दिया कि वे अपनी माँ को मार दें...'

वकील के ध्यान को अभियुक्त की इस कहानी ने सचमुच आकर्षित किया, और वह गंभीर होकर सुनते हुए बोला—'फिर? पुत्रों ने सचमुच माँ को मार दिया?'

—नहीं, वे माँ के मोह में आ गये। उन्होंने माँ पर हाथ नहीं उठाया। इस से ऋषि को और भी क्रोध आया और उस ने चारों पुत्रों को जड़ हो जाने का शाप दे दिया...सो, वे चारों जड़ हो गये...

—फिर?

—पाँचवाँ, सब से छोटा पुत्र परशुराम था। वह जब घर आया तो ऋषि-पिता ने उसे आदेश दिया कि वह अपनी माँ को मार दे, और परशुराम ने उसी समय तलवार लेकर माँ का सिर धड़ से अलग कर दिया—पर, जानते हैं, वकील साहब! आगे क्या हुआ?

—क्या?

—ऋषि-पिता अपने आदेश का पालन देखकर प्रसन्न हो गया और उस ने पुत्र से वर माँगने के लिए कहा। फिर जानते हैं, उस ने क्या वर माँगा?

—क्या?

—उस की माँ जीवित हो जाये और चारों भाई भी, जो जड़ हो गये थे···अब समझे, वकील साहब?

—तुम्हारा मतलब है कि···

—मैं भी एक परशुराम हूँ। माँ ने मेरे विवाह का दोष कमाया, इस लिए उस की मृत्यु की कामना कर सकता हूँ। लेकिन अगर वह घड़ी गुज़र जाती, जिस में माँ को ज़िद करनी थी, तो मैं अपना विवाह जिस तरह करना चाहता था, कर लेता, और बाद में माँ को उसी तरह जीवित देखना चाहता, जैसे परशुराम ने चाहा था···

वकील ने अपनी झुकी हुई आँखों को अभियुक्त के चेहरे से परे कर लिया...

वह फिर कहने लगा—'पर मेरा, आज के आदमी का दुःखान्त यह है वकील साहब, कि मैं न किसी को मार सकता हूँ, न किसी को जिला सकता हूँ...मैं बहुत कमज़ोर आदमी हूँ···देखिये न, मैं ने उसे जंगल में अकेला छोड़ दिया...'

वकील चकित-सा हो गया, पूछने लगा—'जंगल में? किसे?'

—कुछ नहीं।···उसके स्वर में एक घबराहट आ गयी...

एक पल के लिए वकील को सन्देह हुआ कि अभियुक्त का दिमाग़ ठिकाने

नहीं रहा है; पर अब तक उस की सारी बातें होश की थीं, इस लिए वकील का यह सन्देह दूसरी ओर मुड़ा। जो सुराग़ अब तक नहीं मिल रहा था, शायद अचानक होंठों पर आये इस वाक्य से कुछ मिल सकता था...

पूछने लगा—'सो तुम ने उसे जंगल में अकेला छोड़ दिया ?'

उत्तर में वह बोला नहीं।

वकील ने पूछा—'तुम्हें याद है, वह किस दिन की बात है ?'

—क्या ?—वह वकील के मुख की ओर ऐसे देखने लगा, जैसे वह सवाल को समझा ही न हो।

—जिस दिन तुम उसे जंगल में ले गये थे, और वहाँ तुम ने उसे अकेला छोड़ दिया था...

अब अभियुक्त के होंठों पर एक मुस्कराहट आयी; पर ऐसे, जैसे होंठों पर आकर रो पड़ी हो। वह कहने लगा—'हाँ, वकील साहब ! मैं ने एक बड़ी मासूम और बड़ी प्यारी-सी लड़की को एक जंगल में अकेला छोड़ दिया था...'

—तुम किस की बात कर रहे हो ?

—उर्सिला की।

—हूँ !...वकील चुप-सा हो गया।

—मुझे अचानक एक बात याद आ गयी थी, वही बताने लगा था...

—क्या ?

—एक दिन जब हम सब लोग पिकनिक से लौटे थे, रास्ते में एक पहाड़ी पर एक मन्दिर पड़ता था। उर्सिला वह मन्दिर देखना चाहती थी और बाक़ी और कोई भी चढ़ाई नहीं चढ़ना चाहता था...सब थके हुए थे...

—फिर ?

—मैं और वह उस पहाड़ी के मन्दिर को देखने चले गये, इस लिए साथियों से पिछड़ गये...जो बाहर वाली पगडंडी गाँव को आती थी, वह बहुत लम्बी थी। लेकिन अगर हम रास्ते में पड़ने वाले जंगल के बीच से गुज़रते तो बहुत जल्दी गाँव पहुँच सकते थे।

—सो, तुम जंगल के रास्ते से आये ?

—संस्कार बड़े अजीब होते हैं, वकील साहब ! हम मन्दिर से नीचे आकर जंगल के रास्ते पर पड़ गये। अचानक मैं ने कुसुम का एक फूल तोड़कर उर्सिला के बालों में अटका दिया, और एक फूल हथेली पर मसलकर उस का रंग उस के माथे पर लगा दिया...जानते हैं, क्यों ?

—क्यों ?—वकील कुछ मुस्करा-सा उठा, पर अभियुक्त ने देखा नहीं, उस का ध्यान दूर जंगल में था, कहने लगा—'जब मेरी नानी जीवित थी, तब एक दोपहर जब हम जंगल से गुज़रने लगे थे, उस ने कुसुम के फूल तोड़कर उन

की पंखुड़ियाँ सब के माथे पर मली थीं—अपने बालों में भी फूल लगाये थे, माँ के बालों में भी...आप जानते हैं, कुसुम के फूलों को अग्निशिखा भी कहते हैं ?'

—पर ?

—नानी भी कहती थी, जंगलों में बहुत-सी रूहें रहती हैं। पर अगर बालों में कुसुम के फूल हों, गले में रंगीन मोती और माथे पर कुसुम का लाल रंग, तो जंगल की रूहें रास्ता चलने वालों को कोई दुख नहीं देतीं, न ही वे रास्ता भूलते हैं...

—फिर उस दिन तुम ने उर्सिला को जंगल में अकेला छोड़ दिया ?

—नहीं, वकील साहब ! उस दिन तो उस के माथे पर कुसुम का रंग लगाया था।...उस दिन नहीं...बाद में...यह दुनिया भी तो एक भयानक जंगल है, इस भयानक जंगल में मैं ने उसे अकेला छोड़ दिया।...पर नहीं, अग्नि-शिखा की रीत मैं ही भूल गया...

—किस तरह ?

—मैं अपने माथे पर कुसुम का रंग लगाना भूल गया, सो जंगल की रूहें मुझ से नाराज़ हो गयीं, और मैं जंगल में रास्ता भूल गया...

—हाँ, लगता है, तुम झूठ नहीं बोल सकते।—वकील ने धीरे से यह कहा तो वह जो अभियुक्त था, धीरे से हँस पड़ा और कहने लगा—'झूठ नहीं बोल सकता, पर झूठ को आँखों से देखकर भी चुप रह सकता हूँ...अकसर रहता हूँ...'

—उदाहरण दो।

—उदाहरण ? उस औरत को लोग जब मेरी पत्नी कहते हैं, तो मैं चुप रहता हूँ।...

—और ?

—और जब मेरे सामने लाखों के बजट पर हस्ताक्षर होते हैं, तब उस की कितनी रक़म कहाँ लगती है और कितनी कहाँ जाती है, सब जानता हूँ, पर चुप रहता हूँ...

—किस के बजट ?

—नये महकमों के, नयी मिलों के, नयी ख़रीद के, या किसी न किसी चीज़ की प्रोमोशन में, उदाहरण के तौर पर, एजुकेशन की, आर्ट की, कल्चर की...

—यह चुप रहने की आदत तुम्हें कब से पड़ी ?

—उस दिन से, जब माँ की ज़िद के आगे चुप रह गया था।

—फिर ?

—फिर जब मेरा दोस्त मेरे पास से जाने लगा, तो मैं चुप रह गया था।

—फिर ?

—फिर उस रात, जब मेरी पत्नी कहलाने वाली औरत मेरी नौकरी के

काग़ज़ों पर हस्ताक्षर करवाकर ले आयी थी...और केवल उस रात नहीं, अब भी कई रातों को, जब मुझे मालूम होता है कि वह कहाँ गयी थी और वह कहती है कि वह कुछ ख़रीदने गयी थी, मैं चुप रहता हूँ···हाँ, सच, एक बात है···

—क्या ?

—मुझे अपने घर में बाज़ार की गंध आती है, ख़ासकर अपने बिस्तर में से...

—इस का क्या मतलब ?

—इस का मतलब यह है कि मेरा दोस्त अभी कहीं जीवित है।

—उस के जीवित होने का इस गंध से क्या सम्बन्ध है ?

—वकील साहब ! मैं आप को किस तरह समझाऊँ कि वह अगर मर गया होता तो मुझे किसी भी ग़लत चीज़ में से गंध नहीं आ सकती थी...जैसे...

—जैसे क्या ?

—जैसे, अगर वह मर गया होता तो मुझे किसी भी अच्छी चीज़ में से सुगंध नहीं आ सकती थी।

—तुम अजीब आदमी हो...अच्छा, यह बताओ, तुम ने अभी तक अपने किये के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा, आख़िर सब कुछ तुम्हारे हाथों हुआ...

—हाँ, मैं ने जुआ खेला।

वकील हँस पड़ा, कहने लगा—'और इतनी धन-सम्पदा, मान-सम्मान जुए में जीत लिये...'

अभियुक्त की आँखों में रोष भड़क उठा, कहने लगा—'जुए में सब से पहले मैं ने अपने आप को हारा, फिर अपनी ज़िन्दगी के सब से बड़े दोस्त को, और फिर उर्सिला को...जैसे युधिष्ठिर ने अपने भाइयों को दावँ पर लगाया था और हार दिया था, फिर अपने आप को, और फिर द्रौपदी को...'

वकील मुस्कराया—'सो, आज के पांडव ! तुम ने भी जुआ खेला...'

—हाँ, उसी तरह, पर दौलत के लालच से नहीं।

—फिर किस लिए ?

—जैसे पांडवों ने खेला था, अपने बुज़ुर्ग धृतराष्ट्र की आज्ञा मानकर···मैं ने माँ की आज्ञा मानी थी।

—पर तुम्हें आज्ञा मानने का पछतावा है ?

—हाँ; यह युग का अन्तर है, आज के आदमी के पास 'किन्तु' है, सन्देह है, तर्क है, पछतावा है...

—पर मन के वनों में भटकते हुए, तुम्हारी द्रौपदी तुम्हारे साथ क्यों नहीं है ? न तुम्हारा मित्र तुम्हारे साथ है...पांडव तो इकट्ठे वन को गये थे...

—यह भी युग का अन्तर है, वकील साहब ! हम सब भटक रहे हैं, अपने-

अपने वनों में...यह अकेलापन भी इस युग की देन है...

—तुम सचमुच दिलचस्प आदमी हो...बातों से तुम अपनी साधारण बात को असाधारण बना देते हो...

—किस तरह ?

—जैसे अपनी उर्सिला को तुम ने द्रौपदी से मिला दिया।

—उर्सिला की जन्मकथा भी द्रौपदी की जन्मकथा जैसी है।

—वह किस तरह ?—वकील के मुख पर आश्चर्य आ गया...

—आप जानते ही हैं, द्रौपदी एक हवनकुंड से पैदा हुई थी, एक अग्निकुंड से···

—हाँ !

—उर्सिला भी एक अग्निकुंड से पैदा हुई थी.. उस के माता-पिता हवन-कुंड के समान पवित्र थे...पर उस कुंड में उस की माँ के रूप पर मोहित होकर एक राक्षस ने बदले की आग जला दी...माँ नदी में डूबकर मर गयी, पिता भिक्षा पात्र लेकर संन्यासी हो गया...

—पर यह सारी कहानी तो द्रौपदी की नहीं थी...

—यह भी युग का अन्तर है...इस तरह आज की मुहब्बत को कोई हवन-कुंड नहीं कहता...आज के राक्षसों को कोई राक्षस नहीं कहता...आज की भलाई को कोई वर नहीं कहता, और आज की बुराई को कोई शाप नहीं कहता...

वकील की आँखों में अभियुक्त के लिए मोह भर आया, उस ने कोमल-से स्वर में कहा—'सो, तुम्हारे कथन के अनुसार, तुम पर अपने मित्र के क़त्ल का दोष नहीं लगता...'

—उसे खो देने का दोष लगता है, वकील साहब !

वकील हैरान हो गया, उस ने पूछा—'पर यह दोष तुम्हारी दृष्टि में बहुत बड़ा दोष है ?'

—हाँ, वकील साहब ! यह चुप का दोष है, बहुत बड़ा, और बहुत दूर तक फैला हुआ···मेरे बिस्तर से लेकर दुनिया के राजसिंहासन तक फैला हुआ···हर देश के राजसिंहासन तक...

वकील की आकृति गंभीर हो गयी, उस ने धीरे से कहा—'पर आज के मनुष्य ! यह दोष तो हर युग में था...'

अभियुक्त हँसा, कहने लगा—'क्या समय का विस्तार दोष को दोष-मुक्त कर देता है ?'

वकील ने कुछ नहीं कहा।

वही कहने लगा—'देखिये ! किस समय की बात है, उस समय की, जब दुर्योधन की भरी सभा में द्रौपदी को घसीटकर लाया गया तो भरी सभा में रोते

हुए द्रौपदी ने अपने धर्मराज युधिष्ठिर से एक प्रश्न पूछा था...'

—क्या ?

—कि युधिष्ठिर जब अपने आप को हार चुके तो उन्हें क्या अधिकार था कि वह उसे दावँ पर लगा दें।

—युधिष्ठिर ने क्या उत्तर दिया ?

—कोई उत्तर नहीं दिया, वकील साहब ! कोई उत्तर नहीं दिया। हालाँकि भरी सभा में भीष्म पितामह ने कहा कि द्रौपदी का प्रश्न बहुत गूढ़ है, गौरव का ...पर इस प्रश्न का किसी ने उत्तर नहीं दिया...मैं वही तो कह कहा हूँ कि अनेक प्रश्न शताब्दियों से हवा में खड़े हुए हैं, परन्तु मनुष्य शताब्दियों से चुप है...

—अभियुक्त !

—हाँ, वकील साहब ! उर्मिला का भी यही प्रश्न है, और मैं चुप हूँ...मैं चुप रहने का दोषी हूँ...

वकील किसी चिन्ता में पड़ गया, फिर न्यायाधीश की ओर देखते हुए धीमे स्वर में अभियुक्त से पूछने लगा—'तुम्हारा क्या ख़याल है...अगर तुम्हारी जगह तुम्हारा मित्र होता तो वह इस प्रश्न का उत्तर देता ?'

अभियुक्त ने एक गहरी साँस ली, फिर थके हुए स्वर में कहने लगा—'वह चुप नहीं रह सकता था, इसी लिए वह मेरे पास से चला गया...वह मेरी शक्ति था, मेरा बल...'

—पर अगर तुम्हारी जगह वह होता, दुनिया के जो सुख-आराम तुम्हारे सामने हैं, अगर उस के सामने होते ?

अभियुक्त हँसा, इतना कि रूमाल से उस ने अपनी आँखों में आये हुए पानी को पोंछा, और कहने लगा—'वह मेरी जगह हो ही नहीं सकता था, वकील साहब ! वह उस सड़क को तोड़ देता, जिस सड़क पर चलकर मैं यहाँ पहुँचा हूँ...यह रास्ता उस के पैरों के लिए नहीं था...एक बात कहूँ, वकील साहब ?'

—हाँ।

—इन रास्तों पर चलने के लिए मनुष्य को साहस नहीं चाहिए, बल्कि इन पर न चलने के लिए साहस चाहिए...और यह केवल उस के पास था...

—और तुम ?

– मैं बहुत कमज़ोर आदमी हूँ...चला, तो बस, चलता रहा...

—तुम इस रास्ते से वापस जाना चाहते हो ?

वकील के इस प्रश्न पर अभियुक्त फिर हँस पड़ा, कहने लगा—'अजीब प्रश्न है !'

—क्यों ?

—क्योंकि कुछ चाह सकने के लिए भी साहस चाहिए।

—सो, तुम नहीं चाहते, पर न चाहने के लिए भी साहस चाहिए ?

—हाँ, वकील साहब ! हाँ और नहीं दोनों के लिए। मैं दोनों से दूर आ चुका हूँ...

वकील ने मेज़ पर झुककर एक काग़ज़ पर कुछ लिखा, फिर अभियुक्त की ओर देखकर कहने लगा—'तुम जानते हो, इन सब बातों से तुम्हारे मुक़दमे की कार्यवाही कहीं नहीं पहुँचती...'

—ठीक है, उसे भी मेरी तरह काग़ज़ों में भटकने दीजिये—उस ने उचाट-से मन से कहा, और फिर पूछने लगा—'मुझे बहुत प्यास लग रही है, मैं कहीं से पानी पी सकता हूँ ?'

—पानी ?

उस ने कुछ झिझककर कोट की जेब को टटोला, फिर बोला—'मेरे पास थोड़ी-सी ब्रांडी है, मेरा मतलब है, ह्विस्की...मैं पी लूँ ?'

वकील ने न्यायाधीश की ओर देखा तो वह धीरे से मुस्करा दिया। इस लिए वकील ने अभियुक्त की ओर देखकर कहा—'तुम्हारी मर्ज़ी...'

उस ने जल्दी से छोटी-सी बोतल से पाँच-छः घूँट भर लिये, और कुछ तृप्त होकर वकील की ओर देखा।

वकील ने वही प्रश्न, काग़ज़ों में से उठाकर, फिर दोहरा दिया—'सो तुम्हारा दोस्त गुम हो गया है, तीन साल से मिल नहीं रहा है ?'

उस ने समर्थन किया—'हाँ, तीन साल से नहीं मिल रहा है।'

वकील ने अपना संदेह भी दोहराया—'शायद उस का क़त्ल हुआ है ?

उस ने फिर उसी प्रकार आपत्ति की—'नहीं, वह जीवित है...'

'कोई प्रमाण ?' वकील की आवाज़ ठंडी और कारोबारी हो गयी।

'मैं प्रमाण दे चुका हूँ, अब बार-बार नहीं दूँगा।' उस ने थके हुए स्वर में कहा।

—पर तुम उसे ढूँढ़ते क्यों नहीं ?

—अगर ढूँढ़ सकता तो आपको दर्ख़ास्त क्यों देता ?

—उसे ढूँढ़ना किस का काम है ?

—हम सब का।

कमरे में ख़ामोशी छा गयी।

कमरे की उस बड़ी दीवार की ओर पहले ही ख़ामोशी थी...दीवार पर लगा हुआ चित्र भी, और नीचे उस की सीध में बैठा हुआ सफ़ेद चोग़े वाला न्यायाधीश भी...जैसे दीवार का हिस्सा थे। केवल इस ओर लकड़ी के कठघरे में खड़ा अभियुक्त और उस से कुछ फ़ासले पर खड़ा हुआ काले कोट वाला वकील बोल रहे थे—वे भी चुप हो गये तो कमरा भयानक-सा हो गया।

वह कठघरे पर अपनी बायीं कोहनी टिकाकर, ख़ाली-ख़ाली आँखों से कमरे की दीवारों को देखने लगा···और बिना पानी ह्विस्की का पिया हुआ घूँट उस की छाती में बहुत गर्म लगने लगा।

सिगरेट की भी तलब लगी, और उस ने जेब में से सिगरेट-केस निकालकर एक सिगरेट जलायी...

—यह नंगी ईंटों का कमरा शायद बहुत पुराना है, और शायद यहाँ रोज़ कचहरी नहीं लगती। वह कोनों में लगे हुए जालों को देखता रहा, फिर अचानक सफ़ेद चोग़े वाले न्यायाधीश के मुख की ओर देखने लगा...

सोचने लगा—कम्बख़्त पत्थर की मूर्ति की तरह बैठा हुआ है—न बोलता है, न हिलता है, केवल आँखें झपककर देखे जा रहा है...

और उसे ख़याल आया···अगर उस की आँखें भी न झपकतीं तो वह समझता कि वह सचमुच पत्थर का बना हुआ है...

फिर अपने ही एक विचार से उसे हँसी-सी आ गयी—अगर दुनिया की हर अदालत में न्याय का एक बुत बनाकर रख दिया जाये, तो क्या हर्ज है...?

—पत्थर हो गये न्याय का बुत···उस ने स्वयं ही अपने विचार में संशोधन किया।

और अपने आप को तर्क दिया—अगर भगवान् पत्थर का बनाया जा सकता है, तो न्याय क्यों नहीं? बल्कि वही तो सच होगा...

—और सुनवाई?—उस के मन में 'किन्तु' उठा।

पर वही 'किन्तु' उस के होंठों पर आकर हँस पड़ा—अब क्या सुनवाई होती है? किस की?

उस ने हथेली से होंठों पर से 'किन्तु' को पोंछ दिया, उसे लगा—जीभ केवल हुकूमतों की होती है, इन्सान तो कब से चुप है...

आज इस अदालत में चुप का दोष उस ने स्वयं ही अपने कन्धों पर रखा है, इस बात ने उसे कुछ तसल्ली-सी दी।

और अचानक एक बहुत पुरानी वार्ता उसे याद आ गयी—जब पाँचों पांडव कुन्ती के साथ जंगलों में मारे-मारे फिर रहे थे तो वहाँ एक हिडिंबा नाम की राक्षसी भीम की काया का बल देखकर उस पर मोहित हो गयी थी...और एक सुन्दर राजकुमारी का रूप धारण करके आयी थी...।

पुरातन कहानी को उस ने एक झटके से शोधित किया—'नहीं, ज़मींदार की बेटी का रूप धारण करके आयी...'

और वह कहानी पर विचार करने लगा—महाबली भीम ने उस राक्षसी का भेद जान लिया, तब भी उस की इच्छा पूर्ण की, पर एक शर्त रखी—उस ने कहा कि जब तुम्हारे पुत्र का जन्म होगा, मैं वापस अपनी जिन्दगी में लौट

आऊँगा...

मन, जैसे नंगे पैर जंगलों की ओर दौड़ पड़ा, पर उन जंगलों की ओर, जो भीम के समय के थे।...काल और स्थान की चेतना आयी तो पाँवों में बहुत-से काँटे चुभ गये...

—कितना पुरातन समय था !—वह विचार में डूब गया—एक बरस बाद अपनी ज़िन्दगी में लौट आने का रास्ता उस ने सुरक्षित रख लिया, पर अब··· शताब्दियों के बाद भी, किस प्रकार का, नया समय आया है, जो उस पुराने समय जितना भी नया नहीं है कि एक वर्ष बाद...या तीन वर्ष बाद...वापस अपनी ज़िन्दगी में लौटा जा सके...

'अपनी ज़िन्दगी'—दो छोटे-से शब्द उस की आँखों के आगे चमकने लगे।

उर्मिला उन छोटे-से शब्दों में समा गयी···मानो ढाई पगों से वह सारी धरती नाप रही हो...

आँखें शायद किसी विचार के कारण चकाचौंध हो गयी थीं, मुँद-सी गयीं...

—क्यों अभियुक्त ! सो गये ?···वकील की आवाज़ आयी।

—नहीं तो।

उस ने चौंककर कमरे की दीवारों की ओर देखा। फिर बड़ी दीवार पर लगे हुए चित्र की ओर उस की दृष्टि गयी तो उस ने वकील की ओर मुँह करके पूछा—'यह चित्र किस का है ?'

—अच्छी तरह देखो, पहचानो।

—बहुत अँधेरा है, पहचाना नहीं जाता।

—यही तो आज के इन्सान की मुश्किल है।

वकील की कही हुई बात से वह चौंक गया, और चित्र को दृष्टि गड़ाकर देखने लगा...

—यह···यह मेरे उस दोस्त का चित्र प्रतीत होता है।

—अच्छी तरह देखो...

—क्या वह सचमुच मर गया है ?

—तुम्हें विश्वास है कि वह जीवित है ?

—हाँ, मुझे विश्वास था कि वह जीवित है।

—फिर अब क्यों विश्वास नहीं होता ?

हमारी दुनिया में...लोग उन के चित्रों पर हार डालकर दीवारों पर टाँगते हैं, जो मर जाते हैं।...आप ने, वकील साहब ! इस के चित्र पर हार क्यों डाला हुआ है ?

—चित्र को फिर अच्छी तरह देखो।

उस की समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि वकील उस से लौट-पलटकर यह

क्यों कह रहा है। वह चकित हो कर वकील के मुँह की ओर देखने लगा...

फिर उस ने लकड़ी के कठघरे की ओर देखा, और फिर अपनी ओर...

अपनी चीख़ अपने ही कानों में सुनाई दी—'मैं यहाँ अभियुक्त के कठघरे में क्यों खड़ा हूँ ?'

और कठघरे से निकलकर वह बाहर की ओर दौड़ने लगा तो वकील ने उस के पास आकर उस की बाँह पकड़ ली...

उस ने जलती हुई आँखों से वकील के मुँह की ओर देखा— इस समय वह बिलकुल उस के पास खड़ा था और उस का मुँह बिलकुल उस के सामने था...

उस के पाँव, जो दौड़ने जा रहे थे, जैसे निर्जीव हो गये। होंठों से तड़पकर निकला—'यह मैं ? मैं आज काला कोट पहनकर यहाँ किस तरह आ गया ?'

पिछली दीवार की ओर से हल्की-सी हंसी की आवाज़ आयी, तो उस ने घबराकर उधर देखा, जिधर एक ऊँची कुर्सी पर सफ़ेद चोग़ेवाला न्यायाधीश बैठा हुआ था...

वह घिसटते हुए क़दमों से चलते हुए उधर उस मेज़ की ओर गया और कुर्सी पर बैठे हुए न्यायाधीश को ग़ौर से देखते हुए जैसे पागल हो उठा—'यह भी मैं ? आज सफ़ेद चोग़ा पहनकर यहाँ न्यायाधीश की कुर्सी पर क्यों बैठा हुआ हूँ ?'

उस ने काँपकर दीवार पर लगे हुए चित्र की ओर देखा—'यह मेरा दोस्त ?...नहीं, यह मैं हूँ...अपना नया सूट पहने हुए...उस ने कभी भी ऐसे कपड़े नहीं पहने...नहीं, वह नहीं है,...यह मैं हूँ...'

उस ने घबराकर दीवारों को हाथों से टटोला...

अदालत की दीवारें मानो उस के शरीर का मांस थीं, उस के ही अंग-प्रत्यंग...

...उस ने हाथों से टटोला, तो उसे प्रतीत हुआ कि उस के सारे शरीर में पीड़ा हो रही है...

आँखें चौंककर खुलीं...

उस ने पलँग की पट्टी को, तकिये को टटोला, पर बिस्तर से उठने लगा तो उस से उठा न गया...

रात वाले सपने की वह अर्ज़ी याद आयी, जो उस ने अपने खोये हुए मैं को ढूँढ़ने के लिए दी थी...

—मेरा वह मैं सचमुच जीवित है, केवल खो गया है...वह नहीं मर सकता ...नहीं मर सकता।

और रात को सपने में उस के भीतर के अभियुक्त ने उस के भीतर के वकील से जो कहा था, वह याद आया—'अगर वह मर गया होता तो मुझे किसी ग़लत चीज़ में से दुर्गन्ध नहीं आ सकती थी...और मुझे किसी अच्छी चीज़ में से सुगन्ध

नहीं आ सकती थी...'

—कल रात मैं ने सचमुच एक सच ढूँढ़ लिया है।

उस ने फिर बिस्तर से उठने की कोशिश की, पर उठ न सका...

रात का न जाने कौन-सा पहर था, उस ने समय देखना चाहा, पर उस के सोने के कमरे में बिलकुल अँधेरा था...

अचानक अपने बिस्तर से उसे एक सुगन्ध आयी...

वह हैरान हो गया...पहले सदा उसे अपने बिस्तर से दुर्गन्ध आती मालूम हुआ करती थी...

मन में आकाश की बिजली की भाँति कुछ कौंध गया—शायद रात को जब मैं सोया हुआ था, मेरा दोस्त मेरे कमरे में आया था, मुझे सोए हुए देखने को... तभी तो मेरे पलँग से सुगन्ध आ रही है...

उस ने एक ठंडी सुख की साँस ली...एक तसल्ली की; सोचा—मेरा जो 'मैं' मेरा दोस्त था, वह भले ही गुम हो गया है, पर मरा नहीं है...

फिर अचानक वह चित्र याद हो आया, जो दीवार पर लगा हुआ था, और जिस के गले में फूलों का हार पड़ा हुआ था...

और उस ने एक निःश्वास लिया—'हाँ, मेरा चित्र था...मुझे तीन साल हो गये हैं कत्ल हुए...!'

और उस ने चादर के सिरे से शरीर पर आये हुए पसीने को इस तरह पोंछा, जैसे क़त्ल हुए शरीर से लहू पोंछ रहा हो...

करमांवाली

बड़ी ही सुन्दर तन्दूर की रोटी थी, पर सब्ज़ी की तरी से छुआ कौर मुँह को नहीं लगता था।

"इतनी मिर्चें..." मैं और मेरे दोनों बच्चे सी-सी कर उठे थे।

"यहाँ बीबी, जाटों की आवाजाही बहुत है। शराब की दुकान भी यहाँ कोसों में एक ही है। जाट जब घूँट पी लेते हैं, फिर अच्छी मसालेदार सब्ज़ी माँगते हैं।" तन्दूर वाला कह रहा था।

"यहाँ...जाट...शराब"

"हाँ बीबी, घूँट शराब का तो सब ही पीते हैं, पर जब किसी आदमी का ख़ून करके आयें, तब ज़रा ज़्यादा ही पी जाते हैं।"

"यहाँ ऐसी घटनाएँ..."

"अभी तो परसों-तरसों कोई पाँच-छः आ गये। एक आदमी मार आये थे। ख़ूब चढ़ा रखी थी। लगे शरारतें करने। वह देखो, मेरी तीन कुर्सियाँ टूटी पड़ी हैं। परमात्मा भला करे पुलिस वालों का, वह जल्दी पकड़कर ले गये उन्हें, नहीं तो मेरे चूल्हे की ईंटें भी न मिलतीं...पर कमाई भी तो हम उन्हीं की खाते हैं...।"

कौशलिया नदी देखने की सनक मुझे उस दिन चण्डीगढ़ से फिर एक गाँव में ले गयी थी; पर मित्रों से चली बात शराब तक पहुँच गयी थी। और शराब से ख़ून-ख़राबे तक। मैं उस गाँव से जल्दी-जल्दी बच्चों को लेकर लौटने को हो गयी थी।

तन्दूर अच्छा लिपा-पुता और अन्दर से खुला था। और भीतर की ओर एक तरफ़ कोई छः-सात ख़ाली बोरियाँ तानकर जो पर्दा कर रखा था, उस के पीछे पड़ी तीन खाटों के पाये बताते थे कि तन्दूर वाले के बाल-बच्चे और औरत भी वहीं रहते थे।...मुझे लगा, कोई इतना बड़ा ख़तरा नहीं था। वहाँ पर औरत की रिहायश थी, इज्ज़त की रिहायश थी।

किसी औरत ने टाट का काँटा मोड़ा। बाहर की ओर झाँककर देखा, और फिर बाहर आकर मेरे पास आ खड़ी हो गयी।

"बीबी, तू ने मुझे पहचाना नहीं?"

"नहीं तो..."

वह एक सादी-सी जवान औरत थी। मैं उस के मुँह की ओर देखती रही··· पर मुझे कोई भूली-बिसरी बात भी याद नहीं आयी।

"मैं ने तो तुझे पहचान लिया है बीबी! पिछले साल, न सच, उस से भी पिछले साल तू यहाँ आयी थी न!"

"आयी तो थी।"

"सामने मैदान में एक बरात उतरी थी!"

"हाँ, मुझे यह याद है।"

"वहाँ तू ने मुझे डोली में बैठी हुई को रुपया दिया था।"

बात याद आयी। दो साल पहले मैं चण्डीगढ़ गयी थी। वहाँ पर नया रेडियो

स्टेशन खुलना था। और पहले दिन के समागम के लिए, मेरे दिल्ली के दफ़्तर ने मुझे वहाँ एक कविता पढ़ने के लिए भेजा था। मोहनसिंह तथा एक हिन्दी कवि जालन्धर स्टेशन की तरफ़ से आये थे। समागम जल्दी ही ख़त्म हो गया था, और हम तीन-चार लेखक कौशलिया नदी देखने के लिए चण्डीगढ़ से इस गाँव में आये थे।

नदी कोई मील-डेढ़ मील ढलान पर थी, और वापसी चढ़ाई चढ़ते हुए हम सब चाय के एक-एक गर्म प्याले को तरस गये थे। सब से साफ़ और खुली दुकान यही लगी थी। यहीं से चाय का एक-एक गर्म प्याला पिया था। उस दिन इस दुकान पर पक रहे मांस और तन्दूरी रोटियों के साथ-साथ मिठाई भी काफ़ी थी। तन्दूर वाला कह रहा था—'आज यहाँ से मेरी भानजी की डोली गुज़रेगी। मेरा भी तो कुछ करना बनता है न...'

और फिर सामने मैदान में डोली उतरी। डोली किसी पिछले गाँव से आयी थी। उसे आगे जाना था। रास्ते में मामा ने स्वागत किया था।

'विवाह भी अजीब चीज़ है। आते वक़्त कैसे रंग बाँधता है, और जाते समय...' हम में से एक ने कहा था, और चाय के घूँटों के साथ रंग की फ़िलासफ़ी भी गर्म होती गयी थी।

'रुको, मैं नयी दुल्हन का मुँह देख आऊँ। भला उस के मुँह पर आज कैसा रंग है...' मुझे याद है, मैं ने कहा था और आगे से मेरे साथियों ने जवाब दिया था, 'हमें तो कोई डोली के पास नहीं जाने देगा, तुम ही देख आओ···पर ख़ाली हाथों न देखना...'

मैं एक मुस्कराहट लिये डोली के पास चली गयी थी। डोली का पर्दा एक तरफ़ से उठा हुआ था। मैंने पास में बैठी नाइन से पूछा था, 'मैं दुल्हन का मुँह देख लूँ?'

'बीबीजी, सदक़े देख—हमारी लड़की तो हाथ लगाये मैली होती है...'

और सचमुच लड़की की शृंगारपुरी नत्थ में जो मुस्कराहट का मोती चमक रहा था, उस का रंग झेलना कोई आसान नहीं था।

मैं ने एक रुपया उस की हथेली पर रखा। और जब लौटी, तो मेरे साथी कह रहे थे, 'क्षण-भर पहले जब तुम ने कविता पढ़ी थी, कॉलेज की कितनी लड़कियों ने रुपये-रुपये के नोट पर तुम्हारे हस्ताक्षर करवाये थे। उस बेचारी को क्या मालूम होगा कि वह रुपया उसे किस ने दिया था···कहीं जानती होती, हस्ताक्षर ही करवा लेती...।'

दो साल पहले की बात थी। मुझे पूरी की पूरी याद आ गयी।

"तू...वह डोली वाली लड़की?"

"हाँ, बीबी!"

जाने किस घटना ने उसे दो बरसों में लड़की से औरत बना दिया था। घटना के चिह्न उस के मुँह पर से दृष्टिगोचर होते थे, पर फिर भी मुझे सूझता नहीं था कि मैं उसे कैसे पूँछूँ।

"बीबी, मैं ने तेरी तस्वीर अख़बार में देखी थी, एक बार नहीं, दो बार। यहाँ भी कितने ही लोग आते हैं, जिन के पास अख़बार होता है, कई तो रोटी खाते-खाते यहीं पर छोड़ जाते हैं।"

"सच, और फिर तू ने पहचान ली थी?"

"मैं ने उसी वक़्त पहचान ली थी।...पर बीबी, वे तेरी तस्वीरें क्यों छापते हैं?"

मुझ से जल्दी कोई जवाब न बन पड़ा। ऐसा सवाल पहले कभी किसी ने नहीं किया था। कुछ लजाते हुए मैं ने कहा, "मैं कविताएँ-कहानियाँ लिखती हूँ न...।"

"कहानियाँ? बीबी, क्या वे कहानियाँ सच्ची होती हैं, या झूठी?"

"कहानियाँ तो सच्ची होती हैं, वैसे नाम झूठे होते हैं, ताकि पहचानी न जाये।"

"तू मेरी कहानी भी लिख सकती है बीबी?"

"अगर तू कहे, तो मैं ज़रूर लिखूँगी।"

"मेरा नाम करमाँवाली (सौभाग्यशालिनी) है। मेरा तो चाहे नाम भी झूठा न लिखना, मैं कोई झूठ थोड़े ही बोलूँगी, मैं तो सच कहती हूँ...पर मेरी कोई सुने भी तो! कोई नहीं सुनता...।"

वह मेरा हाथ पकड़कर मुझे टाट के पीछे पड़ी खाट पर ले गयी।

"जब मेरी शादी होनी थी न, मेरे ससुराल से दो जनी मेरा नाप लेने आयीं। उन में से एक लड़की मेरी उम्र की थी—बिलकुल मेरे जितनी। वह किसी दूर के रिश्ते में मेरी ननद लगती थी। मेरी सलवार-क़मीज़ नापकर कहने लगी, 'बिलकुल मेरी ही नाप है। भाभी, तू चिंता न कर, जो कपड़े सीऊँगी, तुझे बिलकुल पूरे आयेंगे।'

"और सचमुच वरी के जितने भी कपड़े थे, मुझे ख़ूब अच्छी तरह से आते थे। वही ननद मेरे पास कितने महीने रही, और बाद में भी मेरे कपड़े वही सीती रही। मेरा चाव भी बहुत करती थी। मुझे कहा करती थी, 'भाभी, चाहे मैं दो महीने के बाद आऊँ, चाहे छः महीने के बाद, पर तू किसी और से कपड़ा मत सिलाना...'

"मुझे भी वह अच्छी लगती थी। सिर्फ़ उस की एक बात बुरी लगती थी, मेरा जो भी कपड़ा सीती थी, पहले स्वयं पहनकर देखती थी। कहती थी, 'तेरा-मेरा नाप एक है। देख, मुझे कैसे पूरा है! तुझे भी पूरा आयेगा।'

"और सारे कपड़े पहनते समय मेरे मन में आता था, कपड़े भले ही नये हों, पर हैं तो उस के उतारे हुए ही न !"

रस्सी के साथ टँगे हुए टाट का पर्दा था, बान की ढीली-सी खाट थी। खेस भी खस्ता था, लड़की भी अल्हड़ और अपढ़ थी—पर यह ख़याल, इतना नाज़ुक, इतना मुलायम...मैं चौंक उठी।

"पर बीबी, मैं ने अपने मन की बात कभी नहीं कही। जाने बेचारी का मन छोटा हो जाये।"

"फिर ?"

"फिर मुझे कोई बरस-डेढ़ बरस बाद पता चला, किसी ने बता दिया। उस की और मेरे घरवाले की लगी हुई थी। यह उस का दादा-पोता के रिश्ते से भाई लगता था; पर एक उस के सगे भाई को यह बात बहुत बुरी लगती थी। वह तो एक बार अपनी बहन की गर्दन उतार देने लगा था।

"किसी ने मुझे यह भी बताया कि थोड़े समय जब वह बाग़ गोदने लगी थी, तो उसे फ़िट आ गया था।" आँसुओं से भीगी करमाँवाली ने मेरा हाथ पकड़ लिया। "बीबी, तू मेरी मन की बात समझ ले। मुझ से उतार नहीं पहना जाता—मेरी गोटा-किनारी वाली सलवारें, मेरी तारों-जड़ी चुनरियाँ और मेरी सिलमों वाली क़मीज़ें—सब उस का 'उतार' (पहले पहने हुए कपड़े) थे। और मेरे कपड़ों की भाँति मेरा घरवाला भी..."

करमाँवाली की आवाज़ के आगे मेरी क़लम झुक गयी। कौन लेखक ऐसा फ़िक़रा लिख देता !

"अब बीबी, मैं वे सारे कपड़े उतार आयी हूँ। अपना घरवाला भी। यहाँ मामा-मामी के पास आ गयी हूँ। इन का घर लीपती हूँ, मेज़ धोती हूँ। और मैं ने एक मशीन भी रख छोड़ी है। चार कपड़े सी लेती हूँ, और रोटी खा लेती हूँ। भले ही खद्दर जुड़े, चाहे लट्ठा...मैं किसी का 'उतार' नहीं पहनती।

"मेरा मामा सुलह कराने को फिर रहा है। मेरे मन की बात नहीं समझता। मैं जैसे जी रही हूँ, वैसे ही जी लूँगी। और कुछ नहीं चाहती, तू सिर्फ़ एक बार मेरे मन की बात लिख दे !..."

करमाँवाली के जिस जिस्म के साथ कहानी घटी थी, उसे मैं ने एक बार अपनी बाँहों में भींचा, कितनी मज़बूत देह थी···कितना मज़बूत मन ! यह चौगिर्दा, वहाँ मैं पल-भर पहले मिर्चों से शराब और शराब से ख़ून-ख़राबे पर पहुँचती बात से घबरा गयी थी···वहाँ पर करमाँवाली कितनी दिलेरी से जी रही थी !

बाहर सड़क पर शिमले से आती मोटरें गुज़रती थीं, और जिन की सवारियाँ रेशमी कपड़ों में लिपटी हुई, कई बार पल-भर के लिए इस दुकान पर चाय के

प्याले के लिए रुक जाती थीं, या सिगरेट की डिब्बी के लिए, या गर्म तन्दूरी रोटी के लिए—वे, जिन के पहन रखे रेशमी कपड़े, जाने किस-किस का उतार थे !—और करमाँवाली उन की मेज़ पोंछती थी, कुर्सियाँ झाड़ती थी—वह करमाँवाली, जिस ने एक खद्दर की क़मीज़ पहन रखी थी, जो अपने जिस्म पर किसी का उतार नहीं पहन सकती थी ।

"बीबी, मैं ने तेरा वह रुपया सँभाल कर रखा हुआ है ।"

"सचमुच ? अब तक ?"

"हाँ बीबी ! वह रुपया मैं ने उस समय अपनी नाइन को पकड़ा दिया था—और फिर उस के दूसरे दिन की ही बात थी, जब मैं ने तेरी तस्वीर देखी थी । मैं ने नाइन से वह रुपया ले कर सँभाल लिया था । तू बीबी, मुझे उस रुपये पर अपना नाम लिख दे । फिर तू जब मेरी कहानी लिखेगी, मुझे ज़रूर भेजना ।"

और करमाँवाली ने उठकर खाट के नीचे रखा ट्रंक खोला । ट्रंक में एक लकड़ी की सन्दूक़ची थी । उस ने रुपये का तह किया हुआ नोट निकाला ।

"मैं अपना नाम लिख देती हूँ करमाँवालिये ! मैं ने जाने कितनी लड़कियों के नोटों पर अपना नाम लिखा होगा, पर आज मेरा दिल चाहता है, तू मेरे नोट पर अपना नाम लिख दे ।

"कहानी लिखने वाला बड़ा नहीं होता, बड़ा वह है, जिस ने कहानी अपने जिस्म पर झेली है ।"

"मुझे अच्छी तरह से लिखना नहीं आता ।" करमाँवाली लजा-सी गयी और फिर बोली—"मेरा नाम कहानी में ज़रूर लिखना ।"

"हाँ; मैं ने वही नाम, तेरे हाथों लिखा हुआ तेरा नाम, अपनी कहानी का रखूँगी ।" मैं ने पर्स से नोट भी निकाल लिया और क़लम भी ।

करमाँवालिये ! आज तेरी कहानी लिख रही हूँ । वही रुपये के नोट पर लिखा हुआ तेरा नाम, आज इस कहानी के माथे पर पवित्र टीके की भाँति लगा हुआ है ।

यह कहानी तेरा कुछ नहीं सँवारेगी; पर यह भरोसा रखना, वे दिल भी इस तेरे टीके को प्रणाम करते हैं, जिन के ख़ून का रंग तेरे टीके के रंग से मिलता है ।—और वे माथे भी एक लज्जा से इस के आगे झुकते हैं, जिन्हों ने अपने गलों में जाने किस-किस के 'उतार' पहन रखे हैं ।

तेरहवाँ सूरज

फ़िक़रा ज़ेहन में बना रह गया, और सामने ख़ाली काग़ज़ की ओर देखती हुई क़लम की स्याही ख़त्म हो गयी...

संजय की आँखों के आगे एक अँधेरा-सा फैल गया। सिर्फ़ कानों में एक आवाज़ आने लगी, पता नहीं कहाँ से, ऐसे जैसे कोई धीरे-धीरे किसी बरतन में कुछ रगड़ रहा हो...

फिर आँखें शायद अँधेरे से कुछ परिचित हो गयीं...सामने एक झलक-सी दिखाई देने लगी—एक हाथ की झलक, जो अँधेरे में धीरे-धीरे हिल रहा था...

न जाने किस का हाथ है, पहचाना नहीं जाता। सिर्फ़ इतना दिखाई दे रहा है कि उस हाथ में एक लकड़ी-सी है, और उस से वह हाथ एक बरतन में कुछ घोल रहा है...और संजय ने आँखें अँधेरे में गड़ा दीं...

लगा—हाँ, बरतन, हाथ से भी ज़्यादा अँधेरे में चमक रहा है...शायद इस लिए कि वह ताँबे का है...

और अचानक वह चौंक उठा—'ख़ुदाया ! मेरे ज़ेहन में भी कुछ चमक रहा है, उस ताँबे के बरतन की तरह...एक बहुत पुरानी याद की तरह...और अँधेरों की तहों में कुछ हिल रहा है...'

तेरहवाँ सूरज

फ़िक़रा ज़ेहन में बना रह गया, और सामने ख़ाली काग़ज़ की ओर देखती हुई क़लम की स्याही ख़त्म हो गयी...

संजय की आँखों के आगे एक अँधेरा-सा फैल गया। सिर्फ़ कानों में एक आवाज़ आने लगी, पता नहीं कहाँ से, ऐसे जैसे कोई धीरे-धीरे किसी बरतन में कुछ रगड़ रहा हो...

फिर आँखें शायद अँधेरे से कुछ परिचित हो गयीं...सामने एक झलक-सी दिखाई देने लगी—एक हाथ की झलक, जो अँधेरे में धीरे-धीरे हिल रहा था...

न जाने किस का हाथ है, पहचाना नहीं जाता। सिर्फ़ इतना दिखाई दे रहा है कि उस हाथ में एक लकड़ी-सी है, और उस से वह हाथ एक बरतन में कुछ घोल रहा है...और संजय ने आँखें अँधेरे में गड़ा दीं...

लगा—हाँ, बरतन, हाथ से भी ज्यादा अँधेरे में चमक रहा है...शायद इस लिए कि वह ताँबे का है...

और अचानक वह चौंक उठा—'ख़ुदाया ! मेरे ज़ेहन में भी कुछ चमक रहा है, उस ताँबे के बरतन की तरह...एक बहुत पुरानी याद की तरह...और अँधेरों की तहों में कुछ हिल रहा है...'

उसे लगा—कुछ याद आ रहा है—एक नुसख़ा-सा : काजल एक सिर-साही...

और वह सोचने लगा—सिरसाही, यह सिरसाही क्या है ?...याद आया—सिरसाही एक वज़न होता था, शायद दो तोले...

और उसे एक नुसख़ा-सा याद हो आया—काजल दो तोले, बेल दो तोले, कीकर का गोंद चार तोले, एक रत्ती लाजवर्द, एक रत्ती सोना, और बिजय-सार का पानी...और इन सब को ताँबे के बरतन में डालकर, नीम की लकड़ी से बीस दिन तक हिलाते रहना...

ख़ुदाया ! यह तो स्याही बनाने का नुसख़ा था...और उसे लगा...सामने अँधेरे में हिलने वाला हाथ शायद मेरा है...

संजय कितनी ही देर तक निश्चल बैठा रहा, शायद ध्यानमग्न होकर, फिर उस ने एक गहरी साँस ली...यह शायद मैं था, जो कुछ लिखने के लिए स्याही बना रहा था, और फिर...शायद मैं अचानक मर गया...और मेरे हाथ की हसरत वहीं खड़ी रह गयी...

संजय के होंठों पर मुस्कराहट की एक हलकी-सी लकीर खिंच गयी...जैसे एक गुफा से गुज़रते हुए गुफा के अन्तिम भाग के पास रोशनी की एक लकीर खिंची हुई हो...वह हैरान-सा सोचने लगा—आज मेरा मन कई सदियों को चीरकर...यह क्या जगह थी जहाँ चला गया ?...शायद वहाँ जहाँ आदम की जात ने पहली बार अपने अक्षरों को अंकित करने के लिए स्याही बनायी थी...

मन में कई सदियाँ ऊपर-नीचे हो गयीं। लेकिन संजय ने चेतन मन से सोच-कर देखना चाहा—यह शायद जन्म-जन्मान्तर से हाथ में ली हुई क़लम का कोई इशारा है...या सिर्फ़ मेरी ख़ुदी से भरी हुई एक कल्पना कि जिस आदमी ने दुनिया में अपने हाथ से पहला अक्षर लिखा था, वह मैं ही था...

संजय खिलखिलाकर हँस उठा, जैसे एक अँधेरी गुफा से निकलकर वह बाहर खुली रोशनी में आ गया हो। और हँसते-हँसते वह अपने आप से कहने लगा—संजय साहब ! नया उपन्यास छपने से बड़ी शोहरत मिल गयी है न, वही सिर को चढ़ रही है...जनाब को लग रहा है, जैसे दुनिया के आदि-लेखक भी जनाब ही थे,...कोई और नहीं...

पर संजय के मन को शायद रोशनी का तर्क अच्छा नहीं लगा। वह फिर एक अँधेरी गुफा ढूँढ़ने लगा—जहाँ वह अपने साथ कुछ देर अकेला बैठ सके।...गुफा शायद कोई मुराद नहीं होती, वह माँगे से मिल जाती है। संजय के पैरों के नीचे से योजन गुज़र गये, और वह एक गुफा के द्वार के पास जलती हुई मशाल हाथ में लेकर, गुफा में दाख़िल हो गया...

इस बार शायद उसका प्रयास कुछ चेतन मन का भी था, उस ने सोचा—

मशाल की रोशनी में मैं गुफा के भेद का पता लगाऊँगा...

और वह गुफा की नीची छत को एक हाथ से टटोलता हुआ, दूसरे हाथ में थमी हुई मशाल को ऊँचे करता हुआ, गुफा की दीवारों की ओर देखने लगा..

ख़ुदाया !...संजय ने मशाल की रोशनी में एक दीवार की ओर देखा तो देखता ही रह गया...यह मैं...मैं किस का सारथि बना हुआ हूँ ?...हूबहू मैं, यह किस का रथ चला रहा हूँ ? कोई रथ में बैठा है, सिर के ऊपर सोने का छत्र,...और मैं रथ चलाते हुए, पीछे की ओर देखकर, उस से बातें कर रहा हूँ...

सामने का दृश्य स्थिर था...दीवार पर उत्कीर्ण, जैसे मन्दिरों की दीवारों पर या पुस्तकों के पृष्ठों में, इतिहास के दृश्य उभरे हुए या छापे हुए होते हैं...

गुफा में कहीं से हवा नहीं आ रही थी, फिर भी संजय के हाथ में थमी हुई मशाल की लपट काँप उठी, शायद उस के अपनी ही साँस से, और वह अपलक दृष्टि से गुफा के उस चित्र के नीचे लिखे हुए बारीक अक्षरों को पढ़ने लगा—'यह धृतराष्ट्र का रथ है, वह अपने मन्त्री-सारथि से युद्ध का हाल पूछ रहे हैं, और संजय, महापंडित संजय, अपनी दिव्य दृष्टि से कुरुक्षेत्र का सारा हाल देख रहे हैं, और धृतराष्ट्र को बता रहे हैं...' संजय ने गुफा की दीवार पर यह लेख पढ़ा, पर पैर शायद काँप गये, वह लड़खड़ाकर वहीं गुफा के फ़र्श पर गिर पड़ा, और शायद उस के गिरने के कारण ही उस के हाथ से मशाल गिरकर बुझ गयी...

फिर न जाने कितना समय, घुप अँधेरे की तरह बीत गया, और जब संजय को होश आया, वहाँ न कोई गुफा थी, न कोई चित्र, न मशाल। वह उसी तरह मेज़ पर कुहनियाँ टिकाये कुर्सी पर बैठा था, सामने मेज़ पर लिखे हुए कुछ काग़ज़ थे, कुछ ख़ाली...और एक अधलिखे काग़ज़ पर उस की वह क़लम पड़ी हुई थी, जिस की स्याही अभी ख़त्म हो गयी थी...

सायास वह कुर्सी से उठकर अपने कमरे की दीवारों को हाथ से छूकर देखने लगा कि यह भी कोई कल्पना है या हक़ीक़त...

और फिर संजय घड़े से पानी का गिलास भरकर पीते हुए, अकेला खड़ा अपने आप पर हँसने लगा—सो, जनाब संजय साहब ! आप अपना काम ही नहीं, अपना नाम भी इतिहास में जोड़ना चाहते हैं ! व्यास का कोई चेला संजय अगर महापंडित था और उसे दिव्य दृष्टि मिली हुई थी, तो क्या वही नाम रख लेने से वह सब कुछ आप को भी प्राप्त हो जायेगा ?

मन ने ही तर्क दिया—हो जायेगा का प्रश्न नहीं है, न है का प्रश्न है, पर वह कभी था, तब जब मैं धृतराष्ट्र का सारथि था। उस की सूरत मैं ने आज आँखों से देखी है...आज मेरी भी वही सूरत, वही शक्ल...

पर संजय ने मन के आगे हार नहीं मानी, बोला—यार संजय ! तुम ने यह शक्ल-सूरत उस से ली नहीं, उसे दी है। तुम्हारी कल्पना ने उस की सूरत को

देखा है, अपनी जैसी ही। अगर तुम ऐसा न करते तो शताब्दियों से अपना रिश्ता कैसे जोड़ते ?

और संजय को फिर हँसी-सी आ गयी—हम लोग भी अजीब हैं...पहले स्वयं ही मनगढ़न्त कहानियाँ लिखते हैं, फिर स्वयं ही उन पर विश्वास करने लगते हैं।

संजय ने दवात ढूँढ़कर क़लम में स्याही भरी, और मेज़ पर से आधे लिखे काग़ज़ को उठाकर पढ़ते हुए, अधूरी कहानी के छोर को मन में खोजने लगा। फिर कुछ मिनट ही ध्यान में डूबने जैसी दशा में बीते थे कि क़लम में ऐसी गति आ गयी कि कहानी को अन्त तक पहुँचाने से पहले काग़ज़ों पर से उस ने सिर नहीं उठाया।

एक सन्तोष की-सी भावना के साथ संजय ने लिखे हुए काग़ज़ों को क्रमानुसार रखा। यह उस का अपने ऊपर एक भरोसा था कि एक अख़बार की ओर से नयी कहानी की माँग होने पर उस ने कह दिया था कि वह दो दिनों में कहानी भेज देगा, जब कि तब उस के पास कोई अप्रकाशित कहानी नहीं थी। और संजय ने वह नयी लिखी कहानी पोस्ट करने के लिए जब लिफ़ाफ़े पर पता लिखने के लिए अख़बार वालों की चिट्ठी सामने रखी और उस पर नज़र पड़ी तो देखा, लिखा था—कहानी के साथ अपनी तसवीर अवश्य भेजिये।

वह प्रेस को देने वाली तसवीरें हमेशा मेज़ के छोटे ख़ाने में अलग रख देता था, नहीं तो कभी ज़रूरत पड़ने पर कोई तसवीर नहीं मिलती थी, इस लिए उस ने इत्मीनान से वह ख़ाना खोला...पर आज ख़ाने में कोई तसवीर नहीं थी। याद आया—पिछले दिनों उपन्यास प्रकाशित होने पर उस के कई इंटरव्यू छपे थे, सब ने तसवीरें ले ली थीं, छपने के बाद लौटाने का वादा करके, पर किसी भी अख़बार ने तसवीर लौटाई नहीं थी। और आज आवश्यकता पड़ने पर तसवीर न मिलने के कारण संजय के मन में एक खीझ-सी आयी, साथ ही थकान-सी कि वह इस समय निगेटिव लेकर किसी फ़ोटोग्राफ़र की दुकान पर नहीं जा सकता... आज वह सिर्फ़ कहानी भेज सकता है, तसवीर नहीं...

काग़ज़ों को उसी तरह मेज़ पर रहने दिया, और वह कुर्सी से उठकर दीवान पर लेट गया। अंगों में थकान का और एक सुख का साथ-साथ अनुभव हुआ, और उसे ख़याल आया—किसी कवि ने एक कविता लिखी थी कि ईश्वर छह दिन सृष्टि की रचना करके इतना थक गया कि सातवें दिन सब कुछ छोड़कर वह सो गया...और उसे लगा—हर बार कहानी या उपन्यास लिखने के बाद उसे ईश्वर की भाँति थकान होती है, और वह अपने आप पर मुसकराया—आज मेरा सातवाँ दिन है...आज मैं कहानी पोस्ट करने भी नहीं जाऊँगा...

पर सोने से पहले उसे सिगरेट की तलब हुई, और एक गिलास बीयर की भी। उस के पास कमरे में न बीयर थी न सिगरेट, मन में ख़ुदा को उलाहना-

सा दिया—यार ! तुम्हें तो मेरी तरह स्वयं ही बाज़ार जाकर सिगरेट नहीं लाने पड़ते...और न ही बीयर ख़रीदने योग्य पैसे जुटाने पड़ते हैं...

पर ज़िन्दगी की कमियों के मुक़ाबले में उसे ख़ुशी ज्यादा हुई कि वह ख़ुदा को अपने स्तर पर लाकर उलाहना दे सकता है, और इस बात के गर्व से वह दीवान से उठ बैठा। पर जब उस ने बीयर और सिगरेटों के लायक़ पैसे जेब में डाले, मेज़ का छोटा ख़ाना खोलकर अपनी तसवीर का निगेटिव भी निकाल लिया...अगर जाना ही है तो इस के पाँच-छह प्रिंट भी बनवा लूँगा...

जाते समय वह ग़ुसलख़ाने के छोटे शीशे के पास खड़े होकर बालों को हलके-हलके ब्रश करने लगा तो नज़र शीशे में अटक गयी—संजय यार, सच बताना, तलब सिगरेट या बीयर की है, या अख़बार में अपनी तसवीर छपी हुई देखने की ?...

मन में हलकी-सी टीस उठी—अपने आप को ख़ुदा तो समझ लिया, पर शोहरत का छोटा-सा मौक़ा भी छोड़ा नहीं जाता...और उस ने शीशे की ओर से आँखें परे कर लीं।

जिस इमारत में संजय रहता था, वह कितने ही छोटे-छोटे घरों की इमारत थी, जिस की साँझे की ड्योढ़ी में कई-कई साइकिलों में मिली हुई उस की साइकिल भी पड़ी रहती थी। उस ने ड्योढ़ी से अपनी साइकिल ढूँढ़कर बाहर निकाली। बाज़ार बहुत दूर नहीं था, पहले निगेटिव प्रिंट करने के लिए दिया, फिर सिगरेट का पैकेट ख़रीदा, पर जब बीयर की दुकान पर गया तो पता लगा, आज बुधवार है, और बुधवार ड्राई-डे होता है...

संजय के मन पर वही उलाहने का आलम छा गया—ख़ुदा यार, अगर तुम्हारे भी हफ़्ते में दो दिन ड्राई-डे आ जायें, तो तुम्हें कैसा लगेगा ?

वह फ़ोटोग्राफ़र की दुकान की तरफ़ मुड़ा। अभी आधा घंटा भी नहीं हुआ था—जितना कि फ़ोटोग्राफ़र ने कहा था—पर घर लौटना, और फिर बीस मिनट बाद आना उसे बहुत कठिन लगा। वह उस छोटी-सी दुकान की बेंच पर बैठ गया।

एक सिगरेट जलाया, और बेध्यान ही सामने के उस छोटे बन्द कमरे की ओर देखने लगा, जिस के अन्दर वह दुकान वाला उस के निगेटिव से तसवीरें बना रहा था।

बात पुरानी हुई—एक बार उस ने अपने एक परिचित के डार्क रूम में जाकर फ़िल्म को धोने की, और निगेटिव से पाज़िटिव बनाने की प्रक्रिया देखी थी, इस समय अपने आप ही वह आँखों के सामने आ गयी—लगा, अभी उस के सामने जो ख़ाली सफ़ेद काग़ज़ था, उस पर उस के नक़्श उभर रहे हैं—पहले हलके से, फिर देखते-देखते गाढ़े होकर...

पर अचानक—उस की आँखें सहम गयीं, सामने काग़ज़ पर एक नहीं, कई चेहरे उभर रहे थे...न जाने किस-किस के...अजीब और झुर्रियों से भरे हुए... केवल पुरुषों के नहीं, स्त्रियों के भी...

उस ने घबराकर आसपास देखा—पर सब ओर अँधेरा था, केवल एक उसी कोने में रोशनी थी, जहाँ लकड़ी के कुछ चौखटे-से थे, और जहाँ ट्रे ओं में कुछ तसवीरें उलटी पड़ी हुई थीं...

उस ने एक ट्रे में हाथ डालकर एक उलटी तसवीर को सीधा किया...तसवीर पर कई चेहरे हिल रहे थे, और उस के देखते-देखते बदल रहे थे...उस ने पह-चानने की कोशिश की, कुछ याद करने की, पर याद नहीं आया, केवल इतना लगा...कभी किसी की आँखें बिलकुल उस की अपनी आँखों की तरह लगती हैं, कभी किसी की नाक उस की नाक जैसी लगती है, कभी किसी के होंठ...

"सो गये जनाब ! ये लीजिये अपनी तसस्वीरें..." फ़ोटोग्राफ़र ने शायद एक बार कहा या दो-तीन बार, उसे ठीक पता नहीं, पर इस आवाज़ से वह जैसे नींद से जागा हो। उस ने लिफ़ाफ़ा लेकर पहले जल्दी से एक तसवीर देखी, फिर दूसरी, तीसरी और चौथी, पाँचवीं...सब की सब एक जैसी थीं, और सब में एक ही चेहरा था, उस का अपना...

उस ने पैसे दिये, तसवीरें लीं, पर वापस घर पहुँचकर एक तसवीर को कहानी वाले लिफ़ाफ़े में डालकर जब लिफ़ाफ़ा बन्द करने लगा तो उसे हँसी-सी आ गयी...यह तसवीर छपेगी तो तब भी सब को एक ही चेहरा दिखाई देगा, मेरा, श्री संजय कुमार का...

और लिफ़ाफ़े को बन्द करके, एक ओर रखते हुए संजय के मुँह से निकला—देखो यार फ्रायड ! तुम्हारी थ्योरी पर मैं ने कितना विश्वास किया है कि आज मेरे सामने मेरे निगेटिव में से मेरे पिता के पिता के पिता का चेहरा भी निकल आया, और मेरी माँ की माँ की माँ का भी...यह तुम क्या मुसीबत डाल गये हो लोगों के मन में कि उन का 'मैं' कभी भी स्वतन्त्र 'मैं' नहीं बनता...पूरी वंशा-वली उस 'मैं' के नक़्शों में चलती है...

और संजय ने किताबों की अलमारी से एक किताब निकालकर फ्रायड की वह पंक्ति फिर पढ़ी, जिस पर निशान लगाकर उस ने उसे अलग-सा किया हुआ था—'कल्पना, इन्सान की बग़ावत का सब से बड़ा माध्यम होती है...इसी की शक्ति से एक लेखक वह पात्र गढ़ता है जो बहादुर होता है...दूसरे पात्रों को क़त्ल करता है, और 'हम' शब्द से निकलकर 'मैं' बनता है...क़त्ल का उत्तरदायित्व 'हम' पर नहीं बाँटता, 'मैं' पर लेता है...'

और संजय ने किताब को बन्द करके अलमारी में रखते हुए सोचा—मेरे पिता को सिर्फ़ दो किताबें पढ़नी आती थीं—एक वह, जिस में गुरुमंत्र लिखकर

उसे एक साधु ने दी थी और दूसरी वह बही, जिस में वह अपने क़र्ज़दारों की रक़में लिखता था...यही दो किताबें वह मुझे विरसे में देना चाहता था, और मुझे इन्हीं दो किताबों से नफ़रत थी...

संजय ने एक सिगरेट सुलगाया, और उस के मन की बात एक धुएँ की तरह उस के होंठों पर आ गयी...मैं सिर्फ़ नयी, और बिलकुल अपनी किताब लिखकर इन दो किताबों को क़त्ल कर सकता था, सो मैं ने लिखी...मेरी यही बग़ावत थी, मैं ने की...पर क्या विरसे को क़त्ल करके भी अपने साथ उठाये रखना पड़ता है ? अपने नाम-पते में भी, ज़ात-मज़हब में भी, और अपने नैन-नक़्श में भी ?...

सिगरेट का एक लम्बा कश खींचते हुए संजय को याद आया—एक बार वह, हाथ में सिगरेट लिए जान-बूझकर नहीं, अनजाने अपने पिता की उस मोघले जैसी कोठरी में चला गया था, जहाँ दिन में दो बार सिर्फ़ उस का पिता जाया करता था, और आले में रखी हुई पत्थर की एक मूर्ति के आगे धूप जलाया करता था... और पिता ने कसकर एक थप्पड़ उस के मुँह पर मारा था...फिर उसी दोपहर को, जब आसपास कोई नहीं था, वह चोरी से उस कोठरी में गया था, और उस ने आले में रखी हुई पत्थर की मूर्ति के आगे से धूप उठाकर, वहाँ जलती हुई सिगरेट रख दी थी...

आज वर्षों बाद संजय को यह बात याद आयी तो वह अकेला खड़ा हँसने लगा, कहने लगा—देखो यार फ़ायड ! अब चाहे तुम उस का कुछ भी एनैलिसिस करो, मैं ने तो अपनी ओर से एक बहुत बड़ी बग़ावत की थी, जितनी कि उम्र के हिसाब से कर सकता था...

और संजय के मुँह से निकला—यार नीत्शे ! इस तुम्हारे सुपरमैन का क्या होगा, जिसे आज भी अपने चेहरे में अपने लकड़-दादाओं के मुँह, उन के नक़्श दिखाई देते हैं ?...साथ ही उसे हँसी-सी आ गयी...यार हिटलर ! तुम ने गड़बड़ कर दी, नीत्शे के सुपरमैन को बदनाम कर दिया...नहीं तो उस का तसव्वुर कुछ और ही होता...

संजय को लगा—हिटलर की ज़िन्दगी पर कई किताबें लिखी गयी हैं, जितने कन्सेण्ट्रेशन कैम्प थे, उन में मरने वालों की गिनती भी लिखी गयी, पर हिटलर के सब से बड़े क़त्ल की घटना किसी ने नहीं लिखी, किसी ने नहीं जाना कि हिटलर पर नीत्शे के सुपरमैन को क़त्ल करने का भी अभियोग था...

हाथ में लिए हुए सिगरेट का आख़िरी गर्म सिरा संजय की उँगली से छू गया तो वह चौंका, सिगरेट को राखदानी में रखा, और एक नया सिगरेट जला लिया...

अपनी इस अजीब तलब पर उसे हँसी आयी—न पिऊँ तो मैं सारे दिन सिगरेट नहीं पीता पर अगर पीने लगूँ तो एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा,

और फिर पता नहीं कितने सिगरेट एक ही बार में पी जाता हूँ...

विचारों की तलब भी शायद सिगरेटों की तरह होती है...कई बार कितने ही दिन कुछ नहीं लिखा जाता, जैसे हर ख़याल से ख़ाली हो गया होऊँ,...पर कभी जब एक साँस के साथ एक ख़याल आता है और दूसरी साँस के साथ दूसरा आ जाता है, तीसरी साँस के साथ तीसरा...और ख़याल भी साँसों की तरह आते-जाते हैं, साँसों की तरह गर्म, ठंडे, ख़ुश्क, और अपनी ही जीभ से गीले-से... नहीं...। संजय ने अपने वाक्य को दुरुस्त किया—सिगरेट की आग से जली हुई साँस की तरह...ह्विस्की के घूँट में भीगी हुई साँस की तरह...

और संजय अपने ही एक ख़याल की भयानकता से काँप-सा गया—नहीं, क़त्ल के ताज़ा लहू में से उठती हुई गन्ध की तरह...

...क़त्ल ?...किस का क़त्ल ?...अपना या किसी और का ? संजय का ख़याल फिर सुपरमैन की तरफ़ मुड़ा। साथ ही फ्रायड के कथन की ओर कि मनुष्य के इतिहास का आदि मनुष्य सुपरमैन था, जिसे सदियों बाद नीत्शे ने लिखा...वह दल का मुखिया था, गिरोह का सरदार, रेवड़ का रखवाला, कुटुम्ब का पिता...जो अपने पुत्रों को और अपने अधीन सबों को, उन की भूख के अनुसार नहीं, अपनी मर्ज़ी के अनुसार, रोटी भी देता था, सेक्स भी और उन की 'मैं' भी...यही सुपरमैन फिर गुरु भी बना, राजा भी...

और साथ ही संजय को ख़याल आया—हिटलर उस सुपरमैन का पहला क़ातिल नहीं था, पहला क़ातिल एक कवि था, जिस ने अपनी 'मैं' का सवाल अपने हाथ में ले लिया...या पहला क़ातिल किसी सुपरमैन का पुत्र था, किसी सुपरमैन का चेला, किसी सुपरमैन का सिपाही...

संजय के मन में आदम के वंश की अजीब वंशावली उभरी—सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी नामों में आदम की जाति को बाँटना सिर्फ़ एक हसीन कल्पना है। असल में हक़ीक़त यह है कि आदम की जाति जिन दो हिस्सों में बँटी हुई होती है, वे होते हैं क़त्ल वंशी और क़ातिलवंशी...जो 'हम' श्रेणी के होते हैं 'स्वयं' की पहचान को खोकर जीने वाले, वे क़त्लवंशी हैं; क़त्ल हो चुके लोगों के वंश से। और जो 'मैं' श्रेणी वाले होते हैं, वह सुपरमैन के पहले क़ातिल के वंश से हैं—क़ातिलवंशी।

और संजय ने अपने ही ख़याल से घबराकर परे मेज़ पर पड़ी हुई अपनी क़लम की ओर देखा—क़लम यार ! यह बात कहीं लिख न देना, वह सब जो अपने आप को सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी समझते हैं, डंडे-सोटे उठाकर तुम्हारे पीछे पड़ जायेंगे...और तुम्हारा लेखक बेचारा श्री संजय कुमार अपना नाम लेखकों की गिनती में लिखाने की जगह शहीदों की गिनती में लिखा जायेगा।

अचानक संजय का मन अपने से परे होकर एक नया मोड़ मुड़ गया—पता नहीं दुनिया में सब से पहले शहीद बनने का शौक़ किसे हुआ था ?...शायद वह

भी खोये हुए 'मैं' की तलाश थी ?...और संजय इस बात को बड़े दार्शनिक ढंग से सोचने लगा—'मैं' की पहचान कर्म में से मिलती है, प्रतिकर्म में से नहीं—शहीद होने की लालसा आत्मघात की लालसा के समान होती है...क़त्ल की रुचि का अन्तर्मुखी हो जाना...जिस के लिए दलील होती नहीं, दलील खोजनी पड़ती है...कभी इनसान ख़ुद खोजता है, नहीं मिलती तो गढ़ लेता है, पर कभी इनसान को बनी-बनायी और गढ़ी-गढ़ायी दलील दे दी जाती है...उस की आँखें बन्द करके उस के हाथों में थमा दी जाती है और जिस के सहारे वह मौत का कफ़न अपने हाथों से अपने ऊपर तान लेता है...इस तरह जो 'एक' इस ख़ूनी घटना में से गुज़र जाता है, 'और' उस एक की नामी मौत की चमक देखकर चौंधिया जाते हैं ...और अच्छी-ख़ासी साँस लेती ज़िन्दगी का सिर मौत की दरगाह पर रख देते हैं...यह पहचान वह साधारण मौत में से नहीं खोज सकते, सिर्फ़ नामी मौत में से खोज सकते हैं...यानी 'नाम' में से नहीं, 'विशेषण' में से...पता नहीं कितनी सदियाँ हो गयी हैं आदम की जात को इस शहीद शब्द का विशेषण अपने साथ जोड़ते हुए...सचमुच अगर पूरे इतिहास को टटोलकर सब विशेषण इकट्ठे किये जायें—यानी दुनिया में कितने कारीगर हुए, कितने साइंसदाँ, कितने कलाकार, और कितने शहीद...सब से ज्यादा गिनती शहीदों की मिलेगी...यानी इस विशेषण के आशिक़ों की...

विचारमग्न संजय का हाथ अचेतन ही उस की मेज़ के एक ख़ाने की ओर गया और ख़ाने में से एक ख़त निकालकर उस ने बाहर मेज़ पर रख दिया... संजय की नज़र ख़त पर पड़ी, तो उसे अपने-आप पर हँसी आ गयी—यार संजय! तुम भी अजीब हो, तुम्हारा ख़याल कहाँ शुरू हुआ था, कहाँ पहुँच गया...बात तो इस ख़त की थी, ख़त लिखने वाली लड़की की, जो ख़ामख़ाह मुहब्बत की दरगाह पर शहीद होना चाहती है...

संजय को अपनी याद में एक अजीब ख़ालीपन का एहसास हुआ...क्या नाम है उस का ?...ख़त की बात याद रह गयी, लेकिन ख़त लिखने वाली का नाम भूल गया...और उस ने खत खोलकर उस की अन्तिम पंक्ति की ओर देखा, जिस के नीचे उस लड़की का नाम लिखा हुआ था—मेनका...

संजय को हँसी आ गयी—देख अप्सरा ! मुझे तेरा नाम ही भूल गया... अगर मैं ऋषि भी होता, तब भी तेरा नाम मुझे याद रहता, हमारा तो इतिहास भरा हुआ है कि किस अप्सरा ने कौन-से ऋषि की समाधि भंग की...मैं शायद उन से भी गया-बीता हूँ...यह मेरा हठ, अगर केवल तप होता तो भंग हो ही जाता...यह न जाने क्या है, जो मेनका की किसी बात पर भी आँखें खोलकर उस की तरफ़ देखता तक नहीं...

और संजय का ध्यान ऋषियों और अप्सराओं की प्राचीन कथा से हटकर

फिर वहीं आ गया, जहाँ कोई शहीद होने वाली आँखों से किसी की ओर देखता है...और संजय ख़त की ओर देखते हुए कहने लगा—यार मेनका ! तुम अच्छी-भली ब्याही हुई लड़की हो, पैसे और इज्ज़त में खेल रही हो...यह तुम्हें शहीद होने का क्या शौक़ चर्राया है ?

संजय ने ख़त को फिर उसी तरह मेज़ के ख़ाने में रख दिया, लेकिन उस का चिंतन फिर दार्शनिक-सा हो गया—सब से अधिक लोग किस दरगाह पर शहीद होते हैं ? किस के नाम पर ? ...मुहब्बत के नाम पर ?...नहीं, शायद किसी वाद या वतन के नाम पर...नहीं, नहीं, सब से अधिक लोग मज़हब के नाम पर क़त्ल होते हैं...

संजय एन्साइक्लोपीडिया निकालकर, मज़हब के नाम पर शहीद होने वालों की गिनती की कुछ जानकारी खोजने लगा था कि कमरे के दरवाज़े पर दस्तक हुई। ख़याल आया—शायद डाकिया होगा। उठकर दरवाज़ा खोला—तो सामने मेनका खड़ी थी...

—अन्दर आ जाऊँ ?

—हाँ...हाँ...

—मुझे देखकर कुछ हैरान-से हो...

—नहीं...मैं ने समझा था, शायद डाकिया है...

—हाँ, डाकिया ही तो है, पर वह डाकिया, जो ख़त भी ख़ुद लिखता है, और फिर ख़ुद देने भी आ जाता है...

कमरे में आकर मेनका ने हाथ का पर्स कुर्सी पर रख दिया, और ख़ुद दीवान पर बैठते हुए पूछने लगी—क्या कर रहे थे ?

—तुम्हारे बारे में ही सोच रहा था।—संजय मुस्करा दिया।

—ज़हे क़िस्मत !...मेनका हँस पड़ी, साथ ही पूछा—मेरा ख़त मिल गया था ?

—हाँ।

—जवाब नहीं दिया ?

—अब एन्साइक्लोपीडिया निकालकर जवाब ही ढूँढ़ रहा था...

मेनका कुछ देर चुपचाप संजय की ओर देखती रही, फिर कहने लगी—जनाब कहानियाँ भी एन्साइक्लोपीडिया में देखकर ही लिखते हैं ?

संजय हँस दिया—मैं ऐतिहासिक कहानियाँ नहीं लिखता, नहीं तो वह भी एन्साइक्लोपीडिया में देखकर लिखनी पड़तीं...

—पर ख़त का कोई ऐतिहासिक जवाब देना था ?

—अप्सराजी ! ऐतिहासिक ख़त का जवाब और किस तरह ढूँढ़ता ?

मेनका के कटे हुए बालों का एक कुण्डल उस के माथे पर झूमर की तरह पड़ा

हुआ था, संजय ने वह कुण्डल हाथ की एक उँगली से परे किया, पर फिर उँगली से वहाँ ही इधर को माथे पर लाकर, हँसने लगा...

—क्या देख रहे थे ?

—अप्सरा का रूप...

—फिर समाधि को कोई फ़र्क़ पड़ा ?

—नहीं, क्योंकि मैं ऋषि नहीं...

—यू आर ए वेरी क्रुअल पर्सन !...

—नहीं, मैं नेपोलियन भी नहीं हूँ...

—क्या मतलब ?

—हाँ, सच, यार मेनका ! तुम ने मुझे अपना नया नाम तो बताया ही नहीं...

—नया नाम ? मेरा ?

—हाँ...मैं बताऊँ ?

—क्या ?

—मारिया...

एक पल पहले मेनका का चेहरा कुछ उतर गया था, नये नाम से उस का ध्यान 'मिसेज़ चौधरी' नाम की ओर चला गया था, जो बहुत दिन हुए, उस के होंठों के स्पर्श को स्वीकार करते हुए संजय ने कुछ समय बाद ही उसे उस नाम से बुलाया था...और मेनका का ख़याल था कि अब भी संजय व्यंग्य से उसी नाम को दोहरायेगा, पर उस के मुँह से मारिया नाम सुनकर वह फिर कुछ खिल उठी और हँसकर कहने लगी :

—समझ गयी, जनाब ने किसी कहानी में मेरा नाम मारिया लिखा है।

—नहीं हसीना ! मैं ने तुम पर कोई कहानी नहीं लिखी है,...संजय का चेहरा और गम्भीर हो गया।

—फिर जनाब ने मेरा यह नाम क्यों रखा है ?

—मैं ने नहीं रखा, मेनका ने रखा है। शायद सोचा होगा कि अप्सरा बनने से कुछ नहीं होता, काउंटेस बनना चाहिए...

—समझ गयी...

—सच !

—यह मानना पड़ेगा कि जनाब क़यामत की नज़र रखते हैं...सचमुच नेपोलियन की पोलिश महबूबा काउंटेस मारिया के बारे में पढ़ रही थी तो अपने आप को मारिया की तरह ही महसूस किया था...पर जनाब ने कैसे जाना ?

—क्योंकि किताब में जगह-जगह पर पेन्सिल से लकीरें लगी हुई थीं...

—सो, अगर मैं मान लूँ कि आज मैं मेनका से मारिया बनने आयी हूँ, तो

फिर ?

—फिर किसी नेपोलियन बोनापार्ट को ढूँढ़ना पड़ेगा...

—इस मारिया के लिए संजय ही नेपोलियन है...मारिया का अन्ज़ाम, जानती हूँ कि नेपोलियन उस से हुए अपने पुत्र को अपने तख़्त का वारिस नहीं बना सकता था...और तख्त के वारिस के लिए उसे मारी लुइस चाहिए थी... पर जो भी मारी लुइस कभी आयेगी, आ जाये, मैं तो मारिया हूँ...

—पर यह गरीब संजय नेपोलियन नहीं है...

—नेपोलियन सिर्फ़ एक आक्रमणकारी नाम नहीं है।...न ताज-तख़्त के वारिस का...यह एक असाधारणता का नाम है...

—लेकिन असाधारणता को असली अर्थों में, लौटकर साधारणता की ओर मुड़ना होता है, जो कोई भी नेपोलियन नहीं मुड़ सकता...

—क्या मतलब ?

—साधारणता से मेरा अर्थ है...दरिया के बहने जैसी साधारणता, जो जीत और हार के किनारों के पास से अविचल भाव से बहकर आगे चली जाती है...

मेनका हँसकर दीवान पर से उठ बैठी और उस ने अपनी बाँहें संजय के गले में डालकर कहा—लेकिन दरिया से कोई भी जी भरकर पानी पी सकता है, दरिया को कोई आपत्ति नहीं होती...पीने वाले की प्यास पर कोई एतराज़ नहीं होता...

संजय हँस दिया, पर चुपचाप अपने बायें हाथ की उँगलियों से मेनका के बालों से खेलता रहा...

—जनाब क्या सोच रहे हैं ?...कुछ देर बाद मेनका ने ही पूछा।

—यही कि हाउ टु सरेंडर टु जॉय...

—एक-एक करके सारे हथियार हाथ से फेंककर...। मेनका ने कहा, और हँसते-हँसते संजय की क़मीज़ के सारे बटन खोल दिये।

एक-एक कर उतरे हुए कपड़े जब फ़र्श पर बेकार हथियारों की तरह गिर पड़े तो संजय ने अपना बदन मेनका के हवाले कर दिया। पर मन में अजीब ख़याल आया—क्या बदन भी कपड़ों जैसा हथियार होता है, जो शरीर से उतारकर परे सामने रखा जा सकता है ?...पर उस ने मेनका से कुछ नहीं कहा।

ख़याल, दिल की नाड़ियों में चलते हुए लहू की तरह चलता रहा—ख़ुशी की उम्र चाहे एक पल हो, मैं उस के हवाले होना चाहता हूँ...पर जो हवाले हुआ है, वह सिर्फ़ हथियार है...मैं नहीं...

यह शायद मेनका के जिस्म में से गुज़रने वाला पल था कि संजय मन की किसी गुफा में गुज़र गया—वहाँ गुफा में काफ़्का बैठा हुआ था, और काफ़्का की महबूबा लड़की मिलेन...दोनों चेहरे बहुत पहचाने हुए थे, काफ़्का का बीमार

फेफड़े के कारण पीला और शान्त चेहरा, और मिलेन का अपनी छोटी उम्र की तपिश में किसी से किये हुए विवाह से दुखी और उदास चेहरा...और दोनों का, एक-दूसरे के चेहरे की रोशनी में, ज़िन्दगी के लिए तरसता और तड़पता हुआ चेहरा...

संजय एकटक दोनों की ओर देखता रहा, फिर कानों में काफ़्का की आवाज़ आयी, वह मिलेन से कह रहा था—'तुम्हें प्यार करता हूँ, मूर्ख लड़की ! जिस तरह समुद्र अपनी छाती की तह में पड़े हुए पत्थर के टुकड़े को प्यार करता है—अपने अन्दर निगलकर...और ईश्वर करे, मैं इसी तरह तुम्हारे समुद्र में पड़ा हुआ एक पत्थर का टुकड़ा हो जाऊँ...'

काफ़्का के शब्द संजय के कानों में पड़े, तो कान उन शब्दों से भर गये, इतने कि किसी और की आवाज़ कानों में नहीं पड़ रही थी...बहुत देर बाद उस के कन्धों को हिलाती और गर्दन के पास से सरकती हुई एक आवाज़ उस के कानों से टकरायी—जनाब सो गये हैं ?

संजय ने चौंककर सामने देखा—न वहाँ काफ्का था, न मिलेन, वहाँ सिर्फ़ वह स्वयं था, और सामने मेनका...

होंठों से एक गहरी साँस निकली ।

मेनका ने फ़र्श से उठाकर एक कपड़ा अपने अंगों के आगे किया, और संजय की क़मीज़ संजय को देते हुए हँसकर बोली—लो जनाब, अपने हथियार सँभाल लो...

संजय ने अपना बदन भी गिरे हुए हथियार की तरह दीवान से उठाया और हँस पड़ा ।

मेनका ब्लाउज़ के हुकों को बन्द करते हुए संजय की ओर देखने लगी, फिर बोली—क्यों दरियाजी ! किसी प्यासे ने एक घूँट पी लिया तो आप का कुछ घट तो नहीं गया ?

संजय ने ख़ुश्क-से होंठों पर जीभ फेरी,और एक बात होंठों पर आकर अटक गयी—दरिया को भी प्यास लगती है, पर कोई भी यह बात दरिया से नहीं पूछता...

मेनका ने साड़ी को अपने गिर्द लपेटते हुए, दोनों बाँहें संजय के गले में डाल दीं, पूछा—आज का दिन कैसा लगा ?

—आज का दिन ?—संजय के होंठ कुछ संकोच में पड़ गये, लेकिन फिर संकोच को पार कर गये । उस ने कहा—आज का दिन तुम्हारे नाम । इन डिफेंस ऑफ़ मेनका...

मेनका छोटे शीशे के आगे खड़े होकर बालों को सँवारने लगी, बोली—मिस्टर चौधरी टूर पर जा रहे हैं, परसों मैं घर अकेली रहूँगी, वहाँ परसों

रात...

संजय हंसने लगा...

—क्यों ?—मेनका ने बस इतना ही कहा था कि संजय बोल उठा—परसों ? नहीं...इन डिफ़ेन्स ऑफ़ संजय...

मेनका ने कुछ नहीं कहा, शायद सोचा कि परसों वह स्वयं आ जायेगी और संजय को आकर ले जायेगी, उस समय वह कुछ नहीं कहेगा, जिस तरह उस ने आज कुछ नहीं कहा..

—चाय पियोगी ?...मेनका जाने को हुई तो संजय ने पूछा।

—चाय ? पर यहाँ चाय कौन बनायेगा ?

—स्टोव पड़ा हुआ है, मैं बना दूँगा...

मेनका ने चाय नहीं पी, हँसकर चली गयी। उस के जाने के बाद संजय ने स्टोव जलाया, चाय का प्याला बनाया, और ठंडे-से हुए होंठों से एक गर्म घूँट भरते हुए कहने लगा—यार काफ़्का ! तुम जानते हो कि एक दरिया को जो प्यास लगती है, वह दूसरे दरिया के लिए होती है ..राहगीरों के मिलने से क्या होता है...जब तक कि दरिया से दरिया न मिले...

मन की एक बहुत बड़ी लहर आयी और संजय के पैर उस लहर से उखड़ गये—वह सारे का सारा मन के पानियों के हवाले हो गया...

पता नहीं कितना समय बीत गया, फिर एक—उसे बाँहों से पकड़कर पानियों से बाहर निकालती हुई आवाज़ आयी—तुमने मुझे पहचाना नहीं ? मैं मिलेन हूँ, तुम्हारे काफ़्का को प्यार करने वाली...तुम्हें बताना चाहती हूँ कि अगर तुम्हें जीना है तो काफ़्का मत बनना...उस में सब कुछ था, सिर्फ़ वह नहीं था, जो जीने के लिए चाहिए...तुम नहीं जानते, वह क्या होता है, जो जीने के लिए चाहिए ? एक ओट, एक सहारा, काहे का ? किसी भी चीज़ का...चाहे कभी सिर्फ़ एक झूठ का ही हो, एक भुलावे का...या उत्साह का, या किसी विश्वास का,... और चाहे वह सहारा सिर्फ़ निराशा का ही हो...हम सब लोग किसी न किसी सहारे पर जीते हैं...केवल काफ़्का था, जिस ने किसी भी चीज़ का सहारा नहीं लिया था...इसी लिए वह मर गया...वह सचमुच जी नहीं सकता था...तुम्हें जीना है तो तुम काफ्का नहीं हो सकते...मत होना !

पूरे दो दिन संजय ने मन की अजीब दशा देखी—दीवान पर लेटकर कभी एक किताब पढ़ता, कभी दूसरी, कभी तीसरी...इस तरह कि किताबों की अलमारी में से एक-एक करके सारी किताबें दीवान के इर्द-गिर्द बैठ गयीं...

और तीसरे दिन शाम को जब मेनका आयी, उस ने मेनका से कमरे में आने के लिए नहीं कहा, वहीं दरवाज़े के पास होकर कहा, "नहीं...नहीं जा सकूँगा..."

मेनका ने एक बार संजय की बाँह पर हाथ रखते हुए हाथ का पूरा जादू कर

देना चाहा, उसे ख़ुद ही लगा, जैसे उस ने मांस की बाँह पर नहीं, दीवार के एक टुकड़े पर हाथ रखा है...और दीवार उसी तरह सख़्त और अचल है...

मेनका चली गयी, तो दीवान की ओर लौटते हुए संजय के मुँह से निकला—सॉरी मिलेन ! मैं ने तुम्हारा कहना नहीं माना...शायद कोई ओट, कोई सहारा मेरे लिए नहीं बना ।—और फिर वह हँस पड़ा, कहने लगा—यार संजय ! तुम्हें भी सारी उम्र अपनी छाँह में बैठना है, और अपनी धूप में खड़े होना है...

अपनी इस तक़दीर की झलक संजय के ज़ेहन में उभरी, तो पल-भर के लिए वह पत्थर की मूर्ति के समान हो गया। फिर हवा के एक झोंके की तरह हँसते हुए कहने लगा—यार संजय ! इस तरह पत्थर हो जायेगा तो तेरी पूजा करनी पड़ेगी।...साथ ही एक धुआँ-सा उसके भीतर से उठा—जब कई वर्ष पहले उस ने अपने पिता के कमरे में जाकर किसी देवता की मूर्ति के आगे धूप की जगह जलती हुई सिगरेट रख दी थी, कहने लगा—संजय यार ! अगर तुम पत्थर हो ही गये हो, तो फिर तुम्हारी पूजा कर ही देता हूँ...और उस ने एक नया सिगरेट सुलगा लिया...

संजय ने ड्योढ़ी में से साइकिल निकाल ली थी, लेकिन अभी बाहर तक नहीं आया था कि सामने से ए० सी० मेहरा आता हुआ दिखाई दिया। पैडिल पर रखने के लिए उठाया हुआ पैर संजय ने रोक लिया ।

—मैं जनाब को खोजता हुआ आ रहा हूँ, और जनाब किसे खोजने जा रहे हैं ?—मेहरा ने पास आकर कहा और साइकिल के हैंडल पर हाथ रख दिया।

संजय मुस्करा दिया—रोटी खोजने जा रहा था...ढाबे पर...

—चलो, साइकिल रखो। आओ, कमरे में चलें।

—लेकिन खाना ?

—मैं कमरे में छत्तीस प्रकार का भोजन परोस दूंगा।—मेहरा हँसने लगा।

संजय ने मेहरा के ख़ाली हाथों की ओर देखा, लेकिन कहा कुछ नहीं।

मेहरा ने एक उँगली से संजय के माथे को छुआ, कहा—जनाब ! दिमाग़ में जितनी भूख है, सारी मिटा दूँगा।

संजय हँस पड़ा—तुम आदमी हो या ढाबा ?

—चलो, पहले अपने कमरे में चलो, फिर तुम्हें बताऊँगा कि मेरे ढाबे में क्या-क्या पकवान पके हुए हैं...

संजय ने पीछे मुड़कर साइकिल को फिर ड्योढ़ी में रखा, और अपने कमरे को खोलते हुए कहने लगा—सो, आज तंदूरी रोटी की जगह ख़याली पुलाव खाने होंगे।

मेहरा ने कमरे में आकर दीवान पर बैठते हुए कहा—ख़याली पुलाव तो जनाब पकाते हैं, नॉवेल और कहानियों में। किसी लड़की को कभी हाथ लगाकर नहीं देखा, और जनाब कहानियाँ लिखते हैं इश्क की।

मेहरा के बैठने से, या जब उस ने जोश में दीवान पर हाथ मारा था, दीवान पर से हलकी-सी धूल उड़कर फिर दीवान पर गिर पड़ी...

—क्या हाल किया हुआ है कमरे का...

—वह जो लड़का आता था, आया नहीं है दो दिन से...शायद बीमार है।

—कौन, वह मेहतर का लड़का ?...लेकिन तुम्हारी इमारत की मेहतरानी तो बाहर दरवाज़े के पास अभी-अभी झाड़ू दे रही है।

संजय हँस दिया—लेकिन मेरे कमरे में सिर्फ़ उस का लड़का आ सकता है, वह नहीं। अच्छा, उठो, मैं दीवान की चादर झाड़ दूँ।

मेहरा ज़ोर से हँसा—समझ गया, मेहतरानी ने जनाब की नज़र पहचान ली होगी, इस लिए डर गयी होगी...

—नहीं, डरी हुई तो पहले से थी, उसे कोई मेहरा मिला होगा, इस लिए बेचारे संजय से भी डरने लगी।—संजय ने कहा और सिगरेट का पैकेट मेहरा की ओर बढ़ाया।

मेहरा ने एक सिगरेट सुलगा लिया। कहा—बस ख़ाली होंठ ही फूँकने हैं ? सूखे हुए गले के लिए कुछ नहीं मिलेगा ?

—चाय बनाऊँ ?

—नहीं, आज चाय नहीं चलेगी, पर जश्न का इक़रार चलेगा। अच्छा, यह बताओ, साहित्य में कितने वाद होते हैं ?

—वाद ?

—यही रोमांचवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, आदि-आदि।

—एन्साइक्लोपीडिया देखूँ ?

—नहीं,...तुम्हारे एन्साइक्लोपीडिया का रोब नहीं चलेगा।

—फिर क्या चलेगा ?

—एक नया वाद चलेगा...यार, तुम्हारे लिए एक नया वाद चला देंगे।

—मेरे लिए ?

—हाँ, मैं चलाऊँगा।

संजय ने एक नज़र मेहरा की ओर देखा, पर कहा कुछ नहीं।

—यह तो पूछो, मैं कौन-सा वाद चलाऊँगा।

—तुम कुछ भी चला सकते हो, सिर्फ़ ठहरा हुआ समय नहीं चला सकते...

—अगर ठहरे हुए समय को भी चला दूँ ?

—हर घड़ी की सुई बाँहें झटकारती है, पर समय नहीं चला सकती।

—फ़िलॉसफ़र साहब, ज़रा आसमान से नीचे उतरो, नीचे देखो, मैं क्या चला रहा हूँ।

मेहरा ने जेब से एक काग़ज़ निकाला और संजय के सामने रख दिया।

—देखा जनाब ?

—हाँ, वोटर साहब ! देख लिया है।

—यह अकादमी एवार्ड का फ़ार्म है।

—हाँ, देख लिया है।

—अगर मैं इस पर जनाब का नाम भर दूँ ?

—बात तो वाद की थी, इस से कौन-सा वाद चलेगा ?

—प्रबन्धवाद !

—समझ गया।

—नहीं समझे। मैं अकेला अगर तुम्हारा नाम लिख भी दूँ, तो कुछ नहीं बनेगा।

—फिर ?

—फिर प्रबन्धवाद चलाऊँगा। और जिन लोगों के पास ऐसे फ़ार्म आये हैं, उन पर भी तुम्हारा नाम लिखवाना पड़ेगा।

—पर यह प्रबन्धवाद मेरे लिए क्यों ?

—यार ! तुम समझते क्यों नहीं ? अगर मैं ने भी कोई नॉवेल-शॉवेल लिखा होता तो अपने लिए चला सकता था।

—फिर प्रबन्धवाद से पहले...

—तुम्हारा मतलब है, नॉवेल लिखूँ ?

—हाँ, प्रबन्धवाद से पहले क़लमवाद...

—वह अपने बस की बात नहीं है, अपने बस का तो प्रबन्धवाद है।

—फिर उस से ठहरा हुआ समय चलने लगेगा ?

—हाँ, रोटी-पानी चलेगा, तो समय चलेगा।

संजय ने मेहरा के ख़ाली हाथों की ओर देखा, लेकिन कहा कुछ नहीं।

मेहरा ने एक उँगली से संजय के माथे को छुआ, कहा—जनाब! दिमाग़ में जितनी भूख है, सारी मिटा दूँगा।

संजय हँस पड़ा—तुम आदमी हो या ढाबा?

—चलो, पहले अपने कमरे में चलो, फिर तुम्हें बताऊँगा कि मेरे ढाबे में क्या-क्या पकवान पके हुए हैं...

संजय ने पीछे मुड़कर साइकिल को फिर ड्योढ़ी में रखा, और अपने कमरे को खोलते हुए कहने लगा—सो, आज तंदूरी रोटी की जगह ख़याली पुलाव खाने होंगे।

मेहरा ने कमरे में आकर दीवान पर बैठते हुए कहा—ख़याली पुलाव तो जनाब पकाते हैं, नॉवेल और कहानियों में। किसी लड़की को कभी हाथ लगाकर नहीं देखा, और जनाब कहानियाँ लिखते हैं इश्क की।

मेहरा के बैठने से, या जब उस ने जोश में दीवान पर हाथ मारा था, दीवान पर से हलकी-सी धूल उड़कर फिर दीवान पर गिर पड़ी...

—क्या हाल किया हुआ है कमरे का...

—वह जो लड़का आता था, आया नहीं है दो दिन से...शायद बीमार है।

—कौन, वह मेहतर का लड़का?...लेकिन तुम्हारी इमारत की मेहतरानी तो बाहर दरवाज़े के पास अभी-अभी झाड़ू दे रही है।

संजय हँस दिया—लेकिन मेरे कमरे में सिर्फ़ उस का लड़का आ सकता है, वह नहीं। अच्छा, उठो, मैं दीवान की चादर झाड़ दूँ।

मेहरा ज़ोर से हँसा—समझ गया, मेहतरानी ने जनाब की नज़र पहचान ली होगी, इस लिए डर गयी होगी...

—नहीं, डरी हुई तो पहले से थी, उसे कोई मेहरा मिला होगा, इस लिए बेचारे संजय से भी डरने लगी।—संजय ने कहा और सिगरेट का पैकेट मेहरा की ओर बढ़ाया।

मेहरा ने एक सिगरेट सुलगा लिया। कहा—बस ख़ाली होंठ ही फूँकने हैं? सूखे हुए गले के लिए कुछ नहीं मिलेगा?

—चाय बनाऊँ?

—नहीं, आज चाय नहीं चलेगी, पर जश्न का इक़रार चलेगा। अच्छा, यह बताओ, साहित्य में कितने वाद होते हैं?

—वाद?

—यही रोमांचवाद, छायावाद, प्रगतिवाद, आदि-आदि।

—एन्साइक्लोपीडिया देखूँ?

—नहीं,...तुम्हारे एन्साइक्लोपीडिया का रोब नहीं चलेगा।

—फिर क्या चलेगा ?

—एक नया वाद चलेगा...यार, तुम्हारे लिए एक नया वाद चला देंगे।

—मेरे लिए ?

—हाँ, मैं चलाऊँगा।

संजय ने एक नज़र मेहरा की ओर देखा, पर कहा कुछ नहीं।

—यह तो पूछो, मैं कौन-सा वाद चलाऊँगा।

—तुम कुछ भी चला सकते हो, सिर्फ़ ठहरा हुआ समय नहीं चला सकते...

—अगर ठहरे हुए समय को भी चला दूँ ?

—हर घड़ी की सुई बाँहें झटकारती है, पर समय नहीं चला सकती।

—फ़िलॉसफ़र साहब, ज़रा आसमान से नीचे उतरो, नीचे देखो, मैं क्या चला रहा हूँ।

मेहरा ने जेब से एक काग़ज़ निकाला और संजय के सामने रख दिया।

—देखा जनाब ?

—हाँ, वोटर साहब ! देख लिया है।

—यह अकादमी एवार्ड का फ़ार्म है।

—हाँ, देख लिया है।

—अगर मैं इस पर जनाब का नाम भर दूँ ?

—बात तो वाद की थी, इस से कौन-सा वाद चलेगा ?

—प्रबन्धवाद !

—समझ गया।

—नहीं समझे। मैं अकेला अगर तुम्हारा नाम लिख भी दूँ, तो कुछ नहीं बनेगा।

—फिर ?

—फिर प्रबन्धवाद चलाऊँगा। और जिन लोगों के पास ऐसे फ़ार्म आये हैं, उन पर भी तुम्हारा नाम लिखवाना पड़ेगा।

—पर यह प्रबन्धवाद मेरे लिए क्यों ?

—यार ! तुम समझते क्यों नहीं ? अगर मैं ने भी कोई नॉवेल-शॉवेल लिखा होता तो अपने लिए चला सकता था।

—फिर प्रबन्धवाद से पहले...

—तुम्हारा मतलब है, नॉवेल लिखूँ ?

—हाँ, प्रबन्धवाद से पहले क़लमवाद...

—वह अपने बस की बात नहीं है, अपने बस का तो प्रबन्धवाद है।

—फिर उस से ठहरा हुआ समय चलने लगेगा ?

—हाँ, रोटी-पानी चलेगा, तो समय चलेगा।

—रोटी तो आदम तब से खा रहा है, जब से उस ने गेहूँ का पहला दाना मुँह से लगाया था...

—संजय साहब, फ़िलॉसफ़ी छोड़ो, सीधी बात बताओ।

—अच्छा, पूछो।

—कोई एक हज़ार रुपया ख़र्च आयेगा।

—किस का, मेरा ?

—और क्या मेरा ? पाँच हज़ार तुम्हें मिलेंगे, मुझे नहीं। बस, समझ लो, पाँचवाँ हिस्सा...

—समझ गया।

—पर शोहरत सारी तुम्हें मिलेगी, हर अख़बार में तुम्हारी तसवीर...

—यार ! फिर मेरा पोर्ट्रेट नहीं, कोलाज छपना चाहिए, चेहरे का एक टुकड़ा तुम्हारा, एक टुकड़ा उस का जो दूसरा वोट देगा, और एक टुकड़ा उस का, जो तीसरा वोट देगा और...

मेहरा खिलखिलाकर हँसने लगा, बोला—यार ! तुम कमाल के आदमी हो, तुम्हारी तसवीर छपेगी तो समझ लेना, हम सब ने अपने चेहरे तुम्हें दान कर दिये, गुप्तदान।

—दान ? किस तरह ? देखो, कुल कितने वोट चाहिए ?

—कम से कम तीन। लेकिन अगर चार-पाँच हो जायें तो प्रबन्धवाद पक्का।

—फिर पक्के की बात करो, कच्चे की क्यों करते हो ? देखो, कुल पाँच हज़ार है न। अगर एक वोट का एक हज़ार गिन लें, तो पाँच हज़ार में वोट पक्के।

—चलो, हाथ मिलाओ ! फिर तो पक्के से भी पक्का प्रबन्धवाद ! लेकिन यार, फिर तुम्हारे हिस्से में एक पैसा नहीं आयेगा।

—पैसे से चेहरे जो ख़रीद लूँगा। एक ही बात हो सकती है, या तो आदमी रोटी ख़रीदे, या फिर चेहरे। कम से कम यह तो होगा कि चेहरे दान नहीं लेने पड़ेंगे।

मेहरा को संजय का यह वाक्य अच्छा नहीं लगा; पर वह हँस दिया—चलो यार ! तुम्हारी अकड़ क़ायम रहे, इस तरह ही कह लो; पर यह तो देखो, हमें आसमान में जाल डालकर हुमा पकड़ना है।

—हुमा ?

—कहते हैं, हुमा पक्षी जिस के सिर पर आकर बैठ जाता है वह बादशाह बन जाता है। हमें तुम्हारे लिए हुमा पकड़कर लाना है।

—और मैं ?

—शोहरत भी तो बादशाही होती है, तुम्हें मिल जायेगी।

—पर हुमा का क्या बनेगा...जाल में उस के दो-चार पंख तो टूट ही जायेंगे, फिर मैं उस के टूटे हुए पंखों की ओर देखूँगा, और वह मेरे मुँह की ओर, जो एक पोर्ट्रेट से एक कोलाज बन चुका होगा।

मेहरा ने अपने हाथ का काग़ज़ तह करके जेब में रख लिया, और दीवान से उठते हुए कहने लगा—अच्छा संजयकुमार जी ! फिर अपनी पोर्ट्रेट बनाओ और कमरे में टाँग लो। वह मेहतर का लड़का जब मेज़ और दीवान झाड़ा करेगा, तुम्हारी तसवीर भी झाड़ दिया करेगा।

संजय मुस्करा दिया—यार अतरचंद, तुम तो नाराज़ ही हो गये। तसवीर तो मैं ख़ुद झाड़ लिया करूँगा, पर तुम देखने तो आया करोगे न ?

मेहरा का चेहरा अतरचंद के नाम पर तमतमा गया। यह उस के बहुत थोड़े परिचितों को पता था कि वह जब से कुछ लिखने-लिखाने की कोशिश कर रहा था, तब से उसे अपना नाम अतरचंद एकदम पसन्द नहीं रहा था। इस लिए वह अतरचंद की जगह ए० सी० लिखने लगा था

संजय ने अतरचंद के चेहरे की ओर देखा, कोई पल भर चुप रहा, फिर उस के चेहरे की तमतमाहट को मुस्कराहट से झेलते हुए बोला—जब कोई बाज़ झपटता हुआ दिखाई देता है तो छोटे-छोटे पक्षी, चिड़ियों और घुघियों जैसे, उस से बचना चाहते हैं। जिस पक्षी को वह पहले दिखाई दे जाता है, वह साथियों को सावधान करने के लिए कू-कू करता है...यों तो ज्यादा ख़तरा उसे ही होता है, जो मुँह से आवाज़ निकालता है, वह यह भी सोच सकता है कि वह चुप रहा तो यह ख़तरा उसे नहीं होगा, औरों को होगा, लेकिन वह औरों के लिए बोलता है, मैं सचमुच इसी तरह बोला हूँ। हवा में उड़ने वाले यह पैसे या शोहरत के बाज़ हमारे ऊपर झपटने के लिए होते हैं।

मेहरा ने धीरे से मुस्कराकर संजय की ओर देखा, पर कहा कुछ नहीं। संजय ने ही फिर कहा—और ख़तरे के समय, दूसरे व्यक्ति को ख़तरे का सही पता देने के लिए कई बार चौंकाना भी पड़ता है। मैं ने तुम्हें ए० सी० की जगह इसी लिए अतरचंद कहा था। पर यह नाराज़ होने की बात नहीं है, मेरे प्यार की झिड़की है। मैं नहीं चाहता कि तुम इस तरह के कामों में अपने आप को ज़ाया कर दो।

मेहरा का चेहरा ख़ाली-सा हो गया—पता नहीं, अपने आप से ख़ाली या संजय से ख़ाली। और वह चुपचाप चला गया।

कमरे में हलकी-सी धूल अवश्य थी, पर अपनी जगह पर बैठी हुई। अचानक संजय को लगा, वह धूल अपनी जगह से उठकर सारी हवा में फैल गयी है।

संजय के मुँह से धीरे से निकला—यार संजय ! आसमान में यह कैसी धूल

उड़ रही है, जो उड़ता हुआ बाज़ भी सब को हुमा दिखाई देता है, और सब उसे पकड़कर अपने-अपने सिर पर बैठाने की कोशिश कर रहे हैं—अगर नहीं कर पाते तो दूसरे के सिर पर बिठाने का सौदा कर रहे हैं...

दोपहर तप रही थी; जब मेहतर के लड़के ने संजय के दरवाज़े को खटखटाया, कहा—आप के गाँव से कोई आदमी आया है जी, बेचारा एक घंटे से परेशान हो रहा है जी, आप को पूछता हुआ...

—मेरे गाँव से ?—संजय को हैरानी-सी हुई। मन में अपने सारे ख़ानदान का नक़्शा घूम गया, पर दूर-पास का कोई रिश्ते में भी ऐसा व्यक्ति याद नहीं आया, जो आज वर्षों बाद उसे ढूँढ़ता हुआ आ सकता हो।

—मैं जी उसे एक घंटे से देख रहा था, गेट के अन्दर आकर कभी किसी से पूछता था, कभी किसी से, फिर बाहर सड़क पर चला जाता था, पर फिर लौटकर आ जाता था। फिर मैं ने ही उस से पूछा कि आप किस का घर ढूँढ़ रहे हैं।

—फिर ?

—बोला—जो किताब लिखते हैं—सो मैं ने उसे झट से बता दिया। देखो जी, उस ने कइयों से पूछा, पर किसी को भी पता नहीं कि आप किताब लिखते हैं। मुझ से उस ने पूछा ही नहीं था, नहीं तो मैं तो पहले ही बता देता।

संजय को हँसी आ गयी। लगा—सारी इमारत में शायद यही मेहतर का लड़का है, जिसे उस का भेद मालूम है। हँसकर बोला—सो मेरे एकमात्र बायोग्राफ़र, जाओ, उसे अन्दर बुला लाओ।

मेहतर के लड़के की समझ में आधा वाक्य नहीं आया, पर आधा समझ में आ गया, इस लिए बाहर जाकर वह 'गाँव से आने वाले' को अन्दर बुला लाया।

सचमुच किसी गाँव से आया हुआ कोई आदमी था। शरीर पर खद्दर का कुरता-पाजामा, जो दिन-भर की धूप और धूल से अटा हुआ था, शर्मिन्दा-सा

उस के शरीर से सटा हुआ था। उस के पाँवों की लाल मैली जूतों में भी एक विनम्रता थी, और वह सकुचाकर कमरे की दरी की ओर देख रही थी...

—आप हो न संजय कुमार, जिन्होंने वह किताब लिखी है ?—आगन्तुक ने पूछा।

—जी हाँ।

—बस जी, मेरा जी करता था आप को देखने को।

संजय ने आगन्तुक से बैठने के लिए कहा, पर अपने किसी पाठक का यह रूप उस ने कल्पित नहीं किया था, इस लिए पूछा—आप को पसन्द आयी, मुझे ख़ुशी है; पर आप को कठिन नहीं लगी ?

संजय को अपना वाक्य अच्छा नहीं लगा। लगा कि उसे किसी की समझ पर सवाल करने का अधिकार किसी तरह भी नहीं था। लेकिन सुनने वाले ने हँसकर सुना, कहा—नहीं जी ! मैं ने तो वह औरों को भी पढ़कर सुनायी है। हम ने, कोई दस आदमियों ने पढ़ी है जी। पर एक बात ज़रूर है जी, यह शोर-गुल में पढ़ने वाली किताब नहीं है। इसे तो आदमी अकेले में बैठकर पढ़े, और वह भी मन-चित्त लगाके। और बीच में कोई उसे बुलाये-चलाये भी नहीं...

संजय को यह मन-चित्त लगाकर पढ़ने वाली, सीधी-सादी भाषा में कही गयी बात बहुत अच्छी लगी, और उस ने आगन्तुक को पहली बार आदर से देखा।

—मुझे जी शहर आना था, अफ्रीका का टिकट बनवाने के लिए...

—आप अफ्रीका जा रहे हैं ?

—हमारे ताऊजी वहाँ रहते हैं जी। एक मौक़ा निकल आया जाने का, बहन का ब्याह है वहाँ, ताऊजी की लड़की का। कहते हैं—लड़के ! आ जा, दो-चार महीने यह दुनिया भी देख जा।

संजय को उस आदमी की सादगी भली-सी लग रही थी। कुछ कहने की बजाय वह उसी की बात ध्यान से सुनता रहा। वह कह रहा था—सो, मैं ने किताब पर प्रकाशक का पता देखकर उसे ख़त लिखा था और आप का पता मालूम कर लिया था।

—आप गाँव में क्या करते हैं ?

—बस जी जून भुगतते हैं...

संजय कुछ हैरान हुआ, पर उस ने दिलचस्पी से पूछा—वहाँ कुछ ज़मीन होगी ? खेती-बाड़ी करना भी बढ़िया काम होता है।

—वह तो जी ठीक है, पैसे-टके बहुत हैं गुज़ारे लायक़। पर सच पूछें तो हम जून काट रहे हैं। हम दो-चार आदमी हैं, कुछ सुलगन है जिन में। चोरी-छिपे शहरों का चक्कर लगा लेते हैं। कोई अच्छी किताब मिल जाती है तो वह भी चोरी-छिपे ले जाते हैं।

संजय को उस की 'सुलगन वाले आदमियों' की, बात छू गयी। लेकिन शहर जाकर और कुछ करने की जगह चोरी-छिपे किताबें ख़रीदने वाली बात अजीब लगी। पूछा—क्या किताबें पढ़ने और ख़रीदने के लिए भी चोरी की ज़रूरत होती है ?

वह हँस दिया। अब शायद वह संजय से बातें करते-करते सहज हो गया था, अब उस में पहले का संकोच नहीं था। कहने लगा—हम एक ख़ास फ़िरक़े के लोग हैं जी, एक धार्मिक वर्ग के। हमारे गुरु की गद्दी पर आजकल जो गुरुजी हैं, उन का बस यह आदेश है कि जो धार्मिक पुस्तकें वह हमें पढ़ने के लिए दें, हम बस उन्हें ही पढ़ें। वह हमें और किताबें नहीं पढ़ने देते। सोचते होंगे, अगर इन लोगों को अकल आ गयी तो फिर हमारा आदेश कौन मानेगा।

संजय ने एक आश्चर्य से उस गाँव से आये हुए व्यक्ति की ओर देखा, लगा, फ़ायड के शिक्षा और समाज वाले विश्लेषण को कभी किसी ने इतने सरल और सीधे शब्दों में नहीं कहा होगा।

—क्योंजी, मैं ग़लत कहता हूँ ?—उसी ने पूछा, शायद इस लिए कि संजय चुप था।

—नहीं। मैं सोच रहा था, अगर आप इस तरह सोचते हैं तो उस संप्रदाय को छोड़ क्यों नहीं देते ?

—हम बाप-दादा के समय से उस संप्रदाय में हैं जी। बात यह है जी, कि संप्रदाय का जो पहला गुरु था, वह तो सच्चा क्रांतिकारी था, उस समय जो उस के साथी थे, वे भी धर्म-कर्म वाले थे। उन्होंने तो अंग्रेज़ी शासन से लड़ाई भी लड़ी थी। बाद में कोई गुरु नहीं रहा जी, बस गद्दी रह गयी, और गद्दियाँ आप जानते ही हैं, कैसे चलती हैं...

संजय ने सुराही से पानी का गिलास भरा, सामने रखा, पूछा—कुछ और पियेंगे ? कुछ ठण्डा ? या चाय ?

—लो जी, किसे ख़याल था कि आप के हाथ का कभी पानी पियेंगे। आप ने जी किताब में वे बातें लिखी हैं, जिन से अन्दर आग सुलग उठती है।

संजय को अजीब-सा अहसास हुआ कि आज एक पाठक ने कड़ी धूप झेल-कर एक लेखक को नहीं पाया, आज एक लेखक ने बरसों के बाद एक पाठक पाया है...

—मुझ से बताया नहीं जाता जी...बस, यही जी करता था कि एक बार आप को आँखों से देख आऊँ। मैं ने शायद आप को हर्ज ही किया हो काम का...पर आप की मेहरबानी, आप ने आये हुए आदमी से पाँच मिनट बातें कर लीं...

—नहीं, बैठिये ! मैं ख़ाली हूँ।—संजय ने कहा, और पूछा—पर यह

बताइये, अगर आप का अपने संप्रदाय में विश्वास नहीं है, तो फिर आप को मजबूरी किस बात की है ?

—मजबूरी एक ही होती है जी, रोटी की।

—पर आप के पास अपनी ज़मीन है, अपने खेत, फिर मेहनत आप की अपनी...

—ज़मीन भी अपनी जी, शरीर भी अपना, पर यह मुसरी ज़िन्दगी ही अपनी नहीं होती। आज थोड़ा-सा पता लग जाये कि यह आदमी गुरु से इनकारी होने को फिर रहा है, रात से पहले ही उस पर कोई इलज़ाम लग जायेगा, और अगले दिन उस के हथकड़ियाँ...

—पर यह कैसे हो सकता है ? क़ानून तो मज़हब के अधिकार में नहीं होता।

—पैसे के अधिकार में सब कुछ होता है जी। गुरुजी अपने इलाक़े का थानेदार भी अपनी मर्ज़ी का रखवाते हैं।

संजय को लगा, उस ने एक नयी वास्तविकता की भयानकता देखी है।

वह बता रहा था—और जी, जो ऊपर अफ़सर होता है, लोगों के सामने तो गुरुजी के आगे वह हाथ जोड़ता है, लेकिन लोगों से चोरी गुरुजी जाकर उस के आगे हाथ जोड़ते हैं...अफ़सर का क्या जाता है जी। वह तो ख़ाली हाथ ही जोड़ता है, पर गुरुजी तो रुपयों की थैली वाला हाथ जोड़ते हैं।

—सच !

—कैसा अनर्थ है जी। वह जो पहला गुरु था, वह तो हुकूमतों से लड़ता था, और यह जो गद्दी पर हैं, यह हुकूमतों के तलवे चाटते हैं।

संजय की ज़िन्दगी में यह पहला दिन था कि एक पाठक के मन का सेंक उठकर उस के, एक लेखक के, अन्तर्मन को व्याकुल कर गया। वह पूछने लगा—यह सब कुछ जानकर भी आप के भीतर विद्रोह नहीं उठता ?

—यहाँ से उठता है जी, छाती में से आग की लपट की तरह, पर गले में आकर अटक जाता है। गले में से रोटी का ग्रास भी तो निलगना होता है।

संजय चुप रह गया।

आगन्तुक ने जेब से एक छोटी-सी कॉपी निकाली और संजय के सामने रखकर बोला—मुझे अपनी एक निशानी दे दीजिये जी। यहाँ अपने हाथ से अपना नाम लिख दीजिये।

संजय ने मेज पर से क़लम उठाया, चुपचाप उस की कॉपी पर अपना नाम लिख दिया। लेकिन उस के मन में आया कि जैसे आज उस ने एक विद्रोह की छाती पर चुप के हस्ताक्षर कर दिये हैं।

आगन्तुक चला गया; लेकिन संजय कितनी ही देर चुप बैठा रहा।

एक बार ख़याल आया, मैं ने उस का नाम भी नहीं पूछा, न उस का, न उस के गाँव का। फिर लगा, जिस गाँव से मैं ने सोचने की चिनगारी पायी है, वह भी ज़रूर उसी गाँव का होगा, तभी तो इस तरह सोचता है और तड़पता है। और साथ ही मेहतर के लड़के की कही हुई बात याद आयी—आप के गाँव से जी कोई आदमी आया है। और, संजय को लगा कि उस मेहतर के लड़के ने आज इलहाम जैसी बात कही थी...

मन में एक टीस उतर गयी—यार संजय ! पाठकों की कॉपियों पर तुम्हारे हस्ताक्षर क्या अर्थ रखते हैं ? विद्रोह तो गलों में घुटा हुआ है, वहाँ केवल रोटी के हस्ताक्षर होने चाहिए।

यह ढलते जाड़ों के बाद के पतझड़ के दिन थे।

संजय की मिलकियत केवल एक कमरा था, लेकिन उस कमरे की खिड़की वर्ष के सभी मौसमों की ओर खुलती थी। खिड़की के ठीक सामने नीम के पाँच पेड़ थे—नीम के पत्तों का छोटा-सा जंगल। और खिड़की जैसे सीधी जंगल की छाती में खुलती थी। ऋतुओं की छाती में। पत्ते झड़ते, नयी कोंपलें बनकर फिर उगते, उन पर बौर आता, निंबोलियाँ पड़तीं, उन की टहनियों पर कभी तोते बैठते, कभी गिलहरियाँ घूमतीं...और संजय कितनी-कितनी देर खिड़की में खड़े होकर पीछे नहीं मुड़ सकता था...

पतझड़ के दिनों में पत्ते झड़-झड़कर उस के कमरे में आते रहते थे...मेज़ के काग़ज़ों पर अक्षरों की भाँति गिरते रहते थे...और वह कितनी-कितनी देर खड़े होकर हरे-पीले अक्षरों की भाषा पढ़ता रहता था...

यही पतझड़ के दिनों की शाम थी कि एक तेज़ झोंके के साथ बाँहों में भर लेने जितने पत्ते कमरे में आ गिरे। संजय को सवेरे वाले मेहतर के लड़के के चेहरे का ध्यान हो आया—साहब ! यह खिड़की बन्द कर दिया करो, सारा

कमरा कूड़े से भर जाता है।—और इस समय भी संजय को सवेरे की तरह हँसी आ गयी—यार ममतू! अगर मैं ख़यालों की खिड़की बन्द कर दूँ तो कमरे में कागज़ों का कूड़ा भी नहीं रहेगा।

अँधेरा गहरा होता गया। सड़क की बत्ती की लौ नीम के पेड़ों में से छनकर आ रही थी, पत्तों में जलती-बुझती-सी दिखाई देती हुई...इस लिए संजय ने कमरे की बत्ती बन्द कर दी।

अचानक कमरे में खड़का सुनाई दिया—पत्तों के जंगल की दिशा से नहीं, इमारत की मनुष्यों की बस्ती वाली दिशा से...

संजय ने कुछ हिचकिचाकर दरवाज़ा खोला। बाहर सीढ़ियों की मद्धिम-सी रोशनी में एक लगभग सोलह बरस की लड़की परछाईं के समान खड़ी हुई थी।

आकार-सा दिखाई दिया, लेकिन पहचान नहीं सका। संजय को लगा, जैसे दरवाज़े की यह खटखट इस लड़की से ग़लती से हो गयी होगी।

लेकिन लड़की इस ग़लती को पहचानकर पीछे नहीं हुई, झिझकते हुए क़दमों से आगे कमरे की ओर बढ़ी—मैं अन्दर आ जाऊँ?—लड़की ने पूछा, तो संजय ने कमरे की बुझाई हुई बत्ती को जलाया, लड़की की ओर देखा, लेकिन कहा कुछ नहीं। सिर्फ़ ख़याल आया—आगे की खिड़की से केवल पतझड़ का अहसास हुआ है, पर इस दरवाज़े से जैसे ख़ुद पतझड़ की ऋतु कमरे में आ गयी है...

लेकिन यह बात लड़की से कहने की नहीं थी, इस लिए संजय ने केवल इतना कहा—मैं ने पहचाना नहीं।

लड़की के शरीर पर मटमैले-से कपड़े थे, पर उस के चेहरे से अधिक मटमैले नहीं। वह छोटे-छोटे फूल वाली छींट की सलवार-क़मीज़ पहने हुए थी। पर कपड़े के उड़े हुए रंग से अधिक उस के चेहरे का रंग उड़ा हुआ लगता था। सोलह वर्ष की चढ़ती जवानी में भी, जवानी के ढलने का-सा अहसास देता था।

—मेरा नाम कमला है।

लड़की के पतले उजड़े हुए चेहरे पर केवल एक चीज़ थी—उस की आँखों की पलकें, जो दूसरे नक़्शों की तरह उजड़ी हुई नहीं थीं। शायद वहाँ उस की आयु के सोलहवें वर्ष का बास था...

उस ने आँखें झपककर—सामने सीधे संजय की ओर देखा, कहा—पिछली तरफ़ जो छोटे कमरे हैं, मेरी माँ वहाँ रहती है।

संजय को हलका-सा आश्चर्य हुआ कि लड़की ने पिछले सर्वेण्ट्स क्वार्टर्स को सीधे सर्वेण्ट्स क्वार्टर्स कहने की जगह छोटे कमरे कहकर काम चला लिया है।

—आप दो बार वहाँ आकर मेरी माँ को बुख़ार की दवाई दे गये थे।

यह बड़ी छोटी-सी बात थी, संजय को याद नहीं आयी। उस ने कई बार माली

की, चौकीदार की, और बाहरले किरायेदारों में से कइयों की कोठरी में जाकर समय-कुसमय किसी को दवाई या चाय जैसी छोटी-मोटी मदद दी थी। सो, अब भी उसी अनुमान से पूछा—माँ बीमार है ?

—नहीं। वह आज मौसी के घर गयी है। मुझे जाते समय चाभी दे गयी थी, पर चाभी कहीं खो गयी है।

—सो, कमरा बन्द है। पहले क्यों नहीं बताया, अब इतनी रात गये...

—पीछे घास में गिरी थी, मैं कितनी ही देर तक ढूँढ़ती रही।

—अब ताला तोड़ना है ?

लड़की ने न हाँ की, न नहीं। पलकों का सारा बोझ आँखों पर डाल लिया।

—चौकीदार से कहना था, वह ताला खुलवा देता या तोड़ देता।

—नहीं, माँ ग़ुस्से होगी।

—फिर ?

—मैं रात को यहाँ सो जाऊँ ?—लड़की ने दोनों भारी पलकें आँखों से उठाकर संजय की ओर देखा, और काली स्याह आँखों की चमक के साथ कहा—सवेरे चाभी ढूंढ़ लूँगी, वहीं घास में कहीं पड़ी होगी।

संजय को एक क्षण के लिए लगा—यह बड़ी साधारण-सी बात है, एक इनसान से एक इनसान की माँगी हुई छोटी-सी मदद; लेकिन दूसरे ही क्षण यह साधारण-सी बात साधारण नहीं लगी। कहा—यहाँ मेरे कमरे में ? वहाँ चौकीदार से कहना चाहिए था, मेरा मतलब है चौकीदार की औरत से।

—उन लोगों से मुझे डर लगता है।—लड़की ने फिर अपनी पलकों का बोझ आँखों पर डाल लिया। शायद इस बार अपनी बात का भी।

संजय ने अपने कमरे की चारों दीवारों की ओर देखा, फिर उस खिड़की की ओर जो जंगल की ओर खुलती थी, और उस दरवाज़े की ओर जो शहर की ओर खुलता था—शहर जो रात को भी कभी पूरी तरह नहीं सोता, उस के किसी कोने से किसी बच्चे के रोने की आवाज़ आती है, किसी कोने से किसी पत्नी की चूड़ियों की खनक आती है, किसी और कोने से किसी बूढ़े के खँखारने की...

संजय ने ज़ोर से हँसना चाहा, कहना चाहा—यार संजय ! इस शहर और जंगल के बीच जो तेरी चौदह फ़ुट × चौदह फ़ुट की मढ़ैया है, देखो ! वह भयरहित है। और कहीं कोई भी जगह एक जवान और अकेली लड़की को सुरक्षा नहीं दे सकी...

लेकिन संजय ने केवल इतना कहा—तुम कहाँ सोओगी ?

कमरे में दीवान एक ही था, पर फ़र्श पर हरे रंग की दरी घास की तरह बिछी हुई थी—नीम के पत्तों के छिड़काव वाली।

—यहाँ एक तरफ़ को सो जाऊँगी।—लड़की ने कहा, और परली दीवार के

पास को होकर दूरी पर बैठ गयी।

कमरे का दरवाज़ा बन्द करना था, संजय ने बन्द कर दिया। लेकिन कमरे की बत्ती को बन्द करते समय हाथ रुक गया—बत्ती जलती रहने दूँ, अँधेरे में तुम्हें डर लगेगा...

लड़की ने खिड़की की ओर देखा, जिस में से बाहर सड़क की बत्ती की मद्धिम-सी रोशनी दिखाई देती थी, कहा—नहीं, बुझा दीजिये।

संजय ने अलमारी से एक चादर निकाली, लड़की को दी, फिर कमरे की बत्ती बुझाकर, कितनी ही देर खिड़की में खड़ा रहा।

लड़की चादर को खोलकर, कन्धों तक लपेटकर, दीवार से सटकर, गुच्छा-सी होकर पड़ गयी।

झड़ते हुए पत्तों को मुँह और छाती पर लेते हुए संजय ने एक रोमांचक कल्पना करनी चाही कि एक लड़की सारे शहर से अपनी जवानी को बचाते हुए एक नीम के पेड़ पर चढ़ गयी, और फिर टहनियों को थामते हुए एक टहनी से लटककर खुली हुई खिड़की में से गुज़रकर उस के कमरे में आ गयी...

पर ऐसी कोई कल्पना संजय के मन में टिकी नहीं। उस ने कमरे के अँधेरे में मेज़, कुर्सी, अलमारी, दीवान जैसी चीज़ों के गोलाइयों और लम्बाइयों में टूटते हुए आकारों की ओर देखा, फिर फ़र्श पर छोटे-छोटे और जीवित चीज़ों की तरह हिलते हुए नीम के पत्तों की ओर, और फिर परली दीवार के पास गुच्छा-सी सोयी हुई उस लड़की की ओर...

लड़की के ऊपर लिपटी हुई सफ़ेद चादर अँधेरे में अधमैली-सी दिखाई दे रही थी, ऐसे जैसे नीम के पेड़ से उतरकर एक बड़ी-सी गिलहरी उस की खिड़की से अन्दर कमरे में आ गयी हो।

संजय को अपनी यह गिलहरी वाली कल्पना अच्छी लगी, पर साथ ही खिड़की की ओर से नहीं, दरवाज़े की ओर से भय का एक खड़का हुआ—सवेरे इसे चौकीदार या कोई और मेरे कमरे से जाते हुए देखेगा तो क्या सोचेगा ?

पर एक निमिष बाद संजय को हँसी आ गयी—यार संजय ! तुम कब से लोगों के विचार-स्तर पर उतरकर देखने लगे हो ?

लोगों का ख़याल संजय ने मन से झटक दिया, पर उड़ती हुई मक्खी की तरह एक नया ख़याल उस के मन पर आ बैठा—कल इस की माँ आकर क्या कहेगी ? वह न जाने क्या सोचेगी ? शायद मुझ से यह भी कहेगी कि लड़की तो डरी हुई थी, पागल थी, पर तुम्हें तो कुछ सोचना चाहिए था...

संजय के चौदह फ़ुट × चौदह फ़ुट वाले भयरहित कमरे में एक नये भय का पत्ता झड़ आया, न जाने मन की किस टहनी से...

कमरे में नीम के पत्तों की हलकी-सी सरसराहट थी, पर इन नये पत्तों का

अलग और अधिक आवाज़ वाला खड़का संजय के कानों में आने लगा...

लड़की निश्चल, दीवार से सटी, दीवार का ही हिस्सा-सा बनी हुई सोई पड़ी थी...

संजय को अपना आप लड़की से भी छोटा और नगण्य लगा, एक साधारण लड़की से भी अधिक साधारण...

और वह अपनी आँखों में बे-आराम-सा होते हुए, दीवान पर जाकर लेट गया...

कुछ देर सो नहीं सका...

नींद कब आयी, संजय को पता नहीं। वह कितनी देर सोया, उसे यह भी पता नहीं। सिर्फ़ यह पता है कि कोई उस की बाँह पकड़ कर बार-बार जगा रहा था, और वह जाग नहीं पा रहा था।

चौंककर नींद खुल गयी, देखा—दीवान के पास वही लड़की खड़ी जगा रही है...

संजय ने अंधेरे में टटोलकर दीवान के सिरहाने की ओर लगा हुआ बिजली का स्विच ढूँढ़ा, बत्ती जलायी और कुछ घबराकर उस लड़की की ओर देखा।

लड़की चुपचाप दीवार के पास खड़ी हुई थी।

संजय ने घड़ी देखी, रात के चार बजे थे। घड़ी की लम्बी सूई की तरह संजय के माथे पर त्योरी पड़ गयी, कहा—अब क्या हुआ है तुम्हें ? सोतीं क्यों नहीं ?

—मुझे डर लगता है।

त्योरी जैसे माथे में लिखी गयी। संजय का जी चाहा—अभी कमरे का दरवाज़ा खोलकर लड़की को चौकीदार के हवाले कर दे, कहे कि उस के कमरे का ताला तोड़कर लड़की को उस के कमरे में पहुँचा दो...वहाँ, जहाँ उसे डर नहीं लगता।

लगा, वह इस समय कमरे का दरवाज़ा खोलेगा तो एक भयानक शहर जाग पड़ेगा। सो, एक गुस्से से लड़की को देखते हुए बोला—फिर मैं बत्ती जलाकर तुम्हारी चौकीदारी करता हूँ, तुम सो जाओ।

लड़की ने कहा कुछ नहीं, वहीं काँपती हुई दीवान के पास दरी पर बैठ गयी...

संजय ने सटपटाकर कहा—क्या नाम है तुम्हारा ? तुमने क्या बताया था ?

लड़की ने अपना सिर दीवान के सहारे टिका दिया, और धीरे से कहा—कमला।

—पर, कमलादेवीजी ! अब तुम्हें नींद नहीं आ रही है तो मैं क्या करूँ ?

संजय की त्योरी माथे से उतरकर उस के होंठों पर आ गयी। पर देखा, लड़की सुबक-सुबककर रो रही है।

कोई और समय होता तो संजय का मन पिघल जाता, लेकिन वह उसी तरह कठोर-सा उस की अपनी छाती से टकराता रहा...

—फिर बताओ, देवीजी! मैं क्या करूँ?

लड़की ने दीवान पर अपनी बाँह बढ़ाकर संजय के हाथ को छुआ, कहा कुछ नहीं, उस की ओर देखा भी नहीं...

संजय उस के हाथ को झटककर परे कर देना चाहता था, लेकिन उस ने कुछ सोचा, और हाथ को उसी तरह रहने दिया, सिर्फ़ कहा—कमला! मेरी तरफ़ देखो!

कमला ने देखा नहीं, गर्दन को कन्धों में और गुच्छा कर लिया।

—कमला! संजय ने आदेश के स्वर में कहा।

लड़की शायद डर गयी, उस ने सिर को ऊपर करके संजय की ओर देखा।

—तुम्हें सचमुच डर लग रहा है?

लड़की ने नहीं में सिर हिला दिया।

—फिर तुमने मुझे आधी रात को क्यों जगाया है?

लड़की पतझड़ के पत्ते की तरह काँप उठी। फिर उस का सिर दीवान के सिरे पर इस तरह गिर गया, जैसे काँपता हुआ पत्ता पेड़ से गिर पड़ा हो। पत्ते के समान पीली आवाज़ में बोली—माँ ने कहा था।

संजय की त्योरी उस के माथे पर से उतरकर उस के होंठों पर आ गयी थी, अब होंठों पर से भी उतरकर उस की छाती में उतर गयी।

न जाने वह मन की त्योरी से दूर कहाँ तक देख रहा था।

—रात मेरे कमरे में आने के लिए तुम्हारी माँ ने कहा था?—संजय ने सीधा सवाल लड़की के सामने रख दिया।

लड़की ने हाँ में सिर हिला दिया।

—चाभी खो जाने की बात भी उसी ने सिखायी थी?

लड़की ने फिर हाँ में सिर हिला दिया।

संजय अब मन की त्योरी से लड़की को नहीं देख रहा था...उस से परे उस की माँ की ओर, या शायद उस से भी परे उस की किसी मजबूरी की ओर देख रहा था।

अचानक पूछ उठा—तुम्हारा बाप नहीं है?

—नहीं।

—भाई?

—नहीं।

—माँ गुज़ारे के लिए क्या करती है ?

—लोगों के कपड़े सीती है।

—गुज़ारे के लिए पैसे नहीं कमा सकती ?

लड़की कुछ देर चुप रही, पर शायद संजय की उपस्थिति में यह चुप आसान नहीं थी, बोली—मशीन क़िस्तों पर ली है। वह जितने पैसे कमाती है, आधे क़िस्त में चले जाते हैं।

संजय कुछ देर कुछ सोचता रहा, फिर उस ने कहा—जैसे आज उस ने तुम्हें रात यहाँ भेजा है, पहले भी कहीं भेजती रही है ?

—नहीं, कभी नहीं। वह रोज़ कहती थी, मैं आती नहीं थी। रात उस ने जबर्दस्ती...

संजय को लगा—लड़की झूठ नहीं बोल रही है।

पूछा—तुम्हारी माँ का क्या ख़याल था कि इस तरह मैं तुम्हें सवेरे कुछ पैसे दूंगा ?

—नहीं।

—फिर !

लड़की ने जवाब नहीं दिया। फिर रोने लगी।

लड़की का हाथ कब का संजय के हाथ से परे हो गया था, इस समय संजय ने ही हाथ आगे बढ़ाया, लड़की के कन्धे पर रखा, कहा—फिर अगर तुम्हें इस तरह पैसे नहीं लेने थे, तो क्या करने आयी थीं ?

—माँ कहती थी—लड़की ने मुश्किल से इतना कहा, फिर सुबककर रोने लगी।

—तुम स्कूल में पढ़ती हो ?

लड़की ने 'नहीं' में सिर हिला दिया।

—तुम्हारा पढ़ने को जी नहीं चाहता ?

—माँ ने स्कूल से उठा लिया था—लड़की ने कहा, और उस की रुलाई कुछ थम गयी। बोली—माँ मुझ से कपड़े सीने के लिए कहती है, पर कपड़े सीने में मेरा जी नहीं लगता।

—स्कूल में पढ़ने को जी करता है ?

लड़की ने 'हाँ' में सिर हिलाया।

—अगर मैं तुम्हारी स्कूल की फ़ीस दे दिया करूँ, तो तुम पढ़ोगी ?

लड़की के चेहरे पर एक गहरा-सा रंग फिर गया, कहने लगी—ज़रूर पढ़ूंगी।

—अच्छा, यह बताओ, माँ ने क्या सोचकर तुम्हें रात को यहाँ भेजा था ?

लड़की शरमा गयी। यह शर्म एक कुँआरी लड़की की स्वाभाविक शर्म थी।

सिर नीचा करके कहा – वह मेरा ब्याह करना चाहती है।

संजय ने इस बात के परिणाम को यहाँ तक नहीं सोचा था, इस लिए उस की त्योरी उस के सारे शरीर में फैल गयी।

—आप फ़िक्र न करें।—लड़की में अचानक एक बल आ गया था और वह दीवान के पास गुच्छे-सी होकर बैठी हुई, अचानक खड़ी हो गयी थी।

संजय ने केवल उस की ओर देखा, कहा कुछ नहीं। लड़की ने ही कहा—माँ सवेरे ही आयेगी। कहती थी, पहले कमरे की तरफ जाऊँगी, वहाँ ताला लगा देखकर ज़ोर-ज़ोर से शोर मचाऊँगी...

—और फिर जब तुम मेरे कमरे में पायी जाओगी, वह लोगों के सामने मुझे ज़लील करेगी।—संजय ने बाक़ी बात स्वयं कह दी।

लड़की ने 'हाँ' में सिर हिलाया, फिर कहा—मैं अभी जाकर कमरे में सो जाती हूँ। फिर वह कुछ नहीं कर सकती।

संजय ने पहली बार लड़की के भले-से मुँह की ओर देखा, पूछा—तुम्हें इस समय वहाँ अकेले डर नहीं लगेगा ?

—नहीं, मैं कई बार अकेली रहती हूँ, मुझे डर नहीं लगता।

—तुम्हारी माँ पहले भी बाहर जाती रही है ?

—कभी-कभी...

—कहाँ ?

—पता नहीं...

संजय ने आगे कुछ पूछने की जगह कहा—इस वक़्त बाहर चौकीदार होगा, वह तुम्हें जाते हुए देख लेगा, वह तुम से पूछेगा।

—नहीं देखेगा, वह सिर्फ़ गेट पर नहीं रहता, बाहर सड़क पर जाकर भी खड़ा होता है, बायीं तरफ़ के खँडहरों तक भी जाता है।

सजय को लड़की की इस समझ पर कुछ हैरानी हुई। सचमुच इस इमारत के दाहिने हाथ की ओर कितनी ही इमारतें थीं, पर बायीं ओर केवल नीम के पेड़ थे, और पत्थरों की किसी पुरानी इमारत के खँडहर। और इमारत का चौकीदार हाथ में लालटेन लिए हुए खँडहर तक भी निगाह रखता था।

—मशीन की कितनी क़िस्तें बाक़ी हैं ?—अचानक संजय ने पूछा।

—पता नहीं, छह-सात होंगी; पर अगर मैं भी सिलाई का काम करूँ, झट उतर जायेंगी।

संजय ने देखा—इस समय रात के चार बजे वाली यह लड़की रात के ग्यारह बजे वाली लड़की नहीं थी।

पूछा—पर तुम तो सिलाई का काम नहीं करना चाहती हो, पढ़ना चाहती हो ?

—दोनों करूँगी। पढ़ाई का एक स्कूल शाम को भी लगता है।

अचानक संजय का मन पिघल गया। उस ने उठकर अलमारी खोलकर बटुए में पड़ा हुआ एक सौ का नोट निकाला, और लड़की के आगे करते हुए कहने लगा—देखो, इस से मशीन की क़िस्तें एक ही बार में दी जा सकेंगी, फिर तुम्हारे पास पढ़ाई के लिए पैसे बच जाया करेंगे।

लड़की ने हाथ आगे नहीं बढ़ाया, शायद कुछ सोचती रही, फिर कहने लगी—नहीं, माँ को अगर सौ रुपये इस तरह मिल गये, तो थोड़े दिन बाद वह फिर रात को मुझे किसी के घर भेज देगी!

संजय ने पहली बार हैरान होकर लड़की के चेहरे की ओर देखा...

लड़की ने प्रणाम करने की तरह हाथ जोड़े, कहा—कमरे की बत्ती बन्द कर दीजिये, खिड़की से देख लूँगी। जिस समय चौकीदार खँडहरों की तरफ़ जायेगा, मैं अपने कमरे में चली जाऊँगी।

—और घास में गिरी हुई चाभी कैसे मिलेगी?—संजय को हलकी-सी हँसी आ गयी।

—वह तो मैं ने ख़ुद एक पत्थर के पीछे रखी है...

लड़की अब सहज हो गयी थी, अपनी आयु से भी बड़ी लग रही थी...

संजय ने कमरे की बत्ती बुझा दी, और खिड़की के पास जाकर बाहर सड़क की ओर देखने लगा।

—सुनो। तुम मेरी एक बात मानोगी? संजय ने दूर से गेट के पास खड़े हुए चौकीदार की ओर देखा, और पीछे कमरे के अंधेरे में खड़ी हुई लड़की की ओर मुड़कर कहा।

—मानूँगी।—लड़की ने निःशंक-सा उत्तर दिया।

—फिर कभी इस तरह रात को किसी के घर मत जाना।

—नहीं जाऊँगी।

—अगर माँ ने ज़बर्दस्ती भेजा?

—मैं नहीं जाऊँगी।

संजय ने फिर कुछ सोचा, कहा—सवेरे माँ से क्या कहोगी?

—कुछ नहीं...यही कि मैं नहीं गयी।

—वह ग़ुस्से होगी...

—हुआ करे।

संजय ने और कुछ नहीं पूछा, सिर्फ़ कहा—फ़ीस के लिए और कुछ किताबों के लिए कुछ पैसे...

लड़की ने बात काटते हुए कहा—अभी नहीं, कभी दिन के वक़्त आकर ले जाऊँगी...थोड़े-से...

'थोड़े-से' छोटा-सा शब्द था, पर यह लड़की पर हो रहे विश्वास को संजय के मन में बढ़ा गया। उस ने फिर खिड़की से बाहर देखा—चौकीदार की लालटेन खँडहरों को जाने वाली सड़क पर थी।

संजय ने खिड़की से पीछे मुड़कर, दरवाज़े की ओर जाकर कमरे की कुँडी धीरे से खोल दी।

वह लड़की कमरे के अँधेरे से अँधेरे का एक टुकड़ा-सी बाहर चली गयी।

लड़की के अपने कमरे तक ठीक तरह पहुँच जाने का अनुमान अब वह लड़की से नहीं लगा सकता था, पर चौकीदार की स्वाभाविकता से लगा सकता था, इस लिए संजय जाकर खिड़की में खड़ा हो गया।

चौकीदार की लालटेन खँडहरों की ओर जाने वाली सड़क पर कितनी ही देर तक हिलती-डुलती दिखाई देती रही, फिर कोई पल भर के लिए ओझल-सी हुई, और फिर वह सड़क पर मुड़ती हुई दिखाई देने लगी।

गेट की ओर भी संजय कितनी ही देर तक देखता रहा। लालटेन वहाँ आकर ठहर गयी। चौकीदार के स्टूल के पास बैठकर जैसे ऊँघने लगी...

इमारत के अन्दर की तरफ़ की दीवार पर बिजली की रोशनी थी, संजय ने चौकीदार को एक बार साधारण दृष्टि से अन्दर इमारत की दीवार की ओर देखते हुए देखा, और फिर देखा कि चौकीदार वहाँ स्टूल पर बैठकर बाहर की सड़क की ओर देखते हुए एक बीड़ी सुलगाने लगा है...

विश्वास के अनुमान से विश्वास की पुष्टि तक समय फैल गया तो संजय खिड़की के पास से हटकर दीवान पर बैठ गया। नींद नहीं आ रही थी, इस लिए एक सिगरेट जलाकर पीने लगा।

सिगरेट के न जाने कौन-से कश में से बीती रात का पहला पहर उभर आया, जिस समय धीरे से खड़का करके वह लड़की आयी थी।

ख़याल आया—उस लड़की को देखकर उसे पहला अहसास यह हुआ था कि दरवाज़े में से जैसे सचमुच पतझड़ की ऋतु कमरे में आयी है, इस समय वह एहसास नहीं था, इस लिए संजय के मुँह से निकला—यार संजय ! आज तक तुम ने पेड़ों का पतझड़ ही देखा था, आज देखा है जब इन्सान के मन पर पतझड़ आता है, उस के पत्ते कैसे झड़ते हैं ?

आज की घटना पिघलकर संजय के मन में बहने लगी—किसी माता-पिता के मन में पतझड़ आ जाये तो देखो, सोलह वर्ष के कोमल पत्ते भी हवाओं के हवाले हो जाते हैं...।

आज की घटना से विचलित हुए संजय ने एक माँ के चेहरे को कठोरता से देखना चाहा, लेकिन आँखों में कठोरता नहीं आयी, केवल कल्पित चेहरे की बदनसीबी आँखों के सामने आ गयी, जिसे जवान होती बेटी की चिन्ता ऐसे भयानक

विचार तक ले गयी थी...

—यार संजय !—संजय के पास कुछ पूछने और बताने वाला केवल संजय था, इस लिए बोला—यार ! तुम ही बताओ, गुनहगार ग़रीब होता है या उस की ग़रीबी ? अगर ग़रीबी गुनहगार होती है तो उस की सज़ा समाज और राजनीति की व्यवस्था को होनी चाहिए, लेकिन सज़ा इनसान को होती है।...इनसान को क्यों ? क्या ग़रीबी का गुनाह उस ने किया है ?...

सवेरा होने वाला था, जब संजय को लगा कि उसे नींद आ रही है, और लगा—शायद ख़यालों का कोई सवेरा नहीं होता...

हाथ से क़लम मेज़ पर रखकर संजय कुर्सी से इस तरह उठा, जैसे बोधि वृक्ष के नीचे से उठा हो—आँखों में एक चमक, पर मुख शान्त; अंगों में एक थकन, पर नस-नस में एक लचक।

उस की कई महीनों की तपस्या अब पूरी हो गयी थी, उपन्यास ख़त्म हो गया था...

कमरे में जैसे एक संजय नहीं, दो संजय हों। एक रक्त-मांस का बना हुआ, और दूसरा काग़ज़ों के ढेर में अक्षरों का बना हुआ। लेकिन दोनों एक दूसरे के पूरक, एक दूसरे में धड़कते हुए, उस परी कथा के सच के समान, जिस में परी के प्राण तोते में रहते हैं।

संजय के होंठों पर हलकी-सी मुसकान आयी—तोता जंगल में था, वृक्ष की धरोहर, और इसी लिए वह परी किसी के मारे नहीं मरती थी। जब तक तोता जीवित था, वह मर नहीं सकती थी। और संजय ने मेज़ पर पड़े हुए काग़ज़ों के ढेर की ओर देखा—यार संजय ! तुम्हें मरना हो तो इन काग़ज़ों को उठाकर फाड़ दो, अगर यह साबुत रहेंगे तो तुम नहीं मर सकोगे...

हाथ अलमारी की ओर बढ़े, पर अलमारी को खोलकर उसे याद नहीं

आया कि उस ने अलमारी क्यों खोली है···वह कितनी ही देर खुली अलमारी के सामने खड़ा रहा...

फिर हैंगर में टंगी हुई क़मीज़ के पास पड़ी हुई ह्विस्की की बोतल दिखाई दी, उठा कर उसे देखा···कुछ गिनती की बूँदें ह्विस्की की उस में पड़ी हुई थीं। संजय ने कोई आधा गिलास पानी बोतल में डालकर हिलाया, और फिर पानी को गिलास में डालते हुए गिलास को हाथ में उठाकर दीवान पर आधा-सा लेट गया...

लिखे हुए काग़ज़ उसी तरह मेज़ पर पड़े हुए थे, पर उन काग़ज़ों के अक्षरों ने मिलकर संजय के इर्द-गिर्द एक लम्बी सुरंग बना दी...

सुरंग में कई पत्थर थे, और संजय के हाथों में छैनी थी। जिस से वह पत्थरों पर लम्बी, गोल, ढलवाँ लकीरें बना रहा था।

अचानक संजय के हाथों में वह पत्थर बहुत नरम हो गये, देखा, हाथों में एक चाकू-सा था जिस से वह चमड़े पर कुछ लम्बी, गोल और ढलवाँ लकीरें बना रहा था...

कानों में अचानक पत्तों की खड़खड़ हुई...उस ने नज़र उठाकर एक पेड़ की ओर देखा, और फिर पत्तों को हथेली से सहलाते हुए वह उन पर लम्बी, गोल और ढलवाँ लकीरें बनाने लगा...फिर शायद कोई पत्ता गिरकर उस के पैरों के नीचे आ गया कि उस के पैर में पत्ते की डंडी चुभी और साथ ही उस के बायें गाल पर किसी ने हाथ मारा...संजय के घबराये हुए मुँह से निकला—माँ !

और उस ने चौंककर चारों ओर देखा, न कोई सुरंग थी, न पत्थर, न चमड़ा, न पत्ते। सामने वही उस का छोटा-सा कमरा था, जिस के दीवान पर वह अधलेटा-सा न जाने क्या सोचते-सोचते कहाँ पहुँच गया था...

पर अभी अर्धचेतना-सी में कहा शब्द 'माँ' वहीं हवा में ठहरा हुआ था। संजय ने पूरी चेतना से जाना कि अभी यह शब्द उस के अपने होंठों से निकला था...

सुरंग की छैनी, चाकू और सरकंडे की क़लम इस समय कमरे में नहीं थी, लेकिन संजय को ये सब चीज़ें कोई एक घड़ी पहले की बात की तरह याद थीं... और पैर में पत्ते की चुभती हुई डंडी भी...

याद आया—इसी तरह उस ने एक काग़ज़ पर पैर रख दिया था तो माँ ने उस के एक चपत लगायी थी। माँ ने कहा था—तूने अक्षरों का अपमान किया है।—तब वह बहुत छोटा था, इतना छोटा कि अपमान शब्द का अर्थ उस की समझ में नहीं आया था, लेकिन यह समझ में आया था कि अगर फिर अक्षरों पर पैर पड़ गया तो माँ मारेगी।

संजय हँस-सा दिया—यार संजय ! आज तुम उपन्यास लिखकर काग़ज़ों

को सँभालकर रखते हुए पीछे कौन-सी शताब्दी में पहुँच गये? वहाँ जहाँ कभी तुम जैसे किसी व्यक्ति ने ये अक्षर पत्थरों पर लिखे थे...फिर शायद चमड़े पर लिखे थे...और फिर शायद भोजपत्र पर···तब जब काग़ज़ नहीं बना था...

और साथ ही संजय को आश्चर्य हुआ—कहाँ तो वह शताब्दियों पुराना समय, और कहाँ आज से मुश्किल से बीस बरस पहले की बात, जब माँ ने उस के चपत लगायी थी···दोनों समय उस के मन में किस तरह इकट्ठे हो गये?

संजय ने गिलास के बाक़ी रहे घूँट को एक ही बार में पी लिया, और एक सिगरेट सुलगाकर कमरे में बेचैन-सा घूमने लगा...

अचानक आँखें भर आयीं—माँ! तुम अगर जीवित होतीं तो आज तुम से पूछता—जब कई शताब्दियाँ पहले मैं भोजपत्रों पर लिखा करता था, तुम तब भी मेरी माँ थीं? क्या तब भी किसी भोजपत्र पर लिखे हुए अक्षरों पर मैं ने पैर रखा था, और तुम ने तब भी मेरे चपत लगायी थी? मुझे तुम कितनी शताब्दियों से अक्षरों का सम्मान करना सिखा रही हो?

आज बहुत वर्षों के बाद, संजय को माँ की मृत्यु पर इस तरह रोना आया, जैसा शायद मृत्यु के समय भी नहीं आया था...

जलते हुए सिगरेट का आख़िरी टुकड़ा संजय की उँगली से छू गया तो उस ने सिगरेट को राखदानी में बुझा दिया, अपना ध्यान किसी और तरफ़ करना चाहा। सवेरे का अख़बार उसी तरह रखा हुआ था, सो वही उठाकर पढ़ने लगा...

पहले पृष्ठ पर एक मोटा-सा शीर्षक था—एक राजनीतिज्ञ नेता के भाषण का, जिस में उस ने लोगों से ईमानदार और नैतिक जीवन जीने की अपील की थी...

ज़ोर से हँसते हुए संजय के हाथों से अख़बार छूट गया। याद आया—लोहे के कारख़ाने वाले केशव ने एक लाइसेंस के लिए अपने हाथ से इसी नेता को दो लाख रुपये दिये थे...मुँह से निकला—यार नेताजी! जिन अक्षरों से रिश्वत लेते हो, उन अक्षरों से सदाचार की बात तो न किया करो। यार! अक्षरों का मान तो रखा करो।

और संजय का चेहरा किसी मौत के ग़म जैसा हो गया, लगा—सचमुच माँ जैसी कोई चीज़ है, जो दुनिया में मर गयी है...वह जो शताब्दियों से अक्षरों का मान करना सिखाया करती थी...

लगा—मेरी माँ का वास्ता सिर्फ़ मुझ से था...एक साधारण औरत का वास्ता सिर्फ़ अपने पुत्र से...पर जिस चीज़ का वास्ता हर इनसान से होता है, वह तो साधारण नहीं हो सकती...पर उस की मृत्यु पर कोई नहीं रोता, कोई नहीं, एक माँ के मरने जितना भी नहीं...

संजय की दृष्टि मेज़ पर पड़े हुए अपने उन काग़ज़ों की ओर गयी जो उस

की छह् महीने की तपस्या थे, और जिन के पास से आज अभी, वह ऐसे उठा था जैसे बोधि वृक्ष के नीचे से उठा हो...ख़याल आया—आज कौन-सा ज्ञान लेकर इस बोधि वृक्ष के नीचे से उठा हूँ ?...लगा, सचमुच कोई ज्ञान प्राप्त हुआ है, किसी चीज़ की मौत का ज्ञान...

और ज्ञान जैसा ही एक और एहसास हुआ—शायद जब से दुनिया बनी है, तब से ही कुछ लोग लगातार अक्षरों का क़त्ल करते हैं; और कुछ लोग होते हैं जो अपने-आप को भी अक्षरों में डाल देते हैं, सदा डालते रहते हैं...

लगा—अभी कोई एक घड़ी पहले ख़याल आया था कि मेरे प्राण इन काग़ज़ों में हैं, ये साबुत रहेंगे तो मैं नहीं मर सकता। वह ख़याल सिर्फ़ इतना ही नहीं था, न इन काग़ज़ों तक सिमटा हुआ, और न मैं सिर्फ़ संजय के एक नाम से जुड़ा हुआ...

संजय की नज़र दुनिया की पहली किताब से लेकर वहाँ तक फैल गयी जहाँ अन्तिम कुछ नहीं था, और वह हँसकर कहने लगा—यार संजय ! तुम्हारा कब क्या नाम था, और कब क्या नाम होगा, यह तो तुम भी नहीं जानते...

पर इतने बड़े अज्ञान से एक ज्ञान का सन्तोष संजय के चेहरे पर छा गया कि आज उस ने अपना वंश ढूँढ़ लिया है। वह मनुष्य के उस वंश से है, जिस के लोग जब से दुनिया बनी है तब से अपने प्राण अक्षरों में डालते चले आ रहे हैं...

और संजय ने झूमकर मेज़ पर पड़े हुए सारे काग़ज़ एक फ़ाइल में इकट्ठे किये। फ़ाइल को धागे से बाँधा, और ड्योढ़ी से साइकिल निकालकर अपने उस प्रकाशक की ओर चल दिया जिस ने उस का पहला उपन्यास छापा था।

गर्मी का मौसम चला गया था, लेकिन बाहर सड़क पर आकर संजय को धूप का एहसास कुछ इस तरह हुआ जैसे जाते-जाते गर्मी आज बाहर सड़क पर रुक गयी हो।

उस ने साइकिल को धीमा कर लिया, पर माथे के पसीने को पोंछकर वह प्रकाशक के दफ़्तर पहुँचा तो लगा कि कई सड़कें पार करके यहाँ पहुँचने तक बिलकुल जाड़ा हो गया है...

बहुत ठंडे कमरे ने अचानक संजय की आँखों में नींद भर दी। लगा—वह शायद छह महीने से सोया नहीं था, और अब जी भरकर गहरी नींद में सोना चाहता है...

—संजय साहब ! आप का पहला नॉवेल अच्छा तो था, लेकिन बिका नहीं। —कमरे में अचानक यह आवाज़ आयी तो संजय का हाथ, जिस में फ़ाइल थी, अपने शरीर से सट गया।—बैठिये-बैठिये, कोई नया नॉवेल लिखा है ?

—जी हाँ।

—बैठिये मैं आप को एक तरकीब बताता हूँ...

—तरकीब नॉवेल लिखने की ?—संजय हँस-सा पड़ा।

हँसती हुई-सी आवाज़ में ही जवाब आया—लिखने की न सही, लेकिन छापने की तो बता ही सकता हूँ...

संजय ने कहा कुछ नहीं, सिर्फ़ सुना—आप को नाम बदलना पड़ेगा।

इस बार संजय ने जवाब दिया—लेकिन आप ने तो अभी देखा ही नहीं, मैं ने क्या नाम रखा है...

—मैं नॉवेल के नाम की बात नहीं कर रहा हूँ, वह तो ख़ैर हम ख़ुद ही बदल लेंगे...

—फिर किस का ? मेरा ? संजय न जाने क्यों ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगा।

—मैं यही कह रहा हूँ...

संजय को सुनकर विश्वास नहीं हुआ, इसी लिए उसी तरह हँसते हुए पूछने लगा—क्यों, पहला नॉवेल कम बिका है, इस लिए अब मेरा नाम ज्योतिषी से पूछकर रखा जायेगा ?

—नहीं-नहीं, मेरा यह मतलब नहीं था। बात यह है कि नये लेखक को लोग पढ़ते नहीं...

—लेकिन नया तो मैं पहले नॉवेल की बारी था...

संजय को याद आया कि पहला नॉवेल इस शर्त पर छापा गया था कि संजय को कोई पैसा नहीं मिलेगा। ख़याल आया—शायद अब भी यह भूमिका उसे उसी शर्त पर ले आने के लिए है...इस लिए उस ने फ़ाइल को फिर अपनी ओर कर लिया। इस बार वह इस शर्त के लिए तैयार नहीं था। अब वह बेकार के कामों की मदद के बिना जीना चाहता था।...लेकिन साथ ही ख़याल आया—इस के लिए नाम बदलने वाली बात का क्या सम्बन्ध है...

—इस बार आप कुछ पैसे लेना चाहेंगे ?

—हाँ, इस बार मैं पहले की तरह नहीं कर सकता।

—मैं ने इसी लिए कहा था। आप को अच्छे पैसे मिल जायेंगे।

—लेकिन नाम ?

—हमारे पास तीन नाम हैं, इन में से किसी नाम से भी छाप देंगे—पैसे नक़द...वह भी पेशगी...

संजय का माथा ठनका। वह जानता था कि कई प्रकाशकों ने जाली नाम रजिस्टर्ड करवाये हुए हैं। संजय का नाम भी उसी किसी जाली नाम की क़ब्र में डाला जाने वाला है।

—देखिये, संजय साहब ! दो-चार अख़बारों में आप की तसवीरें छप गयीं, दो-चार इण्टरव्यू लिये गये···इस से आप तो ख़ुश हो गये, लेकिन इस से किताब नहीं बिकती। आम घरों की औरतें नॉवेल-शॉवेल पढ़ती हैं, और वह अख़बारों को

पढ़कर नहीं ख़रीदतीं...

संजय यह जानता था कि जाली नामों से जो नॉवेल छपते हैं, वे बे-सिर-पैर के घटनाप्रधान नॉवेल होते हैं, बहुत करके विदेशी जासूसी नॉवेलों की घटिया नक़ल—इस लिए मुस्कराते हुए बोला—पर मैं उस तरह के नॉवेल नहीं लिखता।

—यह कोई बात नहीं है, सामाजिक भी चलेगा। कहिये, पाँच सौ रुपये अभी दे दूँ ?...हाँ, सच, याद आता है, एक इण्टरव्यू में आप ने ख़ुद कहा था कि असली लेखक का वास्ता लिखने से होता है, शोहरत से नहीं। वह चाहे सारी उम्र गुम-नाम रहे। क्यों, आप ने कहा था न ?

—हाँ, कहा था।

—फिर आप को नाम की क्या परवाह है ?

—नाम की तो नहीं—संजय मुस्करा दिया—पर वंश की है।

—क्या मतलब ?

संजय का जी किया, कहे कि दुनिया में जितने भी लोग हैं, दो वंशों से हैं; एक जो अक्षरों का क़त्ल करता है, और दूसरा...

पर संजय को उस वंश की बात करना व्यर्थ लगा जो अपने प्राण भी अक्षरों में डाल देता है इस लिए चुप हो गया। लेकिन चुप रहना स्वाभाविक नहीं था, इस लिए वह ज़ोर से हँसने लगा...

—लो जी, इस में हँसने की कौन-सी बात है ?

—मैं बराबर की मेज़ पर पड़ी हुई आप की तसवीर देख रहा था...

—क्यों जी, हमारी शक्ल ऐसी है कि...

—वैरी हैंडसम फ़ेस...मुझे याद आया कि इसे मैं ने किसी अख़बार में देखा है...

—नहीं जी, हमारी तसवीरें कौन अखबारों में छापता है...

—नहीं, मेरा मतलब है कि वह तसवीर जो मैं ने देखी थी, उस से आप की शक्ल बिलकुल मिलती है...

—किस की तसवीर थी ?

—किसी जर्मन डॉक्टर की।

—जर्मन डॉक्टर की ? मेरी शक्ल उस से मिलती है ?

—हाँ।

—क्या नाम था उस का ?

—डॉक्टर रोज़ेनथाल।

—अजीब बात है। जर्मन तो बहुत ख़ूबसूरत होते हैं।

संजय फ़ाइल उठाकर कमरे से चलने लगा तो प्रकाशक ने चकित होकर

कहा—क्या पाँच सौ भी मंज़ूर नहीं ?

—नहीं ।

—चलिये, सात सौ ले लीजिये···फ़ाइल इधर दीजिये ।

संजय ने उत्तर नहीं दिया। फ़ाइल लेकर बाहर साइकिल स्टैंड पर आ गया, जहाँ अपनी साइकिल रख गया था ।

भीड़वाला मोड़ गुज़र गया, सामने खुली सड़क आ गयी तो संजय को ख़याल आया—यार संजय ! अगर वह तुम से पूछ लेता कि डॉक्टर रोज़ेनथाल कौन था, तब तुम क्या जवाब देते ? झूठ तो बोलते नहीं, फिर क्या सच बताते ?

अब यह सवाल सामने नहीं था। न उस ने पूछा था, न संजय ने बताया था। लेकिन अचानक संजय को ख़याल आया—अगर उस ने किसी दिन हिटलर के समय का इतिहास पढ़ लिया, तो उस में रेवन्सब्रुक के कन्सेण्ट्रेशन कैम्प का हाल पढ़ते समय वह रोज़ेनथाल का नाम ज़रूर पढ़ लेगा...

संजय को इस समय हँसी नहीं आयी, एक हावका-सा आ गया, आँखों के सामने कई वे क़ैदी तड़पने लगे, जिन के दाँतों में सोने की कीलें थीं और जिन का 'इलाज' करते हुए डॉक्टर रोज़ेनथाल उन्हें मारकर उन के दाँतों से सोना निकाल लेता था...

आँखों के सामने अनगिनत चेहरे आ गये, और उनमें संजय का अपना चेहरा भी अपनी आँखों के आगे आ गया...

'सौतेला' शब्द संजय के जन्म के साथ ही जन्मा था...

यह सिर्फ़ एक रिश्ते के सम्बन्ध में जन्मा था, उस के पिता की पहली पत्नी के पुत्र से उस का रिश्ता जोड़कर । उस के कोमल कानों ने घर और अड़ोस-पड़ोस से, बाल उपदेश के पहले पाठ की भाँति, यह शब्द सुना था—सौतेला भाई...जैसे पटिया पर कोई पहला अक्षर लिखता है 'एक ओंकार' या 'ओम्' या 'सात सौ

छियासी'।

बाद में उस ने यह शब्द फिर किसी से नहीं सुना, लेकिन देखा कि दुनिया के हर रिश्ते में यह फैला हुआ है...हर मनुष्य के हर मनुष्य के साथ रिश्ते में। सौतेले पड़ोसी के रूप में भी, सौतेले दोस्तों के रूप में भी और सौतेले समाज, सौतेले मज़हब, सौतेली सरकार और सौतेले ईश्वर की शक्ल में भी...

पिता की मृत्यु के बाद घर-जायदाद को सौतेले भाई ने अपने कब्ज़े में कर लिया था, कहा था—बात क़ानूनी कार्यवाही तक पहुँची तो वह क़ानून को ख़रीद लेगा—और अपने गीले विचारों को जलाकर उस ने सारे गाँव में धुआँ फैला दिया था कि उस के पिता की दूसरी पत्नी घर में डाली हुई औरत थी, विवाह कर लायी हुई नहीं थी, इस लिए उस का दूसरा पुत्र उस का जायज़ बच्चा नहीं था...

उस दिन संजय ने दुनिया के इन्साफ़ को भी सौतेला होते देखा था...

—चलो, यार संजय ! तुम तो सगे संजय लगते हो, और सब सौतेले ही सही। और चिरकाल से संजय ने यह सगा रिश्ता पाकर, और कुछ सोचना छोड़ दिया था।

लेकिन एक और सगे रिश्ते का एहसास था, जो सिर्फ़ हवा में था। यह उस के मन में मुहब्बत की कल्पना थी, जो हर हक़ीक़त की पहुँच से परे थी। इस लिए यह एहसास सदा हवा में बना रहा। बहुत समय हुआ माँ की शक्ल में उस ने देखा था, और उसे विश्वास था—किसी न किसी दिन वह एक अपरिचित औरत की शक्ल में भी उसे देखेगा, और उसी हवा में ठहरे हुए एहसास की बातें करने के लिए वह कहानी भी लिखता था, उपन्यास भी...

—सिर्फ़ यह नहीं—उस ने अपने आप को स्पष्टता दी थी—दुनिया का सब कुछ जो सौतेला है, वह स्वाभाविक नहीं है...जो स्वाभाविक था, वह कब अस्वाभाविक बन गया, किस ने बना दिया, क्यों बना दिया, यह सब जानने के लिए भी लिखना होगा—

जानने की और पाने की एक चाह संजय के सामने स्थिर नहीं रहती थी, कई बार उन सूखी-सूनी टहनियों की तरह हो जाती थी, जिन्हें हरे रंग की याद भी न रही हो, पर फिर सूखी टहनियों में से किसी एक रात को कई हरी कोंपलें निकल आती थीं और संजय को अपने मन की मिट्टी के धरती की तरह करामाती होने में फिर विश्वास आ जाता था...

समाज और राजनीति के कोल्हू में जोते हुए मनुष्य की आँखों पर खोपे चढ़ाकर, एक ही दायरे में घूमती रहने वाली होनी, कभी-कभी संजय की रीढ़ की हड्डी में कंपन के समान उतर जाती थी। वह मनुष्य की आँखों से खोपे उतार-कर उस की नज़र से चमत्कार की कल्पना करके देखना चाहता था। पर यह सारी कल्पना कभी किसी बादल के छोटे-से घेरे में सिमटकर रह जाती थी, कभी

हवाओं में हाथ-पाँव मारते हुए सारे आसमान पर फैल जाती थी और कभी केवल उस की आँखों से बरसकर धरती पर बिखर जाती थी...

मन कभी-कभी बहुत थक जाता था। संजय यह भी सोचता था—वह चुपचाप घास के एक टुकड़े पर धूप की भाँति पड़ा रहे और फिर उम्र की संध्या के समय चुपचाप वहाँ से उठकर चला जाये...पर फिर उस की अपनी धूप ही चमत्कारी हो जाती थी...गुज़रती हुई हवा से, या उड़ते हुए पक्षी की चोंच से, गिरा हुआ बीज भी उस की धूप के नीचे उग जाता था और फिर काग़ज़-क़लम लेकर बैठ जाता था...

रोटी-रोज़ी के लिए वह कई छापेखानों में प्रूफ़-रीडिंग करता था। यह मज़दूरी पृष्ठों के हिसाब से होती थी, जो कई दिन लगातार करने के बाद वह कई दिनों के लिए छोड़ देता था—जब कभी कुछ लिखने के लिए या यूँ ही कुछ पढ़ने के लिए, वह घर बैठकर अपने पल्ले से रोटी खा सकता हो।

वह प्रूफ़ प्राय: घटिया पुस्तकों के हुआ करते थे, पर कभी-कभी किसी बढ़िया पुस्तक के भी होते थे, जिन की मात्राएँ ठीक करते हुए वह प्राय: मन में सोचा करता था—चलो, बैठ जाओ, यार संजय ! जिन अक्षरों का कल क़त्ल होना है या जिन अक्षरों को कल इन्सान का भविष्य क़त्ल करना है, उन्हें सँवार-बनाकर रख दो !

उस के मन की इस दशा का, और किसी को नहीं, एक प्रेस के एक मशीनमैन को कुछ पता था। वह कभी-कभी हँसकर कहा करता था—संजय साहब ! यह सारा दु:ख इल्म का है। न कुछ जानो, न दुखी हो। मुझे देखिये, मुझे पता ही नहीं, मैं रोज़ क्या छापता हूँ, बस इतना ही पता है कि मुझे सभी अक्षरों के मुँह पर एक जैसी स्याही पोतनी है...

संजय हँस दिया करता था, कहता—अच्छा, यार करीम ! यह बताओ कि यह ढंग तुम ने ख़ुदा से सीखा या ख़ुदा ने तुम से ? जैसे तुम रोज़ किताबें बनाते हो, यह पता ही नहीं कि क्या बना दिया, उसी तरह ख़ुदा भी रोज़ आदमी बनाता है और उसे पता ही नहीं कि वह क्या बना रहा है...

करीम भी हँस दिया करता था—फिर ख़ुदा भी शायद मशीनमैन ही होगा।

पिछले तीन महीनों से करीम के शब्दों में 'संजय साहब लापता' थे। वह जब भी दस दिन या पन्द्रह दिन नहीं आता था तो प्रेस की कोई आवश्यकता पड़ने पर करीम उसे लापता होने का फ़तवा दिया करता था। इस बार तो संजय ने अपना नॉवेल लिखने में पूरे तीन महीने लापता होने में गुज़ार दिये थे। सो, आज जब संजय अपने नॉवेल की फ़ाइल को अपनी मेज़ की दराज में रखकर रोटी-रोज़ी की फ़िक्र में प्रेस आया तो उसे देखते ही करीम हँसने लगा—संजय साहब ! इन तीन महीनों में ख़ुदा ने तो पता नहीं कितने आदमी बनाये हैं, लेकिन

लेकिन मैं ने एक किताब की अस्सी हज़ार कापियाँ छापी हैं...

—अस्सी हज़ार ?—संजय को किताब के लेखक से ईर्ष्या-सी हुई, पूछा—उस महान् लेखक का मुझे नाम तो बता दो।

करीम ने कान के पास होकर कहा—लेखक-लूखक कोई नहीं जी, स्कूल की किताब थी, ऐसे ही पुरानी-धुरानी कहानियों को इकट्ठा करके बनायी हुई। पर भेद की बात कुछ और है...

—वह क्या ?—संजय ने कुछ बेदिली से पूछा।

—यहाँ बताने की नहीं जी। दीवार के पीछे मालिक बैठा हुआ है। आप काम का पता कर लें, छह बजने वाले हैं, फिर हम बाहर ढाबे पर जाकर चाय पियेंगे।

काम बहुत नहीं था, लेकिन बत्तीस पृष्ठों के प्रूफ़ मिल गये और सवेरे दस बजे देने का इक़रार करके संजय ने प्रूफ़ ले लिये, वह करीम को साथ लेकर बाहर चाय के ढाबे की ओर आया, लेकिन आज न जाने क्या करण था, चाय की दुकान बन्द थी।

संजय का अपना कमरा इस प्रेस से बहुत दूर नहीं था, इस लिए संजय ने कहा—यार करीम ! मैं ढाबे की चाय से अच्छी चाय बना सकता हूँ। चलो, आज तुम मेरे हाथ की बनी हुई चाय पिओ।

कमरे में आकर संजय ने प्रूफ़ मेज़ पर रखकर स्टोव जलाया।

करीम हँसने लगा—देखो न साहब, लेखक तो ऐसे होते हैं, ख़ुद लिखते हैं, ख़ुद पढ़ते हैं, और ख़ुद ही उठकर आग में फूँकें मारते हैं। किताबों की मलाई तो और लोग ही खाते हैं।

—यार ! स्कूलों में लगने वाली सरकारी किताबें तो इस से भी ज्यादा गिनती में छपती हैं...

करीम बीच में ही बोल उठा—मैं वह बात नहीं कर रहा हूँ, जी। मैं तो अफ़सरों की बात कर रहा हूँ। सरकारी ऑर्डर तो बाद में शुरू हुआ। अफ़सरों ने अस्सी हज़ार पहले ही छापकर रख लीं और अन्दरख़ाने बेच भी दीं। वह तो काग़ज़ों पर चढ़ी ही नहीं।

संजय कोई पल भर के लिए चुप रह गया, फिर उसने कहा—प्रेस के मालिक को मालूम है ?

—लो जी !—करीम हँसने लगा—प्रेस में तो पत्ता न हिले उस की मर्ज़ी के बिना, यह तो अस्सी हज़ार किताबों के काग़ज़ हिलते रहे...

—छपनी तो उस की मर्ज़ी से ही थी, पर यह ऑर्डर सरकारी नहीं था, यह भी उसे मालूम था ?

—आप किस दुनिया में रहते हो, संजय साहब ?

संजय हँसने लगा—यार करीम ! सचमुच ख़बर नहीं किस दुनिया में रहता हूँ...

—यह तो जी दुकान वालों को भी पता है, जिन्हें किताब बेचनी होती है...

—पर इस सारे...सारे...

—आख़िर, जी, और भी सौ बिल होते हैं जो सबको अफ़सरों से ही पास करवाने होते हैं। वह भी अपनी ग़रज़ को सब कुछ करते हैं और चुप रहते हैं।

संजय के होंठों पर हँसी सूख गयी, बोला—कभी कोई किताबों का यह इतिहास भी लिखेगा ?

करीम चाय पीते हुए फिर हँसने लगा—यह तो जी बड़ी लम्बी बातें हैं। भले ही होती तो हैं मालिक के कमरे में ही, पर कभी-कभी हमारे कानों में भी पड़ जाती हैं। यह जो दूसरी किताबों की सरकारी ख़रीद होती है, आप को पता है किस तरह होती है ?

—किस तरह ?

—वह भी जो पैसे चढ़ाये, उस की होती है और साथ ही कई तो अफ़सरों की अपनी लिखी हुई होती हैं, पर छपती हैं उन की घरवालियों के नाम से। बेचारी घरवाली चाहे सात जमाअतें ही पढ़ी हुई हो, पर वह साइंस की किताब लिखती है। ऐसे भेद तो हम चेहरा देखकर ही बूझ लेते हैं...

संजय का चेहरा बुझ-सा गया, इस लिए करीम ने बात बदलते हुए कहा—आप कहिये, तीन महीने कहाँ रहे ?

—एक नॉवेल लिखता रहा।

—नॉवेल ? फिर तो बात हुई न। क्या नाम रखा है ?

संजय ने करीम के मुख की ओर देखा, कोई मिनट-भर चुप रहा, फिर उत्तर दिया—सोने का दाँत !

—सोने का दाँत ? यह भी नाम ख़ूब है। किताब छपने के लिए दे दी ?

—नहीं, कोई डॉक्टर रोज़ेनथाल ढूँढ़ना पड़ेगा। छापने के लिए...

—यह जी कोई खोज की किताब है, दाँतों के बारे में ?

संजय हँसने लगा—यार ! यही समझ लो। भई, दाँत में जो सोना जड़ा हुआ हो, तो उस दाँत को कैसे तोड़ते हैं...

करीम की समझ में कुछ नहीं आया, लेकिन वह संजय को हँसते देखकर ख़ुद हँसने लगा...

—सच, करीम यार ! तुम कभी-कभी बहुत अच्छा गाते हो। एक दिन दोपहर की छुट्टी में वहाँ प्रेस में ही तुम गा रहे थे...

करीम को अपनी उदासी से बचाने के लिए संजय अपने नॉवेल की बात को वहीं छोड़ देना चाहता था। कोई और बात सोच रहा था कि करीम की वह हूक-

सी आवाज़ याद आ गयी जब एक दिन प्रेस में वर्करों को छोड़ और कोई नहीं था और उस दिन खाने की छुट्टी के समय सब करीम के गिर्द इकट्ठे हो गये थे...

करीम लहर में आ गया, कहने लगा—देखो जी ! मैं ने अलिफ़ बे से आगे नहीं पढ़ा है, पर बचपन में भी मिर्ज़ा साहिबाँ की वह धुन अलापता था कि गाँव का गाँव इकट्ठा हो जाया करता था। काफ़ियाँ, सद्दे, सह-र्हफ़ियाँ...सब गा लेता था। पर शहर आकर जी जैसे मन ही मर गया...पूरा-पूरा क़िस्सा मुझे मुँहज़बानी याद हुआ करता था...

—लेकिन याद की सलेट पर से सब कुछ ही तो नहीं धुल जाता...

—अब तो जी सलेटें ही टूट गयी हैं। मन की बात आज तक किसी से कभी कही नहीं, आज आप को बता दूँ...भई, मन तो फ़क़ीर हो जाने को करता था। चाहता था सूफ़ी हो जाऊँ और नाचूँ-गाऊँ...

आज का करीम संजय ने पहले नहीं देखा था। आज वह बड़ी रूह वाला आदमी दिखाई दे रहा था। संजय ने मुसकराकर पूछा—क्यों करीम मियाँ ! यह भी राँझे की तरह जोग का स्वाँग करने वाली बात थी या कुछ और ?

—आधी-थोड़ी वह भी थी। करीम हँसने लगा।

—चलो, पूरा न सही, तुम ने, आधा राँझा बनकर तो देख लिया।—संजय ने मसखरी की रौ में कहा।

लेकिन करीम के मन में वैराग की धुन आ गयी, बोला—मैं तो सारा ही बनने को तैयार था, पर उधर हीर ही आधी थी। पर जी, मैं उस का क़सूर भी नहीं मानता, क़सूर तो सारा शिया और सुन्नी होने का था।

—यार, यह महज़ब...और एक-एक महज़ब की भी कई-कई फाँकें...

—तभी तो मन कहता था—ऐ मियाँ करीम क़ादिर ! और कुछ नहीं तो बुल्हेशाह हो जाओ और ज़ोर-ज़ोर से गाओ कि 'धर्म साल धड़वाई वसदे'[1]...

—ऐसे नहीं यार, आवाज़ लगाकर सुनाओ !

संजय ने कहा तो जोश में आये हुए करीम ने कानों पर हाथ रखकर आवाज़ उठाई :

धर्मसाल धड़वाई वसदे, ठाकुरद्वारे ठग्ग
विच्च मसीत कुमीते रहिंदे, आशक़ रहन अलग्ग
ओह भट्ठ निमाज़ाँ चिक्कड़ रोज़े, कलमे फिर गयी स्याही
बुल्हेशाह शहु अन्दरों मिलिया भुल्ली फिरे लुकाई[2]...

---

1. धर्मशाला में लुटेरे बसते हैं।
2. धर्मशाला में लुटेरे बसते हैं, ठाकुरद्वारे में ठग,
मस्जिद में बेढंगे रहते हैं, आशिक़ अलग रहते हैं।
भाड़ में जायें नमाज़ें, कीचड़ में रोज़े, कलमे पर स्याही पुत गयी,
बुल्हेशाह को शाह (ईश्वर) अन्तर में मिला, दुनिया भटकती फिरती है।

संजय करीम की आवाज़ पर भी झूम गया, और बुल्हेशाह के बोलों पर भी। कहने लगा—करीम मियाँ ! तुम्हारा बुल्हेशाह यह बात कैसे इतने ज़ोरों से कह गया ? इसे तो आज भी कहना-सुनना मुश्किल है ?

—क्या बात करते हो जी बुल्हेशाह की !—करीम ने एक गहरी साँस ली और बोला···मेरे अब्बाजी की दो भतीजियाँ थीं, उन के एक बड़े जिगरी दोस्त की बेटियाँ। दोनों यतीम हो गयीं तो अब्बाजी को उन्हें किसी ठिकाने लगाना था, सो मेरी नाक में ही नकेलें डाल दीं। नहीं तो, ख़ुदा की क़सम, मैं तो फ़क़ीर बनने को फिर रहा था, एक दिन बुल्हेशाह बन ही जाता।

संजय ने हैरान होकर पूछा—दोनों ?

करीम हँसने लगा—शुक्र करो जी दो ही थीं। पाँच होतीं तो मेरी पाँचों नमाज़ें हो जातीं।

संजय करीम की ज़िन्दादिली पर खुलकर हँस पड़ा, बोला—नहीं, यार करीम ! पाँच तो नहीं हो सकती थीं।

—क्यों जी, हो क्यों नहीं सकती थीं ?—करीम ने हिसाब लगाया और कहा—बस, इतनी ही बात का फ़र्क़ रह जाता कि भई बड़ी अगर सोलह बरस की होती तो सब से छोटी सात-आठ साल की होती...फिर उसे चाहे मैं शक्कर-पारे खिलाकर बहलाता रहता...

संजय ने हँसकर करीम के कन्धे को हिलाया—यार ! तुम अच्छे मुसलमान हो। तुम्हें यह भी याद नहीं रहा कि चार से ज़्यादा निकाह तो तुम कर ही नहीं सकते थे।

करीम हँसने लगा—यह बात आप ने ठीक कही है जी। पाँचवें निकाह के वक़्त पहली को तलाक़ देना पड़ता—और करीम ने घड़ी की ओर देखा, कहा—आज मन तो बहुत लगा है, जाने को जी नहीं करता, पर अब मैं चलता हूँ। घर जाकर दो नमाज़ें पढ़नी हैं।

—तो दोनों बेगमें साथ रहती हैं ?—संजय ने करीम से पूछा। वह उठने को होते हुए भी उठा नहीं, कहने लगा—और जी, मैं ने क्या उन्हें अलग-अलग महल बनवाकर देने हैं ? दोनों ने मिलकर मेरा जो मक़बरा बनाया हुआ है, बस, बाल-बच्चों को लेकर उसी मक़बरे में रहती हैं।

संजय ने एक सिगरेट सुलगाते हुए कहा—करीम मियाँ ! तुम सिगरेट तो पीते नहीं, मैं जानता हूँ। कुछ दारू-शारू पियोगे ?

करीम ने कोई एक मिनट सोचा, फिर कहा—कभी घूँट लगा लेता हूँ, पर फिर सही। अभी रास्ते में चावल-शावल लेने हैं, घर पर ख़त्म हो चुके हैं। नहीं तो पहुँचते ही दोनों...

करीम जाने के लिए उठ खड़ा हो गया तो संजय ने हँसकर उस से कहा—

तो आज पुलाव पकेगा ?

करीम भी हँसने लगा—देखो ! घर पहुँचते ही दोनों पुलाव पकाकर खिलाती हैं या रोज़ा ही रखवाती हैं...

—अच्छा, करीम मियाँ ! आज तुम से मिलकर बहुत अच्छा लगा।—संजय ने कहा और करीम को नीचे तक छोड़ आने के लिए दरवाज़े की ओर बढ़ा। लेकिन करीम दरवाज़े से इधर ही था, कहने लगा—जी करता है, जाते-जाते बुल्हेशाह की एक तुक और गाता जाऊँ।

संजय दरवाज़े से इधर आ गया। फिर दीवान पर बैठने लगा था कि करीम ने कहा—नहीं दोस्त, बैठो नहीं। मैं बैठ गया तो फिर मुझे बुल्हेशाह ही आकर उठायेगा।

और उस ने खड़े-खड़े ही आवाज़ लगायी :

चल बुल्हेया चल ओत्थे चल्लिए जित्थे सारे अन्हें,
ना कोई साडी ज़ात पछाणे, ना कोई सानूँ मन्ने...[1]

करीम इस बन्द को दूसरी बार गाकर जल्दी से सीढ़ियाँ उतरने लगा जैसे अगर वह और ठहर गया तो न जाने कितनी देर ठहर जायेगा...

वह चला गया, पर उस की आवाज़ कितनी ही देर तक वहीं कमरे में ठहरी रही···संजय उस आवाज़ के जादू में लिपटा चुपचाप दीवान पर बैठा रहा...

कमरे में अँधेरा-सा हो गया था जिस समय एक गहरे साँस के साथ संजय के मुँह से निकला—यार बुल्हेशाह ! और कहाँ जाओगे। यहीं रहो हमारी दुनिया में, यहाँ तुम्हें कौन पहचानता है ? तुम ने यह बात तब कही होगी जब लोग आँख वाले होते होंगे...

---

1. चलो बुल्हेशाह ! वहाँ चलें जहाँ सभी अन्धे हों,
जहाँ न कोई हमारी जाति पहचाने, न कोई हमें मानें···

यह मार्च का महीना था। जिन प्रकाशकों को 'बल्क परचेज़' के सरकारी ऑर्डर मिले थे, उन्हें वह इकतीस मार्च तक सप्लाई करने थे। कई प्रकाशकों के पास ऐसी कुछ किताबें थोड़ी गिनती में थीं जिन की ज्यादा कॉपियों के ऑर्डर मिले थे। इसलिए बहुत-सी किताबें प्रेसों में थीं, और संजय के पास प्रूफ़ देखने का काम बहुत बढ़ गया था।

आधी-आधी रात तक, बिजली की रोशनी में, प्रूफ़ देखने के कारण संजय की आँखों के गिर्द काले-से घेरे उभर आये थे, इतने कि एक दिन जब करीम वाले प्रेस में एक फ़रमा मशीन पर चढ़ने से रुका हुआ था, और संजय के पास प्रूफ़ों को घर ले जाकर देखने का समय नहीं था, वह वहीं बरामदे में एक स्टूल पर बैठकर प्रूफ़ देख रहा था, तो करीम ने चाय का प्याला मँगवाकर उस के सामने रखते हुए कहा—ये प्रूफ़ तो आँखों के दुश्मन होते हैं, संजय साहब ! ज्यादा काम हाथ में मत लीजिये, बाद में चारपाई पर पड़ जायेंगे।

संजय हंस दिया—यार ! अच्छा है फिर, चारपाई पर पड़कर आराम से अपनी मनचाही किताबें पढ़ूंगा। काम का बस यही एक महीना है, फिर चार महीने तो जैसे छुट्टी हो जायेगी। फिर कहीं अगस्त में जाकर काम शुरू होगा, जब स्कूलों-कॉलेजों के लिए ख़रीद शुरू होगी।

संजय ने कह दिया, लेकिन सिर्फ़ ज़बान हिली, आँखें और सिर पत्थर हुए पड़े थे। मशीन पर चढ़नेवाले फ़रमे के प्रूफ़ ख़त्म करके, संजय ने बाक़ी गेली-प्रूफ़ एक लिफ़ाफ़े में डाल लिये और उठते हुए उस ने पूछा—इस वक़्त साढ़े ग्यारह बजे हैं, अगला फ़रमा कितने बजे छपेगा ?

प्रेस के मालिक ने जल्दी से कहा—नहीं जी, यह काम ख़त्म करके जाइये। बस, पहला छपते ही दूसरा मशीन पर चढ़ा देंगे।

करीम सुन रहा था। मालिक की बात में वह कभी दख़ल नहीं देता था, लेकिन आज वह रह न सका, बोल उठा—छोटी मशीन है जी, चार-चार पन्ने छपेंगे, यह फ़रमा चार बार मशीन पर चढ़ेगा, इसे छपते-छपते तो शाम के पाँच बज जायेंगे।

मालिक जानता था, बड़ी मशीन कल से ख़राब है, और करीम ठीक कह रहा है, तब भी बोला—फिर भी तीन-साढ़े तीन तक तो हमें फ़रमा तैयार मिलना चाहिए। ग़लतियाँ लगाने में भी एक घंटा लग जाता है।

और कोई दिन होता, संजय वहीं बैठकर अगले सोलह पृष्ठ पढ़ देता, पर आज उस की थकी हुई आँखें अक्षरों पर से फिसल-फिसल पड़ती थीं, इस लिए लिफ़ाफ़ा लेकर उठते हुए उस ने कहा—ठीक है, मैं तीन बजे आकर प्रूफ़ दे आऊँगा।

अपने कमरे में पहुँचकर संजय ने आँखों को कई बार पानी से धोया, फिर कोई आधे घण्टे के लिए आँखें मीचकर दीवान पर लेटने लगा ही था कि उस के कमरे के दरवाज़े पर खटका हुआ।

संजय ने दरवाज़ा खोला, सामने कमला थी। उस रात के बाद पहली बार आयी थी। संजय ने कुछ हैरान होकर उस की ओर देखा। वह उस रात की पतझड़ के पत्ते जैसी कमला नहीं थी।

—मुझे दस रुपये चाहिए, नयी किताबें ख़रीदनी हैं।—कमला ने कहा, लेकिन ऐसे जैसे अधिकार से कहा हो, ऐसे जैसे 'अब कभी किसी के कमरे में इस तरह नहीं जाऊँगी' का वचन पूरा करने के बाद ज़रूरत के पैसे लेने को अपना अधिकार समझा हो।

आज वह गुनाह मुक्त थी...

संजय को एक सूखी टहनी में से एक हरे पत्ते के निकलने जैसा एहसास हुआ। उस ने जेब से दस रुपये निकालकर देते हुए कहा—कमला! मुझे बहुत अच्छा लगेगा अगर तुम पढ़ लो।

कमला में न जाने कब के कौन-से संस्कार थे, उस ने दस रुपये का नोट लेकर गुरु के चरणों में प्रणाम करने की मुद्रा में अपने हाथ संजय के पैरों की ओर झुकाये, फिर चुपचाप सीढ़ियों से नीचे उतर गयी।

संजय को वह रात याद आ गयी जब वह खिड़की में खड़े होकर चौकीदार की खँडहरों की ओर जाती हुई लालटेन को देखता रहा था, और कमला अपने कमरे की ओर जाते हुए इमारत की दीवार से सटकर अँधेरे का सहारा लेती रही थी...

—आज वही लड़की है—संजय का मन मुसकरा उठा—जो दिन के उजाले में हँसकर आयी है, हँसकर गयी है।—उस दिन और आज के दिन के बीच का फ़ासला वह कैसे तय कर गयी है—यह सोचते हुए संजय को लगा, उस की सारी थकान उतर गयी है...

वह दीवान पर आँखें मीचकर लेटने की जगह प्रूफ़ देखने लगा...

संजय ने प्रूफ़ देखे, चौकीदार से पास के होटल से खाना मँगवाकर खाया, तब भी देखा—अभी तीन बजने में पूरा एक घण्टा बाक़ी है। वह निश्चिन्त-सा

दीवान पर लेटकर ऐंथनी क्विन की आत्मकथा पढ़ने लगा...

कीर्ति के शिखर पर खड़ा हुआ ऐंथनी...शहर की अमीर-रूपवान् स्त्रियाँ उसे दावतों पर निमन्त्रित कर रही हैं...शहर में उस की कई फ़िल्में एक साथ प्रदर्शित की जा रही हैं...शहर की एक छह मंज़िल की इमारत उस की अपनी सम्पत्ति...हर मंज़िल के कमरे सजे हुए—बुतों से, महँगी किताबों से...

और अचानक—थियेटर की स्टेज पर खड़े हुए ऐंथनी की आवाज़ उस के गले में जम गयी..घबराकर डॉक्टरों को बुलाया गया...लेकिन कहीं कोई मर्ज़ पकड़ में नहीं आ रहा था...

और फिर एक आवाज़, सिर्फ़ एक आवाज़ कहती है—गले की नाड़ी पर या तो ऐसा कुछ उभर आया है जो दिखाई नहीं देता...या...या...

वह आवाज़ ऐंथनी के कानों में कहती है—या कोई एक झूठ तुम्हारे गले में फँस गया है...

संजय चौंक उठा—किताब के अक्षरों में से उभरते हुए ऐंथनी क्विन के चेहरे की ओर देखने लगा...

चेहरा अभी भी मुसकरा रहा है···न जाने, शून्य में कहाँ देख रहा है, सोच रहा है—झूठ तो शायद एक हज़ार होंगे, लेकिन वह कौन-सा है जो मेरे गले में फँस गया है ? वह, जिस ने अचानक मुझे अपाहिज-सा बना दिया है...

और ऐंथनी क्विन अपने उस एक झूठ को ढूँढ़ने के लिए अपने जन्म से लेकर सारी उम्र की यादों को टटोलता है...

—यार ऐंथनी !—संजय धीरे से कहता है, और क़दम से क़दम मिलाकर ऐंथनी के साथ चल पड़ता है...

चलते-चलते न जाने किस समय चेतना की ठोकर-सी संजय को लगी, और संजय ने घबराकर घड़ी की ओर देखा—चार बजने वाले थे।

वह जल्दी से उठा, मेज़ पर से प्रूफ़ उठाये और नीचे ड्योढ़ी से साइकिल...

संजय ने प्रेस जाकर प्रूफ़ दिये। पहला फ़रमा अभी करीम की मशीन पर था। संजय ने इत्मीनान से देखा कि उस से जो थोड़ी-सी देर हो गयी थी, वह देर में शामिल नहीं थी। सुर्ख़रू-सा महसूस करता हुआ घर लौटने लगा ही था कि प्रेस के मालिक ने कहा—आज ज़रा तकलीफ़ करो, संजय साहब ! फ़ाइनल प्रूफ़ भी देखते जाओ। मुझे कोई एक घंटे के लिए बाहर जाना है।

तीन कम्पोज़ीटर संजय के लाये हुए प्रूफ़ों को जल्दी से सामने रखकर, एक-एक निशान को देखकर ग़लतियाँ भी ठीक करने लगे, और उन के पृष्ठ भी बाँधने लगे। संजय साइकिल को एक ओर टिकाकर, फ़ाइनल प्रूफ़ देखने के लिए रुक गया। प्रेस का मालिक जेब से कार की चाभी निकालते हुए करीम के पास जाकर कहने लगा—करीम मियाँ ! आज दूसरा फ़रमा भी छप जाये तो अच्छा है...

—देख लो ! पाँच-साढ़े पाँच से पहले दूसरा फ़रमा मशीन पर नहीं चढ़ सकता।—करीम माथे से धाराओं की तरह बहते हुए पसीने को पोंछते हुए हँस-सा दिया...

—अच्छा, देखो ! मैं अभी आता हूँ। मेरे आने पर जाना। ऐसे ही छह बजे मत चले जाना। कल तो बड़ी मशीन चालू हो जायेगी।

—आप वह मशीन चालू करवाइये, मैं सवेरे नौ बजे आकर जितना काम कहेंगे निकाल दूँगा।

—इसी लिए तो आ रहा हूँ। इन जर्मन मशीनों का एक पुर्ज़ा टूट जाये, मुसीबत आ जाती है। न यहाँ मिलता है, न यहाँ किसी से बन पाता है। मैं तभी तो कहता था, उस मशीन को बड़ी एहतियात से चलाया करो।

जब प्रेस का मालिक यह कहकर कुछ खीझा हुआ-सा बराबर गैरेज में रखी हुई कार को निकालकर, छोटी गली की दुकानों के फट्टों से कार को बचाता, बाहर चला गया, तब सारे कम्पोज़ीटर करीम की ओर देखकर मुस्कराये। उन्हें शायद आज से पाँच दिन पहले का वह वक़्त याद आ गया जब बड़ी मशीन का पुर्ज़ा टूट जाने से मशीन खड़ी हो गयी थी, तब प्रेस का मालिक करीम की ओर इस तरह घूरकर देखने लगा था, जैसे करीम को ख़ुद पुर्ज़ा बनकर अभी उस मशीन में लग जाना चाहिए।

करीम कम्पोज़ीटरों की ओर देखते हुए मुसकराकर संजय की ओर देखने लगा—संजय साहब ! आप-हम से तो जर्मन मशीन का पुर्ज़ा अच्छा होता है। हम तो मर भी जायें, तब भी काम न रुके...

एक कम्पोज़ीटर पन्ने बाँधते हुए हर पंक्ति के नीचे सिक्के के लेड डाल रहा था, एक उसी तरह हाथ में लिये करीम के पास आया, और हँसने लगा—करीम मियाँ ! मज़ देखना है तो कल जब मशीन चालू हो उस का पुर्ज़ा ख़ुद तोड़ देना।

करीम ने स्याही पुते हाथ का एक मुक्का उस कम्पोज़ीटर की पीठ पर मारा—मशीन का पुर्ज़ा तो बाद में तोड़ूँगा, पहले तेरा एक पुर्ज़ा तोड़ दूँ—और करीम हँसने लगा। फिर दरवाज़े के पास स्टूल पर बैठे हुए संजय की ओर देखते हुए कहने लगा—यह देखा, संजय साहब ! यह बड़ा नक्सलवादी क्या भाषण दे रहा है !

संजय ने कहा कुछ नहीं, मुसकरा दिया। उस गाँव से आये हुए आदमी की आवाज़ ज़ेहन में घूम गयी—विद्रोह यहाँ से उठता है जी, छाती में से, आग की लपट की तरह।

और संजय के होंठों पर वही अपना विचार जम गया···विद्रोह तो गलों में घुटा हुआ है, और वहाँ रोटी के हस्ताक्षर चाहिए...

अगले फ़रमे के जो पृष्ठ तैयार हो जाते, कम्पोज़ीटर उस के प्रूफ़ निकाल देते और संजय पहले प्रूफ़ों पर लगाये हुए एक-एक निशान की दुरुस्ती को दूसरे प्रूफ़ों पर देख लेता। ये फ़ाइनल प्रूफ़ अकसर प्रेस का मालिक ख़ुद देखा करता था। कभी संयोग से संजय वहाँ बैठा होता था तो वह देख देता था। यह मिनटों में देख लिये जाते थे, लेकिन पहले चार पन्नों के बाद आगे के चार पन्नों के बीच का समय ख़ाली बैठकर प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।

कोई और दिन होता तो यह ख़ाली समय संजय को अखर जाता, लेकिन आज प्रेस का मालिक सिर पर नहीं था, इस लिए सब कम्पोज़ीटर काम करते हुए भी बातों की रौ में थे। संजय को उन की बातें छपने वाली किताब से बहुत ज़्यादा दिलचस्प लग रही थीं...

—यह गीली पिसाई तो ख़त्म होती ही नहीं।—दूर खड़ा हुआ एक कम्पोज़ीटर मैटर कम्पोज़ करते हुए कह रहा था—न पैरा ख़त्म होता है, न पिसाई ख़त्म होती है।

—यह तो भाड़े के लेखकों को आप ही कम्पोज़ करना चाहिए। दूर खड़ा हुआ एक कम्पोज़ीटर यह कहकर हँसने लगा—

—आप बच गये, संजय साहब ! अगर आप को ऐसी गीली पिसाई के प्रूफ़ देखने पड़ें तो आप चौथे दिन तौबा कर देंगे...पता नहीं लगता कि बात कहाँ से शुरू होती है और कहाँ ख़त्म होती है।—एक कम्पोज़ीटर ने कहा जो संजय के पास बैठा हुआ था, तो संजय मुस्करा दिया, बोला—यार ! मैं भी तो भाड़े का प्रूफ़रीडर हूँ।

—वह भाड़े वाली बात और है जी।—उस ने उत्तर दिया और एक भेद खोलने के ढंग से कहने लगा—एक तो लेखक होते हैं जी, एक अनुवादक होते हैं, वह तो ठीक हुए, पर एक और होते हैं जी भाड़े के...वह चवन्नी पन्ना लेते हैं, और मैटरों को एक भाषा से घसीटकर दूसरी में कर देते हैं और मैटर के हाथ-पैर ही टूट जाते हैं...

संजय को कम्पोज़ीटरों की इस बुद्धि पर आश्चर्य हुआ, पूछा—आब जब कम्पोज़ करते हैं, आप का ध्यान सिर्फ़ अक्षरों पर नहीं, बात में भी रहता है ?

—लो, क्यों नहीं जी !—एक कम्पोज़ीटर जो संजय से काफ़ी दूरी पर खड़ा हुआ था, बिस्तार से बताने लगा लेकिन बराबर के कमरे में चलने वाली मशीन की आवाज़ में उस की आवाज़ साफ़ सुनाई नहीं दे रही थी, इस लिए वह कम्पोज़ीटर जो संजय के पास बैठा हुआ मैटर के पन्ने बाँध रहा था, बताने लगा—कहानी बढ़िया हो तो जी हमसे भी मैटर मिनटों में तैयार हो आता है, ध्यान बात में बँध जाता है तो गलतियाँ भी कम होती हैं और मैटर भी झट से ख़त्म हो जाता है...पर यह जो सरकारी दफ़्तरों का मैटर होता है, एक तो यह हर रोज़

एक ही तरह का होता है, जिसे देखकर ही हम ऊब जाते हैं...और दूसरा, यह होता है, अंग्रेज़ी से पंजाबी या हिन्दी में किया हुआ और वह भी जिन्हें काम मिलता है वह तो करते नहीं, औरों में चवन्नी पन्ने के हिसाब से करवा के दफ़्तरों के गले मढ़ देते हैं; ख़ुद तो बस दस्तख़त करके पैसे ही बटोरते हैं।

संजय को भाड़े वाली बात पूरी तरह स्पष्ट हुई तो पूछने लगा—और जो लोग क़लम की ठेकेदारी करते हैं उन्हें एक पन्ने के कितने पैसे मिलते हैं?

—वह भी हमें पता है जी।—वह कम्पोज़ीटर बताने लगा—किसी दफ़्तर से तो पच्चीस रुपये मिलते हैं एक हज़ार शब्दों के और किसी-किसी से चालीस भी मिल जाते हैं।

संजय मन में हिसाब-सा लगाने लगा—अगर पारिश्रमिक अच्छा मिले तो अनुवाद बहुत-से मेहनती लोगों के लिए एक पेशा बन सकता है। लेकिन—संजय का यह हिसाब-किताब बीच में ही रह गया; वह कम्पोज़ीटर बताने लगा—पर जी यह ठेका लेने के भी ख़ास तरीक़े होते हैं, ठेके के माल में से ऊपर भी कुछ चढ़ाना पड़ता है, और नहीं तो हाथ तो जोड़ने ही पड़ते हैं। कई अफ़सर तो जी यह ठेका प्रेस वालों को ही दे देते हैं, वह जो भी किताबें छपवाते हैं उन में एक पत्ती प्रेस की भी होती है, साथ ही उन्हें यह मौज—न एक अक्षर पढ़ना न लिखना, और पत्ती मिल ही जायेगी। और साथ ही अफ़सरों की मौज, वह भी रातोंरात किताबें छपवाकर लेखकों में नाम लिखा लेते हैं।

अचानक बातें रुक गयीं। कोई बाहर का आदमी प्रेस के मालिक को पूछता हुआ पास आकर खड़ा हो गया। प्रेस का मालिक दफ़्तर में नहीं था, इस लिए वह वापस जाने लगा तो उस की निगाह संजय पर पड़ गयी—हैलो संजय!

संजय ने देखा, पहचाना—वह हंसराज मदान था, अकादमी का एक कर्मचारी जो कभी-कभी शौक़िया नज़्में भी लिखा करता था। मामूली-सी जान-पहचान थी, लेकिन मदान ने तपाक से हाथ मिलाया तो संजय उस के बैठने के लिए कमरे से कुर्सी ले आया।

—यहाँ कोई नया उपन्यास छप रहा है? मदान ने कुर्सी पर बैठते हुए पूछा।

संजय हँस-सा दिया—नहीं, उपन्यास छपते हुए देख रहा हूँ...

—कोई नया उपन्यास नहीं लिखा?—मदान ने स्वाभाविक-सा प्रश्न किया। किसी लेखक से मिलने पर यही पूछा जा सकता है, सो उस ने पूछ लिया। पर देखा—संजय के मुख पर उत्तर में एक छाया-सी आयी और चली गयी, इस लिए बात बदलते हुए बोला—आप का पहला उपन्यास मैं ने दो बार पढ़ा था।

बाक़ी प्रूफ़ संजय के सामने मेज़ पर आ गये, इस लिए संजय कुछ भी कहने के बजाय प्रूफ़ देखने लगा।

मदान उठा नहीं, उसी तरह चुपचाप कुर्सी पर बैठा रहा। संजय ने प्रूफ़ देख-कर काग़ज़ कम्पोज़ीटर को लौटा दिये, तो मदान की ओर देखकर मुस्करा-सा दिया—मैं प्रूफ़ बहुत अच्छे देखता हूँ।

मदान भी उत्तर में मुसकरा दिया, फिर कुछ झिझकते हुए उस ने कहा—काम ख़त्म हो गया? आइये, बाहर चलें, यहाँ बहुत गर्मी है।

संजय का काम ख़त्म हो गया था, उसे जाना ही था। इस लिए भीतर मशीन वाले कमरे के पास होकर उस ने एक बार करीम से कहा—अच्छा, करीम मियाँ! मैं चलता हूँ। शायद सवेरे आऊँ। और बाहर अपनी साइकिल की ओर बढ़ा। पर देखा—मदान उस की प्रतीक्षा में बरामदे के बाहर खड़ा है। इस लिए संजय ने साइकिल नहीं ली। मदान के साथ बाहर गली में चाय के ढाबे की ओर चल दिया।

गली से लगी हुई एक लम्बी दीवार थी, ख़ाली, जो कमेटी ने कार पार्क के लिए नियत की हुई थी। मदान गली की ओर मुड़ने की बजाय संजय को साथ लिये उस लम्बी दीवार के साथ-साथ चलते हुए जब प्रेस से कुछ दूर आ गया, तो एक जगह पर रुक गया।

संजय को लगा—वह कोई बात करना चाहता है, इस लिए वहाँ दीवार के पास खड़े होकर बोला—कहिये।

—आप का उपन्यास मुझे बहुत अच्छा लगा था। मदान ने धीमे स्वर में कहा, लेकिन ऐसे जैसे वह यह बात नहीं, कोई और बात कहना चाहता हो।

संजय ने असली बात की प्रतीक्षा में केवल उस की ओर देखा, कहा कुछ नहीं।

—संजय साहब!—मदान की आवाज़ में फिर झिझक आ गयी, लेकिन साथ ही बात को एक बार कहकर ख़त्म कर देने का निश्चय-सा भी। उस ने पूछा—आप अकादमी का अवार्ड चाहते हैं? लेकिन इतनी जल्दी क्यों? अभी आप को बहुत कुछ लिखना है।

—मैं?—संजय का यह एक ही शब्द एक लम्बे आश्चर्य की भाँति पूरी दीवार पर फैल गया।

मदान ने संजय के चेहरे पर आया हुआ एक तनाव देखा, इस लिए उस ने बात को हलकी रौ में डालते हुए कहा—शायद यह बात आप ने किसी से हँसी में ही कही हो, लेकिन ऐसी बात बड़ी दूर तक फैल जाती है।

संजय को लगा, बात कुछ गंभीर है, इस लिए उस ने कुछ कहने की आव-श्यकता समझी। कहा—आप ने अभी कहा था कि आप ने मेरा उपन्यास पढ़ा है। मेरा विचार है कि आप ने मुझे उस में कुछ पहचाना भी होगा। आप ख़ुद बताइये कि क्या मैं वैसा सोच सकता हूँ?

संजय ने कहना चाहा कि मुझे दुनिया से कुछ लेना नहीं है। सिर्फ़ जो अपने पास है, विचारों के रूप में, वह देना है...लेकिन यह बात अपने मुँह से कहना संजय को कठिन लगा, इस लिए इसे नहीं कहा।

मदान ने ये शब्द संजय के मुँह से तो नहीं सुने, लेकिन इन का प्रभाव-सा समझ लिया, इस लिए कहने लगा—अगर मेरा भी यही विचार न होता तो मैं आप से यह बात कैसे करता ? लेकिन यह बात किसी ने बहुत दूर तक फैला दी है।

—किस ने ?—संजय ने सीधा प्रश्न किया।

मदान को सीधा उत्तर देना कठिन प्रतीत हुआ, लेकिन उस ने कहा—आप अकादमी के सिद्धांतों को जानते हैं कि अगर कोई लेखक अपने सम्बन्ध में किसी से सिफ़ारिश करवाये, या वोटें माँगे तो वह...। मदान से बात पूरी नहीं कही जा सकी, लेकिन संजय ने उसे पूरा कर दिया—वह ब्लैक लिस्ट कर दिया जाता है।

—हाँ।—मदन ने धीरे से सिर्फ़ इतना ही कहा।

संजय के होंठ अपनी ही हँसी से छिल गये। बोला—सो, मैं ब्लैक लिस्ट हो रहा हूँ...

—मुझे इस बात की तकलीफ़ हुई थी, इसी लिए मुझ से रहा नहीं गया। आप को देखा तो मैं ने बता दिया।—मदान के भले-से चेहरे पर संजय के लिए एक अपनत्व आया, और उस के मन की व्यथा के साथ मुँह पर कुछ पिघलकर आ गया, कहने लगा—पर वह सब कुछ मुँहज़बानी कहा जा रहा है, किसी के पास लिखत में कोई सबूत नहीं...यह हो नहीं सकेगा।

संजय मुस्कराया—ब्लैक या ह्वाइट एक ही बात है। मैं किसी लिस्ट में न हूँ, न होऊँगा।

संजय पीछे मुड़ने लगा था, जिस समय मदान ने कहा—प्लीज़ संजय ! आप ए० सी० मेहरा या किसी के सामने मेरा नाम मत लीजियेगा कि यह बात आप को मैं ने बतायी है।—तो संजय के पीछे को मुड़ते हुए पैर हैरान-से खड़े हो गये और फिर अचानक उस की ज़ोर की हँसी निकल गयी—सच मदान साहब ! आज मैं ने अपनी ज़िन्दगी का सब से बड़ा मज़ाक़ सुना है।

मदान भी संजय की हँसी से कुछ सहज-सा हो गया, उस ने कहा—वैसे तो कई बार बातें फैलती रहती हैं, पर आप का कोई मेहरबान...

अब संजय को किसी मेहरबान के नाम के बारे में कोई भ्रम नहीं रह गया था, इस लिए उस ने कहा—लेकिन मेहरा कहता क्या है ?

—यही कि संजय ने उसे एक हज़ार रुपया देने को कहा है, अगर वह...

दूर आकाश तक, जहाँ तक संजय की दृष्टि जाती थी, एक हिकारत फैल

मदान उठा नहीं, उसी तरह चुपचाप कुर्सी पर बैठा रहा। संजय ने प्रूफ़ देख-कर काग़ज़ कम्पोज़ीटर को लौटा दिये, तो मदान की ओर देखकर मुस्करा-सा दिया—मैं प्रूफ़ बहुत अच्छे देखता हूँ।

मदान भी उत्तर में मुसकरा दिया, फिर कुछ झिझकते हुए उस ने कहा—काम ख़त्म हो गया ? आइये, बाहर चलें, यहाँ बहुत गर्मी है।

संजय का काम ख़त्म हो गया था, उसे जाना ही था। इस लिए भीतर मशीन वाले कमरे के पास होकर उस ने एक बार करीम से कहा—अच्छा, करीम मियाँ ! मैं चलता हूँ। शायद सवेरे आऊँ। और बाहर अपनी साइकिल की ओर बढ़ा। पर देखा—मदान उस की प्रतीक्षा में बरामदे के बाहर खड़ा है। इस लिए संजय ने साइकिल नहीं ली। मदान के साथ बाहर गली में चाय के ढाबे की ओर चल दिया।

गली से लगी हुई एक लम्बी दीवार थी, ख़ाली, जो कमेटी ने कार पार्क के लिए नियत की हुई थी। मदान गली की ओर मुड़ने की बजाय संजय को साथ लिये उस लम्बी दीवार के साथ-साथ चलते हुए जब प्रेस से कुछ दूर आ गया, तो एक जगह पर रुक गया।

संजय को लगा—वह कोई बात करना चाहता है, इस लिए वहाँ दीवार के पास खड़े होकर बोला—कहिये।

—आप का उपन्यास मुझे बहुत अच्छा लगा था। मदान ने धीमे स्वर में कहा, लेकिन ऐसे जैसे वह यह बात नहीं, कोई और बात कहना चाहता हो।

संजय ने असली बात की प्रतीक्षा में केवल उस की ओर देखा, कहा कुछ नहीं।

—संजय साहब !—मदान की आवाज़ में फिर झिझक आ गयी, लेकिन साथ ही बात को एक बार कहकर ख़त्म कर देने का निश्चय-सा भी। उस ने पूछा—आप अकादमी का अवार्ड चाहते हैं ? लेकिन इतनी जल्दी क्यों ? अभी आप को बहुत कुछ लिखना है।

—मैं ?—संजय का यह एक ही शब्द एक लम्बे आश्चर्य की भाँति पूरी दीवार पर फैल गया।

मदान ने संजय के चेहरे पर आया हुआ एक तनाव देखा, इस लिए उस ने बात को हलकी रौ में डालते हुए कहा—शायद यह बात आप ने किसी से हँसी में ही कही हो, लेकिन ऐसी बात बड़ी दूर तक फैल जाती है।

संजय को लगा, बात कुछ गंभीर है, इस लिए उस ने कुछ कहने की आव-श्यकता समझी। कहा—आप ने अभी कहा था कि आप ने मेरा उपन्यास पढ़ा है। मेरा विचार है कि आप ने मुझे उस में कुछ पहचाना भी होगा। आप ख़ुद बताइये कि क्या मैं वैसा सोच सकता हूँ ?

संजय ने कहना चाहा कि मुझे दुनिया से कुछ लेना नहीं है। सिर्फ़ जो अपने पास है, विचारों के रूप में, वह देना है...लेकिन यह बात अपने मुँह से कहना संजय को कठिन लगा, इस लिए इसे नहीं कहा।

मदान ने ये शब्द संजय के मुँह से तो नहीं सुने, लेकिन इन का प्रभाव-सा समझ लिया, इस लिए कहने लगा—अगर मेरा भी यही विचार न होता तो मैं आप से यह बात कैसे करता ? लेकिन यह बात किसी ने बहुत दूर तक फैला दी है।

—किस ने ?—संजय ने सीधा प्रश्न किया।

मदान को सीधा उत्तर देना कठिन प्रतीत हुआ, लेकिन उस ने कहा—आप अकादमी के सिद्धांतों को जानते हैं कि अगर कोई लेखक अपने सम्बन्ध में किसी से सिफ़ारिश करवाये, या वोटें माँगे तो वह...। मदान से बात पूरी नहीं कही जा सकी, लेकिन संजय ने उसे पूरा कर दिया—वह ब्लैक लिस्ट कर दिया जाता है।

—हाँ।—मदन ने धीरे से सिर्फ़ इतना ही कहा।

संजय के होंठ अपनी ही हँसी से छिल गये। बोला—सो, मैं ब्लैक लिस्ट हो रहा हूँ...

—मुझे इस बात की तकलीफ़ हुई थी, इसी लिए मुझ से रहा नहीं गया। आप को देखा तो मैं ने बता दिया।—मदान के भले-से चेहरे पर संजय के लिए एक अपनत्व आया, और उस के मन की व्यथा के साथ मुँह पर कुछ पिघलकर आ गया, कहने लगा—पर वह सब कुछ मुँहज़बानी कहा जा रहा है, किसी के पास लिखत में कोई सबूत नहीं...यह हो नहीं सकेगा।

संजय मुस्कराया—ब्लैक या ह्वाइट एक ही बात है। मैं किसी लिस्ट में न हूँ, न होऊँगा।

संजय पीछे मुड़ने लगा था, जिस समय मदान ने कहा—प्लीज़ संजय ! आप ए० सी० मेहरा या किसी के सामने मेरा नाम मत लीजियेगा कि यह बात आप को मैं ने बतायी है।—तो संजय के पीछे को मुड़ते हुए पैर हैरान-से खड़े हो गये और फिर अचानक उस की ज़ोर की हँसी निकल गयी—सच मदान साहब ! आज मैं ने अपनी ज़िन्दगी का सब से बड़ा मज़ाक़ सुना है।

मदान भी संजय की हँसी से कुछ सहज-सा हो गया, उस ने कहा—वैसे तो कई बार बातें फैलती रहती हैं, पर आप का कोई मेहरबान...

अब संजय को किसी मेहरबान के नाम के बारे में कोई भ्रम नहीं रह गया था, इस लिए उस ने कहा—लेकिन मेहरा कहता क्या है ?

—यही कि संजय ने उसे एक हज़ार रुपया देने को कहा है, अगर वह...

दूर आकाश तक, जहाँ तक संजय की दृष्टि जाती थी, एक हिकारत फैल

गयी...

फिर वह दोनों दीवार के परले सिरे से वापस लौटे। बाहर के मोड़ के पास आकर मदान बाहर चला गया, और संजय अपनी साइकिल लेने के लिए प्रेस की ओर मुड़ गया।

प्रेस का मालिक अभी नहीं आया था, लेकिन छह बज चुके थे। सारे कम्पोज़ीटर पानी के चौबच्चे के पास खड़े हुए साबुन से हाथ धो रहे थे। संजय ने साइकिल ली, पर रहा नहीं गया, एक नज़र अन्दर करीम की ओर देखा जो सवेरे नौ बजे छपने वाले फ़रमे एक ओर रख रहा था...

करीम को देखकर इधर आ गया। पर संजय ने देखा अभी करीम को मैली चिकनी मशीनी वर्दी को उतारकर हाथ-पैर धोने हैं, कपड़े बदलने हैं, और शायद प्रेस के मालिक की प्रतीक्षा करके जाना है, इस लिए सिर्फ़ इतना कहा—करीम मियाँ ! थोड़ी देर के लिए मेरी तरफ़ आयेंगे ? आज...

'आज' शब्द संजय के होंठों में घुट-सा गया, शायद उस की कोई व्याख्या नहीं थी। केवल उस की एक चीस संजय के मुख पर लिख-सी गयी। करीम ने पूछा कुछ नहीं, केवल हाँ में सिर हिला दिया। संजय ने साइकिल को बाहर की गली की ओर मोड़ लिया।

घर जाने वाली सड़क पर आकर, कोई आधी सड़क गुज़र जाने के बाद, संजय का हाथ अनायास ब्रेक पर चला गया, और वह साइकिल को पीछे की ओर मोड़कर उस बाज़ार को चला गया जहाँ से कुछ रम या ह्विस्की मिल सकती थी।

आज पहली बार संजय को वह तलब महसूस हुई जो शायद सिर्फ़ बरसों के आदी को कभी तोड़ के समय होती है।

दुकान पर बहुत भीड़ थी। और कोई दिन होता तो संजय शायद यह देखकर ही लौट जाता, लेकिन आज...संजय को लगा, आज गले में कुछ अटका हुआ है, यह शायद सिर्फ़ शराब के घूँट से अन्दर उतार सकूँगा...

और वह भीड़ का एक अंग होकर भीड़ में खड़ा हो गया...

रम मिल गयी। उस ने साइकिल घर की तरफ़ लौटायी। पर गेट के पास पहुँचकर देखा—करीम गेट से लगा हुआ खड़ा है।

—बहुत देर लग गयी। मुझे डर था तुम कहीं वापस न चले जाओ।—संजय ने साइकिल से उतरते हुए कहा। लेकिन करीम हँसने लगा—संजय साहब ! अगर करीम को आज़माना था तो अच्छी तरह आज़माते, वह तो हश्र के दिन तक भी बैठा रहता...

संजय को लगा, करीम की एक ही बात ने उसे थाम लिया है। भीतर ड्योढ़ी में साइकिल को रखकर वह अपने कमरे की ओर की सीढ़ियाँ चढ़ा, और कमरे

का दरवाज़ा खोलते हुए कहने लगा—देखो, करीम मियाँ ! मैं जानता था, अगर तुम आ जाओगे तो संजय भी घर आ जायेगा।

—जनाब कहाँ गये थे जहाँ से आना मुश्किल था ?—करीम हँसने लगा।

—ज़रा दूर दुनिया में चला गया था, जहाँ से लौटने पर घर नहीं मिल रहा था।

संजय ने चाहे हँसकर ही जवाब दिया था, लेकिन करीम गम्भीर-सा हो गया, बोला—यह तो राज़ की बात है !

संजय ने दो गिलास धोये, रम की बोतल खोली, और ठंडे पानी की सुराही पास रखकर, दीवान पर करीम के पास बैठते हुए कहा—राज़ की बात नहीं, करीम यार ! बस, आज तुम्हारे साथ मिलकर बुल्हेशाह होने को जी कर रहा था...

करीम ने अपना रम का गिलास संजय के गिलास से टकराते हुए कहा—अच्छा जी, फिर आज का नशा अपने शाह इनायत के नाम पर पीते हैं...

संजय ने गिलास में से एक बड़ा-सा घूँट भरा, और पूछा—शाह इनायत कौन ?

—जिन्हें पीर मानकर बुल्हेशाह बुल्हेशाह बना था।—करीम ने बताया।

—अच्छा यह बताओ, मियाँ ! संजय ने एक सोच में उतरकर कहा—हीर का क़िस्सा तुमने पूरा पढ़ा है ?

करीम हँसने लगा—पढ़ा भी और कंठ भी किया।

—फिर बताओ, यार ! राँझा कौन था ?

संजय का प्रश्न करीम की समझ में नहीं आया। लेकिन बोला—राँझा वही आदमी था जिसे देखकर हीर को अल्लाह का दीदार हो गया।

—तुम पक्की तरह जानते हो ? तुम ने यह लिखा हुआ ख़ुद पढ़ा है ?—संजय ने पूछा तो करीम को लगा, रम के दो घूँट से संजय बहक गया है। संजय ज़ोर देकर फिर पूछ रहा था—यार करीम ! तुम ने तो मुश्किल से अलिफ़ बे तक पढ़ाई की है, हो सकता है पढ़ने में ग़लती हो गयी हो।

करीम सचमुच हकला-सा गया, कहने लगा—राँझे के नाम से तो जी आशिक़ों की ज़ात चली। भला किसी को उस का नाम भी भूल सकता है !

—देखो, करीम मियाँ !—संजय ने भारी, दिल में उतरने वाली, आवाज़ में कहा—क्या मालूम उस का नाम कैंदो हो...

करीम ने जैसे कानों पर हाथ रख लिये, कहा—जी किस का नाम ले दिया ! वह तो चुग़लख़ोर था, वही तो इधर की उधर करता था, इश्क का बैरी, आशिक़ों का भी...

संजय ने करीम के गिलास में भी और रम डाली, अपने गिलास में भी, और

कहा—मैं ने तो आज वही सुना था।

—किस से ?—करीम ने जैसे घबराकर पूछा।

—भई उन्हीं विद्वानों से, जिन से सरकारी अफ़सर बहुत-सी सलाह लेते हैं। संजय की आवाज़ गम्भीर थी, सोच में डूबी हुई, इस लिए करीम ज़ोर से हँसना चाहते हुए भी, हँस नहीं सका, बोला—फिर जो यह कहता है जी उसे कोई सराप लगा हुआ होगा।

संजय के होंठों पर कुछ फूल की भाँति खिल उठा, उस ने कहा—अच्छा, यह बताओ करीम मियाँ, क्या लोगों को किसी का दिया हुआ सराप सचमुच लगता है ?

—आजकल तो पता नहीं जी, पर अच्छे वक़्तों में लगा करता था।—करीम ने कहा। लेकिन आज का संजय उसे कोई और संजय लग रहा था।

संजय कुछ देर सोचता रहा, फिर बोला—मेरा ख़याल है कि आजकल भी लगता है, लेकिन एक फ़र्क़ है...

करीम ने कुछ नहीं कहा। वह सिर्फ़ संजय की ओर देखता रहा। संजय ने ही कहा—फ़र्क़ यह है कि आजकल इनसान को किसी का दिया हुआ नहीं अपना दिया हुआ सराप लगता है।

—वह कैसे जी ?—करीम ने कुछ सोच में पड़कर पूछा।

—वह ऐसे कि जब उसे कोई राँझा कैदो दिखाई देने लगता है।

अचानक करीम को लगा कि उस ने संजय के मन की कुछ थाह पा ली है। पूछा—वह जो आदमी आज प्रेस में आया था, जो आप को परे दीवार की तरफ़ ले जाकर बातें करता रहा था, क्या आप उस की बात कर रहे हैं ?

संजय को ख़याल नहीं था कि करीम दूर वहाँ तक देख लेगा, इस लिए एक साँस-सा भरकर चुपचाप दोनों गिलासों में और रम डालने लगा।

करीम ने अपना गिलास हटा लिया—नहीं जी, मुझे तो अपने हवास क़ायम रखने हैं। अभी घर जाकर दो नमाज़ें पढ़नी हैं।

नमाज़ की बात पर संजय हँसने लगा, लेकिन करीम नहीं हँसा। वह बोला—वह तो मैं उसी वक़्त कुछ-कुछ जान गया था जब आप ने आते हुए मुझ से घर आने के लिए कहा था।

—क्या जान गये थे ?

—यही कि किसी ने आप को कोई बुरी-भली बात बतायी होगी। आजकल लोग तोहमतें बहुत लगाते हैं।

संजय को लगा जैसे करीम इस तोहमत का कुछ भेदी है, पूछने लगा—किस बात पर तोहमतें लगाते हैं मुझ पर ?

करीम मुस्करा दिया, कहने लगा—फिर वही बात है, मैं समझ गया। आज

मैं भी कहूँ, भई मुझे आप की कोई भी बात क्यों समझ में नहीं आ रही है, अब समझा...

—क्या ?—अब संजय हैरान था, करीम हैरान नहीं था, उस ने कहा—मुझे यह बताइये, संजय साहब, कि कोई पागल कुत्ता उठकर राँझे को कैदो कह दे तो उस से राँझे का क्या बिगड़ता है ?

संजय ने गिलास परे रखकर हाथ को सलाम के अन्दाज़ में माथे से लगाया और मुँह से कहा—सलाम, मियाँ ! सच कह रहे हो, कुछ नहीं बिगड़ता।

—वही बात है न पाँच हज़ार वाली ?—करीम ने कहा, तो संजय एकटक उस के मुँह की ओर देखता रह गया, फिर पूछा—मुझ पर लगायी गयी यह तोहमत तुम्हारी सुनी हुई थी ?

करीम ने हँसकर उत्तर दिया—वह एक आदमी कभी-कभी आता है, वह मेहरा, उस ने ही यह बात निकाली थी कि भई आजकल संजय साहब उस के पीछे लगे हुए हैं...फिर कई लोगों ने प्रेस में बैठकर सुनायी...

—तुम ने मुझे क्यों नहीं बताया ?

—लो, डालो एक घूँट ! तो मैं पीकर ज़ोर से हँसूँ...

संजय ने करीम के गिलास में रम डाली, सुराही में से पानी डाला, और अपने लिए एक सिगरेट जलाते हुए उस की ओर देखने लगा।

करीम बोला—यह भी कोई मानने की बात थी, यानी आप उस की मिन्नतें कर रहे हैं, उस कुत्ते की दुम की। मैं ने तो बात सुनकर वहीं थूक दिया था।

संजय को इस समय करीम अपने से बड़ा लगा, जिस ने यह तोहमत सुनकर एक मिनट के लिए भी उदास होने का कष्ट नहीं किया। और संजय को अपनी आज की उदासी पर शरमिन्दगी आ गयी।

करीम ने अब उदासी की नब्ज़ पहचान ली थी, इस लिए उस की सारी फ़िक्र दूर हो गयी थी। उस ने गिलास से एक लम्बा घूँट भरा और कान पर हाथ रख-कर बुल्हेशाह की तुकें छेड़ दी :

तूँ आशक़ होइओं रब्ब दा, तैनूँ होई मुलामत लाख
तैनूँ काफ़र काफ़र आखदे, तूँ आहो आहो आख[1]

और संजय सचमुच वजूद में आ गया, अपने आप में आ गया...

ख़ूब अँधेरा हो चुका था, जिस समय करीम गया।

संजय वजूद में था, उसे लगा, दीवान पर जिस जगह करीम बैठा हुआ था, शायद करीम नहीं, ख़ुद बुल्हेशाह बैठा हुआ था, वह स्थान सदा के लिए रोशन हो गया।

---

1. जब तुम ख़ुदा के आशिक़ हो गये, तुम पर लाखों इलज़ाम लगे
लोग तुम्हें 'काफ़िर' 'काफ़िर' कहने लगे, तुम हाँ, हाँ कहते जाओ

संजय ने दीवान के सामने खड़े होकर एक तान लगायी :

ओ बुल्हेया ! तैनूँ काफ़िर आखदे, तूँ आहो-आहो आख...

संजय की तान में करीम की आवाज़ जैसा सोज़ नहीं था, सुर भी नहीं था, लेकिन दिल का कोई उफान था, उसे अपनी आवाज़ कानों को अच्छी लगी...

आज का जो झूठ उस ने सुना था, वह उस के गले में नहीं, लेकिन कानों में अड़ा हुआ था...और अब काफ़िर कहलाकर भी 'हाँ' कहने वाले बुल्हेशाह के बोल कानों में पड़े तो कानों में जो कुछ अड़ा हुआ था वह निकल गया...

संजय का तन-मन सहज हो गया, और उस ने आज दोपहर वाली ऐंथनी क्विन की किताब की ओर देखते हुए कहा—यार ऐंथनी ! सिर्फ़ तुम ने जाना था कि कोई झूठ गले में अड़ जाये तो क्या होता है। देखो ! कानों में भी अड़ जाये तो क्या हाल होता है...

अचानक संजय के गले में नहीं, कानों में भी नहीं, लेकिन आँखों में कुछ अड़ गया...

अभी डाकिया वह पत्रिका दे गया था, जिस में संजय की कहानी और तसवीर छपी थी। उस ने छपी हुई कहानी के कई पैरे पढ़े। कहानी अपनी ही लिखी हुई होती है, लेकिन यह शायद हर लिखने वाले की स्वाभाविक आदत होती है कि छपी हुई कहानी को वह स्वयं भी पढ़ता है—शायद इस लिए कि उस दिन वह लेखक से अधिक एक पाठक होता है...

कहानी के कई हिस्से उस के ज़ेहन से इस तरह टकराये कि उस की नज़र जब अपनी तसवीर पर पड़ी तो वह तसवीर किसी सात बरस के बच्चे की बन गयी...

—राहुल !—संजय के मुँह से घबराकर निकला। उस तसवीर वाले बच्चे को सम्बोधन करते हुए उस ने सीधे ही उस का नाम लेकर पुकारा, जैसे कहना

चाहता हो—यह क्या मज़ाक़ है ?

—मेरा नाम राहुल नहीं है।

—तुम्हारा नाम राहुल है, देखो...

—सिर्फ़ कहानी में लिखा हुआ...

—पर कहानी में बहुत कुछ फ़र्ज़ी होता है, सो, नाम भी...

—नहीं, कहानी फ़र्ज़ी नहीं है, सिर्फ़ नाम फ़र्ज़ी है...

—तुम्हारा नाम ? मुझे क्या पता तुम्हारा क्या नाम है...

—तुम जानते हो...

—नहीं, मैं ने यह किसी ख़ास बच्चे पर नहीं लिखी है, हर उस आम बच्चे पर लिखी है जो जायज़ बच्चा नहीं कहलाता है, जो अकेलापन और उदासी भोगता है...

—क्या कहा ?

—यही कि जो जायज़ बच्चा नहीं कहलाता...

—तुम वह बात क्यों नहीं कहते जो कहनी चाहिए...

—क्या ?

—कि जिस बच्चे को हरामी कहते हैं...

—एक ही बात है...

—नहीं, एक बात नहीं है।

—कैसे ?

—यह लफ़्ज़ एक ज़ख्म है, लहू से भरा हुआ ज़ख्म...तुम ने कहानी में ज़ख्म को दिखाया है, पर कपड़े में ढककर...

—तुम कौन हो ?

—वही सात बरस का बच्चा जिस का ज़िक्र तुम ने कहानी में किया है।

—राहुल !

—नही, मेरा नाम राहुल नहीं है।

—ऐसे उदास बच्चे बहुत होते हैं, सैकड़ों, शायद हज़ारों...

—होते होंगे।

—लेकिन किसी कहानी में हज़ारों नाम नहीं लिखे जा सकते। बात कहने के लिए एक नाम ही लिखना होता है।

—मैं ने कब कहा है कि तुम्हें हजारों नाम लिखने चाहिए थे।

—फिर एक नाम कुछ भी हो सकता था, राहुल भी, कुछ और भी...

—गोला कबूतर क्यों नहीं ?

—गोला कबूतर ?

—मेरी तरफ़ देखो !

और संजय ने आज कोई बीस बरस के बाद फिर देखा—वह ड्योढ़ी के फ़र्श पर, दीवार से सटकर, हाथ में कई रंग की चमकती हुई काँच की गोलियाँ लेकर खड़ा हुआ है...भूख से मुँह सूख रहा है। सवेरे स्कूल जाते समय तक खाना तैयार नहीं हुआ था, इस लिए माँ ने चार आने उस की मुट्ठी में थमा दिये थे कि वह स्कूल में आधी छुट्टी के समय कुछ खा ले। लेकिन उस ने कुछ भी नहीं खाया था, और स्कूल की दुकान से चार आने की काँच की गोलियाँ ख़रीदकर बस्ते में डाल ली थीं...लेकिन इस समय उसे भूख की याद नहीं थी...वह भूख से सूखा हुआ मुँह लिये हुए भी ख़ुश था...

—देखा ? तसवीर वाले बच्चे की आवाज़ आयी।

संजय ने आँखें झपककर तसवीर को देखा।

—तुम्हारा नाम गोला कबूतर किस ने रखा था ? बच्चे ने पूछा।

—शायद दाई ने...पर फिर सारा गाँव ही इस नाम से पुकारने लगा था।

—सारा गाँव ?

—हाँ, गाँव वाले भी इसी नाम से पुकारते थे, घर में भी सब...

—नहीं, घर में एक जना था जो तुम्हें इस नाम से कभी नहीं पुकारता था।

—हाँ, मेरा बड़ा भाई।

—वह तुम्हारा बड़ा भाई था, लेकिन सौतेला...उस का नाम क्या था ?

—पुरुषोत्तम।

—आज भी उस का नाम बताते हुए डर लगता है ?

—डर ?

—उसे गाँव वाले पहाड़ी कौआ कहते थे...

—हाँ, कहते थे, लेकिन वह तो मज़ाक़ था, सिर्फ़ इस लिए कि वह कुछ मोटा था, काला भी...लड़ाका भी...

—और तुम्हें गोला कबूतर कहते थे, क्योंकि तुम गोरे थे, बहुत सुन्दर थे, और शर्मीले-से भी...

—गाँव वाले इसी तरह शक्ल और स्वभाव से नाम गढ़ लेते हैं।

—लोग तुम दोनों को इन्हीं नामों से पुकारते थे, लेकिन तुम्हें याद है, तुम ने कभी उसे इस नाम से नहीं पुकारा, न उस ने तुम्हें...

—हाँ, मैं ने उसे पहाड़ी कौआ कभी नहीं कहा, न उस ने मुझे कभी गोला कबूतर कहा।

—क्यों ?

—पता नहीं।

—तुम्हें पता है, तुम उस से डरते थे, इस लिए नहीं कहते थे। और वह सिर्फ़ इस लिए नहीं कहता था कि वह तुम से नफ़रत करता था...

—शायद...लेकिन मैं उसे हमेशा पुरु भाई कहता था।

—और वह तुम्हें ?

—वह...वह कुछ भी नहीं।

—वह हमेशा तुम्हें हरामी कहता था ।

—हाँ...लेकिन वह तो सब को गालियाँ दिया करता था, पीठ पीछे अपने पिता को भी, अपने पिता को वह...

—बुड्ढा कंजर कहा करता था।

—असल में वह अपने पिता से नाराज़ था, क्योंकि उस की माँ के मरने के बाद उस के पिता ने दूसरा ब्याह कर लिया था।

—उस का पिता तुम्हारा पिता भी था, लेकिन जब वह उसे गाली देता था, तुम्हें ग़ुस्सा नहीं आता था ?...

—मुझे गालियाँ बहुत बुरी लगती हैं, लेकिन शायद ग़ुस्सा नहीं आता था...

—क्यों ?

—शायद इस लिए कि...

—वह अपने ही पिता को गालियाँ देता था, किसी और के पिता को नहीं...

—हाँ।

—सो, तुम अपने ही पिता को सिर्फ़ उस का पिता समझते थे, अपना पिता नहीं...

—वह सचमुच उसी का पिता ज्यादा था...

—पिता ज्यादा या कम भी होता है ?

—पता नहीं...लेकिन वह मुझे उसी का लगता था...

—क्योंकि मन में तुम ने कहीं विश्वास कर लिया था कि तुम...

—नहीं। मुझे पक्की तरह मालूम है कि मेरे पिता मेरी माँ को कहीं से निकालकर या ख़रीदकर नहीं लाये थे, ब्याह कर लाये थे, और मैं उसी तरह घर का एक बच्चा था जैसे वह पहला था...

—सो, उस दिन तुम ने भूखे रहकर काँच की गोलियाँ ख़रीदीं, उसे देने के लिए...

—पुरु बहुत दिनों से काँच की गोलियाँ ख़रीदने के लिए पैसे माँग रहा था, लेकिन उसे पैसे नहीं मिले थे...

—तुम ये गोलियाँ देकर उसे ख़ुश करना चाहते थे...

—हाँ।

—सो, तुम उसे रिश्वत देना चाहते थे...

—रिश्वत ? नहीं, मैं सिर्फ़ यह चाहता था कि वह मुझे कुछ प्यार करे...

—इसी लिए तुम उस के प्यार को ख़रीदने के लिए सारे दिन भूखे रहे... फिर ? वह ख़ुश हुआ था ?

—आज सत्ताईस बरस की उम्र में भी संजय की आँखों में पानी आ गया। बोला नहीं गया। उस ने मेज़ पर पड़ी हुई पत्रिका के पन्ने पलट दिये, वह तसवीर छिपा दी जिस में सात वर्ष का संजय कहानी की पंक्ति-पंक्ति में से निकलकर आ बैठा था...

लेकिन सात वर्ष की आयु का वह बच्चा जिस तरह कहानी की पंक्तियों में से निकलकर तसवीर में चला गया था, तसवीर में से निकलकर कमरे में आ गया...

संजय दीवान पर बैठते हुए चौंक गया...

—तुम मुझे देखना नहीं चाहते ? तुम्हें मेरी तसवीर अच्छी नहीं लगी ? बच्चे ने दीवान के सामने खड़े होकर पूछा।

—लेकिन अख़बार में मेरी तसवीर छपी है, तुम्हारी नहीं...

—सो, तुम चाहते हो मैं वहीं खड़ा रहूँ, दरवाज़े के पीछे, हाथ में रंगीन काँच की गोलियाँ लिये हुए ?

—तुम्हारी गोलियाँ उस ने ज़बरदस्ती छीन ली थीं, जब तुम ने मुट्ठी खोलकर उसे दिखायी थीं...

—और उस ने मुझे प्यार करने की जगह ज़ोर से थप्पड़ मारा था।

—तुम सोच रहे थे आज वह मुझे गोला कबूतर कहेगा...

—लेकिन उस ने कहा था, 'हरामी ! ये गोलियाँ कहाँ से ली हैं ?'

—और तुम दीवार से सटकर रोने लगे थे।

—मैं अभी तक उस दीवार के पास खड़ा हुआ हूँ।

—फिर यहाँ मेरे कमरे में कैसे आ गये ?

—तुम्हारी कहानी पढ़कर...मेरा मतलब है अपनी कहानी पढ़कर।

—लेकिन वह तुम्हारी कहानी नहीं है, वह एक ग़ैर-क़ानूनी बच्चे की कहानी है...तुम ने अपने-आप को ग़ैर-क़ानूनी कैसे समझ लिया है ?

—मैं नहीं, तुम समझते हो अभी तक।

—नहीं, मैं नहीं समझता।

—तुम्हें वह दिन याद है जिस दिन तुम्हारी माँ ने खुम्बियाँ पकाई थीं ? तब तुम मुश्किल से पाँच बरस के थे।

—मुझे वह सब्ज़ी बहुत अच्छी लगी थी।

—लेकिन उस दिन खाना खाते समय तुम्हारे पिता ने क्या कहा था?

—उन्होंने मुझ से कहा था कि अगर आज तम्हारी दादी जीवित होती, तो वह चौके में रोटी नहीं खातीं।

—फिर?

—मैं ने पूछा था—क्यों? तो उन्होंने बताया था कि खुम्बियाँ हराम की उपज होती हैं, हिन्दू लोग इन्हें चौके में नहीं ले जाते...

—फिर?

—मैं हँसने लगा था, मैं ने कहा था—मुझे बहुत स्वाद लगी हैं।—और मैं ने माँ से कहा था—माँ, तुम यह हराम की भाजी रोज़ बनाया करो।

—फिर?

—पिताजी भी हँसने लगे थे। लेकिन फिर उन्होंने खाना खाते समय मुझ से पूछा था—कबूतर! तुम जानते हो हराम का क्या होता है?—मैं ने कहा था—नहीं, तो उन्होंने बताया था—खुम्बियों के बीज कोई नहीं बीजता, यह ससुरी अपने-आप उग जाती हैं, इस लिए हराम की होती हैं...बीज तो पिता होता है, इन का कोई पिता नहीं होता।

—सो, उस दिन तुम ने जाना कि हराम का बच्चा क्या होता है।

—हाँ, उसी दिन, लेकिन खाना खा चुकने के बाद, जब पिताजी ने मुझे मूढ़े से उठाकर अपनी गोद में उठा लिया था, और प्यार करते-करते उन्होंने माँ से कहा था—यह गोरा खुम्बी जैसा लड़का तुम कहाँ से ले आयी थीं?

—लेकिन तुम ने अभी कहा था कि तुम्हारे पिता सिर्फ़ अपने बड़े पुत्र को प्यार करते थे, तुम्हें नहीं...

—मैं ने यह नहीं कहा था। मैं ने सिर्फ़ यह कहा था कि वह मुझे पुरु के पिता लगते थे, अपने नहीं।

—लेकिन क्यों?

—क्यों कि मैं गोरा था, खुम्बी की तरह, और मेरी माँ मुझे खुम्बी की तरह कहीं से ले आयी थी।

—फिर?

—मैं गुस्से में पिताजी की गोदी से उतर गया था, और दौड़कर माँ की टाँग से चिपट गया था।

—तुम आज भी यह सोचते हो कि वह पिता तुम्हारा पिता नहीं था?

—नहीं। लेकिन तब मैं बहुत छोटा था, मैं इस मज़ाक़ को समझा नहीं था।

—लेकिन तुम जानते हो—वह पाँच बरस का गोला कबूतर आज भी माँ की टाँग से सटकर खड़ा हुआ है?

—यह कैसे हो सकता है ? माँ तो अब जीवित नहीं है।

—इस से क्या फ़र्क़ पड़ता है, वह बच्चा भी तो अब पाँच बरस का नहीं है।

संजय ने पत्रिका को फिर हाथ में उठा लिया। इस बार उस की नज़र बाक़ी पन्नों पर भी गुज़री, देखा—ए० सी० मेहरा का एक लेख है, जिस में गालियों जैसे शब्दों में उस के पहले उपन्यास की आलोचना की गयी है। संजय ने पढ़ा और फिर एक गहरा साँस लेकर पत्रिका परे रख दी।

वह कितनी देर कमरे की ख़ाली दीवारों को देखता रहा फिर लगा—सचमुच सारी दुनिया से डरा हुआ एक बच्चा माँ की टाँग से चिपककर खड़ा हुआ है...और एक भूखा बच्चा हाथ में काँच की गोलियों की रिश्वत लेकर एक दीवार से लगा खड़ा हुआ है, और गोलियों के बदले वह किसी से थोड़ा-सा प्यार माँग रहा है।

अपनी आँखें ही अपने अन्दर उतर गयीं, मुँह से निकला—यार संजय ! तुम्हें आज भी यह राष्ट्र, मज़हब, समाज अपना नहीं लगता, तुम किसी से लड़ते नहीं, सिर्फ़ चुपचाप...

और माँ शब्द की जगह संजय की आँखों के सामने 'क़लम' खड़ी हो गयी। लगा, जैसे आज वह मेहरा के झूठ के सामने कुछ नहीं बोला, वह कभी किसी ज़ुल्म के सामने नहीं बोलेगा, उसे यह सारा जहान अजनबी लगता है, वह इस से लड़ेगा नहीं, वह सिर्फ़ चुपचाप और उदास...

लगा—क़लम शायद माँ का प्रतीक बन गयी है, और वह सिर्फ़ डरकर उस के पास खड़ा हुआ है...

और लगा—समय शायद सौतेले पुरु के समान है, जिसे ख़ुश करने के लिए वह भूखा रहकर भी उपन्यासों और कहानियों की गोलियाँ इकट्ठी कर रहा है, पर जो कोई पुरु उस के हाथों से छीन लेता है और उसे थप्पड़ मारकर उसे गालियाँ भी देता है...

लगा—वह समय से कभी नहीं लड़ेगा, जब कोई पुरु उस का रोटी का अधिकार छीनेगा, वह चुप रहेगा। जब कोई मेहरा उस के माथे पर इलज़ाम लगायेगा, वह चुप रहेगा। जब कोई समाज उसे गुमनामी या बदनामी देगा, वह चुप रहेगा। जब कोई सरकार उस के जीवन का अधिकार छीनेगी, वह चुप रहेगा...

नज़र कमरे की दीवीरों की ओर उठ गयी—दीवारों पर चेहरे ही चेहरे थे...जितनी किताबें थीं, उतने ही चेहरे—वाल्मीकि का भी, कालिदास का भी, और पूर्व से लेकर पश्चिम तक फैले हुए असंख्य चेहरे जो पुस्तकों के पृष्ठों से निकलकर बाहर संजय की दीवारों पर आ गये थे...

और संजय को लगा, उस का अपना चेहरा भी दीवार पर जाकर असंख्य

चेहरों में मिल गया है...

लगा, वह अकेला नहीं है, न चुप है। उस के अपने हाथों में वही हथियार है जो रामायण लिखते समय वाल्मीकि के हाथों में था।

उस ने यह जाना कि अक्षरों के हथियार किसी और के नहीं, अपने लहू में डुबोने होते हैं और समय से शायद वही हथियार जूझते हैं जो अपने लहू में डूबे होते हैं...

संजय ने एक प्यार की नज़र से सारे चेहरों की ओर देखा—अपने चेहरे की ओर भी।

लगा—समय ने हर चेहरे को हर काल मे काफ़िर कहा है, और हर चेहरे ने प्रतिक्रिया में बुल्हेशाह की भाँति 'हाँ' कहा है। यह 'हाँ' एक बहुत बड़ी शक्ति है, बहुत बड़ा विद्रोह ..

और संजय को लगा, उस दिन जब करीम ने बुल्हेशाह का कलाम गाया था यह 'हाँ' बुल्हेशाह की थी, उस ने सिर्फ़ उसे सुना था, आज यह उस के अपने होंठों पर आ गयी है—उस की अपनी शक्ति बनकर, उस का अपना विद्रोह बनकर...

चौकीदार ने दरवाज़े पर खड़का नहीं किया, ऐसे जैसे दरवाज़े को तोड़ा हो...

कमरे का दरवाज़ा खोलते हुए संजय के माथे पर त्योरी-सी उभर आयी।

चौकीदार का साँस चढ़ा हुआ था। बोला—साब ! नीचे आइये, जल्दी... उधर बगीचे में, वह ऊपर की मंज़िल वाली गिर गयी हैं...वहीं बागीचे में टहल रही थीं, चलते-चलते गिर गयीं...

—तो बहादुर ! ऊपर जाकर बोलो। उन के घर के लोगों से...

—ऊपर ताला पड़ा हुआ है, साब ! कोई भी तो नहीं है उधर, सब फ़्लैट का सब मर्द लोग काम पर चला गया...

यह सवेरे का लगभग साढ़े दस बजे का समय था। संजय को ख़याल

आया—वह सचमुच दिन के समय, इतवार को छोड़कर, सारी इमारत में अकेला मर्द रह जाता है और ऐसे समय में घबराया हुआ चौकीदार और किसे बुला सकता है ? पर तब भी संजय झिझका, बोला—उन के घर में कोई भी नहीं है इस वक्त ?—लेकिन साथ ही सीढ़ियाँ उतरने लगा...

चौकीदार पीछे-पीछे सीढ़ियाँ उतरते हुए कह रहा था—साब ! वह अकेली तो रहती हैं, बस उन के साथ एक नानी-माँ हैं, जो हर रोज़ इस समय बाहर जाती हैं साग-भाजी ख़रीदने...रोज़ देखता हूँ...

संजय ने जल्दी से क़दम उठाते हुए इमारत के पिछवाड़े की ओर पहुँचकर पूरे बाग़ीचे में दृष्टि घुमायी, लेकिन उसे कहीं कोई गिरा हुआ नहीं दिखाई दिया। उस ने पीछे आने वाले चौकीदार की ओर सवालिया नज़र से देखा।

—वह साब...वह...।—चौकीदार आगे को हुआ और केले के एक बड़े-से झुण्ड की ओर बढ़ा।

लम्बे-लम्बे केलों के पेड़ों वाले हिस्से की तरफ़ संजय ने पहले भी देखा था, एक जगह एक पेड़ के पास कुछ दिखाई भी दिया था, लेकिन ऐसे जैसे बड़े-बड़े पत्तों का एक तना गिरा हुआ हो।

संजय ने आगे बढ़कर बेहोश पड़ी हुई औरत की नब्ज़ देखी, होंठों के पास हथेली रखकर हलके-हलके आ रहे साँस को छुआ और फिर चौकीदार से पानी लाने के लिए कहा।

चौकीदार की कोठरी बाग़ीचे से लगी हुई थी, वह दौड़कर एक लोटा भरकर ले आया।

पानी के छींटे पड़ने से औरत की बाँहें हिलीं, दायाँ हाथ अपने मुँह की ओर बढ़ा, गीले मुँह को पोंछता-सा—और वह चौंककर टिकी हुई-सी दृष्टि से संजय की ओर देखते हुए, फिर अपने इर्द-गिर्द देखने लगी, जैसे अचानक उस की समझ में न आ रहा हो कि वह कहाँ है...

फिर शायद चौकीदार को देखकर उस की पहचान लौट आयी, और पैरों पर धोती को, जो ऊँची-सी हो गयी थी, हाथ से ठीक करते हुए उठने लगी। लेकिन शायद लगा कि शरीर बेजान-सा है, वह केले के तने का सहारा-सा लेकर बैठ गयी...

उस का चेहरा बहुत कोमल और पीला-सा था। शरीर पर कच्चे हरे रंग की धोती थी। संजय को आश्चर्य हुआ—यहाँ कहीं कोई गिरने की जगह नहीं, शायद वह गिरी नहीं थी। फिर उसे क्या हुआ था ? लेकिन इस से ज्यादा उसे अपने ऊपर आश्चर्य हुआ कि उसे वहाँ पड़े देखकर भी उसे केले के तने का ख़याल क्यों आया था ? शायद इस लिए कि उस की धोती उसे केले के पत्तों जैसी दिखाई दी थी और उस का चेहरा केले के पीले फल जैसा...

औरत ने फिर उठने की कोशिश की, और कुछ काँपते हुए, केले के तने का सहारा लेकर खड़ी हो गयी...

—आप शायद डर गयी थीं, मुझे लगता है मैं ने आप की चीख़ सुनी थी।—चौकीदार ने कहा तो औरत मुस्करा-सी दी, बोली—हाँ, लगता है डर गयी थी...अब ठीक हूँ...

संजय ने हाथ से सहारा देना चाहा, पर औरत ने लिया नहीं, धीरे-धीरे चलकर इमारत की ओर लौटने लगी।

संजय ने अभी तक कुछ पूछा नहीं था, अब सिर्फ़ इतना पूछा—सीढ़ियाँ चढ़ सकेंगी ?

—हाँ।—औरत की आवाज़ में एक हलीमी थी, लेकिन आँखों में उस से भी अधिक हलीमी आ गयी—शायद ख़ामख़ाह किसी को तकलीफ़ देने के ख़याल से और उस ने एक संकोच से संजय की ओर देखा।

नीचे की मंज़िल की खिड़कियों से एक-दो औरतों ने बाहर की ओर देखा, लेकिन कोई बाहर नहीं आयी। उस ने सीढ़ियाँ चढ़ते हुए चौकीदार से पूछा—नानी-माँ बाहर गयी थीं, आ गयीं ?

—अभी कहाँ, ऊपर तो ताला पड़ा है, तभी तो संजय साहब को बुलाकर लाया था।—चौकीदार ने कहा, तो औरत ने चौंककर संजय की ओर देखा।

—किसी चीज़ की ज़रूरत हो...डॉक्टर की...या किसी भी चीज़ की...।—संजय ने उस से सीढ़ियाँ चढ़ते हुए पूछा।

औरत ने शायद यह बात सुनी नहीं, कहा—आप संजय हैं...

शब्दों में प्रश्न-सा था, लेकिन ऐसे जैसे कुछ पूछने के लिए न हो, सिर्फ़ याद में से उठी हुई एक पहचान-सी हो...

पहली मंज़िल की सीढ़ियाँ ख़त्म हो गयी थीं, लेकिन औरत की दूसरी सीढ़ियाँ चढ़ने की हिम्मत भी ख़त्म हो गयी थी। वह दूसरी सीढ़ियों के सिरे पर खड़े होकर सुस्ताने लगी।

यहाँ सीढ़ियों के सिरे के पास बायीं ओर संजय का कमरा था। संजय को आश्चर्य तो हुआ कि औरत ने न जाने कौन-सी पहचान के कारण उस का नाम दोहराया था, लेकिन उस ने कुछ पूछा नहीं, सिर्फ़ इतना कहा—अगर सीढ़ियाँ चढ़ना मुश्किल है तो कुछ देर मेरे कमरे में बैठ जाइये।

उस ने 'नहीं' नहीं की, इस लिए संजय ने जल्दी से आगे बढ़कर कमरे का आधा भिड़ा हुआ-सा दरवाज़ा खोल दिया। वह कमरे की ओर आयी, लेकिन दहलीज़ के पास रुक-सी गयी जैसे कमरे में बैठने के लिए नहीं, केवल एक नज़र कमरे को देखने के लिए आयी हो।

बोली—अपनी कोई किताब देंगे एक दिन के लिए, अपनी लिखी हुई...

संजय ने एक आश्चर्य से उस की ओर देखा, कहा—मेरा ख़याल था इस सारी इमारत में कोई नहीं जानता कि मैं कुछ लिखता हूँ।

संजय ने रैक पर पड़ी हुई वह पत्रिका उठायी, जिस में उस की नयी कहानी छपी थी और वही देते हुए कहने लगा—क्या सिर्फ़ पढ़ने वाले को लेखक का नाम मालूम होना चाहिए ? लेखक को पढ़ने वाले का नहीं ?

—आप का नाम क्या है ?

—मीता।—औरत ने कहा और अचानक उस के चेहरे पर लाली फिर गयी।

केले के काँपते हुए पत्ते की भाँति संजय को अपने शरीर में कंपन का अनुभव हुआ। अपने ऊपर फिर आश्चर्य हुआ कि अभी एक पल पहले जब उस औरत के चेहर पर लाली-सी आयी है तो मुझे फिर केले के उस फूल का एहसास क्यों हुआ है जो केवल पीला नहीं होता, उस में पतली लाल धारियाँ भी होती हैं...

—मैं रोज़ ममतू से कहा करती थी, उस जमादार लड़के से, कि मुझे आप के पास से आप की कोई किताब ला दे।—मीता ने कहा तो संजय को हँसी आ गयी, पूछा—यह मेरे लिखने-लिखाने की बात उस ने कही थी ?

—हाँ, पहले दिन ही, जब पिछले इतवार को वह नीचे से मेरी चीज़ें उठाकर ऊपर ला रहा था। कुछ किताबें भी थीं। और उस ने किताबों को देखकर ही कहा था कि यहाँ दूसरी मंज़िल पर वह साहब रहते हैं जो किताबें लिखते हैं...उस से ही मैं ने आप का नाम सुना था।

—वह मेरा बायोग्राफ़र है।—संजय ने ऐसी गंभीरता से कहा जैसे कोई बड़ी भेद की बात बतायी हो।—मीता खिलखिलाकर हँस पड़ी।

संजय ने अभी तक उस से यह नहीं पूछा था कि नीचे बाग़ीचे में उसे अचानक कोई चोट लग गयी थी या क्या हुआ था, लेकिन अब उसे हँसते हुए देखकर एक अपनत्व का अनुभव हुआ। कुछ चिन्ता के साथ पूछा—मीता ! नीचे बाग़ीचे में क्या हुआ था ?

मीता धीरे से कमरे में आकर दीवान के कोने पर बैठ गयी, कुछ देर चुप रही, फिर उस ने कहा—और किसी को शायद नहीं बता सकती, कोई नहीं समझेगा। आपने वहाँ केलों की परली तरफ़ जहाँ बुगनवेलिया है, वहाँ एक चीज़ देखी थी ?

—नहीं...क्या थी ?

मीता कुछ कहने जा रही थी, लेकिन कुछ झेंप-सी गयी, चुप हो गयी।

—मुझे ख़याल नहीं है कि मैं ने कुछ देखा था। क्या था वहाँ ?

मीता का मुख छाया के रंग का हो गया। उस ने एक गहरा साँस भरा, फिर अपने ऊपर हँसते हुए कहने लगी—वहाँ किसी ने एक चूहेदान रखा हुआ था। मुझे ख़ुद नहीं मालूम हुआ कि इतने ज़ोर से मेरी चीख़ क्यों निकल गयी...सिर्फ़

इतना याद है, लगा था कि किसी ने फूलों को चूहों की तरह पकड़ने के लिए यह पिंजरा रखा हुआ है...

संजय उस के मुख की ओर देखता रह गया...

—है न मेरा पागलपन...

संजय से बोला न गया।

सीढ़ियों पर किसी के गुज़रने की आवाज़ आयी, मीता ने बाहर की ओर देखा, फिर आवाज़ दी—नानी-माँ!

नानी-माँ ऊपर की सीढ़ी पर रखा हुआ पैर फिर नीचे रखते हुए, आवाज़ की दिशा पर कमरे की ओर मुड़ी और कहने लगीं—तू ठीक है? नीचे बहादुर ने मुझे बताया कि तू...

—अब ठीक हूँ।—मीता ने कहा और दीवान से उठकर खड़ी हो गयी।

आख़िर संजय की ख़ामोशी उस की अपनी आवाज़ से हिली, मुँह से निकला—यार ख़लील जिब्रान! तुम ने एक दिन कहा था कि मैं अपनी ही रूह के पके हुए फल से इतना भारी हो गया हूँ कि जी चाहता है कोई आये, यह फल तोड़ ले, और मुझे इस भार से मुक्त कर दे। देखो! मैं भी आज तुम्हारी तरह रूह के पके हुए फल को लिये इस तरह खड़ा हुआ हूँ कि जी चाहता है कोई आये...

और संजय को लगा—आज यह 'कोई' केवल करीम हो सकता है।

इस इमारत में केवल एक ही घर था, निचली मंज़िल पर मिस्टर चोपड़ा का, जहाँ टेलीफ़ोन था। संजय का जी चाहा, आज वह करीम वाले प्रेस में फ़ोन करके करीम को बुला ले। इन दिनों प्रूफ़ों का काम नहीं था, वह बहुत दिनों से प्रेस नहीं गया था। आज भी जाने को जी नहीं कर रहा था।

टेलीफ़ोन वाले घर का फ़ोन उस ने पहले सिर्फ़ एक बार इस्तेमाल किया था, वह भी घर के मालिक की उपस्थिति में, आज उस की अनुपस्थिति में दरवाज़े

पर दस्तक देकर, घर की किसी औरत से अनुमति लेना उसे कठिन प्रतीत हुआ। लेकिन रूह के पके हुए फल का भार शायद उस से भी अधिक कठिन लग रहा था। उस ने नीचे जाकर संकोची हाथों से दरवाज़े पर खटका किया...

संजय ने जब करीम को शाम के छह बजे आने के लिए कहा, तो करीम ने कहा—छह बजते किस ने देखे जी, अभी आया...

जेब में हाथ डाला, टूटे हुए पचास पैसे नहीं थे, सजय ने पूरा रुपया फ़ोन के पास रख दिया। करीम के अभी आने की बात के कारण उसे रुपया भी थोड़ा लग रहा था, इस लिए कमरे से बाहर आते समय उस ने घर की मालकिन को मन के भीगे हुए अक्षरों वाला धन्यवाद भी दिया।

—एक मिनट।—मिसेज़ चोपड़ा ने रोका।

संजय ने कमरे के बाहर रखा हुआ पैर फिर कमरे की ओर मोड़ लिया।

—एक मिनट के लिए अन्दर आ जाइये। मुझे आपसे एक बात करनी थी, सोचती थी शाम को चोपड़ा साहब से कहूँगी, वह आप से कहेंगे, लेकिन अब आप आ ही गये हैं तो...

संजय चुपचाप कमरे के भीतर आकर एक कुर्सी के पास खड़ा हो गया।

—बैठिये।—मिसेज़ चोपड़ा ने कहा और स्वयं दूसरी कुर्सी पर बैठते हुए कहने लगी—आप ऊपर की मंज़िल वाली मिसेज़ पुरी को जानते हैं?

—मिसेज़ पुरी? नहीं मैं नहीं जानता।

—वही, जो सवेरे पीछे बाग़ीचे में गिर पड़ी थीं।

—वह?

—मैं आप को बताना चाहती थी कि उसे न जाने क्या बीमारी है, लेकिन जो भी है अच्छी नहीं है, इस लिए उस के आदमी ने उसे अपने घर में नहीं रखा, यहाँ अलग कमरा किराये पर ले दिया है, नहीं तो उस की अपनी कोठी तो बहुत बड़ी है, आदमी लखपती है, मशहूर है लोहे वाला पुरी...

—मैं नहीं जानता।

—बड़ी उम्र का है, बड़े शौक़ से इतनी जवान लड़की से ब्याह किया था। अब ऐसे ही तो नहीं यहाँ किराये के कमरे में डाल दिया! न कोई नौकर न चाकर, उस की नानी ही गाँव से आ गयी है उस के साथ रहने के लिए...अभी आठ-दस दिन तो हुए हैं उसे आये हुए, एक बार डॉक्टर भी आ चुका है...मैं सिर्फ़ आप को ख़बरदार करना चाहती थी बीमारी की तरफ़ से...

संजय को कुर्सी से उठते हुए मिसेज़ चोपड़ा से एक रस्मी धन्यवाद कहना था, लेकिन होंठों से यह रस्म अदा न हो सकी। उस ने सिर्फ़ सिर हिलाया, जैसे सुन लेने की पुष्टि कर दी, और अपने कमरे की ओर लौट गया...

कमरे में आकर लगा, फ़ोन करने से पहले करीम की आवश्यकता थी कुछ

और तरह, और फोन करने के बाद उस की आवश्यकता है...कुछ और ही तरह।

लगा, रूह का पका हुआ फल अचानक अपने आप रिसने लगा है—बूँद-बूँद, और अब रूह में कुछ ख़ालीपन लग रहा है।

थोड़ी देर में करीम आ गया, लेकिन उस की हँसी जैसे उस से भी पहले सीढ़ियाँ चढ़ आयी थी। वह दरवाज़े के पास आकर खुले हुए दरवाज़े से ही टकराकर खड़ा हो गया। करीम ने दहलीज़ पर पैर रखते ही कहा—या अल्लाह! संजय साहब के मुँह पर आँसू...

संजय ने जल्दी से मुँह को छूकर देखा तो हाथ गीला-सा हो गया, लगा—उसे ख़ुद नहीं मालूम था कि उसे किस समय रोना आ गया था, लेकिन उस ने मुसकराते हुए करीम की ओर देखा—आज तुम्हारे काम का हरज करवा दिया, करीम मियाँ!

—कैसे, मैं तो रोज़ ही आधे दिन काम करता हूँ, आठ दिन हो गये हैं...

—क्यों?

—यह कितने दिनों से घुटने दुखते थे, मैं गरदानता नहीं था।

—तुमने कभी बताया नहीं।

—बताना क्या था। सोचा कि बेगम एक होती तो एक घुटना टूटता, पर वे दो हैं, सो दोनों घुटने टूटने ही थे...

संजय हँसने लगा—करीम मियाँ! क्यों उन बेचारियों को हर वक़्त कोसते हो? दोनों घुटनों की टकोर भी तो वही दोनों करती होंगी...

करीम भी हँस पड़ा, बोला...एक बात तो अच्छी हुई जी, मुझे भी घुटनों के दर्द के हाथों एक घुंडी हाथ आ गयी है।

—क्या?

—एक दिन दर्द ज़्यादा था, मुझे किसी ने अस्पताल के रास्ते पर डाल दिया, और जी, वहाँ वे रोज़ मेरे बिजली का सेंक करने लगे...तभी तो आठ दिन से आधी छुट्टी करके चला जाता हूँ...बस जी वहीं से घुंडी हाथ आ गयी...

और करीम हँसते-हँसते कहने लगा—वहाँ जी, जिस मशीन से तार जोड़कर सेंक करते हैं, फिर उस में घण्टी बजती है, उस का मतलब होता है, यानी अब सेंक बन्द कर दो।

—हाँ, फिजियो थिरेपी ऐसे ही होती है...

—पहले रोज़ घर जाता था, पहुँचते ही दोनों की लड़ाई तैयार होती थी, फिर कौन जाने कितनी देर लड़ना और कब चुप होना। मैं ने भी एक दिन जी अलारम घड़ी लेकर अलारम लगा दिया, और चुपचाप चारपाई पर लेट गया। उन दोनों ने अपना काम शुरू कर दिया। जी बीस मिनट के बाद जब अलारम

बजा तो मैं ने कहा कि भई इस का मतलब यह है कि अब दोनों चुप हो जाओ।

—तो अब सिर्फ़ बीस मिनट लड़ाई होती है?

—बस जी, यही समझ लें कि आजकल अस्पताल में बीस मिनट घुटनों की टकोर होती है, और घर पर बीस मिनट कानों की टकोर होती है।

संजय के होंठों के पास पीड़ा की एक लकीर-सी खिंच गयी, बोला—यार! यह बताओ अगर आज तुम्हारे पास तुम्हारी वह होती...

—आप मुमताज़ की बात करते हैं?

—तुम ने नाम तो बताया नहीं कभी, सिर्फ़ शिया-सुन्नी होने की बात बतायी थी...

—वही...

—भला तसव्वुर तो करो, तुम जब रोज घर जाते तो वहाँ वह मिलती, फिर उस की आवाज़ को भी तुम कानों की टकोर कह सकते थे?

—फिर तो जी उस की आवाज़ अल्लाह की आवाज़ की तरह कानों में पड़ती...

—करीम मियाँ! यह जो फ़र्क़ है, तुम्हारे-मेरे जैसे लोगों का सारा दुःख इसी फ़र्क़ के कारण है।

करीम कुछ क्षणों के लिए चुप हो गया, केवल संजय के चेहरे की ओर देखता रहा, फिर कहने लगा—मैं ने तो यह फ़र्क़ अपनी छाती के भीतर झेला है, पर आप को इस की पीड़ा कैसे मालूम हुई?

—सोचा था पता लगने में बरसों लग जायेंगे, लेकिन पता लगा तो एक ही दिन में लग गया। संजय ने कहा, लेकिन उसे ख़ुद पता नहीं लग रहा था कि आज गिनती के क्षणों में उस ने युगों का फ़ासला कैसे तय कर लिया है। वह कहीं खड़े होना चाहता था, और खड़े होकर इस रास्ते को ध्यान से देखना चाहता था, लेकिन उस के अपने ही पैर उस के बस में नहीं आ रहे थे। इसी लिए उस ने कोई क्षण-भर को करीम के कन्धे पर हाथ रखने के लिए उसे बुलाया था।

—खाने का वक़्त हो गया है। अगर करीम मियाँ! तुम्हें जाने की जल्दी न हो तो खाना मँगवा लूँ।—संजय को समय का ध्यान आ गया।

—इस दर्द ने तो रोटी भी छीन ली है जी, एक ही वक़्त खाता हूँ, वह भी उबली हुई फीकी साग-भाजी से। लेकिन आप खाइये, मुझे चाय का एक गिलास मँगवा दीजिये।

संजय ने स्टोव पर चाय रखी, कहा—मेरा भी जी चाय पीने को कर रहा है...

चाय पीते हुए करीम ने कहा—आप की कहानी देखी जी छपी हुई...

—पढ़ी नहीं?

—काफिरों की ज़बान का तो एक भी अक्षर नहीं पहचाना जाता, पढ़ता कैसे ?—करीम ने हँसते हुए कहा। फिर बोला—पर देखो जी, हम जिसे क़ाफ़िरों की ज़बान कहते हैं, यही कभी हमारे लकड़दादा की ज़बान थी...

—देखो ! यह भी एक पिंजरा है...

—क्या, जी ?

—एक काफ़िर होने का पिंजरा, एक मोमिन होने का पिंजरा...भला एक आदमी को एक पिंजरे से निकालकर दूसरे पिंजरे में डाल दिया तो क्या सवाब मिल गया ?

—आप यही कहानी लिखिये न !...

—नहीं, यार ! आज तो लगता है, हम मन की बातें भी व्यर्थ में कहानियों के पिंजरों में डाल देते हैं...

—आज आप बहुत उदास लग रहे हैं...

संजय हँस पड़ा, बोला—लगता है, ईश्वर ने मनुष्य को पकड़ने के लिए उदासी का भी एक पिंजरा बनाया हुआ है।

—सो जी, यही आज आप को पता लग...अभी आप ने कहा था न कि उस पीड़ा का पता लगा तो एक ही दिन में लग गया।

—देखो, करीम ! तुम ने कोलम्बस का नाम सुना है ? उस आदमी ने वह धरती खोजी थी जिसे आज अमरीका कहते हैं...

—अच्छा जी, एक ही आदमी ने खोजी थी ?

—हाँ, एक ही आदमी ने, खोजने कुछ गया था, मिल गया कुछ, और नयी धरती जब मिली तो एक ही दिन में मिल गयी...

—और आप को ?

संजय ने एक सिगरेट सुलगाया, और कहा—मुझे भी एक धरती मिल गयी है, शायद उदासी की...धरती भी तो पिंजरा होती है...

—समझ गया जी।

संजय हँसने लगा तो करीम ने कहा—तो आप ने यह रंग भी देख लिया, पिंजरे में फँसने का...लेकिन जी, और पिंजरे में से तो आदमी निकल भी आवे, यह जो दिल का पिंजरा होता है...

—नहीं, करीम मियाँ ! बस एक वह पिंजरा नहीं होता, और सब पिंजरे होते हैं।

—नहीं जी, इश्क तो सब से बड़ा पिंजरा होता है, आदमी की पूरी ज़िन्दगी ही पिंजरे में पड़ जाती है...

—तुम भूल गये, करीम मियाँ ! अभी तुम ने क्या कहा था कि घर पहुँचने पर अगर तुम्हें मुमताज़ की आवाज़ सुनाई देती तो उस की आवाज़ अल्लाह की

आवाज़ की तरह कानों में पड़ती...अगर तुम्हारा निकाह मुमताज़ से हुआ होता तो वह तुम्हारा पिंजरा होती या तुम्हारी उड़ान होती ?

—वह...वह जी, एक दिन उस ने मुझ से कहा कि तुम मेरे क़ुरान शरीफ़ हो...और जी, मेरे बदन पर उस ने ऐसे हाथ रखा जैसे कोई क़ुरान शरीफ़ पर रखता है, और बोली—क़ुरान पर हाथ रखकर कहती हूँ कि यह रूह हमेशा तुम्हारी रहेगी।

मुमताज़ की बात करते समय करीम पर वज्द-सा छा गया, तो संजय ने उस के कन्धे पर हाथ रखकर कहा—फिर अब बताओ, मुहब्बत पिंजरा होती है या उड़ान ? उस ने तो एक मिनट में तुम्हें आदमी की जून से निकालकर क़ुरान शरीफ़ बना दिया !

—वह तो जी, सच में कोई करामात होती है...

—तो मियाँ ? तुम्हारा इश्क पिंजरा नहीं था, पिंजरा तो आदमी का शिया या सुन्नी होना था, जैसे ब्राह्मण या खत्री होना पिंजरा होता है, या अमीर और ग़रीब होना होता है...या...या...

—आप क्या कहने जा रहे थे ?

संजय ने उत्तर देने के बजाय एक सिगरेट सुलगा लिया, और उस के धुएँ में अपने आप को छुपाते हुए कहा—क़ानून भी तो एक पिंजरा होता है।

—वह तो होता है जी।—करीम ने सिर्फ़ इतना ही कहा और फिर चुप हो गया।

लेकिन संजय की रूह का पका हुआ फल बूँद-बूँद रिसता हुआ उस के होंठों पर आ गया—करीम मियाँ ! रस्में भी चूहेदानियाँ होती हैं रूहों को फँसाने के लिए...

करीम की समझ में नहीं आ रहा था कि संजय किसी रस्म में फँसने से डरते हुए यह बात कह रहा है या किसी को फँसा हुआ देखकर कह रहा है, इस-लिए वह चुप रहा।

संजय के चेहरे पर एक उदासी माथे की नस की तरह दिखाई देने लगी, तो करीम ने बात अपनी तरफ़ मोड़ ली, बोला—आप को एक और करामाती बात बताऊँ, मुमताज़ ने जब मुझे क़ुरान शरीफ़ कहा, तो मैं ने भी हँसकर उस से कहा—अच्छा, फिर हमारे घर जो भी लड़कियाँ होंगी, उन का नाम हम आयतें रखेंगे। आज मेरे घर में दो बेटियाँ हैं, मैं ने हर बार सोचा है कि लड़की का नाम आयत रख दूँ, लेकिन रखा नहीं गया...

संजय मुसकरा दिया—देख लो करीम मियाँ ! इश्क का सोचा हुआ भी किसी चेहरे की क़ैद में नहीं पड़ता...

करीम भी मुसकरा पड़ा—हाँ जी, बेटियाँ तो यह भी अपनी ही हैं, लेकिन मेरे क़ुरान की आयतों को तो मुमताज़ ही जन्म दे सकती थी।

आज सवेरे का वही समय था, कल वाला, जब चौकीदार ने ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाया था, और संजय के माथे पर एक त्योरी-सी उभर आयी थी...लेकिन एक भेद, जो संजय को कल मालूम नहीं था, आज मालूम हो गया कि कल चौकीदार के भेस में क़िस्मत ने दरवाज़ा खटखटाया था, और उस के माथे पर त्योरी नहीं, क़िस्मत की लकीर उभर आयी थी...

आज सवेरे से वह दो बार पिछले बाग़ीचे में हो आया था, लेकिन मीता वहाँ नहीं थी, सिर्फ़ वह चूहेदान अभी तक वहीं था जिसे कल उस ने नहीं देखा था, और उसे देखकर आज उसे वह दहशत अनुभव हुई थी जो कल केवल मीता ने अनुभव की थी, और उस ने चौकीदार को बुलाकर वह पिंजरा वहाँ से उठवा दिया था...

अचानक छत की ओर से एक आवाज आने लगी, जैसे ऊपर की मंज़िल पर कोई लगातार धीरे-धीरे चल रहा हो—कमरे के एक सिरे से दूसरे तक, फिर उस परले सिरे से लेकर इधर के सिरे तक...

संजय को ख़याल आया, ऊपर की मंज़िल पर भी शायद नीचे की मंजिल की तरह चार हिस्से होंगे, न जाने कौन किस में रहता है...या शायद वहाँ एक-दो ही बने हुए हैं...बाक़ी ख़ाली जगह है...

संजय ने कभी ऊपर की मंज़िल पर जाकर नहीं देखा था, लेकिन लगा, ऊपर, इसी छत के ऊपर, इस समय वह ही है...

पैरों की धीमी-धीमी आवाज—एक चाल में बँधी हुई संजय के कानों में से उतरकर एक ठण्डी लकीर की तरह उस की पीठ में फैल गयी...लगा, शायद यह ठण्डी लकीर कल मीता की पीठ में फैल गयी थी, जब उस ने एक चूहे की तरह फूलों को पकड़ने वाला दुनिया का भयानक भेद जान लिया था...

संजय को अपने साँस भी अपने कानों को सुनाई देने लगे।

पैरों की आवाज़ उसी तरह जारी थी—पूरे चौदह फ़ुट के फ़ासले में घिरी हुई। और संजय को लगा, शायद पन्द्रहवें फ़ुट के लिए पैरों के पास कोई धरती

नहीं है, न उन पैरों के पास जो ऊपर की मंज़िल पर हैं, और न उस के अपने पैरों के पास...

पन्द्रहवाँ फ़ुट ?

संजय ने कल्पना करनी चाही, लेकिन पन्द्रहवाँ फ़ुट कल्पना से भी परे हो गया...

लगा...वह आज तक जो कुछ लिखता रहा, धरती का पन्द्रहवाँ फ़ुट पाने के लिए लिखता रहा है...

नहीं...संजय को लगा—दुनिया में आज तक जितनी भी किताबें लिखी गयी हैं, वह धरती के पन्द्रहवें फ़ुट को पाने के लिए लिखी गयी हैं...

कमरे का दरवाजा सवेरे से खुला हुआ था, संजय ने खुले हुए दरवाजे से देखा—नानी-माँ दोनों हाथों में साग-भाजी की टोकरियाँ लिये हुए ढहते हुए-से क़दमों से सीढ़ियाँ चढ़ रही हैं...

पैर अनायास दरवाजे की ओर चले गये—लगा, चौदह फ़ुट में चलने वाले पैरों को आज किसी और चौदह फ़ुट में चलने वाले इन पैरों के पास ज़रूर जाना है ! आगे बढ़कर नानी-माँ के हाथों से टोकरियाँ ले लीं, कहा—मैं छोड़ आता हूँ ।

हवा में कुछ अक्षर फैल गये । शायद नानी-माँ ने कोई असीस-सी दी थी, लेकिन संजय के कानों में सिर्फ़ उन पैरों की आवाज आयी जो ऊपर की मंज़िल पर चौदह फ़ुट के घेरे में चल रहे थे...

ऊपर के कमरे का दरवाजा खुला हुआ था, संजय ने हाथों में थामी हुई टोकरियाँ दरवाजे के भीतर पड़ी हुई मेज़ पर रखीं तो देखा—सामने मीता के पैर जहाँ थे वहीं रुक गये...

शायद मीता के पैरों के नीचे सिर्फ़ पैरों जितनी धरती रह गयी थी...

—आप ?—मीता की आवाज भी होंठों के पास आकर रुक गयी—धीरे-धीरे सीढ़ियाँ चढ़कर नानी-माँ आयी तो कमरे का रुका हुआ साँस कुछ स्वाभाविक हो गया...

कमरे में दो दीवान थे; शायद वही दिन में बैठने के लिए और रात को सोने के लिए थे । नानी-माँ ने संजय के बैठने के लिए अपने दीवान पर नयी चादर बिछायी, और बोलीं—दो मिनट बैठो बेटा ! चाय पीकर जाना ।

कमरे में एक बन्द अलमारी थी शायद कपड़ों की, और दो खुली हुई सिर्फ़ फट्ठों वाली अलमारियाँ थीं, जिन में से एक किताबों से भरी हुई थी, दूसरी दवाओं से । संजय उन दोनों अलमारियों की ओर देखकर हँस-सा दिया—इतनी दवाओं की ज़रूरत पड़ गयी ? मैं किताबों को दवाओं की तरह पीता हूँ ।

मीता ने अब तक संजय के आने के आश्चर्य को झेल लिया था, इस लिए

अपने दीवान पर बैठते हुए कहा—नहीं, किताबों के जर्म्ज़ जब मेरे अन्दरहु बत हो जाते हैं, तब दवाएँ पीनी पड़ती हैं।

—दुनिया के लेखकों पर इतना बड़ा इलज़ाम ?

मीता ने जवाब में कल संजय की कहानी वाली जो पत्रिका ली थी, वह लौटाते हुए कहा—हाँ, इस कहानी के लेखक पर भी, क्योंकि इसे पढ़ने के बाद शाम को रोज़ से ज्यादा बुख़ार हो गया था...

—इसी लिए आज सवेरे...

मीता ने ज़रा चौंककर संजय की ओर देखा, कहा—इसी लिए सवेरे बग़ीचे में नहीं गयी कि अगर आज फिर बेहोश हो गयी तो रोज़-रोज़ सँभालने के लिए कोई नहीं आयेगा...

संजय मुस्कराया—दो-चार दिन तो बेहोश होकर देख लेना था...

मीता की आँखों में पानी भर आया...लगा, संजय का चेहरा उस पानी में तैर रहा है, इस लिए परे खिड़की की ओर देखने लगी।

—दिन-भर यहाँ एक ही कमरे में...

मीता ने जल्दी से कहा—दिन-भर लगी रहती हूँ, कभी इस काम में, कभी उस काम में...

—काम ?—संजय ने चारों ओर दृष्टि घुमायी, किसी काम का कोई आसार नहीं था।

मीता हँस-सी पड़ी, बोली—पहले कोई किताब पढ़ती हूँ और जर्म्ज़ इकट्ठे करती हूँ, फिर उन्हें मारने के लिए दवा पीती हूँ, फिर वह मर जाते हैं तो नये पाने के लिए फिर कोई किताब पढ़ती हूँ...

इस बार मीता की नहीं, संजय की आँखों में पानी आ गया।

मीता अपनी आँखों के पानी से नहीं डरी थी, लेकिन संजय की आँखों के पानी से डर गयी, इस लिए उसे आँखों के पानी से बचाने के लिए बोली—दुनियादारी में मैं बहुत सयानी औरत हूँ, उम्र बड़ी नहीं, लेकिन छोटी उम्र में ही बहुत बड़ा ढंग सीख लिया, जल्दी से एक बहुत अमीर आदमी से ब्याह कर लिया ताकि वह मेरी दवाओं के दाम भरता रहे, मैं आराम से बैठी रहूँ, और वह मुझे रोटी, कपड़े, फल, दवाएँ—सब कुछ देता रहे...

मीता यह कह रही थी जब नानी-माँ चाय लेकर कमरे में आ गयीं। उस ने भी यह बात सुनी। वह छोटी-सी मेज़ पर चाय रखते हुए चाय से भी ज्यादा खौल गयी—देखो इस की बात...नयी-नवेली कच्ची कोंपल-सी ब्याही थी उस निगोड़े से, बुड्ढे-खूसट से। मन तो इस का मारा गया, उस का क्या गया...चार दिन बुख़ार चढ़ा तो मक्खी की तरह छटककर घर के बाहर कर दिया है...दवाओं के दाम भरता है तो बड़ा एहसान करता है...

नानी-माँ ने जो कहा, संजय ने वह पहले सुन रखा था, लेकिन जब उसी बात को जैसे मीता ने कहा था, संजय से सहन न हो सका। उस ने कहा—मीता! यह बात तुम ने कल सवेरे भी बतायी थी।

—कल सवेरे?

—जब बताया था कि किसी ने फूलों को चूहों की तरह पकड़ने के लिए पिंजरा रखा हुआ है...

मीता ने इस पहचान की असह्य पीड़ा से आँखें बन्द कर लीं,...धीरे से उस के मुँह से निकला—आप समझ गये थे?

आज संजय के मुँह पर मीता के लिए 'तुम' किस समय आ गया, संजय को भी पता न चला, मीता को भी नहीं।
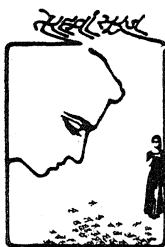
—ज़हे क़िस्मत!—आज तो दरवाज़ा भी खटखटाना नहीं पड़ा। दरवाज़े की ओर से यह आवाज़ आयी तो संजय ने मेनका की ओर देखा—वह दीवान पर लेटकर एक किताब पढ़ रहा था। किताब को परे रखते हुए वह दीवान से उठा, मुँह से निकला—ओह मिसेज़ चौधरी!

मेनका को लगा जैसे उसे अन्दर आकर बैठने के लिए नहीं, बल्कि उठने के लिए कहा गया हो। लेकिन उस ने संजय की आवाज़ को कानों में डालकर भी कानों से बाहर निकाल दिया, और दीवान पर बैठते हुए कहने लगी—सरकार! गैरहाज़री की माफ़ी माँगने आयी हूँ।

संजय ने कहना चाहा—गैरहाज़री की या हाज़री की?...लेकिन कहा नहीं।

मेनका ही बोली—चौधरी साहब की माँ का ऑपरेशन होना था, इस लिए मजबूरन इतने महीने वहाँ जाकर रहना पड़ा...लेकिन अब गैरहाज़री का बहुत बड़ा जुर्माना अदा करूँगी...बहुत बढ़िया तरकीब सोची है, बताऊँ?

—बताओ!

—मैं एक अख़बार शुरू करना चाहती हूँ...

—अख़बार ?

—रोज़ाना अख़बार नहीं...साप्ताहिक, द्वैमासिक या त्रैमासिक। मिस्टर चौधरी मान गये हैं, वही पैसा लगायेंगे...और जनाब उस के सम्पादक होंगे...

—मैं ? क्यों ?

—जनाब को काम नहीं चाहिए ?

—सो यह जुर्माना है ! लेकिन जुर्माना मुझे तो नहीं भरना था ?

—नहीं, जनाब ! जुर्माना मैं दे रही हूँ।—मेनका हँस पड़ी। लेकिन फिर गम्भीर होकर बोली—देखो, संजय ! मैं जानती हूँ कि तुम्हें मेरे घर आकर मुझ से मिलना अच्छा नहीं लगता, वहाँ मैं तुम्हें हर समय मिसेज़ चौधरी लगती हूँ। और यहाँ इतना अनकम्फ़र्टेबल है।...यह अख़बार वाला जॉब होगा तो हम किसी होटल में भी जा सकते हैं...दो-दो, चार-चार दिन शहर के बाहर भी...

—प्लीज़ मिसेज़ चौधरी !—संजय को भी पता नहीं था कि उस की आवाज़ कभी ऐसे तमक सकती है, मेनका हैरान होकर उस की ओर देखने लगी।

संजय के मुँह से गहरी साँस निकली—मेरा ख़याल था मैं ने ज़िन्दगी में कोई गुनाह नहीं किया, लेकिन लगता है मैं ने एक बहुत बड़ा गुनाह किया है।

मेनका दीवान से उठकर संजय के पास जाकर खड़ी हो गयी। उस ने पूछा—कौन-सा गुनाह, संजय ?

संजय ने उत्तर नहीं दिया।

मेनका हँस पड़ी—एक ओरिजिनल सिन होता है जिसे सब करते हैं...

संजय ने जलती हुई आँखों से मेनका की ओर देखा, शायद अपनी ओर भी, फिर कहा—सिन ऑफ़ इगनोरेंस !

और संजय ने कमरे की चाभी हाथ में लेते हुए कहा—मुझे काम है, मुझे बाहर जाना है।

—इस का मतलब है, मैं जाऊँ...

संजय वैसे ही, जिन कपड़ों में था, बाहर दरवाज़े की ओर बढ़ा, तो मेनका ने कमरे से बाहर आते हुए सिर्फ़ एक बार कहा—यू रॉस्कल !—और फिर सीढ़ियाँ उतर गयीं।

संजय कई प्रेसों में प्रूफ़ देखने का काम करता था। अब मार्च वाला, प्रूफ़ों का भीड़ वाला समय बीत गया था, फिर भी मई-जून में छपने वाली स्कूली किताबों की प्रूफ़-रीडिंग का काम उस की रोटी के सहारे के लिए बना हुआ था। लेकिन संजय को लगा...

'जो लगा' वह उस ने अपने होंठों से अपने कानों को भी नहीं कहना चाहा।

वह साइकिल लेकर करीम वाले प्रेस की ओर चल दिया। यह प्रेस औरों से बड़ा था, इस में सिलिंडर मशीन थी, जिस के कारण इसे बड़े दफ़्तरों का काम भी मिल जाता था, साथ ही वह काम भी जो बहुत-सी एम्बेसियाँ अनुवाद करवाने की ज़िम्मेदारी के साथ इस प्रेस को छापने के लिए देती थीं।

—प्रूफ़ों का काम तो आजकल नहीं होगा?—संजय ने प्रेस के मालिक से जाकर पूछा।

—वही थोड़ा-बहुत जो हम आप को देते हैं...

—अनुवाद का?

—वह आप करते नहीं।

—करूँगा।

—लेकिन आप जानते हैं...

—जानता हूँ, वह आप उन्हें देते हैं जो ऐप्रूव्ड लिस्ट पर होते हैं, लेकिन वह ख़ुद तो अनुवाद करते नहीं...

—सब ही औरों से करवाते हैं, जी, थोड़े-से पैसे देकर...

—मैं ने वही औरों से करवाने वाली बात कही है...

—लेकिन उस के पैसे...मुश्किल से एक रुपया पन्ना...

—ठीक है...

—और किताबों पर भी आप का नाम नहीं होगा...

—इमारत पर कभी किसी मज़दूर का नाम नहीं होता...

संजय हँस-सा दिया। प्रेस के मालिक ने अंग्रेजी की एक किताब संजय को देते हुए कहा—यह काम तो मैं ने पहले भी आप से कहा था...

संजय ने उत्तर में केवल किताब के पन्ने देखे, तीन सौ पच्चीस थे और मन में हिसाब लगाया, रोज आठ या दस पन्ने किये जा सकते हैं...

—ज़रा लिखाई साफ़ हो...पर, कोई बात नहीं, प्रूफ़ भी आप ख़ुद ही देखेंगे...

प्रेस के मालिक ने सरसरी-सी आवाज में संजय से कहा और फिर मशीनमैन को बुलाने के लिए चपरासी को भेजा।

संजय ने बरामदे से गुजरते हुए करीम वाले हिस्से की ओर नज़र डाली। वह चपरासी के साथ इधर ही आ रहा था।

'सलाम मियाँ' के जवाब में करीम ने संजय के हाथ में किताब देखी और धीरे से उत्तर में कहा—संजय साहब, ख़ुदा से आँखों का बीमा करवा चुके हैं या अभी करवाना है?

संजय मुस्करा दिया, बोला—करीम मियाँ! किसी दिन बीमे के उस एजेण्ट को लेकर आ जाना, बीमा करवा लूँगा।

संजय को आज फिर वही अनुभव हुआ जो आज से तीन वर्ष पहले तब हुआ था जब पैसों की सख़्त आवश्यकता पड़ने पर उस ने कुछ दिन सरकारी भाषणों का अनुवाद किया था। तब भी थोड़े-से पन्ने लिखने पर रोज़ उस की उँगलियों में पीड़ा होने लगती थी। आज भी वैसा ही हुआ। बस, कोई दस पन्ने ही लिखे थे कि दाहिने हाथ की उँगलियाँ ऐसी अकड़ गयीं कि हाथ से क़लम छूटने लगी।

संजय को अपना उपन्यास या कहानी लिखते समय ऐसा कभी महसूस नहीं हुआ था। उस ने एक-एक दिन में बीस-बीस पन्ने लिखकर देखा था, कभी भी उँगलियों और क़लम का साथ छूटता हुआ नहीं लगा था।

उस ने एक बार अपने शौक़ के लिए विश्व की कुछ श्रेष्ठ कहानियाँ चुनकर उन का भी अनुवाद किया था, लेकिन तब भी उस की उँगलियों को कुछ नहीं हुआ था।

आज फिर उँगलियों में पीड़ा हुई, तो आधी रात के समय मन में चढ़ती धूप जैसा विचार आया—क्या केवल सरकारी भाषणों का अनुवाद करते समय ही पीड़ा होती है?

आज की किताब अपने देश के सरकारी भाषणों की नहीं थी, किसी और देश के सरकारी भाषणों की थी, लेकिन लगा—देश चाहे कोई भी हो, हर सरकार के भाषणों का आपस में कोई गहरा सम्बन्ध है।

हर भाषण, जैसे अक्षरों का व्यापार हो—मनुष्य के मन को बेचता भी और ख़रीदता भी...

—नहीं, संजय को लगा—मन को नहीं, केवल तन को...और तन के द्वारा मनुष्य के वर्तमान को भी और भविष्य को भी बेचता और ख़रीदता हुआ...

सो, आज की किताब, अक्षरों का व्यापार, एक ओर रखकर संजय एक काग़ज़ पर अपनी नयी कहानी के कुछ नुक्ते नोट करने लगा, जो कितने ही दिनों से एक बादल की तरह उस के मन में घिर रही थी...

न जाने किस समय काग़ज़ हाथ से छूट गया, और मेज़ के नीचे गिर गया...

उस ने झुककर काग़ज़ को उठाया, लेकिन देखा, काग़ज़ ख़ाली है...

उस ने फिर मेज़ के नीचे देखा कि शायद यह वह काग़ज़ न हो, जिस पर वह कहानी के नोट्स ले रहा था, लेकिन मेज़ के नीचे और कोई काग़ज़ नहीं मिला।

उस ने फिर हाथ में लिये हुए काग़ज़ की ओर देखा कि उस पर जो कुछ लिखा था वह कहाँ गया...

कुछ पता नहीं चल रहा था, इस लिए उस ने मेज़ का बिजली का लैम्प हाथ में उठाकर फिर मेज़ के नीचे देखा...

एक कम्पन-सा शरीर से गुज़र गया—नीचे उस की आँखों के सामने सारे अक्षर फ़र्श पर पड़े हुए थे, ऐसे कि लगा, वह उँगलियों से एक-एक अक्षर उठा सकता है...

मेज़ के नीचे हाथ लम्बा करके वह अक्षरों को उठाने लगा—छोटे, गोल और काले बीजों जैसे अक्षर...

हथेली को लैम्प की रोशनी के आगे करके देखा—सारे अक्षर एक-से थे, छोटे-छोटे दानों के समान...

बायीं हथेली पर रखे हुए अक्षरों को उस ने दायें हाथ की उँगलियों से फिर टोह-टोहकर देखा, लेकिन साथ ही लगा—बायाँ हाथ, जिस की हथेली पर वह अक्षर पड़े हुए थे, बहुत पोला और गीला हो गया है...

उस ने दायें हाथ की एक पोर से बायीं हथेली को दबाकर देखा। हाथ सच-मुच मिट्टी की भाँति पोला और गीला था, इतना कि उस पर पड़े हुए कितने ही अक्षर हथेली के भीतर खुभ गये...

उस ने चौंककर बायें हाथ के अँगूठे से अपने दायें हाथ की हथेली को टोहा तो अँगूठे को लगा कि दायें हाथ की हथेली भी गीली और पोली है...

उस ने हैरान होकर बायें हाथ की हथेली पर जो बचे हुए अक्षर थे, वे दायें हाथ की हथेली पर पलट दिये, और जब बायें अँगूठे से दबाकर देखा तो वह सारे अक्षर उस की दायीं हथेली में खुभ गये...

साँसों को गीली-तर मिट्टी की सुगन्ध आयी तो उस ने दोनों हाथ सूँघकर देखे...

लगा—दोनों हाथ मिट्टी के बने हुए हैं।

अब हाथों पर कोई अक्षर दिखाई नहीं देता था, दोनों हथेलियाँ ख़ाली थीं...

छाती में से एक भय उठकर उस के माथे की ओर गया—अब हाथों के बिना मैं कैसे लिखूँगा ?

संजय के सारे शरीर में एक जीवित शरीर वाली हरकत थी—वह सोच रहा था, आँखों से देख रहा था, घबराकर दीवान पर भी बैठा, फिर दीवान पर से उठा भी, टाँगें, पाँव, बाँहें, सिर—सब कुछ उसी तरह था—लेकिन हाथ ?

लगा—अगर वह हाथ हिलायेगा तो दोनों हाथ उस के शरीर से मिट्टी की तरह झड़ जायेंगे...

वह कितनी ही देर तक उसी तरह सहमा हुआ-सा खड़ा रहा। पर फिर उस ने एक बाँह को झटका, यह देखने के लिए कि बाँह से लगा हुआ हाथ गिर पड़ेगा या नहीं। लेकिन हाथ उसी तरह बाँह से लगा रहा। उस ने दूसरी बाँह को भी झटककर देखा, उस बाँह का हाथ भी उसी तरह कलाई से जुड़ा रहा...

वह फिर हैरान होकर हाथों की ओर देखने लगा, लेकिन इस बार उस की आँखें देखती रह गयीं—हाथों में छोटे-छोटे फूल उग रहे थे...

विश्वास नहीं हुआ...आँखें झपककर उस ने फिर देखा—हाथों पर सचमुच बड़े कोमल और लाल रंग के फूल उगे हुए हैं...

पूरी हथेलियाँ फूलों से भरी हुई थीं...

उस ने फिर हाथों को सूँघकर देखा—उस के हाथों से सिर्फ़ मिट्टी की नहीं फूलों की भी महक आ रही थी...

यह महक संजय के सारे माथे में फैल गयीं—आँखें एक सुरूर में बन्द हो गयीं—और नशे जैसी उस सुगन्ध में संजय के सारे अंग अचेत हो गये...

समय का ध्यान संजय को नहीं, पर सूरज को आया। इस लिए चढ़ते सवेरे की रोशनी जब संजय की खिड़की में से अन्दर आकर सारे कमरे में फैल गयी, तो संजय चौंककर जाग उठा...

देखा—वह दीवान पर औंधे मुँह लेटा हुआ है।

उठकर देखा—सामने कमरे की वही दीवारें थीं, एक दीवार के कोने में वही उस की लिखने वाली मेज़ है, और मेज़ पर अभी तक रात वाला लैम्प जल रहा है...

उस ने जल्दी से अपने हाथों की ओर देखा—पर वह भी सारे जिस्म के अंगों की तरह मांस के हाथ हैं, मिट्टी के नहीं...

उस ने मेज़ पर पड़े हुए रात वाले उस काग़ज़ की ओर देखा जिस पर वह अपनी कहानी के नोट्स लिखता रहा था, काग़ज़ भी उसी तरह अक्षरों से भरा हुआ दिखाई दिया...

संजय कितनी ही देर तक कमरे में चकित खड़ा रहा, फिर खड़ा नहीं रहा गया, वह उसी तरह कमरे को खुला छोड़कर, जल्दी से ऊपर जाने वाली सीढ़ियाँ चढ़ने लगा...

ऊपर मीता का कमरा ख़ाली-सा दिखाई दिया, ख़याल आया—शायद नानी-माँ बाज़ार चली गयी होंगी, और मीता नीचे बाग़ीचे में...वह तेज़ी से मुड़ने ही वाला था, जब कमरे की परली खिड़की की ओर से मीता की आवाज़ आयी—आइये!

—मीता !—संजय कमरे के अन्दर चला गया, लेकिन उस का आश्चर्य शायद उस के चेहरे पर ऐसे लिखा हुआ था, मीता ने पास आते हुए घबराकर उस की ओर देखा।

—मीता ! तुम्हें कुछ नहीं होगा, कुछ नहीं...तुम बिलकुल ठीक हो जाओगी। —संजय ने एक अजीब उत्साह से मीता की ओर देखा।

वह मुस्करा-सी दी, बोली—लेखकों के लिए कहानियाँ तो शायद आसमान से उतरती हैं, आकाशवाणियाँ भी होती हैं।

संजय हँसता हुआ-सा दीवान पर बैठ गया, कहा—आज ज़िन्दगी में पहली बार सचमुच आकाशवाणी हुई है।

—क्या ?

—तुम जिस दिन बाग़ीचे में बेहोश हुई थीं, मैं ने तुम्हें बताया नहीं कि उस दिन तुम्हें वहाँ केले के झुंड के पास पड़े हुए देखकर मुझे पहला ख़याल क्या आया था...

—क्या ?

—सिर्फ़ यह कि जैसे केले के पेड़ का एक बड़ा-सा तना फूल समेत नीचे घास पर गिरा हुआ हो...

—सच ?

—सच। तुम्हारे कपड़े केले के बड़े-बड़े पत्तों की तरह दिखाई देते थे, और...

—और ?

—तुम्हारा चेहरा केले के पीले फूलों की तरह...

संजय उत्साह में था, लेकिन मीता की आँखों में पानी-सा आ गया...

—समझीं ?

—हाँ, सचमुच तने की तरह टूट चुकी हूँ...

—लेकिन नहीं...

—नहीं, संजय ! पेड़ से टूटा हुआ तना वापस धरती में नहीं लगता...

—लगता है...

मीता इधर दीवान के पास आकर, एक बाँह दीवान पर रखकर फ़र्श पर बैठ गयी...

—रात को मुझे एक अजीब सपना दिखाई दिया। समझ में नहीं आ रहा था कि यह सपना क्या है, लेकिन मैं ने फ्रायड की तरह ख़ुद ही सपने को एनैलाइज़ कर लिया हैं...

—कैसे ?

—रात को मैं पहले एक बड़ा थका देने वाला काम करता रहा, फिर उस से जी ऊब गया तो अपनी कहानी के नोट्स लेता रहा...न जाने किस समय मेरी

आँख लग गयी, सपने में देखा—काग़ज़ पर से निकलकर सारे अक्षर मेरे हाथों में आ गये, मेरे दोनों हाथ मिट्टी के हो गये, और वह सारे अक्षर बीजों की तरह हाथों में बीजे गये...सुन रही हो ?

शायद मीता की आवाज़ भर आयी थी, वह बोली नहीं, उस ने सिर्फ़ 'हाँ' में सिर हिला दिया...

—और फिर मेरे देखते-देखते वह सारे बीज उग आये, और मेरे दोनों हाथ बहुत सुन्दर फूलों से भर गये...

मीता ने हाथ आगे करके संजय का हाथ छुआ, फिर सीधा करके उस की हथेली की ओर देखने लगी...

मीता जिस दिन बेहोश हुई थी, उस दिन संजय ने उसे अपने हाथ का सहारा देना चाहा था, लेकिन मीता ने लिया नहीं था। आज यह पहली बार थी जब मीता ने उस का हाथ अपने हाथों से छुआ था। संजय के सारे शरीर में एक झुर-झुरी-सी आ गयी, लगा—यह उसी तरह का कम्पन है जैसा रात को फूलों से भरे हुए हाथों को सूँघकर आया था...

संजय ने दूसरा हाथ भी आगे कर दिया, कहा—फूल दोनों हथेलियों पर उगे थे...

मीता ने भर आयी-सी आँखों से संजय की ओर देखा, तो संजय ने मीता का हाथ दोनों हथेलियों पर रखते हुए कहा—देखो ! सपना सच हो गया है...

—कैसे !

—मेरी दोनों हथेलियों पर तुम्हारा हाथ एक सफ़ेद फूल की तरह उगा हुआ है...

—मीता से शायद आँखों का पानी झेला न गया, उस ने अपना सिर दीवान की पट्टी पर टिका दिया।

—यह हथेलियों पर फूलों का उगना, केले के टूटे हुए तने के वापस लग जाने का चिह्न है...

मीता हँस पड़ी—यही फ्रायड का एनैलिसिस है ?

संजय भी मुस्करा दिया—सचमुच, आज फ्रायड जीवित होता तो वह भी यही कहता...

मीता का साँस खिच-सा गया, बोली—अब मैं फ्रायड बनकर दिखाऊँ ?

—किस तरह ?

—मैं इस सपने का एनैलिसिस करूँ ?

—इस का सिर्फ़ यही एनैलिसिस है जो मैं ने किया है...

मीता मुस्करा पड़ी—तो फ्रायड को यह मंज़ूर नहीं है कि दुनिया में कोई दूसरा फ्रायड भी हो सकता है...

—नहीं···मैं ने यह नहीं कहा...

—फिर मेरा एनैलिसिस भी सुन लो...

—अच्छा, कहो !

—इस सपने का मतलब है कि हमारी ज़बान के अक्षर इन हथेलियों में से कहानियाँ और उपन्यास बनकर उगेंगे...

—नहीं...

संजय ने मीता के हाथ के नीचे से हथेली खींच ली, कहा—मुझे यह एनैलिसिस नहीं चाहिए...

मीता ने हाथ आगे करके फिर संजय के हाथ को छुआ, कहा—बड़े फूल खिलेंगे, सारी दुनिया देखेगी...लेकिन मैं नहीं होऊँगी...मुझे अभी देख लेने दीजिये...

संजय ने मीता का हाथ ऊपर उठाकर होंठों से लगा लिया, मुँह से निकला—और कोई फूल नहीं चाहिए...सिर्फ़ इस हाथ का फूल—तुम्हारे हाथ का फूल मीता !

एक दिन दोपहर का समय था जब नानी माँ नीचे आयीं, संजय के कमरे में, और बोलीं—तुम्हारे लायक़ एक काम है, बेटा ! डरते-डरते आयी हूँ...

संजय वही अनुवाद वाला काम कर रहा था, कलम जिस अक्षर पर थी उसे उसी तरह वहाँ छोड़कर उठ बैठा—नानी·माँ ! मुझ से कोई भी काम कह दिया कीजिये, किसी समय भी...बीच में यह डरने वाली बात मत कहा कीजिये···

—नहीं, बेटा ! तुझ से नहीं, मीता से डरती हूँ। वह पढ़ते-पढ़ते अभी सोयी है, तो मैं चोरी से आ गयी हूँ...

—कहिये !

—मुझे टेलीफ़ोन करना नहीं आता...यह देखो। इस काग़ज़ पर नम्बर

लिखा हुआ है...

संजय ने नानी-माँ के हाथ से काग़ज़ लिया, देखा, मिस्टर पुरी का लेटर-फ़ॉर्म था, जिस पर घर का और कारख़ाने का, दोनों नम्बर लिखे हुए थे।

—तुम मेरे साथ चलो तो, बाज़ार में कई दुकानों पर टेलीफ़ोन लगे हुए हैं, बस तुम नम्बर मिला देना, बात मैं ख़ुद कर लूँगी...

संजय को फ़िक्र-सा हुआ कि मीता शायद पहले से ज़्यादा बीमार है। पूछा—वहाँ से किसे बुलाना है?

...नहीं, बेटा! जो आप आकर ख़ैर-ख़बर भी नहीं पूछते, उन्हें बुलाकर क्या करना है...तुम ने कभी देखा है? किसी ने बात पूछने को झूठमूठ भी इधर का रास्ता नहीं पकड़ा...नहीं तो आदमी लोकाचार के लिए ही...

संजय को लगा, उस ने नानी-माँ की किसी बहुत दुखती रग को छू लिया है, वह न जाने क्या कहना चाहती हैं...जो मीता से भी छुपाकर कहना चाहती हैं...

—है तो मर के मिट्टी होने वाली बात, पर क्या करूँ?—नानी-माँ ने कहा तो संजय ने उन्हें बैठने के लिए कहकर कहा—फिर मुझे बता दीजिये जो कहना है, मैं जाकर कह आता हूँ, आप यहीं बैठिये...

—नहीं बेटा! तुम अपने मुँह से क्या कहोगे, वह दस तरह के सवाल पूछेंगे—भई आप कौन हैं...

संजय को इस बात का ख़याल नहीं आया था, लगा, नानी-माँ ठीक कह रही हैं...

—तुम्हारे पास साइकिल है न, मुझे पीछे बिठा लोगे? पैदल जाने में बहुत वक़्त लग जायेगा। और अगर हमारे पीछे वह जाग गयी...

नानी-माँ को जो मीता तक की चोरी से कहना है, संजय को उस का अनुमान-सा हुआ, कहा—जो मीता नहीं चाहती, नानी-माँ वह बात जाकर नहीं कहनी चाहिए।

—लेकिन करूँ क्या, बेटा! अगर मेरे अपने पल्ले कुछ होता...

नानी-माँ ने सिर पर लिये हुए दुपट्टे को काँपते हुए हाथों से किनारी की तरफ़ से फैलाया, कहा—इस पल्ले में मुई क़िस्मत ने छेद कर दिये हैं, नहीं तो आज लड़की को जैसे उस ने धक्का दे दिया है, मैं अपने घर न ले जाती?

संजय ने नानी-माँ को बाँहों में भरकर दीवान पर जैसे ज़बर्दस्ती बिठा दिया, कहा—जाकर पैसों की बात करनी है?

—हाँ बेटा! मुँह जलता है ऐसी बात करते...लेकिन उधर से डॉक्टर कहता है, रोज़ इतने-इतने फलों का रस दो...कहाँ से लाऊँ...दीवार पर जलाने की छिपटियाँ रखने से सिर पर छत नहीं पड़ जाती।

नानी-माँ की आवाज़ टूट गयी। वह जैसे संजय के आगे नहीं, क़िस्मत के

आगे बिलख रही हो—आग लग जाये उस के लाखों को, मेरी लड़की के लिए कुछ नहीं रहा उस के पास...कहता था, हर पहली तारीख़ को मैं ख़ुद ही वहाँ भेज दिया करूँगा...आज पन्द्रह दिन ऊपर हो गये हैं...

संजय जिस दिन अनुवाद वाला काम लेने गया था, उसे अपने भीतर कुछ लगा था, वह जो उस ने अपने होंठों से अपने कानों को भी नहीं कहना चाहा था, लेकिन इस समय लगा, उस के कान वही बात नानी-माँ के मुँह से सुन रहे हैं...

—चलो, बेटा ! उठो...लेकिन आकर लड़की को कुछ मत बताना, वह मुझ पर ग़ुस्से होगी...हाथों में सोने की एक-एक चूड़ी है, कहती है—यही बेच दो...

नानी-माँ दीवान से उठ गयीं, तो संजय ने उन के कन्धे पर हाथ रखकर उसे दरवाज़े की ओर जाने से रोका, कहा—चलिये, फिर माँ-बेटे एक इक़रार करें...

नानी-मां उस के मुँह की ओर देखने लगीं, संज़य ने कहा—अभी आप ने कहा था कि मैं आप की बात मीता को न बताऊँ, कहा था न ?

नानी-माँ ने हाँ में सिर हिलाया। संजय ने कहा—न मैं आप की बात मीता को बताऊँगा, न ही आप मेरी बात मीता को बतायें !—और संजय ने अलमारी में से तीन सौ रुपये निकालकर नानी-माँ के आगे रखते हुए कहा—यह हमारा माँ-बेटे का इक़रार हुआ...

—लेकिन, बेटा !—नानी-माँ की आवाज़ गले के नीचे उतर गयी...शायद गले में नहीं, उस की अपनी छाती में।

वह छाती में से उठती हुई हूक की तरह कहने लगी—देखो ! मेरी क़िस्मत ! मेरी इकलौती बेटी थी, वह भी अपने आदमी के हाथों रिस-रिसकर मर गयी...मैं ने इस लड़की को गले से लगा लिया, मूल से ज्यादा ब्याज प्यारा होता है...और देखो ! आज वह भी...

संजय को कभी-कभी लगा करता था कि कोई बेटा माँ की जवानी को सुखी नहीं कर सकता, उस के हिस्से में सिर्फ़ माँ का बुढ़ापा आता है, जिसे वह चाहे तो जी भरकर सुखी कर सकता है...और उस की छाती में एक हसरत उठा करती थी कि वह समय उस की ज़िन्दगी में क्यों नहीं आया ? आज सामने नानी-माँ की ओर देखा तो उस की उस हसरत को जैसे साँस आ गया हो, बोला—नहीं, नानी-माँ, रोइये नहीं।

शाम का समय था जब संजय ने अनुवाद से थककर सारे काग़ज़ परे रख दिये, और अकेले बैठकर ह्विस्की पीने लगा...

कानों में मीता की आवाज़ सुनाई दी, लगा—ह्विस्की सचमुच एक करामात होती है।

पर आवाज़ ह्विस्की की करामात नहीं थी, मीता सचमुच दहलीज़ से अन्दर आकर बिलकुल पास में खड़ी हुई थी।

—डॉक्टर के पास गयी थी।—मीता ने कहा।

संजय ने दीवान से उठकर मीता से बैठने के लिए कहा, पर वह बैठी नहीं, ह्विस्की के गिलास की ओर देखने लगी...

—डॉक्टर ने क्या कहा है?

—यही कि ह्विस्की मत पीना।

संजय हँस पड़ा—अच्छा है, डॉक्टर ने आज तुम्हारी जगह मुझे मरीज़ बना लिया...

मीता का चेहरा न जाने किन चिन्ताओं में घिर गया, बोली—सच कह रही हूँ, मैं जन्म से ही ह्विस्की से परिचित हूँ...

—अच्छा, ह्विस्की की घुट्टी ली थी?—संजय हँसने लगा।

—ह्विस्की की नहीं, पर इस के अन्जाम की घुट्टी ली थी।

मीता दीवान पर बैठ गयी, कहने लगी—यही ह्विस्की थी, जिस के लिए मेरे पिता ने मेरी माँ की ज़िन्दगी गिरवी रख दी थी...

संजय ने मीता से आज तक कभी कुछ नहीं पूछा था, अब मीता ख़ुद कुछ बता रही थी तो संजय ने अनायास पूछ लिया—सच मीता! तुम जो हो, जो थीं, वह ऐसी कैसे हो गयीं? मेरा मतलब है—तुम...

—समझ गयी, यही न कि पैसों के लिए कैसे बिक गयी?

—मैं ये शब्द नहीं कह सकता...

—लेकिन यह सच है...

—अगर सच है तो क्यों ?...क्यों ?...

—बता तो रही हूँ···मेरे पिता ने मेरी माँ की ज़िन्दगी ऐसी चिन्ताओं के पास गिरवी रख दी थी, कि वह फिर कभी छुड़ा न सका···माँ सचमुच फ़िक्रों के पास गिरवी रख दी गयी थी...

संजय को कुछ कहना बहुत कठिन लगा, वह केवल मीता की ओर देखता रहा।

—मीता ने ही आगे कहा—सो, माँ के बाद मेरी बारी थी...लेकिन ब्याह तो चीज़ को गिरवी भी नहीं रखता जो कभी छुड़ाया भी जा सके···सो, उस ने मुझे बेच दिया...यह सब कुछ ह्विस्की का नतीजा है, संजय ! इसी लिए कह रही हूँ...

संजय के हाथ का गिलास अभी हाथ में ही था, उस ने मेज़ पर परे रख दिया।

—इक़रार कीजिये, नहीं पियेंगे।

—एक शर्त पर।

—क्या ?

—कि एक बार यही बात मुझ से रोज़ कह दिया करोगी...हमेशा...

—अगर हर रोज न कहूँ ?

—जिस दिन नहीं कहोगी, उस दिन पीऊँगा...

मीता ने संजय की कही हुई शर्त के मर्म को समझा, आँखें नीची कर लीं, जैसे ज़िन्दगी को उलाहना दे रही हो कि इस मासूम-सी बात को कहने के लिए भी तू मुझे मोहलत क्यों नहीं दे रही है—

—देखो !

मीता ने संजय की ओर देखा, लेकिन हारी हुई-सी आँखों से।

—तुम ने कहा था कि जो कुछ ब्याह जैसी चीज़ के आगे गिरवी पड़ जाता है, यह छुड़ाया नहीं जा सकता...मैं इक़रार करता हूँ, वह छुड़ा दूँगा, किसी भी क़ीमत पर...

और संजय ने झुककर दीवान पर बैठी हुई मीता के होंठ चूम लिया। यह अचानक हो गया था, इस लिए मीता ने घबराकर संजय की ओर देखा, कहा—फिर कभी ऐसा मत कीजियेगा।

संजय को लगा—मीता के शब्दों से मन को कहीं चोट लग गयी है, उस जगह पर जहाँ नहीं लगनी चाहिए थी।

—मैं भूल गया था। —संजय के मुँह से आधा-सा यह वाक्य निकला, और वह चुप रह गया।

—बीमारी कोई भूलने की चीज़ होती है ?

मीता ने कहा तो संजय ने एक अजीब तसल्ली के साथ उस की ओर देखा।

—आपने गलत समझा। मेरी वफ़ा किसी क़ानून से नहीं है, दिल से है... ज़िन्दगी से थी, लेकिन उस ने तोड़ दी...

—मीता!—संजय की आवाज़ ज़िन्दगी के कण-कण में उतर गयी—तुम ने क्यों समझ लिया है कि तुम जी नहीं सकती हो...तुम्हें जीना पड़ेगा...

—हमेशा चाहती थी कोई यह कहे...

—मैं कह रहा हूँ...

—पर, अब बहुत देर हो गयी है।

—नहीं...नहीं...नहीं...

—अब और कुछ नहीं, एक ही चीज़ माँगने का समय है...

—क्या?

—कह दूँ? जी चाहता है?...

—बोलो, मीता! मेरी जान माँग लो...

—अगर अपनी जान अपने पास बची होती तो ज़रूर यही माँगती...यह माँग सकती तो मुझे दुनिया से और कुछ नहीं चाहिए था...

—मीता!

—लेकिन अभी भी एक चीज़ माँगने का समय बाक़ी है...मेरा जी चाहता है, मेरा कफ़न और किसी के हाथ का न हो, सिर्फ़ तुम्हारे हाथ का, संजय!

आज पहली बार मीता के मुँह से संजय के लिए 'तुम' निकला, शायद मुँह से नहीं, रूह से! जैसे एक रूह को पास बिठाकर दूसरी रूह ने बात की हो!

संजय को पहली बार एक दरिया का दूसरे दरिया से मिलने जैसा एहसास हुआ। बीते हुए दिनों की अपनी प्यास याद आ गयी, और वह तड़प जब एक दिन उस ने काफ़्का को सम्बोधन करके कहा था—यार काफ़्का! तुम जानते हो कि एक दरिया को जो प्यास लगती है वह दूसरे दरिया की होती है। राहगीरों के मिलने से क्या होता है जब तक दरिया से दरिया न मिले...और संजय ने आज काफ़्का की जगह यह बात मीता को सुनायी।

मीता बहुत देर तक चुप रही, फिर कहने लगी—लेकिन, संजय! एक रेगिस्तान है जो मेरे चारों ओर फैला हुआ है, और मैं उस से छिपकर एक कमरे में पड़ी हुई हूँ...न जाने किस दिन, सवेरे, शाम, किसी भी समय वह मेरे कमरे में आ जायेगा...

शाम के पाँच बजे का समय था जब संजय ने अनुवाद वाले काम की अन्तिम पंक्ति लिखी। उठकर एक नज़र लिखे हुए काग़ज़ों के ढेर की ओर देखा, और लगा—आज रात उस का कमरा इन काग़ज़ों के शब्दाडम्बर से मुक्त होकर सोना चाहता है...

संजय के हाथ के सिगरेट के धुएँ से अचानक एक और धुआँ भी निकला... ख़ुदाया! कभी हमारी धरती भी उन भाषणों के शब्दाडम्बर से मुक्त होकर सोयेगी?

उसी शाम को संजय ने सारी मेहनत जाकर प्रेस के मालिक को सौंप दी, पारिश्रमिक लिया, रसीद दी, और जब उठने लगा, प्रेस के मालिक ने बैठने के लिए कहा।

—और काम मिल सकता है?

—बहुत बड़ा...अगर करें तो...

—करूँगा...

—लेकिन अनुवाद का नहीं है। वह भी मिल सकता है, लेकिन उस से बड़ा काम है, हज़ारों का :

हज़ारों के नाम पर संजय के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ, लगा—जिस दिन मेहनत का मूल्य पेट-भर रोटी देगा, वह समय अभी नहीं आया। यह ज़रूर कोई और समय है। लेकिन कहा कुछ नहीं।

—एक काम दिलवा सकता हूँ, पैसे भी आप की मर्ज़ी के, जितने चाहें।—प्रेस के मालिक का स्वर कुछ इतना मेहरबान लगा कि संजय के माथे की नस इस मेहरबानी से खिच-सी गयी।

—एक किताब लिख दीजिये—वह कह रहा था कि संजय को लगा कि आज फिर उस का नाम किसी जाली नाम की क़ब्र में डाला जाने वाला है। इस लिए उस के होंठों के पास एक हँसता हुआ-सा बल पड़ गया। मुँह से निकला लेकिन वह छपेगी किसी और के नाम से?

—नहीं, नहीं, आप के नाम से छपेगी, संजय कुमार के नाम से।

—मैं ने, नया उपन्यास लिख लिया है···वह...

—नहीं, नहीं, उपन्यास नहीं...

—फिर ?

—एक धार्मिक सम्प्रदाय है, लेकिन उन के पास पैसा बहुत है···उस सम्प्रदाय के गुरु के पास लाखों रुपये हैं...वह चाहता है उस पर किताब लिखी जाये...

संजय हँस पड़ा—क्या लिखूं ? उस के चमत्कारों पर ?

प्रेस का मालिक भी हँसने लगा—चमत्कारों से रहित भी भला कोई गुरु होता है ! बस, जो वह बताता जाये आप चुपचाप लिखते जाइये...

—यह चुपचाप वाली बात बहुत बढ़िया है...

—और क्या। क्या मुर्दे देखने आयेंगे कि सच क्या है और झूठ क्या है...

—वह मुझे भी नहीं देखना है...

—आप देखकर करेंगे भी क्या, बस दस हज़ार रखवाइये और आँखें मूँदकर लिख दीजिये। दस ही नहीं, चाहें तो बीस हज़ार रखवा लीजिये।

संजय को लगा—न कभी इस जैसी रुलाई आयी है, न कभी इस जैसी हँसी। कहा—लेकिन आँखें मूँदकर अक्षर कैसे देखूँगा ?

प्रेस का मालिक कुछ देर तक संजय की ओर देखता रहा, फिर कहने लगा—आप को एक बात बताऊँ, संजय साहब ! कई काम आँखें मूँदकर ही होते हैं। ये मशीनें जो चल रही हैं रात होने से पहले ही रुक जायें अगर हम बहुत-से काम आँख मींचकर न करें। कई बेकार किताबें छापते हैं अफ़सरों की, नहीं तो वह ख़ाक राइटर हैं ? बस, सौ-पचास जितनी वह माँगते हैं, देकर, बाक़ी कबाड़ी को उठवा देते हैं। कई सीधी हथेली पर पैसे लेते हैं, कई उलटी पर, हमें क्या... जैसे कहें कर देते हैं...

प्रेस के मालिक ने पहले कभी संजय से अपनी निजी बातें नहीं की थीं। आज कुछ कीं तो संजय को लगा—इनसान कुछ भी करे, वह चाहे कितना ही बड़ा व्यापारी क्यों न हो, उस से भी कभी-कभी मन का बोझ नहीं उठाया जाता। उसे प्रेस के मालिक के प्रति कुछ सहानुभूति हो गयी, उस के रोज़गार की मजबूरी के कारण नहीं बल्कि इस लिए कि वह ग़लत-ठीक की पहचान कहीं बचाकर रख सका है।

वह बता रहा था—और जिन की चलती है वह अपनी किताबें लोगों को ज़बर्दस्ती तो नहीं पढ़वा सकते, लेकिन स्कूलों, कॉलेजों में लगवाकर, बच्चों को पढ़वा देते हैं। ज़बर्दस्ती उन के गले से नीचे उतरवा देते हैं।

कुछ क्षणों के लिए संजय के मन का दर्द प्रेस के मालिक से साझे का-सा हो

गया, मुँह से निकला—लेकिन बच्चों का भविष्य...

—ऐसी-तैसी जी बच्चों के भविष्य की, उस की किसे चिन्ता है...

संजय के मन में मीता के शब्द घूम गये—मेरे पिता ने मेरी माँ की ज़िन्दगी चिन्ताओं के पास गिरवी रख दी थी। मन ही मन इस समय मीता से कहा—देखो, मीता! किस-किस ने किस-किस का क्या-क्या गिरवी रखवाया हुआ है...देखो, हमारी दुनिया में लोग आने वाली नस्लों का भविष्य भी गिरवी रख देते हैं...

—क्या सोच रहे हैं ?

—कुछ नहीं।

—फिर किताब लिखेंगे ?

—नहीं लिख सकूँगा।

—सोच लीजिये।

—अनुवाद का काम है तो कर दूँगा...

प्रेस के मालिक ने एक छोटी-सी किताब दे दी। साथ ही कहा—यह तो गुज़ारा करने वाली बात है।

संजय हँस दिया, किताब ले ली, और बाहर आकर बराबर के मशीन वाले हिस्से में करीम को देखने लगा...

करीम बाहर नलके पर हाथ-पाँव धो रहा था। उस ने दूर से ही संजय को आवाज़ दी और पास आकर उस के हाथ में नयी किताब देखकर फिर पुरानी बात को दोहराया—संजय साहब! खुदा से आँखों का बीमा करवा चुके हैं या अभी करवाना है ?

संजय ने करीम से हाथ मिलाते हुए कहा—मैं ने तो, करीम मियाँ! तुम से कहा था कि भई एक दिन बीमा के उस एजेण्ट को ले आना, मैं बीमा करा लूँगा... तुम लाये ही नहीं...

—अब कहाँ घर की तरफ़ चले हैं या...?—करीम ने दरवाज़े के पीछे टँगे हुए कपड़े लेते हुए और शरीर से मशीन के तेल से सने कपड़े उतारते हुए पूछा।

—सीधे घर।

—फिर मैं चलता हूँ आप के साथ।

—मैं तुम से कहने ही वाला था।

—आपने मुँह पर बातों की टोंटी जो लगा दी है, कुछ दिन हो जाते हैं आप से बातें किए हुए तो, ईमान से, नशा टूटने लगता है।

करीम ने भी अपनी साइकिल निकाल ली और संजय ने भी। रास्ते में संजय ने करीम से कहा—मियाँ! तुम अगर मोड़ पर ज़रा ठहर जाओ तो मैं कुछ दारू ले आऊँ।

—मुझे तो जी अस्पताल वालों ने परहेज़गार बना दिया है। आप पीना चाहें तो आप की मर्ज़ी... । करीम ने कहा तो संजय ने साइकिल नहीं रोकी, कहा—वैसे तो मुझे भी किसी ने परहेज़गार बना रखा है... ?

—चलिये, फिर चलकर चाय पीते हैं।

रास्ते में करीम ने अपने मन की भड़ास निकाली—संजय साहब ! लोग परहेज़गारों की बड़ी इज्ज़त करते हैं, लेकिन, जी अगर किसी ने घूँट-दो घूँट पी ली या नहीं पी, तो लोगों को उसी की इतनी फ़िक्र क्यों हो जाती है ? जिन बातों के लिए परहेज़गार होना चाहिए, उन से तो कोई होता नहीं... ।—और करीम ने बात सुनाई कि प्रेस के मालिक का सरकार-दरबार में अच्छा रसूख़ है। उसे मशीन के लिए लाइसेंस आसानी से मिल जाता है, उसे चाहे नई मशीन की ज़रूरत न भी हो, वह लाइसेंस लेकर आगे बेच देता है।—और वह जैसे उदास होकर बोला—मेहनत का मोल तो सुना था जी, लेकिन अब तो कहावतें भी झूठी पड़ गयी हैं, अब तो रसूख़ का मोल होता है...उँगली हिलाने का...

संजय मुस्करा दिया तो करीम दुःख से कहने लगा—सरकार भी अन्धी होती है, जी ! आँख खोलकर कभी नहीं देखती कि भई काग़ज़ किसे दिये हैं और मशीनें कहाँ पहुँच गयी हैं । अगलों ने बस दस्तख़तों के लिए उंगली हिलाई और हज़ारों के नोट जेब में भर लिये···

—करीम मियाँ ! यह बात तो अल्लाह हुजूर ने ख़ुद चला दी है, फिर आदमी बेचारा क्या करे।—संजय ने कहा और हँसने लगा। करीम बहुत परेशान हुआ, तो संजय ने कहा—देखो मियाँ ! अल्लाह को भी लाइसेंस मिला था आदमी बनाने का, लेकिन उस ने भी लाइसेंस आगे बेच दिया—किसी कारीगर को बेचता तो कोई बात थी, वह आदमी गढ़-गढ़कर बनाता, लेकिन उस ने इस की भी तमीज़ नहीं की, न जाने किस अनाड़ी को दे दिया, और वह रोज़ ठेके पर आदमी गढ़ने लगा···

करीम को जैसे ही हँसी आने लगी, तो सामने सड़क पर से उस का ध्यान उखड़ गया। संयोग से संजय की साइकिल न आगे थी, न पीछे, बिलकुल बराबर में थी, उस ने अपनी साइकिल की ब्रेक पर हाथ रखते हुए करीम की साइकिल के हैंडल को भी हाथ से थाम लिया तो करीम के होश लौटे। सामने से साइकिल छूता हुआ एक बच्चा दौड़ लिया तो करीम ने उस के बच जाने पर चैन की साँस ली, कहा—बच गये, जी ! नहीं तो आज अल्लाह के माल की कटौती हो जाती...

संजय ने कमरे में पहुँचकर चाय बनायी। सवेरे के चाय के गिलास अभी तक धोये नहीं गये थे, सो करीम गिलास धोने लगा, साथ ही बताने लगा—आज तो जी मैंने हाथों को भी दो बार साबुन से धोया था, बड़ा कुफ़्र तोला आज इन हाथों से···

—मैं नहीं मानता।

—क्यों जी ?

—तुम मियाँ ! इन हाथों से कोई कुफ़ नहीं तोल सकते।

—लेकिन स्याही तो मली थी...

और करीम ने संजय को बताया कि आज एक नयी पत्रिका प्रेस में छपने आई है, जिस में कितने ही पन्ने संजय के ख़िलाफ़ गालियों जैसी बातों से भरे हुए हैं।

संजय चाय पीते हुए हँसने लगा—फिर तो लगता है मैं सचमुच कोई बड़ा राइटर हूँ, नहीं तो, करीम मियाँ ! किसी को क्या मुसीबत पड़ी थी कि काग़ज़ के पैसे भी ख़र्च करता और छपवाई के भी, और अपने पास से पैसे भी ख़र्च करके गालियाँ देता...

—वह कोई हैं बड़े पैसे वाले, जी ! लेकिन यह समझ में नहीं आता, भई पैसा है तो कोई अच्छी-अच्छी किताबें छाप लो, काग़ज़ भी वही लगेगा और छपाई भी वही लगेगी, व्यर्थ में थूक बीजने में लगे हुए हैं ...

—करीम मियाँ ! अगर तुम्हारे पास पैसा होता न, तो बस मज़ा आ जाता...

—अल्लाह कसम, आप ने मेरे दिल की बात कह दी। अब्बा मरहूम ज़िन्दा थे जब मैं ने उन से कहा था—मैं उर्दू के चार अक्षर पढ़ ही लेता हूँ, मुझे क़िस्सों की एक दुकान खुलवा दो। जी चाहता था, भई क़िस्सों को ख़ूबसूरत ढंग से छापूँगा भी और बेचूँगा भी...वाहवा...वारेशाह की हीर थी, पीलू का मिर्ज़ा, बुल्हेशाह की क़ाफ़ियाँ, शाह हुसैन की क़ाफ़ियाँ, सुलतान बाहू के दोहरे...

फिर तो, मियाँ ! एक दिन मैं भी अपना उपन्यास उठाकर तुम्हारे दरवाज़े पर ही आता...

—बस जी, मौज ही हो जाती फिर तो, आप भी मिल जाते तो मेरा काम थोड़ी पढ़ाई से भी चल जाता...

लेकिन आज, मियाँ ? तुम ने वह कैसे पढ़ लिया जो मेरे ख़िलाफ़ लिखा था ?

—लगा-लतूरी करने वाले कम्पोज़ीटर जो हैं...

—हाँ, सच ?

—मेरा जी चाहता है कि भई उस अमीरज़ादी से पूछूँ कि तुम ने मोटर चलाना तो सीख लिया, लेकिन लिखना नहीं सीखा है ?

—कौन ?

—वही जो इस पत्रिका की मालिक है, जी ! एक बार आयी थी प्रेस में। अकसर तो उस का दुमछल्ला ही आया करता है, वही मेहरा, जिसे उस ने पत्रिका का एडीटर बनाया हुआ है...

—ए०सी० मेहरा ? वह पत्रिका का एडीटर है ?

—न जाने क्या राख-मिट्टी है, लिखना तो उसे आता नहीं।

—और पत्रिका का मालिक ?

—कोई चौधरी-चौधरी है।

संजय को ज़ोर से हँसी आ गयी, इतनी कि करीम मियाँ भी हैरान रह गया। पूछने लगा—जानते हैं उसे ?

—हाँ, मियाँ ! जानता हूँ।

—फिर उसे आप से क्या दुश्मनी है ?

दुश्मनी यही कि उस ने एडीटरी करने के लिए मुझ से कहा था और मैं ने इनकार कर दिया था।

—लेकिन, संजय साहब ! उस के पास पैसा तो बहुत मालूम होता है। आप मान जाते तो पत्रिका भी अच्छी हो जाती और रोज़गार भी बन जाता।

—नहीं, करीम मियाँ ! तुम उस औरत को नहीं जानते...

—समझ गया जी।

फिर संजय ने करीम को आज की प्रेस वाली बात सुनायी, किसी गुरु के चमत्कारों पर एक किताब लिखने वाली। तो दस हज़ार, बीस हज़ार की बात सुनकर करीम ने कहा—लेकिन एक बात है, जी ! अगर एक बार आप कड़वा घूँट भर लें, तो फिर चाहे सारी उम्र अपनी मर्ज़ी का आराम से बैठकर लिखते रहें।

—करीम मियाँ ! कड़वा घूँट भरने लगता है तो फिर इसी से आदमी टूट जाता है।

—टूट तो जाता है जी...

—सच-सच बताओ, तुम्हें साबुत संजय नहीं चाहिए ? तुम्हारी तरह और भी कोई है जिसे टूटा हुआ नहीं, साबुत संजय चाहिए...

—और कौन ?—करीम आज पहली बार चकित हुआ।

—उस से मिलोगे ?

—अगर आप मिलायेंगे तो...

—उठो तब !

संजय करीम को ऊपर मीता के कमरे में ले गया।

पिछले दिनों मीता ने संजय का छपा हुआ उपन्यास पढ़ लिया था, और परसों से वह नया लिखा उपन्यास पढ़ रही थी जो अभी छपा नहीं था। सो, अचानक संजय को कमरे में आये हुए देखकर उस के मुँह से उपन्यास के पात्र का नाम निकल गया—इक़बाल !

वह कुछ और कहने वाली थी, लेकिन संजय के साथ किसी और को देखकर चुपचाप दीवान से उठकर खड़ी हो गयी।

—यह मेरे दोस्त हैं, करीम क़ादिर।—संजय ने नीता को बताया और

करीम से कहा—यह मेरी मुमताज़ है, करीम मियाँ !

—सुबहान अल्ला ! करीम ने बड़े अदब से मीता को सलाम किया और संजय की ओर देखते हुए बोला—इलाही सूरतें ख़ुदा अपने हाथों से बनाता है।

मीता ने मुमताज़ शब्द का अर्थ समझने के लिए संजय की ओर देखा, लेकिन संजय ने उस की ओर नहीं, रसोई की ओर देखते हुए आवाज़ दी—नानी-माँ ! चाय पिला दीजिये बढ़िया-सी इलायची वाली।

नानी-माँ कोई एक मिनट के बाद रसोई से बाहर आयीं। करीम ने दीवान से उठकर दुआ-सलाम की, और वह प्यार से भरकर बोलीं—अभी आयी, बेटा !

—करीम भाई ! आप ने इन का नया उपन्यास पढ़ा है ?—मीता सहज मन फिर दीवान पर बैठ गयी।

करीम को ज़िन्दगी में पहली बार अपने बे-इल्म होने पर पछतावा हुआ, लेकिन हँसकर उस ने कहा—हम ने तो सिर्फ़ अपने यार को पढ़ा है और कुछ नहीं पढ़ा है।

—जो करीम ने पढ़ा है मीता, वह किसी और ने नहीं पढ़ा है। अगर तुम करीम के मुँह से बुल्हेशाह सुनो—संजय ने कहा तो मीता के चेहरे पर एक चमक-सी आ गयी, बोली—फिर नानी-माँ को बुलाओ, वह तो दीवानी हो जायेंगी। मेरे नानाजी बहुत अच्छी क़ाफ़ियाँ गाते थे, वह तो मुरीद थे बुल्हेशाह के...सुलतान बाहू भी गाते थे जिस की एक हूक से सारा गाँव गूँज उठता था...

—क्या बात है जी हज़रत बाहू की।—करीम का मन उछल पड़ा, मुँह से निकला—फिर तो जी आप सब ही रूह वाले लोग हैं...

नानी-माँ चाय ले आयीं, लेकिन रखकर जाने लगीं तो मीता ने उन्हें जाने नहीं दिया, कहा—आज करीम भाई हमारी मुराद पूरी करने आये हैं, यह सुलतान बाहू का कलाम गाते हैं।

—तुम्हारे नानाजी गाया करते थे।—नानी-माँ ने भरे मन से मीता से कहा, लेकिन एक हसरत से करीम की ओर देखा।

चाय पीकर करीम ने बोल उठाये :

अलफ़ अल्लाह चम्बे दी बूटी मुर्शद मन विच्च लाई हू
नफी असबात दा पाणी मिलिया हर रंगे हर जाई हू
अन्दर बूटी मुश्क रचाया, जाँ फुल्लण पर आई हू
मुर्शद बाहू हर दम जीवे जिस एह बूटी लाई हू[1]

---

1. अल्लाह चम्बे की एक बूटी है मुर्शद ने मन में लगाई है
हर रंग में हर जगह पर 'हाँ' और 'नहीं' का पानी मिला,
बूटी जब फूलने पर आयी तो मेरा अन्तर महक से भर गया
बाहू कहता है मेरा मुर्शद हर समय जीये जिस ने यह बूटी लगायी है।

नानी-माँ की आँखों से टप-टप आँसू बहने लगे, और संजय ने आज पहली बार मीता के मुख पर वह वज्द देखा जो अब मीता की उम्र के अपने वर्षों को भी भूल गया था...

करीम मियाँ ने मन की लहर में उस के साथ और तुकें भी जोड़ दीं :

राँझण नूँ मैं ढूँढण चल्ली, मैंनूँ राँझण मिलिया नाहीं
रब्ब मिलिया, मैनूँ राँझा ना मिलिया, रब्ब राँझ वरगा नाहीं[1]

मीता को नानी-माँ का अस्तित्व भूल गया, करीम भाई का भी, और शायद अपना भी। उस ने संजय को देखते हुए मन का न जाने कौन-सा आलम आँखों में डाल लिया, संजय को लगा—जब ईश्वर भी किसी के अस्तित्व के सामने छोटा हो जाता है, उस ने वह क्षण जी लिया है...

करीम को समय का होश हुआ, और वह मीता को सलाम करते हुए दीवान पर से उठ खड़ा हुआ।

—आज मालूम नहीं, करीम भाई! आप मुझे क्या दे चले हैं।—मीता ने भरी हुई आँखों से करीम की ओर देखा, और कहा—ऐसे लगता है जैसे मुझे अपना आप खोजकर दे चले हैं।

संजय करीम को लेकर नीचे अपने कमरे में आया तो उस का मन बह निकला। करीम को दीवान पर बिठाकर वह पैरों के बल नीचे फ़र्श पर बैठते हुए करीम की गोद में सिर रखकर रो पड़ा, सुबककर बोला, यह जो कुछ मिला है, करीम मियाँ! अभी खो जायेगा। जो भी मुमताज़ होती है, वह दुनिया की चीज़ नहीं होती।

करीम ने सारा दुःख जाना, समझा, बोला—ख़ुदावन्द! देखो, अपने आदम के आँसू, जो तुम से भी पोंछे नहीं जाते...
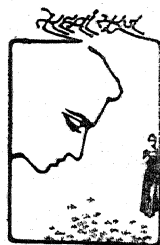
संजय कितनी ही देर तक खिड़की से दिखने वाले आसमान के उस टुकड़े की

1. मैं राँझे को ढूँढ़ने चली, मुझे राँझा नहीं मिला,
ख़ुदा मिला, मुझे राँझा नहीं मिला, लेकिन ख़ुदा राँझे जैसा नहीं है।

ओर देखता रहा जहाँ एक क्षण पहले मीता ने उँगली से संकेत किया था—

—संजय ! विश्वास करोगे ?—उसने पूछा था।

—हाँ,करूँगा, मीता !—संजय ने कहा था। वह नहीं जानता था किस बात पर, और क्यों। पर विश्वास न करने से विश्वास कर लेना ही आसान लगा था। उस से मीता का चेहरा भी कुछ सुखी हो गया लगा था और उस ने कहा था—वहाँ नीले बादल में मैं होऊँगी...

और संजय ने देखा—सामने बादल का एक नीला टुकड़ा है और आसमान में एक सफ़ेद पक्षी उस बादल की दिशा में उड़ रहा है...

फिर लगा—वह उड़ता हुआ पक्षी बादल के बीच में जाकर रुक गया है—एक ही जगह पर, उसी तरह सफ़ेद परों को फैलाये हुए—और बादल के नीले रंग में से पक्षी के परों का सफ़ेद रंग और उधड़ आया है...

पक्षी उसी तरह एक ही जगह पर ठहरा हुआ है...फिर ढलते हुए सूरज की लाली से बादल का वह टुकड़ा भी लाल हो गया, पक्षी के पंख भी...

नानी-माँ की चीख़ निकली, लेकिन संजय की गोद में एक ख़ामोशी हमेशा के लिए पड़ गयी...जैसे इस समय मीता का सिर गोद में पड़ा हुआ था...

और फिर रात की स्याही आसमान की लाली को दोनों हाथों से पोंछने लगी...

अन्तिका

कुछ आवाज़ें, शायद शताब्दियों से हवा में ठहरी हुई थीं, संजय के कानों में पड़ीं...

—हे बेटा ! अगर तुम इस महायुद्ध को देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि दे सकता हूँ...

—हे ब्रह्मदेव ! वेदव्यास ! इस युद्ध में मेरे ही कुल का नाश होगा, इस-

लिए मैं इसे आँखों से नहीं देखना चाहता। मैं धृतराष्ट्र आँखों से हीन ही रहना चाहता हूँ। मैं केवल युद्ध का समाचार सुन सकूँ, ऐसी कृपा कीजिये।

संजय के कान चौंक गये, एक आवाज़ कान में पड़ी—हे संजय ! तुम युद्ध की सम्पूर्ण, प्रकट, अप्रकट, और मन की बात जानने में भी समर्थ होगे, मैं तुम्हें दिव्य दृष्टि देता हूँ, तुम ही धृतराष्ट्र को सारे युद्ध का हाल सुनाते रहोगे।

कानों में फिर आवाज़ आयी। इस बार वेदव्यास की नहीं, धृतराष्ट्र की—हे संजय ! पुण्यभूमि कुरुक्षेत्र के मैदान में इकट्ठें हुए कौरवों और पांडवों ने किस प्रकार युद्ध आरम्भ किया ?

असीम निस्तब्धता छा गयी। घोर अँधेरे का साम्राज्य हो गया। न कोई शब्द, न कोई आकृति।—समय का ज्ञान भी अलोप हो गया...संजय को कुछ पता नहीं लग रहा था कि वह किस स्थान पर है और किस काल में।

अचानक एक रथ के पहियों की आवाज़ कानों में आयी, साथ ही एक आवाज़—आओ, सारथि, रथ चलाओ !

अँधेरे की थाह नहीं लग सकी, इस लिए संजय ने चकित होकर पूछा—राजन्, आप स्वयं रथ चलाकर कैसे आये ?

उत्तर मिला—यह धृतराष्ट्र का रथ नहीं है इतिहास का रथ है, बीसवीं शताब्दी के इतिहास का। आओ संजय ! मेरे कलाकार ! रथ चलाओ और मुझे सुनाओ कि मन की पुण्यभूमि पर इस समय क्या घट रहा है ? जो कोई भी ज़िन्दगी का सपना क़लम में भरता है, उस के मन का हाल सुनाओ !

संजय ने रथ की रास थामी और कहा—जो आज्ञा !

आवाज़ आयी—सुनाओ ! क़लम की शक्ति कैसी है ?

—लहू-लुहान अक्षरों में डूबी हुई।—संजय ने कहा, और अपने मन के पन्नों को अक्षर-अक्षर खोल दिया..

संजय ने, चेतन और अचेतन तौर पर, जो कुछ जिया, भोगा, सोचा और सुनाया, यह किताब अक्षर-अक्षर वही है।

और इतिहास सिर झुकाकर सुनता रहा। केवल एक बार उस ने सिर ऊपर उठाया, संजय की ओर देखा, और कहा, "पुराणों और स्मृतियों में अलग-अलग महीनों के लिए अलग-अलग सूरज की कल्पना है। सो, बारह सूरज गिनाये गये हैं—इन्द्र, धाता, भग, पूषा, मित्र, वरुण, अर्यमा, अंशु, विवस्वत, तुस्ता, सविता और विष्णु। पर इन्सान के चिंतन को मैं दिव्य दृष्टि मानता हूँ। सो मेरे सारथि, तुम्हारा यह सारा दर्द और सारा चिंतन, तुम्हारे मस्तिष्क की रोशनी है। इस रोशनी को मैं तेरहवाँ सूरज कहता हूँ और मानव जाति को वर देता हूँ कि उस का तेरहवाँ सूरज सदा उस के आकाश पर चढ़ा रहेगा...

उनचास दिन

संजय की सारी जान सिकुड़कर सिर्फ़ एक लकीर बन गयी, उस के मस्तिष्क में पड़ी हुई हलकी-सी होश की एक लकीर।

संजय के होंठ नहीं, जैसे वह लकीर हिली हो, "आप कौन हैं ? मेरे सारे शरीर पर यह नमक की डलियाँ क्यों रख रहे हैं ?"

कमरे में सिर्फ़ संजय का जिगरी दोस्त करीम क़ादिर था। उस के सिरहाने की ओर बैठा हुआ वह जल्दी से बोल उठा, "संजय, यार, नमक की नहीं, बर्फ़ की डलियाँ हैं। और यहाँ कोई नहीं है। डाक्टर आया था, पर वह तो चला गया है। सिर्फ़ मैं हूँ...तुम्हारा करीम।"

संजय के मस्तिष्क की लकीर में फिर एक हरकत हुई, "कौन, करीम मियाँ ? ...सुनो, मेरी रूह इस जिस्म को छोड़ चुकी है। अब इसे नमक की डलियों में सँभालकर रखने का कोई फ़ायदा नहीं है।"

जैसे बर्फ़ की डलियों से पानी की बूँदें गिर रही थीं, करीम की आँखों से भी गिर पड़ीं और वह अपनी आवाज़ को सँभालकर बोला, "कुछ नहीं हुआ, संजय ! बहुत ज़ोर का बुख़ार था, अब उतर रहा है।"

संजय ने अपने मस्तिष्क की चेतना को अपनी आँखों में उतारना चाहा, नज़र

भरकर करीम के मुँह की ओर देखना चाहा, पर आँखों में हरकत नहीं आयी। उस ने करीम के चेहरे का अनुमान-सा किया, कहा, "करीम, यार ! मिस्री लोगों की तरह मेरी लाश को सैकड़ों बरस तक सँभालकर रखने की ज़रूरत नहीं है। यह शरीर पाँच तत्त्वों का बना हुआ है और इन पाँचों तत्त्वों को वापस करना होता है, चाहे जैसे भी करो।"

करीम का शरीर संजय की आवाज़ से ऐसे लरज़ गया कि उसे भी संजय की तरह अपने मरे हुए होने का ख़याल-सा होने लगा।

पर संजय की आवाज़ अब भी उस के कानों में पड़ रही थी, "और यार ! इसे चाहे आग के हवाले करें, या मिट्टी में दफ़नाकर मिट्टी के हवाले, चाहे पानी में बहाकर पानी के हवाले, और चाहे उड़ते हुए पंछियों के खाने के लिए रख दें, बात एक ही है। अलग-अलग मज़हबों ने अलग-अलग रास्ते रखे हुए हैं, पर फ़र्क़ कोई नहीं है..."

आवाज़ कहीं से हिली या काँपी नहीं। करीम को फिर अपने और संजय के ज़िंदा होने का अहसास हुआ और उस ने भरे मन से कहा, "यार संजय ! पूरे अड़तालिस घण्टे बाद तुम्हारी आवाज़ सुनी है...तुम क्या जानो, वे अड़तालिस घंटे मेरे मन में क्या-क्या संदेह डालते रहे...अब मुँह से आवाज़ निकाली है तो कोई अच्छी बात करो...ये कैसी बातें कर रहे हो..."

करीम की आवाज़ संजय के कानों के पास जाकर शायद धरती पर गिर पड़ी, बस कोई दो-एक शब्द कानों के अन्दर जा सके, "अड़तालिस घण्टे..."

और ये शब्द संजय के होंठों पर कई बार काँपे, "अड़तालिस घण्टे...अड़तालिस...दो दिन...अभी दो दिन हुए हैं...अभी डेढ़ दिन बाक़ी है..." और संजय की आवाज़ धीमी-सी होकर उस के होंठों में डूबने लगी।

करीम ने संजय की बाँह को हिलाया; पर बाँह में कोई हरकत नहीं आयी। फिर उस ने संजय के कान के पास मुँह करके पूछा, "अभी डेढ़ दिन बाक़ी है... किस बात का डेढ़ दिन ?"

संजय की आवाज़ फिर लरज़ गयी, "तुम समझते नहीं, करीम मियाँ !"

करीम का मन छलक पड़ा, "यह तो समझता हूँ, यार ! कि मीता की मौत तुम से सही न गयी, तुम ने अपने होश गँवा दिये; पर अब डेढ़ दिन कौन-सा कह रहे हो, यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है।"

संजय का सारा शरीर बर्फ़ की सिल के समान था, पर अभी थोड़ा-सा होश कहीं अटका हुआ था, जो सिल में से पानी की बूँद की तरह कभी-कभी टपक पड़ता था। वह बोला, "रूह जब बदन को छोड़ती है, उसे पूरे साढ़े तीन दिन लगते हैं छोड़ने में। दो दिन हो गये हैं अब डेढ़ दिन बाक़ी है।"

"एक तो मीता हमें मार गयी और अब मुझे तुम्हारी ये बातें मार रही हैं।"

करीम रो उठा, और फिर बोला, "अच्छा, मुँह खोलो, चमचे से दवाई डाल दूँ।"

संजय ने न जाने करीम की बात सुनी या नहीं, पर जब करीम ने शीशी में से दवाई चमचे में उड़ेली और चमचा उस के होंठों के पास किया तो संजय के मुँह से निकला, "नहीं, नहीं...मुझे कोई इच्छा नहीं है...कोई नहीं..."

और संजय के भिचे हुए दाँत फिर खुले। करीम ने ज़बर्दस्ती दवाई का चमचा होंठों में उलट दिया, पर सारी दवाई होंठों के पास बहकर बाहर गर्दन पर बिखर गयी।

"या ख़ुदा !" करीम के मुँह से घबराकर निकला। और फिर वह संजय को झंझोड़ते हुए बोला, "डाक्टर कह रहा था, सन्तरे का रस निकालकर और सब्ज़ियाँ उबालकर उन का शोरबा एक-एक घूँट करके ज़रूर पिलाना...यहाँ मैं यह कैसे बनाऊँ ? अगर तुम मानो तो तुम्हें अपने घर ले चलूँ ?"

करीम की आवाज़ संजय तक नहीं पहुँची। शायद उस के माथे में उठी हुई चेतना की एक लकीर और मद्धिम हो गयी थी।

करीम ने घबराकर खिड़की से बाहर देखा और दरवाज़े के पास खड़े हुए इस इमारत के चौकीदार को इशारे से बुलाया। फिर सीढ़ियों की ओर हो गया और सीढ़ियाँ चढ़कर आते हुए चौकीदार से कहा कि वह जल्दी से जाकर एक टैक्सी ले आये।

करीम ने संजय की अलमारी खोलकर उस के दो-एक कपड़े निकाले, फिर कपड़े और दवाओं की शीशियाँ एक अख़बार के टुकड़े में बाँध लीं। बर्फ़ के मोटे-मोटे ढेले भी इकट्ठा करके एक तौलिये में बाँध लिये और फिर वह मेज़ पर कमरे की चाभी ढूँढ़ने लगा, जाते समय कमरे को बन्द करने के लिए।

चौकीदार टैक्सी ले आया तो उस की मदद से करीम संजय को दीवान पर से उठाने लगा। उस ने एक बाँह संजय के गिर्द लपेटी थी, जिस समय संजय के होंठ फिर कुछ हिले, "डेढ़ दिन हो गया ?...साढ़े तीन दिन हो गये ?..."

करीम के हाथ वहीं काँपने लगे। संजय कह रहा था, "पर मैं तो तिब्बतियन नहीं हूँ, फिर यह लामा क्यों आया है ?...और मेरे गले में अपना पटका डालकर मेरी आत्मा को रास्ता दिखाने के लिए खड़ा है...अच्छा, मैं आता हूँ पीछे-पीछे ...आप आगे चलें..."

"या अल्लाह !" करीम के मुँह से निकला और उस ने दाँतों से अपना होंठ काट लिया। संजय फिर कुछ नहीं बोला तो लाचार करीम ने दोनों बाँहों का ज़ोर लगाकर संजय को कन्धे पर डाल लिया, और चौकीदार से कमरे का दरवाजा बन्द करवाकर, सीढ़ियाँ उतर गया।
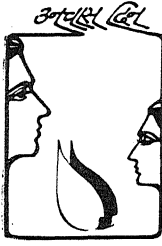
चिराग़ दिल्ली में एक पुराने टूटे-फूटे-से घरों की बस्ती थी, जहाँ करीम का घर था। घर अच्छा खुला हुआ था लेकिन ऐसा, जैसे किसी खँडहर का एक हिस्सा हो। दो तरफ़ कितनी ही छोटी-छोटी कोठरियाँ थीं और बीच में एक आँगन था। पर जिस गली से इस घर को रास्ता आता था, वह कुछ तो तंग थी और कुछ उसे गली वालों ने खाटें-मूढ़े डालकर तंग बनाया हुआ था। किसी-किसी ने वहाँ डंगर-बच्छा भी बाँध रखा था पर उस तंग गली की बू में से होकर जो आदमी एक बार साँस रोककर गुज़र जाये और करीम के घर का गली की ओर खुलने वाला दरवाजा बन्द कर ले, तो भीतर जाकर एक पतझड़ी साँस जरूर आती थी—पर खुली हुई और पिछली दीवार की ओर उगे हुए नीम के पेड़ों की जो छाया आँगन में पड़ती थी, वह सारे घर को गली से तोड़कर एक अलग-थलग-सा घर बना देती थी।

गली तक पहुँचने वाला बाहर का रास्ता चाहे कच्चा और गड्ढे वाला था, पर करीम मियाँ टैक्सी वाले के हाथ-पैर जोड़कर टैक्सी को गली के मोड़ तक ले आया। फिर गली के मोड़ वाले पहले मकान में उपले थाप रही हुस्नो दाई से कहकर अपनी बड़ी लड़की को घर से बुला भेजा जो कपड़ों और दवाओं की पोटली को और बर्फ़ की गठरी को टैक्सी से निकालकर घर ले जाये। ख़ुद उस ने बिलकुल अचेत पड़े संजय को अपने कन्धे पर डाल लिया।

दरवाज़े के अन्दर पाँव रखते ही, जब करीम की दोनों बीवियाँ 'हाय अल्ला' कहकर एक कोठरी में चारपाई बिछाने लगीं तो करीम ने दोनों को संबोधन करते हुए कहा, "यह मेरा यार भी है, मेरा बेटा भी। अगर तुम दोनों इसकी ख़िदमत करके इसे अच्छा कर दो तो, नेक बंदियो! मैं तुम्हारा क़र्ज़दार रहूँगा।"

तौलिये में लपेटी हुई बर्फ़ संजय के सिर पर रखते हुए करीम ने जब अपनी एक बीवी को काले चने का शोरबा बनाने के लिए कहा तो उसे याद आया कि वह रास्ते से सन्तरे लाना भूल गया था।

पछतावा-सा करते हुए करीम ने अपनी बेटी से कहा, "जाओ, दौड़कर जाओ,

शीरीं ! शायद टैक्सी वाला अभी खड़ा हो । कह रहा था, गाड़ी गर्म हो गयी है, पानी डालकर ज़रा ठण्डी करूँगा..."

शीरीं गली की ओर दौड़ी। थोड़ी देर बाद वह जब लौटी तो उस के हाथ में चार सन्तरे थे, "अब्बा ! टैक्सी वाला तो जा चुका था, मैं चाचा नज़ीर के घर से सन्तरे ले आयी हूँ ।"

करीम को पहले ध्यान नहीं आया था, पर उस की बेटी ने नज़ीर का नाम लिया तो उसे ध्यान आया कि वह सन्तरों की छाबड़ी लगाता है।

"चाचा घर पर नहीं थे, वह तो छाबड़ी लेकर शहर गये हुए हैं, चाची ज़ीनत से माँग लायी हूँ ।" लड़की ने कहा तो करीम का चेहरा खिल उठा। बेटी के सिर पर प्यार से हाथ फेरते हुए बोला, "मैं नहीं जानता था...तुम तो अक्लमंद लड़की हो...लो, अब ऐसा करो, बर्फ़ तो और कहीं मिलेगी नहीं, और नल का पानी गर्म होगा, तुम कूई से पानी की बाल्टी भर लाओ और ठंडे पानी में पट्टियाँ भिगोकर मुझे देती जाओ ।"

रात काफ़ी गुज़र चुकी थी जब करीम को लगा कि संजय का बुख़ार अब बहुत कम हो गया है। उस ने न अभी आँखें खोली थीं न मुँह से कुछ बोला था। पर यह गफ़लत इतनी बुख़ार की नहीं लग रही थी जितनी उस के निढाल पड़े हुए शरीर की ।

करीम ने कई बार उस के मुँह के पास हथेली रखकर उस की साँस देखी थी। साँस धीमी थी, पर उखड़ी हुई नहीं। करीम ने जब-जब चमचे से मुँह में दवा डाली, दवा भी अन्दर चली गयी थी, सन्तरे का थोड़ा-सा रस भी, और काले चने का कोई आधी कटोरी शोरबा भी ।

और करीम अब सवेरे की तरह घबराया हुआ नहीं था, इस लिए जब उस ने कई घण्टे से लगातार संजय के सिरहाने बैठे-बैठ अपने शरीर की अकड़ाहट को तोड़ा तो परली दीवार के पास सोई हुई उस की एक बीवी जाग गयी, उठकर आयी और बोली, "अब जाओ, घड़ी भर को कमर सीधी कर लो, मैं तुम्हारे इस बेटे के पास बैठती हूँ ।"

करीम हँस-सा पड़ा, "अच्छा ! बरकत ! तुम्हें भी मेरा दर्द है ?"

"आज तुम्हें देखा, किसी का तुम्हें दर्द है, नहीं मैं तो समझती थी कि तुम कंकड़ की तरह किसी भी दाल में नहीं गलते।" बरकत ने कुछ उलाहने से

हँसकर अपनी बीवी का उलाहना झेल लिया और बोला, "सच कहता हूँ, अगर इस आदमी को कुछ हो गया, तो मैं ज़िन्दा नहीं रहूँगा ।"

करीम अभी चारपाई पर पड़कर कोई घण्टा भर सोया होगा कि उस की बीवी ने

घबराकर उसे जगाया, "उठो, देखो । उस ने आँखें खोलीं...फिर चारों तरफ़ देखता रहा...कुछ बोला भी, पर मेरी समझ में नहीं आया..."

करीम जल्दी से उठा, संजय के पास बैठकर बोला, "देखो, यार संजय ! मैं तुम्हें कहाँ ले आया हूँ, देखो..."

अब संजय ने आँखें खोलीं, पास ही रखे लकड़ी के स्टूल की ओर देखा, जिस पर पानी का गिलास, शोरबे का प्याला और एक संतरा रखा हुआ था ।

"कुछ दूँ ?" करीम ने जल्दी से पूछा और लकड़ी के स्टूल की ओर हाथ बढ़ाया ।

संजय की आवाज़ कानों में पड़ी, "आप लोग रोज़ यहाँ मेरे खाने के लिए कुछ रखते हैं ?"

करीम हँस-सा पड़ा, "आज तो पहला दिन है..."

करीम को लगा, संजय स्टूल से नज़र हटाकर उस की ओर देख रहा है, पर शायद पहचान नहीं रहा है । कह रहा था, "ये सब वहम होते हैं ।"

"काहे के वहम ?" करीम ने कुछ घबराकर पूछा ।

"यही कि जिस जगह किसी की मौत हुई हो, उस जगह उस की रूह रोज़ कुछ खाने के लिए आती है...लोग रोज़ वहाँ उस के लिए खाना रख देते हैं... पूरे उनचास दिन...पर मेरा अब शरीर नहीं है, सिर्फ़ रूह है, और रूह के कोई हाथ नहीं होता, खाने के लिए..." संजय ने कहा तो करीम बहुत घबरा गया, जल्दी से संजय का हाथ पकड़कर हिलाया और बोला, "यार संजय ! तुम्हें कुछ नहीं हुआ है । यह देखो, तुम्हारा हाथ, यह तुम्हारा माथा, कन्धे...टाँगें...अच्छा-भला यह तुम्हारा शरीर है..."

"नहीं, यह मेरा शरीर नहीं है ।" संजय ने लम्बी-सी साँस लेते हुए कहा, "यह तुम ने मेरी मौत के बाद मेरा पुतला बनाया है...मेरा शरीर तो तुम ने आग में जला दिया था..."

करीम की चीख़-सी निकल गयी, "नहीं, संजय ! नहीं..."

"मैं ने ख़ुद देखा था..."

"कब ?"

संजय की आवाज़ रुक गयी, जैसे वह कुछ याद कर रहा हो, लेकिन याद न आ रहा हो ।

"कब ? कब ?" करीम ने फिर घबराकर कहा तो संजय को कुछ याद-सा आ गया । बोला, "जब मीता को भी लकड़ियों पर रखकर जलाया था..."

करीम को लगा, उस ने संजय की बेसुधी की कुछ थाह पा ली है । हौले से उस ने माथे पर हथेली रखकर कहा, "मेरे यार ! मरे हुओं के साथ मरा नहीं जाता । मीता की सचमुच मौत हो गयी, पर तुम ज़िन्दा हो । देखो, ऐसी बात मत

करो। तुम यहाँ मेरे पास हो, अपने करीम के पास..."

"नहीं...मीता के पास...मैं ने अभी उसे देखा है।"

करीम को लगा, अगर वह इस समय और किसी बात की बजाय सिर्फ़ मीता की बातें करता रहे तो शायद संजय का होश लौट आये।

करीम ने पूछा, "अच्छा, तुम ने मीता को देखा था? कहाँ थी?"

संजय की आवाज़ आयी, "बहुत दूर से देखा था, नीली रोशनी में..."

"वह नीली रोशनी किस चीज़ की थी?" करीम ने साधारण और स्वाभाविक-सी बातें करने वाली आवाज़ में पूछा।

"न जाने किस की है, अब भी दिखाई दे रही है चारों तरफ़...बहुत हलकी नीली, दूधिया-सी..."

"पर किस चीज़ की रोशनी है?"

"पता नहीं...न सूरज की है, न चाँद की, न आग की..."

"और तुम कहाँ बैठे हुए हो?"

"बैठा हुआ नहीं हूँ, मैं उस रोशनी में तैर रहा हूँ..."

"वह पानी जैसी है?"

"नहीं, हवा जैसी..."

"पर हवा में तो पंख वाले पंछी उड़ते हैं।"

"रूहें भी..."

"और वहाँ मीता भी है?"

"मैं ने देखा था, बहुत दूर से...अभी ढूँढ़ लूँगा..."

"वह कैसे कपड़े पहने हुए थी?"

"रूहों के शरीर पर कपड़े नहीं होते..."

"कैसी लग रही थी, वैसी ही सुन्दर?"

"रूहों का शरीर भी नहीं होता..."

"फिर तुम ने उसे कैसे पहचाना?"

"रूहें रूहों को पहचान सकती हैं..."

"लेकिन कैसे?"

"उन का शरीर होता है, पर आग और हवा का बना हुआ...मांस का नहीं होता..."

"और तुम्हारा शरीर?"

"वह भी आग और हवा का बना हुआ है...वह मुझे जरूर पहचान लेगी..."

"और वहाँ क्या है?"

"कुछ नहीं, सिर्फ़ चारों तरफ़ नीली रोशनी है..."

और संजय की बातों पर करीम को रोना आ गया।

सवेरा होते ही करीम एक डाक्टर को बुला लाया। रास्ते में उसे बताता आया था, 'वैसे तो बुख़ार ही था, बहुत तेज़, सिर पर बर्फ़ रखी, दवा दी, अब वह भी उतरा हुआ लगता है; पर बेहोशी नहीं टूटती, डाक्टर साहब...'

पर डाक्टर जब गली पार करके करीम के दरवाजे के पास पहुँचा तो करीम ने उसे दहलीज़ पार करके हाथ के इशारे से रोक लिया।

डाक्टर दीवार के पास खड़ा हो गया, तो करीम असमंजस में पड़ गया। डाक्टर से बात करने को उसे सूझ भी रहा था, पर वह अपने आप ऊहापोह में भी पड़ा हुआ था।

"मरीज़ के बारे में कुछ और कहना है?" डाक्टर ने पूछा तो करीम की आवाज़ 'हाँ...हाँ...' कहते-कहते गले में अटक गयी।

"बीमारी को ठीक समझ लूँगा तो दवा दे सकूँगा।"

"हाँ जी,...मैं भी यही सोचता हूँ...इसी लिए..."

और करीम ने कुछ झिझककर डाक्टर को बताया, "बात यह है जी, आदमी बड़ा ज़हीन है, पर हस्सास दिल भी कुछ ज़्यादा ही है...मेरा ख़याल है...लड़की की मौत को उस ने दिल पर ले लिया है।"

"कौन? उस की बीवी थी?"

"नहीं, जी...यह तो अभी कुँआरा है।"

"उस से इस का ब्याह होनेवाला था?"

"नहीं जी...वह तो ब्याही हुई थी।"

"तो फिर वह कौन थी?" डाक्टर ने कुछ हैरान होकर करीम की ओर देखा तो करीम को लगा, वह सीधी बात करने की बजाय ख़ुद ही दीवानों जैसी बातें कर रहा है। सोचने लगा, भला इस सारी बात का डाक्टर से क्या वास्ता है?

"किसी हादसे में अचानक उस की मौत हो गयी थी?" डाक्टर ने करीम को चुप-सा देखकर बात चलाने के लिए पूछा।

करीम फिर बौखला-सा गया, बोला, "नहीं जी...उसे तो बचना ही नहीं था, जैसी बीमारी थी...पर वह अभी बहुत जीने योग्य थी।"

और करीम फिर ख़ुद ही अपने-आप को लानत-सी करता हुआ बोला, "असल में इस की बीमारी से मैं ख़ुद भी पागल-सा हो गया हूँ...बात बस इतनी है कि यह किसी लड़की से मुहब्बत करता था, पर वह बीमार थी, बच नहीं सकी, यह सदमा खा गया लगता है, डाक्टर साहब !"

"कोई बात नहीं, ठीक हो जायेगा। आओ, मरीज़ के पास चलें।" डाक्टर ने कहा तो करीम उसे अन्दर कोठरी में संजय के पास ले गया।

डाक्टर ने नब्ज़ देखी, ब्लडप्रेशर लिया, साँस का मुआयना किया। संजय ने एक-दो बार आँखें खोलकर देखा भी, पर न उस की आँखों में किसी की पहचान आयी, न होंठों पर कोई सवाल आया।

"जिस्म में किसी जगह दर्द होता है ?" डाक्टर ने कई बार दोहरा-दोहराकर पूछा तो संजय का चेहरा कुछ कसा हुआ-सा हो गया, जैसे किसी जगह लगे हुए उस के ध्यान में डाक्टर की आवाज़ ने कोई विघ्न डाला हो।

फिर डाक्टर ने संजय की बाँह को जब अच्छी तरह हिलाकर वही सवाल किया तो संजय ने हौले से कहा, "दर्द ? कहाँ ? नहीं...कहीं कोई दर्द नहीं..."

"सिर में ? या टाँगों, बाँहों में ?"

"मेरा सिर मांस का नहीं है, न टाँगें, न बाँहें...दर्द हो ही नहीं सकता।" संजय ने कहा तो डाक्टर ने हैरान होकर एक बार संजय की ओर देखा, फिर करीम की ओर।

"बस, यही मरज़ हैं, डाक्टर साहब ! इस का ख़याल है कि यह ज़िन्दा नहीं है।" करीम ने बताया।

डाक्टर ने अपना हाथ संजय की आँखों के सामने करके पूछा, "अच्छा, यह क्या है ?"

"नीली रोशनी...सलेटी-सी...बादलों जैसी !..."

डाक्टर ने कमरे में चारों ओर देखा, फिर दहलीज़ के पास खड़ी हुई करीम की लड़की पर नज़र पड़ी तो देखा कि उस ने गहरे लाल रंग की चुनरी ओढ़ी हुई है। डाक्टर ने लड़की को अपने पास बुलाया और उस की चुनरी को संजय की आँखों के आगे तान-सा दिया, फिर पूछा, "यह कौन-सा रंग है ?"

"नीला...बहुत गहरा नीला...चमकदार...

डाक्टर ने एक इंजेक्शन दिया, नुस्ख़ा लिखा, और करीम से कहा, "शायद कुछ दिन रोज़ इंजेक्शन देना पड़ेगा। यह दवा चार-चार घंटे बाद देते जाना। कल सवेरे मैं ख़ुद आकर इंजेक्शन दे जाऊँगा। पर अगर शाम को या रात को हालत ज़्यादा ख़राब हो जाये तो मुझे ख़बर देना...इस समय बुख़ार बिलकुल

सवेरा होते ही करीम एक डाक्टर को बुला लाया। रास्ते में उसे बताता आया था, 'वैसे तो बुख़ार ही था, बहुत तेज़, सिर पर बर्फ़ रखी, दवा दी, अब वह भी उतरा हुआ लगता है; पर बेहोशी नहीं टूटती, डाक्टर साहब...'

पर डाक्टर जब गली पार करके करीम के दरवाजे के पास पहुँचा तो करीम ने उसे दहलीज़ पार करके हाथ के इशारे से रोक लिया।

डाक्टर दीवार के पास खड़ा हो गया, तो करीम असमंजस में पड़ गया। डाक्टर से बात करने को उसे सूझ भी रहा था, पर वह अपने आप ऊहापोह में भी पड़ा हुआ था।

"मरीज़ के बारे में कुछ और कहना है?" डाक्टर ने पूछा तो करीम की आवाज़ 'हाँ...हाँ...' कहते-कहते गले में अटक गयी।

"बीमारी को ठीक समझ लूँगा तो दवा दे सकूँगा।"

"हाँ जी,...मैं भी यही सोचता हूँ...इसी लिए..."

और करीम ने कुछ झिझककर डाक्टर को बताया, "बात यह है जी, आदमी बड़ा ज़हीन है, पर हस्सास दिल भी कुछ ज़्यादा ही है...मेरा ख़याल है...लड़की की मौत को उस ने दिल पर ले लिया है।"

"कौन? उस की बीवी थी?"

"नहीं, जी...यह तो अभी कुँआरा है।"

"उस से इस का ब्याह होनेवाला था?"

"नहीं जी...वह तो ब्याही हुई थी।"

"तो फिर वह कौन थी?" डाक्टर ने कुछ हैरान होकर करीम की ओर देखा तो करीम को लगा, वह सीधी बात करने की बजाय ख़ुद ही दीवानों जैसी बातें कर रहा है। सोचने लगा, भला इस सारी बात का डाक्टर से क्या वास्ता है?

"किसी हादसे में अचानक उस की मौत हो गयी थी?" डाक्टर ने करीम को चुप-सा देखकर बात चलाने के लिए पूछा।

करीम फिर बौखला-सा गया, बोला, "नहीं जी...उसे तो बचना ही नहीं था, जैसी बीमारी थी...पर वह अभी बहुत जीने योग्य थी।"

और करीम फिर ख़ुद ही अपने-आप को लानत-सी करता हुआ बोला, "असल में इस की बीमारी से मैं ख़ुद भी पागल-सा हो गया हूँ...बात बस इतनी है कि यह किसी लड़की से मुहब्बत करता था, पर वह बीमार थी, बच नहीं सकी, यह सदमा खा गया लगता है, डाक्टर साहब !"

"कोई बात नहीं, ठीक हो जायेगा। आओ, मरीज़ के पास चलें।" डाक्टर ने कहा तो करीम उसे अन्दर कोठरी में संजय के पास ले गया।

डाक्टर ने नब्ज़ देखी, ब्लडप्रेशर लिया, साँस का मुआयना किया। संजय ने एक-दो बार आँखें खोलकर देखा भी, पर न उस की आँखों में किसी की पहचान आयी, न होंठों पर कोई सवाल आया।

"जिस्म में किसी जगह दर्द होता है ?" डाक्टर ने कई बार दोहरा-दोहरा-कर पूछा तो संजय का चेहरा कुछ कसा हुआ-सा हो गया, जैसे किसी जगह लगे हुए उस के ध्यान में डाक्टर की आवाज़ ने कोई विघ्न डाला हो।

फिर डाक्टर ने संजय की बाँह को जब अच्छी तरह हिलाकर वही सवाल किया तो संजय ने हौले से कहा, "दर्द ? कहाँ ? नहीं...कहीं कोई दर्द नहीं..."

"सिर में ? या टाँगों, बाँहों में ?"

"मेरा सिर मांस का नहीं है, न टाँगें, न बाँहें...दर्द हो ही नहीं सकता।" संजय ने कहा तो डाक्टर ने हैरान होकर एक बार संजय की ओर देखा, फिर करीम की ओर।

"बस, यही मरज़ हैं, डाक्टर साहब ! इस का ख़याल है कि यह ज़िन्दा नहीं है।" करीम ने बताया।

डाक्टर ने अपना हाथ संजय की आँखों के सामने करके पूछा, "अच्छा, यह क्या है ?"

"नीली रोशनी...सलेटी-सी...बादलों जैसी !..."

डाक्टर ने कमरे में चारों ओर देखा, फिर दहलीज़ के पास खड़ी हुई करीम की लड़की पर नज़र पड़ी तो देखा कि उस ने गहरे लाल रंग की चुनरी ओढ़ी हुई है। डाक्टर ने लड़की को अपने पास बुलाया और उस की चुनरी को संजय की आँखों के आगे तान-सा दिया, फिर पूछा, "यह कौन-सा रंग है ?"

"नीला...बहुत गहरा नीला...चमकदार...

डाक्टर ने एक इंजेक्शन दिया, नुस्ख़ा लिखा, और करीम से कहा, "शायद कुछ दिन रोज़ इंजेक्शन देना पड़ेगा। यह दवा चार-चार घंटे बाद देते जाना। कल सवेरे मैं ख़ुद आकर इंजेक्शन दे जाऊँगा। पर अगर शाम को या रात को हालत ज़्यादा ख़राब हो जाये तो मुझे ख़बर देना...इस समय बुख़ार बिलकुल

नहीं है।"

करीम डाक्टर के साथ ही चला गया, दवा लाने के लिए। रास्ते में उस ने हलीमी से, पर ज़ोर देकर पूछा, "मुझे सच-सच बताइये, डाक्टर साहब ! कोई ख़तरे की बात तो नहीं है ?"

डाक्टर ने कोई एक पल के लिए सोचा, फिर कहा, "मेरा ख़याल है, नहीं। आप ने शायद ठीक कहा था कि सदमा गहरा लगा है। पर आप ने एक चीज़ का ध्यान किया था ?"

"क्या ?"

"जिस समय मैं ने सिर्फ़ अपना हाथ आगे किया तो उस ने कहा था, 'नीली रोशनी हैं, सलेटी-सी, बादलों जैसी...' "

"यह तो जी वह आज आधी रात से कह रहा है।"

"नहीं, मैं और बात कह रहा हूँ। और फिर जब लाल रंग की चुनरी उस की आँखों के सामने रखी थी तो उस ने कहा था, 'यह नीला रंग है, बहुत गहरा नीला, चमकदार...' "

"हाँ जी !"

"इस का मतलब यह है कि पहले उसे फीका नीला रंग दिखाई दे रहा था, पर चुनरी के गहरे रंग का ज़रूर उस पर कोई असर हुआ कि वह फीका नीला रंग गहरा रंग दिखने लगा..."

"आप का मतलब है कि कहीं थोड़ा-सा होश क़ायम भी है ?"

"हाँ, बहुत थोड़ा, अचेत-सा...पर है।"

"साथ में जी, बात का जवाब भी तो देता है, भले ही जवाब कुछ और ही देता है। पर उसे थोड़ी-सी हमारी बात भी तो सुनाई देती है, तभी जवाब देता है।"

"बिलकुल।"

"रात को जब उस ने नीली रोशनी की बात की तो यह भी कहा कि वहाँ मीता भी दिखाई दे रही है।"

"मीता कौन ?"

"वही, जी ! जिस की मैं ने बात की थी।"

"जिस की मौत का सदमा लगा है, तुम बताते हो..."

"जी हाँ !"

"शायद..." डाक्टर कुछ सोचता-सा रह गया, फिर बोला, "उस की मौत शायद इस ने अपने ऊपर प्रोजेक्ट कर ली है।"

"क्या मतलब ?"

"यही कि इसे लग रहा है कि असल में उस की नहीं, इस की मौत हो गयी

"पर, जी, उस की मौत भी इसे याद ज़रूर है।"

"कैसे ?"

"इस के ख़याल में अब उस की रूह आसमान में है, और वहाँ जाकर इस ने मीता की रूह को भी देखा है। अगर उस की रूह को देखा है तो उस की मौत की याद ज़रूर होगी।"

डाक्टर ने सहमति में सिर हिला दिया। फिर ज़रा ठहरकर कहा, "दो दिन देखते हैं, अगर फ़र्क़ नहीं पड़ा तो अस्पताल ले जाना पड़ेगा।"

करीम जब दवा लेकर लौटा, संजय उसी तरह शांत लेटा हुआ था। उस ने हाथों से संजय के शरीर को टोहा, साँस को भी। बुख़ार बढ़ता हुआ नहीं लग रहा था। जैसे डाक्टर ने कहा था, करीम ने पहले कोई आधा प्याला दूध चमचा-चमचा करके पिलाया। फिर दवा पिला दी।

और फिर संजय के पास बैठा तो करीम को डाक्टर की वह बात याद आयी कि कहीं थोड़ा-सा होश बाक़ी भी है। उस ने जल्दी से अपनी बेटी शीरीं को बुलाकर कहा कि वह बराबर वाली गली में जाये और अत्ता माली के घर से थोड़े-से फूल माँग लाये। करीम जानता था कि अत्ता माली की घरवाली घर पर गजरे भी गूँथती है जिन्हें उस का लड़का संध्या समय इंडिया गेट के चौक में जाकर बेचता है।

करीम ने हौले-हौले संजय से नीली रोशनी की बातें छेड़ दीं। संजय बहुत देर तक चुप रहा; जैसे उसे कोई बाहरी आवाज़ सुनाई नहीं दे रही है, फिर हौले-हौले उस के होंठ फड़कने लगे। करीम ने पूछा, "यार ! तुम वहाँ अकेले ही हो, या और भी है कोई ?"

"और भी...बहुत-सी रूहें !" संजय ने हौले से कहा।

करीम को संजय की आवाज़ ऐसी लग रही थी, जैसे बहुत दूर से आ रही हो। उस ने चारपाई के पावे के पास बैठते हुए अपना सिर संजय के तकिये से लगाकर अपना मुँह उस के कानों के पास कर लिया।

पूछा, "तुम पहचानते हो, और कौन-सी रूहें हैं ?"

"नहीं।"

"कहीं करीम भी दिखाई देता है या नहीं ?"

"कौन ?"

"करीम—तुम्हारा यार हुआ करता था न, करीम क़ादिर..."

"नहीं, वह तो धरती पर होगा।"

"तो तुम अकेले वहाँ अभी थके नहीं ?"

"नहीं, रूहें नहीं थकतीं...उन के गिर्द शरीर का बोझ नहीं होता।"

करीम की लड़की मोतिये के फूलों का एक गजरा ले आयी तो करीम ने फूलों का वह गजरा संजय की नाक के आगे रखकर धीरे से पूछा, "फिर वहाँ मीता मिली है या नहीं अभी तक ?"

संजय बहुत देर तक चुप रहा, फिर अचानक बोल उठा,"वह मीता दिखाई दे रही है...वह फिर...बीच से और रूहें गुज़र रही हैं, वह परे है...मुझे ख़ुशबू आ रही है...आज मीता ने अपने बालों में फूल भी बाँध रखे हैं..."

करीम ने एक ठंडी और गहरी साँस ली।

उसे काम पर नहीं जाना था, छुट्टी की अर्ज़ी भेजी हुई थी। ज़रा-सा शरीर को सुस्ताने के लिए, संजय की चारपाई के बराबर, नीचे फ़र्श पर दरी बिछाकर वह लेट गया।
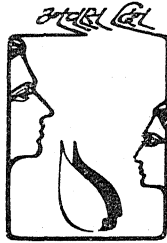
"करीम मियाँ !" संजय की आवाज़ बड़े ज़ोर से करीम मियाँ के कानों में पड़ी तो करीम की अचानक नींद टूट गयी।

वह हड़बड़ाकर उठने लगा तो पैर का टखना चारपाई के पावे से टकरा गया और सारे शरीर में एक चीस-सी दौड़ गयी। पर उस ने एक हाथ से टखने को मला, जल्दी से दूसरा हाथ संजय के कंधे पर रखा, कहा, "यह देखो, मैं तुम्हारे पास खड़ा हुआ हूँ।"

पर लगा, संजय को उस की आवाज़ नहीं सुनाई दी।

संजय कुछ बोल ज़रूर रहा था, पर उससे नहीं, किसी और से।

करीम ने उस की आवाज़ पर कान लगाये। अब वह बहुत हौले बोल रहा था, कह रहा था, "यार संजय ! मौत के फ़रिश्ते ने सच कहा था कि इस शीशे में देखो, इस में तुम्हें पिछले जन्म का सब कुछ दिखाई देगा...मैं ने अभी शीशे में करीम को देखा था...उसे देखकर मैं भूल ही गया कि वह तो पिछले जन्म की बात है, मैं ने उसे ज़ोर से आवाज़ दी..."

करीम जानता था कि जब संजय अपने आप से मुखातिब होता था, हमेशा अपने आप को यार संजय कहकर बात करता था। और अब बेहोशी में भी वह अपनी आदत नहीं भूला था। अब भी वह अपने आप को मुखातिब कर के बात कर रहा था।

फिर, जब संजय चुप-सा होता हुआ जान पड़ा तो करीम ने, करीम होकर नहीं, शीशे वाले फ़रिश्ते की जगह होकर कहा, "देखो! मैं ने तुम्हें कैसा शीशा लाकर दिया है, तुम उस में अपने पिजले जन्म का जो कुछ चाहो, देख सकते हो।"

"अच्छा, लाओ, फिर देखूँ!" संजय की आवाज़ आयी, और साथ ही आवाज़ हुलस-सी गयी, "सचमुच इस में मेरा करीम मियाँ मुझे फिर दिखाई दे रहा है... यह मेरा बढ़िया यार हुआ करता था..."

"फिर तुम नहीं चाहते कि तुम्हारा यार भी यहाँ आ जाये, तुम्हारे पास?"

"नहीं, नहीं, उसे अभी दुनिया में रहने दो। उस के घर में दो बेगमें हैं, बिचारियों का क्या हाल होगा बाद में? उस के बाल-बच्चे भी हैं, उन्हें कौन पालेगा?"

"पर तुम उस से बातें क्यों नहीं करते? देखो, वह तुम्हारे सामने तुम्हें दिखाई दे रहा है।"

"वह तो शीशे में है। यार! तुम ने ख़ुद ही तो कहा था कि तुम सिर्फ़ देख सकते हो, बातें नहीं कर सकते।"

"अच्छा, तुम्हें धरती का और कुछ देखना है इस में?"

"मीता को देखना था, पर वह तो अब धरती पर नहीं है।"

"इस में बीते हुए दिन दिखाई देते हैं।"

"मैं वह नहीं देखना चाहता...उन दिनों मीता बीमार रहा करती थी... साथ ही किसी और से ब्याही हुई थी...वे धरती की मजबूरियों के दिन थे..."

"तुम मीता से मिलना चाहते हो?"

"उस से ही मिलने के लिए तो यहाँ आया हूँ..."

"फिर और कुछ धरती का तुम नहीं देखना चाहते हो?"

"नहीं।"

"मैं यह शीशा ले जाऊँ?"

"ठहरो!...मैं एक बार करीम को फिर देख लूँ..."

संजय के माथे पर पड़ा हुआ करीम का हाथ काँपने लगा और उस ने उसे परे करके अपने दोनों होंठों से संजय का माथा चूम लिया। उस की अपनी आवाज़ ही उस की छाती को चीर गयी, "होश में आओ, संजय! मुझे ऐसे रुला-रुलाकर न मारो!"
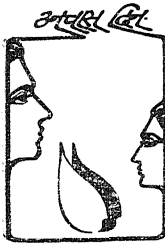
छाती में उठते हुए बगूलों से करीम ने सारा दिन बिताया। एक बार बाल्टी में गर्म पानी डालकर, और एक तौलिये को भिगो-भिगोकर संजय का शरीर पोंछा, उस के कपड़े बदले, दो बार और समय से दवा दी। दो संतरों का रस निकालकर दिया, दो बार शोरबा। पर सारे दिन संजय ने उस की किसी भी बात की हुंकार नहीं भरी।

करीम की दोनों बीवियाँ, बरकत और नेमत, अपने मर्द की घबराहट को समझ गयी थीं। उन्हों ने, वैसे ही, जैसे करीम ने चाहा था, घर में किसी बच्चे की भी ऊँची आवाज़ नहीं निकलने दी। दो लड़कियाँ बड़ी थीं, एक पन्द्रह वर्ष की शीरीं, और एक तेरह वर्ष की जमीला, पर दोनों लड़के छोटे थे, एक बारह वर्ष का, दूसरा मुश्किल से पाँच वर्ष का।

रोटी का टुकड़ा मुँह में डालते हुए करीम ने सवेरे वाली बात दोनों बीवियों को सुनाई, "देखो! अपनी समझ में वह ज़िन्दा नहीं है, और वहाँ आसमान में अकेला है, पर जब ख़ुदाई आईने में उसने धरती को देखा तो सब से पहले मेरी सूरत देखी...उस से मलिकुलमौत के फ़रिश्ते ने पूछा भी, कि अगर तुम कहो तो तुम्हारे यार को भी दुनिया से बुला लें, तो उस ने कहा, 'नहीं, उसे दुनिया में रहने दो, उस की दो बेगमें हैं, वह बिचारी बाद में क्या करेंगी? साथ ही उसे बाल-बच्चों की परवरिश करनी है...'" और करीम ने दोनों बीवियों से कहा, "जिस ने आज तक तुम्हारी सूरत भी नहीं देखी, उसे इस हालत में भी तुम्हारा फ़िक्र है ...बस, इसी यार से मेरी दुनिया बसी हुई है, और तुम भी बसी हुई हो। नेक-बंदियो! यह तो मैं समझता हूँ कि मैं तुम्हारा गुनहगार हूँ, पर अगर तुम अल्लाह के सामने दुआ कर के उस की जान की ख़ैर माँगो, तो मैं भी बदले में तुम्हारा हक़ लौटाऊँगा..."

करीम की दोनों बीवियों को यह बात मालूम थी कि करीम से उन का ब्याह करीम के बाप ने ज़बर्दस्ती कर दी थी। उस ने कभी भी दिल से उन्हें क़बूल नहीं किया। करीम के बिलकुल पहले इश्क के बारे में भी वे जानती थीं, इस लिए एक

ने दूसरी को इशारा-सा किया और करीम की रोटी पर खुला मक्खन चुपड़ते हुए बोली, "लो, देख लो, नेमत ! बन्दे को ज़रूरत पड़ती है तो वह अल्लाह ताला से भी सौदा कर लेता है।"

छोटी नेमत बरकत की अपेक्षा ज़रा मुँह की ज्यादा खुली हुई थी, इस लिए सीधे करीम से बोली, "अच्छा मियाँ ! फिर कर लो सौदा...हम तो दोनों रात को दुआ माँगेंगी, पर अगर हमारी दुआ क़बूल हो गयी, तो आगे से तुम सोच लो कि तुम ने जिस मुमताज़ की ख़ातिर हमें सारी उम्र तड़पाया, वह तुम्हें किस में दिखाई देगी, मुझ में या बरकत में ?"

कोई और दिन होता, करीम उन के मुँह से मुमताज़ का नाम सुनता तो दोनों की ज़बान खींच लेता, पर आज वह अल्लाह के क़रम की ख़ातिर इस दुनिया को कुछ भी माफ़ कर सकता था, इस लिए बड़ी ठंडी आवाज़ में बोला, "यह बरकत 'बड़ी मुमताज़' और नेमत ! तुम 'छोटी मुमताज़'।"

करीम ने उस समय ध्यान नहीं दिया कि उस की बड़ी लड़की शीरीं रसोई में पानी की बाल्टी रखने आयी थी, वह दरवाज़े के पास खड़ी होकर सब कुछ सुन रही थी। करीम ने सिर्फ़ रात को ट्रंकों वाली कोठरी में जाकर नया तौलिया ढूँढ़ते हुए जाना कि वह वहाँ अँधेरे में बैठकर, दोनों हाथ फैलाकर ख़ुदा से दुआ माँग रही है।

करीम उलटे पाँव कोठरी के बाहर चला गया, और बाहर आँगन के अँधेरे में खड़े होकर आसमान की ओर देखने लगा...

करीम का भरा हुआ मन जैसे ख़ुदा से कह रहा था, 'तुम्हें यह भी रंग दिखाना था, मेरे अल्लाह ! मुमताज़ शोहदी तो अब मुझे तेरी दरगाह में ही मिलेगी, इस धरती पर न उसे मिलना था न मिली, पर उस की सूरत तुम ने आज मुझे मेरी बेटी की सूरत में दिखा दी !'

करीम को लगा कि उस की छाती में पड़ा हुआ कोई घाव भर गया है।

सारी उम्र का एक घाव था कि उस के और मुमताज़ के बीच अगर शिया और सुन्नी का फ़ासला न होता तो दोनों फूलों की तरह हँसता हुआ घर बसाते...

और मुमताज़ की ख़ाली जगह को भरने वाली दोनों बहनें बरकत और नेमत उसे काँटों की तरह चुभती थीं।

पर आज करीम को अपनी छाती में से मोह की ऐसी सुगंध उठती हुई लगी, जैसे उस के अपने अंगों को मुमताज़ का फूल लग गया हो।

करीम के हाथ अनायास नीचे धरती की ओर झुक गये, जैसे भीतर कोठरी में दुआ माँगने के लिए बैठी हुई उस की बेटी इस समय उस के सामने हो और वह दोनों हाथों से उस का सिर सहला रहा हो...

करीम बिजली का पंखा किराये पर ले आया था, तब भी रात को जब कुछ ठंड हो गयी, तो उस ने संजय की चारपाई बाहर आँगन में हवा में कर दी। पास ही अपनी डाल ली।

न जाने किस समय करीम की आँख लग गयी, जागा तो संजय वैसे ही आँखें मीचे पड़ा हुआ कुछ इस तरह बोल रहा था, जैसे आदमी सपने में बड़बड़ाता है।

करीम उस की चारपाई की पट्टी पर बैठ गया।

संजय की आवाज़ कभी साफ़ सुनाई दे जाती, कभी कई अक्षर जैसे लौटकर उस के होंठों में ही गिर पड़ते। वह कह रहा था, "क्या कहा ? यह नीली रोशनी ...नीली इल्म की...और सफ़ेद रोशनी ?...देवता...देवलोक...नहीं...मुझे डर नहीं लगता...बहुत चमकती है..."

"क्या चमकती है, संजय ?" करीम ने बार-बार पूछा, पर संजय बोला नहीं।

कितनी ही देर बाद संजय की आवाज़ सुनाई दी, "छः लोक...सात...नहीं, मैं वहाँ नहीं जाऊँगा...पीली रोशनी काहे की ?...मुक्ति की ?...नहीं, मुक्ति नहीं...मीता...सामने...मीता...सात रंगों के झूले पर..."

और फिर संजय ने ऐसे धीरे से 'मीता' कहा, जैसे उस ने मीता के पास जाकर, पास खड़े होकर, आवाज़ दी हो।

और फिर संजय की आवाज़ नहीं आयी। करीम ने बहुत देर प्रतीक्षा की, फिर उठकर, अपनी चारपाई पर बैठ गया। एक सहम-सा उस की कनपटियों में टकराने लगा, 'शायद जो रत्ती-भर होश था, अब वह भी नहीं आयेगा...जिसे पाने के लिए उस का होश भटक रहा था, वह मिल गयी...अब लौटकर होश में आयेगा तो वह खो जायेगी, इस लिए होश में नहीं आयेगा...'

करीम ने दोनों हाथ आसमान की ओर उठा दिये, "या ख़ुदा ! तुम्हारी क्या रज़ा है !"

और वह उठकर संजय के तलवों को सहलाने लगा।

सोते-जागते पौ फट गयी तो करीम को लगा, जैसे इस समय अम्बर से बूंद-बूंद करके उजाला बरस रहा हो। बाहरी दीवार के साथ उगे हुए नीम के पेड़ की पत्तियाँ आँगन के एक कोने में ऐसे झूलती हुई दिखाई दे रही थीं, जैसे उस कोने में एक झूलती हुई छत पड़ी हुई है जिस में से चढ़ते हुए दिन का उजाला बूँद-बूँद होकर आँगन में बरस रहा है।

"अल्लाह तेरी क़ुदरत!" करीम के मुँह से निकला। और उसे अचानक एक ख़याल आया, 'संजय की रूह को शायद चैन आ गया है...यह उजाला शायद वही है...जिन की रूहें खाकी बदन में नहीं मिली थीं, अल्लाह का रूप होकर मिलीं...'

पर अपनी आँखों के पानी से जब करीम का मुँह गीला-सा हो गया तो उसे होश आया कि उसके आँसू बह रहे हैं। हथेलियों से उस ने मुँह पोंछा और मन को नयी दलील ढूँढ़कर दी, 'यह उजाला इस लिए बरस रहा है कि वह अब अच्छा हो जायेगा, लौटकर ज़िन्दों में हो जायेगा..."

करीम ने उठकर मुँह पर पानी का छींटा मारा। बीवियाँ और बच्चे अभी सोये हुए थे। उस ने किसी को आवाज़ नहीं दी, उठकर चाय बनाने लगा।

चूल्हे की लकड़ियों में से आग की छोटी-छोटी लपटें करीम के दिल में कितने ही ख़यालों की तरह उठीं, पर साथ ही अचानक एक धुआँ भी उठता था जो सारी लपटों को एक ही बार में बुझाता हुआ लगता था।

करीम झुककर चूल्हे में फूँक मारने लगा तो उसे लगा, चूल्हे में कोई आसमानी फूँक लग रही है और लकड़ियों में से आग की एक लपट गहरी लाल होकर चूल्हे में खड़ी हो गयी है।

उस ने हैरान होकर सिर ऊपर किया तो देखा, उस की बेटी शीरीं उठकर चूल्हे के पास आ बैठी है और चाय का पानी धर रही है...

"उठिये अब्बा! मैं चाय बना देती हूँ।" लड़की ने कहा तो करीम उठकर बाहर संजय की चारपाई के पास आकर खड़ा हो गया।

लगा, संजय फिर कुछ कह रहा है। उस ने कान लगाये, मद्धिम-सी आवाज़ कानों में पड़ी, लेकिन समझ में कुछ नहीं आया। संजय कह रहा था, "हरी रोशनी ...फीकी-सी हरी...बहुत गहरी..."

लड़की चाय बना लायी तो करीम ने चमचे से संजय के मुँह में एक-एक घूँट करके डालने की बजाय, उस के सिरहाने की ओर बैठकर उस का सिर ऊँचा किया अपने कन्धों तक, और उसे चारपाई पर बैठाकर चाय का प्याला उस के मुँह से लगा दिया।

प्याले की चाय जब नीची हो गयी तो करीम ने लड़की को आवाज़ दी,

करीम बिजली का पंखा किराये पर ले आया था, तब भी रात को जब कुछ ठंड हो गयी, तो उस ने संजय की चारपाई बाहर आँगन में हवा में कर दी। पास ही अपनी डाल ली।

न जाने किस समय करीम की आँख लग गयी, जागा तो संजय वैसे ही आँखें मीचे पड़ा हुआ कुछ इस तरह बोल रहा था, जैसे आदमी सपने में बड़बड़ाता है।

करीम उस की चारपाई की पट्टी पर बैठ गया।

संजय की आवाज़ कभी साफ़ सुनाई दे जाती, कभी कई अक्षर जैसे लौटकर उस के होंठों में ही गिर पड़ते। वह कह रहा था, "क्या कहा ? यह नीली रोशनी ...नीली इल्म की...और सफ़ेद रोशनी ?...देवता...देवलोक...नहीं...मुझे डर नहीं लगता...बहुत चमकती है..."

"क्या चमकती है, संजय ?" करीम ने बार-बार पूछा, पर संजय बोला नहीं।

कितनी ही देर बाद संजय की आवाज़ सुनाई दी, "छः लोक...सात...नहीं, मैं वहाँ नहीं जाऊँगा...पीली रोशनी काहे की ?...मुक्ति की ?...नहीं, मुक्ति नहीं...मीता...सामने...मीता...सात रंगों के झूले पर..."

और फिर संजय ने ऐसे धीरे से 'मीता' कहा, जैसे उस ने मीता के पास जाकर, पास खड़े होकर, आवाज़ दी हो।

और फिर संजय की आवाज़ नहीं आयी। करीम ने बहुत देर प्रतीक्षा की, फिर उठकर, अपनी चारपाई पर बैठ गया। एक सहम-सा उस की कनपटियों में टकराने लगा, 'शायद जो रत्ती-भर होश था, अब वह भी नहीं आयेगा...जिसे पाने के लिए उस का होश भटक रहा था, वह मिल गयी...अब लौटकर होश में आयेगा तो वह खो जायेगी, इस लिए होश में नहीं आयेगा...'

करीम ने दोनों हाथ आसमान की ओर उठा दिये, "या ख़ुदा ! तुम्हारी क्या रज़ा है !"

और वह उठकर संजय के तलवों को सहलाने लगा।

सोते-जागते पौ फट गयी तो करीम को लगा, जैसे इस समय अम्बर से बूंद-बूंद करके उजाला बरस रहा हो। बाहरी दीवार के साथ उगे हुए नीम के पेड़ की पत्तियाँ आँगन के एक कोने में ऐसे झूलती हुई दिखाई दे रही थीं, जैसे उस कोने में एक झूलती हुई छत पड़ी हुई है जिस में से चढ़ते हुए दिन का उजाला बूँद-बूँद होकर आँगन में बरस रहा है।

"अल्लाह तेरी क़ुदरत !" करीम के मुँह से निकला। और उसे अचानक एक ख़याल आया, 'संजय की रूह को शायद चैन आ गया है...यह उजाला शायद वही है...जिन की रूहें खाकी बदन में नहीं मिली थीं, अल्लाह का रूप होकर मिलीं...'

पर अपनी आँखों के पानी से जब करीम का मुँह गीला-सा हो गया तो उसे होश आया कि उसके आँसू बह रहे हैं। हथेलियों से उस ने मुँह पोंछा और मन को नयी दलील ढूँढ़कर दी, 'यह उजाला इस लिए बरस रहा है कि वह अब अच्छा हो जायेगा, लौटकर ज़िन्दों में हो जायेगा..."

करीम ने उठकर मुँह पर पानी का छींटा मारा। बीवियाँ और बच्चे अभी सोये हुए थे। उस ने किसी को आवाज़ नहीं दी, उठकर चाय बनाने लगा।

चूल्हे की लकड़ियों में से आग की छोटी-छोटी लपटें करीम के दिल में कितने ही ख़यालों की तरह उठीं, पर साथ ही अचानक एक धुआँ भी उठता था जो सारी लपटों को एक ही बार में बुझाता हुआ लगता था।

करीम झुककर चूल्हे में फूंक मारने लगा तो उसे लगा, चूल्हे में कोई आसमानी फूंक लग रही है और लकड़ियों में से आग की एक लपट गहरी लाल होकर चूल्हे में खड़ी हो गयी है।

उस ने हैरान होकर सिर ऊपर किया तो देखा, उस की बेटी शीरीं उठकर चूल्हे के पास आ बैठी है और चाय का पानी धर रही है...

"उठिये अब्बा ! मैं चाय बना देती हूँ।" लड़की ने कहा तो करीम उठकर बाहर संजय की चारपाई के पास आकर खड़ा हो गया।

लगा, संजय फिर कुछ कह रहा है। उस ने कान लगाये, मद्धिम-सी आवाज़ कानों में पड़ी, लेकिन समझ में कुछ नहीं आया। संजय कह रहा था, "हरी रोशनी ...फीकी-सी हरी...बहुत गहरी..."

लड़की चाय बना लायी तो करीम ने चमचे से संजय के मुँह में एक-एक घूँट करके डालने की बजाय, उस के सिरहाने की ओर बैठकर उस का सिर ऊँचा किया अपने कन्धों तक, और उसे चारपाई पर बैठाकर चाय का प्याला उस के मुँह से लगा दिया।

प्याले की चाय जब नीची हो गयी तो करीम ने लड़की को आवाज़ दी,

"थोड़ी और डाल दो !"

करीम के हाथ का प्याला संजय के मुँह की ओर था, इस लिए लड़की ने आगे होकर सामने की ओर से जब प्याले में और चाय डाली तो करीम के कानों में संजय की आवाज़ फिर पड़ी, "लाल सुर्ख रोशनी...बहुत फीकी...बहुत गहरी लाल..."

सवेरे का उजाला यूँ तो अभी भी हल्का था, पर आँखों के आगे रंगों का अलगाव ज़रूर कर रहा था। करीम ने ज़रा चौंककर लड़की के सिर पर ली हुई चुनरी की ओर देखा, वही कल वाली गहरे लाल रंग की चुनरी थी।

करीम की घबराहट कुछ हलकी पड़ गयी। लगा, संजय का होश अभी भी कहीं धरती से जुड़ा हुआ है, शायद इसी लिए अब उसे हरे रंग की बजाय लाल रंग की रोशनी दिखाई दी है...यह जरूर लड़की की लाल चुनरी का कोई असर होगा, चाहे उस ने आँखें खोलकर उधर देखा नहीं...

और ज़रा दिन चढ़ा तो करीम डाक्टर की ओर चल दिया। उसे मालूम था कि वह न भी जाये तो भी डाक्टर ख़ुद आ जायेगा, कल कह गया था; पर दिल की तरह पाँव भी कहीं टिकते नहीं थे।

पांवों को डाक्टर वाली गली पर डालकर करीम जब डाक्टर के पास पहुँचा, तो उस का बैग उठाते हुए बोला, "आप का किया चुकाऊँगा, डाक्टर साहब ! बस, सारा जतन लगा दीजिये, जितनी लगा सकते हैं।"

"मरीज़ का हाल क्या हैं ?" दरवाज़े से बाहर पैर निकालते हुए डाक्टर ने पूछा, फिर दरवाजे के पास खड़ा हो गया।

"वैसा ही है...रत्ती-भर फ़र्क़ नहीं...सिर्फ़ यही फ़र्क़ है कि बुख़ार नहीं मालूम होता।" करीम ने कहा और बाहर टैक्सी की ओर बढ़ने लगा।

"एक मिनट..." डाक्टर ने उस से कहा और वहीं दरवाजे के पास खड़ा रहा। करीम पास आ गया तो डाक्टर ने कहा, "आप का नाम करीम क़ादिर है न ?"

"हाँ जी !"

"मरीज़ का नाम आप ने संजय लिखवाया था ?"

"हाँ जी !"

"पर आप मुसलमान, वह हिन्दू..."

"हाँ जी !"

"मेरा मतलब है, अगर उस की हालत बिगड़ गयी, कुछ भी हो सकता है, तो उस का ज़िम्मेदार कौन होगा ?"

"भले-बुरे का मालिक अल्लाताला...बन्दा क्या कर सकता है जी ?"

"आप समझे नहीं...अस्पताल में दाख़िल करवाना पड़ा तो वहाँ दस्तख़त

कौन करेगा ?"

"मैं करूँगा जी ।"

"पर आप उस के कुछ नहीं लगते, दस्तख़त तो घर के किसी संबंधी को करने पड़ते हैं..."

"आप इन बातों में न पड़ें, डाक्टर साहब ! वह अच्छा हो गया तो उस से ही पूछ लीजियेगा, मेरा उस से क्या रिश्ता है ।"

"वह तो मैं समझता हूँ, लेकिन क़ानून तो इस रिश्ते को नहीं समझता ।"

करीम के दिल में हौल-सी उठी। माथे पर एक त्योरी भी पड़ गयी । बोला, "वे काहे के क़ानून हैं जी, जो यारियों का रिश्ता ही नहीं समझते ?"

डाक्टर के चेहरे पर करीम वाला ख़याल नहीं आया, वह दुनिया की कतर-ब्योंत और शताब्दियों से मस्तिष्क में पड़े हुए ख़याल से कहने लगा, "अच्छा होगा अगर इस वक़्त आप उस के घरवालों को ख़बर कर दें, उस के माँ-बाप को..."

"उस के माँ-बाप कोई नहीं हैं, जी !"

"कोई बहन-भाई होगा ?"

"बहन नहीं है, एक भाई है, पर सौतेला, जो बहुत सालों से उस से नहीं मिला है ।"

"पर इस वक़्त उसे इत्तला करना बहुत ज़रूरी है ।"

"वह तो मैं नहीं जानता जी, कहाँ रहता है, न मुझे उस का नाम-पता मालूम है ।"

"कहीं से मालूम करो ।"

"नहीं जी, मैं कहाँ से पता कर सकता हूँ ?"

"फिर ?"

"सब कुछ अल्लाह पर छोड़ दीजिये !"

"सोच लें, कल यह हिन्दू-मुसलमान का सवाल भी बन सकता है ।"

"बनने दीजिये जी, अगर बनता है तो..."

"पर आप के छोटे-छोटे बच्चे हैं ।"

"कोई बात नहीं जी ! अगर उसे कुछ हो गया, तो फिर हमें कौन-सा जिन्दों में रहना है ?"

डाक्टर बाहर खड़ी हुई टैक्सी की ओर बढ़ा, करीम भी उस का बैग उठाकर टैक्सी में बैठ गया । टैक्सी चल पड़ी, तो करीम को वह समय याद आ गया। जब बीमार मीता को उस के घर वाले ने अलग कमरा लेकर घर के बाहर फेंक दिया था । उस का, जब तक वह जीवित रही, कोई वारिस न बना । पर जब मर गयी तो क़ानून को हाथ में लेकर उस के वारिस आकर खड़े हो गये थे ।

देती थीं। करीम कभी दायीं ओर देखता, कभी बायीं ओर। उसे लग रहा था, जैसे कहीं भी कोई इंसान ज़िन्दगी का वारिस नहीं है, सब जगह मौत के वारिस हैं।

डाक्टर और करीम जब संजय के पास पहुँचे, करीम ने डाक्टर को सवेरे तड़केवाली रंगों की बात बताई। डाक्टर ने नाड़ी देखी, साँसों की गति देखी, थर्मामीटर लगाया, और फिर इंजेक्शन लगाने की तैयारी करने लगा।

करीम ने बताया, "आज सवेरे मैं ने इसे चाय बिठाकर पिलायी थी, प्याले से..."

संजय के अंगों में हरकत अभी भी नहीं थी। डाक्टर ने उस के हाथ, बाँह, पाँव कई बार उठा-हिलाकर देखे। संजय को उन के हिलाये जाने से कोई आपत्ति नहीं मालूम होती थी, जैसे ये सारे अंग उस के न हों, किसी और के हों।

"आज दूध और शोरबे से थोड़ी-सी रोटी भी दे दो, या पतले-से चावल पकाकर।" डाक्टर ने कहा और संजय को बुलाने की कोशिश करने लगा।

"कोई फ़र्क़ मालूम होता है जी?" करीम ने उतावली से पूछा।

"हाँ, थोड़ा-सा।" डाक्टर ने कहा।

"काहे में जी? हमें तो दिखाई नहीं देता।" करीम और आगे होकर संजय के चेहरे को ग़ौर से देखने लगा।

"शायद आप ने ध्यान नहीं दिया। आज जब बाँह में सुई लगायी थी तो उस का चेहरा कुछ कस-सा गया था, जैसे उस ने सूई लगने की पीड़ा को महसूस किया हो...कल ऐसा नहीं हुआ था।" डाक्टर ने बताया।

डाक्टर चला गया तो करीम ने दूध के प्याले में डबलरोटी का एक टुकड़ा डालकर एक चमचा चीनी डाली और उसे चमचे से घोलते हुए संजय के सिरहाने की ओर बैठकर अपनी छाती का सहारा देकर उसे सवेरे की तरह बिठा लिया। और दूध का प्याला अपने हाथ में लेकर उस का चमचा संजय के हाथ में देने का जतन करने लगा।

कितनी ही देर तक संजय के हाथ में हरकत नहीं आयी। चमचा उस की उँगलियों में से बार-बार गिरता रहा। पर एक बार करीम ने कुछ आश्चर्य से देखा कि संजय की उँगलियों ने चमचे को थाम लिया है। पर जब करीम ने उस का हाथ ऊँचा करके प्याले से छुआया तो चमचा फिर उस की उँगलियों में से गिर पड़ा।

फिर करीम ने उस के हाथ को अपने हाथ का भी सहारा दिया, पर चमचा उस की उँगलियों में ही रखे रखा और प्याले में से भरकर वह चमचा उस के होंठों तक ले गया।

इस तरह जब करीम ने पाँच-छः बार संजय के हाथ से ही भरा हुआ चमचा

उस के मुँह में डलवा दिया तो ध्यान से देखा कि चमचे पर संजय की उँगलियों की पकड़ कुछ कस गयी है।

"यह देखो, यार ! तुम्हारे हाथ, तुम्हारे पाँव, तुम्हारा मुँह..." कहते हुए करीम की आवाज़ भर आयी।

करीम ने अपने हाथ की पकड़ ढीली कर दी तो देखा कि संजय ने चमचे को उँगलियों में अभी भी थामा हुआ है। उस का हाथ भी प्याले की ओर से, ऊपर मुँह की ओर ख़ुद बढ़ रहा है।

करीम के सारे शरीर में आनन्द की लहर दौड़ गयी।

"संजय !" करीम के मुँह से आवाज़ निकली, चाहे उसे विश्वास नहीं था कि वह सुन लेगा; पर संजय ने आवाज़ पर हुंकार भरी, कहा, "हाँ।"

"अब कैसा लगता है ?" करीम को कुछ सूझ नहीं रहा था कि वह क्या कहे।

"सो अब आप लोग मेरा जिस्म मुझे वापस दे रहे हैं ?" संजय ने कहा तो करीम के कानों को विश्वास नहीं हुआ।

"तुम्हारा जिस्म हमेशा तुम्हारे पास था, पहले भी..." करीम की आवाज़ भर आयी।

"नहीं, पहले नहीं था। वह धर्म-काया के चिह्न थे, मुझे मौत के फ़रिश्ते ने बताया था..." संजय ने कहा, तो करीम फिर बौखला गया।

"उस ने क्या बताया था ?" करीम ने घबराकर पूछा।

"यही कि मौत के बाद रूह को कई दिन तक जिस्म नहीं मिलता।"

"कितने दिन ?"

"पता नहीं...जन्मपत्री की तरह मौत की भी पत्री होती है।"

"मौत की पत्री ? उस में क्या लिखा हुआ होता है ?"

"त्रय-काया..."

"क्या ?"

"पहली धर्म-काया, फिर आग और वायु की काया..."

"फिर ?"

"फिर संभोग-काया..."

"वह क्या होती है ?"

"जैसा शरीर धरती पर होता था, वैसा फिर मिल जाता है...वही शक्ल... वही सूरत..."

"और अब तुम्हें वह मिल गया है ?"

"हाँ, अब मुझे अपने वही हाथ-पाँव दिखाई दे रहे हैं..."

करीम के दिल को कुछ राहत मिली कि और कुछ नहीं तो इतना-सा फ़र्क़

तो पड़ा है कि अब उसे अपना जिस्म अपना लगने लगा है।

करीम ने कुनकुने पानी की बाल्टी मँगवायी और दरवाज़ा बन्द करके संजय के सारे शरीर को गीले तौलिये से पोंछा। फिर उसे कल के धुले हुए कपड़े पहनाकर लिटा दिया।
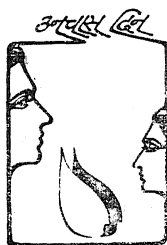
शाम का समय था। बरकत बाहर आँगन में कूई के पास चबूतरे पर बैठकर कपड़े धो रही थी और नेमत खिचड़ी के लिए दाल और चावल चुनते हुए उस से बातों में लगी हुई थी। फिर शायद उस की आवाज़ ऊँची हो गयी या करीम के कान पतले हो गये, करीम ने सुना, वह कह रही है, "जी करता है इस निगोड़े नीम को आरी से चीर दूँ। इस ने तो दिन और रात मेरे हाथ में झाड़ू थमा दी है। अभी सारा आँगन बुहारा था, अब फिर इस की पत्तियों का ढेर लग गया..."

न जाने क्यों करीम का दिल दहल गया। लगा, कोई उस का अपना शरीर आरी से चीरने लगा है।

सवेरे के बाद संजय ने फिर कोई बात नहीं की थी। सारा दिन करीम के मन से नीम के पेड़ की तरह कई पत्तियाँ झड़ती रही थीं। और अब शाम पड़े नेमत की आवाज़ उसे नीम जैसी कड़वी लगी। नीम को चीरने वाली बात उसे अत्यन्त अपशकुन की बात लग रही थी।

मन में गुस्से का एक भभका-सा उठा और करीम उठकर बाहर आँगन में जाकर खड़ा हो गया।

इस समय उस के मुँह से न जाने क्या निकल जाता। तभी सामने वाले दरवाज़े में से उस की बेटी शीरीं आकर उस के निकट खड़ी हो गयी, "देखिये, अब्बा! मैं क्या लायी हूँ?"

करीम ने देखा, बेटी के हाथ में एक पौधा है, जड़ की ओर से मिट्टी में लथपथ। बेटी कह रही है, "अत्ता चाचा के घर से लाई हूँ। यह देखिये, उन्होंने मुझे

थोड़े-से फूल भी दिये हैं, पर मैं ने कहा, 'चाचा ! मैं बार-बार फूल माँगने के लिए आती अच्छी लगती हूँ ? देना ही है तो पौधा दे दीजिये। मैं आँगन में लगा लूँगी।' अब्बा ! इस में मोतिया के फूल लगेंगे..."

करीम का जी ठंडा हो गया। उसे लगा, सारा अपशकुन शकुन में बदल गया है। और वह ख़ुद भी बेटी की उम्र जितना होकर बोला, "चलो, फिर इसे लगा दें। मैं गड्ढा खोदता हूँ। कहो, कहाँ लगायें ?"

लड़की ने पूरे आँगन की आँखों से जाँच की।

"सामने दरवाज़े के पास न लगा दें, भीतर आते ही इस के फूल दिखाई देंगे ?" करीम ने पूछा।

"वहाँ कोई पैरों से उखाड़ ही न दे।" लड़की ने नहीं में सिर फेर लिया।

"फिर वहाँ कूई की तरफ़..."

"नहीं, वहाँ तो अम्मा कपड़े सुखाने के लिए डालती है...फिर वहीं दिन-भर जूठे बर्तन पड़े रहते हैं..."

"फिर तुम्हारी कोठरी के पास लगा देते हैं, तुम ख़ुद पानी दोगी, ख़ुद उस का ध्यान रखोगी..."

"वहाँ तो, अब्बा ! धूप सीधी पड़ती है, मैं भी दोपहर में भुन जाती हूँ। यह बेचारा तो उगने भी नहीं पायेगा।"

दायें हाथ की कोठरियाँ पूरब की ओर खुलती थीं, पर सामने की सारी कोठरियाँ कुछ छाँह में रहती थीं। उन में से अन्तिम कोठरी, जो तीसरी दीवार की ओर थो, लड़की ने उधर देखा, तो करीम ने जल्दी से हामी भर दी।

घर में ख़ुरपा नहीं था, करीम ने छुरी और छैनी से ही एक छोटा-सा गड्ढा बना लिया। लड़की ने चुनरी में लपेटकर लाया हुआ पौधा उस में लगाया और फिर पानी देने लगी।

करीम ने मुँह से कुछ नहीं कहा, पर मिट्टी से सने हुए हाथ धोकर दोनों हाथ आँखों से छुआये, और दिल में दुआ माँगी, 'बेटी ! तेरे हाथ ही करमों वाले हों, संजय की ज़िन्दगी का पौधा फिर इस मिट्टी में उग आये...'

दीवार से लगी हुई यही अन्तिम कोठरी थी, जिस में इस समय संजय था। पर करीम ने मन का शकुन-अपशकुन लड़की को नहीं बताया।
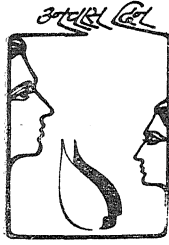
रात के घने अँधेरे को संजय की आवाज़ चाकू की तरह चीर गयी, "नहीं, नहीं... सात रंगों के झूले पर ख़ुदा नहीं, मीता है..."

करीम ने आँगन की बत्ती जलायी। देखा, कंपन की एक रेखा संजय के सारे शरीर में दौड़ रही है। हाथों में भी हरकत है, पैरों में भी।

करीम के मन में एक भय उत्पन्न हुआ, 'संजय का होश न जाने किस देश में पहुँच गया है और शरीर इस देश में रह गया है। पता नहीं रूह और शरीर फिर इकट्ठे होंगे या नहीं !'

करीम ने उस के कान के पास मुँह ले जाकर कहा, "तुम ठीक कहते हो, सात रंगों के झूले पर मीता दीख रही है, मुझे भी..."

संजय अभी भी गुस्से में था, बोला, "फिर अभी तुम ने क्यों कहा था कि वह मीता नहीं है...और साथ ही यह कहा था..."

संजय चुप हो गया तो करीम ने पूछा, "तुम ही बताओ, मैं ने क्या कहा था ?"

"यही कि गहरे लाल रंग की रोशनी बहिश्त की है और फीके लाल रंग की दोज़ख़ की..."

"हाँ कहा था।"

"पर मुझे कहीं भी नहीं जाना है।"

"फिर तुम्हें कहाँ जाना है ?"

"जहाँ सात रंगों का झूला है...पर तुम झूठ बोलते हो।"

"नहीं, मैं झूठ नहीं बोला।"

"मैं ने भी सोचा था कि मौत के फ़रिश्ते झूठ नहीं बोलते।"

"पर मैं झूठ नहीं बोला..."

"फिर तुम ने क्यों कहा था कि वहाँ मीता नहीं है ?"

अब करीम को कुछ नहीं सूझा कि वह क्या कहे।

"तुम बोलते क्यों नहीं ?" संजय ने पूछा तो करीम के मुँह से निकला,

"कहा था, सोचा कि तुम बहिश्त देख लो..."

"तुम ने मुझे दूर से दिखाया भी था...दोज़ख़ भी दिखायी थी जहाँ कई आदमी हाथों में लहू से सने चाकू लिये नाच रहे थे...पर मुझे मीता के पास जाना है...मैं तुम्हारे साथ कहीं नहीं जाऊँगा। तुम चले जाओ।"

संजय ने ग़ुस्से होकर उसे जाने के लिए कहा तो करीम को इलहाम जैसा एक ख़याल आया, जल्दी से बोला, "संजय यार! तुम्हें याद है, तुम पिछले जन्म में क्या किया करते थे?"

"मैं?...मालूम नहीं..."

करीम अब संजय की बातों से कुछ भेद पा गया कि संजय का होश इस समय कहाँ है। और यह भी समझ गया कि अब ज़बर्दस्ती उस के होश को लौटाया नहीं जा सकता। इस लिए अटकलपच्चू उस की बातों की हामी भरते हुए बोला, "मैं तुम्हें वह आईना दिखाऊँ, जिस में पिछला जन्म दिखाई देता है?"

"मैं ने वह देखा था, उस में अपने करीम को भी देखा था।"

"फिर यह भी देख लो कि तुम पिछले जन्म में क्या काम किया करते थे।"

"अच्छा...दिखाओ शीशा।"

"यह देखो!"

"हाँ, मुझे याद आ गया, मैं नॉवेल और कहानियाँ लिखा करता था।"

"फिर अब क्यों नहीं लिखते?"

"अब कैसे लिखूँ?"

"यहाँ जो कुछ है, सब कुछ देखकर..."

"पर लिखूँगा कैसे?"

"क्यों? मैं तुम्हें कागज़-क़लम ला दूँगा।"

"पर तुम ने कहा था कि अब चाहे मुझे हाथ-पाँव मिल गये हैं...पर ये धरती के हाथों और पैरों की तरह नहीं हैं..."

करीम सोच में पड़ गया, अब वह क्या कहे। उसे लगा कि संजय को काम में लगाने की जो तरकीब उस ने सोची थी, वह व्यर्थ हो गयी। संजय ने ही कहा, "यह लेखक होना भी एक अजीब शाप होता है।"

"क्यों?" करीम ने धीरे से पूछा।

"यही कि मनुष्य मरकर भी लिखना चाहता है, हाथ भी न रह गये हों तब भी लिखना चाहता है...एक बात सुनो!"

"कहो?"

"मैं जो कुछ देखूँगा, बोलता जाऊँगा, तुम लिखते जाना।"

"हाँ!" करीम ने जल्दी से कहा।

करीम को एक ही ज़बान थोड़ी-बहुत आती थी, उर्दू, लेकिन उस ने इस समय

हाँ कहने में ही भलाई समझी ।

"अच्छा, फिर तुम मुझे वहाँ ले चलो, जहाँ लोग अपने हाथों में लहू के चाकू लेकर नाचते हैं । वह दोज़ख़ है न ?"

"हाँ; पर यार ! तुम बहिश्त में क्यों नहीं जाते ?"

"वहाँ बाद में चलेंगे ।"

"अच्छा ! चलो फिर..."

"चलो ।"

"सुनो ! तुम काग़ज़-क़लम लाये हो ?"

"नहीं ।"

करीम उठकर सचमुच काग़ज़-क़लम ले आया । उस के अपने पास न काग़ज़ था न क़लम, वह बराबर वाली कोठरी में से अपने बच्चों की कापी और पेंसिल उठा लाया, और लौटकर संजय की चारपाई के पास नीचे फ़र्श पर बैठकर बोला, "अच्छा, बोलो, मैं काग़ज़-क़लम ले आया हूँ ।"

"देखो...देखो...उधर देखो !" संजय ने ज़ोर से कहा ।

करीम को कुछ पता नहीं लग रहा था कि वह किधर देखे। वह चुपचाप संजय के मुँह की ओर देखता रहा ।

"अजीब बात है, मैं ने दूर से समझा कि बहुत सारे बच्चे स्कूल जा रहे हैं, पर पास आने पर देखा कि बच्चे हैं ही नहीं, सिर्फ़ छोटे-छोटे बस्ते हैं जो चले जा रहे हैं। दोज़ख में ऐसा ही होता है ?'

"हाँ ।"

"अगर बच्चे बस्तों के साथ नहीं जायेंगे तो वे पढ़ेंगे कैसे ?...पर बात तो ठीक है...अगर बच्चे पढ़ जायेंगे तो वे दोज़ख़ में कैसे रहेंगे..."

करीम संजय के इस तर्क से हैरान-सा संजय के मुँह की ओर देखने लगा ।

"सुनो ! तुम्हारा नाम क्या है ?" संजय ने अचानक पूछा ।

"मेरा ?" करीम को कुछ नहीं सूझ रहा था कि वह क्या कहे ।

संजय ने कहा, "शायद मौत के फ़रिश्ते का यही नाम होता है, मौत का फ़रिश्ता ।"

"हाँ ।"

"देखो ! वहाँ मुर्ग़ों की लड़ाई हो रही है...चलो, पास चलकर देखें !"

"चलो ।"

अचानक संजय के हँसने की आवाज़ आयी, साथ ही वह कह रहा था, "सामने देखो ! सब मुर्ग़े कुर्सियों पर बैठे हुए हैं, एक-दूसरे को चोंच मार-मारकर कुर्सी पर आ जाते हैं...सब के पंखों में से लहू बह रहा है...देखो, दीवार पर क्या लिखा हुआ है ?"

"तुम पढ़कर सुनाओ।" करीम ने धीरे से कहा।

"तुम्हें पढ़ना नहीं आता ?"

"नहीं।"

"देखो ! लिखा हुआ है कि इन सब कुर्सियों पर दोज़ख़ के क़ानून बैठे हुए हैं..."

"अच्छा !"

"ओ ख़ुदाया !" संजय का चेहरा उदासी में डूब गया। उस ने कहा, "भला क़ानून इस लिए होते हैं कि वे एक-दूसरे के शरीर लहूलुहान करते रहें ?" और फिर एक गहरी साँस लेकर बोला, "मैं यह भूल ही गया कि ये सब दोज़ख़ के क़ानून हैं।"

फिर कुछ देर के लिए ख़ामोशी-सी छा गयी तो करीम ने ख़ामोशी तोड़ी, बोला, "और क्या लिखूँ ?"

"ठहरो ! सामने देखो। बड़ी भीड़ लगी हुई है। एक आदमी एक बहुत ऊँची जगह पर खड़े होकर बोल रहा है, सुनो !"

संजय चुप हो गया तो करीम भी चुप होकर ऊपर आसमान के तारों की ओर देखने लगा।

"रहम कर ख़ुदाया !" करीम के मुँह से निकल गया तो संजय ने जल्दी से पूछा, "क्या कहा ?"

"कुछ नहीं।"

"नहीं...तुम ने ख़ुदा का नाम लिया है...देखो, वह आदमी जो बहुत ऊँची जगह पर खड़े होकर बोल रहा था, अब वह हमें घूर-घूरकर देख रहा है... सुनो ! वह कह रहा है कि यहाँ जो भी ख़ुदा का नाम लेगा, उसे क़ैद कर दिया जायेगा।"

"अच्छा...ग़लती हो गयी, मैं अब नहीं बोलूँगा।"

"देखो ! वह कह रहा है कि आजकल इलेक्शनों के दिन हैं, जो भी ख़ुदा का और सच का नाम लेगा, उसे जेल में डाल दिया जायेगा..."

"पर क्यों ?"

"कहते हैं, इलेक्शनों के दिनों में सच बोलना ग़ैर-क़ानूनी होता है...तुम ख़ुद ही तो मुझे दोज़ख़ दिखाने के लिए लाये हो, और ख़ुद पूछते हो, क्यों !"

"मैं ने तो लिखने के लिए पूछा था।"

संजय चुप-सा हो गया, फिर बोला, "पर यार ! जब तक मैं ख़ुद न लिखूँ, बात नहीं बनती !"

"यह लो काग़ज़...ख़ुद लिखो।"

"तुम मुझ से मज़ाक़ कर रहे हो। अगर मैं तुम्हारे इस लोक की बजाय

ताज़ा लहू चलेगा, वह पचास प्रतिशत अपना लहू और मांस टैक्स के तौर पर देंगे। और जो लोग अक्ल के ज़ोर से और भी बड़े काम करेंगे, उन के टैक्स की दर नब्बे प्रतिशत होगी।"

करीम ने देखा, संजय का सारा शरीर काँप रहा है। वह काग़ज़-पेंसिल वहीं रखकर संजय के पैर दबाने लगा।

धीरे-धीरे संजय की आवाज़ आयी, "नहीं देखा जाता, नहीं देखा जाता...दे आर टैक्सिग दि माइंड ऐंड दे आर प्रोटेक्टिंग दि माइंडलेस।"

करीम ने गिलास में पानी डालकर संजय को पिलाया और फिर हौले-हौले उस के माथे को दबाने लगा।

अचानक फिर संजय की चीख़ जैसी आवाज़ आयी, "तलाशी ? काहे की तलाशी ?"

करीम ने अटकलपच्चू-सा सवाल किया, "काहे की तलाशी ले रहे हैं ?"

"कहते हैं, आज सारे शहर की तलाशी ली जा रही है...सब के घर-बार टटोले जायेंगे, जेबें भी..."

"क्यों ?"

"कहते हैं, कोई सच को स्मगल करके यहाँ ले आया है...कहते हैं, आप सोना स्मगल कर सकते हैं, हीरे भी, अफ़ीम भी, शराब भी, कुछ भी कर सकते हैं, पर सच को आप किसी तरह नहीं ला सकते, वह सब से ख़तरनाक होता है..."

"फिर, अब ?"

"कहते हैं, जो आप ने माल-असबाब की बजाय उसे छाती में छिपा लिया, तो वह छुरी से चीरकर वहाँ से भी निकाल लेंगे..."

"फिर अब ?"

"चलो, किसी बड़े आदमी से मिलें, किसी मिनिस्टर से, जो हमें इन से छुड़ा दे..."

"चलो।"

"पर किस से मिलें, हम तो किसी को नहीं जानते। ठहरो ! इन से पूछता हूँ, 'क्या ?...क्या ?'..."

करीम ने देखा, संजय के माथे पर ठंडा पसीना आ रहा है। पास में कोई कपड़ा नहीं मिला, उस ने बिस्तर की चादर किनारे की ओर से उठाकर संजय का माथा पोंछा।

संजय कह रहा था, "सुनो ! यह क्या कह रहे हैं ? पता नहीं यहाँ का राज्य कैसे चलता है !"

"क्या कहते हैं ?"

"कहते हैं, यहाँ एक मिनिस्टर सिर्फ़ जंगी सामान का मिनिस्टर है, जो दूसरे इलाक़ों में हर महीने गोला और बारूद बेचता है, इस लिए कि भई लोगों के पास यह सामान ख़त्म न हो जाये...नहीं तो अगर लोग लड़कर मरेंगे नहीं तो सारे इलाक़ों की आबादी बहुत बढ़ जायेगी।"

"अच्छा !"

"और कहते हैं, एक मिनिस्टर सिर्फ़ फ़िसादों का मिनिस्टर है, जिस के ज़िम्मे यह होता है कि एक बरस में कम से कम बारह बार अलग-अलग धर्मों के लोगों में फ़िसाद ज़रूर करवाये जायें...नहीं तो धर्म के नाम पर मर-मिटने की आदत लोगों को नहीं रहेगी।"

"तौबाह !"

"तुम ने तौबाह-तौबाह क्या लगा रखी है, सुनो तो सही, क्या कह रहे हैं... कह रहे हैं, एक मिनिस्टर सिर्फ़ हड़तालों का ज़िम्मेदार है कि हर कारख़ाने में छह-छह महीने के बाद एक हड़ताल ज़रूर करवायी जाये, नहीं तो इतना माल पैदा हो जायेगा कि क़ीमतें गिर जायेंगी और सरकार को घाटा हो जायेगा"

"और, और क्या कहते हैं ?"

"कहते हैं—बताओ, किस मिनिस्टर से मिलना चाहते हो। यहाँ एक मिनिस्टर सिर्फ़ रिश्वतख़ोरी का मिनिस्टर है, जिस का यह ज़िम्मा है, किसी भी दफ़्तर में वह कोई काम बिना रिश्वत न होने दे, नहीं तो, कहते हैं, लोग सरकारी ओहदे वालों की इज्ज़त करना भूल जायेंगे...।"

संजय ज्यों-ज्यों बोलता जा रहा था, करीम का सिर चकराता जा रहा था। उसे मालूम नहीं हो रहा था कि अब यह बात कहाँ पहुँचेगी, और संजय का होश—दोज़ख़ की भयानक तफ़सील से कैसे परे हटेगा।

"देखो ! कह रहे हैं, बस एक मिनिस्टर और है जो लोगों की बे-अक्ली का ज़िम्मेदार है, लोगों को सिर्फ़ सुनने का क़ायदा सिखाया जाये, सोचने का कभी न सिखाया जाये। सोचने से, कहते हैं कि लोग आज्ञाकारी नहीं रहते..."

संजय ने अपने शरीर में खौल रहे ग़ुस्से से बाँह को उठाया और करीम की बाँह को खींचकर बोला, "मैं और कुछ नहीं देख सकता...चलो, मेरी मौत के फ़रिश्ते ! तुम जैसे मुझे यहाँ लाये थे, वैसे ही अब मुझे यहाँ से ले चलो।"

करीम समझ नहीं पा रहा था कि वह हँसे या रोये। आज कितने ही दिनों के बाद संजय के शरीर में हरकत आयी थी, पर होश अभी भी न जाने किस लोक में था।

संजय क्रोध से काँप रहा था। करीम जल्दी से सिरहाने की ओर से उठकर उस की पायँते की ओर गया और हाथों से उस के पैरों के तलवों को मलने लगा।

कुछ देर बाद करीम को लगा, जैसे संजय सो गया है। उस ने उठकर ठंडे पानी का गिलास पिया और अपनी चारपाई की ओर बढ़ा ही था कि संजय की आवाज़ आयी, "सुनो !"

करीम फिर संजय के सिरहाने की ओर हो गया। संजय ने कहा, "तुम ने मुझे बताया था कि मौत की पत्री में तीन काया होती हैं—पहली, धर्म-काया, जब कई दिन रूह को शरीर नहीं मिलता। दूसरी, संभोग-काया, जब वही धरती वाला शरीर मिल जाता है, उसी शरीर जैसा, पर वह रक्त-मांस का नहीं होता, उस की सिर्फ़ शक्ल उस जैसी होती है..."

करीम की समझ में नहीं आ रहा था कि अब वह क्या कहे, इस लिए वह ख़ामोश रह गया।

पर संजय कह रहा था, "और तीसरी काया निर्माण-काया होती है, लौट-कर धरती पर जाकर जो नयी काया मिलती है..."

"हाँ।" करीम ने हौले से कह दिया।

"तुम ने यह भी कहा था कि जो रूह निर्माण-काया नहीं चाहती, उसे निर्वाण मिल जाता है। पर मैं निर्वाण नहीं चाहता। मैं वापस धरती पर जाना चाहता हूँ, तुम मुझे निर्माण-काया दे दो। धरती पर जाकर मुझे दोज़ख़ का सारा हाल लिखना है...हाथ में क़लम थामने के लिए मेरे हाथ काँप रहे हैं।"

करीम से और सब्र न हुआ, उस ने संजय को दोनों बाँहों में कसकर भींच लिया, "आ जाओ, यार ! इसी धरती पर आ जाओ ! देखो, तुम्हारा करीम कैसे तड़प रहा है।"

और करीम संजय के सिर को छाती से लगाकर सुबक-सुबककर रोने लगा।

"उनचास दिन हो गये ?" संजय की आवाज़ आयी, और साथ ही "मैं...मैं कहाँ हूँ ?" संजय की आवाज़ गले से उठकर जैसे गले में ही ठहर गयी।

"मेरे पास...अपने करीम के पास..."

"यह मेरी निर्माण-काया है ?"

"हाँ।"

"तुम करीम मियाँ !"

"हाँ।"

"मैं भी यही चाहता था कि धरती पर फिर जाऊँ तो अपने करीम के घर जन्म लूँ।"

"तुम मेरे यार भी हो, मेरे बेटे भी।" और यह कहते हुए करीम का गला भर आया।

संजय को सारी रात के भयानक सपने की थकान थी। वह करीम की गोद में सिर रखकर बहुत शान्त-सा सो गया।

रात का अन्तिम पहर था, जिस समय करीम ने संजय के सिर को हौले से तकिये पर टिकाया और उठकर अपने बिछौने पर घड़ी भर के लिए आँख लगाने के लिए लेटने लगा तो दोनों हाथ ऊपर आसमान की ओर किये, "तेरा शुक्र, ख़ुदावन्द करीम ! तेरा शुक्र !" और करीम को लगा, जैसे उस के दोनों हाथ तारों से भर गये हैं।

करीम की आँख खुली तो संजय की चारपाई की ओर गयी उस की नज़र चारपाई के पाँवों से टकराकर ज़मीन पर गिर गयी।

संजय चारपाई पर नहीं था।

करीम के हाथ-पाँव जैसे धरती पर रह गये हों, और उस की रूह ख़ाली आसमान में डोल रही हो।

आँगन का बाहरी दरवाज़ा चौपट खुला हुआ था...

करीम दरवाज़े की ओर दौड़ा, सामने ख़ाली गली दिखाई दे रही थी। गली से भागता हुआ वह बाहर की सड़क पर आ गया, सड़क की धूल भी अभी नींद से जागी नहीं लगती थी।

दाहिने हाथ की ओर और गलियाँ थीं, सिर्फ़ बायीं ओर एक पगडंडी थी जो घरों के पिछवाड़े खँडहरों की ओर जाती थी। करीम ने उधर की तरफ़ क़दम उठाये। उसे विश्वास नहीं होता था कि छत्तीस घंटे पहले संजय जिन पाँवों को अपने पाँव नहीं समझता था, उन्हीं पाँवों से चलकर उधर गया होगा। पर नज़र के लिए और कुछ खोजने योग्य कहीं कुछ दिखाई भी नहीं देता था।

करीम को एक झलक-सी दिखाई दी, जैसे ऊँचे-नीचे पत्थरों में एक कुछ मनुष्य के आकार जैसा हो, पर वह बिलकुल निश्चल था, बुत की तरह। करीम इस खँडहर के एक-एक पत्थर से परिचित था। वहाँ कोई साबुत या टूटा हुआ बुत नहीं था, फिर भी उस ने आँखें झपकाकर देखा कि शायद दृष्टि का भ्रम

हो...

और आगे बढ़ा, तो पाँव में अटके तहमत से एक ठोकर-सी लगने को हुई। पाँव सम्भल गया, पर उस के झटके से एक छोटा-सा पत्थर फिसलकर वातावरण की निस्तब्धता को तोड़ गया, तो करीम ने उस बुत को हिलते हुए देखा।

करीम के पाँव जैसे पंख हो गये। पास पहुँचा तो संजय ने चुपचाप अपना सिर करीम की छाती से लगा दिया।

करीम से बोला नहीं गया।

संजय ने ही कहा, "यक़ीन नहीं आता, करीम मियाँ! तुम और मैं एक ही दुनिया में हैं?"

"इस धरती पर तुम्हें मुश्किल से लौटाकर लाये हैं।" करीम ने कहा, और आँखों में आया हुआ पानी पोरों से छिटक दिया।

"अभी भी पता नहीं लग रहा है कि सच क्या है, और सपना क्या है।" संजय ने करीम के मुँह की ओर देखते हुए दोनों हाथों से जैसे उसे फिर टटोलकर देखा और पूछा, "अब मैं जहाँ से उठकर आया हूँ, वह तुम्हारा घर था?"

"हाँ, तुम्हें बुख़ार में होश नहीं आ रहा था, इस लिए मैं तुम्हारे कमरे से तुम्हें अपने घर ले आया था।" करीम ने बताया।

"वहाँ मैं ने तुम्हें चारपाई पर लेटे हुए देखा था, तुम्हें हाथों से छूकर भी देखा था, पर पता नहीं लग रहा था कि कहाँ हूँ।"

"मुझे जगाया क्यों नहीं?"

"ख़ुद पता नहीं लग रहा था कि सोया हुआ हूँ या जाग रहा हूँ...यही देख रहा था कि यह कौन-सी जगह है। तुम्हें कुछ पता नहीं, मैं कहाँ था, मुझे भी पता नहीं।"

"तुम्हें कुछ याद आता है?"

"याद आता है, पर यक़ीन नहीं आता। अजीब सपना था, बिलकुल सच लगता था।"

"चलो, घर चलो! घर की औरतें जाग गयी होंगी तो घबरा रही होंगी।"

संजय चलने लगा तो फिर पल भर के लिए रुक गया, बोला, "करीम मियाँ! तुम नहीं जानते, मैं कहाँ गया था। सचमुच वहाँ गया था, जहाँ से कभी कोई लौटकर नहीं आता।"

"वह मैं जानता हूँ, पर तुम्हें ख़ुदा की क़सम, अब लौटकर वहाँ न जाना।"

संजय हँस-सा पड़ा, "एक दिन तो सचमुच जाना है—मुझे भी, और सब को भी।" और संजय ने हैरान-सा होकर पूछा, "पर यार! तुम्हें कैसे पता है, मैं कहाँ गया था?"

"मुझे तो पता है, पर तुम्हें सचमुच याद है, तुम कहाँ गये थे?"

"हाँ, जिसे यह नहीं, अगला देश कहते हैं। यह ज़रूर बुख़ार की तेज़ी में आया हुआ सपना होगा, पर बहुत भयानक था। अगर तुम्हें पूरा सपना सुनाऊँ तो तुम काँप उठो।"

"अच्छा," करीम कुछ कहने लगा था, फिर रुक गया। उस ने पूछा, "तुम सपने में कुछ उनचास दिन कहते थे, याद है ?"

"करीम मियाँ ! सदियों से यह मान्यता चली आ रही है कि आदमी जब मर जाता है तो उस की रूह को लौटकर दुनिया में आने से पहले उनचास दिन आसमान में रहना पड़ता है।"

करीम हँस-सा पड़ा, बोला, "फिर तो शुक्र है, यार ! तुम ने चार-पाँच दिन में ही उनचास दिन ख़त्म कर लिये। अगर कहीं सचमुच के उनचास दिन इस तरह काटने पड़ते, तो फिर मैं भी तुम्हें ले आने के लिए तुम्हारे पीछे जाता। अब तक तो मैं इसी दुनिया में खड़े रहकर तुम्हें आवाज़ें देता रहा।"

अब करीम की नहीं, संजय की आँखों में पानी आ गया। उसे बचाने के लिए करीम ने क्या-क्या जोड़-तोड़ किये होंगे, संजय ने कल्पना की, और उस का मन करीम के आगे झुक गया।

"तुम उठकर इधर खँडहरों में क्यों आ गये ?"

"किसी भी जगह की पहचान नहीं पड़ रही थी। एक दरवाज़ा-सा नज़र आया, खोलकर देखा, बाहर एक गली-सी भी दिखाई दी और आगे हुआ, तो सामने कुछ भी नहीं था, इधर मुड़ा तो खँडहर दिखाई दिये...देख रहा था, यह सचमुच की दुनिया है या नहीं। अगर है भी तो अभी बसी हुई है या खँडहर हो चुकी है ?"

करीम ने संजय को दोनों बाँहों में भर लिया, "और किसी के लिए तो पता नहीं, लेकिन अगर तुम्हारा होश लौटता नही, तो मेरे लिए तो यह खँडहर हो ही जानी थी।"

करीम और संजय लौटकर गली के मोड़ तक आये तो संजय ने कहा, "तुम्हें आराम से बैठकर सुनाऊँगा, मैं ने परलोक के सपने में क्या-क्या देखा। पर एक बात अभी बताने को जी कर रहा है, वहाँ मौत के फ़रिश्ते ने मुझे एक अजीब शीशा दिखाया कि अगर तुम चाहो तो तुम्हें पिछले जन्म का सारा हाल उस में दिखाई दे सकता है और शीशे में मैं ने सब से पहले तुम्हें देखा था।"

"देख लो, फिर मैं ने सचमुच यारी का हक़ कमाया हुआ है। तभी तो मरकर भी मीता की तरह मैं तुम्हारी स्मृति में बना रहा।"

संजय ने बात बीच में ही काट दी, "तुम्हें कैसे पता है कि मैं ने मीता को भी कितनी ही बार देखा था ?"

"तुम्हारे ही मुँह से सुना था, तुम सपने में बड़बड़ाये जो थे।"

"और भी कुछ बोला था ?"

"बहुत कुछ।"

"क्या-क्या ?"

"बैठकर बातें करेंगे, शायद कई दिन यही बातें करते रहेंगे।"

और करीम ने घर के दरवाज़े में क़दम रखते हुए एक ख़ामोशी आँगन में देखी। और जल्दी से सब को हौसला देता हुआ बोला, "लो बरकत ! नेमत ! जो शीरनी बाँटनी है, बाँट लो। देखो, मेरा यार अच्छा हो गया।"

और करीम ने संजय की ओर मुड़कर कहा, "ये मेरी दोनों बेगमें हैं, और ये चारों बड़े-छोटे उन के बिलौटे..."

संजय ने दोनों को हाथ उठाकर सलाम किया, और फिर शीरीं और जमीला की ओर देखते हुए कहा, "करीम मियाँ, यह तो बिलौटा नहीं, ख़ासी बिल्लियाँ हो गयी हैं।"

करीम ने हँसकर शीरीं की ओर देखा और कहा, "यह बड़ी बिल्ली परसों रात मुझ से भी छिपकर कोठरी में बैठकर ख़ुदा से तुम्हारे लिए दुआ माँग रही थी।"

शीरीं ने अपनी लाल चुनरी की किनारी लजाकर दाँतों के बीच दे ली और भीतर की तरफ़ जाती हुई बोली, "अब्बा ! तुम्हारे लिए चाय बनाऊँ ?"

सब चाय पी रहे थे जब डाक्टर आया।

करीम ने जल्दी से चारपाई से उठकर डाक्टर का बैग पकड़ लिया और बोला, "डाक्टर साहब ! आज तो मुझे ही जल्दी से इंजेक्शन लगा दीजिये, नहीं तो मैं ख़ुशी से पागल होने को हूँ।"

डाक्टर ने उधर देखा जिधर संजय चारपाई पर बैठा हुआ चाय पी रहा था। आँगन में अब कुछ धूप आ गयी थी। पर जिस कोने में नीम की छाया थी, करीम ने दो चारपाइयाँ उधर छाया की ओर डाली हुई थीं।

संजय ने डाक्टर की ओर देखा, अंदाज़ से जान लिया कि वह उसी के इलाज में था, इस लिए चाय का ख़ाली प्याला चारपाई के पाये के पास रखते हुए उठकर खड़ा हो गया।

"मुबारक़ हो, संजय साहब ! हमारे पास इस लोक में लौट आने की।" डाक्टर ने कहा और संजय से हाथ मिलाया।

"लगता है, बेहोशी में बहुत बोलता रहा हूँ, तभी आप इस लोक की बात कर रहे हैं।" संजय हँस पड़ा।

"आप ने वहाँ कौन-कौन-से रंग देखे, नीला, लाल, पीला, एक दिन बैठकर बातें करेंगे। पर इस वक़्त तो बाँह आगे कीजिये, आज का इंजेक्शन लगा दूँ।

कल चाहे आप ख़ुद मेरे क्लिनिक में आकर लगवा लीजियेगा। दो-एक दिन और लगा ही दें तो अच्छा है।" डाक्टर ने कहा तो करीम ने हँसकर बाँह आगे कर दी, "अब मरीज़ बदल लीजिये जी, और इन से कहिये, दो-चार दिन मेरी ख़िदमत करें।"

"तुम में, मियाँ! बड़ी जान है। दवाएँ तो ख़ैर अपनी जगह हुईं, लेकिन असल में इन की जान तुम्हारी ख़िदमत ने ही लौटाई है।" डाक्टर ने करीम से कहा और संजय को इंजेक्शन लगा दिया। दवा भी बदली, अब सिर्फ़ ताक़त के लिए नयी दवा लिख दी।

"जान तो मेरी सचमुच, डाक्टर साहब! मेरे यार ने ही लौटाई है।" संजय कह रहा था, जब करीम ने बात काट दी, "नहीं जी, मेरी औक़ात नहीं थी इसे धरती पर लौटाकर लाने की, यह तो भला हो इस के क़लम का जो परलोक में अड़कर बैठ गया कि यहाँ नही लिखा जाता। यह तो दोज़ख़ का हाल लिखने के लिए बेसब्र हो गया था तभी धरती पर लौट आया। भई, यहाँ और कुछ नहीं तो आदमी लिख तो सकता है।"
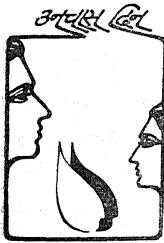
संजय को राज़ी हुए पूरे दो दिन हो गये तो तीसरे दिन सवेरे उठते ही उस ने करीम से कहा, "यार! आज मेरे हाथों में खुजली हो रही है।"

करीम ने हँसकर ज़ोर से आवाज़ दी, "ऐ बेटा शीरीं, जमीला! कहाँ हो? जल्दी से एक बोरी ले आओ।"

संजय करीम के मुँह की ओर देखने लगा तो करीम उसी रौ में लड़कियों की ओर देखते हुए बोला, "लो भई, हाथों में खुजली हो, तो बहुत पैसा मिलता है। सो, लड़कियो! बोरी तैयार रखो रुपयों से भरने के लिए। आज मेरे यार के हाथों में खुजली हो रही है।"

संजय हँस पड़ा, "वे हाथ और होते हैं, यार, जिन में रुपयों की खुजली

होती है। तुम्हारे-मेरे जैसे लोगों के हाथों में तो कामों की खुजली होती है। मैं सोचता हूँ, बहुत दिन हो गये मेहमाननवाज़ी करवाते हुए, अब अपने कमरे में जाकर कोई काम करूँ।"

करीम ने अपने दोनों हाथों की ओर देखा, "खुजली तो सच में मेरे हाथों में भी हो रही है। ये भी जब तक मशीन न चला लें, इन्हें बेचैनी होती रहती है।"

"तुम ने प्रेस से छुट्टी ले रखी है ?" संजय ने पूछा।

"वह तो लेनी ही थी, पर चार दिन ज़्यादा ही ले ली। क्या वार है आज ?"

"मंगल।"

"सो मंगल, बुध, जुमेरात, जुमा, हफ़्ता और इतवार—अभी छः दिन बाक़ी हैं।" करीम ने उँगलियों पर दिन गिनते हुए कहा, "हिसाब से तो पीर को जाना है काम पर।"

"तनख़ाह कटाकर छुट्टी ली, या..."

"वैसे तो मेरी छुट्टी बनती थी, पर मालिक छुट्टी देने के लिए राज़ी नहीं था। मैं ने कहा था, छुट्टी तो ज़रूर चाहिए, चाहे तनख़ाह दें या न दें, आप की मर्ज़ी। सो उस ने गोल-मोल-सी हाँ की थी। पर वह तो कोई बात नहीं है, तनख़ाह भी काट लेगा तो क्या है...छुट्टी का मक़सद तो पूरा हुआ..." करीम कह रहा था जब संजय को चिन्ता हुई कि करीम ने न जाने कैसे डाक्टरों और दवाओं के पैसे दिये होंगे, कौन जाने उधार किया होगा या घर का कोई गहना-पत्ता बेचा होगा, सो, चाय के अन्तिम घूँटों को जल्दी से पीते हुए बोला, "चलो, फिर अपने-अपने काम पर चलें। तुम बाक़ी छुट्टी कटवाकर अपना काम करना, और मैं भी प्रेस जाकर देखता हूँ, शायद प्रूफ़ों का कोई काम अभी मिल जाये..."

"अच्छा, फिर मैं जाता हूँ, मालिक तो शुक्र करेगा कि मैं काम पर आ गया, और अगर कोई प्रूफ़ों का काम हुआ तो लेता आऊँगा। अभी तुम्हें मैं बसों और साइकिलों पर जाने की परेशानी नहीं उठाने दूँगा।" करीम ने एक हुक्म की तरह संजय से कहा और घर की रसोई की ओर मुँह करते हुए बोला, "नेक बंदियो ! दो रोटियाँ पकाकर डब्बे में रख दो..." और फिर अपने बड़े लड़के को आवाज़ देकर बोला, "दुल्ले ! देखो बेटा, मेरी साइकिल में हवा भरी हुई है ?"

करीम एक प्रेस में मशीनमैन का काम करता था। छुट्टी पर था, इस के आने की आज किसी को उम्मीद नहीं थी, पर वह जब प्रेस पहुँच गया तो प्रेस का मालिक उस की ओर ऐसे देखने लगा, जैसे वह किसी कठिन समय में छत फाड़कर प्रकट हुआ हो।

"आ भई करीम मियाँ !" मालिक कुर्सी से उठते हुए बड़े तपाक से बोला।

पर दूसरे पल ही उस की आवाज़ सिकुड़कर ठण्डी पड़ गयी, ख़याल आया कि इन वर्करों को अपनी मोहताजी अधिक नहीं बतानी चाहिए, नहीं तो ये और सिरचढ़े हो जाते हैं। सो बोला, "आप लोग तो छुट्टियाँ लेकर घर बैठ जाते हैं, छुट्टियों की तनख़ाह मुफ़्त जो मिलती है। यह नहीं देखते कि हमें तो ग्राहकों को काम वक़्त पर करके देना होता है..."

एक शंका उस के मन में यह भी आ गयी कि करीम शायद और छुट्टी लेने के वास्ते अर्ज़ी देने के लिए आया है। इस लिए उस की आवाज़ और सख़्त हो गयी, और वह बोला, "वह जो तुम अपनी बजाय भाड़े का टट्टू दे गये थे, उस से यह तो पूछ लेना चाहिए था कि उस ने कभी पहले सिलिंडर मशीन का नाम भी सुना है या नहीं ?"

करीम हँस-सा दिया, "नहीं, जी, वह मैं ने काहे को दिया था, वह तो आप ने ख़ुद ही कहा था कि चार दिन काम चला लेगा, पहले भी वह आप के यहाँ मशीनमैन था।"

"था भई, पर तब हमारे पास ये सिलिंडर मशीनें कहाँ थीं ? तुम ने ही कहा था कि तुम ने इसे काम समझा दिया है।"

"जैसा आप ने कहा था, दिहाड़ी लगाकर समझा दिया था, सो, भाड़े के टट्टू ने मशीन के दुलत्ती मार दी है ?" करीम की हँसी-सी निकल गयी।

मालिक ने और मुँह बिगाड़ लिया। करीम का इस तरह हँसना उसे अच्छा नहीं लगा। जल्दी से बोला, "पर अब तुम्हें और छुट्टी नहीं मिल सकती..."

"मैं छुट्टी लेने कब आया हूँ जी, मैं तो उलटे छुट्टी कटवाने आया हूँ। आना तो इतवार के बाद पीर को था, मैं ने कहा—भई, जिस काम के लिए छुट्टी ली, वह हो गया, अब घर पर ख़ाली बैठकर क्या करूँगा !"

मालिक की आवाज़ में फिर कुछ तपाक आ गया, बोला, "अच्छा, अच्छा ...फिर, आज बहुत ज़रूरी काम देना है, जल्दी से निकाल दो।"

करीम ने मालिक के दफ़्तर के कमरे से निकलकर बाहर लकड़ी के बने हुए छोटे-छोटे छप्परों के नीचे काम कर रहे कम्पोज़ीटरों से सलाम-दुआ की, और मशीनवाले कमरे में जाकर कोने में टँगे हुए अपने काम करने के कपड़े पहन लिये।

इस कमरे में जो दो कम्पोज़ीटर फ़रमे बाँधकर मशीन के पास रख रहे थे, वे करीम को पहचाने हुए नहीं लगे। उन से करीम ने हँसकर कहा, "यहाँ तो काम की बरकत हो गयी लगती है। क्यों भाई, नये आये हो ? क्या नाम हैं तुम्हारे ?"

"बन्ता और सन्ता," उन में से एक ने कहा, "यह तुम्हारा मालिक बहुत होशियार है, नौकरी नहीं देता, हमें ठेके पर रखा है।"

करीम ने फ़रमा मशीन पर चढ़ाते हुए कहा, "भाई, काम मिल गया, और क्या चाहिए। नौकरी का नावाँ क्या शीशे में जड़वाने के लिए होता है ?"

दोनों बन्ता और सन्ता करीम के पास आकर खड़े हो गये और बाहर छप्परों की ओर हाथ से इशारा करते हुए बोले, "यह देखो नौकरियों वालों को, दिहाड़ी में चार पन्ने नहीं बनाते। हम तो पोर तोड़कर काम करते हैं, ठेके पर जो काम करना हुआ।"

"हाँ, हां..." करीम ने मशीन पर कागज़ चढ़ाते हुए कहा, "जितना गुड़ डालोगे, उतना ही मीठा होगा। जितने पन्ने बनाओगे, रक़म भी तो उतनी ही बनाओगे।"

बन्ता जल्दी से बोला, "यह तुम भूल ही गये, मियाँ, कि हमें कोई तब ही पूछता है जब काम अड़ जाता है। आगे-पीछे तो नौकरी वाले ही जँवाई होते हैं। काम हो या न हो, पहली को बँधी तनख़ाह घर ले जाते हैं।"

करीम मशीन पर कागज़ चढ़ाकर मालिक से गिनती का आर्डर पूछने के लिए जा रहा था कि बन्ता की बात सुनकर रुक गया, बोला, "दोस्त ! तुम यह भी भूल गये कि नौकरी वाले तो जँवाई होते हैं, लेकिन सगे बेटे तो काम वाले होते हैं।"

दोपहर की आधे घण्टे की खाने की छुट्टी के समय जब सब काम करनेवालों ने अपने-अपने डब्बे खोलकर एक बेंच पर रख लिये तो करीम भी उन के साथ बैठकर खाना खाते हुए अपने पुराने यार-दोस्तों से बोला, "सालो ! आजकल हाथ ढीले किये हुए हैं, काम क्यों नहीं निकाल रहे हो ?"

एक कम्पोज़ीटर हँस पड़ा, बोला, "मियाँ ! ज़माने की रफ़्तार से चलना चाहिए, हम तुम्हारी तरह सतयुग के आदमी नहीं हैं।"

"अच्छा, बेटा !" करीम ने मुँह के निवाले को चबाते हुए अपनी आवाज़ भी चबा ली "मुझे भी फिर कलयुग का भेद बता दो।"

एक और कम्पोज़ीटर ज़ोर से हँस पड़ा, बोला, "जो कुछ बड़े-बड़े सरकारी दफ़्तरों में होता है, वह ढंग हम ने भी सीख लिया है, वह होता है—गो स्लो।"

"वह क्या होता है, भाई ?"

"यही कि काम को आगे चलने ही न दो।"

"समझ गया।" करीम हँसने लगा तो एक कम्पोज़ीटर बोला, "पर यह बात तुम्हारी समझ में नहीं आयेगी, चाचा !"

करीम ने बुज़ुर्गी में सिर हिलाया, बोला, "हाँ, भतीजे ! मेरी समझ में तो नहीं आयेगी कि आदमी काम पर ताला लगा दे, और अपनी ज़बान खोल दे।"

"तुम्हारा मतलब यह है कि हम अपनी माँगें न माँगें ?" दो कम्पोज़ीटर

करीम पर गुस्सा-सा कर बैठे ।

करीम वैसे ही शांत-गंभीर बोला, "चाचा कहा है तो चाचा की बात भी तो सुन लो। मैं ने कब कहा है कि तुम जो माँगें वाजिबी समझते हो, वह मत माँगो ?"

"तुम यही तो कह रहे हो..."

"नहीं, मैं यह नहीं कह रहा हूँ । मैं यह कह रहा हूँ कि ज़बान चलाने का हक़ सिर्फ़ उस को पहुँचता है, जो हाथों को भी चलाता है । पूरा काम करो, और पूरी उजरत माँगो ।"

"पर चाचा ! चुप बैठने से उजरत कौन देगा ?"

"नहीं देता तो काम छोड़ दो ।"

"लो सुनो चाचा की बातें ! अच्छे-भले रोज़गार को लात मार दें और बेरोज़गार होकर घर बैठ जायें । यही तो फ़ायदा होता है नौकरी का कि सताते भी रहो और खाते भी रहो। अब नौकरी से तो कोई निकाल नहीं सकता ।" एक कम्पोज़ीटर ने जब यह कहा तो औरों ने उस की ओर ऐसे देखा, जैसे उस की बहुत सयानी दलील की दाद दे रहे हों। एक और ने हामी भी भरी, "इसी लिए तो यूनियन होती है, और किस लिए होती है ?" और औरों से दाद-सी माँगते हुए बोला, "क्यों भई, मैं ने ठीक कहा है न ?"

करीम ने सब के सिर झंडियों की तरह हिलते देखे, और अपने खाने के ख़ाली डब्बे को बन्द करते हुए बोला, "जिस ने भी यह यूनियनों की तरकीब सोची है, कोई बहुत ही गाँठ का पक्का रहा होगा । उस ने यह न सोचा कि तुम नारे लगा-लगाकर नौकरियाँ तो लिये रखोगे पर तुम्हारी हड्डियों में पानी भर जायेगा । मुझे एक बात बताओ !"

"क्या ?" सब ने कुछ खीझकर पूछा ।

"यह कि आज तक जितनी भी हड़तालें होती हैं, यह बात तो ज़ोर-ज़ोर से कहते हैं भई, महँगाई बढ़ गयी है, इस लिए तनख़ाहें भी बढ़ायी जायें । कभी हड़ताल वालों ने यह भी कहा है भई, आज से ज्यादा काम करेंगे, हमें आज से ज़्यादा तनख़ाह दी जाये ? बताओ मुझे, कभी किसी ने यह कहा है ?" करीम की आवाज़ बात करते हुए बहुत गंभीर हो गयी तो सारे वर्कर हँस पड़े । उन में से एक बोला, "करीम चाचा ! सरकारी नौकर तो सरकार के जँवाई होते हैं । हर कुर्सी सरकार की बेटी होती है और कुर्सी पर बैठने वाला सरकार का जँवाई ।"

करीम ने आह जैसी साँस भरी और कहा, "मैं भी यही कहता हूँ कि तुम अपने देश के बेटे बनो, तुम्हारे दिल में देश का दर्द जागे ! जँवाइयों को काहे का दर्द होता है ?" और करीम की साँस और गहरी हो गयी, "पर तुम से क्या कहूँ, देश के सब से बड़े जँवाई तो देश के मिनिस्टर होते हैं ।"

सारे कम्पोज़ीटर हँस पड़े। एक बोला, "करीम चाचा ! कहाँ गये थे छुट्टी लेकर ? बहुत ही गहरी बातें सीख आये हो...धरम से, अगर तुम भी किसी इलेक्शन में खड़े हो जाओ, ऐसी बातें करो, तो सब लोग तुम्हें वोट देंगे, हम तो देंगे ही।"

खाने की छुट्टी का आधा घंटा बीत गया था। सब के कानों में घंटी की आवाज़ पड़ी और सब के सब एक-दूसरे की ओर देखते हुए, हँसते हुए अपनी-अपनी जगह पर जाकर काम पर लग गये।

बाक़ी आधा दिन चलती हुई मशीन की ताल में बँधा हुआ, चुपचाप बीत गया। पर शाम को कोई छः बजे का समय था, छुट्टी होने का समय, जब एक ज़ोर की 'खड़ाक' से वह चुप टूट गयी।

सारे करीम की मशीन वाले कमरे की ओर दौड़कर गये। करीम ने बन्ता और सन्ता दोनों के खाने के डब्बे हाथ में लिये हुए थे और वह मशीन से भी ज़्यादा ज़ोर की आवाज़ से गरज रहा था, "सालो ! आज घर जाकर बाल-बच्चों को रोटी की जगह सिक्का खिलाओगे ?"

सब समझ गये कि बन्ता और सन्ता ने कुछ टाइप चुराकर अपने-अपने डब्बे में डाल लिया है। पर यह कोई नयी और अनहोनी बात नहीं थी, इस लिए सब हँस पड़े। एक जने ने जल्दी से मालिक के कमरे में झाँककर देखा। उस ने कोई आधे घंटे पहले मालिक को प्रेस से बाहर जाते देखा था, फिर भी लौटकर कमरे में देखकर तसल्ली कर ली और करीम के पास आकर उस की बाँह पकड़कर बोला, "छोड़ो मियाँ ! तुम्हें क्या लेना है इस बात से। तुम काहे को रास्ता चलतों से वैर बाँधते हो ?"

करीम के स्वभाव को सब जानते थे, इस लिए एक और जना आगे होकर करीम से बोला, "छोड़ो जी, जो करेगा, सो भरेगा, तुम्हें क्या ?"

बन्ता और सन्ता ने जब और कम्पोज़ीटरों की तरफ़ से बात ठंडी पड़ती देखी तो ज़रा चमककर करीम के सामने आकर खड़े हो गये। बोले, "लिहाज़ करो तो अपने जैसों का। जैसे तुम मज़दूर हो, वैसे हम मज़दूर। इस वक़्त मालिक तो सिर पर नहीं है। तुम काहे उस के सरकारी वकील बनकर खड़े हो गये हो ?"

सरकारी वकील वाली बात से सब को जोर से हँसी गयी। सब ने बारी-बारी हामी भरी, "हाँ, करीम मियाँ ! जो मज़दूर की हिमायत करे, वह तो सच्चा वकील हुआ, तुम ख़ामख़ाह के सरकारी वकील क्यों बन बैठे हो ? तुम्हें मालिक से क्या लेना है ?"

करीम की आवाज़ रोने जैसी हो गयी, और ग़ुस्से से भी खौल गयी, वह बोला, "हाँ, मैं सरकारी वकील हूँ, मेरी सरकार एक ही है, ईमानदारी। सिर्फ़

मेरी नहीं, वह हर मज़दूर की होती है और तुम से किस ने कहा है कि तुम मज़दूर हो ? मज़दूर का काम मज़दूरी करना होता है, चोरी करना नहीं होता ।"

करीम की बात अभी पूरी नहीं हुई थी कि कम्पोज़ीटरों में जो पीछे खड़े हुए थे, उन्होंने घबराकर देखा कि मालिक सिर पर आकर खड़ा हो गया है । उन्होंने अपने पैरों से आगे खड़े हुए साथियों के पैरों को ठोकर मारकर चुप होने का इशारा किया। और आगे वालों ने जब इशारा समझने के लिए पीछे देखा तो सब की आँखें मालिक पर पड़ गयीं और वे बिख़रकर पीछे की ओर लौटने लगे।

साथ ही उन की हमदर्दी बन्ता और सन्ता की ओर से पीछे हट गयी। आख़िर यह मामला उन में से किसी का नहीं था जो नौकरीपेशा थे, उन्होंने मन में इस बात का शुक्र-सा किया और उन में से एक ने मालिक को सुनाते हुए अपने साथियों से कहा, "और रखो बाहर के आदमी। हमें तो प्रेस का दर्द है पर बाहर वालों को किस का दर्द ? वे तो चार दिन आकर दुगने पैसे भी कमा लेते हैं और अपनी जेबें अलग भर लेते हैं।"

मालिक ने आगे बढ़कर करीम के हाथ में लिए हुए वे दोनों डब्बे देखे, बात को समझा और इशारे से बन्ता और सन्ता दोनों को अपने कमरे में बुला लिया।

करीम चुपचाप चौबच्चे पर जाकर साबुन से हाथ धोने लगा। छह बजने वाले थे, छुट्टी का समय था। बाक़ी कम्पोज़ीटर भी धीरे-धीरे चौबच्चे के गिर्द इकट्ठे हो गये, तो उन में से एक मालिक के कमरे की ओर से आता हुआ उत्तेजित-सा बोला, "लो और सुनो ! वे दोनों हमारा नाम लगा रहे हैं कि हम ने उन्हें ख़ामख़ाह बदनाम करने के लिए, उन के डब्बों में सिक्के भर दिये।"

कम्पोज़ीटर ग़ुस्से से दाँत पीसने लगे, तो करीम धीरे से हँसकर उन से बोला, "लो भई, जैसे तुम मज़दूर वैसे हम मज़दूर, अब तुम में से कौन-सा सच्चा वकील बनेगा, मैं तो सरकारी वकील हूँ न।"

"आज तो, करीम चाचा ! बात उलटी पड़ गयी।" एक-दो ने कहा और खीझे हुए-से हँस पड़े।

शीरीं गली के बाहर वाले रास्ते पर एक पेड़ के नीचे अकेली घबराई हुई खड़ी थी जब दूर साइकिल पर आते हुए अपने अब्बा पर उस की नज़र पड़ी।

और उसे लगा, वह अब्बा को आते हुए देखकर और भी घबरा गयी है। वह पेड़ के पीछे छिप-सी गयी...।

करीम की साइकिल अभी पेड़ के पास नहीं आयी थी कि शीरीं ने देखा, साइकिल दूर परे ही खड़ी हो गयी है और अब्बा साइकिल को मोड़कर पीछे लौटने लगे हैं।

शीरीं ने आगे बढ़कर आवाज़ दी, "अब्बा!"

वह अब्बा को आते देखकर घबरायी भी थी, पर फिर वापस लौटते देखकर और भी घबराई। आवाज़ उस के मुँह से अपने आप ही निकल गयी, पर करीम बहुत दूर था। यह भी लगा, आवाज़ उस तक नहीं पहुँची। पर साथ ही देखा, अब्बा ने साइकिल को फिर घर की ओर मोड़ लिया है।

करीम जब पेड़ के पास पहुँचा तो उस ने शीरीं को देखकर साइकिल रोक ली। साइकिल से उतरते हुए उस ने पूछा, "क्यों, ख़ैर तो है? यहाँ क्यों खड़ी हो?"

शीरीं ने जवाब देने की बजाय पूछा, "अब्बा, तुम पीछे क्यों लौटने लगे थे?"

करीम ने कहा, "वह मैं एक बात भूल गया था, दिन-भर याद ही नहीं आयी। प्रेस से प्रूफ़ लाने थे, पर भूल गया। अभी घर के पास आकर याद आया, पहले सोचा, लौटकर ले आऊँ, फिर ख़याल आया कि इस वक़्त तो प्रेस बन्द हो गया होगा। वह कोई बात नहीं, कल सही। पर तुम यहाँ क्यों खड़ी हो?"

"अब्बा..." शीरीं ने कहा और जल्दी से फिर दूर एक बार सड़क की ओर देखा।

"बतातीं क्यों नहीं?"

"अब्बा! माँ भी डर रही हैं, मैं भी, तुम हम पर नाराज़ होगे पर हमारा

क्या क़सूर ?" शीरीं ने डरते-डरते कहा, और फिर एक बार जल्दी से दूर तक सड़क को देखा।

"मुझे ये पहेलियाँ अच्छी नहीं लगतीं, जो कुछ हुआ है, सीधी तरह बताती क्यों नहीं ?" करीम ने लड़की पर ताव खाकर कहा तो शीरीं की आवाज़ रुआँसी हो गयी, "वह...वह पता नहीं कहाँ चला गया।"

"कौन, संजय ?"

लड़की ने हाँ में सिर हिलाया और कहा, "माँ ने बहुत मना किया था। कहता था, अभी आ जाऊँगा। तुम्हारे आने से पहले, पर अभी तक आया नहीं।"

"हूँ।" करीम ने साइकिल को पेड़ से लगाकर खड़ा कर दिया और पीछे सड़क की ओर देखते हुए पूछा, "गये हुए कितनी देर हो गयी है ?"

"कितने ही घंटे हो गये हैं। तब दोपहर थी। मैं इसी लिए यहाँ खड़ी हुई थी, माँ ने कहा, जाकर मोड़ पर देख।" शीरीं ने जल्दी-जल्दी कहा, और फिर रुककर बोली, "माँ की भी जान सूखी हुई है। अगर उसे कुछ हो गया तो तुम..."

करीम ने कड़वाहट से भरकर लड़की की ओर देखा, पर फिर ख़ुद ही ठहराव-भरे स्वर में बोला, "मैं जानता हूँ उस ज़िद्दी को, अपनी-सी पर आ जाये तो उसे ख़ुदा भी नहीं रोक सकता। चलो, तुम घर चलो।"

शीरीं गयी नहीं, बोली, "पर कहता था, 'तुम्हारे अब्बा के आने से पहले आ जाऊँगा।' "

करीम हँस-सा पड़ा। पूछा, "अच्छा! और मुझ से डर भी रहा था ?"

"बहुत डर रहा था।" लड़की की आवाज़ में अपने अब्बा का रुख़ देखकर कुछ जान पड़ गयी, "अम्मा से कह रहा था, 'मेरे जाने के बारे में तुम मत बताना, मैं ख़ुद बताऊँगा।' "

"वह देखो, वह आ रहा है। कितनी तेज़ साइकिल चला रहा है, मन में डरता होगा कि मैं कहीं उस से पहले न पहुँच गया होऊँ।" करीम ने कहा तो शीरीं ने भी एकटक दूर सड़क की ओर देखा, कहा, "वही है ? अभी तो पहचाना नहीं जाता कौन है।"

"वही है। मेरी तो बाज़ जैसी निगाह है, धोखा नहीं खा सकती।" करीम हँस पड़ा, "चलो, यही शुक्र है कि ठीक-ठाक लौट आया है।"

पर जिस समय संजय की साइकिल उस पेड़ के पास पहुँचने लगी, जहाँ करीम और शीरीं खड़े हुए थे, तो करीम आगे बढ़कर सड़क पर खड़ा हो गया।

संजय पास आया तो साइकिल से उतरकर चुपचाप करीम के सामने खड़ा हो गया।

"जनाब कहाँ से आ रहे हैं ?" करीम ने तनी हुई आवाज़ में पूछा तो संजय ने हलीमी से कहा, "बहुत दूर से, मलकुल मौत के यहाँ से। मैं पहले ही उसे कह

रहा था कि बहुत देर हो गयी है, करीम मियाँ इन्तज़ार कर रहा होगा, मुझ पर नाराज़ हो रहा होगा..."

"अच्छा !" करीम ने अपना सारा अधिकार अपनी आवाज़ में भर लिया और कहा, "मलकुल मौत से तुम्हारी यारी ज़रा ज़्यादा हो गयी है, तुड़वानी पड़ेगी।"

संजय ने करीम के कन्धे से अपना माथा लगा दिया और हौले से कहा, "यार ! तुम सब कुछ कर सकते हो। अगर मौत का फ़रिश्ता बनकर तुम मेरी बेहोशी में मुझ से बातें कर सकते हो, तो क्या नहीं कर सकते !"

करीम ने कुछ चकित होकर संजय के मुँह की ओर देखा, तो पास से शीरीं बोली, "अब्बा ! वह जो कुछ तुम ने कागज़ों पर लिखा था, आज इन्होंने अम्मा से वह काग़ज़ लेकर पढ़ा था।"

करीम को ज़ोर से हँसी आ गयी, बोला, "अच्छा !...वह दोज़ख़ का हाल... पर वह तो बहुत ही टूटे-फूटे अक्षरों में मैं ने कुछ लिखा था, और साथ ही, सच, वह उर्दू में लिखा हुआ था, तुम ने कैसे पढ़ लिया ?"

"मैं ने भी एक फ़रिश्ता ढूँढ़ लिया है उर्दू पढ़ने के लिए।" संजय ने कहा, तो पास से शीरीं बोली, "अम्मा ने पढ़-पढ़कर सुनाया था।"

घर पहुँचे तो करीम आगे था, जिसे दरवाज़े में से साइकिल भीतर लाते हुए देखकर बरकत बहुत घबरायी हुई बोली, "वह तुम्हारा कुछ लगता, मुझे नहीं मालूम कहाँ चला गया है।"

करीम ने दरवाज़े के बाहर देखते हुए आवाज़ दी, "आ भई, मेरे कुछ लगते !" और संजय जब भीतर आया, करीम ने बरकत से कहा, "लो, एक दफ़ा तो मैं अपना कुछ लगता तलाश करके ले आया हूँ, पर अब आगे अगर तुम ने इसे मेरी चोरी से जाने दिया तो देखना।"

बरकत ने संजय को आते हुए देखकर चैन की साँस ली और अपने ख़ाविन्द से बोली, "फिर कल से एक हथकड़ी दे जाना, इसे बाँध रखूँगी।"

करीम हँसने लगा, "बरकत ! यह बिचारा करीम क़ादिर नहीं है जो हथकड़ी में बँध जायेगा।"

बरकत ने कुछ नहीं कहा, चूल्हे पर चाय का पानी रखने लगी; पर उस की बजाय नेमत बोली, "तुम तो जैसे बँधोगे ही; एक हाथ में बरकत ने हथकड़ी डाली, दूसरे में मैं ने, पर दो हथकियों से तो तुम्हारा कुछ बना नहीं।"

नेमत ने करीम और संजय के बैठने के लिए आँगन में दो चारपाइयाँ डाल दीं, तो करीम चारपाई पर बैठते हुए बोला, "बात तो सच है। मेरा दो हथकड़ियों से कुछ नहीं बना। असल में वे अक्लमन्द थे, जिन्होंने सोच-समझकर मर्द को चार निकाह करने के लिए कहा था। अगर दो हाथों के लिए दो हथ-

कड़ियाँ चाहिए, तो दो पैरों को भी तो दो बेड़ियाँ चाहिए।"

नेमत ने नलके के नीचे हाथ रखकर देखा, नलके का पानी अभी भी गुनगुना था। सो उस ने ठंडे पानी की बाल्टी निकालने के लिए कूई में रस्सी लटका दी, और पानी की बाल्टी खींचते हुए बोली, "फिर दो निकाह् और कर लो, कोई हसरत न रह जाये।"

और नेमत ने पानी की बाल्टी नीचे रखते हुए एक तौलिया करीम को दिया, एक संजय को, और बोली, "इस बात में हिन्दुओं की औरतें अच्छी हैं, नसीबों वाली। सारी उम्र आदमी की एक ही औरत रहती है।"

संजय ने कहा कुछ नहीं, सिर्फ़ हँस दिया, और उठकर हाथ-मुँह धोने लगा। पर करीम मुँह पर पानी के छींटे मारते हुए बोला, "नेकबख़्तो ! वे अच्छी कैसे हुईं ? अच्छी तो उलटी तुम हुईं कि आदमी का दिल खट्टा नहीं होता, सोचता है, अगर एक अच्छी है तो दूसरी भी अच्छी होगी, दूसरी अच्छी है तो तीसरी भी अच्छी होगी, चौथी भी...हिन्दू तो एक से ही तौबा कर लेता है, दूसरी का नाम नहीं लेता।"

आँगन में पानी की बजाय हँसी के छींटे उड़ गये।

शीरीं ने चाय के भरे हुए दो गिलास उन दोनों के सामने रख दिये, तो करीम ने संजय को वह पूरी बात सुनायी जो आज प्रेस में हुई थी। और बताया, "बस इसी झगड़े में आज मैं मालिक से प्रूफ़ों की बात पूछना भूल गया।"

"कोई बात नहीं, आज तर्जुमे का कुछ काम मिल गया है।" संजय ने कहा और बताया कि आज दोपहर वह इसी काम के लिए गया था। आते हुए अपने कमरे में भी गया था। वहाँ चौकीदार से कमरा साफ़ करवाया, इसी लिए देर हो गयी।

"वह तो मैं साइकिल को देखकर ही समझ गया था। साइकिल वहीं से तो लाये होगे।" करीम ने कहा तो संजय ने ज़रा झिझककर कहा, "सोचता था, रात को वहीं सो जाता, पर यार की इजाज़त नहीं थी आज, इस लिए हुक्म का ग़ुलाम बनकर आ गया।"

"देखो मियाँ !" करीम ने ग़ुस्से से कहा, "ताश मैं ने कभी नहीं खेला। मुझे नहीं मालूम, यह हुक्म का ग़ुलाम क्या होता है और चिड़िया की बेगम क्या होती है, और पान का इक्का क्या होता है। बात बड़ी सीधी है कि डाक्टर ने कहा है, चार दिन दवाई भी पीनी है और आराम भी करना है। तुम चुपचाप यहाँ बैठे रहो, ये दोनों बेगमें तुम्हारी माँ जैसी हैं।"

और संजय कोई आपत्ति नहीं कर सका।

शीरीं दोनों चारपाइयों के पाँवों के पास रखे हुए चाय के ख़ाली गिलास उठा रही थी, जब छोटी बहन जमीला ने आवाज़ दी, "देखो शीरीं ! तुम्हारे

मोतिया के पौधे में फूल खिला है।"

शीरीं ने जल्दी से गिलास उठाये और दौड़कर मोतिया के पौधे को देखा और फिर करीम के पास लौटकर बोली, "अब्बा ! तुम मुझे आठ आने रोज़ दे दिया करो।"

"आठ आने रोज़ ? वह किस लिए ?"

"यह पौधा तो मैं चाचा अता से माँगकर ले आयी थी, अब मैं और उस से नहीं मागूँगी। वह आठ आने का एक बेचता है।" शीरीं ने कहा तो करीम ने उस की बात रखते हुए कह दिया, "अच्छा...अच्छा...कल दे दूँगा आठ आने, तुम एक पौधा ख़रीद लाना उस से।"

शीरीं हँस पड़ी, "सिर्फ़ एक दिन नहीं, अब्बा ! रोज़ आठ आने। रोज़ एक बूटा ख़रीदूँगी तो एक महीने में आँगन भर जायेगा।"

इस समय करीम के चेहरे पर भी जैसे एक फूल खिल उठा था। उस ने ध्यान से लड़की की ओर देखा। लड़की ने समझा, शायद अब्बा ने उस की बात की हामी भर दी है, पर करीम ने न उस की बात सुनी थी, न हामी भरी थी। उसे वह दिन याद आ रहा था जब नेमत की नीम को काटने वाली बात उस के मन में मौत का वहम डाल गयी थी और शीरीं ने आँगन में मोतिया का बूटा लगाकर उस वहम को दूर कर दिया था।

और करीम बड़ी रौ में आकर उस दिन की सारी बात संजय को सुनाने लगा।
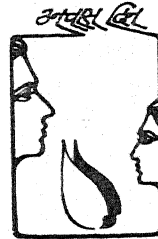
सवेरे करीम अपने काम पर चला गया तो संजय आँगन में जिधर नीम की छाया थी, उधर चारपाई डालकर तर्जुमे का काम करने लगा।

घंटे-भर के क़रीब उस का मन काम में लगा भी, फिर उखड़ गया। और वह लिखे हुए काग़ज़ों को लकड़ी के स्टूल पर एक किताब के नीचे रखकर, उसी

चारपाई पर कुछ निढाल-सा लेट गया।

बीमारी की थकान थी, पर संजय को लगा, यह सिर्फ़ बीमारी की थकान नहीं है। यह ख़राब किताबों के तर्जुमे की उस के अंगों में शुरू दिन की थकान है। वह जब भी पैसों की ज़रूरत के लिए ऐसा काम करता था, उस के अपने हाथ उस का कहा मानने से इन्कार कर देते थे, और तीन-चार पन्नों के बाद हाथों की उँगलियाँ अकड़ जाती थीं।

बारी-बारी एक हाथ की उँगलियों को दूसरे हाथ से दबाते हुए वह कितनी ही देर चारपाई पर लेटा रहा। कभी-कभी नीम की दो-तीन पत्तियाँ झड़कर उस पर गिर पड़तीं तो उस के थके हुए अंगों को एक सुख-सा मिल जाता। फिर शायद हवा कुछ तेज़ हो गयी, नीम की पत्तियाँ भी बहुत झड़ने लगीं। उसे नींद-सी आ गयी।

नींद के एक सपने का सुख उस के सारे अंगों में समा गया। उस ने देखा, वह अपना नया उपन्यास लिख रहा है। कई पृष्ठ लिख-लिखकर उस ने पास में रख दिये हैं, फिर भी लिखे जा रहा है, न उस की उँगलियाँ थकती हैं, न उस की नज़र थकती है।

फिर करीम मियाँ चाय का प्याला देकर उस के पास बैठ गया है और पूछ रहा है, 'इस उपन्यास का क्या नाम रखा है?'

वह करीम को बताता है, 'उनचास दिन।'

करीम हँस रहा है, पर एक अजीब बात हो जाती है कि उस का अपना हाथ लिखते-लिखते काग़ज़ बन गया है और उस पर अब टप-टप अक्षर गिर रहे हैं।

वह करीम की ओर देखकर ज़ोर से हँसता है और कहता है, 'देखो! यह क्या करामात हो रही है।'

और उसे लगा, कोई उसे कन्धों से झकझोर रहा है। चौंककर उस की आँखें खुल गयीं तो नेमत उसे जगाते हुए कह रही थी, "बूँदें पड़ने लगी हैं, उठो, तुम्हारी चारपाई अंदर कर दूँ..."

संजय को सपने वाली बात भूल गयी, याद आया कि वह स्टूल पर लिखे हुए काग़ज़ रखकर सो गया था, वे सब मेह में भीग गये होंगे। उस ने जल्दी से स्टूल की ओर देखा।

"मेह बरसने लगा था तो सारे काग़ज़ शीरीं ने उठाकर अन्दर रख दिये थे।" नेमत ने बताया, तो संजय निश्चिन्त हो गया।

उठकर कमरे में आ गया, जैसे नेमत ने कहा था, पर अभी देखे हुए सपने से उस के सारे अंगों में झुनझुनी-सी हो गयी। यह भी याद आया कि असल में वह पिछली रात से, उस समय से बेचैन है, जब करीम ने उसे प्रेस की बात सुनायी थी।

करीम से वह बात सुनकर संजय ने कुछ नहीं कहा था, पर वह विचार में डूब गया था कि करीम ने जो बात सहज स्वभाव कही थी, वह कितनी बड़ी बात थी कि देशों के शासक देशों के पुत्र नहीं होते, जँवाई होते हैं।

संजय को लगा, यही एक उपन्यास का बीज था, जो रात में उस के मन में पड़ गया था, और जो अभी उस के सपने में पौधे की भाँति उग रहा था।

पौधे से उसे वह बात याद आ गयी जो रात को करीम ने सुनाई थी, जब उस के मरने-जीने वाली शाम को शीरीं ने आँगन में मोतिया का पौधा लगाकर करीम के मन में उस के बचने का विश्वास बाँध दिया था।

संजय ने अपनी कोठरी के साथ ही लगे हुए उस मोतिया की ओर देखा तो रात की शीरीं की वह बात भी याद आयी, 'आठ आने में एक आता है, रोज़ एक लगाऊँ तो एक महीने में आँगन भर जायेगा...'

यह बरसात की पहली बौछार थी, कुछ देर पड़ने के बाद हलकी पड़ने लगी तो संजय ने शीरीं को आवाज़ दी।

"चाय बनाऊँ?" शीरीं ने पास आकर पूछा।

"अभी नहीं। चलो, पहले मोतिया के पौधे ले आयें।"

"कहाँ से?"

"जहाँ से तुम कहती थीं।"

"चाचा अता के यहाँ से?"

"हाँ।"

"पर..." शीरीं चुप-सी हो गयी।

"वह इस वक़्त घर पर नहीं होता?" संजय ने पूछा।

"होता है, पर..." शीरीं फिर चुप हो गयी।

संजय ने बात समझ ली कि उस ने अभी अब्बा से पैसे नहीं लिये हैं, इस लिए चुप है। बोला, "अच्छा, अम्माँ को बुलाओ।"

बरकत आयी तो संजय ने कहा, "यह मेरा कहना नहीं मानती, अम्माँ! आप इस से कहिये कि मेरे साथ चलकर चाचा अता का घर बता दे।"

"अम्माँ! वहाँ से मोतिया के पौधे लाने हैं, और अब्बा..." शीरीं ने इशारे से अम्माँ को बताया।

"आज ज़मीन गीली हो गयी है, और गीली ज़मीन में पौधे लगायें तो सूखते नहीं, तुम चाहे चाचा अता से पूछ लेना।" संजय ने कहा तो अम्माँ ने 'नहीं' नहीं की, लड़की से बोली, "चलो, उस का जी भी कर रहा है तो ले आओ जाकर, यह बराबर में ही घर है..."

और अम्माँ जब पैसे निकालने के लिए अपनी कोठरी में जाने लगी तो संजय ने कहा, "अम्माँ, कोई डलिया या टोकरी-सी दे दो, दस-बीस पौधे हाथों में नहीं

आ सकेंगे।"

अम्माँ कुछ संकोच में पड़ गयी, शायद वह एक-दो पौधों के पैसे देने लगी थी, पर दस-बीस का नाम सुनकर ठिठक-सी गयी। फिर कोठरी में से एक डलिया लाकर बोली, "चाचा अता से कहना, तुम्हारे अब्बा आकर ख़ुद पैसे दे जायेंगे।"

"अच्छा !" शीरीं ने कहा और माँ के हाथ से डलिया थाम ली।

संजय ने अता के घर से मोतिया के पौधे भी खरीदे, एक आड़ू का और एक अनार का पौधा भी ख़रीदा, और जब पैसे देने लगा, शीरीं जल्दी से उस का हाथ पकड़ते हुए अता चाचा से बोली, "चाचा..."

अता पौधों को ध्यान से डलिया में रख रहा था, उस की नज़र शीरीं की ओर नहीं थी, सो संजय ने जल्दी से शीरीं के होंठों पर हाथ रखकर उस की आवाज़ को रोक दिया।

अता से पैसे लिये, पौधों से भरी हुई डलिया थमायी, तो संजय बाहर गली में आकर शीरीं से बोला, "मेरी और तुम्हारे अब्बा की बात घर की बात है। घर की बात लोगों के सामने करते हैं क्या ?"

शीरीं कुछ शर्मिन्दा-सी हो गयी। पर साथ ही उसे ग़ुरूर-सा भी आया कि संजय ने अपने आप को उन के घर का एक आदमी कहा है।

घर आकर संजय ने डलिया एक ओर रख दी और फिर अकेला अता के घर जाकर एक रब्बी माँग लाया।

पहले शीरीं और जमीला ने मिलकर आँगन में कोई एक-एक फ़ुट के फ़ासले पर निशान लगाये, फिर संजय रब्बी से वहाँ छोटे-छोटे गड्ढे बनाने लगा।

बारी-बारी सब पौधे लगा दिये गये, तो बेहाल-से पड़े हुए कच्चे आँगन में एक छोटा-सा बागीचा दिखाई देने लगा।

करीम का बड़ा लड़का सलामत मौलवी के यहाँ पढ़ने गया हुआ था और छोटा अकबर सोया हुआ था, जब घर का आँगन बाग़ीचा बना। दोपहर खाने के समय सलामत आया तो आँगन से गुज़रते हुए जैसे उस का पैर ठिठक गया। नेमत देख रही थी, ज़ोर से हँसकर बोली, "अरे! आज तो तुम्हारे अब्बा भी अपना घर नहीं पहचान सकेंगे। सोचेंगे, शायद किसी और के घर में आ गया हूँ..."

सलामत ने पहले पौधों को देखा, फिर शीरीं को, फिर चिढ़कर उस ने कहा, "मुझे पता है, शीरीं ने सारे पौधे अपनी पसन्द के लगा लिये हैं, मेरी पसन्द का एक भी नहीं लगाया।"

संजय ने सलामत की यह बात सुनी तो हौले से शीरीं से पूछा, "कौन-सा पौधा सलामत कह रहा था ? तुम जानती थीं ?"

"जानती थी।" शीरीं ने हौले से जवाब दिया।

"फिर मुझे क्यों नहीं बताया ?" संजय ने कुछ झिड़ककर पूछा।

"वह तो आपने ख़ुद चुना, मैं क्या बताती।"

"कौन-सा ?"

"अनार का।"

संजय को हलकी-सी हँसी आ गयी, शीरीं से बोला, "अच्छा, अब तुम कुछ मत बोलना।"

और संजय ने सलामत को बाँह से पकड़कर अपने पास करते हुए कहा, "एक सुरमा होता है, सुलेमानी, वह अगर आँखों में लगा लें तो जो भी पौधा चाहे, वही दिखाई देने लगता है।"

"फिर अगर शीरीं डाल ले तो उसे सब पौधे मोतिया के दिखने लगेंगे ?" सलामत का चेहरा रुआँसा-सा हो गया।

"मुझें तो ऐसे ही दिखाई दे रहे हैं। जिसे दिखाई न दे रहे हों, वह सुरमा डाल ले।" शीरीं हँसने लगी।

"अच्छा, यह बताओ, तुम कौन-सा पौधा देखना चाहते हो ?" संजय ने पूछा।

"अनार का।" सलामत ने कहा।

'वह अब तुम्हें दिखाई नहीं दे रहा है न ?" संजय ने पूछा।

"नहीं, मैं ने सब देख लिये हैं, सब मोतिया के हैं।"

"अच्छा, फिर तुम सुरमा डालो।" संजय ने कहा।

"कहाँ है वह सुरमा ? वह तो किसी के पास होता ही नहीं। वह तो ऐसे ही एक कहानी है।"

बरकत और नेमत हँस रही थीं। नेमत ने सलामत के चेहरे पर आँसू बहते हुए देखे तो उस की बाँह पकड़कर बोली, "ले, वह तो मेरे पास है, चल, तेरी आँखों में डाल दूँ।"

और नेमत ने जब चाँदी की सुरमेदानी लाकर एक-एक सलाई सलामत की आँखों में डाल दी, तो संजय ने उसे बाहर आँगन में ले जाकर अनार का पौधा दिखाया और कहा, "तुम देख लो इसे, बड़े लाल अनार लगेंगे।"

"सचमुच के ?"

"हाँ, सचमुच के। पर तुम यह बताओ कि तुम्हें सिर्फ़ अनार का पौधा क्यों अच्छा लगता है ?" संजय ने पूछा तो सलामत ने उस के कान में कहा, "भाई जान ! सब के सामने नहीं बताऊँगा, रात को बताऊँगा, सोने से पहले।"

शीरीं परे खड़ी सुन रही थी। उस ने यह भी समझ लिया कि सलामत ने संजय के कान में क्या कहा है। इधर सलामत के पास आकर बोली, "मैं अभी बता दूँ ?"

"तुम्हें मालूम ही नहीं।" सलामत ने ज़ोर से कहा।

"मुझे मालूम है।"

"बता दो फिर।"

"वही बात, जो एक बार अब्बा ने कहानी सुनायी थी।"

"कौन-सी ?" सलामत का मुँह कुछ उतर गया, पर वह ज़िद पकड़े हुए बोला, "तुम्हें मालूम ही नहीं है।"

"अच्छा, फिर बताये देती हूँ, वही अनार में से परी निकलने वाली।" शीरीं हँसने लगी, फिर बोली, "पर वह तो कहानी है, तुम ने सच मान ली ?"

सलामत का चेहरा झूठा-सा पड़ गया, बोला, "तो अब्बा ने झूठ बोला था ?"

बरकत ने दोपहर की रोटी थालियों में परोस दी थी। संजय ने सलामत को खाने के लिए बिठाते हुए कहा, "अब्बा ने झूठ नहीं बोला था। परियाँ सच-मुच अनारों में से निकलती हैं। पर वह अनार कौन-से होते हैं, यह बड़े होने पर मालूम होता है।"

सलामत की समझ में कुछ नहीं आया। पर वह ऐसे चुप हो गया, जैसे बड़े होने का इन्तज़ार कर रहा हो।

उस दिन शाम को जब करीम आया, सचमुच, जैसे नेमत ने कहा था, दर-वाज़े की दहलीज़ में खड़ा रह गया, "या अल्ला ! यह अपना ही घर है ?"

आज की दिहाड़ी संजय का जी भी कुछ हरा कर गयी थी। उस ने दोपहर के तीन घंटे लगाकर तर्जुमे का कितना ही काम निबटा दिया था। अब आगे बढ़-कर, करीम की साइकिल पकड़कर उसे रखते हुए बोला, "यह तो, मियाँ ! अब तुम्हारे मेहमान को भी अपना लगने लगा है।"

सलामत आज ख़ुश था, आगे होकर अब्बा की बाँह से लगकर बोला, "अब्बा ! तुम्हें कौन-सा पौधा पसन्द है ?"

"ये सब जो तुम ने लगाये हैं।" करीम ने कहा तो सलामत ने सब की ओर हाथ से इशारा करते हुए कहा, "अच्छा अब्बा ! यह बताइये, ये काहे-काहे के पौधे आप को दिखाई दे रहे हैं ?"

करीम की समझ में कुछ नहीं आया, इस लिए उस ने कहा, "जो तुम्हें दिखाई देते हैं।"

"मुझे ?" सलामत हँसने लगा, "मैं ने तो सुरमा लगाया है, सुलेमानी, इस-लिए मुझे तो अनार का पौधा भी दिखाई देता है, आप को दिखाई देता है ?"

शीरीं और जमीला मुँह बन्द किये हँस रही थीं, इस लिए करीम भी कुछ थाह पा गया, बोला, "अच्छा, तुम ने अभी दस बरस की उम्र में ही सुलेमानी सुरमा डाल लिया ?"

"अब्बा ! आप जानते हैं, वह सुरमा क्या होता है ?" सलामत ने पूछा तो करीम ने चारपाई पर बैठते हुए कहा, "यार मेरे ! उम्र में एक बार तो सभी यह सुरमा डालते हैं, मैं ने भी डाला था, पर तुम्हारे जितना नहीं था, बीस बरस का था।"

सलामत अब्बा को छोड़कर संजय के पास आ गया और उस से पूछने लगा, "भाई जान ! आप ने भी सुरमा डाला था ?"

संजय ने पहले करीम की ओर देखा, फिर सलामत की ओर, फिर बोला, "हाँ, मैं ने भी डाला था।"

"और फिर आप को क्या दिखाई दिया था ?" सलामत ने यह सवाल किया तो संजय ने उस के गाल पर धीरे से एक चपत लगाते हुए कहा, "जब तुम बड़े हो जाओगे, तब तुम्हें बताऊँगा।"

सलामत संजय को छोड़कर फिर अपने अब्बा के गिर्द हो गया, "और अब्बा ! आप को क्या दिखाई दिया था ?"

करीम अभी बोला नहीं था कि नेमत बोल उठी, "अरे, मुझ से पूछ ! तेरे अब्बा को एक परी दिखाई दिया करती थी।"

"सचमुच ?" सलामत अचम्भे में आ गया तो करीम ने उसे गोद में लेते हुए कहा, "एक नहीं, दो परियाँ दिखाई देने लगीं।"

"दो परियाँ ?" सलामत हैरान होकर अपने अब्बा के मुँह की ओर देखने लगा।

"मैं ने सुरमा ज़रा ज्यादा डाल लिया था, इस लिए..." करीम ने कहा तो सुबह के मेंह की तरह आँगन में हँसी बरस गयी। बरकत ने तभी सब के लिए रोटी की थालियाँ परोस दीं।

फिर सोते समय चारपाइयों पर विस्तर बिछाते हुए करीम ने प्रेस से लाये हुए प्रूफ़ संजय को दिये और कहा, "कोई जल्दी नहीं है, कल किसी वक़्त देख लेना, परसों ले जाऊँगा।"

संजय ने प्रूफ़ भीतर कोठरी में तर्जुमे वाली किताब के पास ही रख दिये फिर बाहर आकर चारपाई पर बैठते हुए करीम से बोला, "यार ! जी करता है, सब कुछ छोड़कर एक उपन्यास लिखूँ।"

"वह तो लिखना ही है तुम्हें, और क्या मैं मौत का फ़रिश्ता बनकर यों ही तुम्हें धरती पर लाया हूँ ?" करीम हँस पड़ा तो संजय गंभीर होते हुए बोला, "यार ! तुम असल में तो ज़िन्दगी का फ़रिश्ता हो। तुम्हारी कल की बात मेरे मन को लग गयी है।"

"कौन-सी ?"

"वही जो तुम ने कहा था कि देश के बड़े नेता तो देश के जँवाई होते हैं।

तुम नहीं जानते, तुम ने कितनी बड़ी बात कह डाली है। अगर वे सचमुच देश के बेटे होते, लायक़ बेटे, तो देश कैसा होता !..."

"हाँ, यार ! अच्छे बेटे तो बाप की कमाई में अपनी कमाई मिला देते हैं।" करीम ने एक लम्बी साँस ली।

"तुम शायद नहीं जानते, यूनान की एक मिथक है," संजय ने कहा, "जो आदमी किसी राजा का दामाद बनता था, वह पहले राजा को मार डालता था, फिर उस का राज सँभाल लेता था।"

"और राजा के बेटे ?" करीम ने बड़ी फ़िक्र से पूछा।

"बेटे को कभी भी राज नहीं मिलता था। राज सिर्फ़ दामाद को मिलता था।" संजय ने बताया।

"तो बेटे क्या करते थे ?"

"फिर जो बेटा जिस भी राजा का दामाद बनता था, उसे मारता था और उस का राज सँभाल लेता था।"

"तब तो मैं समझ गया।"

"क्या ?"

"कि दुनिया शुरू से ही उलटे रास्ते पर पड़ गयी थी, और वह बात अब भी चली आ रही है।"

"सचमुच वही बात चली आ रही मालूम होती है।"

"यह तो भई आदमी ख़ुद सोचे, जिस मारने वाले को किसी की जान का दर्द न आया, उसे उस के माल का दर्द क्या आयेगा ? वह तो दूसरे की कमाई को बेदर्दी से फूँकेगा ही।"

"बस, यही बात, करीम मियाँ ! मैं लिखना चाहता हूँ।"

"तुम्हें लिखने का तो ढंग आता ही है, फिर लिख डालो।"

"आज दिन में घड़ी-भर के लिए सो गया था, सपना आया कि लिख रहा हूँ..."

"फिर छोड़ो यह प्रूफ़-श्रूफ़ और अपना काम करो।"

"पर उस के लिए अब मुझे जाना पड़ेगा। तुम यह तो समझते ही हो कि यह काम मैं वहाँ, अपने कमरे में, जाकर ही कर सकता हूँ।"

"हाँ, यह तो समझता हूँ।"

"फिर मैं कल चला जाऊँ ?"

"अच्छा, मैं आते-जाते चक्कर लगा लिया करूँगा।"

"वह तो मैं भी जिस दिन लिखने को जी नहीं करेगा, साइकिल उठाकर यहाँ तुम्हारे पास आ बैठूँगा।"

करीम को संजय की बात से तसल्ली-सी हो गयी तो वह बात याद आयी जो

आज वह दिन-भर सोचता रहा था, लेकिन घर आकर भूल गया था। बोला, "एक बात करनी है तुम से।"

"क्या?"

"आज मैं सोच रहा था कि सलामत अब दस बरस का हो गया है, चार अक्षर मौलवी से पढ़कर क्या बन जायेगा? इसे अब काम में डाल दूँ।"

"करीम मियाँ! इस छोटे-से बच्चे को अभी पढ़ने दो। इसे किस काम में डालोगे?"

"बात तो सुनो। इतने छोटे बच्चे अगर प्रेस के काम में पड़ जायें तो ऐसे होशियार हो जाते हैं कि बड़ी उमर वाले उन की रीस नहीं कर सकते।"

"पर थोड़ा-सा पढ़ना-लिखना तो उस काम के लिए ज़रूरी होता है।"

"होता तो है, पर यह जो कुछ मौलवी से पढ़ता है, वह अब इस के काम नहीं आयेगा।"

"तुम्हारा मतलब है...?"

"हाँ, चार अक्षर हिन्दी-पंजाबी के पढ़ लेगा तो इस के काम आयेंगे। अगर कहीं यह कम्पोज़िंग सीख जाये तो दिन में आठ पन्ने देख सकता है, छः तो कहीं गये नहीं। आजकल तीन रुपये पन्ना तो मामूली बात है।"

"फिर ऐसा करो," संजय ने कुछ सोचा, फिर कहा, "यह ज़िम्मा तुम मुझे दे दो। अगर इसे स्कूल में डाला तो वहाँ दो बरस में भी कुछ नहीं बनेगा। घर पर इसे बरसों का काम दिनों में करवा दूँगा।"

"फिर तो बन गया काम! यह मुझे सूझा ही नहीं था।" करीम चारपाई पर लेटा हुआ था, उठकर बैठ गया, बोला, "मैं जो सोच रहा था कल सवेरे से इसे साइकिल पर बिठाकर साथ ले जाया करूँगा, वहाँ ख़ुद ही इसे देख देखकर अक्षरों की पहचान हो जायेगी।"

"नहीं, ऐसे तो इस का साल लग जायेगा।"

"बरस कहाँ, ज्यादा ही लगेगा, बहुत हुआ इसे टाइप फेंकना सिखा देंगे, दो बरस तो बेगार ही बनाये रखेंगे।"

"मैं कल सुबह से इसे पढ़ाना शुरू करूँगा। फिर चाहे इसे रोज़ न भी पढ़ाऊँ, महीने-भर बाद देखना कहाँ पहुँचता है।"

संजय की बात सुनकर करीम उत्साह से भर गया और ज़ोर से आवाज़ देकर बोला, "देखो, नेमत! तुम्हारा साहिबज़ादा सो गया है या जाग रहा है?"

"क्या बात है, अब्बा? मैं जाग रहा हूँ।" सलामत ने आवाज़ दी और उठकर आ गया।

करीम ने उसे बाँह से पकड़कर अपनी चारपाई की पट्टी पर बिठा लिया और बोला, "तुम्हें अगर आदमी बनना है तो कल सवेरे से संजय मियाँ को

उस्ताद मान लो ! बोलो, रोज़ पढ़ोगे ?"

"और तब मौलवी साहब से भी पढ़ने जाऊँगा ?" लड़के ने पूछा तो जवाब में करीम से पहले संजय बोल उठा, "वहाँ तुम उर्दू पढ़ोगे, मुझ से हिन्दी, पंजाबी और अंग्रेज़ी।"

करीम हँसने लगा, "इतनी ज़बानें पढ़कर इसे कोई आलिम फ़ाज़िल बनना है ? बस, काम चलाने के लिए चार अक्षर पढ़ ले..."

संजय ने करीम को दलील के साथ समझाया कि इस उम्र के बच्चे कई ज़बानें एक साथ सीख सकते हैं। बल्कि बड़ी उम्र के नहीं सीख सकते, लेकिन छोटी उम्र के बच्चे बहुत जल्दी सीख जाते हैं।

"अच्छा, फिर !" करीम ने सलामत की पीठ पर थपकी दी और हँसने लगा, "सवेरे इंशा अल्लाह कहकर सीखना शुरू कर देना !"
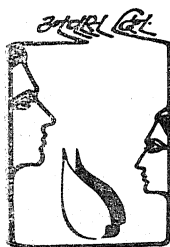
एक दिन की बात है, करीम ने एक फ़रमा मशीन पर चढ़ाया और पहला काग़ज़ निकालकर स्याही की रंगत देखने लगा, तो वहाँ नज़र पड़ी जहाँ किताब छपने का साल-संवत् लिखा रहता है।

करीम को न हिन्दी आती थी, न पंजाबी, अक्षरों की ग़लती वह नहीं देख सकता था। पर अंकों की गलती देख सकता था। उस ने देखा कि किताब पर 1968 लिखा हुआ है, जिस वर्ष वह पहले छपी थी। अब के छपवाते समय 1978 लिखना चाहिए, इतना वह जानता था, इस लिए फ़रमा मशीन से उतार दिया, और हाथ में वही काग़ज़ लिये मालिक के कमरे की ओर चल पड़ा।

"यह बहुत बड़ी ग़लती रह गयी, जी।" करीम ने वह पन्ना मालिक की मेज़ पर रखकर 1968 के अंकों की ओर संकेत किया।

मालिक ने सरसरी नज़र से देखा और कहा, "कोई बात नहीं, छाप लो फ़रमा।"

"यह किताब का नया एडीशन छप रहा है, जी।"

"हाँ...हाँ..."

"यह प्रूफ़ की ग़लती रह गयी जी।"

"कोई नहीं, चलने दो !" मालिक ने कहा और ध्यान मेज़ के और काग़ज़ों की ओर कर लिया।

करीम ने अपनी ओर से जो बहुत बड़ी ग़लती पकड़ी थी, वह मालिक की नज़रों में गलती ही नहीं थी। करीम बात को कुछ समझ नहीं पा रहा था, इसी लिए खड़ा रहा, बोला, "पर जी मिनट लगते हैं, अभी फ़रमा खुलवाकर ग़लती ठीक करवा दीजिये।"

मालिक ने देखा, करीम अपनी बात पर अड़ा हुआ है, इस लिए बोला, "फ़रमा मशीन पर चढ़ा हुआ है, उतारा तो यूँ ही एक घंटा लग जायेगा फिर फ़रमा खोलना पड़ेगा, मशीन ख़ाली खड़ी रहेगी; ऐसे ही छाप दो।"

"किस लिए जी, फ़रमा तो मैंने मशीन से उतार दिया है। बस, किसी कम्पोज़ीटर से कहिये कि एक मिनट में खोलकर दो अंक बदल दे, और करना ही क्या है !"

"करीम मियाँ ! यह तुम्हारी बहुत बुरी आदत है।" मालिक ने खीझकर करीम की ओर देखा और कहा, "तुम बहस बहुत करते हो।"

"मैं ने तो आप ही के भले के लिए कहा है।" करीम की आवाज़ बिचारी-सी हो गयी, "और मुझे क्या लेना-देना है इस में !"

"नहीं लेना-देना है तो बहस क्यों कर रहे हो ? तुम से एक दफ़ा जो कह दिया छाप दो फ़रमा। एक बार में तुम्हें सुनाई नहीं देता ?"

मालिक की आवाज़ जैसे सारे काग़ज़ पर स्याही की तरह बिखर गयी। करीम को लगा, अब मेज़ पर पड़े हुए काग़ज़ का कोई भी अक्षर उसे दिखाई नहीं दे रहा है।

मालिक को उस दिन की बात याद आ गयी जब करीम ने कम्पोज़ीटरों के डिब्बों में चोरी का सिक्का पकड़ा था, सो कुछ हलीमी से उस ने करीम की ओर देखा और कहा, "करीम मियाँ ! तुम बेगाने नहीं हो, अपने ही आदमी हो। लेकिन बहस करने की बजाय इशारा समझा करो।"

करीम ने शायद फिर भी इशारा नहीं समझा, टुकुर-टुकुर मालिक के मुँह की ओर देखने लगा।

"देखो, बहुत-सी बातें होती हैं..." मालिक ने कुछ ठंडी आवाज़ में कहा, "जो तुम लोगों की समझ में नहीं आ सकतीं, और न तुम्हें समझनी चाहिए।"

करीम चुपचाप कमरे से बाहर जाने लगा तो मालिक ने रोक लिया, कहा, "सुनो ! तुम बहुत अच्छे वर्कर हो, पर सिर्फ़ काम की होशियारी ही सब कुछ नहीं

होती। वर्कर में मालिक का इशारा समझने की भी होशियारी होनी चाहिए।"

करीम की नज़र मालिक के चेहरे पर ठहरकर रह गयी, जैसे मालिक का इशारा समझने का ढंग सीख रही हो।

"अच्छा, जाओ, अपना काम करो!" मालिक ने कहा तो करीम की नज़र हिलकर बाहर के दरवाज़े की ओर चली गयी, पर ऐसे, जैसे उस ने कुछ भी न सीखा हो।

वह कमरे से बाहर आकर अपने मशीन वाले कमरे की ओर मुड़ा तो उस ने देखा, प्रेस का सब से पुराना और बूढ़ा कम्पोज़ीटर मोहरसिंह दरवाज़े के बराबर वाली दीवार के पास खड़ा हँस रहा है, और फिर उस ने देखा कि उस के पीछे-पीछे वह मशीन वाले कमरे में भी आ गया है।

करीम जब मशीन से उतारे हुए फ़रमे को फिर मशीन पर चढ़ाने लगा, तो मोहरसिंह ने उस के पास होकर धीरे से पूछा, "क्यों, मियाँ! आज कोई ढंग सीख-कर आये हो या नहीं?"

करीम चुपचाप उस के चेहरे की ओर देखता रहा।

"फिर तुम ने इशारा समझ लिया या नहीं?" मोहरसिंह हँस पड़ा और बोला, "बात तो बिलकुल सीधी है, भई, यह किताब दूसरी या तीसरी बार नहीं छप रही है..."

"नहीं छप रही है? और फिर मैं इन कोरे काग़ज़ों पर क्या छाप रहा हूँ?" करीम ने पहले अपने हाथों की ओर देखा, फिर कोरे काग़ज़ों की ओर, फिर मशीन की ओर ..

"तुम समझ लो, नहीं छप रही है, यह तब की छपी हुई पड़ी है जब पहली बार छपी थी।" मोहरसिंह ने एक बार पीछे दरवाज़े की ओर देखा, फिर दबी हँसी हँसने लगा।

करीम कुछ नहीं बोला तो मोहरसिंह ने कहा, "तुम तो सिर्फ़ अंक पढ़ सकते हो, वह तुम ने पढ़ लिये। नीचे अक्षरों में जो कुछ लिखा हुआ है, वह तुम्हें पढ़कर सुनाऊँ?"

करीम फिर काग़ज़ की ओर देखने लगा।

"यह देखो! नीचे लिखा हुआ है, पहली बार। यह 1968 में भी पहली बार थी, फिर जब 72 या 73 में छपी थी, तब भी पहली बार थी, और अब 1978 में भी पहली बार है।"

"समझ गया, जनाब! हमेशा—पहली बार ही रहेगी।" करीम अपने हाथों पर लगी हुई स्याही जैसे अपने होंठों से पोंछ रहा हो, और उस का मुँह बहुत कड़वा हो गया हो।

मोहरसिंह ने फिर एक बार दरवाजे की ओर देखा और कहा, "कुछ ऐसी

किताबें होती हैं जो बिकतीं ही नहीं। ऐसी किताब का लेखक जब पूछेगा कि उस की किताब कितनी बिकी है तब उसे पता लगेगा कि उस की किताब तो बिकती ही नहीं...तुम बोलो, अब कुछ समझे ?"

"नहीं," करीम ने बड़े कसे हुए मुँह से कहा, "देखो न, कुछ बातें होती हैं जो हम लोगों की समझ में नहीं आ सकतीं।"

मोहरसिंह ने दरवाज़े के बाहर खड़े हुए यह फ़िक़रा भी सुना था, जब मालिक ने करीम से कहा था, इस लिए हँस पड़ा और बोला, "सो, अब तुम समझ गये।"

करीम ने कहा, "हमारा मालिक हमेशा लोगों की लिखी हुई किताबें छापता है, एक किताब उसे भी लिखनी चाहिए।"

"वह क्या ?"

"तुम ने सुना होगा कि एक मशहूर किताब हुआ करती थी 'हिदायतनामा ख़ाविन्द'।"

"हाँ। पढ़ी तो नहीं, पर नाम सुना है, उस के बड़े-बड़े इश्तहार छपा करते थे।"

"और वैसी ही एक और किताब हुआ करती थी, 'हिदायतनामा बीवी'।"

"हाँ, वह भी थी।"

अब हमारे मालिक को 'हिदायतनामा वर्कर' लिखनी चाहिए।"

मोहरसिंह हँसते हुए करीम के कंधे पर एक थपकी देकर कमरे के बाहर चला गया।

और फिर जब वह मशीन पर फ़रमा चढ़ाकर, फ़रमा छाप रहा था, बाहर की ओर से, कम्पोज़ीटरों के केबिनों की ओर से कई बार दबी हुई हँसी की आवाज़ आयी। करीम समझ गया कि मोहरसिंह वह हिदायतानामा वर्कर वाली बात और सब कम्पोज़ीटरों को भी सुना रहा है।

शाम को जब छुट्टी हुई, करीम ने घर जाने की बजाय अपनी साइकिल संजय के कमरे की ओर मोड़ ली। सीढ़ियाँ चढ़ते हुए उसे यह भी ध्यान आया कि वह शायद लिख रहा होगा और उस के जाने से विघ्न पड़ेगा। पर करीम आज अपने पैरों को रोक नहीं पा रहा था।

संजय ने करीम को देखकर हाथ का क़लम जहाँ था वहीं छोड़ दिया, "आओ करीम मियाँ ! तुम्हारी बहुत बड़ी उम्र है।"

"भला कितनी है ?" करीम ने दीवान पर बैठते हुए पूछा, "तुम्हारे उपन्यास जितनी होगी ?"

"मेरे उपन्यास की तो सिर्फ़ उनचास दिन है।"

"नहीं, भई, वह तो ज़िक्र उनचास दिन का है, उपन्यास की उम्र तो कई उम्रें होंगी, जाने कितनी ही पीढ़ियाँ इसे पढ़ेंगी।"

संजय हँसने लगा, "पढ़ेंगी या नहीं, पर वैसे तुम ने ठीक कहा है, हर कहानी और उपन्यास लिखने वाला कम से कम पाँच-सात पीढ़ियों की बात तो ज़रूर सोचता है।"

"मैं ने भी तो, यार ! यह बात सोच-समझकर कही है, ऐसे ही नहीं कही। तुम्हारे इस उपन्यास में जो मौत के फ़रिश्ते का ज़िक्र होगा, वह मेरा ही तो होगा। सो, जब तक उपन्यास ज़िन्दा रहेगा, मैं भी ज़िन्दा रहूँगा।"

संजय ज़ोर से हँस पड़ा, "तुम्हारे इस हिसाब ने, मियाँ ! मुझे लाजवाब कर दिया है।"

करीम पैरों से जूता उतारकर दीवान पर इत्मीनान से बैठते हुए बोला, "सीढ़ियों पर आते हुए मैं सोच रहा था कि यूँ ही जाकर काम में हरज करूँगा, वही बात हुई, तुम ने अपने हाथ का क़लम वहीं का वहीं छोड़ दिया।"

"पर तुम ने यह तो पूछा ही नहीं कि मैं ने तुम्हें देखकर तुम्हारी बड़ी उम्र होने की बात क्यों कही थी ?"

"अभी मुझे याद किया होगा।"

"तो फिर हरज कैसे हुआ ? याद इस लिए किया था कि क़लम रुक रहा था, और यह मैं जानता हूँ कि क़लम को जुंबिश देनी हो तो आदमी को तुम्हारे पास बैठकर बातें करनी चाहिए।"

"अच्छा, फिर चौकीदार को आवाज़ दो, भई पास की दुकान से दो गिलास चाय ले आये।"

"वह क्यों, मैं यहाँ स्टोव पर ख़ुद चाय बनाता हूँ। एक मुद्दत हो गयी। तुम से बुल्हेशाह नहीं सुना। बस, तुम उस की एक आवाज़ लगाओगे, और इतने में चाय तैयार।"

"नहीं, यार ! बुल्हेशाह गाने के दिन गये, अब तो मैं हज़रत सुलेमान होने को फिर रहा हूँ।"

संजय ने स्टोव जलाकर उस पर चाय का पानी रख दिया और करीम के पास दीवान पर बैठते हुए पूछा, "क्या कहा ?"

"यही कि अब मैं हज़रत सुलेमान हो जाऊँगा।"

"वह कौन था ?"

"लो, तुम नहीं जानते ? हज़रत दाऊद के बेटे ! वह इज़राइली वंश के बादशाह थे।" करीम ने कहा और हँसने लगा।

"अच्छा किंग सोलोमन...सो, तुम बादशाह बनने को फिर रहे हो ! फिर तो बात बन गयी। तुम बादशाह और मैं तुम्हारी प्रजा ! पर यार ! बादशाह बनकर आँखें न फेर लेना ! यह साथ बैठकर चाय पीने का दिन याद रखना।"

"बादशाह मैं कहाँ बन रहा हूँ, मैं तो और ही बात के लिए कहता था।"

संजय उठा और गिलासों में चाय डालकर ले आया, और फिर करीम के पास बैठकर उस ने पूछा, "अच्छा, फिर और कौन-सी बात से हज़रत सुलेमान बन रहे हो?"

करीम ने चाय के दो घूँट भरे, फिर कहा, "देखो न, उस पर ख़ुदा की एक बख़्शिश थी, ख़ुदा ने उसे एक ग़ैबी इल्म दिया था, जिस से वह जानवरों की बोली समझ जाता था।"

"अच्छा...फिर?"

"बादशाह बनने की तो कोई हसरत नहीं है, लेकिन यह हसरत ज़रूर है कि मुझे जानवरों की बोली समझ में क्यों नहीं आती?"

संजय हँसने लगा, "तुम किस की बोली समझना चाहते हो? चिड़ियों-बुलबुलों की, फ़ाख़्ता-मैना की, कोयलों-कबूतरों की, या किसी और पंछी-पखेरू की?"

"नहीं भई, उन मासूमों की बोली तो ख़ुद ही रूह में उतर जाती है, मैं तो उन जानवरों की बोली समझना चाहता हूँ जो देखने में आदमी दिखाई देते हैं और बोलते हैं चीलों और गिद्धों की बोली।"

संजय ने करीम का हाथ अपने हाथ में लेकर दबा दिया।

करीम ने आज सुबह वाली प्रेस की सारी बात सुनायी, और कहा, "बस यार, संजय! इस दुनिया में आदमी जहाँ भी काम करता है, वहाँ काम के मालिक का इशारा समझने के लिए उसे जानवरों की बोली आना ज़रूरी है, वह मुझे आती नहीं, बताओ मैं क्या करूँ?"

मकान का किराया देना था तथा रोटी और ऊपर के ख़र्च के लिए भी हाथ में पैसे होने की जरूरत थी, इस लिए संजय ने अपना उपन्यास शुरू करने से पहले कितने ही दिनों का कड़वा घूँट पिया था। अनुवाद का और प्रूफ़ों का जितना भी काम मिला, निबटा लिया था और फिर अपनी प्यासी जान को लेकर वह ख़यालों

की बहती हुई नदी के किनारे बैठ गया था।

पिछले जितने दिनों से वह अपना उपन्यास लिख रहा था, अपने मन की नदी में नहा रहा था। उस के अंग-अंग को एक सुख मिल रहा था। बेहोशी की हालत में, मरने के बाद के जिन पहले दिनों का अनुभव उस के ध्यान में था वह चाहे कुछ उस के बुख़ार के दिनों के सपनों के आधार पर था और कुछ तिब्बती दर्शन के आधार पर, इस समय वही उस के उपन्यास के पहले कई पृष्ठों की वास्तविकता थी, जिसे लिखते-लिखते वह फिर एक काल्पनिक दुनिया में से गुज़र रहा था।

यह मरने के बाद के वे दिन थे, जब उस की कल्पना के अनुसार एक आत्मा शरीर के बंधन से स्वतंत्र होकर आकाश की हलकी नीली रोशनी में विचरती है। और इस वृत्त को अक्षरों में समेटते हुए, संवेदना की तीव्रता के बल पर, वह स्वयं भी कई दिनों से जैसे एक मुक्त आकाश में विचर रहा था।

उस के शरीर के सारे अंग जैसे उस की आत्मा पर पंखों की तरह उगे हुए थे।

पर उपन्यास के पहले भाग के बाद, आज संध्या समय, जब उस ने आगे के दिनों का वर्णन लिखना आरंभ किया, जब उस की कल्पना में कई दिनों की लगातार दिखने वाली हलकी नीली रोशनी के बाद, आकाश में एक सतरंगा झूला पड़ जाता है, तो उस के शरीर में आग जैसी कई लाल लकीरें जलने लगीं।

बुख़ार के दिनों में उस ने इस सतरंगे झूले पर मीता को बैठे हुए देखा था और वही अब जब उस के कागज़ों पर उतरने लगी तो संजय को एक अजीब बेबसी के साथ मीता याद आने लगी।

सोचने लगा, यही धरती थी, यह बड़ा सारा कितने ही किरायेदारों वाला घर था, जिस में उस के अपने कमरे की ऊपर की छत पर मीता का कमरा हुआ करता था।

और संजय ने उपन्यास के पृष्ठों को परे रखकर घड़ी-भर के लिए आकाश के सतरंगे झूले को आकाश को ही लौटा दिया, और दीवान पर लेटकर धरती के उन दिनों के संबंध में सोचने लगा, जब मीता सचमुच होती थी।

अचानक उस की आत्मा पर उगे हुए पंख उस के रक्त-मांस के अंग बन गये और एक जवान मर्द के अंगों की तरह मीता के अंगों के लिए तड़प गये।

मीता अब कहीं नहीं है, यह चेतना भी कहीं उस के अंगों में थी, इस लिए सारे तने हुए और कसे हुए अंगों की पीड़ा एक पश्चात्ताप में बदलने लगी कि उस ने मौत से ज़िन्दगी का उधार क्यों कर लिया था ?

जानता था, मीता जब मिली थी, वह मौत के किनारे पर खड़ी हुई थी, पर किनारा अभी धरती का हिस्सा था, धरती की वास्तविकता का टुकड़ा। फिर उस ने किनारे वाले पल पानियों में क्यों बह जाने दिये ?

और संजय ने तड़पकर दीवान पर से उठकर एक सिगरेट सुलगायी और

सोचने लगा, तिब्बती दर्शन का जो भाग, कोई मरने के बाद जीता है, वह उस ने पहले जी लिया है, मरने से पहले...

मरने के बाद सिर्फ़ रूह होती है, धर्म-काया, सिर्फ़ आग की और हवा की बनी हुई, जिसे हाथ से कोई नहीं छू सकता। संजय का शरीर सिगरेट के धुएँ की लकीर की तरह काँप गया। वह सोचने लगा, पर मैं ने इस रक्त-मांस के शरीर को धर्म-काया कैसे बना लिया ? और मीता जब जीवित थी, उसे भी धर्म-काया समझ लिया ? मैं उस से ऐसे मिला, जैसे आत्मा आत्मा से मिलती है। मैं उस से, एक ज़िन्दा औरत से, एक ज़िन्दा मर्द की तरह क्यों नहीं मिला था ?

और संजय अपनी सिगरेट से झड़ी हुई राख की तरह दीवान पर बैठ गया।

राख शायद अभी गर्म थी, संजय ने अपने आप को दलील दी, 'यार संजय ! मीता विवाहिता थी, बीमार थी...उसे पा सकने का समय नहीं था।'

और फिर वह राख ठंडी होकर मिट्टी में बिखर गयी। संजय को लगा, 'अब मैं कभी नहीं जान सकूँगा कि जिस औरत से कोई मुहब्बत करता है, उस औरत के शरीर को छूना क्या होता है।'

सलामत को पढ़ाने के लिए संजय ने न दिन निश्चित किया था न समय। जब भी दूसरे-तीसरे दिन दो घंटे की उसे फ़ुरसत मिलती, वह चला जाता। पर जहाँ तक बन पड़ता, वह इतवार को ज़रूर जाता था क्योंकि उस दिन करीम की छुट्टी होती थी।

पर आज इतवार को सवेरे भी संजय कई घंटे लिखता रहा। जब दोपहर होने लगी, भूख की भी तलब हुई और करीम से मिलने की भी। इस लिए साइकिल पकड़कर वह करीम के घर की ओर चल पड़ा।

करीम की गली का मोड़ मुड़कर वह मुश्किल से तीन घर पार कर पाया था कि पीछे से आवाज़ आयी, "संजय मियाँ ! तुम्हारा करीम लाला तो यहाँ

बैठा है।"

संजय ने साइकिल से पैर उतारा, पीछे देखा, एक बूढ़ा-सा दिखने वाला आदमी, एक घर के दरवाज़े पर खड़ा हुआ उसे हाथ से पीछे की ओर बुला रहा था।

संजय ने साइकिल मोड़ी, दरवाज़े में से भीतर झाँका, सामने चारपाई पर बैठा करीम हुक़्क़ा पी रहा था।

"आ जाओ, भीतर आ जाओ, यार ! यह भी अपने फत्ते यार का घर है।" करीम ने कहा और चारपाई से उठकर संजय की साइकिल को दरवाज़े के पास खड़ा कर दिया।

संजय चारपाई पर बैठते हुए हँस पड़ा, बोला, "सो आज तुम्हारे फत्ते यार ने तुम्हें करीम लाला बना दिया है।"

फत्ते ने ऐनक की टूटी हुई कमानी की जगह धागा बाँधकर कान पर लपेटा हुआ था। वह शायद कुछ ढीला हो गया था। उसे कान से खोलकर, फिर अच्छी तरह बाँधते हुए वह बोला, "इन्हें तो मैं पहले से ही करीम लाला बुलाता हूँ। आप को भी संजय साहब ! आज संजय मियाँ कहकर आवाज़ दी है, आप यार जो हुए, यारी में लोग पगड़ियाँ तो बदला करते थे, अब पगड़ियाँ तो रहीं नहीं, सो, मैं ने कहा, थोड़े-थोड़े आप के नाम ही बदल दूँ..."

संजय को वह बूढ़ा फत्ता दिलचस्प लगा। आँगन में गीली मिट्टी और चाक को देखकर बोला, "बुज़ुर्गवार ! आप का नाम फत्ता किस ने रख दिया, हमारे फ़ज़लशाह ने आप का नाम तुल्ला कुम्हार रखा था..."

फत्ते की बजाय करीम हँसने लगा, "फत्ते ! कुछ समझे ?"

"नहीं समझा," कहकर फत्ता बताने लगा, "मुझे तो यही मालूम है कि अब्बाजान ने बड़े चाव से मेरा नाम फ़तह मुहम्मद रखा था, पर क़िस्मत बिगड़ गयी तो नाम भी बिगड़ गया, मैं निरा फत्ता ही रह गया।"

"पर संजय मियाँ ने कुछ और बात कहीं है," करीम बताने लगा, "लोग हीर गाते हैं, वह तो तुम ने सुनी है न ! उस का क़िस्सा वारिसशाह ने लिखा था, और हीर की तरह एक सोहनी भी थी..."

फत्ता बीच में बोल पड़ा, "लो भला, सोहनी-माहीवाल का क़िस्सा किस ने नहीं सुना है, वही जो रात को दरिया पार करके अपने यार से मिलने जाती थी ?"

"यह भी उसी की बात कर रहा है। उस का क़िस्सा फ़ज़लशाह ने लिखा था।"

"समझ गया, वह कुम्हारों की बेटी थी न ?"

"तुल्ले कुम्हार की बेटी।"

"अच्छा, अच्छा...तभी कह रहे हैं कि मेरा नाम तुल्ला कुम्हार होना चाहिए था। पर संजय मियाँ !..." फत्ते ने बात करते-करते बात को होंठों में ही रोक लिया।

"अब तो इस की हड्डियाँ निकल आयी हैं, पर संजय यार ! सचमुच एक ज़माना था, जब फत्ता अपने चाक से ऐसी-ऐसी सुराहियाँ उतारता था जिन की गर्दन देखकर लड़कियों की गर्दनें भी भूल जाती थीं।" करीम ने बताया, ज़रा-सा हँस भी पड़ा, पर फिर परे सूने आसमान की ओर देखने लगा।

"सच कहते हो, संजय मियाँ ! भला क्या नाम था उस का जो कीचम का माली एक दिन उस के घर आया था ?" फत्ते ने आधी बात संजय से की, आधी करीम से।

करीम ने बताया, "मियाँ ! वह इज्ज़त बेग था, शहज़ादों की तरह ख़ूब-सूरत, पर सोहनी को देखने के बाद फिर अपने मुल्क को नहीं लौटा।"

फत्ते ने एक गहरी साँस ली और कहा, "ऐसे ही एक दिन आ गया होगा, जैसे आज संजय मियाँ मेरे घर आये हैं। करीम लाला ! यह तुम्हारा यार भी तो शहज़ादा लगता है।"

करीम ने ज़रा-सा मुस्कराकर संजय की ओर देखा, फिर फत्ते से बोला, "अच्छा, यह तुम्हें इज्ज़त बेग जैसा दिखाई देता है ? पर अल्लाह ज़ामिन है, झूठ मत बोलना, अगर आज तुम्हारी बेटी सलमा इस आँगन में खड़ी होती तो मेरा शहज़ादा तुम्हें उस के लिए क़बूल होता ?"

संजय की समझ में न फत्ते की बात आ रही थी, न करीम की, उस ने देखा, फत्ते ने ऊपर आसमान की ओर हाथ उठाये, फिर कहा, "मेरे नसीब में कुछ भी नहीं है, करीम मियाँ ! अब यूँ ही मेरे ज़ख़्मों पर नमक क्यों छिड़कते हो ?"

करीम ने धीरे से संजय को बताया, "बिचारा क़िस्मत का मारा हुआ है। पहले इस की औरत अल्लाह को प्यारी हो गयी। एक ही लड़की थी, सलमा, बड़ी मुसीबतों से पाली, जवान हुई तो वह भी अल्लाह को प्यारी हो गयी। उस की सूरत इसे भूलती नहीं। उसी की बात कर रहा है। इस की उम्र तो कुछ नहीं है, जवानी में ही बुढ़ापा उतर आया है।"

संजय को फत्ते की पीड़ा सचमुच छू गयी, मुँह से कुछ नहीं कहा गया, पर ऐसा लगा, जैसे पल-भर के लिए फत्ते ने उसे इज्ज़त बेग समझकर उसे सोहनी के खो जाने की पीड़ा का स्पर्श करा दिया है।

चारपाई से उठते हुए संजय ने कहा, "चलो, करीम मियाँ ! घर चलें। थोड़ी देर सलामत को पढ़ा दें..."

"चलो !" करीम ने कहा, लेकिन उठा नहीं।

"तू ही बेटा ! अब घर ले जा इसे।" पास बैठे फत्ते ने कहा, "सुबह से घर

से रूठकर यहाँ बैठा हुआ है। सुबह से मुँह में दाना नहीं डाला। मैं ने बहुत मिन्नत की, कुछ खा ले, पर रोज़ा रखे बैठा हुआ है।"

"क्या बात हो गयी, मियाँ? मैं तो अपने घर से भूखा आ रहा हूँ कि दावत अपने यार के घर है। तुम मुझ से भी रोज़ा रखवाओगे?" संजय ने कहा तो करीम हुक्क़ा छोड़कर चारपाई से उठ खड़ा हुआ, "चलो फिर, आज तो ख़ुद ही रोटियाँ थोपेंगे, वहाँ तो आज न चूल्हे में आग है, न घड़े में पानी।"

"ऐसी क्या बात हो गयी?" संजय ने फ़िक्र से पूछा तो करीम उस के कन्धे पर हाथ रखकर बोला, "पर मुझे आज एक राज़ की बात मालूम हुई है।"

"क्या?"

"कि हज़रत सुलेमान ने जानवरों की बोली कैसे सीखी थी?"

"तुम तो कहते थे, उन्हें ख़ुदा की बख़शिश हुई थी।"

"वह तो किताबें लिखने वालों की बनाई हुई बात है, पर असली बात क्या थी, मुझे मालूम हो गया।"

"अच्छा, आज कोई इलहाम हुआ है तुम्हें?"

"इलहाम ही समझ लो। तुम्हें मालूम है, उस की कितनी बीवियाँ थीं?" करीम हँस-सा पड़ा।

"नहीं।"

"सात सौ बीवियाँ, और तीन सौ बाँदियाँ, फिर एक हज़ार औरतों की लड़ाई में जानवरों की बोली तो उसे ख़ुद-ब-ख़ुद आ गयी होगी।" करीम ने कहा तो सजय मुस्करा दिया।

"पूछो फत्ते से, आज सारी गली के लोग सुन रहे थे।" करीम ने फिर कहा तो फत्ता बोला, "ओह, बस करो! घर बसे रहने चाहिए, बर्तनों का क्या है, वे तो खनकेंगे ही। और साथ ही एक बात सुनो। बीवियाँ मिट्टी के बर्तन तो होती नहीं जो टूट जायेंगी, वे तो पीतल की थालियाँ होती हैं..."

फत्ता हँसने लगा तो करीम की भी कुछ हँसी निकल गयी।

करीम संजय को लेकर घर आया, तो आँगन के एक कोने में नये लगाये गये तन्दूर में नेमत रोटियाँ लगा रही थी। संजय ने दरवाज़े के बराबर साइकिल रखते हुए जल्दी से कहा, "छोटी अम्माँ! मैं ने तो सुना था कि आज मुझे रोज़ा रखना पड़ेगा।"

नेमत का चेहरा तन्दूर के सेंक से कुछ लाल-सा दिखाई दे रहा था। संजय की ओर देखते हुए, शरमाकर हँस पड़ी, तो चेहरे का रंग और गहरा हो गया। बोली, "इल्म का अक्षर सिर्फ़ सलामत के पेट में ही डालना है? दो-चार अक्षर उस के अब्बा के पेट में भी डाल दो।"

करीम ने आँगन में चारपाई डालते हुए कहा, "लाओ भई, संजय! रोटी का

टुकड़ा तो सुबह से अन्दर पड़ा नहीं, तुम अक्षर ही पकड़ाओ, मैं पेट में डाल लूँ।"

नेमत को हँसी आने को हुई, लेकिन उस ने रोककर मुँह दूसरी ओर कर लिया और बोली, "और घर से रूठकर दूसरों के घर जाकर बैठ जाना अक्ल वालों का काम होता है ?"

"देखिये भाई जान, मैं ने कितने पन्ने लिखे हैं !" सलामत ने लकड़ी के स्टूल पर कापी रखकर संजय को दिखाई तो संजय ने एक नयी पंक्ति कापी पर लिखकर उसे बीस बार उस के नीचे लिखने के लिए कहा, और ख़ुद बरकत की कोठरी की ओर जाकर आवाज़ दी, "बड़ी अम्माँ !"

बरकत ने इशारे से उसे अन्दर बुला लिया और रोई हुई आँखों को एक बार फिर पोंछकर उस के बैठने के लिए चारपाई की ओर हाथ से इशारा किया।

फिर हौले-हौले बरकत ने बताया कि आज क्या बात हुई थी।

असल में नेमत को दिन चढ़े हुए थे। वह पिछले पाँच-छः दिनों से मिस्सी तन्दूरी रोटी के लिए कई बार कह चुकी थी। बरकत ने कल आँगन के एक कोने में तन्दूर लगा दिया था, पर सवेरे-सवेरे आटा गूँधते हुए जब बरकत परात में आटा डाल रही थी तो छोटा लड़का दुल्ला बाहर आँगन में गिर पड़ा और वह आटा वहीं छोड़कर बाहर चली गयी थी। बाद में नेमत आटा छानने लगी तो उसे परात में एक धागा मिला जिस में कई छोटी-छोटी गाँठें पड़ी हुई थीं और एक गाँठ में एक छोटा-सा काग़ज़ बँधा हुआ था। नेमत को यह शक हो गया कि बरकत उस पर कोई टोना कर रही है।

बरकत बोली, "और कोई नहीं देखता तो अल्लाह तो सब कुछ देखता है। वह चाहे सात पूत और पैदा करे, मुझे किस बात की हसद है, मेरी एक ही शीरीं और एक ही दुल्ला मेरे लिए बहुत हैं।"

और आँखें भरकर बरकत बोली, "मेरे तो घुटनों में दर्द रहने लगा था। मैं मौलवी से अपने लिए धागा पढ़वाकर लायी थी, वही बाँह पर बँधा हुआ था, खुलकर आटे में जा पड़ा।"

संजय हँस-सा पड़ा, "पर उस आटे की रोटी तो सब को खानी थी, करीम ने उन्हें यह बात नहीं समझाई ?"

बरकत ने कहा, "यह बात तो मैं ने भी कही। पर वह कहती रही कि यह तो मिस्सी रोटी का आटा था, दूसरा आटा तो अभी बाद में गूँधना था, और क्या मालूम तुम बाद में मिस्सी रोटी न अपने मुँह से लगाती, न अपने बच्चों के। करमों जली यह नहीं सोचती कि मैं न भी खाती तो घर का मर्द तो ज़रूर खाता, वह भी तो सवेरे से कह रहे थे कि मिस्सी रोटी के साथ लस्सी ज़रूर बनाना, और मर्द तो जैसा उस का वैसा मेरा..."

संजय ब रकत को बाँह से पकड़कर बाहर ले आया और सब के लिए उस से रोटियाँ परसवायीं और ख़ुद छोटी-छोटी बातों से दुल्ले और सलामत को हँसाता रहा।

फिर उस ने और आधे घंटे सलामत को पढ़ाया। और जब जाने लगा, करीम उसे गली के मोड़ तक छोड़ने के लिए साथ चला आया।

मोड़ के इधर ही जब वे फत्ते के घर के आगे से गुज़रने लगे तो संजय की दृष्टि अनायास ही फत्ते के दरवाज़े की ओर चली गयी। बोला, "कितना रूह वाला आदमी है !"

"सचमुच रूह वाला हुआ करता था, पर जब से उस की लड़की की मौत हुई है, उस की रूह भी साथ ही मर गयी है।" करीम ने कहा, फिर पूछा, "पर संजय यार ! रूहें क्या सचमुच होती हैं ? कभी-कभी फत्ता अजीब बातें किया करता है। उसे यक़ीन है कि उस की बेटी की रूह इसी आँगन में रहती है, कई बार उस ने आँगन में उस की पैछल सुनी है।"

करीम और संजय बातें करते हुए बाहर वाली सड़क पर आ गये थे, पर करीम को पीछे लौटने का ध्यान नहीं था, उस ने संजय के साथ चलते हुए पूछा, "तुम आजकल जो कुछ लिख रहे हो, वह भी तो रूहों की बात है।"

"साइकिक रिएलिटी," संजय ने कहा, और बाहर वाली सड़क की तरफ़ से घरों के पिछवाड़े वाले खँडहरों की ओर मुड़ गया।

"क्या मतलब ?"

"वह सच, जिस की ख़ुद ही कल्पना की हो और फिर उसे ख़ुद ही सच समझ लिया हो...ख़ुद ही गढ़ा हुआ सच..."

"तुम जो कुछ बुख़ार में बोलते थे, वह सब तुम्हें दिखाई देता था ?"

"जो कुछ हम बड़ी शिद्दत के साथ सोचते हैं, वह आँखों को दिखाई भी देने लगता है, कानों को भी सुनाई दे जाता है, उस की बदबू-ख़ुशबू भी आदमी सूँघ सकता है।"

"यह दोज़ख़ और बहिश्त सचमुच होते हैं ?" करीम ने पूछा तो संजय हँस-सा पड़ा, "हाँ, होते हैं, मियाँ ! जब तुम्हारी शीरीं आँगन में पौध लगाती है, तुम्हारी बरकत और नेमत हँसकर तुम्हारे आगे खाना परोसती हैं, तुम्हें यही घर बहिश्त लगता है, और जब वे एक-दूसरे पर जादू-टोने करने का शक करती हैं, लड़ती हैं..."

"तब दोज़ख़ तो बन जाता है, पर यह तो और बात हुई न..."

संजय ने साइकिल को खँडहर के एक ऊँचे पत्थर से टिका दिया, और नीचे के एक पत्थर पर बैठते हुए बोला, "मैं ने भी कल रात उस समय का वर्णन लिखा, सतरंगे झूले वाला, जहाँ मेरी कल्पना में मीता बैठी हुई है...पर उस झूले के

सारे रंग मेरे ही ख़यालों का जादू हैं, और कुछ नहीं..."

"मरकर तो कोई सचमुच लौटा नहीं जो आकर बताये, फिर आदमी ने ख़ुद ही यह सब कुछ कैसे बना लिया ? बहुत लोग यह कहते हैं भई, उन्होंने रूहों से बातें भी करके देखी हैं ।" करीम निढाल-सा होकर एक पत्थर पर बैठ गया ।

"देखो ! हिन्द चीनी देशों में तो कई लोग रूहों से ब्याह भी कर लिया करते थे ।" संजय मुसकरा पड़ा और बोला, "तुम यह बताओ कि अगर कोई सचमुच वह बिछड़ गया हो, जिस के साथ जीने को आदमी का जी करता हो, तो यह दीवानगी क्या नहीं करा सकती ?"

"यह तो सच है, आदमी चाहे जीते हुए बिछड़ा हो या मरकर, रूहों के ब्याह न जाने कैसे हो जाते हैं, उस की झलक तो सोते हुए भी मिलती है, जागते हुए भी, पर यह जो आदमी ने मृतकों की रूहों की बात सोची है, बढ़िया सोची है । इस से एक सहारा-सा तो बना ही रहता है । तुम्हें एक बात बताऊँ ?" करीम ने बहुत गहरी साँस ली और कहा, "नेमत को आजकल उम्मीदवारी है ।"

"हाँ, मुझे बड़ी अम्माँ ने बताया था ।"

"रात मुझे सपना आया था..." करीम ने सिर झुका लिया, और ऐसे चुप हो गया, जैसे अपने ही गले में अपनी आवाज़ की ताक़त खोज रहा हो ।

संजय ने हौले से उस के कंधे पर हाथ रखा, कहा कुछ नहीं । करीम ने एक ठंडी साँस भरी, कहा, "न जाने कितने बरस बाद मुमताज़ की सूरत देखी, पर अल्लाह ने सूरत भी दिखाई तो किस वक़्त..."

"क्यों ?"

"बस, आख़िरी साँस ले रही थी, न जाने इस में अल्लाह का क्या राज़ है ?"

"कोई बात की ?"

"वही बताने जा रहा हूँ...बस, उस ने एक बार देखा और बोली, 'उदास क्यों होते हो ? अब तो तुम्हारे घर आऊँगी'...संजय !" करीम ने कहा और चुप हो गया ।

"तुम क्या सोच रहे हो ?"

"कुछ नहीं ।"

"तुम जो सोच रहे हो, मुझे मालूम है ।"

"मैं तो सोचता हूँ, वह जहाँ भी है, जीती हो..."

"पर साथ में यह भी कि अगर वह ज़िन्दा नहीं है तो वह शायद तुम्हारे घर—नेमत के घर जन्म लेगी..." संजय ने कहा तो करीम ने बच्चों की तरह उस के घुटनों पर अपना सिर रख दिया और कहा, "सवेरे से वही सोचे जा रहा हूँ..."

"अब तुम समझे कि इनसान ने री-इनकारनेशन की बात क्यों सोची थी ?"

"काहे की ?"

"यही कि बिछड़े हुए फिर जनम धारण करके मिलते हैं ।"

"वह भी ज़रूर मुझ जैसे ही होंगे...पर हम तो, यार ! साधारण-से आदमी अपनी मजबूरियों की वजह से ये बातें सोच जाते हैं, पर तुम हिन्दुओं में तो बड़े-बड़े पैग़म्बरों की बात भी ऐसे ही करते हैं, भई फ़लाना फ़लाने का अवतार था, फ़लाना..."

"वह उन के गुणों से ये बातें जोड़ते हैं, जैसे वाल्मीकि ने रामायण लिखी, तो उसे राम को दुनिया का सब से उत्तम पुरुष कहना था, कैसे कहता ?—सो, सब कुछ लिखकर, अन्त में लिख दिया कि राम विष्णु का अवतार था । फिर जिन्होंने महात्मा बुद्ध की बात की, उन्होंने कहा कि बुद्ध राम का अवतार था । इसी तरह जो विष्णु की पत्नी थी लक्ष्मी, वह राम के समय में सीता बन गयी और कृष्ण के समय में रुक्मिणी । यह बात गुणों के आधार पर की जाती है । गुण कई तरह के होते हैं, निरी शक्ति के भी हो सकते हैं । एक टापू हुआ करता था एटलांटिक, न जाने कब का डूब चुका है । पर कहते हैं, जैसे लोग उस टापू के थे, वैसे ताक़त वाले फिर कहीं पैदा नहीं हुए । वह नस्ल ही ख़त्म हो गयी । पर अब हिटलरऔर स्टालिन की रूह में कहते हैं, उन्हीं की रूह आ गयी थी...।" संजय कह रहा था, जब करीम ने टोककर पूछा, "फिर तुम्हारा क्या ख़याल है, मेरा सपना यूँ ही है ?"

"मियाँ ! इनसान का मन बड़ा जादूगर है । और किसी पर जादू न चले तो अपने ऊपर ही चला लेता है ।" और संजय ने करीम का हाथ पकड़कर उसे उठाते हुए कहा, "तुम्हारे सामने मैं जो कुछ बेहोशी में बोलता रहा था, वह क्या सच था ? सच सिर्फ़ यह है कि मीता इस दुनिया में नहीं थी, सो, मैं ने जो कुछ आज तक पढ़ा-सुना था, उस के हिसाब में मीता से अगली दुनिया में मिलने चला गया । ज़िन्दगी का जादू नहीं चला तो मैं ने अपने ऊपर मौत का जादू चला लिया..."

एक दिन की बात है, करीम ने फ़रमा मशीन पर चढ़ा लिया, पर जब फ़ाइनल प्रूफ़ों पर प्रिण्ट आर्डर देखने लगा तो वहाँ कुछ लिखा हुआ नहीं था, इस लिए फ़रमे की छपाई रोक ली।

कल करीम कुछ स्वस्थ नहीं था, इस लिए छुट्टी के समय उस ने मालिक से कहा था, "शरीर कुछ टूट-सा रहा है, अगर ज्यादा ढीला हो गया तो कल शायद न आऊँ।" पर मालिक ने कहा था, "नहीं, मियाँ ! छुट्टी करनी हो तो भले ही परसों कर लेना, कल दो फ़रमों का पैम्फ़्लैट ज़रूर देना है, किसी एम्बेसी का है।" और करीम आज सवेरे ऐस्पिरिन की टिकिया खाकर प्रेस आ गया था।

इस समय यह भी ख़ाली खड़ा था, और मशीन भी। मालिक अभी आया नहीं था।

मैनेजर के कमरे में गया "देखिये जी ! इतनी जल्दी मचायी थी कल, और ख़ुद ही फ़रमे पर आर्डर लिखना भूल गये, नहीं तो मैं खाने के वक़्त से पहले दोनों फ़रमे निकाल चुका होता..."

"कौन-सा काम है, एम्बेसी वाला ?" मैनेजर ने कहा तो करीम को ध्यान आया, "लीजिये बात तो सीधी है, फ़ाइल में से एम्बेसी का ख़त निकालो, उस में लिखा होगा कि कितनी गिनती में छपना है !"

"किसी फ़ाइल में ख़त देखा तो था, ठहरो !" और मैनेजर फ़ाइलें टटोलने लगा।

"लीजिये, आप ही रखकर भूल गये।" करीम ने कहा, तो मैनेजर के माथे पर हलकी-सी त्योरी पड़ गयी, "मैं काहे को भूल गया। यह सब तुम्हारे पहले मैनेजर का काम है। न किसी फ़ाइल पर नम्बर लिखा हुआ है, न कोई फ़ाइलों का इनडेक्स है। मुझे तो एक महीना लग जायेगा फ़ाइलें बनाते-बनाते।" और मैनेजर ने थोड़ा-सा ऊबकर कहा, "मैं तो सोचता हूँ, यहाँ न जाने कैसे काम चलता था..."

यह मैनेजर नया आया था, करीम जानता था, इस लिए सब्र से चुप खड़ा

रहा ।

"यह देखो ! कौन-सा काग़ज़ किस फ़ाइल में डाला हुआ है..." मैनेजर ने एक चिट्ठी निकालकर मेज़ पर रख दी ।

"मिल गयी जी ?"

"मिल गयी..."

"कितना आर्डर है ?"

मैनेजर ने ध्यान से चिट्ठी पढ़ी, और बोला, "अस्सी हज़ार ।"

"अस्सी हज़ार ?" करीम हँसने लगा, फिर बोला, "तब पहले काग़ज़-मंडी से जाकर काग़ज़ ले आइये ।"

मैनेजर ने हैरान होकर करीम की ओर देखा, "मियाँ ! एम्बेसियों के काम का काग़ज़ तो एम्बेसियों से ही आता है। हमारे इस ग़रीब-से देश का ख़राब काग़ज़ भला उन्होंने कभी इस्तेमाल किया है !"

"हाँ जी, वह तो मैं जानता हूँ ।"

"इस वक़्त कितना काग़ज़ पड़ा हुआ है ?"

"दस रिम..."

"दस रिम ?"

"सीधा हिसाब है जी, एक रिम के पाँच सौ बड़े शीट, तो एक रिम में एक फ़रमा एक हज़ार छपता है। ये दो फ़रमे हैं, पाँच-पाँच हज़ार छापें तो दस रिम लगेंगे। पर आप कहते हैं, अस्सी हज़ार छपेगा, फिर काग़ज़ तो एक सौ साठ रिम चाहिए, बाक़ी निकलवा दीजिये ।"

"कहाँ से ?"

"गोडाउन से, स्टाक तो यहीं होता है..."

"पर इस एम्बेसी का स्टाक तो हरी लाल के पास होता है...मैं पहले जिस प्रेस में मैनेजर था, मुझे याद है, वहाँ सारा काग़ज़ वहीं से आता था..."

करीम पहले चुप-सा रह गया, फिर बोला, "होता था जी, पर उस आदमी को तो अब उन्होंने हटा दिया है ।"

"क्यों ?" मैनेजर ने कहा, पर मुस्करा-सा पड़ा, बोला, "उस ने उस में से काग़ज़ निकालकर बाहर बेच दिया होगा ।"

"सुना तो यही है जी, रिम के रिम बाहर बेचकर खा गया ।"

"सो अब काग़ज़ का स्टाक वह यहाँ रखते हैं ?" मैनेजर ने कहा, पर साथ ही बोला, "फिर तुम ठहर जाओ, कहाँ दस रिम, कहाँ एक सौ साठ। मैं यह जिम्मेदारी नहीं लेता। तुम मालिक को आने दो..."

"आप की मर्ज़ी ।" करीम ने कहा और बाहर जाकर परे कोने वाली दुकान पर चाय पीने लगा ।

कुछ देर बाद मालिक आया, करीम ने प्रिण्ट आर्डर पूछा, और चुपचाप दोनों फ़रमे पाँच-पाँच हज़ार छाप दिये।

डेढ़ बजे की खाने की छुट्टी के समय, करीम खाना खाकर नलके पर हाथ धो रहा था जब नया मैनेजर उस के पास से गुज़रा तो मुसकरा दिया।

करीम नहीं मुसकराया, शायद इस लिए मैनेजर को ख़याल आया कि उस ने उस की मुसकराहट का अर्थ नहीं समझा। नलके पर हाथ धोने के बहाने से ज़रा पास आकर उस ने हौले से कहा, "मियाँ ! आज तुम ने एक सौ पचास रिम बचा दिये।"

"हाँ जी, अल्लाह देखता है।" करीम ने हौले से कहा।

"अगर मैं तुम्हारे कहने में आकर काग़ज़ निकलवा लेता तो काग़ज़ की तरह हम भी ज़ाया हो जाते..."

करीम बोला नहीं, तो मैनेजर ने जैसे हुंकारा माँगा, कहा, "अब बोलते नहीं ?"

"मैं जी आजकल एक किताब लिख रहा हूँ, 'हिदायतनामा वर्कर्स।" करीम ने कहा और धोये हुए हाथों को झटककर परे चला गया।

फिर शाम के कोई चार बजे होंगे, जब मालिक ने करीम को बुलाया, पूछा, "वह तुम्हारा यार आजकल कहाँ रहता है ?"

"संजय साहब ?"

"वही तुम्हारा संजय साहब।"

"ठीक-ठाक है जी।"

"कोई बड़ा काम मिल गया है क्या आजकल ?"

"हाँ जी," करीम ने कहा और धीरे से मुसकरा पड़ा, "आजकल अपना उपन्यास लिख रहा है जी !"

"बड़ा काम कर रहा है।" मालिक ने ज़रा तीखे स्वर में कहा। पर फिर स्वर को नीचे करते हुए बोला, "कालिदास से कम तो कोई पैदा होता ही नहीं। आजकल प्रूफ़ों का काम बहुत है, अगर उसे चार पैसे कमाने हैं तो..."

"अच्छा जी, कह दूंगा।" करीम यह कहकर पीछे लौटने लगा तो मालिक ने पूछा, "तुम कब कहोगे और कब वह आयेगा। यहाँ काम रुका पड़ा है।" और मालिक ने घंटी बजाकर चपरासी को बुलाया, पूछा, "कौन-सा ब्लॉक है, सी ब्लॉक है, सफ़दरजंग ?"

"हाँ जी।"

मालिक ने एक काग़ज़ पर पता लिखकर चपरासी को दे दिया।

करीम वापस लौटने लगा तो मालिक ने हाथ के इशारे से उसे रुकने के लिए कहा और चपरासी से बोला, "संजय साहब को अपने साथ लेकर आना, कहना,

बहुत जल्दी का काम है।"

चपरासी चला गया तो मालिक ने करीम से पूछा, "क्यों मियाँ! तुम्हारी नज़र में अगर कोई एक-दो आदमी हों, बड़े शरीफ़, जो टाइप की चोरी-शोरी न करें, काम चाहे कम ही जानते हों, यहाँ ख़ुद ही दो-चार महीने लगाकर सीख जायेंगे..."

"सोचूँगा जी।"

"सच, तुम्हारा अपना कोई लड़का तो होगा?"

"है जी।"

"कितना बड़ा है?"

"ग्यारहवाँ लगने वाला है, जी।"

"तो मियाँ! फिर डाल दो उसे काम में, एक बरस में ताक़ हो जायेगा। क्या करता है? पढ़ता है?"

"हाँ जी।"

"पर वह तो तुम्हारी उर्दू पढ़ता होगा?"

"अब तो हिन्दी, पंजाबी भी अच्छी पढ़ लेता है।"

"फिर देखते क्या हो? ले आओ उसे काम पर।"

करीम ने हाँ में सिर हिला दिया और अपने मशीन वाले कमरे में चला गया। आज उस का जी कर रहा था कि दो घंटे रहते ही छुट्टी लेकर घर चला जाये। उस ने ज़रूरी काम निबटा लिया था। अब लगभग ख़ाली था, पर यह देखकर कि चपरासी संजय को बुलाने के लिए गया हुआ है, उस ने छुट्टी नहीं की।

कोई साढ़े पाँच बजे संजय आया और जब पन्द्रह-बीस मिनट बाद मालिक के कमरे से प्रूफ़ों का लिफ़ाफ़ा लिये हुए बाहर निकला, तो करीम के पास आया। छुट्टी का वक़्त हो गया था, सो करीम अपनी साइकिल लेकर उस के साथ ही प्रेस से बाहर आ गया।

रास्ते में करीम ने और कुछ नहीं कहा, सिर्फ़ इतना, "यार! आज घूँट-भर पीने को जी कर रहा है, रास्ते में कहीं से ले लें?" तो संजय ने कहा, "रास्ते से लेने की ज़रूरत नहीं है, आज रम पड़ी हुई है घर पर।" फिर करीम सारे रास्ते कुछ नहीं बोला।

संजय ने कमरे में आकर दो गिलासों में रम डाली, तब करीम बोला, "मियाँ! तुम रोज़ कहते थे, आजकल मैं बुल्हेशाह नहीं गाता। अब उसे क्या गाना है, अब तो मैं वहाँ पहुँच गया हूँ जहाँ वह भी नहीं पहुँचा था..."

संजय ने सिगरेट सुलगाया और रम के दो घूँट एक साथ पीकर कहा, "अच्छा, बुल्हेशाह से भी अगली मंज़िल पर पहुँच गये हो?"

"हाँ। वह तो यही कहता रहा 'चल बुल्हेया चल ओत्थे चल्लिये जित्थे सारे

अन्हे'[1], पर वह वहाँ पहुँचा नहीं था, मैं पहुँच गया हूँ।" करीम ने कहा और हँसने लगा।

फिर करीम ने संजय को आज की वह सारी बात सुनायी, अस्सी हज़ार की बजाय पाँच हज़ार पैम्फ़्लेट छापने वाली और कहा, "अब तुम बताओ, आर्डर कुछ और छपा कुछ, और दिखाई किसी को कुछ नहीं देता, हो गयी न अन्धों की नगरी..."

संजय हँसा नहीं, बोला, "तुम क्या समझे ?"

"यही कि अस्सी हज़ार की जगह पाँच हज़ार छापकर सारा काग़ज़ भी बचा लिया और छपायी भी बीस गुना धर ली।"

"नहीं, मियां ! जितना तुम्हारा मालिक चालाक़ है, दूसरे उस से बीस गुना चालाक हैं।"

"तब फिर यह क्या बात हुई ?"

"तुम्हारा क्या ख़याल है, उन दूसरों को अस्सी हज़ार और पाँच हज़ार का फ़र्क़ दिखाई नहीं देता ?"

"अगर दिखाई देता है तब फिर ? ..." करीम को कहने के लिए कुछ सूझ नहीं रहा था, उसे सिर्फ़ यह पता लग रहा था कि भेद वाली कोई जगह ऐसी है जो उसे दिखाई नहीं दे रही है।

"मियाँ ! यह सब कुछ उन दूसरों की रज़ामंदी से होता है।"

"तुम्हारा मतलब है भई, उन्हें भी यह बात मालूम है ?"

"बिलकुल।"

"तो फिर वे भी मिले हुए हैं ? मेरा मतलब है, ज्यादा काग़ज़ के भी पैसे, और छपवाई के भी वह अपनी सरकार से लेकर यहाँ आपस में बाँट लेते हैं ?"

"नहीं, बात इस से भी ज्यादा ख़तरनाक है।"

"अच्छा !"

"बात यह है, मियाँ, कि सरकारें ही सरकारों को चरा रही हैं।"

"वह कैसे ?"

"किसी देश को भीतर से तोड़ना हो तो तुम बताओ, ख़र्च के लिए रुपया चाहिए या नहीं ?"

"हाँ, वह तो पहली बात है।"

"सो, उस पहली बात के लिए हर काम पहले नम्बर के रुपये से नहीं होता। उस के लिए दूसरे नम्बर के रुपये की ज़रूरत होती है, नम्बर दो के रुपये की। इस तरह जो भी रुपया बचता है, वह सारा उस काम के लिए ख़र्च होता है।"

---

1. चलो बुल्हेशाह ! वहाँ चलो, जहाँ सब अन्धे हों।

"फिर हमारा मालिक सारी बात जानता होगा ?"

"और क्या, ऐसे ही बेफ़िक्री से अस्सी हज़ार की जगह पाँच हज़ार छाप रहा है ?"

"पर यार ! यह तो अपने देश से ग़द्दारी हुई..."

"मियाँ ! अगर लोग देश के ख़ैरख़ाह होते तो देश की यह हालत होती ?"

"फिर तो, यार ! हमारे अपने लोग ही अपने घर में सेंध लगा रहे हैं ?"

"दोस्त ! अगर अपना देश लोगों को अपना घर लगता तो फिर किस बात का रोना था ! लोग विदेशी सरकारों से रुपया लेकर अपना देश तोड़ रहे हैं ।"

"तब फिर हमारे पहरेदार उन की ख़बर क्यों नहीं रखते ? उन्हें कुछ नहीं दिखाई देता ?"

संजय मुसकरा पड़ा, बोला, "तुम ने जब मौत का फ़रिश्ता बनकर मुझे दोज़ख दिखायी थी वहाँ जिन का दीदार हुआ था, वे यही तो थे, और कौन थे ? सिर्फ़ इतना फ़र्क़ है कि वहाँ सब बेनक़ाब थे, इस लिए अच्छी तरह पहचाने गये ।"

करीम ने एक ही साँस में रम का गिलास पी लिया, और तब बोला, "फिर तो, यार, यूँ ही दीवार से टक्कर मारने वाली बात है, अपने आप सोच-सोचकर आदमी अपना माथा फोड़ ले, और क्या कर सकता है !"

संजय ने करीम के गिलास में और रम डालनी चाही तो करीम ने गिलास पर हाथ रख दिया, "नहीं, बस, आज जिस्म टूट रहा था, घूँटभर पी ली और नहीं । अभी पाँच मील साइकिल चलानी है ।"

और करीम ने उठते हुए कहा, "हाँ, सलामत किसी लायक़ हो गया है ? कल से उसे प्रेस के काम में लगा दूँ ?"

"उस के लिए अभी हाथ का लिखा पढ़ना मुश्किल है, छपा हुआ हो या टाइप किया हुआ हो तो बिलकुल ठीक पढ़ लेता है । उसे काम में डाल दोगे तो और भी जल्दी पढ़ने लगेगा ।" संजय ने कहा तो करीम ने बताया, "आज मालिक ने ख़ुद कहा कि लड़के को काम में डाल दो ।"

"अच्छा है, फिर शाम को लौटते वक़्त रोज़ मेरे पास आ जाया करेगा, मेरा फेरा बच जायेगा, रोज़ यहाँ पढ़ जाया करेगा ।"

करीम ने ज़रा ताव खाकर संजय की ओर देखा, "सो घर आने का यह बहाना भी ख़त्म हो जायेगा ।"

संजय हँस दिया, "मियाँ ! तुम्हारे लिए ही तो कह रहा हूँ फिर रोज़ तुम भी उस के बहाने आ जाया करोगे । साइकिल तो एक ही है न ! उसे रास्ते में उतार कर तो तुम नहीं जा सकते ।"

करीम का ग़ुस्सा ठंडा पड़ गया, "अब प्रूफ़ देखोगे ? काहे के लिए रास्ता चलते बला मोल ली ?"

"पर इस बला के पैसे मिलते हैं।" संजय हँस पड़ा, "अपने काम के कई पन्ने रफ़ लिखे हुए हैं, कापी करने की हिम्मत नहीं पड़ती, वह फ़ालतू काम लगता है, नया चाहे कितने पन्ने लिख लूँ।"

"प्रूफ़ अभी देखोगे ?"

"नहीं, कल सवेरे शुरू करूँगा। रात की रोशनी में आँखें रह जाती हैं।"

"चलो, फिर घर चलें, साथ बैठकर खाना खायेंगे।"

संजय कोई एक मिनट के लिए सोच में पड़ गया, फिर बोला, "अच्छा, चलो!"

करीम ने रास्ते में एक पाव कलेजी ख़रीदी, बोला, "आज मैं अपने हाथ से भूनकर तुम्हें खिलाऊँगा, ऐसी कि जो तुम ने होटलों में खायी है, उसे भूल जाओगे।"

घर पहुँचकर करीम चूल्हे के पास जा बैठा। बरकत खाने का इंतज़ाम करने में लग गयी और संजय सलामत को पढ़ाने में लग गया।

सलामत पढ़ने में होशियार था, बड़ी रवानी में पढ़ने लगा था, पर लिखाई में अभी ग़लतियाँ कर जाता था। संजय ने उस की कई ग़लतियों को ठीक किया और उसे उत्साह देते हुए बोला, "सलामत मियाँ! जल्दी से लिखना सीखो, मेरा पूरा उपन्यास तुम्हें कापी करना है, वह मैं तुम से करवाऊँगा।"

शीरीं तंदूर के पास खड़ी हुई आटे की लोइयां बना रही थी। हाथ की लोई हाथ में ही लिये हुए वह इधर उस खाट की ओर आयी, जिस पर बैठकर संजय सलामत को पढ़ा रहा था, और खाट के पाये के पास खड़े होकर हौले से बोली, "मुझे दे दीजिये, मैं कापी कर दूंगी।"

"तुम ?" संजय ने शीरीं की ओर देखा।

"मुझ से कहती थी, मत बताना, अब ख़ुद क्यों बताया ?" पास से सलामत ने कहा।

"क्या ?" संजय ने पूछा।

शीरीं नहीं बोली, पर सलामत बोल उठा, "मुझे मालूम है, इसे मुझ से ज्यादा आ गया है, पर यह मुझ से बड़ी भी तो है।"

संजय की समझ में कुछ नहीं आया तो सलामत ने कहा, "भाई जान! यह आप के सामने नहीं पढ़ती, पीछे दिन-भर मुझ से पूछ-पूछकर पढ़ती रहती है। आप जो मुझे लिखकर दे जाते हैं, यह बाद में मुझ से छीन लेती है। इस ने तो सारी किताब पढ़ ली है।"

संजय ने हँसकर शीरीं की ओर देखा, कहा, "पर यह मुझ से छिपाने की कौन-सी बात है ? अच्छा, बताओ, कौन-सी किताब पढ़ी है ?"

शीरीं ने अपनी बाँह से अपना मुँह छिपा लिया, और परे तंदूर की ओर चली

गयी। सलामत ने बताया, "वही किताब, भाई जान, जो आपने लिखी है। अब्बा के पास पड़ी हुई थी, इस ने अब्बा की अलमारी में से निकाल ली थी।"
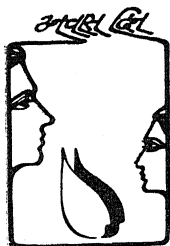
शीरीं को अपने ध्यान में मग्न अपने कमरे में बैठकर संजय के उपन्यास की नक़ल करते हुए कितना समय बीत गया, इस का ध्यान उसे नहीं था सिर्फ़ आँगन की धूप को था, जो अब जाते-जाते पल-भर के लिए कमरे की दहलीज़ पर रुककर उसे देख रही थी।

काग़ज़ पर जहाँ कोई पंक्ति, लकीर मारकर, फिर से लिखी हुई होती, उस के बारीक़ अक्षरों को पढ़ते हुए शीरीं कुछ अटक जाती थी, पर वैसे उसे संजय की लिखाई पढ़ने में इतनी महारत हो गयी थी कि जहाँ शिकस्ता-सा भी लिखा हुआ लगता था, उसे भी वह बिना अटके पढ़ लेती थी।

आज वह कई पन्ने उतार चुकी थी, जब उसे लगा कि अचानक कुछ अक्षरों की पंक्तियाँ उस के पोरों से लगकर खड़ी हो गयी हैं।

क़लम-दवात हाथ से परे रखे गये, और वह किसी ध्यान में खिंची हुई, हाथ का काग़ज़ चारपाई पर रखकर, कमरे की अलमारी के पास आकर खड़ी हो गयी।

हाथों में न कोई जल्दी थी, न कंपन, वे ऐसे सहज थे, स्वाभाविक, जैसे उन के लिए कुछ भी नया नहीं था, कुछ भी अचंभा नहीं था।

अलमारी में एक छोटा-सा शीशा था। शीरीं ने उसे अपने हाथों में लिया, शीशे में अपनी सूरत देखकर ज़रा मुस्करायी, और फिर थोड़ी-सी हैरान हो गयी, जैसे अपनी ही आँखों ने आज अपने चेहरे पर बड़ी सुन्दरता देख ली हो...

शीरीं की आँखें जैसी काली और मोटी थीं, घर में और किसी की नहीं थीं, पर चेहरा दुबला और पीला था, जिस की वजह से घर में जब कभी उस की आँखों की बात होती तो उलटी होती थी। अब नहीं, पर जब वह छोटी थी, नेमत

जो भी खा रही होती, उस का एक टुकड़ा उस के हाथ पर रखकर कहा करती थी, "ले मर ! आँखें फाड़-फाड़कर क्या देख रही है ?"

अब भी शीरीं का चेहरा पतला था, पर पीला नहीं था। आँखों की घनी पलकें आँखों पर लगी हुई छोटी-सी झालर जैसी थीं, जिन के रंग से मिलाकर वह जब काली चुनरी ओढ़ती थी तो अकेली कोने में खड़ी होकर एक बार शीशा ज़रूर देखा करती थी।

पर आज की तरह नहीं।

आज उस ने न काली चुनरी ओढ़ी हुई थी, न उस का ध्यान आँखों की ओर था। आज वह सिर्फ़ माथे को देख रही थी जो उस के सामने खड़े होकर हौले से हँस रहा था।

फिर शायद उस के पोरों से लगकर खड़े हुए कुछ अक्षरों का जादू था कि उस ने अडोल-सी अपनी एक उँगली अपने माथे से छुआयी तो सामने शीशे में एक लाल बिंदी उस के माथे पर दिखने लगी।

और शीरीं का अपना चेहरा बहुत नया होकर शीशे में खड़ा हो गया।

अपने चेहरे को पहचानने के लिए वह शीशे में देखे जा रही थी कि कमरे में खटका हुआ। जमीला कमरे में आकर बोली, "मेरी चप्पलें नहीं मिल रही हैं, तुम्हारी पहन लूँ ? बस, मोड़ तक जाना है। अम्माँ कह रही है, एक पान ला दे।"

शीरीं ने जल्दी से शीशा अलमारी में रख दिया और पल्ले की ओट में होकर चुनरी से अपना माथा पोंछने लगी।

जमीला ने इधर आकर अलमारी का पल्ला खोल दिया, बोली, "अलमारी में सिर घुसाकर क्या कर रही है ?"

शीरीं ने फिर जल्दी से एक बार माथे को पोंछा और कहा, "कुछ भी नहीं, हाथ में स्याही लगी हुई थी, शायद माथे पर लग गयी, पोंछ रही थी।"

जमीला ने ध्यान से उस के सारे मुँह पर देखा, बोली, "नहीं, कहीं भी नहीं लगी हुई है।" और फिर शीरीं की चप्पलें पहनकर कमरे से चली गयी।

शीरीं ने फिर एक बार अलमारी से शीशा निकालकर देखा, और शीशा अलमारी में रखते हुए कुछ हैरान-सी इधर अपनी चारपाई के पास आ गयी, जहाँ तकिये के पास वह अभी एक काग़ज़ और क़लम-दवात रखकर गयी थी।

काग़ज़ भी वहाँ पड़ा हुआ था, क़लम-दवात भी, पर शीरीं को लगा, यही काग़ज़ अभी पता नहीं किस तरह उस के सारे दिल को छल गया था।

एक-एक अक्षर याद आ गया, जिन्हें अभी वह नक़ल कर रही थी। यह संजय के उपन्यास का वह हिस्सा था जब उस ने आसमान के सतरंगे झूले के पास जाकर रंगों को छुआ था, तो देखा था कि सारे रंग गीले थे, और उस ने लाल रंग में एक उँगली डुबाकर झूले पर बैठी हुई मीता के माथे पर लगा दी थी...

शीरीं का हाथ एक बार फिर अपने माथे को छू गया, लगा, नहीं, इस काग़ज़ ने उसे नहीं छला, उस ने आप ही अपने माथे को छल लिया।

और शीरीं की आँखों में पानी आ गया। पता नहीं लग रहा था, वह किस से पूछे कि यह मेरे हाथों मेरे साथ क्या हो रहा है।

उस के बाद शीरीं ने सारे काग़ज़ तह कर अलमारी में रख दिये, और अपनी चारपाई पर ऐसे लेट गयी, जैसे बहुत थक गयी हो।

शाम को जब करीम आया, बरकत ने शीरीं के कमरे की ओर इशारा कर के कहा, "ज़रा लड़की को देखो, मुझे तो उस का जिस्म गर्म लगता है।"

शीरीं सो रही थी। करीम ने माथे पर हाथ रखा, नब्ज़ देखी, हथेलियाँ देखीं, बोला, "हलका-सा बुख़ार मालूम होता है, पर ज्यादा नहीं है। इसे भारी कपड़ा ओढ़ा दो, सवेरे तक ठीक हो जायेगी।"

और करीम ने शीरीं के पास से उठते हुए फिर एक बार उस के माथे पर अपनी हथेली रखी, और ज़रा-सा हिलाकर पूछा, "बेटा, कुछ पीने को जी चाहता है? चाय बना दूँ?"

शीरीं ने आँखें खोलीं, पानी माँगा, और फिर पानी पीकर तकिये पर सिर रखते हुए हौले से पूछा, "अब्बा! सिर्फ़ हिन्दू लड़कियाँ माथे पर बिन्दी लगाती हैं न?"

"हाँ, सिर्फ़ हिन्दू लड़कियाँ..." करीम ने कहा और थोड़ी-सी चिंता के साथ शीरीं की ओर देखते हुए पूछा, "तुम्हें कोई सपना आ रहा था?"

"नहीं..." शीरीं ने मुँह दूसरी ओर कर लिया और कहा, "वह नॉवेल में लिखा हुआ था, इस लिए पूछा।"

जाड़े की ठिठुरन में कमी आ गयी थी, पर आज दोपहर से गहरे बादल सब के सिर पर गीले तंबू की तरह तने हुए थे।

और शाम, समय से पहले ही, आँगन में उतरकर, शीरीं के कमरे की खुली

हुई खिड़की में से होकर, उस की चारपाई पर आ बैठी थी।

चारपाई के पास स्टूल पर संजय के उपन्यास के वे सब काग़ज़ चुपचाप पड़े हुए थे, जिन की नक़ल करते हुए शीरीं पता नहीं किस समय अलसाकर चारपाई पर लेट गयी थीं और काग़ज़ों के कितने अक्षर उस की आँखों में ऊँघने लगे थे।

लगा, एक बादल आसमान से उतरकर उस के माथे पर आकर बैठ गया है।

एक गीली-सी ठंड से शीरीं का सारा शरीर गुच्छा हो गया।

फिर न जाने कब उस का ऊँघता हुआ हाथ अपने माथे पर से बादल को हटाने लगा।

शायद उस की ढीली-सी चोटी से निकलकर बालों की एक लट आगे उस के माथे पर आ पड़ी थी, जो उस के हाथ से माथे से हट गयी तो शीरीं को लगा, उस के माथे पर पड़ा हुआ बादल फिर दूर होकर हवा में उड़ने लगा है।

बादल दूर होते-होते एक पतले-से धुएँ की तरह फैल गया और शीरीं को लगा, एक बहुत ठंडी-सी गंध उस के गले में उतर रही है।

शीरीं की साँस उस के गले में और तेज़ हो गयी।

शायद धुआँ भी नहीं था, गंध भी नहीं थी, सिर्फ़ ऐसे, जैसे साँस लेने के लिए आसमान में हवा ख़त्म हो गयी हो।

और फिर उस के सारे अंग जैसे होश में न रहे हों। शायद उस की ऊँघती हुई आँखों में नींद कुछ गाढ़ी हो गयी।

पता नहीं कब आँखों के आगे बिछे हुए अँधेरे में कई रंगों की धारियाँ पड़ गयीं और शीरीं ने एक लंबी और बड़े चैन की साँस लेकर अपने गुच्छा हुए अंग चारपाई पर सीधे कर लिये।

रंगों की धारियाँ और गहरी हो गयीं, पास को भी आ गयीं, जिस से शीरीं को लगा कि वह अपने हाथ से उन्हें छू सकती है।

एक सुखद-सी हवा उस की साँसों में रम गयी और उस ने रंगों की धारियों को पकड़ने के लिए अपना हाथ ऊँचा किया...

धारियाँ सिर्फ़ रंगों की ही नहीं थीं, एक बड़ी रेशमी-सी रस्सी उस के हाथ से छूट गयी।

हाथ छुआ, पर हाथ की पकड़ में कुछ नहीं आया, जैसे एक सख़्त, पर रेशमी रस्सी उस के हाथ से फिसल गयी हो।

उस ने फिर रंगों की धारियों की ओर देखा, अब वह कुछ दूर थी और ऊँची भी, जहाँ हाथ नहीं पहुँच रहा था।

और शीरीं को लगा, वह बहुत ज़ोर लगाकर एड़ियों को उठाकर ऊपर को

हाथ कर रही है; और फिर उस का पैर उलटा पड़ गया...

पैर की मोच से वह चौंककर जाग गयी।

देखा, पायँते की ओर खड़ी हुई उस की माँ उस के पैर को हिलाकर उसे जगा रही है, "यह कौन-सा वक़्त है सोने का, जाड़ों में दिन में सोयें तो सारा जिस्म अकड़ जाता है।"

शीरीं ने आधी जागी-सी हालत में चारों ओर देखा, अपने ऊपर पड़ी हुई लोई की ओर भी। अम्माँ कह रही थी, "सोना था तो कोई भारी कपड़ा ओढ़ लेती, ठंड से गुच्छा-सी बनी पड़ी थी, मैं ने लोई उठाकर डाल दी।" और कमरे से बाहर जाते हुए अम्मा ने कहा, "उठो, नेमत का जी अच्छा नहीं है, तुम आकर आटा गूँध लो, मैं मटर की सब्ज़ी के लिए आलू ख़रीद लाऊँ, घर में नहीं है।"

शीरीं ने लोई को हटाया। चारपाई से उठी तो उस की नज़र उस स्टूल पर पड़ी, जिस पर वे काग़ज़ पड़े हुए थे जिन पर संजय के उपन्यास की नक़ल करते हुए वह न जाने कब सो गयी थी।

और वह हैरान होकर उन काग़ज़ों की ओर देखने लगी। याद आया, जो पन्ना वह लिखते-लिखते सो गयी थी, उस में संजय ने उस सतरंगे झूले का वर्णन किया था, जिस पर उस ने मीता को बैठे देखा था।

शीरीं को अपना रंगीन धारियों वाला सपना याद आया। लकीरें सब वैसी ही थीं, जैसी आसमान पर सतरंगे झूले की होती हैं।

खिड़की से आने वाली शाम की ठंड उस की हड्डियों में उतर गयी, 'पर उस झूले पर तो संजय की मीता बैठी हुई है। मैं उसे हाथों से क्यों पकड़ रही थी ?'

यह भी याद आया कि उन लकीरों को पकड़ते हुए लगा था, जैसे एक सख़्त और रेशमी रस्सी सचमुच उस के हाथ से छू गयी हो।

शीरीं ने ख़ुद अपने आप को दलील दी, 'शायद वह ध्यान आ गया था, जब छोटे होते पेड़ की डाल से रस्सी बाँधकर मैं और जमीला झूला झूलती थीं।'

पर शीरीं का मन ठहरा नहीं, 'मैं रेशमी रंगों के झूले को हाथ से पकड़ने लगी थी तो झूला दूर हो गया था...'

मन ने कहा, 'वह शायद मीता ने ऊपर खींच लिया होगा।'

और शीरीं स्टूल पर पड़े हुए सारे काग़ज़ों को अलमारी में रखकर जब बाहर जाकर परात में आटा छानने लगी तो आटे की चलनी उस के हाथों में थोड़ी काँप रही थी।

आज इतवार था। संजय करीम के घर जाते हुए जब फत्ते के घर के आगे से गुज़रा तो उस की नज़र सहज ही फत्ते के दरवाज़े की तरफ़ चली गयी। दरवाज़ा ख़ुला हुआ था, पर वह दरवाज़े में या दरवाज़े में से दिखाई दे रहे आँगन में बैठा हुआ नज़र नहीं आया, इस लिए संजय सामने करीम के घर की ओर चलता गया।

देखा, सामने से करीम और फत्ता दोनों इधर ही आ रहे थे। फत्ते ने संजय को देखते ही सलाम किया, कहा, "लो, यह तो हमारे इज्ज़त बेग चले आ रहे हैं।"

संजय हँस पड़ा, "तो तुम मियाँ ! इस वक़्त करीम लाला को लेकर कहाँ चले ?"

फत्ते ने हाथ से अपने घर की ओर इशारा किया, संजय दो क़दम लौटा और उन के साथ चल दिया, फत्ते के घर की ओर।

तीनों अन्दर आँगन में आये तो करीम ने दीवार से लगी हुई चारपाई बिछाते हुए कहा, "आज नेमत कुछ ठीक नहीं थी, इस लिए दाई बुलाकर लाया था।"

संजय ने करीम के कान के पास होकर कहा, "आज फिर तुम्हारी मुमताज़ आ रही है।"

करीम जवाब में हँस दिया, "तुम्हें वह बात याद है ? पर अभी नहीं। वैसे ही शायद नेमत का पैर ऊँची-नीची जगह पर पड़ गया था, इस लिए दाई को बुला लाया। अभी तो काफ़ी दिन बाक़ी हैं।"

फत्ते ने करीम के लिए हुक़्क़ा भर दिया, फिर संजय से पूछा, "फिर संजय मियाँ ! तुम्हारी क्या ख़िदमत करूँ ? चाय बनाऊँ ?"

"दोस्त ! संजय मियाँ को तुम इज्ज़त बेग कहकर इज्ज़त बख़्श देते हो, और कौन-सी ख़िदमत बाक़ी रह गयी ?" संजय ने कहा और उस के चाक की ओर देखते हुए बोला, "तुम जिस दिन चाक पर बर्तन चढ़ाओ, उस दिन मेरा जी करता है, सारे दिन तुम्हारे पास बैठकर सुराहियों की गर्दन बनती देखता रहूँ।"

"बस, अब चाक के दिन आने वाले हैं। जाड़ों में काम ज़रा ठंडा पड़ जाता है। पिछले दिनों प्याले और मर्तबान उतारे थे, वे अभी तक आवे में नहीं रखे हैं।" फत्ता कह रहा था, जब संजय को एक ख़याल आया। बोला, "मियाँ! प्यालों पर फूल-बूटे बना लिये ?"

फत्ते ने दाहिने हाथ को इस तरह हवा में हिलाया, जैसे फूल-बूटों की बात एक लम्बे समय से हवा में खो गयी हो। बोला, "अगर तुम कहो तो तुम्हारे लिए मैं कुछ प्यालों पर फूल-बूटे बना दूँ।"

संजय कुछ चुप रह गया।

"क्या सोच रहे हो ?" करीम ने पूछा तो संजय के होंठों के पास पीड़ा की एक रेखा मुसकराहट-सी बनकर ठहर गयी। बोला, "जिन इलाक़ों में मेह बहुत कम बरसता है, साल में मुश्किल से एक बार तरसकर मेह दिखाई देता है, वहाँ लोग अपने बच्चों की उम्र मेहों से गिनते हैं, फलाने की उम्र पाँच मेह, फलाने की सात मेह, फलाने की बारह मेह...सोच रहा था, हर जगह आदमी की उम्र कुछ ऐसे ही होती है..."

करीम बड़े गौर से संजय के मुँह की ओर देखने लगा तो संजय ने कहा, "अगर सोचें तो हम सब की उम्र इसी हिसाब से है...जैसे, करीम मियाँ! तुम्हारी उम्र एक मुमताज़, मेरी एक मीता, और फत्ते की उम्र एक सलमा..."

करीम ने हुक़्क़े का कश ज़ोर से अन्दर को खींचा, और कहा, "बात तो कुछ ऐसी ही होती है, जिस की रूह जहाँ जुड़ जाये, वह चाहे आशिक़ी की बात हो, चाहे वात्सल्य की..."

संजय ने अपनी कही हुई बात की पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए फत्ते की ओर ध्यान किया, "अच्छा, मियाँ! जिस दिन तुम आवा जलाओगे, मैं तुम्हारे पास बैठकर तुम्हारे प्यालों पर फूल-बूटे बनाऊँगा।"

फत्ते के चेहरे पर एक रौ आ गयी। पर करीम अभी उसी सोच में पड़ा हुआ था, बोला, "यह बात भी ठीक है, पर एक और बात भी तो हो सकती है।"

"क्या ?" संजय ने पूछा।

"जो तुम्हारे जैसे ज़हीन होते हैं, उन की रचनाएँ भी तो उन का इश्क होती हैं। उन्हें तो अपनी उम्र ऐसे गिननी चाहिए—भई फ़लाने की उम्र तीन नॉवेल, फ़लाने की पाँच मूर्तियाँ, फ़लाने की..."

संजय बीच में बोल पड़ा, "फिर तो तुम्हारी चार मूर्तियाँ हो चुकीं, अब पाँचवीं होने वाली हैं..."

"कैसी मूर्तियाँ ? मैं कोई कलाकार हूँ ? मैं तो अदीबों और कलाकारों की बात कर रहा था।"

संजय हँसने लगा, "एक तुम्हारी शीरीं, एक जमीला, एक सलामत, और

एक दुल्ला...माँ-बाप तो सब से बड़े कलाकार होते हैं भई, देखो ! कैसी-कैसी मूर्तियाँ गढ़ते हैं।"

करीम को संजय की बात से दिल्लगी सूझ गयी, बोला, "नहीं, यार ! हमारे मज़हब में बुत-परस्ती नहीं चल सकती।"

"अच्छा," संजय ने करीम के कन्धे पर ज़ोर से हाथ मारा, "और यह बुत-परस्ती की बात तुम्हें अब सूझी है ? मुमताज़ के नाम पर तो नहीं सूझी थी।"

करीम की दलील कच्ची हो गयी, तो बोला, "कोई साधारण आदमी हो तो उस के सामने तो ठहर सकूँ, ख़ुदा के सामने कोई कैसे ठहरे ?" और फत्ते की ओर मुँह करके उस ने कहा, "यह अदीब भी धरती के ख़ुदा होते हैं, क़लम पकड़ी और अपने अफ़साने में जैसे जी में आया, किसी की क़िस्मत लिख दी..."

संजय ने हँसकर करीम की ओर देखा और एक सिगरेट सुलगाई।

सिर्फ़ बातें करते जाना, और संजय के आगे खाने के लिए कुछ न रखना फत्ते को अच्छा नहीं लग रहा था। उस ने कहा, "मियाँ ! तुम्हें परहेज़ न हो तो अगली गली के मोड़ पर पीरबख़्श की बढ़िया दुकान है, रोटी और कबाब ले आऊँ ?"

"परहेज़ ?" संजय ने कहा तो फत्ता ख़ुद ही बोलने लगा, "वैसे तो मैं जानता हूँ, करीम के घर का पका खाना खा लेते हो, फिर भी मैं ने कहा, पूछ लेना चाहिए।"

फत्ता उठकर जाने लगा तो संजय ने उसे रोक दिया, "आज नहीं, मियाँ ! अभी चाय के साथ रोटी और अण्डे खाकर आ रहा हूँ, फिर सही किसी दिन।"

फत्ता बैठ गया, पर उस ने पूछा, "तुम ने मियाँ, शुरू से ही करीम के हाथ का खाने से परहेज़ नहीं किया ?"

"यह तो कभी ख़याल ही नहीं आया।" संजय ने कहा, तो फत्ता बोला, "यह तो मैं ने तुम्हें ही आँखों से देखा है और किसी को न देखा है न सुना है। पर तुम तो अदीब हो, यह बताओ, यह शूद्र और ब्राह्मण वाली बात शुरू से ही चली आ रही है ? भला जब धरती पर आदमजाति बनी होगी, तब किस ने बताया होगा कि फ़लाना आदमी शूद्र है, और फ़लाना ब्राह्मण..."

करीम ने कहा, "यह तुम्हें मैं बताता हूँ, फत्ते ! यह बात शुरू से नहीं थी, बाद में तजुर्बे से बनी। जैसे सूरतें अलग-अलग होती हैं, वैसे ही आदमी की अक़्ल अलग-अलग होती है। जो ज़हीन थे, पढ़ने-लिखने में ध्यान देते थे, वे ब्राह्मण हो गये। जो अच्छी काठी वाले थे, दुश्मन से लड़ सकते थे, वे क्षत्रिय हो गये। जिन का मन वाणिज्य-व्यापार की तरफ़ चलता था...क्यों, मैं ठीक कह रहा हूँ न ?" करीम ने संजय की ओर देखा।

संजय ने हाँ में सिर हिला दिया, कहा, "वे वैश्य हो गये, जो वणज

करते थे।"

और करीम कहने लगा, "जो समझ के बहुत साधारण थे, अपनी समझ से कुछ नहीं कर सकते थे, वे छोटे-मोटे काम करने वाले शूद्र हो गये, ख़िदमतगार। बात तो यहाँ से बनी थी..."

"नहीं मियाँ ! यह बात तो बाद में बनी।" संजय ने एक और सिगरेट सुलगायी, फिर बोला, "असल में एक ही आदमी पहले शूद्र होता है, फिर वैश्य, फिर क्षत्रिय, और फिर ब्राह्मण।"

"क्या मतलब ?" करीम और फत्ता हैरान होकर संजय की ओर देखने लगे।

"यही कि हर आदमी जब वह पैदा होता है शूद्र होता है..." संजय ने कहा तो करीम बोल पड़ा, "ब्राह्मण के घर भी शूद्र पैदा होता है ? यह किस तरह हो सकता है ?"

संजय ने हँसकर करीम की ओर देखा, "हाँ मियाँ ! ब्राह्मण का बच्चा भी शूद्र होता है। असल में बच्चा जब बच्चा होता है, नासमझ होता है, माँ-बाप का हुक्म मानकर चलता है, वह शूद्र होता है। फिर कुछ सीख-पढ़कर जब वह काम-काज में पड़ जाता है, तब वैश्य हो जाता है। फिर जब अपने मुल्क की हिफ़ाज़त के लिए लड़ता है तो क्षत्रिय हो जाता है, और बड़ी उम्र में जब ज़िन्दगी का इल्म उसे आ जाता है, तब वह ब्राह्मण हो जाता है।"

"यार ! बात तो समझ में आती है, पर आज तक कभी सुनी नहीं थी।" करीम ने हुक़्क़े का एक गहरा कश खींचा और हैरान होकर संजय के मुँह की ओर देखने लगा।

"ये चारों हालतें एक ही आदमी की होती हैं, उस की उम्र के मुताबिक़। बात असल में यहाँ से शुरू हुई थी, पर फिर बिगड़ते-बिगड़ते ऐसी बिगड़ गयी कि आज तक सँवरी ही नहीं।"

करीम ने हुक़्क़ा परे कर दिया। दिल में संजय के लिए और भी प्यार आ गया। चारपाई से उठते हुए बोला, "चलो, उठो, घर चलें।"

"पर वहाँ..." संजय ने कहा तो करीम बोल उठा, "वह दाई ज़रा दबा रही थी, मालिश कर रही थी, इस लिए मैं घड़ी-भर के लिए यहीं बैठ गया था। अब तो कब की चली गयी होगी। चलो !"

और संजय उठकर करीम के साथ चल दिया।

एक दिन दीवार से बाँधी हुई लम्बी रस्सी पर करीम धोए हुए कपड़ों को सूखने के लिए डाल रहा था, जब संजय ने अपनी साइकिल दरवाज़े के पास रखी और करीम की ओर देखते हुए हँसी में कह उठा, "मैं ने कहा घर तो करीम का मालूम होता है, पर यह नागा फ़कीर कहाँ से आ गया ?"

करीम की कमर के गिर्द ऊँचा-सा तहमत बँधा हुआ था, पर ऊपर वह नंगा था। हाथ में लिये कपड़े को निचोड़कर रस्सी पर डालते हुए बोला "कभी-कभी, यार ! फ़कीरों के मन में भी मोह पड़ जाता है। मैं ने कहा, आज संजोग से एक छुट्टी आ गयी है, इन फ़कीरज़ादियों के काम में हाथ बँटा दो..."

संजय ख़ुद ही एक कोठरी में से चारपाई को घसीटकर आँगन में डालते हुए और उस पर बैठते हुए बोला, "तुम्हें तो, मियाँ ! अदीब होना चाहिए था।"

"चाहिए तो था," करीम तहमत से अपने गीले हाथ को पोंछते हुए आकर चारपाई की पट्टी पर बैठ गया, और बोला, "यार ! तुम्हें एक बार बताया तो था कि जब जवान होता था, यही जी करता था कि बुल्हेशाह की तरह फ़कीर हो जाऊँ, बस शेर लिखता रहूँ और गाता रहूँ, और कोई ग़मी-ख़ुशी का फ़िक्र न हो...पर आज तुम ने कैसे कहा कि मुझे अदीब होना चाहिए था !"

"इसी लिए कि तुम नये-नये लफ़्ज़ गढ़ते हो, अमीरज़ादियाँ लफ़्ज़ तो सुना था पर फ़कीरज़ादियाँ तुम से ही सुना है। पर आज तुम्हें छुट्टी काहे की हो गयी ? मेरा ख़याल था, तुम घर पर नहीं मिलोगे। मैं तो शीरीं से जितना भी उपन्यास नक़ल हो गया है, वह लेने आया था।" संजय ने कहा, और उस की नज़र उधर मुड़ गयी, जहाँ चौतरी पर बरकत और जमीला बैठकर मैले कपड़ों को धो रही थीं और बीच-बीच में कपड़ों को थापी से पीट भी रही थी।

जमीला हँसने लगी, "अम्माँ ! थापी अलग रख दो। बहुत शोर होता है, अब भाई जान और अब्बा वज़ाहत की बातें करेंगे, कुछ हमें भी तो सुनने दो !"

संजय मुस्करा दिया, पर करीम का ध्यान उधर नहीं था, बोला, "आज कोई हिन्दुओं के पीर का दिन है, उस की छुट्टी है। वैसे मैं सोच रहा था, खाने के

बाद घर से निकलूँगा। एक और काम से भी जाना था, तुम्हारी तरफ़ से भी चक्कर लगाता आऊँगा।"

संजय ने जमीला की ओर देखा, "हमशीरा जान ! वज़ाहत की बातें बाद में सुनना, पहले उठकर चाय पिला दो।"

जमीला चुनरी से गीले हाथ पोंछते हुए उठकर चाय बनाने चली गयी, तो संजय ने करीम से कहा, "यार ! एक बात बनती मालूम होती है। उसी के लिए उपन्यास के जितने पन्ने नक़ल हो गये हैं, वह लेने आया था।"

"कोई मान गया है छापने के लिए ?" करीम ने जल्दी से पूछा।

"अपनी ज़बान में तो नहीं, पर लगता है, अंग्रेज़ी में छप जायेगा। कल शाम को एक आदमी से बात हुई थी, मैं ने मुँहज़बानी उस का प्लाट सुनाया था, वह बोला, 'लाओ, मैं अंग्रेज़ी में तर्जुमा करता हूँ' और यह भी हो सकता है कि शायद किसी बाहर के देश में ही छप जाये।" संजय कह रहा था जब करीम के माथे पर गहरी त्योरी पड़ गयी, उस ने कहा, "फिर लानत है अपनी ज़बान वालों पर..."

संजय मुसकरा उठा, "यार ! वे लानतें तो न जाने ईश्वर ने उसे सारी उम्र देनी हैं, हम क्यों उस के लिए अपना वक़्त गँवायें, बहुत काम पड़ा हुआ है करने लायक़...शीरीं कहाँ है ? देखूँ, कितने पन्ने हो गये हैं।"

करीम उठकर शीरीं के कमरे की ओर गया, और लौटते हुए बोला, "देखो उठकर, नज़ारा देखने लायक़ है। मेरे ख़याल में वह सारी रात यही काम करती रही है। आधी रात के वक़्त भी मैं ने बत्ती जलती हुई देखी थी, सवेरे भी और अब उस के चारों ओर काग़ज़ ही काग़ज़ पड़े हुए हैं, और ख़ुद उन में ऐसे सोई पड़ी है, जैसे काग़ज़ों की क़ब्र में पड़ी हुई हो..."

"काम तो उसे मैं ने सचमुच मुश्किल दे दिया है," संजय हँस-सा पड़ा। "मैं ख़ुद मुश्किल से काग़ज़ों की कब्र से निकला था, अब उसे डाल दिया।"

जमीला दो गिलासों में चाय ले आयी तो संजय ने एक गिलास लेकर फिर जमीला को दे दिया, "जाओ, शीरीं को दे आओ, उस ने शायद सवेरे से अब तक चाय नहीं पी होगी।"

"हाय भाई जान ! आप न आते तो उसे चाय को कौन पूछने वाला था," जमीला ज़ोर से हँस पड़ी, "उसी का दर्द आता है, बिचारी जमीला से एक बार भी नहीं पूछा कि तुम भी चाय पी लो।"

"पगली ! वह रात-भर काम करती रही है—इस ने सोचा कि शायद सवेरे से भूखी ही सो रही है।" पास बैठे करीम ने कहा तो जमीला चाय का गिलास फिर संजय को थमाते हुए बोली, "बेफ़िक्र होकर पी लीजिये, भाई जान ! मैं ने अभी उसे चाय पिलायी थी, सोने से पहले।" और फिर थोड़ी देर रुककर बोली,

"आप ने उसे तो पढ़ा दिया, मुझे क्यों नहीं पढ़ाते ?"

संजय मुस्करा दिया, "मैं ने उसे कब पढ़ाया ? उस ने तो मेरी चोरी से पढ़ लिया।"

जमीला कुछ कहने जा रही थी जब बरकत ने आवाज़ दी, "अरी ! बड़ियाँ डालकर चने की दाल धर दे। और ये दो कपड़े रह गये हैं, मैं पानी में निकालकर आती हूँ..."

जमीला चली गयी तो करीम ने चाय का घूँट भरते हुए कहा, "मियाँ ! तुम ने उस दिन जो बात सुनायी थी न, मैं तब से उसे ही सोचे जा रहा हूँ।"

"कौन-सी ?"

"वही शूद्र और ब्राह्मण वाली कि आदमी ख़ुद ही चारों जात होता है।"

"हाँ, मियाँ ! बात तो किसी ने बहुत सच कही थी।"

"जिसे इल्म आ गया, वही ब्राह्मण हो गया..."

"हाँ, जिसे आप आलिम फ़ाज़िल कहते हैं।"

'पर यार ! वे भी तो होते हैं जो चाहे सौ बरस जीते रहें, इल्म का नाम इल (चील) जितना जानते हैं, फिर वे तो सारी उम्र शूद्र रहे न ?"

"असल में फ़र्क़ यहीं से पड़ा था, कई सारी उम्र शूद्र ही रहते थे। कई वैश्य बने, फिर सारी उम्र वैश्य ही बने रहे। ज़रूरी नहीं होता कि उम्र से इल्म ज़रूर आ जाता हो।"

"एक हफ़ीज़ साहब थे, बहुत मशहूर थे..."

"वही, जिन के इन्तकाल की ख़बर हाल में आयी थी ?"

"वही। ख़ुदा उन की रूह को बख़्शे, जितना अर्सा जिये, सरकारों के ढोल पीटते रहे। सरकारों को उन्हें ख़िलअतें तो फिर देनी ही थीं, बहुत दीं।"

"हाँ, मैं ने अख़बार में पढ़ा था..."

"पर सच पूछें तो ख़ुदा ने पशु को आदमी की जोन में डाला हुआ था।"

"तुम उसे जानते थे ?"

"नहीं, यार ! मुझे यह शरफ़ हासिल नहीं हुआ था। मैं ने तो सब कुछ उन्हीं की ज़बानी सुना जो अब आगे होकर ज़ोर-ज़ोर से उन का मातम कर रहे हैं।"

संजय हँस-सा पड़ा, "सो, मातम भी कर रहे हैं और बातें भी उड़ा रहे हैं।"

"यही तो दुनियादारी होती है, और मियाँ ! तुम क्या समझते हो कि दुनियादारी क्या होती है ? परसों, अल्लाह की मार, मैं भी उन की सोहबत में फँस गया।"

"वह कैसे ?"

"मुझ से तो उन्हें सिर्फ़ इतना काम था कि उन्हें कोई अच्छा कातिब नहीं मिल रहा था। तुम जानते हो कि उर्दू का काम अब इतना कम हो गया है कि

बाद घर से निकलूँगा। एक और काम से भी जाना था, तुम्हारी तरफ़ से भी चक्कर लगाता आऊँगा।"

संजय ने जमीला की ओर देखा, "हमशीरा जान ! वज़ाहत की बातें बाद में सुनना, पहले उठकर चाय पिला दो।"

जमीला चुनरी से गीले हाथ पोंछते हुए उठकर चाय बनाने चली गयी, तो संजय ने करीम से कहा, "यार ! एक बात बनती मालूम होती है। उसी के लिए उपन्यास के जितने पन्ने नक़ल हो गये हैं, वह लेने आया था।"

"कोई मान गया है छापने के लिए ?" करीम ने जल्दी से पूछा।

"अपनी ज़बान में तो नहीं, पर लगता है, अंग्रेज़ी में छप जायेगा। कल शाम को एक आदमी से बात हुई थी, मैं ने मुँहज़बानी उस का प्लाट सुनाया था, वह बोला, 'लाओ, मैं अंग्रेज़ी में तर्जुमा करता हूँ' और यह भी हो सकता है कि शायद किसी बाहर के देश में ही छप जाये।" संजय कह रहा था जब करीम के माथे पर गहरी त्योरी पड़ गयी, उस ने कहा, "फिर लानत है अपनी ज़बान वालों पर..."

संजय मुसकरा उठा, "यार ! वे लानतें तो न जाने ईश्वर ने उसे सारी उम्र देनी हैं, हम क्यों उस के लिए अपना वक़्त गँवायें, बहुत काम पड़ा हुआ है करने लायक़...शीरीं कहाँ है ? देखूँ, कितने पन्ने हो गये हैं।"

करीम उठकर शीरीं के कमरे की ओर गया, और लौटते हुए बोला, "देखो उठकर, नज़ारा देखने लायक़ है। मेरे ख़याल में वह सारी रात यही काम करती रही है। आधी रात के वक़्त भी मैं ने बत्ती जलती हुई देखी थी, सवेरे भी और अब उस के चारों ओर काग़ज़ ही काग़ज़ पड़े हुए हैं, और ख़ुद उन में ऐसे सोई पड़ी है, जैसे काग़ज़ों की क़ब्र में पड़ी हुई हो..."

"काम तो उसे मैं ने सचमुच मुश्किल दे दिया है," संजय हँस-सा पड़ा। "मैं ख़ुद मुश्किल से काग़ज़ों की कब्र से निकला था, अब उसे डाल दिया।"

जमीला दो गिलासों में चाय ले आयी तो संजय ने एक गिलास लेकर फिर जमीला को दे दिया, "जाओ, शीरीं को दे आओ, उस ने शायद सवेरे से अब तक चाय नहीं पी होगी।"

"हाय भाई जान ! आप न आते तो उसे चाय को कौन पूछने वाला था," जमीला ज़ोर से हँस पड़ी, "उसी का दर्द आता है, बिचारी जमीला से एक बार भी नहीं पूछा कि तुम भी चाय पी लो।"

"पगली ! वह रात-भर काम करती रही है—इस ने सोचा कि शायद सवेरे से भूखी ही सो रही है।" पास बैठे करीम ने कहा तो जमीला चाय का गिलास फिर संजय को थमाते हुए बोली, "बेफ़िक्र होकर पी लीजिये, भाई जान ! मैं ने अभी उसे चाय पिलायी थी, सोने से पहले।" और फिर थोड़ी देर रुककर बोली,

"आप ने उसे तो पढ़ा दिया, मुझे क्यों नहीं पढ़ाते ?"

संजय मुस्करा दिया, "मैं ने उसे कब पढ़ाया ? उस ने तो मेरी चोरी से पढ़ लिया ।"

जमीला कुछ कहने जा रही थी जब बरकत ने आवाज़ दी, "अरी ! बड़ियाँ डालकर चने की दाल धर दे । और ये दो कपड़े रह गये हैं, मैं पानी में निकाल-कर आती हूँ..."

जमीला चली गयी तो करीम ने चाय का घूँट भरते हुए कहा, "मियाँ ! तुम ने उस दिन जो बात सुनायी थी न, मैं तब से उसे ही सोचे जा रहा हूँ ।"

"कौन-सी ?"

"वही शूद्र और ब्राह्मण वाली कि आदमी ख़ुद ही चारों ज़ात होता है ।"

"हाँ, मियाँ ! बात तो किसी ने बहुत सच कही थी ।"

"जिसे इल्म आ गया, वही ब्राह्मण हो गया..."

"हाँ, जिसे आप आलिम फ़ाज़िल कहते हैं ।"

'पर यार ! वे भी तो होते हैं जो चाहे सौ बरस जीते रहें, इल्म का नाम इल (चील) जितना जानते हैं, फिर वे तो सारी उम्र शूद्र रहे न ?"

"असल में फ़र्क़ यहीं से पड़ा था, कई सारी उम्र शूद्र ही रहते थे। कई वैश्य बने, फिर सारी उम्र वैश्य ही बने रहे। ज़रूरी नहीं होता कि उम्र से इल्म ज़रूर आ जाता हो ।"

"एक हफ़ीज़ साहब थे, बहुत मशहूर थे..."

"वही, जिन के इन्तकाल की ख़बर हाल में आयी थी ?"

"वही । ख़ुदा उन की रूह को बख़्शे, जितना अर्सा जिये, सरकारों के ढोल पीटते रहे। सरकारों को उन्हें ख़िलअतें तो फिर देनी ही थीं, बहुत दीं ।"

"हाँ, मैं ने अख़बार में पढ़ा था..."

"पर सच पूछें तो ख़ुदा ने पशु को आदमी की जोन में डाला हुआ था ।"

"तुम उसे जानते थे ?"

"नहीं, यार ! मुझे यह शरफ़ हासिल नहीं हुआ था । मैं ने तो सब कुछ उन्हीं की ज़बानी सुना जो अब आगे होकर ज़ोर-ज़ोर से उन का मातम कर रहे हैं ।"

संजय हँस-सा पड़ा, "सो, मातम भी कर रहे हैं और बातें भी उड़ा रहे हैं ।"

"यही तो दुनियादारी होती है, और मियाँ ! तुम क्या समझते हो कि दुनिया-दारी क्या होती है ? परसों, अल्लाह की मार, मैं भी उन की सोहबत में फँस गया ।"

"वह कैसे ?"

"मुझ से तो उन्हें सिर्फ़ इतना काम था कि उन्हें कोई अच्छा कातिब नहीं मिल रहा था । तुम जानते हो कि उर्दू का काम अब इतना कम हो गया है कि

कातिब नहीं मिलते। कातिब तो मुसलमान ही होते थे, कुछ पाकिस्तान चले गये, बाक़ियों ने यह पेशा ही छोड़ दिया।"

"फिर आजकल उन्होंने तुम्हें कातिब बनाया हुआ है ?"

"वह तो काम ही अलग होता है, मियाँ ! जैसे कातिब लिखते हैं, एक-एक अक्षर मोती की तरह, वह भला और कोई लिख सकता है ? मुझ से तो कहते थे कि तुम कोई कातिब तलाश कर दो। आज इसी लिए सोचता हूँ कि शहर जाकर पता करूँ। एक पीराँ दित्ता हुआ तो करता था, पर अब बहुत दिनों से देखा नहीं। अल्लाह जाने, जीता भी है या नहीं। मैं ने सोचा, अगर किसी मज़दूर भाई को काम मिलता है तो अच्छी बात है..."

और करीम ने एक ठंडी साँस लेकर कहा, "पर मैं और बात कर रहा था। वहाँ जो नज़ारा देखा, बस देखने लायक़ ही था। वे तो हफ़ीज़ साहब का याद-नामा छापने की बातें कर रहे थे, साथ ही आपस में वह ऐसे चुटकुले सुना रहे थे, कि आदमी कानों पर हाथ रख ले।"

"सारी ज़बानों में, मियाँ, ऐसे ही होता है। कई अख़बार वाले तो सिर्फ़ कफन ही बेचते हैं, जो भी मर गया, उस की तारीफ़ों और तस्वीरों का बंडल छाप दिया।"

"फिर तो, यार ! उस की जूती की तस्वीर भी छाप देते हैं कि वह कौन-सी जूती पहना करता था।"

संजय मुस्करा-सा पड़ा, "हाँ, मियाँ ! इस दुनिया में उन की बात कौन करता है जो ज़िंदगी की राह खोजते हुए पैरों की एड़ियाँ घिसा लेते हैं !"

करीम ने संजय के निकट होकर ज़रा धीमी आवाज़ में कहा, "अब वे लिख-लिखकर न जाने क्या कुफ्र तोलेंगे, पता नहीं, पर जो कुछ उन्होंने लिखना नहीं, आदमी सुने तो जीते-जी मर जाये। जो कुछ लिखेंगे, फिर वह कुफ्र ही हुआ न ! निरा झूठ लिखेंगे, झूठी तारीफ़ें..."

और करीम उस से भी धीमी आवाज़ में बताने लगा, "कहते थे, सगी बेटी-बहन भी उस के कमरे में भेज दो तो उस की इज्जत भी नहीं छोड़ता था। एक बच्ची-सी उस के पास रहने आयी थी। उस का बाप कहीं विलायत में था और लड़की को बड़े स्कूल में भरती होना था। बड़े स्कूलों में होस्टल होते हैं न, वहाँ अभी कमरा नहीं मिला था, दो-चार दिन उस के घर रुक गयी, तो बस मियाँ ! कहते हैं, एक रात उस ने उसे पकड़ लिया। लड़की चीखें ही मारती रह गयी कि 'चाचा ! यह काम मत करो...' "

"तौबाह ! संजय के मुँह से निकला, और उस की आवाज़ उस के माथे की नाड़ी की तरह कस गयी।

करीम ने माथे पर हाथ मारा और कहने लगा, "कहते थे, अंजुमनेइल्म वालों

ने एक बार एक रिसाला निकाला था, इसे मदीर (संपादक) भी बना दिया और एक छापाख़ाना खोलकर सारे काम का मोतबर भी बना दिया। बस जी, कोई एक बरस में इस ने सब कुछ बेचकर जेब में डाल लिया और हिसाब-किताब के सारे काग़ज़ात गुम करवा दिये।"

"और अब उस के कौन-से कारनामों के नम्बर निकालेंगे ?

"लो झूठ को सच बनाने में कोई मोल लगता है ? साथ ही मोल तो बीस गुना पहले ही धरवा लिया है अगलों से।" और करीम बताने लगा, "पहले तो सरकार से पैसा मिलेगा, एक किताब छापने के लिए, और फिर किताब में जो कुछ भी अनाप-शनाप लिखेंगे, सरकार उस की दस हज़ार कापियाँ ख़रीदेगी।... क्या बात है हमारी सरकार की !"

संजय कोई एक मिनट के लिए चुप हो गया, फिर हौले से बोला, "सरकारों की यह फ़ज़ूलख़र्चियाँ होती हैं अंधाधुंध, जिस की वजह से हर साल लोगों का टैक्स बढ़ जाता है।"

"वह तुम ने जो नज़ारा दोज़ख़ का देखा था, भई एक मैदान में वे लोगों का मांस छुरी से काट रहे थे, वह उपन्यास में सब लिखा है कि नहीं ?" करीम ने पूछा तो संजय मुसकरा दिया। "मियाँ ! अगर वह नहीं लिखना था, तो फिर उपन्यास क्यों लिखता !"

"वह तुम ने बड़ा सच्चा नज़ारा देखा, भई, जो लोग बिलकुल बेअकल होंगे, न कोई काम करेंगे, न किसी काम के क़ाबिल होंगे, उन से कोई टैक्स नहीं लिया जायेगा, और..."

"और जो अकल के ज़ोर से रोटी कमायेंगे, और रोटी से उन के जिस्म में ताज़ा लहू चलेगा, वे पचास फ़ीसदी अपना मांस और लहू टैक्स में देंगे..."

"यह सब कुछ लिखा है ?"

"हां। साथ में तुम्हें इस हफ़्ते की बात सुनाऊँ कि अमेरिका में बड़े लोगों ने प्रदर्शन किया कि सरकार अपने ख़र्च कम करे, जिस से लोगों पर टैक्स कम हो। उन्होंने नाम ले-लेकर बताया कि कितने ही आदमी टैक्स देने के फ़िक्र के कारण हार्ट अटैक से मर गये हैं।"

"हूँ..." करीम की आवाज़ में कुछ गरमाइश आ गयी, "फिर तो और मुल्कों में भी तुम्हारे जैसे लोग अपनी आवाज़ उठा रहे हैं..."

"पर मियाँ !" संजय की आवाज़ उसी तरह शांत थी, "सरकारों के सिर्फ़ जीभ होती है, कान नहीं होते हर मुल्क में यही हाल है।"

"तुम्हें और बताऊँ," करीम की आवाज़ थोड़ी-सी तेज़ हो गयी, "किताब का बन्दोबस्त जो हो रहा है, हो रहा है। कल उन्होंने सरकार से अपील की है कि हफ़ीज़ साहब के नाम पर एक डाक टिकट भी जारी किया जाये।"

संजय की हँसी निकल गयी, "क्यों, वह उसे दोज़ख़ में चिट्ठी लिखेंगे ?"

यह शायद संजय और करीम की हँसी की आवाज़ थी, जिस से भीतर कमरे में सोई शीरीं जाग उठी, और उठकर, सिर पर चुनरी ओढ़कर, बाहर आँगन में आ गयी।

संजय ने चारपाई से उठकर शीरीं को सलाम कहा, तो करीम हँस-सा पड़ा, "बेटा ! तुम अभी शूद्र से ब्राह्मण बनती जा रही हो, देखो, संजय साहब तुम्हें सलाम कह रहे हैं।"

"सच, यार ! मैं ने इस की उम्र के मुक़ाबले में इस पर ज्यादा काम डाल दिया है, और काम करने वाले को सलाम तो कहना ही चाहिए।" संजय ने उत्तर दिया, तो करीम शीरीं से बोला, "जिस उपन्यास की तुम नक़ल कर रही हो, वह अंग्रेज़ी में छपने जा रहा है।"

शीरीं ने कहा कुछ नहीं, एक बार संजय की ओर देखा, फिर आँखें नीची कर लीं।

"जाओ, बेटा ! जितने पन्ने तैयार हो गये हैं, इसे दे दो।" करीम ने कहा तो शीरीं फिर कमरे में लौट गयी।

कोई एक मिनट बाद शीरीं ने कमरे की दहलीज़ के पास आकर कहा, "एक बार देख लीजिये, मेरा लिखा हुआ ठीक है ?"

शीरीं को कई दिन हो गये थे नक़ल करते, पर संजय ने पहले पन्ने के सिवा और कोई पन्ना नहीं देखा था। सिर्फ़ पहले दिन उस ने बताया था कि वह हर पन्ने पर कितना हाशिया छोड़ा करे। शीरीं ने वह पन्ना दोबारा लिखकर एक बार दिखा दिया था, फिर उस के बाद आज तक न पूछा था, न दिखाया था।

संजय ने कमरे की ओर जाते हुए सिर्फ़ इतना कहा, "जब नया-नया लिखना सीखा होता है तो हर अक्षर बड़ा साफ़-साफ़ पढ़ा जाता है।" और फिर कमरे में आकर काग़ज़ों को नम्बरवार लगा रही शीरीं के हाथ से कुछ काग़ज़ लेकर देखने लगा।

"एक सौ बीस पन्ने कर भी लिये ?" संजय ने बाक़ी काग़ज़ उठाये और कुछ हैरान-सा शीरीं की ओर देखने लगा।

"पहले हाथ नहीं चलता था, अब और जल्दी हो जायेंगे।" शीरीं ने कहा, और नक़ल किये हुए काग़ज़ों के साथ असल के काग़ज़ भी दे दिये।

शुक्रिया या मेहरबानी जैसी कोई बात कहने के लिए संजय ने शीरीं की ओर देखा, पर शीरीं की मेहनत के मुक़ाबले में उसे ये सारे शब्द छोटे लगे, तो उस ने कहा, "सब से पहले तुम ने ही इस उपन्यास को पढ़ा है, इस लिए सब से पहले तुम ही बताओ, यह कैसा लगा ?"

शीरीं की मोटी काली आँखें जैसे पल भर के लिए एकटक संजय के मुँह की

ओर देखने लगीं। संजय को अपने साधारण-से प्रश्न का उत्तर साधारण नहीं लगा।

फिर यह भी महसूस हुआ, जैसे शीरीं की आँखों में कुछ भर आया है। क्या? पता नहीं।

भ्रम-सा हुआ, शायद आँसुओं जैसा कुछ है। पर संजय ने एक नज़र फिर देखा। आँखें सूखी थीं, सिर्फ़ पहले के मुक़ाबले कुछ ज़्यादा फैली-फैली थीं। और उसे लगा, आँखों में सिर्फ़ कुछ शिकवा-सा है।...

शिकवा? किस बात का? संजय अपने ही ख़याल की तशरीह नहीं कर सका, और वह काग़ज़ों को दोनों हाथों में समेटकर बाहर आँगन में आ गया।

करीम के घर की कोठरियों जैसे सारे कमरे बस दो-दो चारपाइयों जितने थे, वह भी साथ-साथ एक पंक्ति में बने हुए। उन के दरवाज़े भी आँगन की ओर खुलते थे, और एक-एक खिड़की भी आँगन की ओर ही, जिस के कारण गर्मियों के दिनों में उन में निरी उमस रहती थी। बरसात के दिनों में या उमस होती या इन में बौछार सीधी चली आती, और जाड़े के दिनों में उनमें ठंड से कहीं बचाव नहीं था। पर उस घर का सब को यह सुख बहुत था कि एक तो उस का आँगन बहुत खुला हुआ था और दूसरे कोठरियों की गिनती बहुत थी, जिस की वजह से बरकत का रहना-बैठना अलग था, नेमत का अलग; दोनों लड़कियों को अलग एक कोठरी मिली हुई थी, और करीम का अपना अलग रहना-बसना था। सलामत अभी करीम की कोठरी में ही रात को आकर सो जाता था। उसे अकेले अलग कोठरी में सोते रात को डर लगता था। पर एक अलग कोठरी उस के नाम की ज़रूर थी। छोटा दुल्ला अभी माँ के पास ही सोता था।

एक रात शीरीं के कमरे के सिवा किसी के कमरे की बत्ती नहीं जल रही थी जब करीम ने करवट बदलते हुए सलामत की चारपाई की ओर से खड़ाक की

आवाज़ सुनी। नींद-सी में भी आवाज़ दी "कौन है, सलामत ?"

"हाँ, अब्बा ! पानी पीने के लिए उठा था।" सलामत की आवाज़ आयी तो करीम फिर गहरी नींद में सो गया।

सलामत ने अँधेरे में अपनी जेब को टटोला, फिर दबे पाँव शीरीं के कमरे के पास जाकर अन्दर झाँका।

शीरीं अपने ध्यान में मग्न बत्ती की लौ में उपन्यास के बाक़ी रहते पन्ने नक़ल कर रही थी। सलामत दहलीज़ के पास ही था जब उस ने जमीला की आवाज़ सुनी, "मुझे तो अब इस कमरे में नींद नहीं आती। न तुम बत्ती बुझाती हो, न सोया जाता है। कल से मैं सलामत का कमरा छीन लूँगी, अकेली सोया करूँगी।"

शीरीं ने कागज़ों से ध्यान हटाया, शायद जमीला से कुछ कहने ही लगी थी जब दरवाज़े के पास सलामत की झलक दिखाई दी, बोली, "कौन है ? सलामत ? तुम यहाँ क्या कर रहे हो ?"

"कुछ नहीं, पानी पीने उठा था..."

"जाओ, फिर सो जाओ जाकर।" शीरीं ने कहा, और बाक़ी पन्नों को देखने लगी, शायद गिनने लगी।

शीरीं फिर अपने ध्यान में मग्न हो गयी और पूरे दो पन्ने उस ने और लिख लिये जब उसे आँगन में से एक खड़का-सा सुनाई दिया।

"कौन है बाहर ?" शीरीं ने कुछ चौंककर दरवाज़े की ओर देखा लेकिन बाहर अँधेरा था, कुछ नहीं दिखाई दिया। वह अपने हाथ के काग़ज़ को तकिये के पास रखकर उठने ही लगी थी जब सलामत दहलीज़ में खड़ा हुआ भीतर झाँकता हुआ दिखाई दिया।

"तुम क्या कर रहे हो यहाँ ?" शीरीं ने सलामत की ओर देखकर कुछ ग़ुस्से से पूछा तो सलामत ने होंठों पर उँगली रखकर उसे चुप रहने के लिए इशारा किया, फिर हाथ से इशारा करके जैसे उसे दरवाज़े के पास बुलाया।

शीरीं उठकर दरवाज़े की ओर गयी तो सलामत ने अंदर को झाँकते हुए धीरे से पूछा, "जमीला सो गई ?"

शीरीं ने अंदर की ओर देखा, जमीला की चारपाई की ओर, और कहा, "क्यों ? वह तो सो रही है।"

सलामत ने जेब में से एक काग़ज़ निकालकर शीरीं को दिया, कहा, "जमाल ने कहा था, यह शीरीं को उस वक़्त देना जब वह अकेली हो।"

"कौन जमाल ?" शीरीं ने एक बार हाथ में लिये हुए कागज़ की ओर देखा, एक बार सलामत के मुँह की ओर।

"बराबर की गली वाला, फेरीवाला जमाल," सलामत कह रहा था, जब

करीम की आवाज़ आयी, "कौन है बाहर आँगन में ?"

"मैं हूँ अब्बा ! पानी पीने आया था...," सलामत ने कहा और जल्दी से अब्बा के कमरे को लौट गया।

"तुम्हें आधी रात को यह कैसी प्यास लग गयी है ?" करीम की उनींदी-सी आवाज़ आयी और फिर कमरे की तरफ़ चुप छा गयी।

शीरीं का वह हाथ काँप गया जिस में सलामत एक मैला-सा काग़ज़ थमा गया था। काग़ज़ में पता नहीं क्या लिखा हुआ था। पर एक गंध-सी शीरीं को ऐसे आयी, जैसे अचानक एक बड़ी मैली और कीचड़ वाली जगह पर उस का पैर पड़ गया हो।

शीरीं का हाथ एक किचकिचाहट-सी खाकर एक बार हवा में ऐसे हिला, जैसे सलामत अभी सामने हो और उस ने ज़ोर से एक थप्पड़ सलामत के मुँह पर मारा हो।

जी किया, ज़ोर से आवाज़ दे, 'अब्बा ! यह देखो अपने बेटे की करतूत !'

एक डर-सा मन में आया, सब सोये हुए जाग पड़ेंगे, और शायद सोयी हुई गली भी...

वह काँपती हुई-सी कमरे में आकर चारपाई की पट्टी पर बैठ गयी।

वह मुड़ा-तुड़ा-सा काग़ज़ अभी भी उस के हाथ में था, शीरीं को हाथ से घिन-सी आयी और उस ने काग़ज़ परे स्टूल पर रख दिया।

स्टूल पर उपन्यास के असल वाले पन्ने भी थे और नक़ल वाले भी, उन पन्नों पर पड़ा हुआ वह काग़ज़ शीरीं को ऐसे लगा, जैसे उस दोज़ख़ में से किसीने यह ख़त लिखकर उसे भेजा हो जिसका हाल इस समय वह नक़ल कर रही थी।

शीरीं ने उस ख़त को पढ़ा नहीं, पर ऐसे लगा, जैसे उसे देखकर ही उस का सारा शरीर मर गया हो।

फेरीवाले जमाल को वह जानती नहीं थी, पर इतना सुना हुआ था कि वह बराबर के मोहल्ले का गुंडा कहलाता है।

मन में आया, काग़ज़ को फाड़कर वह पुर्ज़ा-पुर्ज़ा कर डाले और बाहर आँगन में जाकर दीवार के बाहर फेंक दे, पर साथ ही मन में फ़ैसला-सा आया कि यह सवेरे अब्बा को जरूर दिखाऊँगी, नहीं तो न जाने कल-परसों सलामत ऐसा ही कोई कागज़ उसे फिर दे जायेगा।

इस के बाद शीरीं से उपन्यास नक़ल नहीं किया जा सका। वह तकिये पर सिर रखकर ऐसे लेट गयी, जैसे हाथों की सारी हरकत मर गयी हो।

न जाने किस समय उसे नींद आयी, किस समय दिन चढ़ा, किस समय घर के सारे सोये हुए खड़के जागे, जब उस की आँखें खुलीं, जमीला उसे चाय का गिलास थमा रही थी।

शीरीं ने घबराकर जमीला की ओर देखा, फिर स्टूल की ओर, और बोली, "ज़रा अब्बा को बुलाना।"

करीम कमरे में आया तो शीरीं ने स्टूल की ओर हाथ से इशारा किया।

"सारा ख़त्म हो गया ?" करीम ने तहियाये हुए काग़ज़ों की ओर देखा, और शीरीं के सिर पर हाथ फेरा, "रात तुम शायद सारी रात ही लिखती रहीं ?"

करीम ने चारपाई के पावे के पास रखा हुआ चाय का गिलास देखा जिस को जमीला अभी वहाँ रख गयी थी तो गिलास उठाकर शीरीं को देते हुए बोला, "लो गरम-गरम पीकर और थोड़ी देर सो जाओ। आज इतवार है, संजय ज़रूर आयेगा, बहुत ख़ुश होगा भई..."

करीम कह रहा था जब शीरीं ने टूटी हुई-सी आवाज़ में कहा, "नहीं, अब्बा ! अभी तीन पन्ने और बाक़ी हैं।" और उस ने उस मुड़े-तुड़े काग़ज़ की ओर इशारा किया जो उन पन्नों में अटकाकर रखा हुआ था।

करीम ने काग़ज़ उठा लिया और उस की तह खोलते हुए पूछा, "यह क्या है ?"

"मैं ने नहीं पढ़ा..." शीरीं ने कहा तो करीम काग़ज़ की टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियों को देखते हुए अंदाज़े से पढ़ने लगा, "ज़ालिम लोग, शीरीं ! तेरे शहर के...अपने भीगे हुए रुख़सार मेरे जलते हुए होंठों पर रख दो..."

करीम के हाथ पर जैसे कोई डंक मार गया हो, वह जल्दी से चारपाई की पट्टी पर बैठते हुए पूछ उठा, "यह तुम्हें किस ने दिया है ?"

"सलामत ने।"

"सलामत ने ?" करीम ने हैरानी से कहा और फिर उस काग़ज़ की ओर देखने लगा जिस के एक कोने पर लिखा हुआ था, "तेरा दीवाना जमाल।"

करीम कुछ देर चुप का चुप रह गया, फिर बोला, "यह सलामत लाया था ? कब ?"

"रात को..."

करीम को रात की बात याद आयी, जब उस ने दो बार खड़का सुनकर आवाज़ दी थी और सलामत ने कहा था, वह पानी पीने के लिए उठा है।

करीम ने चारपाई से उठते हुए पूछा, "पहले भी कभी सलामत ने उस का कोई ख़त लाकर दिया था ?"

"नहीं..." शीरीं ने कहा तो करीम उस काग़ज़ को मुट्ठी में दबाकर कमरे से बाहर चला गया।

जमीला आँगन में नलके पर पानी भर रही थी। करीम ने उस की ओर देखा, फिर बरकत की ओर जो रसोई में आटा गूँध रही थी, फिर नेमत की कोठरी के

भिड़े हुए दरवाज़े की ओर और फिर सलामत की ओर, जिसे जमीला भरी हुई बाल्टी उठाकर अंदर रखने के लिए आवाज़ें दे रही थी।

करीम ने नलके की ओर जा रहे सलामत की बाँह को पकड़ा और उसे खींचता हुआ-सा अपने कमरे में ले जाकर, कमरे का दरवाज़ा भेड़ लिया।

भेड़े हुए दरवाज़े के अंदर से जब सलामत के चीख़ने की आवाज़ आयी तो बरकत ने आटे से सने हुए हाथ लिये बाहर आकर जमीला से पूछा, "अभी तो वह तेरे पास खड़ा हुआ था, क्या बात हो गयी ?"

"पता नहीं..." जमीला ने कहा, और बाल्टी उठाने को हुई—नलके की टूटी को बंद करके टूटी पर ही हाथ रखे अब्बा के कमरे की ओर देखने लगी।

सलामत की चीख़ें और ऊँची हो गयीं, साथ ही दरवाज़े की ओर से ऐसी आवाज़ सुनाई दी, जैसे उस का सिर दरवाज़े से टकराया हो।

नेमत भी अपनी चारपाई से उठकर दरवाज़े की चौखट पर आकर खड़ी हो गयी, तो बरकत करीम के दरवाज़े की ओर बढ़ते हुए बोली, "अरे अब बस करो, मार ही डालोगे लड़के को ?"

बरकत ने आटे से सने हाथ से ही ज़ोर से दरवाज़े पर खटका किया, पर करीम ने भीतर से न कोई जवाब दिया न दरवाज़ा खोला।

सलामत की चीख़ें जब लम्बे हुंकारे बन गयीं तो करीम ने दरवाज़ा खोल दिया। बताया कुछ नहीं, सिर्फ़ चिल्लाकर कहा, "तुम सब मेरे सिर पर क्यों खड़ी हुई हो ? जाओ अपना काम करो।"

नेमत ने एक बार माथे पर त्योरी डालकर करीम की ओर देखा, फिर चुप-चाप अपना दरवाज़ा बंद करके चारपाई पर लेट गयी।

जमीला पानी की बाल्टी उठाकर भीतर रसोई में ले गयी और फिर बाहर नहीं आयी।

सिर्फ़ बरकत ने अन्दाज़ा-सा लगाया कि शीरीं इतनी आवाज़ें सुनकर भी कमरे से बाहर नहीं निकली, उसे ज़रूर मालूम होगा कि क्या बात हुई है। इस-लिए वह शीरीं के पास गयी और हौले से पूछा, "तुझे मालूम है, क्या बात है ?"

शीरीं ने न जवाब दिया, न माँ की ओर देखा। सिर्फ़ बरकत ने देखा कि शीरीं तकिये पर सिर रखे चुपचाप रो रही है।

बरकत चारपाई की पट्टी पर बैठकर शीरीं से बार-बार पूछने लगी तो शीरीं ने हौले से कहा, "तुम ख़ुद ही ठहरकर अब्बा से पूछ लेना।"

उस के बाद किसी की हिम्मत न हुई कि करीम से कुछ पूछे। सिर्फ़ जब नेमत ने खाने के वक़्त खाना खाने से इन्कार कर दिया तो करीम ने खाने की थाली ख़ुद उठा ली और नेमत के कमरे में जाकर, खाना उस के आगे रखते हुए कहा, "आज तो तुम्हें ख़ुशी से दुगनी रोटी खानी चाहिए, कल तुम्हारे बेटे ने पाँच

रुपये कमाये हैं ।"

करीम की आवाज़ के तन्ज़ को नेमत ने पहचान लिया, इस लिए कुछ नहीं कहा। करीम ने ही कहा, "यह तो पूछ लो, काहे की कमाई की है ?" और ख़ुद ही जवाब दिया, "बहन को बेचने का सौदा करके आया है।"

फिर करीम ने पूरी बात बतायी, तो नेमत ने कहा, "पर मुझे क्यों ताने दे रहे हो ? वह बेटा मैं ने अकेले पैदा किया है ? जैसा मेरा है, वैसा तुम्हारा है..."

करीम कुछ ठंडा पड़ गया, तो बोला, "देखो ! सोने को भी गलाना पड़ता है, और लोहे को भी तपाना पड़ता है। उसे बुरी सोहबत से अगर अभी नहीं बचा-येंगे तो फिर नहीं बचा सकेंगे।" और करीम नेमत के पास से उठता हुआ बोला, "जमीला से कहना, रोटी के दो टुकड़े उसे खिला आये ।"

शीरीं जानती थी, आज इतवार है, रात को बाक़ी रहे तीन पन्ने वह बड़े ध्यान से पूरे कर रही थी। आज के इतवार का सवेरा उस के लिए एक बहुत नये सवेरे की तरह चढ़ना था, पर उसे लगा, उस के सारे उत्साह को आज किसी की नज़र लग गयी है। जागी, तो कितनी ही चीखें इकट्ठी होकर माथे में पड़ गयीं। सलामत की चीखें भी उस के गले में जाकर अड़ गयी थीं।

न जाने कितनी देर तक आँखों में पानी आता रहा, हाथ में फिर से काग़ज़ भी लिये, पर सारे अक्षर पानी में डूबते-उतराते-से दिखने लगे।

पर इतवार शब्द का एक जादू था, ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता गया, उस के हाथ में एक हरकत-सी आती गयी। आधे होश में उठकर उस ने बाक़ी पन्ने नक़ल कर लिये और फिर तकिये पर सिर रखकर ऐसे लेट गयी, जैसे अचानक आँखों के आगे दिन ढलने के बाद का अँधेरा आ गया हो।

जमीला ने ज़बर्दस्ती उसे थोड़ा खाना खिलाया। करीम ने दो बार आकर माथे को हथेली से टोहा, शरीर थोड़ा-सा गर्म लगा, पर ज्यादा नहीं।

शीरीं ने फिर एक बार उठकर सारे काग़ज़ इकट्ठे किये, असल के भी, नक़ल के भी, और नम्बरवार लगाकर फ़ाइल में रख दिये। फ़ाइल अब्बा को थमा दी और और ख़ुद खेस जैसी एक चादर ओढ़कर ऐसे सो गयी, जैसे आज दिन में उठने की और उस में हिम्मत न रह गयी हो।

संजय आया, लेकिन बहुत देर से, शाम ढल चली थी। करीम को आज दिन भर शायद संजय के साथ की पहले से ज़्यादा ज़रूरत थी, इस लिए उसे देखकर दिन-भर की उस की ग़ैर-हाज़री का ग़ुस्सा उतारते हुए बोला, "आदमी दोस्ती करे तो चाँद-सूरज से करे, जो और कुछ नहीं तो समय से आ तो जाते हैं, आद-मियों का क्या भरोसा होता है !"

संजय साइकिल को एक ओर टिकाते हुए करीम की चारपाई की पट्टी पर बैठ गया और बोला, "यार ! चाँद तो अमावस को छुट्टी कर जाता है, पर तुम्हारे

इस दोस्त ने कभी छुट्टी की है ?"

करीम हँस-सा पड़ा, "हाँ, हाँ, अब तुम कहोगे, सूरज भी तो बादलों के आगे मजबूर होता है।"

"वह तो होता है; पर आदमी वह जो ग़मियों और ख़ुशियों का मोहताज न हो..." संजय कह रहा था जब करीम ने बात बीच में काटकर कहा, "अच्छा, फ़िलासफ़र साहब ! दिन-भर कहाँ रहे ?"

"यार ! अचानक पता लगा कि एक जगह चेक फ़िल्म की स्क्रीनिंग हो रही है। बस, रहा न गया, वहाँ चला गया। पहले से मालूम हो जाता तो तुम्हें साथ लेकर जाता..."

"बढ़िया फ़िल्म थी ?"

"फ़िल्म भी बढ़िया थी, पर उस के साथ एक छोटी फ़िल्म थी वहाँ के एक लोकनृत्य की, उस का नाम था 'टोपी-नृत्य..."

"फिर तो ज़बान की मुश्किल न पड़ती, मेरी समझ में भी आ जाती..."

"मैं ने तुम्हें बहुत याद किया, अकेले देखते हुए हँसता रहा था। कमाल यह था कि देखकर हँसी आती थी, और सोचकर रोना आता था।"

"अच्छा !"

"किसी ने अजीब नाच बनाया है। जब बनाया होगा, बहुत गहरी बात सोची होगी। नाच यह था कि दस-बारह आदमी, जितने भी थे, नाच रहे थे, सब के सिर पर बड़ी-बड़ी-सी टोपियाँ थीं, पर किसी को पता नहीं चल रहा था कि उस की अपनी टोपी कहाँ है ?"

"वह कैसे, भई ?"

"वह ऐसे कि उन में से किसी के भी पास अपनी टोपी नहीं है। एक आदमी जल्दी से अपने दाहिने हाथ पर खड़े हुए आदमी की टोपी उतारकर अपने सिर पर पहन लेता है, और जिस की टोपी उतर जाती है, वह अपने दाहिने हाथ पर खड़े हुए आदमी की टोपी उतारकर अपने सिर पर पहन लेता है, और फिर वह..."

"मैं समझ गया, ऐसे ही सब के सब अपने पास के आदमी की टोपी उतारते जाते हैं, और बात फिर शुरू से शुरू हो जाती है..." करीम ने कहा और हँसने लगा।

"और इस तरह सब ही दूसरों के सिरों से टोपियाँ उतारने में लगे हुए हैं," संजय ने बताया, और आगे कहा, "यार ! अगर सोचें तो बात कितनी ठीक है।"

करीम जल्दी से बोला, "मतलब है, भई सारे मुल्कों में सियासी तमाशा ऐसे ही होता है। पर शाबाश, यह फ़िल्म किस ने बनायी ?"

"चेकोस्लोवाकिया ने..."

"समझ गया, मियाँ ! उन का भी कोई संजय होगा, जिस ने यह बात सोच ली।"

"नहीं, मियाँ ! तेरे संजय से बहुत ज्यादा सयाने लोग पड़े हुए हैं।"

"होंगे, पर वह जो तुम ने दोज़ख़ का नज़ारा लिखा है, वह बात कोई छोटी तो नहीं है।"

संजय मुस्करा भी पड़ा, पर उस का चेहरा ज़रा कुछ उदास-सा भी हो गया, बोला, "लिख तो लिया, पर अब छापेगा कोई नहीं।

"तुम कह रहे थे, इसे कोई अंग्रेज़ी में..."

"वह तो शायद हो जायेगा, छप भी जायेगा, पर यार ! जिस ज़बान में लिखा हो, उस में न छपे तो तसल्ली नहीं होती। बात यह है कि तर्जुमे में वह बात नहीं आती जो अपनी ज़बान में आती है। मैं ने तर्जुमे के कुछ पन्ने पढ़े हैं..." संजय चुप-सा हो गया तो करीम बोला, "हाँ, सच ! शीरीं ने अपना काम निबटा दिया।"

संजय ने एक बार शीरीं के कमरे की ओर देखा, फिर करीम की ओर देखते हुए बोला, "यार ! यह लड़की कमाल है...चुपचाप एक नयी ज़बान सीख ली, और फिर इतनी मेहनत..."

"आज कुछ जी ठीक नहीं है। देखूँ, जाग रही है तो ?..." करीम उठकर शीरीं के कमरे की ओर गया तो संजय भी उस के साथ कमरे में चला गया।

शीरीं सोयी हुई नहीं थी, पर जैसे जाग भी नहीं रही थी। करीम अलमारी में से फाइल निकालने लगा तो संजय ने शीरीं के पास होकर उस के माथे पर हाथ रखा, पूछा, "बुख़ार मालूम होता है ?"

शीरीं ने नज़र भरकर संजय की ओर देखा, फिर आँखें बन्द कर लीं, कहा, "नहीं।"

"तुम्हें मालूम है, तुम ने मेरी सारी मेहनत बचा दी तो मैं ने ख़ाली होने की वजह से इन दिनों में एक छोटी-सी कहानी लिख ली।"

शीरीं ने फिर आँखें खोलीं, एक नज़र देखा और कहा, "दीजिये, मैं उस की नक़ल कर दूँ।"

"अभी थकी नहीं ?" संजय ज़ोर से हँस पड़ा, "मेरा तो ख़याल था, तुम कहती होंगी कि उपन्यास की मुसीबत मुश्किल से ख़त्म की है..."

और संजय को लगा, उस की हँसी उस के गले में अड़ गयी है। शीरीं एक-टक उस की ओर देख रही थी, उस दिन की तरह जिस दिन संजय को महसूस हुआ था कि उस क़ी आँखों में शिकवे की एक लकीर-सी पड़ी हुई है...

संजय कमरे के बाहर चला गया, पर पैर कुछ स्वाभाविक नहीं पड़ रहे थे, ऐसे, जैसे चौखट के पास भी लड़खड़ा गये हों, बाहर आँगन में आकर भी...।

शारी। फिर सो नहीं सका। थककर चारपाई से उठने लगा तो उठा नहीं गया। सारे शरीर से जैसे जान निकल गयी हो—पर उसे एक अजीब-सा एहसास हुआ कि माथे पर जहाँ अभी संजय ने हाथ रखा था, वह जगह बहुत ज़िंदा-सी हो गयी है।
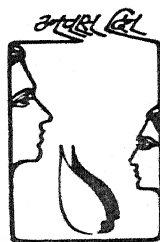
बादल छाये हुए थे। दिन-भर सूरज की लौ बादलों से लड़ती रही और उस की तरह नेमत की जान भी पीड़ा से लड़ती रही।

शाम के समय जब सारे घरों में बत्तियाँ टिमटिमा उठीं, करीम के घर में एक नयी किरण की तरह जन्म लेने वाले बालक का हुंकार आने लगा।

'अल्लाह ! तेरी क़ुदरत !' आँगन में बैठे हुए करीम के मन में नेमत के दर्द कई बार यह शब्द बन गये थे और अब जब दाई ने बालक को नहला-धुलाकर एक मोटे कपड़े में लपेटकर करीम की गोदी में दिया तो करीम के मुँह से धीरे से निकला, "तुम आ गयीं, ताज़ी !"

दाई के मन में अफ़सोस-सा था कि लड़के की बजाय लड़की पैदा हो गयी थी, पर करीम को सचमुच लड़की की ही उम्मीद थी और उस ने जैसे लड़की को नहीं, अपनी उम्मीद को बाँहों में लेकर उस के मुँह की ओर देखा।

बत्ती की रोशनी में करीम ने लड़की का मुँह देख लिया तो उस के पैर अपने आप ही कमरे की दहलीज़ की ओर हो गये। बाहर सामने सिर्फ़ आसमान का सलेटी अँधेरा था। पर करीम की आँखें आसमान को ऐसे टटोलती रहीं, जैसे वहाँ भी उसे एक चेहरा देखना हो।

उस के मन में मुमताज़ का चेहरा था, पर वह बाहर अँधेरे में कहीं भी उघड़ कर नहीं दीख रहा था।

आसमान ख़ाली था।

करीम की आँखें हारी-सी फिर नीचे को होकर गोद में पड़ी हुई बच्ची के मुँह

की ओर देखने लगीं।

कमरे की रोशनी करीम की पीठ की ओर थी इस लिए गोद की तरफ़ अँधे था। बच्ची का मुँह दिखाई नहीं दे रहा था। पर वह गोदी में थी, अँधेरे क एक टुकड़ा-सी। वह कल्पना नहीं थी, एक अस्तित्व थी, ज़िंदा, हिलता हुआ औ साँस लेता हुआ अस्तित्व।

और फिर जब कुछ क्षण बाद करीम की आँखें ऊपर को उठीं सामने आस मान के अँधेरे में से चाँद की छोटी-सी फाँक नीचे धरती की ओर झाँक रही थी

अँधेरा अब ख़ाली नहीं था।

करीम के हाथ बच्ची को लिये ऊपर को उठ गये, एक दुआ माँगते हुए।

दुआ के कोई शब्द करीम के होंठों पर नहीं थे, पर होंठों पर एक हलका सा कम्पन था, शब्दों की छोटी-छोटी लकीरों की तरह।

संजय के सिवा करीम के मन का यह भेद किसी को मालूम नहीं था, न अ उस ने किसी को बताया, पर करीम के मुँह से, बच्ची को देखते ही एकाएक उस का नाम ताज़ी निकल गया तो घर में सब ने उस का यही नाम मान लिया। इस नाम को किसी ने भी मुमताज़ से जोड़कर नहीं देखा था, इस लिए बरकत नेमत को गुड़ का सीरा पिलाते हुए बोली, "सुनो, लड़की का नाम ताजी रखा गया है!"

नेमत अब पीड़ा से छूटकर हलकी हो गयी थी, बोली, "अच्छा है, बड़ी होगी तो इसे सिरताज बुलाया करेंगे।"

अब यूँ तो फागुन उतर रहा था, पर अभी शाम ढले की ठिठुरन नहीं गयी थी, इस लिए करीम ने लड़की को नेमत के गर्म बिस्तर में डाल दिया।

नन्हे दुल्ले ने ताज़ी को देखने की ज़िद पकड़ी हुई थी, इस लिए बरकत ने उसे कोई मिनट-भर के लिए कमरे में लाकर बच्ची दिखा दी तो दुल्ला अपनी छोटी-सी उँगली से उस के मुँह को छूते हुए बोला, "ताजी माजी आ गयी...

और नन्ही ताज़ी सोते-सोते मुसकरा पड़ी, जैसे उस ने कई अर्थ वाले अपने नाम को सुन लिया हो, और धीरे से सब पर हँस पड़ी हो।

संजय का उपन्यास तर्जुमा होकर एक साप्ताहिक में धारावाहिक छपने लगा और तीन महीने में क़िस्तों के ख़त्म होते ही किताबी सूरत में छपने का भी बन्दोबस्त था। पर अपनी ज़बान में हालत शायद पिछले बरसों से भी ज़्यादा बिगड़ गयी थी। संजय ने जिस प्रकाशक से भी पूछा, उस ने उपन्यास के साथ एक हज़ार रुपये की माँग की। यूँ तो कहने को कहा जाता था कि उपन्यास बिकने के बाद यह रुपये हर लेखक को लौटा दिये जाते हैं, पर उस ने आज तक यह रुपये किसी को लौटाते हुए नहीं सुने थे, इस लिए संजय ने अपना उपन्यास किसी को नहीं दिया।

मेज़ की दराज में रखे हुए उपन्यास के सारे पन्ने हौले-हौले पीड़ा की एक तह की तरह जम गये।

संजय अब अपनी मेज़ की इस दराज को नहीं खोलता था। लगता था, काग़ज़ों को हाथ लगाया तो उन के अक्षर ख़ून की बूँदों की तरह रिस आयेंगे।

उपन्यास का तर्जुमा जब से क़िस्तवार छपना शुरू हुआ था, संजय को एक-एक करके तीन और ज़बान वालों के ख़त आ चुके थे जो उस से अपनी-अपनी ज़बान में तर्जुमा करने का हक़ माँग रहे थे और संजय को जैसे एक ही साँस में ठंडी हवा का झोंका भी आ रहा था, गर्म जलती हुई हवा का भी।

एक दिन करीम आया तो संजय इसी ठंडी-गर्म साँस के साथ बोला, "मियाँ! तुम ने दुनिया की हज़ारों गालियाँ सुनी होंगी, पर तुम्हें एक बड़ी अजीब गाली सुनाता हूँ जो तुम ने कभी नहीं सुनी होगी।"

करीम की समझ में कुछ नहीं आया, तो संजय बोला, "दुनिया में एक छोटी-सी जगह है, एक छोटा-सा देश, उस का नाम है दाग़िस्तान, वहाँ की गाली है, कोई आदमी किसी से बड़ा ही तपा हुआ हो तो उस के लिए कहता है, जा, तुझ-पर ख़ुदा की मार हो, तू अपनी महबूबा का नाम भूल जाये।"

"वाह...वाह...कैसे दिल वाले ने यह गाली बनायी होगी, कमाल है भई!" करीम हँसने लगा।

"मुझे लगता है, हमारी ज़बान को भी कोई शाप लगा हुआ है, ज़रूर किसी ने उसे यह बददुआ दी होगी, तभी उसे अपने साहित्यिकों का नाम भूल गया है।" संजय ने कहा, तो करीम की हँसी ठिठक गयी, बोला "सच कहा है, ख़ुदा में, महबूब में और अदीब में कोई फ़र्क़ नहीं होता, एक ही बात होती है।"

करीम भले ही उर्दू के अलावा किसी ज़बान का अक्षर नहीं पहचान सकता था, फिर भी वह हर हफ़्ते संजय के उपन्यास की छपी हुई क़िस्त को सिर्फ़ शौक़ से देखता ही नहीं था, उस दिन का अख़बार ख़रीदकर अपने पास सँभालकर रख भी लेता था।

आज भी साप्ताहिक का नया अंक उस के हाथ में था, करीम कुछ मिनट तक ग़ौर से उस की ओर ऐसे देखता रहा, जैसे एक-एक अक्षर जोड़कर उस की इबारत पढ़ रहा हो, फिर अचानक ध्यान ऊपर करके संजय से बोला, "अच्छा, फिर हो गयी बात।"

"क्या ?"

"यही कि अब हम अपनी ज़बान को लगा हुआ शाप उतार देंगे।"

"क्या मतलब ?"

"यार! बहुत दिनों से मन में एक बात बार-बार उठती रही है, पर शायद कच्चे फल की तरह थी, मैं ने मन से उसे तोड़ा नहीं था। आज लगता है, वही कच्चा फल पक गया है।" करीम के मुँह पर भी, यह बात कहते हुए, पके हुए फल की लाली आ गयी, बोला, "क़लम तुम्हारे हाथ में है और मशीन मेरे हाथ में। यार! हम दोनों मिलकर अपनी ज़बान को लगी हुई बददुआ उतार सकते हैं।"

संजय ने करीम की ओर ऐसे देखा, जैसे वह हाड़-मांस का एक वजूद न हो, भविष्य की एक राह हो।

"लड़का अब माहिर हो गया है कम्पोज़िंग में, उस काम के लिए भी अब किसी की मोहताजी नहीं है।" करीम ने कहा, तो संजय राह की ओर देखते हुए राह की कठिनाइयों की ओर भी देखने लगा, "पर मियाँ! तुम्हारी नौकरी से घर के जीव रोटी खाते हैं।"

करीम बोल उठा, "और मैं अभी कहाँ इस्तीफ़ा दे रहा हूँ! अभी तो अपनी मशीन के लिए मेरा इतबार ही बहुत है।"

संजय ने फिर भी हामी नहीं भरी तो करीम बोला, "लड़के को अभी वह धेला भी नहीं देते। कहते हैं, अभी ग़लतियाँ करता है। उस के लिए अगर पाँच सौ का टाइप ख़रीदकर घर पर डाल दूँ, तो क्या बुरा है ? ग़लतियाँ तुम ख़ुद देख लोगे। रह गया काग़ज़ का ख़र्च .."

"निरा काग़ज़ का ख़र्च नहीं, मियाँ! सब से बड़ा मशीन का ख़र्च है।"

"छोटी मशीन अमृतसर की बनी हुई ढाई हज़ार में आती है। पर वह बात

भी छोड़ो। जितने दिन नहीं ख़रीदी जाती न सही, फ़रमे बाँधकर किसी की मशीन पर छाप लेंगे ।"

पानी को जैसे चाँद की रोशनी का जादू चढ़ जाता है, संजय के मन में भी कई लहरें उठ पड़ीं। अपनी ज़बान के कई शताब्दियों के पुराने महान ग्रंथ, जो समय की धूल में दबे हुए थे, सफ़ेद काग़ज़ों में जड़े हुए उस के सामने आकर खड़े हो गये। विश्व के अन्य महान् ग्रन्थ भी, अपने मन में पड़े हुए कई उपन्यासों के आकार भी, और एक साहित्यिक पत्रिका भी।

संजय ने अपनी मेज़ के पास खड़े होकर करीम की ओर भी देखा और खिड़की के बाहर आसमान की ओर भी, जहाँ कितने ही बादलों पर सूरज की लाली की सुनहरी किनारियाँ लग रही थीं।

करीम की आवाज़ से उस का ध्यान फिर कमरे की ओर लौटा। वह कह रहा था, "ले आ ! नाविल के पहले सोलह पन्ने निकाल दे ।"

"पर अभी तो मियाँ ! टाइप ख़रीदना है ।"

"वही तो ख़रीदना है, इस लिए पन्ने माँगे हैं। ऐसे कैसे पता चलेगा कि कौन-से अक्षर कितने ख़रीदने हैं ?"

संजय के हाथ में हरकत का वह कम्पन आ गया जो क़लम वाले हाथ में उस समय आता है, जब कोरे काग़ज़ पर उस की किसी नयी रचना के पहले अक्षर पड़ते हैं।

संजय ने मेज़ की दराज को खोलकर उपन्यास के पहले पन्ने इस तरह उठाये जैसे पीड़ा की एक तह को तोड़ दिया हो। फिर उस ने वह पन्ने करीम को देते हुए अलमारी में से दो सौ रुपये निकालकर काग़ज़ों के साथ रख दिये, कहा, "अगले हफ़्ते उपन्यास की क़िस्त के और पैसे आ जायेंगे, फिर कुछ अगले हफ़्ते ख़रीद लेंगे ।"

करीम ने काग़ज़ उठा लिये, पर पैसे लौटाते हुए बोला, "अगली बार लूँगा, पहली बार तो ताज़ी के जन्म का मुझे ही पहला शगुन डालना है।"

संजय मुस्करा दिया, "शगुन का हक़ सिर्फ़ तुम्हें है, मुझे नहीं ?"

करीम ने पैसे उठा लिये, बोला, "अच्छा, फिर दोनों एक साथ शगुन डालते हैं, मैं इस में अपना शगुन भी मिला लूँगा ।"

"एक बात सूझ गयी," संजय ने कहा और हँसकर करीम के कन्धे पर हाथ रखते हुए बोला, "प्रेस का नाम ताज़ी के नाम पर रखेंगे, तुम्हारी मुमताज़ के नाम पर, ताज प्रेस ।"
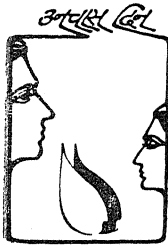
करीम ने आधी छुट्टी लेकर दोपहर होने तक सलामत को टाइप ख़रीद दिया और घर आकर सब कुछ उस के हवाले करते हुए बोला, "देखो, बरख़ुरदार ! आदमी के हाथ में गुन हो तो कोई काम भी छोटा नहीं होता। आज से घर की एक कोठरी काम की दरगाह हो गयी है। तुम जितना काम इस दरगाह पर चढ़ाओगे, उतनी ही मुराद पाओगे।"

करीम ने आँगन में लाकर रखे हुए सारे सामान की ओर देखा तो उसे लगा, आज उस के अपने अंगों में कोई नया ख़ून चल रहा है। सिक्के के काले और ठंडे अक्षरों ने उस के अपने अंगों में कोई सेंक डाल दिया है और उस की ख़ाली आँखों में, जहाँ मुद्दतों से कोई सपना नहीं था, कुछ उग रहा है, खिल रहा है।

उस ने प्यार से भरा हाथ सलामत के सिर पर रखा और कहा, "जाओ ! अपनी दोनों मांओं के पाँव छुओ और फिर अल्लाह का नाम लेकर काम में लग जाओ।"

करीम जब ख़ुद सलामत जितना था, उस से कुछ ही बड़ी उम्र का, पुराने उस्तादों के क़िस्से गाते हुए उस ने एक ही सपना देखा था, अगर कभी वह क़िस्सों को छापकर, उन्हें बेचकर ज़िन्दगी का क़र्ज चुका सके...पर यह सपना सारी उम्र उस के माथे में एक टूटे हुए पंख की तरह हिलता रहा था, उसे उड़ान नहीं मिली। आज उसे लगा कि वही मरा हुआ सपना उस की आँखों के आगे जीवित हो रहा है।

आँखों में हलका-सा पानी भर आया और सामने सलामत के जवान होते हुए चेहरे की जगह अपना चेहरा दिखाई देने लगा, जब वह ख़ुद जवान हो रहा था।

उस के तसव्वुर की करामात उस के अंगों में उतर आयी। वह साइकिल उठाकर अपने काम पर जाने लगा तो उसे लगा, जैसे आज उस के शरीर में पंख लगे हुए हैं।

जिस दिन करीम ने सलामत को बहुत मारा था, उस दिन शीरीं ने किसी

के सामने कुछ नहीं कहा था। पर दोपहर को चोरी से उस के कमरे में जाकर, उस के सिर को गले से लगाकर कितनी ही देर तक रोती रही थी। उस ने सलामत को चोरी से दूध का गिलास पिलाया था, उस का बदन दबाया था और सलामत के अलावा कोई नहीं जानता कि जब अगले दिन अब्बा के कहने पर उस ने जमाल के ख़त के टुकड़े करके साथ में पाँच रुपये रखकर जमाल को लौटाये थे तो घर आने पर शीरीं ने उसे कितना प्यार किया था।

शीरीं जानती थी, सलामत में एक ही ऐब है कि उसे खाने की लज़ीज़ चीज़ों का बहुत शौक़ है। जमाल के दिये हुए रुपयों में से वह एक पैसा भी अपनी जेब में डालकर नहीं लाया था। उस ने जी-भरकर तली हुई मछली और कबाब खाये थे। और उस दिन से, जब भी मौक़ा मिलता, शीरीं उसे सब से छिपाकर, घी और शक्कर की उस की मनभाती रोटी बनाकर खिलाने लगी थी।

दो बार बरकत ने ताड़ भी लिया था, कहा भी था, "गिनती की हड्डियाँ, नपा हुआ शोरबा, सब कुछ इस चटोरे के लिए तो नहीं है, औरों के मुँह में भी तो कुछ डालना होता है।" पर शीरीं ने सारी कहा-सुनी अपने ऊपर झेल ली थी, इस लिए सलामत शीरीं का ज़रख़रीद ग़ुलाम-सा बन गया था और उस ने शीरीं के कहे को एक आदेश की तरह मान लिया था कि वह फिर कभी जमाल के पास नहीं जायेगा।

आज करीम जब दोपहर का खाना खाकर काम पर चला गया तो शीरीं ने सलामत के साथ मिलकर कोठरी में सारा सामान रखा और फिर उसे घी-शक्कर की रोटी खिलाकर बोली, "पीर जी ! पहले जिस तरह चोरी-चोरी मुझे पढ़ाया था, उसी तरह अब चोरी-चोरी मुझे यह काम सिखा दो !"

"तुम कम्पोज़िंग करोगी ?" सलामत हैरान-सा हो गया तो शीरीं हँस पड़ी, "तुम कुछ ही दिनों में देख लेना, तुम से भी जल्दी कर दिया करूँगी। पर अभी किसी को मत बताना।"

"अब्बा को भी नहीं ?"

"नहीं।"

"और भाई जान को ?"

"बिलकुल नहीं।"

"मुझे पता लग गया..." सलामत हँसने लगा, बोला, "तुम ने पहले जैसे एक दिन भाई जान को हैरान कर दिया था, अब भी सारा काम सीखकर तुम भाई जान पर रौब डालोगी।"

शीरीं के मुँह पर हलका-सा पीलापन आ गया, होंठों के पास साँस रुक-सी गयी, बोली, "नहीं सलामत ! किसी पर रौब डालकर मुझे क्या लेना है ?" और कुछ सोचते हुए बोली, "तुम मुझे अच्छी तरह सिखा दो, जितना भी तुम ने सीखा

हुआ है, फिर तुम और मैं मिलकर एक बड़ा-सा प्रेस खोलेंगे।"

"पर प्रेस में तो मशीन भी होती है?"

"वह भी लगायेंगे।"

"कहाँ?"

"यहीं।"

"पर अब तो कमरा ही और नहीं है।"

"मेरा जो है।"

"पर वह जमीला का भी है।"

"आधा। तुम अपना आधा कमरा उसे दे देना, फिर वह सारा मेरा हो जायेगा, मशीन के लिए।"

"नहीं, मैं अपना कमरा जमीला को नहीं दूँगा।"

"फिर हम छत पर एक कमरा और बनवा लेंगे।"

"अब्बा पैसे नहीं देंगे।"

"न सही, हम ख़ुद काम करके जोड़ लेंगे, तुम और मैं।"

"और मशीन कौन चलायेगा?"

"मैं। अब्बा से सीख लूंगी। तुम भी सीख लेना।"

सलामत कुछ सोचने लगा, फिर बोला, "एक आदमी और चाहिए।"

"वह किस लिए?"

"यह देखो! लकड़ी के ख़ाने बने हुए हैं न, इन में अलग-अलग अक्षर डालते हैं, फिर जिस अक्षर की ज़रूरत हो, वह उस के ख़ाने में से निकालकर जोड़ लिया जाता है।"

"अच्छा।"

"और फिर जब जोड़े हुए पन्ने काग़ज़ों पर छप जाते हैं, सारे अक्षर निकाल कर वापस ख़ानों में डालते हैं।"

"हाँ, वह तो डालने पड़ते ही होंगे।"

"इसे जानती हो, क्या कहते हैं? इसे कहते हैं, डिस्ट्रीब्यूट करना।"

"अच्छा।"

"उस काम के लिए एक आदमी और चाहिए।"

"वह भी तुम और मैं कर लिया करेंगे।"

"पर जितना वक़्त उस काम में लगता है, उतने में और कितना काम हो जाता है!"

"फिर दुल्ला कुछ बड़ा हो जायेगा, तो उसे सिखा लेंगे।"

सलामत फिर अपनी उम्र से बड़ा होकर कुछ सोचने लगा, फिर बोला, "जमीला इतनी बड़ी हो गयी है, वह क्यों नहीं सीखती? वह तो पढ़ना भी नहीं

सीखती ।"

"उस की मर्ज़ी ।" शीरीं बोली, "चलो, मुझे तो सिखाओ ।"

सलामत ने लिफ़ाफ़े में लपेटकर रखे हुए संजय के उपन्यास वाले वे पन्ने निकाले, जिन्हें उस ने सवेरे टाइप ख़रीदते वक़्त कम्पोज़ किया था । उस ने कहा, "ये सारे पन्ने कम्पोज़ के हैं ।"

"यही कम्पोज़ करने हैं न ?"

"हाँ, यही करने हैं, साथ ही ध्यान से करने हैं ताकि ग़लतियाँ न हों ।"

"पर अगर कोई ग़लती हा गयी, तब ?"

"वह तो सब से हो जाती है ।"

"फिर वह ग़लत ही छप जाता है ?"

"नहीं, ग़लतियाँ पहले ठीक करनी पड़ती हैं ।"

"वह कैसे ?"

"देखो ! चार या आठ पन्ने बनाकर, उन्हें ऐसे रख लिया जाता है नीचे ज़मीन पर, फिर उस पर स्याही का रूलर फेरकर एक काग़ज़ पर उस का प्रूफ़ उठा लेते हैं । बस, उसे पढ़कर सारी गलतियों का पता लग जाता है ।"

"फिर ?"

"जहाँ ग़लती होती है, वहाँ निशान लगा देते हैं । फिर उन निशानों को देख-देखकर ग़लतियाँ ठीक कर लेते हैं ।"

"तुम ने यह सब सीख लिया है ?"

सलामत हँसने लगा, "जो कम्पोज़ करते हैं, वह सिर्फ़ ग़लतियाँ ठीक करते हैं, प्रूफ़ नहीं देखते ।"

"फिर वह कौन देखेगा ?"

"वह तो भाई जान देखेंगे । वह पहले भी प्रेस में जाकर प्रूफ़ देखा करते हैं ।"

सलामत बातें करता जा रहा था, साथ-साथ थैली में से निकालकर फ़र्श पर बिछाये हुए केसों में अक्षरों को अलग-अलग ख़ानों में डाल रहा था, और शीरीं का ध्यान लिखे हुए काग़ज़ों की ओर था, जिन्हें देख-देखकर वह ख़ानों में से अक्षर निकाल-निकालकर एक पंक्ति में जोड़ रही थी कि अचानक हाथ का अक्षर हाथ में ही रह गया और वह सलामत की ओर देखने लगी...सलामत की ओर नहीं, उस से बहुत आगे, जहाँ बादलों में घिरते हुए और बादलों को चीरकर निकलते हुए किसी उजाले की तरह संजय का चेहरा दिखाई दे रहा था...
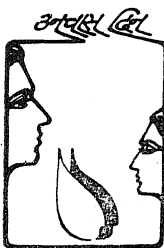
संजय अपने कमरे में, मेज़ पर काग़ज़ रखे, कुर्सी पर बैठा काग़ज़ों पर ऐसे झुका हुआ था, जैसे उस का सारा वजूद सिर्फ़ दो आँखें और एक हाथ की हरकत बन गया हो।

करीम, काम पर से लौटते हुए, कब उस की सीढ़ियाँ चढ़कर, उस के कमरे की चौखट पर आकर खड़ा हो गया था, संजय को बिलकुल मालूम नहीं हुआ।

करीम ने आवाज़ नहीं दी, चुपचाप कमरे में चला गया और दीवान पर बैठकर बीड़ी पीने लगा।

यह शायद हवा में मिली हुई बीड़ी की सुगन्ध थी कि संजय को अचानक सिगरेट की तलब लग गयी। उस ने मेज़ पर पड़ी हुई डिबिया में से एक सिगरेट निकाली, पर दियासलाई की डिबिया उठाकर जब सिगरेट को सुलगाने के लिए काठी निकालने लगा, तब देखा कि डिबिया ख़ाली थी।

सिगरेट वैसे ही बे-जली उस के बायें हाथ की उँगलियों में थमी हुई थी। फिर उसे दियासलाई की दूसरी डिबिया ढूँढ़कर सिगरेट जलाने की याद न रही और वह दाहिने हाथ में फिर क़लम उठाकर लिखने लगा। करीम ने उठकर अपनी डिबिया में से एक काठी जलाकर उस के सामने कर दी।

संजय ने एक पल सामने दियासलाई की ओर ऐसे देखा, जैसे किसी ग़ैबी हाथ का चमत्कार देख रहा हो, फिर दूसरे पल लौटते हुए होश से हँस पड़ा, "करीम मियाँ ! तुम कब आये ?"

"यह बताओ, आज तुम किस रचना में डूबे हुए हो ?"

"मैं काग़ज़ बना रहा हूँ।"

"समझ गया, अब तुम्हारे ताज प्रेस को रोज़ ही काग़ज़ों की ज़रूरत पड़ेगी न छापने के लिए, कोई नयी कहानी लिख रहे हो या और कोई उपन्यास शुरू कर दिया है ?"

"नहीं, मियाँ ! कोरे कागज़ बना रहा हूँ, दूध जैसे सफ़ेद कागज़।"

करीम मेज़ पर पड़े हुए कितने ही लिखे हुए कागज़ों की ओर देखता हुआ

बोला, "साहित्यकार तो सफ़ेद काग़ज़ों को काला करते हैं..."

संजय मुस्करा दिया, "मैं उलटा काम कर रहा हूँ, काले काग़ज़ों को सफ़ेद कर रहा हूँ। तुम यह समझ लो कि मेज़ पर काग़ज़ बनाने का छोटा-सा कार-ख़ाना खोल लिया है।"

बात करीम की समझ में नहीं आयी। संजय ने कहा, "प्रेस के लिए अब काग़ज़ चाहिए न ? कितने रिम चाहिए ?

"अगर उपन्यास दो सौ पन्ने बना, तो एक हज़ार कापी छापने के लिए तेरह रिम तो चाहिए ही चाहिए।"

"बस, वही तेरह रिम बना रहा हूँ। तुम देखना, बस पन्द्रह दिन में तेरह रिम बन जायेंगे।" और संजय ने करीम को विस्तार से बताया, "एक किताब मिल गयी है तर्जुमे के लिए, बीस पन्ने रोज़ के हिसाब से तर्जुमा करूँ, तो पंद्रह दिन में उस के पूरे तीन सौ पन्ने हो जायेंगे। फिर इतने पैसे आराम से मिल जायेंगे कि हम तेरह रिम काग़ज़ ख़रीद लेंगे।"

करीम ने एक और बीड़ी सुलगायी और दीवान पर बैठते हुए बोला, "मुझे एक बात बताओ कि तुम्हारी करमोंवाली माँ ने क्या खाकर तुम्हें पैदा किया था ?" और करीम ऊँची आवाज़ से पीलू शायर के क़िस्से का एक शेर गाने लगा, "पई जिस दिन जम्मी साहिबाँ, होर न जम्मेया कोय..."

संजय ने वजूद में आकर शेर सुना और कहा, "यह बात ग़लत है, मियाँ ! उस दिन किसी माँ के घर करीम भी पैदा हुआ था।"

"अच्छा, फिर उठो ! मैं तुम्हें लेने आया हूँ। घर चलकर अपना ताज प्रेस देख आओ।"

"टाइप ख़रीद लिया ?"

"आज आधी छुट्टी ली थी। सवेरे वही काम किया। फिर सब कुछ सलामत को सौंपकर काम पर गया था। अब घर पहुँचने तक उस ने दो-चार पन्ने तो निकाल ही लिये होंगे।"

"फिर आज सलामत तुम्हारे साथ नहीं गया होगा ?"

"उसे काहे के लिए जाना था ? अपने प्रेस का मालिक होने के बाद वह अब दूसरों की नौकरी करेगा ? अब तो मैं अपने उस दिन के इंतज़ार में हूँ, जब मुझे भी इस ग़ुलामी से छुट्टी मिलेगी।" करीम ने कहा, तो संजय ने सिगरेट का गहरा कश खींचते हुए कहा, "तुम्हारे पास अकेला सलामत है काम करने वाला, ऊपर के बन्दोबस्त के काम की फ़िक्र नहीं, वह मैं ख़ुद कर लूँगा। पर कम से कम एक वर्कर और चाहिए, फिर तुम मशीनमैन हो जाओगे तो प्रेस का काम चल सकता है।"

"नहीं, मियाँ ! बाहर के किसी आदमी को नहीं रखेंगे। एक तो ईमानदार

आदमी ही नहीं मिलते, रोज़ टाइप चुराकर ले जाते हैं और दूसरी बात यह है कि घर में बाहर का आदमी नहीं आ सकता ।"

संजय शायद पल-भर के लिए यह भूल गया था कि उन के पास सिर्फ़ एक ही जगह है, करीम का घर, जहाँ घर की औरतें भी हैं, बाल-बच्चे भी, इस लिए अपनी ग़लती के एहसास से चुप-सा हो गया ।

"बस, एक हसरत-सी मन में उठती है, भई, अगर शीरीं और जमीला की बजाय दो लड़के होते तो फिर काहे की कमी रहती ।" करीम ने कहा, पर साथ यह भी कहा, "चलो, अभी तो वह दूर की बात है, क्यों सोच करें । अभी तो सलामत ही चला लेगा । फिर शायद एक बरस तक, अल्लाह ने चाहा तो सारे घर को ही प्रेस बना देंगे । बाल-बच्चों के लिए ऊपर की छत पर कमरा बनवा देंगे ।"

संजय को करीम के जिगरे से ईर्ष्या होने लगी । सवेरे से उसे लग रहा था कि काले काग़ज़ों से सफ़ेद काग़ज़ बनाने वाली हिम्मत कर के आज उस ने बड़ी जिगरे वाली बात की है, पर करीम के सामने उसे यह बात भी बहुत छोटी लगने लगी ।

"चलो, चलें," संजय ने कहा और मेज़ पर पड़े हुए काग़ज़ों को मेज़ की दराज में रखने लगा ।

करीम ने दीवान पर से उठते हुए कहा, "आज बस अपने ही मन का उत्साह था, मैं किसी से लड़ा नहीं, नहीं तो बात लड़ाई की हो गयी थी ।"

"कहाँ ?"

"प्रेस में ।"

"मालिक ने कुछ कह दिया ?"

"नहीं, वही लोग आये थे जो आजकल हफ़ीज़ साहब का मर्सिया पढ रहे हैं । यार ! आजकल तुम्हारा नाम बहुत चल रहा है ।"

"मेरा नाम ! पर उस का हफ़ीज़ साहब के मर्सिये से क्या ताल्लुक़ ?"

"चलो, तुम्हें रास्ते में सुनाता हूँ ।"

संजय ने कमरे को बंद किया, नीचे जाकर अपनी साइकिल निकाली । करीम ने भी अपनी साइकिल उठायी और दोनों रास्ते में बातें करते रहे ।

"तुम्हारा नाविल साप्ताहिक में छप रहा है न, इस लिए अब चार हफ़्ते से तुम्हारा नाम लोगों में बहुत मशहूर हो गया है । वही पाजी लोग कह रहे थे, 'तेरा बड़ा यार है, उस से कह, हफ़ीज़ साहब पर मज़मून लिख दे ।'

"सो तुम्हारी-मेरी यारी भी मशहूर हो गयी है !" संजय हँसने लगा, पर करीम को उसी तरह ताव चढ़ा हुआ था, बोला, "वे पाजी वहीं बैठकर हफ़ीज़ साहब की वे-वे करतूतें सुनाते रहे थे कि आदमी कानों में उँगलियाँ डाल ले ।"

"वे तुम ने मुझे पहले भी सुनायी थीं।"

"पर वे क्या खत्म हो गयीं? कहने लगे कि वह आदमी बड़ा रंगीन था। एक बार वह इम्तहानों का कोई बड़ा वह लग गया, क्या कहते हैं उसे, जो नम्बर लगाता है, भई परचा देने वाला पास हुआ है या फ़ेल..."

"एग्ज़ामिनर।"

"हाँ, हाँ, वही। तो उस के पास लड़कियाँ आया करती थीं नम्बर बढ़वाने के लिए।"

"मियाँ! समझ गया तुम्हारी बात।"

"वह तो जी नम्बर भी बढ़वाकर ले जाती थीं, साथ में हमल भी करवाके ले जाती थीं।"

"छोड़ो मियाँ! किस की बात छेड़ बैठे हो।" संजय ने कहा तो करीम हँस-सा दिया, बोला, "ऊपर से कहते हैं, संजय साहब से कहो कि उस की शायरी के परवाज़ पर एक मज़मून लिख दें।"

"मैं ने तो उस की शायरी पढ़ी नहीं है, पर किसी चिड़ीमार की परवाज़ भी चिड़िया तक ही होगी, और क्या होगी।" संजय ने कहा तो हँसते-हँसते करीम की साँस रुकने लगी, बोला, "यह चिड़ीमारों की परवाज़ वाली बात मुझे नहीं सूझी, नहीं तो मैं वहीं कह देता। अच्छा, अब भी किसी दिन कह दूँगा, पर अपना नाम लेकर कहूँगा, नहीं तो यूँ ही तुम्हारे पीछे पड़ जायेंगे।"

बातें करते करीम और संजय जिस समय घर पहुँचे, संजय ने आगे बढ़कर सलामत को बाँहों में ले लिया और उस के साथ सीधा उस कोठरी में चला गया, जहाँ आज ताज प्रेस का छोटा-सा सपना अँधेरे में टिमटिमा रहा था।

संजय को बिलकुल पता नहीं लगा कि शीरीं इस समय आँगन में कूई के पास बैठकर हाथों की स्याही को साबुन से धो रही थी और उस ने संजय को देखकर जल्दी से अपने हाथ बाल्टी की ओट में कर लिये थे।
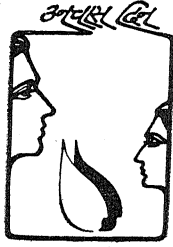
फत्ता कई बार आप ही चूल्हे पर अपनी रोटी सेंक लेता था, पर कई बार पीराँ दित्ता की दुकान से ही गोश्त-रोटी ले आता था। कई बार मिरच से उस का मुँह जल जाता। वह रोटी का टुकड़ा चबाते और पानी के घूँट के साथ निगलते हुए पीराँ दित्ता को गालियाँ भी दे देता था, 'नामुराद कहीं के, मिरचों की कमाई खाते हैं, हलाल की कमाई तो पाजियों को अच्छी नहीं लगती...' पर फिर जब चार दिन बाद मुँह फीका-सा हो जाता, वह एल्युमीनियम के कटोरे में पीराँ दित्ता से गोश्त की बोटी-शोरबा डलवा लाता। आज भी काग़ज़ में रोटी लपेटकर और कटोरे में सालन डलवाकर वह शाम के समय पीराँ दित्ता की दुकान से घर को लौट रहा था, जब गली के मोड़ पर उस ने शीरीं को देखा।

"इस वक़्त कहाँ से आ रही हो, बेटी ?" फत्ते ने पास को होकर शीरीं के सिर पर हाथ फेरा, साथ में कहा, "तुम तो माशाअल्ला सयानी हो गयी हो, देखो मेरे कंधे तक आ गयी हो।"

शीरीं को हँसी-सी आ गयी, "और चाचा जान! क्या उम्र-भर आप के घुटने तक ही रहती ?"

फत्ता करीम से कहीं बड़ी उम्र का था, पर गली में सब ही फत्ते को चाचा पुकारते थे। कइयों के तो माँ-बाप भी चाचा पुकारते थे, उन के बाल-बच्चे भी।

"देखो न, तुम इतनी-सी हुआ करती थीं, बालिश्त जितनी, जब तुम्हारी माँ तुम्हें उठाकर गली से गुज़रा करती थी। अभी कल की बात है, नेमत बिलकुल तुम्हारे जैसी लगती थी।" फत्ता कह रहा था, जब उस का पैर गली में पड़े छिलके पर से फिसलने लगा, तो शीरीं ने जल्दी से उस की बाँह पकड़ते हुए उस के हाथ से रोटी और सालन ले लिया और उस के घर के दरवाज़े के पास पहुँच-कर बोली, "चलिये, चाचा जान! आप आगे चलिये, मैं रोटी अंदर रख दूँगी।"

शीरीं ने सिर्फ़ यही कहा, यह नहीं कहा कि चाचा जान आप की याददाश्त को भी आप की निगाह की तरह कुछ हो गया है, नेमत तो छोटी माँ हैं, मैं तो बरकत की बेटी हूँ।

शीरीं ने फत्ते की चारपाई पर रोटी रख दी और लौटते हुए घड़े की ओर देखा, पूछा, "चाचा जान ! पानी का गिलास भरकर दे जाऊँ ?"

"पानी मैं ख़ुद ले लूँगा, तुम मेरी एक बात सुनती जाओ !" फत्ते ने चारपाई की पट्टी की ओर हाथ से इशारा किया, "देखो न ! सलमा जिंदा होती तो वह तुम से भी ऊँची होती ।"

शीरीं चारपाई के पास खड़ी हो गयी थी, पर बैठी नहीं थी। फत्ते के मुँह से सलमा का नाम सुनकर उसे फत्ते की पीड़ा छू गयी। वह चारपाई की पट्टी पर चुपचाप बैठ गयी ।

"देखो न, मेरे लिए जैसी सलमा थी, वैसी तुम हो, तुम अपने करीम की बेटी जो हुईं ।"

शीरीं को लगा, फत्ते के मन में कोई बात है, न जाने क्या, पर कोई मन को दुखाने वाली बात है। वह चुपचाप फत्ते के मुँह की ओर देखने लगी।

"तुम अब अँधेरे-सवेरे घर के बाहर मत जाया करो।" फत्ते ने कहा तो शीरीं ने हाथ में ली हुई काग़ज़ की छोटी-सी पुड़िया दिखाते हुए कहा, "चाचा ! कहीं दूर तो नहीं गयी थी, बस मोड़ तक। छोटी अम्माँ को पान की इल्लत लगी हुई है, अब्बा अभी आये नहीं थे, आज सलामत भी उन के साथ सवेरे से गया हुआ है, जमीला के सिर में बड़ा दर्द था, मैं ने कहा, मैं ही अम्माँ को पान ला देती हूँ।"

"वह तो कोई बात नहीं, बेटी ! पर बुरे लोग तिल का ताड़ बनाते हैं। हमारी गली वाले तो फिर भी अच्छे हैं, पर बराबर की गली वाले सूअर के बच्चे..."

शीरीं के मन में फेरी वाले जमाल की बात खटक गयी। जब से जमाल ने वह ख़त लिखा था और उस ख़त को फाड़कर सलामत ने उसे लौटा दिया था, तब से फिर कोई बात नहीं उठी थी। पर शीरीं को उसी बात का खटका-सा हुआ, उस ने पूछा, "क्यों, चाचा ! क्या बात है ?"

"तुम उसे जानती हो ? क्या नाम है उस का बुरा-सा..."

"कौन ?"

"वही फेरीवाला।"

जमाल कुछ ही दिनों से शहर में कुलचों की छाबड़ी लगाने लगा था, पर उस से पहले जब फेरी लगाया करता था, तब से वह फेरीवाला कहलाता था।

"याद आ गया, जमाल फेरीवाला नाम तो अच्छा-भला है, पर आदमी करम अच्छे न करे तो उस का नाम भी अच्छा नहीं लगता।" और फत्ते ने आगे कहा, "तुम्हारे ऊपर उस की बुरी नज़र है, मैं ने इसी लिए कहा कि तुम अँधेरा पड़े घर के बाहर मत जाया करो। इन शोहदों का क्या पता होता है..."

शीरीं का चेहरा उतर गया। चारपाई से उठते हुए बोली, "अच्छा चाचा!"

"देखो न, मेरा इज़्ज़त बेग लाखों में एक है।" फत्ते ने कहा तो शीरीं की समझ में कुछ नहीं आया, उठते-उठते फिर बैठ गयी, "चाचा कौन ! इज़्ज़त बेग ?"

फत्ता हँसने लगा, "अरे, तुम्हें तो वह बात ही नहीं मालूम। वही मेरा ख़ूब-सूरत शहज़ादा, जो अपने करीम का यार है—संजय साहब।"

शीरीं के चेहरे पर आयी हुई उदासी की संध्या एक बार फिर दिन की लाली-सी हो गयी, उस ने कहा, "आप ने उन का नाम इज़्ज़त बेग रखा हुआ है ?"

"हाँ ! वह मेरा इज़्ज़त बेग है।"

"वह कैसे ?"

"एक दिन मुझ से कहा, 'भई, तुम्हारा नाम फत्ता कैसे हो गया, तुल्ला कुम्हार होना चाहिए था।' "

"वह क्यों, चाचा ?"

"वह जो लोग सोहनी का क़िस्सा गाते हैं, सोहनी-महीवाल का..."

"हाँ, सोहनी कुम्हारों की लड़की थी, तुल्ला कुम्हार की, फिर ?"

"मैं ने कहा भई, हूँ तो मैं भी कुम्हार, पर मैं ने तुल्ला जैसे नसीब नहीं पाये हैं। और सच मानना, बेटी ! उसे देखकर यही लगा कि आज मेरे दरवाज़े पर भी वही शहज़ादा आ गया है—इज़्ज़त बेग।" फत्ते ने यह बताते-बताते उस दिन की तरह फिर माथे पर हाथ रख लिया, "मेरी सलमा अगर ज़िन्दा होती..."

शीरीं के सारे शरीर में एक गहरा-सा अँधेरा उतर गया, बोली, "और चाचा ! अगर सलमा सचमुच ज़िन्दा होती, फिर आप..." आगे शीरीं से कुछ न कहा गया, और न कहे हुए शब्द उस के होंठों के पास काँपने लगे।

फत्ते ने कहा, "तुम्हारे अब्बा भी पास बैठे हुए थे। उन्होंने भी वही बात पूछी थी, जो तुम ने पूछी है। उन्होंने कहा, 'अल्लाह ज़ामिन है झूठ मत बोलना, अगर सलमा ज़िन्दा होती तो यह मेरा इज़्ज़त बेग तुम्हें उस के लिए क़बूल होता ? देखो ! क़िस्मत का मज़ाक़ इसी को कहते हैं।"

शीरीं ने एक तीखी पीड़ा से आँखें बंद कर लीं।

शायद इस से पहले शीरीं ने कभी पीड़ा को ऐसे नहीं पहचाना था। लगा, जो भी सवाल होता है, सिर्फ़ जीने वालों के लिए होता है। मरने के बाद हिन्दू और मुसलमान का सवाल भी मिट जाता है। मरने के बाद सलमा और मीता में भी किसी को फ़र्क़ नहीं मालूम होता।

शीरीं को फत्ते की बात पर अविश्वास नहीं हुआ, सिर्फ़ यह लगा कि मौत की पीड़ा के सामने वह उन सब सवालों को भूल गया था, जो जीने वालों के लिए होते हैं।

फिर वह एक पल के लिए, चाचा फत्ता के आँगन में बैठी जैसे उस की सलमा

हो गयी। फत्ते के कंधे से सिर लगाकर बोली, "चाचा ! मैं आप की बेटी नहीं ?"

शीरीं के मुँह से ये शब्द ऐसे निकल गये, जैसे मन की किसी उमस में से खुम्बियों की तरह उग आये हों, पर दूसरे ही पल उस ने अपनी लज्जित-सी होती हुई जीभ को काट लिया, बोली, "आप यूँ उदास मत हुआ करें, चाचा ! नहीं तो सलमा की रूह भी उदास होती रहेगी। मैं ने इस लिए कहा है कि..."

"हाँ, मैं कब कहता हूँ, तुम मेरी बेटी नहीं हो, देखो, आज तुम आयी हो तो मुझे ये दीवारें अच्छी लग रही हैं।"

"तो चाचा ! अगर आप कहें तो मैं रोज़ आ जाया करूँगी।"

फत्ते का चेहरा सचमुच कुछ खिल उठा। लड़की की पीठ पर हाथ फेरते हुए बोला, "जमालू ख़ुद भी शोहदा है, पर उसे मोहल्ले वालों की भी शह है, कहते हैं करीम की लड़कियाँ मुँह खोलकर काफ़िरों से हँसती-बोलती है।"

शीरीं ने और कुछ नहीं कहा, सिर्फ़ इतना कहा, "चाचा ! वह तो बड़े इल्म वाले आदमी हैं, बड़े शऊरवाले।"

फत्ते ने जल्दी से कहा, "लो, मुझे दिखाई नहीं देता ? ये जाहिल क्या जानें ? उस के माथे पर तो सितारा चमकता है।"

शीरीं का मन कुछ सँभला, उस ने कहा, "चाचा ! वह कहानियाँ लिखते हैं, किताबें भी।"

फत्ता हँस पड़ा, "एक दिन मुझ से कह रहा था, 'जब तुम चाक पर प्याले और सुराहियाँ बनाओ, मुझे बुला लेना, मैं तुम्हारे पास बैठकर प्यालों पर तस्वीरें बनाऊँगा।'...सलमा बहुत ख़ूबसूरत फूल-बूटे बनाया करती थी।"

"अच्छा, चाचा ! उन्हें चाहे न बुलायें मुझे बुला लीजियेगा, मैं आप के बर्तनों पर बहुत ख़ूबसूरत फूल बनाऊँगी।" शीरीं ने कहा और चारपाई से उठकर खड़ी हो गयी।

"अच्छा...अच्छा...तुम आ जाया करो, बेटी ! मुझे तुम में सलमा दिखाई देती है।" फत्ते ने कहा और साथ ही फिर चेतावनी दी, "पर तुम अँधेरा पड़े घर के बाहर मत जाया करो।"

शीरीं की पान वाली मुट्ठी ज़ोर से भिंच गयी, अपने ही नाख़ून हथेली में खुब गये और वह बाहर गली की ओर जाते हुए सोचने लगी, 'दिन कब चढ़ता है इन गलियों और बाज़ारों में ? एक अँधेरा तो दिन में भी रहता है, रात को भी...'
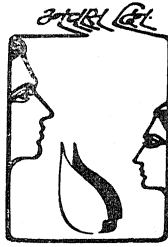
चैत के खुले दिन आ गये थे। यूँ भी सवेरे से करीम के मन का एक उत्साह था जो सारे घर में पवन की तरह बह रहा था। आज सवेरे उसे पहले फ़रमे के सोलह पन्ने बाँधकर शहर ले जाने थे, छापने के लिए। इस लिए मुँह तड़के ही करीम के गाने की आवाज़ सब के कानों में पड़ी, 'वो यार ! जिन्हाँ नूँ इशक, तिन्हाँ नूँ कत्तन केहा...'

और बरकत उठकर मीठे चावल पकाने लगी थी, सलामत ने हाथ मुँह धोकर नया पाजामा और नया कुरता पहन लिया था, और शीरीं ने अपनी अलमारी को खँखोलकर छोटे फूलों वाली चिकन की वह क़मीज़ निकाल ली थी जो असल में बरकत की थी, पर जब तंग हो गयी तो शीरीं ने माँगकर बहुत दिनों से अपनी अलमारी में रख ली थी।

उगते हुए सूरज के साथ संजय की साइकिल दरवाज़े पर आ गयी। आज आधे फ़रमे करीम को अपनी साइकिल पर रखकर ले जाने थे, आधे संजय को अपनी साइकिल पर।

आज करीम ने सलाम-दुआ की बजाय आँगन में आ रहे संजय की ओर हाथ फैलाकर वही बोल उठाया जो वह कोई आधे घंटे से गा रहा था, 'वो यार ! जिन्हाँ नूँ इशक तिन्हाँ नूँ कत्तन केहा...' और साथ ही ज़ोर से हँस पड़ा, "यह मैं पहले भी गाया करता था, पर मैं सवेरे से सोचे जा रहा हूँ, भई शाह हुसैन साहब ने यह बात कैसे कही ? क्यों मियाँ ! यह बात कुछ ठीक नहीं कही ?"

संजय ने करीम के सवाल की थाह पा ली, पर कहा कुछ नहीं। करीम के मुँह से ही सुनने के लिए उस की ओर देखता रहा। करीम बोला, "कातने-पींजने का असली मज़ा तो उसे ही आता है, जिसे इश्क होता है और लोग तो काम के लिए बेगार कर रहे होते हैं..."

संजय मुस्करा पड़ा, "शाह हुसैन ने जिस कातने की बात कही, वह बेगार के धंधे की बात थी, जिस से उकताकर यह शेर लिखा। अपनी जगह वह ठीक है, पर आज वह कामों को इश्क बनते देखता तो ज़रूर और तरह लिखता..."

शीरीं ने गिलासों में चाय डाली और एक-एक गिलास अब्बा और सजय के सामने रख दिया ।

शीरीं ने काले चिकन की क़मीज़ पहनी हुई थी । कानों में चाँदी की वे बालियाँ भी जो नेमत ने ताज़ी के जन्म पर एक-एक जोड़ी उसे और जमीला को दी थीं। पर शीरीं ने अभी बाल नहीं बनाये थे। उस ने जब चाय का गिलास संजय को दिया तो संजय की नज़र उस के मुँह पर पड़कर अटक गयी...

सवेरे की मद्धिम रोशनी में वह आँगन में उतर आयी—एक छलावा-सी लग रही थी।

शीरीं ने भी नज़र भरकर देखा, पहले उस ने कभी सजय के मुँह पर अपने लिए ऐसी टिकी हुई नज़र नही देखी थी । उस का सारा शरीर कानों की बालियों की तरह लहर गया ।

"करीम मियाँ !" संजय के मुँह से निकला, पर वह करीम की ओर नहीं, अभी भी शीरीं की ओर देख रहा था।

करीम साइकिलों के पीछे फ़रमों को बड़ी सावधानी से बाँध रहा था ताकि हिचकोले से उन के बँधे हुए अक्षर कहीं से हिल न जायें, इस लिए उस ने संजय की आवाज़ नहीं सुनी । वह सलामत से कह रहा था, दो-दो अक्षर, लड़के ! फ़ालतू निकालकर काग़ज़ में बाँध लो, वहाँ छपते-छपते कभी अक्षर टूट जाता है तो बदलना पड़ता है।"

"करीम मियाँ !" संजय ने फिर कहा।

करीम इधर को उस के पास आते हुए अपने ध्यान में मगन कहे जा रहा था, "काग़ज़ मैं ने तेरह की बजाय चौदह रिम रखवा लिया है। तेरह में पूरी एक हज़ार कापी छपनी थी, चौदह में ग्यारह सौ छप जायेगी । छपाई तो प्रेस को जैसी एक हज़ार की देनी, वैसी ग्यारह सौ की, सौ कापी ज़्यादा क्यों न छाप लें !"

इस समय और किसी ने नहीं, सिर्फ़ शीरीं ने जाना कि करीम की बात संजय को सुनाई नहीं दी और संजय की बात करीम को सुनाई नहीं दी।

और फिर इस पल को करीम ने भी देखा, देखा कि चाय का गिलास उसी तरह संजय के हाथ में थमा हुआ है, और उस की बाहर की ओर देखती हुई आँखें बाहर की ओर नहीं, शायद कहीं भीतर की ओर देख रही हैं ।

बरकत आवाज़ दे रही थी, "जल्दी न कीजिये ! बस, एक कनी रह गयी है चावलों में, मुँह मीठा करके जाना।"

करीम चारपाई की पट्टी पर बैठते हुए बोला, "मियाँ ! तुम तो शाह हुसैन की तरह सचमुच कातना भूल गये ।"

संजय हँस पड़ा, "नहीं, यार ! कातने की बात ही सोच रहा हूँ, आज ज़रा शीरीं को तो देखो।"

"आ बेटी ! इधर आ !" करीम ने कहा तो शीरीं की सारी जान इकट्ठी होकर वालियों की चाँदी की तरह जम गयी।

संजय ने फिर हाथ से इशारा किया और करीम से बोला, "किताब का टाइटल बनवाना है न ? देखो, यह लड़की ऐसी लग रही है, जैसे किताब पर छपी हुई तस्वीर हो।"

शीरीं जहाँ खड़ी थी, वहीं खड़े हुए एक तस्वीर जैसी हो गयी। एक काग़ज़ पर जमी हुई कुछ लकीरों और गोलाइयों की तरह।

करीम ने शीरीं की ओर देखा, "फिर किसी चित्रकार से कहते हैं..." अभी उस ने इतना ही कहा था कि जमीला तश्तरियों में मीठे चावल डालकर उन के आगे रखने लगी।
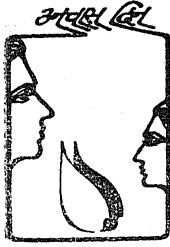
आज दोपहर शीरीं जैसे सारे 'छापेखाने' की मालिक थी, उस पूरी कोठरी की जहाँ कम्पोज़िंग की मेज़ थी, पास में ख़ानों वाले लकड़ी के रैक थे, जिन में सिक्के के अक्षर भरे हुए थे और परे कोने में एक छोटी-सी अलमारी थी, जिस में संजय के उपन्यास की सारी पांडुलिपि पड़ी हुई थी।

शीरीं ने खाना पकाने में अम्माँ का हाथ बँटाया, फिर उस कोठरी में जाकर आगे का मैटर निकाला और कम्पोज़ करने लगी। उस का ध्यान अक्षरों की ओर था, रचना के अर्थ की ओर नहीं था, पर यह सारा उपन्यास उस के अपने हाथों का नक़ल किया हुआ था, इस लिए लिखाई के अर्थ इतने अक्षरों में नहीं जितने उस की याद में से निकलकर उस के सामने आकर खड़े हो जाते थे।

यह उपन्यास का शुरू का भाग था, यद्यपि सोलह पन्ने निकल चुके थे, तब भी उस में मौत के बाद की नीली और शून्य रोशनी के वर्णन से ज़्यादा अभी और कुछ नहीं था, पर इस रोशनी का एक जादू था, जो शीरीं के तसव्वुर को चढ़ने लगा...

अक्षरों के ख़ानों की पहचान, जैसे हौले-हौले सारे कारीगरों के हाथों में उतर जाती है, शीरीं के हाथों में भी उतर रही थी। हाथ सचेत उसी अक्षर के ख़ाने की ओर चला जाता था, जिस अक्षर की इबारत के अनुसार ज़रूरत होती थी। और शीरीं को बिलकुल पता नहीं चला कि उस ने किस समय कोई तीन पन्नों का मैटर कम्पोज़ कर लिया।

आँगन में चढ़ती धूप और अंगों में चढ़ती हुई थकान, दोनों वास्तविकताएँ थीं, पर उपन्यास की इबारत भी एक वास्तविकता थी, जिस के अनुसार आग और हवा से बने हुए रूहों के अस्तित्व को न समय का ज्ञान होता है, न थकान का।

वह भी जैसे रूहों के अस्तित्व वाली दुनिया में एक रूह की तरह विचर रही थी।

और फिर नयी इबारत में उस ने मीता की रूह का अस्तित्व देखा...

आग की एक गर्म लकीर-सी उस के शरीर में उतर गयी...

वह बहुत छोटी होती थी, जब अम्माँ उसे रात को पेड़ों के नीचे नहीं खड़े होने देती थी। कहा करती थी, 'पेड़ों पर रात को रूहें रहती हैं जो बच्चों को पकड़ में ले लें तो वे मिनटों में हँसते-हँसते रोने लगते हैं।' एक बार जब सलामत बहुत छोटा था, दूध पीते-पीते ऐसे रोने लगा कि मिनटों में नीला पड़ गया। अम्माँ उसे लम्बे के मज़ार पर ले गयी थी और वहाँ एक पीर ने उस पर से रूह को उतारा था।

यह बहुत पुराने दिनों की बातें थीं, शीरीं की भूली हुई, उपन्यास की नक़ल करते हुए भी याद नहीं आयी। पर आज शीरीं को एक भूले हुए सपने की तरह उधड़कर दिखाई देने लगीं और सामने की इबारत में से मीता भी उधड़कर इन में मिल गयी।

'पर वह तो अच्छी रूह थी...' शीरीं ने बड़ी होशमंदी से एक दलील खोज निकाली और रूहों की सुनी-सुनायी कहानियों को हाथ से परे झटक दिया।

पर मीता का अस्तित्व उस के और निकट आ गया। इतना कि शीरीं को लगा, उस के हाथ से छू गया है।

उस का सारा शरीर सुन्न-सा हो गया...

'क्या मालूम...रूहें सच्ची होती हों तो इस वक़्त...' शीरीं के माथे में से एक विचार उभरकर माथे की नस की तरह कस गया।

उपन्यास की इबारत में संजय की रूह का हाथ मीता की रूह की ओर बढ़ा, तो रैक के ख़ाने में से किसी अक्षर को लेने के लिए बढ़ा हुआ शीरीं का हाथ, रैक के परे दीवार की ओर चला गया।

ठोस दीवार ने शीरीं के हाथ को जैसे थाम लिया, रोक लिया, तो शीरीं को होश-सा हो आया कि वह मीता की ओर बढ़े हुए संजय के हाथ को अपने हाथ से

जैसे रोक लेना चाहती थी...

शीरीं ने अपने हाथ को जैसे झिड़क-सा दिया। सिक्के का एक अक्षर उस की पोरों में थमा हुआ था—'म', मीता के नाम का पहला अक्षर।...

'मुझ से मीता का नाम सहा नहीं जा रहा है।' शीरीं के हाथ में थमा हुआ सिक्के का छोटा-सा अक्षर बहुत भारी हो गया।

'वह कहीं नहीं है...पर हमेशा रहेगी...' और शीरीं के हाथ में थमा हुआ सिक्का उस के सारे शरीर में भरने लगा...

खिड़की के चौखट के पास धूप की एक लकीर आ गयी थी, वह जब चौखट लाँघकर खिड़की के पास लगी हुई मेज़ पर पड़ी, उन अक्षरों पर जो शीरीं ने कम्पोज़ किये थे, तो शीरीं को सवेरे वाली बात याद हो आयी, 'देखो यह लड़की जैसे किताब पर छपी हुई तस्वीर हो...'

वही धूप की लकीर इधर शीरीं के होंठों के पास आ गयी, 'मीता हमेशा किताब के अन्दर होगी, अक्षरों में, पर मैं...'

और शीरीं को लगा, वह सारी की सारी किताब की जिल्द पर मढ़ी हुई है...

होंठों के पास एक मुसकराहट-सी आ गयी।

उसने फिर कागज़ की इबारत की ओर देखा और हाथ के अक्षर को कम्पोज़िंग की इबारत में जोड़ दिया, फिर अगला अक्षर भी ले लिया, उस से अगला भी...

और उस ने जैसे संजय का जो हाथ मीता की ओर बढ़ रहा था, वह बढ़ने दिया...

इस समय, पूरे का पूरा संजय एक नीली शून्य की रोशनी में भटक रहा था, पर शीरीं धरती की धूप-सी धरती पर ठहर गयी...

सलामत दोपहर बाद लौट आया था, पर खाना खाकर सो गया। संध्या समय जब करीम और संजय आये, करीम ने जमीला से चाय बनाने के लिए कहा और संजय सीधा कम्पोज़िंग वाली कोठरी का भिड़ा हुआ दरवाज़ा खोलते हुए बोला, "कल को करीम मियाँ! चाहे हमारा बड़ा-सा प्रेस लग जाये, पर यह कोठरी हमेशा याद रहेगी।"

संजय जब कोठरी के भीतर गया तो सामने नये कम्पोज़ किए हुए पन्नों पर नज़र पड़ी, ज़ोर से सलामत को आवाज़ देते हुए उसने कहा, "सलामत मियाँ! जवाब नहीं तुम्हारा..."

सलामत बराबर के कमरे में सोते हुए जाग उठा, बाहर आँगन में आते हुए बोला, "भाई जान! दो अक्षर छपने में टूटे थे, पूछिये अब्बा से मैंने झट बदल दिये थे।"

"हाँ मियाँ! वह भी रास्ते में मुझे करीम ने बताया था, पर मैं तो हैरान हूँ।

तुम ने दोपहर को आकर इतने पन्ने और कम्पोज़ कर दिये ?"

"नहीं तो..." सलामत ने कहा, और कोठरी में झाँककर देखने लगा।

संजय कभी कम्पोज़ की हुई गैली को देखता था, कभी सलामत की ओर...

सलामत बात समझ गया, पर उस की समझ में नहीं आ रहा था कि अब कहे तो क्या कहे।

करीम ने एक बार शीरीं को चौतरी पर हाथ धोते हुए देखा था, यह भी लगा था कि हाथों को मल-मलकर वह हाथों पर से कुछ छुड़ा रही है, पर उस ने और कोई अन्दाज़ा नहीं लगाया था, इस समय उसे सलामत की चुप से सारा अन्दाज़ा हो गया, बोला "फिर मैं नजूम लगाऊँ ?"

शीरीं ने जमीला के हाथ से चाय का गिलास लेकर देते हुए कहा, "अब्बा ! आप कब के नजूमी बन गये, आराम से चाय पीजिये !"

शीरीं ने अपनी ओर से अब्बा को चुप रहने का इशारा किया, तो करीम का अन्दाज़ा यक़ीन में बदल गया, बोला, "नजूम तो सीखा नहीं, पर नजूम में एक इल्मे-कयाफ़ा होता है, वह मैं लगा सकता हूँ..."

और करीम ने संजय के कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा, "यह लड़की हमें फिर मात दे गयी।"

"तुम्हारा मतलब है, शीरीं !..." संजय ने कोठरी से बाहर आकर दरवाज़े के पीछे छिपी हुई-सी शीरीं की ओर देखा, तो सलामत उस के पास आकर बोला, "भाई जान ! मुझे उस ने क़सम दिलायी थी कि आप को बताऊँगा नहीं। वह पहले दिन से ही मुझ से कम्पोज़िंग सीखने लगी थी, पहले पन्ने भी मेरे साथ उस ने किये थे।"

संजय कुछ न कह सका। सिर्फ़ शीरीं की ओर एक सलाम में उस का हाथ उठा, और लगा, जब दुनिया में किसी इन्सान ने पहली बार किसी इन्सान को सलाम कहा होगा, उस की सारी ज़बान ज़रूर उस के ऊपर को उठते हुए हाथ में आ गयी होगी।

करीम ने आगे होकर शीरीं की पीठ पर हाथ रखा, तो उस की आँखों में पानी आ गया, बोला, "एक दिन मुझे हसरत आयी थी कि शीरीं और जमीला की बजाय अगर दो लड़के होते..."

और साथ ही करीम को एक हावका-सा आ गया, "पर इस जैसी लड़की दुनिया में कहाँ समायेगी ? यह दुनिया..."

शीरीं ने करीम की पिघली हुई छाती से सिर लगा दिया, "अब्बा ! बस, एक बात कहनी है।"

"क्या, बेटी ?"

"एक मशीन ला दीजिये।"

"मशीन ?"

"वही, जो आप चलाते हैं।"

"छापे की मशीन ?"

"वही। और मुझे सिखा दीजिये।"

"तुम मशीनमैन बनोगी ?"

करीम ज़ोर-ज़ोर से हँसने लगा, "बरकत ! बाहर तो आओ। तुम्हारी बेटी मशीनमैन बनने लगी है।"

बरकत जानती थी कि शीरीं ने कैसे भीतर बैठकर पढ़ना सीखा था, कैसे बैठ-बैठकर यह दूसरा काम सीखा था, बाहर दहलीज़ में आकर बोली, "यह तुम्हारी लड़की जग से न्यारी है, अपने हाथ से दी हुई गाँठें अपने ही दाँतों से खोलना..."

अगने कुछ दिनों में दूसरा फ़रमा भी पहले की तरह छप गया। संजय ने प्रूफ़ देखे, ग़लतियों के निशान लगाये। शीरीं ने वे ग़लतियाँ ठीक की थीं। अब उसे सलामत की ओट में खड़े होकर काम करने की ज़रूरत नहीं थी, उस ने दूसरी बार प्रूफ़ निकालकर ख़ुद संजय को दिखा लिये थे। पर संजय ने महसूस किया कि घर की हवा किसी जगह कुछ तनी हुई है।

आज वह तीसरे फ़रमे के प्रूफ़ देख रहा था, जब करीम ने आकर दो पतले-पतले रजिस्टर उस के सामने रख दिये, "लो, तुम रोज़ कहते थे, मैं हिसाब-किताब की कापियाँ ले आया हूँ..."

संजय ने दोनों रजिस्टर देखे, एक कैश बुक थी, एक लेजर, बोला, "यही तो हमारे ताज प्रेस की इब्तदा है—इब्तदाए-इश्क..."

"सुन रही हो, ताज़ी की माँ !" करीम ने ज़ोर से कहा, तो पास से संजय बोल उठा, "इस के पहले पन्ने पर ताजी का अँगूठा लगवायेंगे।"

नेमत पास आते हुए बोली, "मैं तो उज्र नहीं करती, तुम्हारा जी करता है तो गाड़ लो मशीन, तुम्हारी मलिका-मुअज़्ज़िमा ही कहती हैं कि घर में खड़-खड़ नहीं आने देंगी।"

करीम ने संजय की ओर देखा, "बंदा ख़ुदा का पार तो पा सकता है, पर ख़ुदा की मख़लूक़ का नहीं..."

संजय ने कहा कुछ नहीं, हँस दिया। पर यह जान गया कि पिछले कुछ दिनों से घर में क्या तनाव था।

करीम कह रहा था, "लड़की ने मशीन की बात क्या छेड़ी है, ये दोनों उसी दिन से चिढ़ी हुई हैं कि घर में मशीन नहीं लगाने देंगी। वह क्या कहते हैं भई...गेहूँ खेत, लड़की पेट और आओ दूल्हा मियाँ ! रोटी खाओ...अरे, मशीन के लिए रक़म कहीं छत-छप्पर से गिरती है ! ये पहले से ही लड़ाई ठानकर बैठ गयी हैं।"

संजय कुछ देर सोचता रहा, फिर उस ने कहा, "वे सच्ची हैं, मियाँ !"

पर संजय की बात काटकर करीम बोल उठा, "हैं तो सच्ची, सोचती होंगी कि दो मशीनों की तो पहले ही खड़-खड़ होती रहती है, ऊपर से तीसरी मशीन आ गयी तो..."

नेमत मुँह में पल्ला देकर हँस पड़ी, पर बरकत ने करीम को जवाब दिया, "हाँ, हम कैंचियाँ भी हैं, मशीनें भी। गली-पड़ोस की बातें तुम्हारे कानों तक नहीं पहुँचतीं, वे सुन लें तो ज़बान ख़ुद ही कैंची बन जाती है।"

करीम ने भी घूरकर बरकत की ओर देखा, बोला, "ख़ुदा ने सारी चीज़ें बनायी हैं; लोगों की ज़बान बनायी है, तो कानों में देने के लिए रुई भी बनायी है, पर मैं तो कहता हूँ, मशीन न जाने एक बरस में लगती है या दो बरस में... तुम..."

'तुम' लफ़्ज़ पर आकर करीम का स्वर ज्यादा गर्म हो गया, तो संजय ने बीच में बात काट दी, "मियाँ ! तुम यूँ ही बहस करते हो, मशीन घरों में लग नहीं सकती, उस के लिए कर्मशियल एरिया होना चाहिए..."

करीम ने कोई पल-भर सोचा, फिर कहा, "वह नयी आबादियों की बात है। पुरानी आबादियों में घरों में ही लगायी हुई हैं।"

"पर जो लग चुकी हैं, वे लग चुकी हैं, शायद अब नहीं लगाने देते।"

"वह तो मालूम कर लेंगे, जब लगायेंगे। अभी तो उस की बात भी सपना है।"

"सपना तो नहीं..." संजय ने कहा, "आज बल्कि मुझे तुम से बात करनी थी। वह जो किताब मैं ने तर्जुमा की है, उस के छापने की बात कर रहे हैं, बाहर के मुल्क की है, वह हर ज़बान में छपवाना चाहते हैं। कह रहे थे, आप अपनी ज़बान में ख़ुद छाप दीजिये तो छपते ही तीसरा हिस्सा कापियाँ वह ख़रीद लेंगे,

पूरे दाम पर। मैं ने हिसाब लगाया है, छापने की सारी नहीं तो पौनी लागत उसी वक़्त निकल आती है, बाक़ी और सौ पचास कापियाँ बिकने पर निकल आयेगी। फिर बाक़ी कापियाँ निरा मुनाफ़ा होंगी..."

"फिर तो मशीन लायक़ पैसे यह रखे हुए हैं..." करीम चारपाई पर आधा-सा लेटा हुआ था, उठकर बैठ गया।

"पूछते थे,' आप की ज़बान में लगभग कितनी कापियाँ बिक जायेंगी ?' मेरा ख़याल है, छः-सात सौ से ज्यादा नहीं बिक सकतीं, सो मैं ने कहा, एक हज़ार छप जाये, तीन सौ वह ले लें तो बाक़ी बिक सकती हैं। और बड़ी बात यह कि वह किताब मुझे बहुत पसंद है, इटली के किसी इलाक़े की कहानी है, जहाँ अंगूर की खेती करने वाले मज़दूर शासन के ज़ुल्म से लड़ते हैं..."

करीम ने प्यार से संजय की पीठ पर हाथ फेरा, बोला, "तेरे जन्म की रात और कौन जन्मा होगा। तुम्हारी जगह मेरे प्रेस का मालिक होता तो कहता, 'जी, हमारी ज़बान में दस हज़ार बिकेंगी, और फिर जो तीन, साढ़े तीन हज़ार उन को ख़रीदनी होतीं, वही छपाकर उन के आगे धर देता और चौगुने पैसे बनाकर जेब में डाल लेता। किताब की क़ीमत लागत से पाँच गुना रखते हैं।"

"वह काम ताज प्रेस में नहीं हो सकता।"

"वह तो नहीं हो सकता...पर यह बताओ, क्या यह बात पक्की है ?"

"उन की तरफ़ से पक्की है। वे तो लिखकर देने को तैयार थे, मैं ने कहा तुम से पूछ लूँ।"

"फिर करें मशीन का पता ?"

"नहीं, अभी नहीं।"

"क्यों ?"

"इसी तरह तकलीफ़ उठाकर औरों की मशीन पर छाप लें। फिर कोई जगह देख लेंगे, तब सोचेंगे...चलो, यह रजिस्टर शुरू करें। कितने दिनों से छोटा-मोटा ख़र्च हो रहा है, सब लिख लें।" संजय ने कहा और जमीला को बुलाकार बोला, "ले आओ ताज़ी को। उस के अंगूठे पर स्याही लगाकर पहले इस पर उस का दस्तख़त करायें।"

करीम ने एक लम्बी साँस ली और हँस पड़ा, "लोग तो अपने रजिस्टरों पर पहला दस्तखत शैतान का करवाते हैं, क्योंकि बाद में जाली रसीदों की रक़म भरनी होती है, तुम्हें अभी परसों की बात सुनाता हूँ। किसी चित्रकार से हमारे मालिक ने काम करवाया होगा। वह पैसे लेने आया तो साठ रुपये देकर उस के आगे दो सौ की रसीद रख दी दस्तख़त करने के लिए; वह तो ज़ोर-ज़ोर से शोर मचाने लगा..."

संजय हँस दिया, "मियाँ! तुम किस पर उंगली रखोगे जो यह काम न

करता हो ?"

"तुम्हारे ताज प्रेस पर उँगली रखूँगा, देखना तुम !" करीम ने कहा और ताज़ी के दाहिने अँगूठे पर स्याही लगाने लगा, जिसे जमीला ने अपनी बाँहों में उठा रखा था।

शीरीं चुपचाप करीम के पास आकर खड़ी हो गयी और जब करीम ने रजिस्टर के पहले पन्ने पर ताज़ी का अँगूठा लगा दिया, तब बोली,"अब्बा! चाचा फत्ते का सारा घर ख़ाली पड़ा है, चाक तो एक तरफ़ लगा हुआ है, लगा रहे, दूसरी तरफ..."

"ओह तुम जीती रहो !" करीम ने ज़ोर से कहा, "मुझे ध्यान ही नहीं आया! क्यों यार ! वहाँ एक कोठरी में मशीन लगा लें..."

"अगर वह मान जाये तो...बल्कि पैसों से तंग है, हर महीने कुछ किराया उसे दे देंगे..." संजय कह रहा था जब करीम चारपाई से उठकर खड़ा हो गया।

"अगर बात बन जाये, तो शीरीं को फिर सलाम करना होगा..." करीम ने हँसकर संजय को भी उठाया, "चलो, उस से चलकर पूछें।"

वे दोनों जाने लगे तो शीरीं उन के पीछे-पीछे आते हुए बोली, "अब्बा ! मैं भी आ जाऊँ ?"

"आइये, मशीनमैनजी ! आप आगे-आगे चलिये।" करीम ने मज़ाक़ में कहा तो शीरीं ने सचमुच आगे होकर फत्ते का दरवाज़ा जा खटखटाया।

"मेरा इज़्ज़त बेग आया है ?" फत्ते ने आँगन में चारपाई डालते हुए कहा तो शीरीं फत्ते के कान के पास को होकर बोल उठी, "चाचा ! मैं और अब्बा भी आये हैं। आप को हम नहीं दिखाई देते ?"

फत्ते के कानों में कसर नहीं थी, पर शीरीं ने जब ऐसे बात की, जैसे ऊँचा सुनता हो तो फत्ता भी उस की नक़ल करते हुए बोला, "अच्छा, क्या कहा ? और कौन आया है ?"

और फत्ते के साथ और सब भी हँस पड़े।

करीम ज़रा विस्तार से फत्ते को मशीन के बारे में समझाने लगा तो शीरीं ने देखा, फत्ते के कुछ भी पल्ले नहीं पड़ रहा है। वह बार-बार पूछ रहा था,"कैसी मशीन ? कितनी बड़ी होती है ?" तो शीरीं बोल पड़ी, "चाचा ! आप यही समझ लीजिये, जितना आप का आवा है जिस में आप कच्चे बर्तन पकाते हैं। बस, वह भी आवे जैसी है, उस में अक्षर पकाने हैं—जो कच्चा लिखा हुआ होता है न काग़ज़ों पर..."

"अच्छा, अच्छा..." फत्ते ने कहा, "फिर तुम यहाँ बैठकर अक्षर पकाओगी ?"

संजय ने चौंककर शीरीं की ओर देखा, तो उसे लगा, उस की अपनी नज़र अपनी आँखों में जम गयी है।

करीम भी मुसकरा पड़ा, संजय की ओर देखते हुए बोला, "मुझे पूरी उम्र हो गयी है मशीन चलाते, पर कच्चे अक्षरों को पकाने वाली बात मुझे नहीं सूझी थी।"

"यह तो, यार ! किसी अदीब को भी नहीं सूझ सकती।" संजय ने कहा और आँखें नीची कर लीं।

शीरीं फत्ते से कह रही थी, "हाँ, चाचा ! यहाँ आप के पास बैठकर अक्षर पकाऊँगी...अब्बा आप से यही पूछने आये हैं..."

फत्ते ने लड़की की पीठ पर एक धप्पा मारा, "और इस बात के लिए तुम अब्बा की सिफ़ारिश लायी हो ? तुम तो सलमा बेटी हो, जो मशीन लगाना चाहती हो, लगा लो।"

वे तीनों जने फत्ते के घर से लौट रहे थे। संजय ने शीरीं के पास को होकर कहा, "लगता है, अब मुझे नया उपन्यास लिखना पड़ेगा—'कच्चे अक्षर।'

शीरीं ने दोनों आँखें उठाकर एक बार संजय की ओर देखा, फिर आँखें अलग कर लीं। पर संजय को लगा, आँखों में कुछ था जो इधर उस के पास रह गया है।
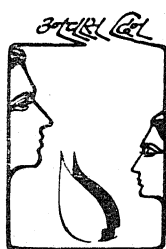
सारी ओर फैला हुआ एक अँधेरा था, पर यह नहीं मालूम, रात के किस पहर का।

अँधेरे को रह-रहकर हिलाती हुई एक आवाज़ ज़रूर आती थी, 'जागते रहो...' पर फिर घड़ी भर के लिए उस आवाज़ के होंठों पर भी वह अँधेरा अपना हथेली रखता लगता था, और वह चुप हो जाती थी।

संजय भी अँधेरे के एक टुकड़े की तरह निश्चल अपने दीवान पर पड़ा रहा।

लगा, उस की छाती में से भी कोई चीज़ उठकर कह रही है, 'जागते रहो', और फिर कहीं भीतर से ही एक हाथ उठकर उस आवाज़ के होंठों पर हथेली रख रहा है।

जी किया, अभी कमरे की सीढ़ियाँ उतरकर नीचे सड़क पर जाये, और लालटेन लिए ख़ाली सड़क पर घूमने वाले चौकीदार से पूछे, 'तुम ने कभी उन लोगों के चेहरे देखे हैं, जिन से डरते हुए तुम रोज़ लोगों को जागते रहने के लिए कहते हो ?'

पर वह वैसे का वैसा दीवान पर पड़ा रहा।

उस का हाथ अपनी छाती पर था, उँगलियाँ हौले-हौले हिलने लगीं, छाती को हौले से खरोंचती हुई-सी, शायद होंठों का वही सवाल छाती से पूछती हुई, 'किस के डर से जाग रहे हो ? किस के डर से ? यहाँ इतने अँधेरे में कौन आयेगा ? क्यों आयेगा ?...कौन ?'

लगा, छाती में कुछ हिलता है, कोई चीज़, जैसे कोई अँधेरे में किसी चीज़ को छिपाकर रख रहा हो।

संजय की साँसें छोटी और भारी हो गयीं, शायद भीतर पड़ी हुई किसी चीज़ के भार से...

बाहर से चौकीदार की आवाज़ फिर आयी, "जागते रहो !"

संजय जाग रहा था, पर फिर भी कुछ था जो उस के भीतर बाहर से आ गया था। वह न जाने वहाँ कुछ रख रहा था, या वहाँ से कुछ निकल रहा था।

उस ने थककर आँखें मींच लीं।

पर वह जाग रहा था, लगा, वह ज़बर्दस्ती आँखों को बंद कर रहा है, कानों को भी...

उस के होंठों ने एक बार उस के कानों के पास होकर कहा, 'शीरीं' पर उस ने सुना नहीं।

छाती में फिर कुछ भारी-सा महसूस हुआ। उस ने हथेली से गले से लेकर नीचे छाती तक सारे मांस को टोहा...

हथेली धीरे से काँप गयी, जैसे जो कुछ छाती में था, वह एक बार हथेली से छू गया था।

उस का हाथ छाती से अलग होकर दीवान के सिरे की ओर चला गया और फिर आगे, नीचे एक शून्य में लटक गया।

यह खुली ऋतु के दिन थे, जब नीक की पत्तियाँ झड़ती हैं। कमरे की खुली हुई खिड़की में से बाहर लगे हुए पेड़ की पत्तियाँ झड़कर रोज़ कमरे के फ़र्श पर बिछ जाती थीं। आज भी जब संजय ने करवट बदली, दीवान की पट्टी के नीचे ख़ाली जगह में झाँकते हुए उस का हाथ नीम की पत्तियों से छू गया।

"शीरीं..." सचेत किन्तु ज़ोर से उस के मुँह से निकल गया। लगा, शीरीं उस की बाँह के पास खड़ी हुई है, और उस की अपनी हथेली शीरीं के बदन की काली चिकन की कमीज़ की बूटियों पर पड़ी हुई है।

बाहर से चौकीदार की आवाज़ आयी, "जागते रहो !'

पर वह सोया हुआ नहीं था...

संजय ने मुट्ठी में नीम की पत्तियों को लेकर दुलराया, तो जैसे काली कमीज़ की चिकन की बूटियाँ उस की पोरों में काँपने लगीं।

संजय जानता था, पिछले दो दिन से वह कुछ नहीं लिख सका था। करीम के घर भी नहीं गया था। लिखने के लिए जब भी काग़ज़ सामने रखता था, शीरीं की वह कच्चे अक्षरों वाली बात याद आ जाती थी।

वह शीरीं ने सहज स्वभाव पता नहीं कैसे कही थी, पर संजय ने जब से सुनी थी, वह उस के कानों में खड़ी हुई थी...होनी का एक फ़ैसला-सा बनकर।

लग रहा था, वह जब भी और जो कुछ भी लिखेगा, सब कच्चे अक्षर होंगे।

'शीरीं जब नहीं होगी, किताबें तब भी छपेंगी।' पर संजय को लग रहा था, 'छपी हुई किताबों में भी कुछ होगा, जो कच्चे अक्षर रह जायेगा।'

'बात सिर्फ़ छापे की मशीन की थी, सामने कुम्हार के औज़ार और सामान थे, चाक, आवा, मिट्टी, कम्बख़्त उन्हीं चीज़ों की उपमा देकर कितनी बड़ी बात कह गयी। किताबों के सारे इतिहास में किसी ने नहीं कही होगी, जो वह कह गयी—'चाचा ! आप यही समझ लें, जैसे आप का आवा है, जिस में आप कच्चे बर्तन पकाते हैं, बस वह भी आवे जैसी है, उस में अक्षर पकाने हैं।' संजय आप ही सोचता और आप ही एक शून्य में देखता रह जाता।

कल एक बार संजय की आँखों में पानी-सा भी आ गया था, 'कम्बख़्त ! अम्बर-रंगी बातें तो दुनिया में बहुत इल्म वाले हैं जो कर सकते हैं, पर तुम ने यह मिट्टी-रंगी बातें कहाँ से सीख लीं ? ये बातें कोई इल्म वाला भी नहीं कर सकता।'

और कल से संजय को अपने आप से एक खौफ़-सा लग रहा था, 'मैं जब भी कुछ लिखूँगा, वह छपेगा, पर उस में हमेशा ऐसा होगा जो कच्चे अक्षर रह जायेगा।'

यही 'कुछ' संजय की पकड़ में नहीं आ रहा था।

लगा, इस समय, रात के अँधेरे में, ज़रूर यही 'कुछ' है जो उस की छाती में कोई छिपाकर रख रहा है, शायद उस का अपना ही हाथ !

सवेरा हुआ। काम पर जाते हुए करीम इधर भी आया, बस इतना कहने के लिए, 'यार ! तुम घर जाकर प्रूफ़ देख आना, फ़रमा रुका हुआ है।' पर संजय से उठा न गया।

अब अच्छा दिन चढ़ आया था। लोगों को जागने के लिए कहने वाली चौकीदार की आवाज़ कहीं नहीं थी, पर संजय की छाती में कहीं एक अँधेरा था, जिस के किसी कोने में अभी भी कोई उसे जागते रहने के लिए कह रहा था।

चौकीदार ने रोज़ की तरह पास के होटल से संजय के लिए चाय और रोटी ला दी, तो संजय ने ग़ुसलख़ाने में जाकर कपड़े बदले, बाहर आकर रोटी खायी, और फिर एक बार शीशे में अपनी 'जागती आँखों' की ओर देखकर, साइकिल लेकर करीम के घर की ओर चल दिया।

करीम की गली वाले मोड़ में मुड़ा ही था कि अपनी दहलीज़ में खड़े हुए फत्ते ने उसे पुकार लिया, "मियाँ इज़्ज़त बेग ! तुम्हारा सवेरे से इन्तज़ार कर रहा हूँ। आज आवे में बर्तन चढ़ाये थे, करीम को कल सन्देशा भी दे दिया था..."

संजय ने अपनी साइकिल फत्ते की ड्योढी में रख दी, "कल मैं आया ही नहीं था, यार ! इसी लिए तुम्हारा सन्देशा नहीं मिला।"

और संजय ने अन्दर आँगन में आते हुए पूछा, "फिर रख लिये बर्तन आवे में ?"

"कब के, अब तो बाहर भी निकाल लिये हैं। सवेरे से मेरी बेटी आयी हुई है मेरी मदद के लिए।" फत्ते ने कहा, तो संजय ने दूसरे कोने में शीरीं को आवे से निकाले हुए बर्तनों को इकट्ठा करते देखा।

"देखो, मेरी बेटी ने प्यालों पर कैसे फूल-बूटे बनाये हैं !" फत्ते ने आगे बढ़कर कई प्याले फ़र्श पर से उठाये और संजय को दिखाते हुए बोला, "कैसे लगे तुम्हें ?"

"जी करता है, हर प्याले में पानी डालकर पीयूँ।" संजय ने आँगन में चारपाई पर बैठते हुए जवाब दिया, तो फत्ते ने शीरीं की ओर देखा, "ले आ, बेटी ! एक प्याला सुच्चा करवा लें !"

संजय की आँखें पिघलकर फत्ते की ओर देखने लगीं, कहा कुछ नहीं, पर अपनी इस सभ्यता पर उसे प्यार-सा आ गया, जहाँ लोग बर्तन को 'जूठा होना' कहने की बजाय 'सुच्चा होना' कहते हैं।

फत्ता एक ऐसा प्याला उठाकर शीरीं की ओर कर रहा था, जिस पर उस की समझ से ज्यादा बूटियाँ बनी हुई थीं, पर शीरीं ने हाथ में एक प्याला रखा था, कह रही थी, "नहीं, चाचा ! यह ज्यादा ख़ूबसूरत।"

"अच्छा, जो तुम्हें ख़ूबसूरत लगता है..." फत्ते ने अपने हाथ का प्याला नीचे रख दिया, और शीरीं अपने हाथ के प्याले को धोकर घड़े में से पानी भर लायी।

संजय ने पानी का भरा प्याला ले लिया और दो घूंट पीकर उस की बूटियाँ देखने लगा।

और नज़र बूटियों से हटकर परे खड़ी हुई शीरीं की ओर देखने लगी।

शीरी की मोटी काली आँखों ने सिर्फ़ एक बार ग़ौर से संजय की ओर देखा, फिर आँखें हटा लीं, पूछा, "और पानी दूँ ?"

"चाय धर दे, बेटी ! पानी ही पिलाती जायेगी ?" पास से फत्ते ने कहा और ख़ुद उठकर भीतर चूल्हे पर चाय का पानी रखने लगा।

संजय ने जवाब नहीं दिया, सिर्फ़ शीरीं की ओर देखता रहा।

शीरीं को इस तरह खड़े रहना शायद मुश्किल लग रहा था, एक और प्याले में पानी डालकर ले आयी, फिर पूछा "और पानी दूँ ?"

संजय ने हाथ में लिये हुए प्याले के फूलों में उस जगह की ओर इशारा किया जहां शीरीं ने फूल-बूटे बनाते वक़्त उन के बीच में दो अक्षर भी लिख दिये थे 'मीता'...और संजय ने शीरीं की ओर देखते हुए कहा, "तुम मुझे बीते हुए कल के प्याले में, आने वाले कल का पानी पिलाओगी ?"

शीरीं ने सिर झुका लिया। जवाब नहीं दिया। पर जब सिर उठाकर एक बार संजय की ओर देखा, उस की आँखों में आँसू भरे हुए थे।
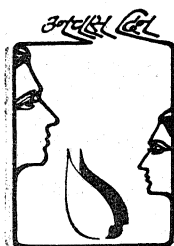
आठवाँ फ़रमा छपने जा रहा था, जिस शाम संजय उस के आख़िरी प्रूफ़ देखने आया। करीम के पास बैठकर एक अख़बार उस के आगे रखकर बोला, "यह देखो, मियाँ !"

करीम ने अख़बार उठा लिया, उलटा-पलटा, पर फिर चारपाई पर रखते हुए बोला, "लड़के-लड़कियों ने भी यह काफ़िरों की ज़बान सीख ली है, पर मुझे ही नहीं आयी...क्या लिखा हुआ है इस में ?"

"वह मेरा उपन्यास छप रहा था न क़िस्तवार..."

"मैं समझता हूँ, अब तो उस की सारी क़िस्तें छप चुकी हैं।"

"हां, इसी लिए अब अपनी ज़बान में शुरू हुई है।"

"पर यह अख़बार तो कोई अच्छा नहीं मालूम होता, बहुत ख़राब-सा काग़ज़ है, मोटे-मोटे शीर्षक..."

"सो, अच्छा ही है, तुम देख सकते हो, पढ़ नहीं सकते।"

"यह भी नाविल छापने लगे हैं ?"

"नाविल नहीं, मियाँ ! गालियाँ...और वह भी क़िस्तवार। लिखा है, 'बाक़ी गालियाँ अगले हफ़्ते दी जायेंगी'।"

"हराम के बीज..." करीम की ज़बान पर ज़ोर से यह गाली आ गयी, तो संजय ने कहा, "तुम, मियाँ ! अपनी ज़बान क्यों मैली करते हो, यह काम उन लोगों के लिए ही रहने दो।"

"पर कहते क्या हैं ?"

"कहते हैं, यह उपन्यास ज़ब्त हो जाना चाहिए।"

"वह क्यों ?"

"इस में जो दोज़ख़ का ज़िक्र है उस के कारण। कहते हैं, इस में सरकार के ख़िलाफ़ बग़ावत की गयी है, दोज़ख़ का नाम लेकर सरकारी अफ़सरों की निंदा की गयी है।"

"फिर तो सच ही कहते हैं।" करीम ने कहा और हँसने लगा, "अगर ज़ब्त नहीं करेंगे तो दोज़ख़ का सबूत कैसे देंगे ? तुम ख़ुद सोचो, मियाँ ! अगर वह लोगों को धरती पर जन्नत का सपना देखने की इजाज़त दे दें तो फिर यह दोज़ख़ ही काहे की हुई ?"

संजय ने करीम के जिगरे की ओर मुसकराकर देखा, पर बोला, "मैं सोचता हूँ, अभी हम मशीन न लगायें। क्या मालूम उपन्यास सचमुच ज़ब्त हो जाये तो सारा नुकसान हो जाये, फिर मशीन की क़िश्तें भी उतारनी पड़ेंगी। साथ ही अगर तुम ने नौकरी छोड़ दी तो और मुश्किल हो जायेगी।"

जब संजय यह कह रहा था, कोने में खड़ी हुई शीरीं सब कुछ सुन रही थी। वह इधर इन के पास आ गयी और बोली, "अब्बा को नौकरी नहीं छोड़ने देंगे, मशीन मैं चलाऊँगी।"

करीम ने जवाब नहीं दिया, संजय ने दिया, "तुम ने सारी बात सुनी है ? यह उपन्यास शायद ज़ब्त हो जायेगा।"

"हो जाये..." शीरीं ने कहा और अब्बा की ओर ध्यान मोड़कर बोली, 'बस, इतवार के दिन मुझे सिखा दिया कीजियेगा दो-चार बार सिखायेंगे तो ख़ुद चलाने लगूँगी।"

करीम हँस पड़ा, "अच्छा, अच्छा, तुम्हें ज़्यादा जल्दी है तो चलो, किसी प्रेस में मशीनमैन बना देते हैं।"

शीरीं की आवाज़ कुछ तन गयी। ऐसी आवाज़ उसके मुँह से न पहले कभी

करीम ने सुनी थी, न संजय ने। वह कह रही थी, "मैं किसी की नौकरी नहीं करूँगी। न आप से सारी उम्र और कुछ माँगूंगी।"

करीम ने ज़रा चौंककर शीरीं की ओर देखा, पर कहा कुछ नहीं।

संजय ने कहा, "पर तुम जानती हो, किताब के ज़ब्त होने से कितना नुक-सान होगा ?"

"बस, काग़ज़ का नुकसान, जो ख़रीदा हुआ है।"

"तुम्हारी और सलामत की सारी मेहनत ?"

"उस का क्या है ? उस से तो हम ने काम करना सीखा।"

"मेरी सारी मेहनत ?"

"जिस ने नावेल लिख लिया, उस की मेहनत पूरी हो गयी। अख़बारों में गालियाँ देने वाले तो यह नावेल नहीं लिख सकते।"

अब संजय ने जवाब नहीं दिया, एक बार शीरीं की ओर देखा, फिर ध्यान हटा लिया।

शीरीं ने प्रूफ़ सामने रख दिये, और ख़ुद भीतर चली गयी।

"एक बात सुनो," करीम ने कहा, "वह दूसरी किताब मिल गयी है छापने के लिए ? वह जिस का तुम ने तर्जुमा किया है ?"

"हाँ, वह मिल गयी है।"

"एक काम और भी करें।"

"क्या ?"

"जो हमारे सूफ़ी शायर हैं, उन का कलाम इकट्ठा करके ज़रूर छापना चाहिए। वह मेरी सारी उम्र की हसरत है।"

"वह तुम इकट्ठा करो। फिर उस में से उम्दा-उम्दा शेर लेकर उन्हें तरतीब दे देंगे। और अगर तुम कहो..."

"क्या ?"

"अभी वह उपन्यास बीच में ही रोक दें ?"

"बिलकुल नहीं। बल्कि और भी ज़बानों वाले जो माँग रहे हैं उन्हें छापने दो।"

संजय चुपचाप प्रूफ़ देखने लगा। अच्छा अँधेरा पड़ गया था। जब प्रूफ़ ख़त्म हुए तो संजय सारे काग़ज़ करीम को थमाते हुए बोला, "तुम्हारी बात बिलकुल ठीक है। अगर मुल्क की तरक़्क़ी के लिए और लोगों के भले के लिए उठायी गयी आवाज़ को ज़ब्त न किया जाये तो फिर वह दोज़ख़ ही काहे की हुई ?"

"हाँ, मियाँ ! तुम ने जो कुछ लिखा है, वही सच्चा हो रहा है।" करीम ने कहा और हँसने लगा, "अदीब तो, मियाँ ! ख़ुद ही पैग़म्बर होता है।"
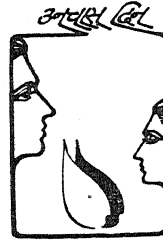
अब मौसम बदल गया था, पिछली गर्मियों में शीरीं और संजय ने आँगन में जो पौधे लगाये थे, उन पर अब नयी गर्मियों के नये पत्ते आने लगे थे। मोतिया के पत्तों के बीच कोई-कोई सफ़ेद कली दिखाई देने लगी, आड़ू के पेड़ पर कोई-कोई नीला फूल और अनार के पौधे पर लाल सुर्ख़ फूल...

पर ज़िंदगी के जिस कोने से एक गहरा काला बादल उठा था, संजय का उपन्यास ज़ब्त कर देने वाली अफ़वाह का, वह सब के सिरों पर उसी तरह घिरा हुआ था, कि एक और कोने से भी गरजता हुआ बादल उठ आया...

करीम ने, शाम को, इशारे से शीरीं को बुलाया, कहा, "चाचा फत्ता तुम्हें बुला रहा था। तुम चलो, मैं पीछे-पीछे आ रहा हूँ।" और जब शीरीं फत्ते के घर की ओर चल दी तो करीम उस के पीछे-पीछे तेज़ कदमों से चलकर उस के साथ जा मिला, कहा, "फत्ते के घर नहीं, मेरे साथ-साथ चली आओ।"

वे दोनों जब गली के बग़ल वाली दीवार की ओर से होकर पिछले खँडहरों तक पहुँच गये, करीम ने कहा, "तुम से एक बात करनी है, पर घर में किसी के सामने नहीं करनी थी।"

करीम खँडहरों की एक दीवार के साथ लगे हुए एक पत्थर पर बैठ गया, शीरीं को भी बैठने के लिए कहा, बोला, "यह मैं जानता हूँ, तुम झूठ नहीं बोलती हो, पर जो भी तुम्हारे मन में है, वह तुम मुझ से मत छिपाना। मुझे सच-सच बता दो, तुम्हारे मन में क्या है?"

"क्या बात हो गयी, अब्बा? मेरे मन में कुछ नहीं है।"

"तुम ने एक ज़िद पकड़ रक्खी है कि मशीन लगानी है।"

"पर वह तो आप का ही सपना है, अब्बा! ताज प्रेस का..."

"मेरा तो है, पर तुम जो यह कहती हो कि मशीन तुम चलाओगी, वह क्यों?"

"क्यों, लड़कियाँ मशीन नहीं चला सकतीं?"

"वह बात नहीं, पर तुम ने उस दिन कहा कि अब्बा! मशीन ला दीजिये,

फिर मैं ज़िन्दगी में आप से कुछ नहीं माँगूँगी..."

"हाँ, कहा था।"

"तुम सारी उम्र मशीन चलाओगी ?"

"हाँ, मैं ताज प्रेस चलाऊँगी।"

"पर जब तुम निकाह करके चली जाओगी, तब ताज प्रेस कैसे चलाओगी?"

शीरीं एक पल के लिए चुप हो गयी, फिर बोली, "अब्बा ! आप ने कहा था सच-सच बताना। इस लिए सच बताती हूँ कि मैं निकाह नहीं करूँगी।"

करीम चुपचाप शीरीं की ओर देखता रहा, भले ही पल-पल उतरते हुए अँधेरे में उस के नक़्श ज्यादा साफ़ नहीं दिखाई दे रहे थे।

फिर बोला, "तुम जानती हो, आज सवेरे मौलवी मीर मुहम्मद ने मुझे बुलाकर क्या कहा था ?"

"क्या ?"

"तुम्हारे निकाह की बात कर रहे थे।"

"पर उस से किस ने कहा था करने के लिए ?"

करीम कुछ सोच में पड़ गया, फिर बोला, "वह भी मैं तुम्हें बता दूँगा। पर पहले तुम मुझे यह बताओ कि तुम निकाह क्यों नहीं करोगी ?"

शीरीं ने कुछ देर जवाब नहीं दिया, फिर हँसने लगी, "सीधी-सी बात है, मुझे ताज प्रेस जो चलाना है।"

करीम ने अपना हाथ शीरीं के सिर पर रख दिया, कहा, "मैं ने तुम से पहले ही कहा था कि जो भी तुम्हारे मन में है, वह तुम मुझ से न छिपाना।"

शीरीं अब्बा के मुँह की ओर देखने लगी, और अपने सिर पर रखे हुए उस के हाथ को अपने हाथ से ज़रा अलग करती हुई बोली, "इस का मतलब यह है कि आप मुझे अपनी क़सम दिलवा रहे हैं ?"

करीम ने लड़की के संस्कार को समझ लिया, कहा, "चलो ऐसे ही समझ लो।"

"अगर मैं भी अपनी क़सम दिला दूँ कि यह बात मुझ से न पूछिये, तब ?"

करीम को लगा, लड़की अपनी उम्र से बहुत बड़ी हो गयी है, कहा, "बेटे-बेटियाँ जब जवान हो जाते हैं, एक तरह से बराबर के हो जाते हैं। फिर बेटे-बेटियों के साथ वह रिश्ता नहीं रहता, फिर माँ-बाप भी उन के दोस्त हो जाते हैं...मैं..."

"फिर मेरी क़सम खाइये कि आप किसी को नहीं बतायेंगे..."

"नहीं बताऊँगा।"

"किसी को भी नहीं ?"

"लो, यह बात मुझे मालूम न होती तो मैं तुम से घर बैठे ही न पूछ लेता,

मैं ने इसी लिए तुम्हारी अम्माँ के सामने कुछ नहीं पूछा।"

"मैं अम्माँ की बात नहीं कर रही हूँ, यह मैं जानती हूँ आप उन्हें नहीं बतायेंगे।"

"फिर और किसे ?"

"आप कभी अपने दोस्त को भी नहीं बतायेंगे।"

"संजय को ?"

"हाँ।"

"अगर तुम कहोगी तो नहीं बताऊँगा।"

शीरीं फिर चुप हो गयी।

"तुम्हें मुझ पर एतबार नहीं आता ?" करीम ने कहा तो शीरीं जल्दी से बोल उठी, "अब्बा ! मुझे सिर्फ़ आप पर एतबार है, और किसी पर भी नहीं।"

"फिर ?"

"बात यह है कि न मेरी कोई ग़लती है, न और किसी की, ग़लती तो अल्ला मियाँ से हो गयी..." शीरीं कह गयी, पर फिर न जाने अपने शब्दों से कुछ घबरा गयी, बोली, "चलिये, घर चलिये। आज नहीं, कभी फिर बता दूँगी।"

"नहीं, शीरीं..." करीम उठा नहीं, उस ने कहा, "बस्ती वालों ने दो टूक फ़ैसला माँगा है, नहीं तो मुझे डर है, वह कोई वारदात न कर दें।"

शीरीं को पहले फत्ते ने भी ऐसे ख़तरे से आगाह किया था, इस लिए वह ज़्यादा हैरान नहीं हुई, बोली, "अब्बा ! हम किसी और जगह जाकर नहीं रह सकते ? मुझे यहाँ के लोग अच्छे नहीं लगते।"

करीम के अन्तर से एक पीड़ा उठकर उस के होंठों पर आ गयी, "तुम यह भूल गयीं कि ग़रीबों के लिए सारी ही बस्तियाँ एक जैसी होती हैं ?"

"पर उन्हें हमारी क्या तकलीफ़ है ? हम उन्हें क्या कहते हैं ? अब्बा ! आप भी उन से डरते हैं ?" शीरीं ने यह कहा तो करीम ने बाँह में लपेटकर उस का सिर घुटने से लगा लिया, और कहा, "मैं अपने लिए नहीं डरता, पर अगर संजय को कुछ हो गया तो मैं क्या करूँगा ?"

शीरीं ने अब्बा के घुटने पर से सिर उठाकर अब्बा की ओर देखा।

"मैं कहता हूँ कि तुम मुझे दिल की बात बता दो।" करीम ने कहा तो शीरीं ने फिर धीरे से उस के घुटने से सिर लगा दिया, बोली, "अल्ला मियाँ से यही ग़लती हो गयी कि उस ने मुझे शीरीं बना दिया, मीता नहीं बनाया।"

करीम के अंगों में फिर एक जान आ गयी, बोला, "अगर वह मान जाये तुम से निकाह करने के लिए ?"

शीरीं की सारी जान उस की आँखों में सिमट गयी, और वह अब्बा के मुँह की ओर देखते हुए बोली, "यह कैसे हो सकता है ?"

"पता नहीं।" करीम की आवाज़ सोच में डूबी हुई-सी कह उठी, "बस्ती वाले कहते हैं, या तो सीधी तरह से शीरीं का कहीं निकाह कर दो, या संजय से कहो, अपना मज़हब बदल ले और शीरीं से निकाह करे !"

"नहीं, अब्बा ! नहीं..." शीरीं ने जैसे तड़पकर कहा ।

"मैं कब कह रहा हूँ..." करीम ने जल्दी से कहा, "उस से तो यह बात कहना भी कुफ्र है, मेरी जीभ न कट जाये यह बात कहते हुए।"

और करीम ने कुछ सोचते हुए शीरीं से पूछा, "पर एक बात बताओ। तुम ने ख़ुद ही यह सब सोच रखा है या संजय को भी बताया है ?"

"नहीं, अब्बा ! नहीं..."

"उसे तुम्हारे दिल का कुछ पता नहीं है ?" करीम ने फिर पूछा।

"नहीं।"

"फिर मैं उस से क्या कह सकता हूँ ?" करीम चुप-सा हो गया।

"पर मैं ने कब कहा है, कुछ कहने के लिए..." शीरीं ने कहा तो करीम सोच में पड़ गया, "अगर उस के मन में तुम्हारे लिए कुछ नहीं है, फिर तुम सारी उम्र क्या करोगी ?"

"प्रेस चलाऊँगी।" शीरीं ने कहा तो करीम को रुलाई जैसी हँसी आ गयी, मुँह से निकला, "दीवानी लड़की !"

"आप पर गयी हूँ," अब्बा शीरीं हँस पड़ी। उस ने और कुछ नहीं कहा। पर करीम की समझ से, आज वह अपने अब्बा से बहुत कुछ कह गयी थी।
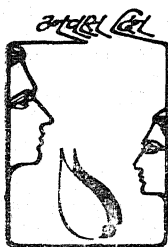
सारी रात करीम के मन की उथल-पुथल तारों की तरह चढ़ती और डूबती रही।

ऋतु बदल गयी थी, पर अभी किसी ने चारपाइयाँ बाहर नहीं डाली थीं। सब अपनी-अपनी कोठरियों में सोये पड़े थे, पर करीम बाहर आँगन में चारपाई डालकर लेटा हुआ था ।

उस ने घर में बरकत और नेमत से कोई बात नहीं की थी, इस लिए वह पल में चारपाई से उठता, पल में बैठता था, किसी को उस की ख़बर नहीं हुई । सिर्फ़ शीरीं ने आधी रात के समय उठकर बाहर अब्बा के पास आकर, हौले से कहा, "अब्बा ! आप मेरी फ़िक्र न कीजिये। आप आराम से सो जाइये, कुछ नहीं होगा।"

"तुम्हारे लिए फ़िक्र नहीं करता, बेटी !...पर ये लोग...कई इन में शरीफ़ भी हैं, पर कई निरे हराम के..." करीम कहते-कहते रुक गया। लड़की के सामने उस की ज़बान पर आने वाली गाली शर्मिन्दा हो गयी।

"गली से आना-जाना मुझे भी अच्छा नहीं लगता। अब्बा ! आप इस पीछे वाली दीवार में एक दरवाज़ा खुलवा लीजिये, पीछे की तरफ़ तो कोई नहीं रहता, जगह ख़ाली पड़ी हुई है, वह भी इधर से..." कहते-कहते शीरीं कुछ लजा गयी।

"इन बातों से कुछ नहीं बनता, बेटी ! बसी हुई गली में तो चार आदमी होते हैं, पिछली तरफ़ से गुज़रते हुए आदमी को भले ही कोई आराम से काटकर फेंक दे..." करीम ने कहा तो शीरीं का मुँह टूटते हुए तारे जैसा हो गया।

"जाओ, तुम सो जाओ, जाकर, नहीं तो भीतर से जागकर दोनों आ जायेंगी।'

शीरीं फिर कमरे में चली गयी। पर करीम की रात बरस जितनी हो गयी लगती थी, बीतने में ही नहीं आ रही थी।

तड़के ही शीरीं को उठाकर उस ने चाय पी और साइकिल निकालते हुए बोला, "अम्माँ से कह देना, आज जल्दी ही कोई काम था।"

"अब्बा !..." शीरीं दहलीज़ के पास आकर खड़ी हो गयी, "आप कहाँ जा रहे हैं ? उन की तरफ़ ?"

"दिल नहीं ठिकाने लग रहा...यूँ ही उस के पास जाकर बैठूँगा।"

"पर उन्हें यह बात मत बताइयेगा।"

करीम ने हामी में सिर हिला दिया, और चला गया।

सड़क पर बहुत दूर तक वह साइकिल को बड़ी तेज़ी से चलाता रहा, पर फिर वह ब्रेक लगाकर साइकिल से उतर गया।

कुछ देर साइकिल को हाथ से थामे पैदल चलता रहा, पर संजय के घर वाला मोड़ पास आ गया तो उस के पाँव रुक गये।

'या ख़ुदा ! कैसा वक़्त आ गया है...' करीम के मुँह से निकला, और वह सोचने लगा, 'दुनिया-जहान की बातें उस से कर लेता था, बेधड़क होकर, अपने दिल की वह बातें भी जो और किसी से नहीं कर सकता था...' और उस के पाँवों की तरह उस का सोचना भी रुक गया, 'पर यह बात उस से कैसे कहूँगा ?'

करीम ने साइकिल पीछे मोड़ ली। पर 'अभी चले हुए रास्ते' पर फिर चलते हुए सोचने लगा, 'मैं उस से कुछ भी छिपाकर नहीं रख सकता...अगर दुनिया

दुश्मन हो गयी है तो उसे नहीं बताऊँगा तो किसे बताऊँगा ?'

करीम ने फिर हिम्मत बाँधकर साइकिल मोड़ ली। पर साइकिल पर चढ़ा नहीं, उसी तरह उसे हाथ से थामे हुए पैदल चलता रहा। वह मोड़ भी पार कर लिया जहाँ सामने संजय के कमरे वाली इमारत थी।

पर करीम के पाँव एक-से नहीं पड़ रहे थे। इमारत की बाहरी दीवार का साइकिल को सहारा देकर, वह खड़ा हो गया, 'शीरीं वाली बात अपने मुँह से कैसे कहूँगा ? उसे अगर नागवार हुई तो वह भी फिर बेहिचक घर में कैसे आयेगा ?'

करीम को लगा, कि शुक्र है, उस ने यह बात अपने मुँह से नहीं निकाली। उसे अपने ऊपर हैरानी-सी भी हुई कि वह कैसे लड़की की आबरू की बात अपने मुँह से कहने के लिए आ गया था।

यह भी ख़याल आया, अगर बात मुँह से निकल जाती तो संजय को भी उस ने अजीब मुश्किल में डाल दिया होता। वह कौन जाने दोस्ती का लिहाज़ करके हाँ कह देता; पर वह बात अच्छी न होती...

और करीम जल्दी से दीवार के पास से लौटकर साथ वाली सड़क पर हो लिया। वैसे ही मुँह से फिर निकल गया, 'या ख़ुदा ! कैसा वक़्त आ गया है, मैं अपने संजय के घर से चोरों की तरह लौटा जा रहा हूँ...'

करीम को अगले पल अपनी बेटी पर ग़ुस्सा आ गया, 'नसीबोंजली ! यह तू ने अपने दिल को कौन-सा रोग लगा लिया ?'

पर बेटी को नसीबोंजली कहकर उस का अपना मुँह जैसे कड़ुवा हो गया। फिर बेटी पर एक गर्व-सा भी आ गया कि उस के दिल ने कैसी गहराइयों को छू लिया है।

उसे शीरीं के कल शाम कहे हुए वह लफ़्ज़ भी याद आये, 'आप पर गयी हूँ, अब्बा !' और करीम का दिल उस के लिए उमड़ पड़ा।

करीम ने एक पल के लिए वजूद में आकर शीरीं का और संजय का चेहरा आँखों के आगे सोचकर देखा, पर दूसरे पल अपने सोचने को जैसे लगाम दे ली, 'आदमी को अपनी औक़ात नहीं भूलनी चाहिए...उस की दोस्ती नसीब हो गयी, कम बात है, अब मैं आगे क्या सोच रहा हूँ ?'

करीम धीमी चाल से साइकिल चलाते हुए शहर की ओर चल दिया। अभी काम पर पहुँचने का समय बाक़ी था। पर घर की ओर लौटने का समय नहीं था। प्रेस के बाहर वाले बाज़ार में बैठकर उस ने एक प्याला चाय का पिया, फिर प्रेस चला गया।

आज करीम की ज़िन्दगी में पहला दिन था; जब काम ने उसे रमाया नहीं, ध्यान टूट-टूट जाता रहा। एक बार ऐसे भी हुआ, एक फ़रमा मशीन पर चढ़ाकर

उसे दो हज़ार काग़ज़ निकालना था, पर एक हज़ार छापकर ही उतार दिया। सिर्फ़ यह ग़नीमत हुई कि फ़रमा खोलकर अभी किसी ने टाइप को डिस्ट्रीब्यूट नहीं किया था, कि करीम को ग़लती का एहसास हो गया। उस ने दूसरी बार फ़रमा मशीन पर चढ़ाया और बाक़ी छपाई कर डाली।

शाम को छुट्टी के बाद उस ने घर जाने के लिए साइकिल पकड़ी। पैरों के आगे फिर एक दोराहा आ गया...पैर अपने-आप ही संजय के कमरे की ओर मुड़ भी रहे थे, और उस रास्ते से आँखें भी चुरा रहे थे...

घर पहुँचा, तो दहलीज़ के पास खड़ा होते ही उस के कान चौंक गये। शीरीं के कमरे से बड़ी धीमी-सी उस के गाने की आवाज़ आ रही थी। करीम ने आगे बढ़कर दरवाज़े से भीतर झाँककर देखा, शीरीं उस के दिये हुए पुराने उर्दू क़िस्सों को पंजाबी अक्षरों में नक़ल कर रही थी...साथ ही, अपने ध्यान में मग्न, क़िस्से के शेर गाती जा रही थी, "खेड़ेयाँ दी मेहँदी मैं लाये भीना जाणा, राँझे दी मेहँदी गूढ़ी रंग ली...वे सुण बाबला वे ! राँझे दी मेहँदी गूढ़ी रंग ली..."

करीम की आँखों में अनायास पानी भर आया।
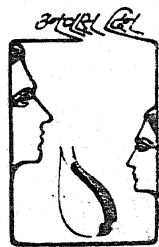
अगला दिन भी गुज़र गया, उस से अगला भी, करीम नहीं आया, तो उस शाम संजय उस के घर की ओर चला गया। गली में मुड़ते ही फत्ते का घर था। संजय ने देखा, वह ड्योढ़ी में खड़ा हुआ उसे इशारे से अंदर बुला रहा है।

संजय ड्योढ़ी में घुसा तो फत्ते ने बाहर का दरवाज़ा बन्द कर दिया, बोला, "तुम्हारे इन्तज़ार में खड़ा था, कल भी दो घंटे खड़ा रहा, कल तुम आये नहीं ?"

"क्या बात है ? करीम ठीक है ?" संजय ने फत्ते की ओर देखा, एक फ़िक्र-सा उस के चेहरे पर लिखा हुआ दिखाई दे रहा था।

फत्ते ने आँगन में पड़ी हुई चारपाई पर बैठते हुए और संजय को बिठाते

हुए कहा, "ठीक है, पर बहुत घबराया हुआ है।"

संजय को एक हैरानी-सी हुई, "अगर कोई फ़िक्र की बात होती तो सब से पहले वह मेरे पास आता, या सलामत के हाथ संदेशा भेजता..."

"मैं ने तो उस से कहा था, जाकर तुम से बात करे, पर वह ख़ामोश हो गया।" फत्ते ने कहा तो संजय ने फ़िक्र से पूछा, "पर बात क्या हो गयी है?"

"यह अब मैं भी क्या कहूँ...इसी लिए वह ख़ुद तुम्हारी तरफ़ नहीं गया कि तुम से क्या कहेगा...कल से मुँह-सिर लपेटकर घर में पड़ा हुआ है।"

संजय ने अंदाज़ा-सा लगा लिया, पूछा, "कोई हिन्दू-मुसलमान का सवाल है?"

"और मियाँ! छोटे लोगों के सवाल ही क्या होते हैं, यह ग़रीबों पर ख़ुदा की मार होती है, बड़े-बड़े अमीरों के घरों में तो मिलकर खाते हैं, मिलकर बैठते हैं, कोई किसी की तरफ़ देखता नहीं, किसी को पूछता नहीं..." फत्ता कह रहा था, जब संजय चारपाई से उठते हुए बोला, "बस, इतनी-सी बात थी? वह आकर मुझे बता जाता। काम का क्या है, यहाँ नहीं, शहर में किसी और जगह कर लेंगे।"

फत्ते ने संजय की बाँह पकड़कर उसे फिर चारपाई पर बिठा लिया, कहा, "सिर्फ़ इतनी बात नहीं। अपनी लड़की है न शीरीं, मोहल्ले के मोतबर मिलकर उस का निकाह करने के लिए ज़ोर दे रहे हैं, और उस ने पक्की नहीं कर दी है।"

"पर तुम तो कह रहे थे, हिन्दू-मुसलमान का सवाल है?"

"अब बीच की बात का तो पता नहीं चलता...कल से बरकत और नेमत उस के पीछे पड़ी हुई हैं, और लड़की रोये जा रही है।" फत्ते ने कहा, तो संजय फिर चारपाई से उठते हुए बोला, "मैं ख़ुद जाकर करीम से पूछता हूँ, क्या बात है।"

फत्ते ने उस की बांह पकड़ ली, कहा, "वहाँ सब के बीच बैठकर क्या पूछोगे? मैं करीम को यहाँ बुला लाता हूँ।"

संजय कोई एक मिनट के लिए खड़ा रहा, फिर उस ने कहा, "अच्छा, पीछे की तरफ़, मीनार की तरफ़, उसे भेज दो। मैं वहाँ जाकर उस का इन्तज़ार कर रहा हूँ।"

फत्ता करीम के घर की तरफ़ चला गया और संजय साइकिल लेकर पीछे मीनार वाले खँडहरों की तरफ़।

करीम जब आया, संजय ने उस की बाँह पकड़कर उस के उतरे हुए चेहरे की ओर देखा, कहा, "फिर मुश्किल के वक़्त में तुम ने अपने यार को किसी क़ाबिल नहीं समझा।"

"मैं शर्मिन्दा हूँ, मुझे ख़ुद आना चाहिए था..." और करीम ने एक पत्थर पर बैठते हुए कहा, "पर सारी बात ही उल्टी-सीधी है...तौफ़ीक़ हो, तो जी करता है, इस बस्ती से निकल जाऊँ..."

संजय हँस-सा पड़ा, "मियाँ ! अगर सचमुच सोचने लगें तो इस दुनिया से निकल जाने को जी करता है। तुम बताओ, कौन-सी जगह है जहाँ आदमी ख़ुद जीता है और औरों को जीने देता है ?"

"वह तो ठीक है..." करीम ने हौले से कहा, "सब जगह हराम के बीज़ रहते हैं।"

"यार ! दुनिया में कई बड़े-बड़े अदीब हैं, लोगों ने उन्हें भी जलावतन कर दिया...ख़ैर, जो भी होगा, देखा जायेगा, तुम बात तो बताओ !"

"बात तो वही है जो न कभी ख़त्म हुई है, न कभी ख़त्म होगी...जिसे हमारा बुल्हेशाह भी रोते मर गया," और करीम ने कहा, "जी करता है, मैं भी उस की तरह ज़ोर-ज़ोर से गलियों में गाऊँ—वे मेरी बुक्कल दे विच्च चोर, को रामदास को फ़तह मुहम्मद, यह क़दीमी शोर..."

संजय ने करीम के कन्धे पर हाथ रखा, "पर रामदास और फ़तह मुहम्मद की यारी को इस शोर से क्या फ़र्क़ पड़ता है ? यहाँ बस्ती में नहीं मिलेंगे, बस्ती के बाहर मिल लेंगे।"

"नहीं...वह तो फ़र्क़ नहीं पड़ता..." करीम कहते-कहते चुप हो गया।

"और दूसरी बात कौन-सी है ? फत्ता कुछ और भी कह रहा था..." संजय ने पूछा, तो करीम ने सिर झुका लिया. "वह बात बड़ी मुश्किल है।"

संजय हँस-सा पड़ा, "अच्छा, अगर ज़्यादा मुश्किल है तो चलो, हम सब जलावतन हो जाते हैं।"

करीम ने साहस करके कहा, "अपनी शीरीं ने एक ही बात पकड़ी हुई है, मशीन लगाने की और मोहल्ले वाले कुँआरी लड़की को जीने नहीं देंगे।"

संजय कुछ देर सोचता रहा, फिर बोला, "करीम मियाँ ! अगर तुम इजाज़त दो, तो मैं शीरीं से बात कर लूँ थोड़ी देर ?'

"वह...अगर तुम कहो, मैं उसे अभी बुलाये देता हूँ। ख़ुद जाकर उसे ले आता हूँ। पर वह तुम्हें बतायेगी कुछ नहीं।"

"नहीं, मुझे यक़ीन है, बता देगी।" संजय ने कहा तो करीम बोला, "मैं उसे जानता हूँ, वह मुँह से नहीं बोलेगी।"

संजय ने करीम का हाथ पकड़कर उसे उठाया, कहा, "अच्छा फिर मुझे भी आज़मा लेने दो।"

"या अल्लाह !" करीम के मुँह से निकला और वह शीरीं को ले आने के लिए खड़ा हो गया।

वह जाने लगा था जब संजय ने उसे एक मिनट के लिए रोक लिया, कहा, "अगर मेरे मुँह से कोई ऐसी बात निकल गयी जो तुम्हें पसंद न हो, तो यार ! मुझ से इक़रार करते जाओ कि तुम मुझ से ग़ुस्से नहीं होगे।"

करीम ने कहा कुछ नहीं, सिर्फ़ इकरार देने के लिए अपना हाथ आगे कर दिया।

करीम चला गया तो संजय ने पत्थरों की एक दीवार पर हाथ रखकर अपनी आँखें ऐसे मींच लीं, जैसे इन खँडहरों के किसी बसे हुए युग की आवाज़ सुन रहा हो।

दीवार पत्थरों की थीं, टूटते-टूटते भी सदियों से खड़ी थी। संजय ने उसे हौले-हौले अपनी हथेली से छुआ। उस के झरते हुए कण उस की हथेली पर लग गये, तो संजय ने वह हथेली अपने माथे से छुआ ली।

माथा एक अदब से झुक गया...जैसे मिट्टी की उम्र को प्रणाम कर रहा हो।

करीम जब शीरीं को लेकर आया, अँधेरा कुछ और गहरा हो चुका था। शीरीं ने दूर से संजय को नहीं देखा। वह बहुत पास आ गयी थी जब उस ने देखा, और उस के सारे शरीर में एक हल्का-सा कंपन आ गया...

फिर शीरीं ने एक शिकवे से अपने अब्बा की ओर देखा, जिस ने रास्ते में उसे कुछ नहीं बताया था। और चारों ओर के एकांत की ओर देखते हुए उसे एक नयी फ़िक्र याद हो आयी, "अब्बा ! आप ने कहा था यहाँ कोई ख़तरा है।"

शीरीं ने संजय की ओर हाथ से इशारा-सा करके यह बात कही, तो संजय समझ गया, पूछा "किसे ? मुझे ?"

"पर अब तो हम पास हैं...मैं जो यहाँ खड़ा हूँ।" करीम ने कहा और जरा दूर को जाने लगा।

"तुम यहीं बैठो, यार ! जाने की ज़रूरत नहीं है। जो पूछना है, तुम्हारे सामने ही पूछ लूँगा।" संजय ने कहा तो करीम ज़रा कुछ अलग होकर एक पत्थर पर बैठ गया। शीरीं को भी एक चौड़े पत्थर पर बैठने का इशारा करते हुए संजय ने कहा, "सो यहाँ अकेले इनसान को ख़तरा होता है।"

शीरीं को लगा कि संजय बात को समझा नहीं, बोली, "वैसे नहीं, पर मज़हब की वजह से..."

"सो अकेले मज़हब को ख़तरा होता है..." संजय हँसने लगा, तो ज़रा-सी दूरी पर बैठे हुए करीम की हंसी भी निकल गयी। संजय कह रहा था, "फिर तो जैसे दो आदमी मिलकर चलते हैं खतरे से बचने के लिए, दो मज़हबों को भी मिलकर चलना चाहिए ख़तरे से बचने के लिए।"

शीरीं ने नज़र उठाकर संजय की ओर देखा, आँखें एक अजीब परस्तिश से

भर गयीं।

संजय, शीरीं के सामने वाले, ऊँचे-नीचे पत्थरों पर बैठते हुए बोला, "फिर कच्चे अक्षरों को सचमुच पक्के अक्षर बनाना है ?"

"हाँ।" शीरीं ने कहा।

"पर मैं प्रेस की बात नहीं कर रहा हूँ।"

शीरीं ने फिर ध्यान सामने करके देखा, जैसे पूछ रही हो, फिर और कौन-सी बात है ?

"ज़िंदगी में और भी अक्षर होते हैं, बहुत कच्चे, उन्हें भी किसी आग में पकाना होता है..." संजय ने यह कहते हुए शीरीं की ओर देखा, और कहा, "मुहब्बत, शादी, रिश्ता...यह भी सब चीज़ें होती हैं कच्चे अक्षरों को पकाने के लिए।"

शीरीं ने सिर झुका लिया, शायद आँखों में पानी-सा भर आया था। धीरे से बोली थी, "शायद...पर कइयों के अक्षर हमेशा कच्चे रहते हैं।"

संजय के पैरों तक, शीरीं की आवाज़ उस की नशों में उतर गयी।

संजय ने सामने की ओर हाथ बढ़ाकर शीरीं के हाथ को अपनी हथेली में ले लिया, पूछा, "क्यों ? मैं तुम्हें क़बूल नहीं हूँ ?"

शीरीं ने सिर झुका लिया, इतना, कि उस का माथा संजय की हथेली से छू गया; पर बोली नहीं।

"नहीं क़बूल ?" संजय जब हाथ को धीरे से पीछे हटाने लगा, तो शीरीं ने काँपती हुई उँगलियों से हाथ को थाम लिया, ऊपर को आँखें उठायीं, नज़र भर-भर देखा, बोली, "कुछ अक्षर गूँगे भी होते हैं।"

संजय ने शीरीं के काँपते हुए-से हाथ को अपने होंठों से छुआया। फिर ज़रा ऊँची-सी आवाज़ में बोला, "करीम मियाँ ! तुम्हारी इस गूँगी बेटी को फिर सलाम करना पड़ गया।"

संजय अपने हाथ को हटाते हुए उठने लगा था, जब शीरीं ने फिर एक बार उस का हाथ थाम लिया, उस की ओर देखा, पूछा, "बीते हुए कल के प्याले में सचमुच आने वाले कल का पानी पिया जा सकता है ?"

शीरीं अभी उसी तरह ही पत्थर पर बैठी हुई थी। संजय ने उठकर शीरीं के पास आकर, धीरे से उसे अपने पहलू से लगा लिया। देखा, करीम अभी भी दूर था। उस ने झुककर शीरीं के होंठ चूम लिये। हौले से कहा, "मैं जानता था, तुम ही माज़ी के प्याले में मुझे मुस्तकबल का पानी पिलाओगी।"

"करीम मियाँ ?" संजय ने फिर आवाज़ दी। करीम पास को आया तो संजय ने कहा, "तुम कहते थे न, अदीब पैग़म्बर होते हैं, जो लिखते हैं, सच हो जाता है, देखो ! उपन्यास का आख़िरी हिस्सा सच हो गया।"

करीम ने हथेली से आँखों का पानी पोंछा, कहा, "मैं ने सोचा था, नन्ही ताज़ी में कौन जाने मुमताज़ की रूह है, पर उस की रूह तो मेरी शीरीं में है।"

"अब्बा !" शीरीं उठकर करीम के गले से लग गयी, "मैं आप से कहा करती थी न, मैं आप पर गयी हूँ।" और संजय की ओर देखते हुए उस ने पूछा, "नाविल का आख़री हिस्सा ? कौन-सा ?"

"फिर जन्म होने वाला, जब मेरे पात्र को फिर से लहू-मांस का शरीर मिलता है...उनचासवें दिन।" संजय ने कहा तो शीरीं को याद आ गया, "वह निर्माण-काया वाला ?"

संजय ने शीरीं से नहीं, करीम से कहा, "इसी धरती पर जन्नत भी होती है, दोज़ख़ भी। यहीं इनसान कई बार मरता है, फिर पैदा होता है। आज तुम्हारी शीरीं ने मुझे निर्माण-काया दी है, लौटकर इस धरती पर जीने के लिए।"

करीम ने संजय को गले से लगा लिया, "शुरू से ही कहा करता था, तुम मेरे यार भी हो, बेटे भी, पर यह बात मेरे सपने से भी परे थी।"

और करीम ने फिर आँखों में आये हुए पानी को हथेली से पोंछा, कहा, "आज तुम ने शीरीं को जो काया कहा है, इस का यही नाम रख लो, काया, और इसे हिन्दू बना के..."

संजय ने करीम के होंठों पर हाथ रख दिया, "नहीं, मियाँ ! मज़हब बदलने की बात न मैं करूँगा, न शीरीं। अभी कहा था न जैसे दो आदमी साथ मिलकर चलते हैं ख़तरे से बचने के लिए, उसी तरह दो मज़हबों को भी मिलकर चलना चाहिए, ख़तरे से बचने के लिए..."

"यह हो सकता है ?" शीरीं ने पूछा, तो संजय हँस-सा पड़ा, "हाँ, हमारी दोज़ख़ का एक क़ानून अच्छा है, यही।"

शीरीं बायीं ओर थी, संजय दूसरी ओर, तो खँडहरों की ओर से बस्ती की ओर लौटते हुए करीम को लगा, आज उस की कौली भरी हुई है।

"बस्ती वाले ?" शीरीं ने एक बार कहा, तो संजय हँस दिया, "यह उनचासवें दिन का वरदान भी है और शाप भी, धरती पर फिर पैदा होने का मतलब ही होता है, सारी जद्दो-जहद नये सिरे से। अभी तो ताज प्रेस खोलना है... अभी तो शायद उपन्यास भी ज़ब्त होगा...पर यह तो रोज़ के सूरज के लिए रोज़ के बादलों जैसी बात है।"

□□

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित अन्य उपन्यास

कहाँ पाऊँ उसे	समरेस बसु	75.00
कथा एक प्रान्तर की (पुरस्कृत)	एस. के. पोट्टेक्काट	50.00
मृत्युंजय (पुरस्कृत, द्वि. सं.)	वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य	35.00
मत्युंजय (च. सं.)	शिवाजी सावंत	75.00
गोमटेश गाथा	नीरज जैन	25.00
अमृता	रघुवीर चौधरी	35.00
शब्दों के पींजरे में	असीम रॉय	20.00
सुवर्णलता (तृ. सं.)	आशापूर्णा देवी	45.00
बकुल-कथा (तृ. सं.)	,,	45.00
छिन्न पत्र	सुरेश जोशी	12.00
स्वामी (द्वि. सं.)	रणजित देसाई	35.00
मूकज्जी (पुरस्कृत) (द्वि. सं.)	शिवराम कारन्त	27.00
अवतार वरिष्ठाय	विवेकरंजन भट्टाचार्य	10.00
भ्रमभंग	देवेश ठाकुर	13.00
बारूद और चिनगारी	सुमंगल प्रकाश	20.00
जय पराजय	,,	26.00
बन्द दरवाज़े	,,	50.00
आधा पुल (द्वि. सं.)	जगदीशचन्द्र	14.00
मुट्ठी भर काँकर	,,	15.00
छाया मत छूना मन (द्वि. सं)	हिमांशु जोशी	12.00
कगार की आग (द्वि. सं.)	,,	14.00
पुरुष पुराण	विवेकीराय	8.00
माटी मटाल भाग 1 (पुर., द्वि. सं.)	गोपीनाथ महान्ती	20.00
माटी मटाल भाग 2 (पुर., द्वि. सं.)	,,	20.00
देवेश : एक जीवनी	सत्यपाल विद्यालंकार	15.00
धूप और दरिया	जगजीत बराड़	6.50
समुद्र संगम	भोलाशंकर व्यास	17.00
पूर्णावतार (द्वि. सं.)	प्रमथनाथ बिशी	25.00
दायरे आस्थाओं के	स. लिं. भैरप्पा	9.00
नमक का पुतला सागर में (द्वि. सं.)	धनंजय वैरागी	18.00

तीसरा प्रसंग	लक्ष्मीकान्त वर्मा	
टेराकोटा (द्वि. सं.)	,,	
आइने अकेले हैं	कृश्नचन्दर	5.00
कहीं कुछ और	गंगाप्रसाद विमल	7.00
मेरी आँखों में प्यास	वाणी राय	10.00
विपात्र (च. सं.)	ग० मा० मुक्तिबोध	5.00
सहस्रफण (द्वि. सं.)	वी० सत्यनारायण	16.00
रणांगण	विश्राम बेडेकर	3.50
कृष्णकली (सातवाँ सं.)	शिवानी : पेपर बैक	20.00
	लायब्रेरी सं०	27.00
हँसली बाँक की उपकथा (द्वि. सं.)	ताराशंकर वन्द्योपाध्याय	25.00
गणदेवता (पुर., छठा सं.)	,,	42.00
अस्तंगता (द्वि. सं.)	'भिक्खु'	9.00
महाश्रमण सुनें ! (द्वि. सं.)	,,	4.00
अठारह सूरज के पौधे (द्वि. सं.)	रमेश बक्षी	12.00
जुलूस (पं. सं.)	फणीश्वरनाथ 'रेणु' : पेपर बैक	8.00
	लाइब्रेरी	12.00
जो (द्वि. सं.)	प्रभाकर माचवे	4.00
गुनाहों का देवता (अठारहवाँ सं.)	धर्मवीर भारती	20.00
सूरज का सातवाँ घोड़ा (दसवाँ सं.) :	पेपर बैक	6.50
	लाइब्रेरी	10.50
पीले गुलाब की आत्मा (द्वि. सं)	विश्वम्भर 'मानव'	6.00
अपने-अपने अजनबी (छठा सं.)	'अज्ञेय' : पेपर बैक	5.50
	लाइब्रेरी	8.50
पलासी का युद्ध	तपनमोहन चट्टोपाध्याय	5.50
ग्यारह सपनों का देश (द्वि. सं.)	सम्पा. : लक्ष्मीचन्द्र जैन	7.00
राजसी	देवेशदास आई. सी. एस.	5.00
रक्त-राग (द्वि. सं.)	,,	5.00
शतरंज के मोहरे (पुर., चौथा सं.)	अमृतलाल नागर	12.00
तीसरा नेत्र (द्वि. सं.)	आनन्दप्रकाश जैन	4.50
मुक्तिदूत (पुर., च. सं.)	वीरेन्द्रकुमार जैन	13.00